

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No.	DUE DATE	SIGNATURE

अथर्ववेद का सुबोध भाष्य

प्रथम भाग

[काण्ड १-३]



भाष्यकार

पदाभूषण डा० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर



स्वाध्याय मण्डल

पारसी

प्रकाशक
बसन्त श्रीपाद सातवसेकर
स्वाध्याय मण्डल, पारडी
[जि० बलसाड]



Rs. 150.00

मुद्रक
मेहरा भास्कर प्रिंटर्स, नई दिल्ली

ॐ

अथर्ववेदके पहिले तीन काण्डोंका

परिचय



अथर्ववेदमें २० काण्ड हैं। इनमें प्रथम तीन काण्डोंका		अनुषंग अनुवाक			
पहल प्रथम भाग है। इसमें सूक्त और मंत्र संख्या इस		द्वितीय अपाठक			
ताह है—					
	प्रथम काण्ड				
प्रथम अनुवाक			१०	एकलाव बंदु करना	४
प्रथम अपाठक			१८	सौभाग्यवर्धन	४
सूक्त संख्या	शीर्षक	मंत्र संख्या	१९	शत्रुनाशन	४
१	इक्षिसंबर्धन	४	२०	महानद्यातक	४
२	विजय	४	२१	प्रजापाठक	४ २०
३	आरोग्य, मृत्रशोच निवारण	९	२२	अनुवाक	
४	जल	४	२३	इन्द्ररोगनिवारण	४
५	"	४	२४	श्वेतकुहनाशन	४
६	"	४ २९	२५	कुहनाशन	४
			२६	घीतभ्रत दूरीकरण	४
			२६	सुखप्राप्ति	४
			२७	विजयी स्त्री	४
			२८	शुटनाशन	४ २८
द्वितीय अनुवाक					
७	धर्मप्रचार	७	३४ अनुवाक		
८	"	४	२९	राष्ट्रसंबर्धन	६
९	संबंधप्राप्ति	४	३०	आयुष्यवर्धन	४
१०	पापसे मुक्ति	४	३१	आशापाठक	४
११	सुखनसृष्टि	६ २५	३२	जीवन-रस-महासागर	४
			३३	जल	४
तृतीय अनुवाक			३४	मनुविद्या	५
१२	रोगनिवारण	४	३५	बल और दीर्घायुष्य	४ ३१
१३	इंद्रवरको नमन	४			
१४	कुलवधू	४			
१७	संगठन-महायज्ञ	४			
१९	छोरनाशन	४			

१५३

इसमें ३० सूक्त ४ मंत्रोंके हैं अर्थात् इनके मंत्र १२० हैं
 २० एक सूक्त ५ मंत्रोंका है, दो सूक्त ६ मंत्रोंके हैं अर्थात् ये

१२ मंत्र हैं । ७ मंत्रोंवाला एक सूक्त है और ९ मंत्रोंवाला एक सूक्त है इस तरह—

४ मंत्रवाले ३० सूक्त १२० मंत्र
५ ,, वाळा १ ,, ५
१ ,, वाळे २ ,, १२
७ ,, वाळा १ ,, ७
९ ,, वाळा १ ,, ९
१५३ कुल मंत्र संख्या ।

इस प्रथम काण्डकी प्रकृति ४ सूक्तवाले मंत्रोंकी है जब द्वितीय काण्ड देखिये—

जब द्वितीय काण्डकी प्रपाठक, अनुवाक, सूक्त, मंत्र संख्या इस तरह है वह देखिये—

द्वितीय काण्ड

मृतीय प्रपाठक	प्रथम अनुवाक	सूक्त संख्या	शीर्षक	मंत्र संख्या
१			गुह्य अभ्यासविद्या	५
२			पृथ्वीय ईश्वर	५
३			भारोग्य	६
४			चक्रिह मणि	६
५			अग्निवधर्म	७ २९

द्वितीय अनुवाक

६	प्राज्ञगधर्म	५
७	दापकी कौटाना	५
८	क्षेत्रिययोग दूर करना	५
९	सन्धिवात दूर करना	५
१०	दुर्गासिसे बचना	८ २८

मृतीय अनुवाक

११	आत्माके गुण	५
१२	मनका बल बढाना	८
१३	ब्रह्मपरिधान	५
१४	विपत्तिपोकौ हटाना	६
१५	निर्मम्यजीवन	६
१६	विदेश्वरकी भक्ति	५
१७	आत्मसंरक्षणका बल	७ ४२

अनुवाक

प्रपाठक

१८	आत्मसंरक्षणका बल	५
१९	शुद्धिकी विधि	५
२०	" "	५
२१	" "	५
२२	" "	५
२३	" "	५
२४	डाकुर्मोकौ असफलता	८
२५	पृथिवीको	५
२६	गौरस	५ ४८

पंचम अनुवाक

२७	विजयवालि	७
२८	श्रीर्षापुर्य	५
२९	"	७
३०	पतिपत्नीका मेल	५
३१	रोगोत्पादक हृमि	५ २९

षष्ठ अनुवाक

३२	हृमिनाशन	६
३३	यक्ष्मनाशन	७
३४	मुक्तिका मार्ग	५
३५	यज्ञमें आत्मसमर्पण	५
३६	विवाहका मंगल कार्य	८ ३१
		२०७

इस काण्डमें ५ मंत्रोंवाले सूक्त २२ हैं और मंत्र ११० हैं ।

" " ६ " " ५ " " ३० "

" " ७ " " ५ " " ३५ "

" " ८ " " ४ " " ३२ "

द्वितीयकाण्डकी मंत्र संख्या २०७

इस द्वितीय काण्डकी प्रकृति ५ मंत्रोंके सूक्तोंकी है क्योंकि ३६ सूक्तोंमें २२ सूक्त ५ मंत्रोंके हैं ।

जब तीसरे काण्डके प्रपाठक, अनुवाक, सूक्त और मंत्र देखिये—

मृतीय काण्ड		२८	वयुस्वात्परक्षा	६	
पंचम प्रपाठक		२९	संरक्षक कर	८	
प्रथम अनुवाक		३०	एकता	७	
सूक्त संख्या	शौर्यक	मंत्र संख्या	३१	पापकी निवृत्ती	११ ४४
१	शत्रुसेना-संमोहन	६		२३०	
२	"	६			
३	राजाकी राज्यपर पुनः स्थापना	६	इसमें ६ मंत्रवाले १३ सूक्त हैं मंत्र संख्या ७८ है—		
४	राजाका पुनाथ	७	७ " ६ " "	४२	
५	राजा और राजाके बनानेवाले	८ ३३	८ " ६ " "	४८	
द्वितीय अनुवाक			९ " २ " "	१८	
६	वीरपुरुष	८	१० " २ " "	२०	
७	मानुषसिद्धि रोगोंका दूर करना	७	११ " बाळा १ " इसकी "	११	
८	राष्ट्रीय एकता	६	१३ " १ " "	१३	
९	ह्येरा प्रतिबंधक उपाय	६	३१ सूक्त	२३० मंत्र	
१०	काळका यज्ञ	१३ ४०	इसमें ६ मंत्रवाले १३ सूक्त हैं अतः इस काण्डकी		
मृगीय अनुवाक			प्रकृति ६ मंत्रवाले सूक्तोंकी है ऐसा कह सकते हैं । तीनों		
११	हवनसे दीर्घायुष्य	८	काँकी मंत्र संख्या यह है—		
१२	गृह-निर्माण	९	१ काण्ड सूक्त ३५ मंत्र संख्या १५३		
१३	जल	७	२ " " ३६ " २०७		
१४	गोशाला	६	३ " " ३१ " २३०		
१५	वाणिज्यसे धनप्राप्ति	८ ३८	५९० कुल मंत्र संख्या		
अधुप्य अनुवाक			इन सूक्तोंके क्रमको देखनेसे देना प्रतीत होता है कि,		
षष्ठ प्रपाठक			इन सूक्तोंकी स्थापना विषयानुसार नहीं है । इसकी रचना		
१६	भगवानकी प्रार्थना	७	विषयानुसार की जाय, तो पाठकोंकी वेदका विषय समझ-		
१७	कृषिसे सुख	९	नेमें सुगमता होगी । इन तीनों काण्डोंके सूक्त विषय-		
१८	वनस्पति	६	नुसार इकट्ठे किये तो इस तरह होते हैं—		
१९	ज्ञान और शौर्य	८	१ इंद्र— ३१३ इंद्रको मनन, २११ अथर्वामविद्या,		
२०	ठेगमस्त्रिठाके साथ अग्नुद्वय	१० ४०	२१२ पूजनीय इंद्र, २१६ विश्वम्भरकी मक्ति, ३१६ भग-		
पंचम अनुवाक			वानकी प्रार्थना, २११ भारमाके गुण ।		
२१	कामाग्निव्रतमन	१०	१ मुक्ति— २१३४ मुक्तिका मार्ग ।		
२२	वधःप्राप्ति	६	३ शासक— ११२० महान् शासक, ११२१ प्रजा-		
२३	वीरपुत्रप्राप्ति	६	पालक, ३१३ राजाकी राज्यपर स्थापना, ३१४ राजाका पुनाथ,		
२४	समृद्धिकी प्राप्ति	७	३१५ राजा और राजाके बनानेवाले, ११३१ न्याशापाठक,		
२५	कामका बाण	६ ३५	११२९ राष्ट्रसंवर्धन, ३१२९ संरक्षक कर ।		
षष्ठ अनुवाक			४ युद्ध— ३११-२ शत्रुसेना संमोहन ।		
२६	सन्नतिकी विद्या	६	५ विजय— ११२ विजय, २१२७ विजय प्राप्ति, २१५		
२७	अग्नुद्वयकी विद्या	६			

क्षत्रियधर्म, ३१९ ज्ञान और धर्म, ३२० तेजस्वितासे अभ्युदय ।

६ बुद्धि— १११ बुद्धिका संवर्धन, २१२ मनका बल बढ़ाना ।

७ आरोग्य— ११३, २१३ आरोग्य, ११२ जीवनरस, ११२ रोगनिवारण, ११२ हृद्भोगनिवारण, ११३-२४ श्वेतकृष्ण, कुंठनाशन, ११२५ शीतज्वर, २१२ संविवातनाशन, २१८ क्षेत्रियरोगनाश, २११ रोगोत्पादककृमि, २१२ कृमिनाशन, २१३ यक्ष्मनाशन, ३० आनुवंशिक रोग दूर करना ।

८ दीर्घमायु— ११३० मायुष्यवर्धन, ११३५ बल और दीर्घमायुष्य, २१२८-२९ दीर्घमायुष्य, ३११ हवनसे दीर्घमायुष्य ।

९ धन— ३१५ वाणिज्यसे धनकी प्राप्ति, ३२४ समृद्धिकी प्राप्ति ।

१० पापसे मुक्ति— १११० पापसे मुक्ति, ३१३१ पापसे निवृत्ति, २११० दुर्गाहिले बचना, २१५ विपत्तिको हटाना ।

११ तेजस्विता— ११९, ३१२ वचःप्राप्ति ।

१२ यज्ञ— २१५ यज्ञमें आत्मसमर्पण ।

१३ संगठन— ११५ संगठन यज्ञ, ३८, ३३० राष्ट्रीय एकता ।

१४ सुखप्राप्ति— १२६ सुखप्राप्ति ।

१५ आत्मरक्षण— २१०, १८ आत्मरक्षण बल ।

१६ निर्भयता— २१५ निर्भयजीवन ।

१७ वीर— ३१ वीर पुरुष, ३१३ वीरपुत्र ।

१८ अभ्युदय— ३२० अभ्युदयकी विद्या ।

१९ क्लेशप्रतिबंध— ३१९ क्लेश दूर करना ।

२० शुद्धता— २१९-२३ शुद्धि ।

२१ गृहनिर्माण— ३१२, गृहनिर्माण; ३१४ गोशाळा ।

२२ गौ— २२६ गोरस सेवन ।

२३ उन्नति— ३२६ उन्नतिकी विद्या ।

२४ विद्या— ११३ मनुविद्या ।

२५ वस्त्र— ११३ वस्त्रधारण ।

२६ धूप— ११४ कुलधूप, ११८ सौभाग्य, १२० विजयी की ।

२७ धर्म— ११०-८ धर्मप्रचार ।

२८ जल— ११४, ५; ६; ३२; ३१३ जल ।

२९ काम— ३२१ कामादिका शमन, ३३५ कामका याग ।

३० कृषि— ३१० कृषिसे सुख ।

३१ मसूति— १११ सुख मसूति ।

३२ मणि-धारण— २१४ जंगिमणि ।

३३ शाप— २१० शापको छोटाना ।

३४ धनस्पाति— २१२५ पुरिनवर्गी, ३१८ धनस्पाति ।

३५ पशु— ३२८ पशुस्वास्थ्य रक्षण ।

३६ पतिव्रती— २१३ विवाह मंगल कार्य, २३० पतिव्रतीका प्रेम ।

३७ काल— ३१० कालका यज्ञ ।

३८ रक्तघ्राव— १११० रक्तघ्राव बंद करना ।

३९ चोर झांकू— २१३ चोरनाशन; ११९ अशुभाशन, १२८ दुष्टनाशन, २२४ डाकुनोंकी असफलता ।

इस तरह सूक्तोंकी विषयानुसार व्यवस्था की जाय तो इस व्यवस्थासे वैदिक सूक्तोंका बोध शीघ्र और सुलभ हो सकता है। भावना है कि पाठकगण इसका विचार करेंगे। हमने इस समय जैसी सूक्तोंकी व्यवस्था है वैसी ही रखी है।

वैदिक सूक्तियाँ

इस प्रथम विभागमें ३ काण्डोंके सब एक भागधे हैं ये ऐसे हैं—

प्रथम काण्ड सूक्त ३५ मंत्रसंख्या १५३ पृष्ठसंख्या १२०
द्वितीय " " ३६ " २०० " १४८
तृतीय " " ३१ " २३० " २४८
१०२ ५९० ५१६

इन तीनों काण्डोंमें मिलकर १०२ सूक्त हैं और ५९० मंत्र हैं और एपहीकरणके साथ पृष्ठ ५१६ हैं। इन तीनों काण्डोंके ५९० मंत्रोंमें करीब करीब एक सहस्र प्रतिपदा हैं। विषयवार इन सुभाषितोंका संग्रह हमने किया है जो हम गहरा देते हैं। पाठक कई सुभाषितोंको अन्य स्थानपर भी रख सकते हैं। मंत्रोंके अन्तर सुविधया जयया सुभाषित सुप्य

गर्मरूप रहते हैं। जैसा बीजमें मगज होता है, वैसे मंत्रमें सुभाषित होते हैं। पाठक इनका विचार करे और प्रयोगमें भी ला सकते हैं। व्याख्यानोमें छेलोंमें तथा भाष्यनकार इनका बहुत उपयोग होसकता है और जितना इनका उप-योग होगा उतना वेद व्यवहारमें लाया गया यह सिद्ध हो सकता है।

इसके नीचे हम इन तीनों काण्डोंके सुभाषित देते हैं—

परमेश्वर

इन तीन काण्डोंमें परमेश्वर विषयक सुभाषित ये हैं—

यो देवानां नामघा एक एव तं संप्रथं भुवना यन्ति सर्वा ।

न. २।१।३

वह ईश्वर सब जन्म देवोंके नामोंको धारण करता है, वह एक ही सबका प्रभु है। उस प्रभु पृथने योग्य परमेश्वरके पास सब भूवन भाष्यार्थ जाते हैं।

येनस्तत् पदयत् परमं गुहा यत् यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् ।

न. २।१।१

जहाँ सब विश्व एकरूप होता है और ओ हृदयको गुहामें रहता है उसको जानो मफ जानता है।

स नः पिता जनिता स उत संधुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।

न. २।१।३

वह परमेश्वर हमारा पिता और जनक है, वही संधु मी है। वह सब भुवनों और स्थानोंको जानता है।

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं ह्यो कम् ।

न. २।१।५

सत्यके अमृतके सुधामय तन्तुको वेजनेके छिपे सब भुवनोमें मैं घूम जाया हूँ। सर्वत्र इस सुतस्यरूप जगत् आत्मरूप इस तन्तुको मैंने देखा है।

दिव्यो गंधर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विश्वीद्वयः ।

न. २।२।१

भुवनका एक ही दिव्य गंधर्व स्वामी है जो नमस्कारके योग्य है और प्रजाजनोको स्तुति करने योग्य है।

मृडाङ्गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवः ।

न. २।२।२

भुवनोका एक ही स्वामी ओ नमस्कारके योग्य है, जो संश्लेष्य है वही सबका भाषार सबको सुखी करे।

यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनाघ- धैर्यवन्त ।

न. २।१।५

जहाँ अमृत पीनेवाले देव उस एक भाष्य स्थानमें रहते हैं। (यह जगत् परमेश्वरका भाषार स्थान है।)

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातमिश्रायदणा प्रातरश्विना । प्रातर्मगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुन रुद्रं हवामहे ॥

न. ३।१।१

प्रातः समय अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, अश्विनी, मग, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम और रुद्रको पुकारते हैं, इनकी प्रार्थना करने हैं। (एक देवके ये अनेक गुणबोधक नाम हैं।)

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपिरव उत मध्ये अद्राम् । उतोदिती मघवरस्यंस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥

न. ३।१।४

हम अब भाष्यवान् हों, सायंकाल जपवा दिनके मध्यमें, सूर्यके उदयके समय भाष्यवान् हों। हम देवोंकी सुमतिमें रहें।

तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव ।

न. २।२।१

हे दिव्य देव ! तूरे साय ज्ञानके मैं संयुक्त होता हूँ।

अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाताः ।

न. ३।४।३

सजातीय लोग हविष्य जलके साथ तेरे समीप आजायें।

उपसद्यो नमस्यो भयेह ।

न. ३।४ १

यहाँ पास जाने योग्य तथा नमस्कार करने योग्य हो।

नमस्ते अस्तु दिवि ते सद्यस्यम् ।

न. २।२।३

तेरा स्थान सुलोकमें है, तुझे मैं नमस्कार करता हूँ।

श्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि धेद स पितृष्पितासत् ।

इसके तीन पाद हृदयकी गुहामें हैं, जो इनको जानता है वह पिताका भी पिता अर्थात् बडा होता है।

परि धावापृथिवीं सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथम- जामृतस्य ।

न. २।१।४

धावापृथिवीमें मैं सर्वत्र घूम जाया हूँ और सत्यके प्रथम प्रवर्षक— परमेश्वरको मैं उपासना सर्वत्र देखता हूँ।

प्र तद्दोचेदमृतस्य विद्वान् गंधर्वो धाम परमं गुहा यत् ।

न. २।१।२

ओ हृदयकी गुहामें है वह अमृतका धेध स्थान विद्वान् बडा ही जानकर उसका वर्णन कर सकता है।

स देवान् यक्षस उ कल्पयताद्विशाः । अ. ३।१।१
वह देवोंका यजन करता है, वह विश्वसे प्रजाओंको समर्थ करता है ।

यज्ञस्य चक्षुः, प्रभृतिमुखं च चाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि । अ. ३।२।५५

वह प्रभु यज्ञका भाँस है, सबका भरण कर्ता, और यज्ञका मुख है । चाची कान और मनसे मैं उसका यजन करता हूँ ।

दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्येवक् अवयाता हरसो देव्यस्य । अ. ३।२।२

हंसवा सुलोकमें रहता है, वह पूज्य है, सूर्यके समान तेजस्वी है और देवी आपत्तियोंको दूर करनेवाला वही प्रभु है ।

ये सूक्तियाँ वारंवार पढ़नेसे, कण्ठ करनेसे, वारंवार मनन करनेसे परमेश्वर विषयक वैदिक सिद्धान्त तात्काळ ध्यानमें आसकता है । देखिये—

यो देवानां ज्ञामघा— वह देवोंके नाम धारण करने-वाला है ।

तं सं प्रसं भुवना यन्ति सत्वा— सब भुवन उच्च पढ़ने योग्य प्रभुके पास जाते हैं ।

घेनस्तत्पदयत्— ज्ञानी उसकी देखता है ।

परमं गुहा यत्— जो हृदयके गुह स्थानमें रहता है ।

स नः पिता जनिता— वह शक्ति और उत्पन्न करनेवाला है ।

घामानि वेद भुवनानि विद्वा— सब भुवनों और स्थानोंको वह जानता है ।

श्रुतस्य तन्तुं विततं ह्ये कं— सुसुदायक फैला हुआ सत्यका तन्तु— परमात्मा है उसको मैं देखता हूँ ।

भुवनस्य यस्पतिः— वह भुवनोंका एक पति है ।

एक एव नमस्यः— वह एकही नमस्कार करने योग्य है ।

विद्वित्रीत्यः— प्रजाओंमें पृथ्वीय वही एक है ।

घयं देवानां सुमतौ स्याम— हम देवोंकी सदिच्छामें रहें ।

तं त्वा यौमि— इस तुझसे मैं कुछ होता हूँ ।

नमस्ते अस्तु— तुझे नमस्कार है ।

प्रातर्भयं— प्रातःकाल भाग्यवात् प्रभुको भक्ति करते हैं ।

उपसथो भवेद्— यहाँ पास जाने योग्य हो ।

दिवि ते सघस्थं— आकाशमें ठेरा स्थान है ।

त्रीणि पदा निदिता गुहास्य— इसके तीन पाद बुद्धिमें हैं ।

अमृतस्य विद्वान्— अमृतका जाननेवाला धन्य है ।

धाम परमं गुहा यत्— परम धाम हृदयमें है ।

स उ कल्पयताद्विशाः— वह प्रभु प्रजाओंको समर्थ बनाता है ।

अवयाता हरसो देव्यस्य— देवी दुःखोंको वह प्रभु दूर करता है ।

यहाँ तो सूक्तियाँ ही हैं । उनके ये टुकड़े हैं । ये भी सूक्तियाँ ही हैं और ये वारंवार मजन करने योग्य हैं ।

'एक एव नमस्यः' प्रभु भवेला एकही नमस्कार करने योग्य है । 'दिवि ते सघस्थं' आकाशमें ठेरा स्थान है ।

'अवयाता हरसो देव्यस्य' देवी दुःखोंको दूर करने-वाला वह प्रभु है । ऐसे वेदमंत्रोंके टुकड़े मजन करनेके होते हैं ।

भवेला अपने मनमें इनका मजन करे, जयवा समाजमें सैकड़ों और हजारों मनुष्य जयके साथ इन वचनोंका मजन करें । इस तरहका मजन करनेके लिये ही ये टुकड़े हैं ।

जिनकी वेदोंपर धरदा है वे जयपर स्थान रखते हुए इन वचनोंका मजन करें । यह मजन मनमें भी होगा है और

वाक्स्वरमें सामूहिक भी हो जाता है । ऐसे जयसहित मजन होने लगे तो ये मंत्रभाग सबके मनमें स्थिर होते हैं, और इनका उपयोग बोलने चालनेके समय होनेकी सुविधा होती है ।

पाठक मनमें ऐसे मजन करके देखें, मजन करनेके समय जयकी अपने मनमें पूर्ण रीतिसे भरपूर भरकर रखें, इस मंत्रके भावसे अपना मन भरपूर भरा ऐसा, जोतमोत भरा है ऐसा भाव मनमें स्थिर रखें । ऐसा मजन मनमें कर-नेसे जैसा काम व्यक्तिको होता है वैसा ही काम ये ही वेदवचन सामुदायिक रीतिसे मजन करनेसे समुदायमें जो लोग ये वचन बोलते रहेंगे, उनको काम होता है ।

यह बात करके देखने योग्य है । वेदके वचन अपने जीवनमें इस तरह बोलनेका चाल करना चाहिये । वेदका धर्म भीवित है यह समझनेका यह उपाय है ।

ईश्वर निश्चयका शायक है, जो शायक होता है वह राजा ही होता है, ईश्वर शासक है और निर्दोष शायक है। अतः वह हमारे शासकोंके लिये आदर्श है। इस दृष्टिसे ईश्वरके गुण हमारे शासकोंके देखने योग्य हैं। वे इस तरह देखें या सङ्घटे हैं—

शासकका वर्णन

वेदनें जो वर्णन है उन मंत्रोंमें शासक, राजा, अधिका-रीका वर्णन करनेवाले सुभाषित ये हैं—

सर्वास्त्रा राजन् प्रदिग्गो ह्यन्तु । अ. ३।१।१
हे राजन् ! सब दिशा बरदिग्गा (ज्यों रहनेवाले प्रजा-जन) दुष्टों (अपने शत्रुके लिये) पुत्रों ।

तास्त्वा संविदाना ह्यन्तु । अ. ३।१।२
वे सब प्रजापुं निष्कर पृथक्से तुम पुत्रों ।

त्वां विशो वृषतां राज्याय स्वामिमाः प्रदिग्गः
पञ्च देवाः । अ. ३।१।३

तुम वे प्रजापे, तुम वे पांच दिग्गाओंमें रहनेवाली दिग्ग
प्रजापुं सम्पादनके लिये स्वीकार को ।

आ त्वा गन्धर्भू । अ. ३।१।४
हे राजन् ! वे पांच राटू भागपा है ।

सजादानां श्रेष्ठम आ घेष्टेनम् । अ. ३।१।५
जननी जातिमेंसे बड़ स्थानपर इसको रखो ।

वर्षन् राटूय ककुद्दि अयस, ततो न उग्रो
विमजा वसति । अ. ३।१।६ ; ४

राटूके बड़ स्थानमें रहकर, और वहाँसे सबके लिये
धर्मोंका विभाग कर दो ।

प्राह् विभ्रांपतिरेकराह् त्वं विराज । अ. ३।१।७
प्रजाओंका मुख्य स्वामी एक राजा होकर, तुं विराज-
मान हो ।

स्वस्तिदा विभ्रांपतिर्वृषहा विमृधो वशी ।
अ. १।२।१।१

प्रजापात्रक कल्याण करनेवाला, शत्रुनाशक और धात-
कोंको बध करनेवाला हो ।

ब्रह्मनस्पतेऽमि राटूय वर्षय । अ. १।२।१।२
हे ज्ञानी पुत्र ! राटूके दिन करनेके लिये बधाओ ।

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये ।
उपस्तान् पर्ष महो त्वं सर्वान् कृण्वमिती जनान् ।
अ. ३।१।३

जो राजा और राजाओंको करनेवाले, सूत तथा ग्राम-
नेता हैं वे परमने ! उन सबको मेरे समीप उपस्थित कर
(उनकी सहायता मुझे प्राप्त हो ऐसा कर ।)

अहं शत्रुहोऽसान्यसपरनः सपन्नहा । अ. १।२।१।४
मैं शत्रुका नाश करनेवाला, शत्रुओंका बध करनेवाला
तथा सत्रुहित होंडं ।

अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ।
अ. ३।१।२

मैं राष्ट्रके भात पुरुषोंमें उत्तम निज बनकर रहूँ ।
अघा मनो वसुदेयाय कृणुष्व । अ. ३।१।३

अरुना मन धनदानके लिये शत्रुकूल बनाओ ।
क्षत्रेपात्रे स्वेन संमस्व । अ. २।१।४

हे अत्रे ! अपने क्षात्रके लिये वसाहित हो ।
माति निहो, अति सृधो, अत्यचित्ताः, अतिद्विपः ।
अ. २।१।५

मारपीट करनेकी वृत्तिसे दूर रह, जिसकोसे दूर रह,
परीवृत्तोंके दूर हो, द्वेष करनेवालोंके दूर रहो ।

तेन सहस्रकाण्डेन परि पाः पाहि विद्वतः ।
अ. २।१।६

उस सहस्र काण्डके लिये सब ओरसे हमारा रक्षण कर ।
शतारमेतु अययः । अ. २।१।७

शत्रु देनेवालेके पास ही उसका शत्रु बजा आवे ।
संशितं म इदं ब्रह्म संशितं धीर्यं यत्नम् ।

संशितं क्षत्रमजरमस्तु त्रिष्णुर्वैशामसि पुरोहितः ।
अ. ३।१।८

नेता बड़ ज्ञान देवत्वो है, नेता धीर्य और बड़ देवत्वो
है । विनका मैं विजयी पुरोहित हूँ उनका देवत्वो और
क्षीम न होनेवाला क्षात्रके बड़ा रहे ।

भ्रिणामि ब्रह्मपाऽमिभानुश्रयामि स्वानहम् ।
अ. ३।१।९

मैं ज्ञानसे शत्रुओंका नाश करता हूँ और अपने लोगोंको
मैं उन्नत करता हूँ ।

एषां क्षत्रमजमेस्तु त्रिष्णुर्वैयां चित्तं विश्वेऽ-
वन्तु देवाः । अ. ३।१।१०

इनका क्षात्रके अन्न हो । इनका विजयी चित्त सब
देव सुश्रित रहे ।

जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं पालं प्रति
पश्यास उग्रः ॥ अ. ३।४।३
स्त्रियां और पुत्र उन्नत मनवाले हों । और उग्रवीर बन-
कर बहुत करमारके देखें ।

पश्या रेवतीर्षुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य
परिवस्ते अन्नम् ॥ अ. ३।४।४
सन्ध्यांसे बढनेवाली अनेक प्रकारकी रंगरूपवाली
प्रजापे मिलकर तुम्हें अन्न स्थानपर स्थापित करती हैं ।

पत्नीं घटेन प्रमृषान् रसपत्नान् ॥ अ. ३।५।१
यह बढवान् बीर अपनेबलसे घामुर्खोंका नाश करता है ।
ये धीवानो रथकाराः कमरां ये मनोविषाः ।
उपस्तीन् पर्णं मह्यं त्वं सर्पान् छण्वमितो जनान् ॥

अ. ३।५।६
जो बुद्धिमान् है, जो रथकार है, जो कमं करनेवाले
सुदार हैं, और बिहान् है । हे परममने ! तू इन सब जनोंको
मेरे समीप उपस्थित कर (बुद्धिमानोंकी सहायता सुझे प्राप्त
हो देता कर ।)

सजातानां मध्यमेष्टा राक्षामेष्टा विह्वयो दीदिदीह ।
अ. ३।६।१
सजातीयोंमें मध्यम स्थानमें बैठनेवाला हो, और राक्षकों,
राक्षपुरणके दाता बुढाने योग्य होकर, यहाँ प्रकाशित
होता रह ।

शास हत्या महीं अह्यामित्रसादो अस्तुतः ।
न पश्य हन्यते सखा न जायते कदाचन ॥
अ. १।२०।४
घामुर्खोंका नाश करनेवाला, अपराधमूल पैला यह महात्
वासक है, जिसका मित्र माता नहीं जाता और जिसका
मित्र कभी पराम्भ नहीं होता ।

उपोहृष समूहश्च सप्तारौ ते प्रजापते ।
तापिहा पहतां स्फालिं यहुं भूमानमक्षितम् ॥
अ. ३।२।४
हे प्रजापतिक ! शास छाना और समूह करना ये दोनों
कार्य तू कर, वे कार्य महान् वृत्तिको जयें और बहुत अन्न
मारपणको प्राप्त हों ।

यत्ते तपः०, हरः०, आचि०, शोचि०, तेजः ।
तेन ते प्रतिपद्य योऽस्मान् देष्टि यं वयं द्विष्यः ।
अ. २।१९-२।१-५

जो वेदी तपसाक, हाससाक, वेत्रःसाक, प्रकाशसाक-
और तेजसाक है, उससे उनको छट दे जो हमसबको
कष्ट देता है और जिसका हमसब द्वेष करते हैं ।

अभूर्गृष्टीनामभिदाक्षिपावा उ । अ. २।११।२
विनाशसे मनुष्योंका रक्षण करनेवाला हो ।
विश्वंभर विश्वेन भा मरसा पाद्वि ।
अ. २।११।५

हे विश्वके भाग कर्ता ! सर्वगोचर अग्निसे मेरा
रक्षण कर ।

यद् राजानो विभजन्त ह्यपूरुत्स्य पौष्ट्यां
यमस्वामी सभासद् ॥ अ. ३।२१।१
जिस तरह निषमसे बढनेवाले राजाके समके वे सभा-
सद् हट और पूर्वका लोहद्वार भाग टूट कर रूपसे
रक्षते हैं ।

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यामृतै
अवपद्यन् जनानाम् ॥ अ. १।३।१२
जिनका राजा वरुण लोगोंके सख वा असख आचरण
देखता हुआ जाता है ।

ये देखे अंतर्भाग इस विषयमें विचार करने योग्य है ।
हममें और छोटे अंगमें सदा रखने योग्य सुचारित ये हैं ।
त्वां यिदो वृषतां राज्याय— सब मजा राष्ट्रके
छिये तुझे प्राप्त करके हरीकार करें ।

घर्षान् राष्ट्रस्य ककुदि धयस्व— राष्ट्रके अन्न स्थान
पर रह ।
विशां पतिरेकरात् त्वं विराज— प्रजापतिक एक
राजा होकर तू सुशोभित हो ।

स्वस्तिदा विशांपति— यह प्रजापतिक कबवाण
कानेवाला हो ।
अभि दाप्याय चर्धय— राष्ट्रके हित करनेके छिये बात
कर ।

त्वं सर्वान् छण्वमितो जनान्— तू सब जनोंको
अपने आरों और दृष्ट्या कर ।
अहं शत्रुहोऽस्मानि— मैं शत्रुका नाश करनेवाला
होकेगा ।

अहं राष्ट्रस्यामविकारो निजो भूयासं— मैं राष्ट्रके
उपम उपलब्धि निज होकर रहूँगा ।
अति द्विषः— द्वेष करनेवालोंको हट करता हूँ ।

भक्ति सिद्धः— हिंसकोंको दूर करता हूँ।

परिणः पाहि विभ्यतः— चारों ओरसे हमारी रक्षा कर।

संशिते धीर्ये यत्नम्— हमारा धीर्य और बल सीधे हो।

संशिते क्षत्रमजरमस्तु— क्षात्रबल सीधे होकर क्षीण न हो।

क्षिणामि प्रह्वणाऽमिन्नान्— शत्रुओंको जानसे क्षीण करता हूँ।

उन्नयामि स्वानहम्— स्वकीयोंकी उन्नति करता हूँ।

क्षत्रमजरमस्तु— क्षात्रवैज क्षीण न हो।

जिष्णुवेषां चित्तम्— इनका चित्त विजयी हो।

जायाः पुत्राः सुमनसा भवन्तु— जी, पुत्र उत्तम मनवाले हों।

यत्नी बलेन प्रमृणन् सपरान्— बलवान् बलसे शत्रुओंको मारे।

सजातानां मध्यमेष्टः— स्वजातीयोंके मध्यमें बैठने वाला हो।

शास हत्या महीं असि— तू शासककेसा मदान् है।

अभिन्नसादो अस्मृतः— शत्रुको पराभूत करनेवाला और स्वयं अपराजित हो।

न यस्य हन्यते सखा— जिसका मित्र मारा नहीं जाता।

उपोहस्य समूहस्य— पास लागे और समूह करना (ये दो कार्य करने योग्य हैं।)

इस प्रकार इन सुभाषितोंमें अननीय बचन हैं। ये बार-बार उच्चारित करनेसे बड़ा आनंद प्राप्त हो सकता है। 'स्वस्तिदा विशांपतिः' यह बचन बार-बार उच्चारनेसे राजाके कर्तव्य प्दानमें आ सकता है और परमेश्वरके गुण भी मनमें स्थिर होते हैं। परमेश्वर 'स्वस्ति-दा' है अर्थात् कल्याण करनेवाला है। सबका कल्याण वह करता है। जो परमेश्वरका गुण है वही गुण राजामें तथा साधारण प्रजाजनमें भी देखना चाहिये। अर्थात् हरएक मनुष्य 'स्वस्ति-दा' कल्याण करनेवाला हो, राज्यका अधिकारी कल्याण करनेवाला हो, राजा भी प्रजाका कल्याण करनेवाला हो। परमेश्वर तो सबका कल्याण करनेवाला है ही।

'राष्ट्राय वर्धय' राष्ट्रका वर्धन कर। राष्ट्रकी उन्नति कर। राष्ट्रका अम्युदय हो ऐसा कर। 'अहं शत्रुहो असानि' मैं शत्रुको मारूंगा। शत्रुको दूर करना हरएकका कर्तव्य है। शत्रु को व्यक्तिके, समाजके, धर्मके तथा राष्ट्रके अनेक प्रकारके होते हैं। उन सब शत्रुओंको दूर करना योग्य है।

'जिष्णुवेषां चित्तं' सब मनुष्योंका चित्त जयशाली हो, विजयी हो। कभी चित्त मित्रताही न हो। 'न यस्य हन्यते सखा' जिसका मित्र मारा नहीं जाता ऐसा परमेश्वर है। राजा भी ऐसा हो, और मनुष्य भी ऐसा हो।

इस प्रकार इन सुभाषितोंका मञ्जन, मनन तथा अपने जीवनमें ठालनेका यत्न करना चाहिये। ईश्वर, विश्वशासक हैं और राजाके गुणधर्म इनमें प्रकट हुए हैं। शासन हुआ तो वहां पुराह्वोंसे, शत्रुओंसे युद्ध करना ही पड़ता है। इस कारण अब युद्धके विषयके सुभाषित देखिये—

युद्ध

युद्धोंका शानन करनेके लिये आगृत रहकर युद्ध करना चाहिये, इस विषयके ये सुभाषित हैं—

स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन्। अ. २।६।३

अपने घरमें प्रमाद न करता हुआ जाग्रत रह।

प्रेता, जयता, नर उग्रा वः सन्तु बाहवः।

अ. ३।१२।६

दे वीरो ! आगे बढो, विजय कमानो, नापके बाहु शौर्य करनेवाले हों।

तेऽधराञ्चः प्र ग्लुवतां छिन्ना नौरिय यन्धनात्।

अ. ३।६।७

जैसी नीका बंधनसे छूटनेपर बह जाती है, उस तरह वे शत्रु अधोमार्गसे नीचेकी ओर चले जायें।

अग्नी ये चित्रता स्थन तान्यः सं नमयामसि।

अ. ३।६।५

जो ये विशद कर्म करनेवाले हैं उनको मैं एक विचार-वाले करता हूँ।

नदधेतेतः सदान्वः। अ. २।१०।६

यहांसे दानववृत्तियां विनष्ट हों।

यि त्वमग्ने आरात्याः। अ. ३।३।१।

हे अग्ने ! तू शत्रुसे दूर रहता है। शत्रु तुमारे पास नहीं आसकता।

योऽस्मान्द्रष्टि यं वयं द्विष्यस्तं यो जग्मे दध्मः ।

अ. ३।२०।१-६

जो एक हम सरका द्वेष करता है और जिस भकेलेका हम सब द्वेष करते हैं उसको है प्रभो ! तुम्हारे जबटमें वेते हैं ।

समहमेयां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम् ।

सृश्यामि शत्रूणां वाहननेन हविषाऽहम् ॥

अ. ३।१९।२

हमका राष्ट्र बल, वीर्य और सामर्थ्यसे मैं तेजस्वी बनाता हूँ । हम हवमसे मैं शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूँ ।

तीक्ष्णीयांसः परशोरत्रेस्तीक्ष्णतरा उत ।

इन्द्रस्य घञ्जास्तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥

अ. ३।१९।३

जिनका मैं पुरोहित हूँ, उनके दाढ़ अक्षरफरतीसे तीक्ष्ण, अग्निसे तीक्ष्ण और इन्द्रके वज्रसे भी तीक्ष्ण बनाता हूँ ।

उद्धपन्तां मघवन् घाजिनान्युद्धीराणां जयतामेतु

घोषः । अ. ३।१९।४

हे इन्द्र ! उनके बल उच्छेजित हों । विजयी वीरोंका घोष ऊपर चढ़े ।

तीक्ष्णेष्वयोऽवलघ्नस्वयो हस्तोप्रायुषा अवलानु-
प्रमाहवः । अ. ३।१९।५

हे तीक्ष्ण बाणवालो ! तम आयुषोंवालो ! तम बाहु-
वाले वीरों । निबंल घनुष्यवाले निबंल वीरोंको मारो ।

एषा तान् सर्यान् निर्भगिघ यानहं द्विष्यि ये च
माम् । अ. ३।१।६

इस तरह सब शत्रुओंका नाश कर, जिनका मैं द्वेष
करता हूँ और जो मेरा द्वेष करते हैं ।

प्र ते घञ्जः प्रमृणन्तेतु शत्रून् । अ. ३।१।७

तेरा वज्र शत्रुओंको काटता हुआ भागे बड़े ।

इन्द्र सेनां मोहयामिभ्राणाम् । अ. ३।१।८

हे इन्द्र ! शत्रुओंकी सेनाको मोहित कर ।

इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वादाकूला चर ।

अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विपृचो विनाशय ॥

अ. ३।२।३

हे इन्द्र ! शत्रुके चित्तोंको मोहित करके तुम संकल्पके
साथ हमारे पास आ । और अग्नि और वायुके वेगसे शत्रुको
घारों औरसे निमष्ट कर ।

स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृण्व-
ज्जातवेदाः । अ. ३।२।१

यह हमारा वीर शत्रुके चित्तको मोहित करे और उनकी
हस्तहीन जैसे करे । मोहित होने कारण कर्तव्य अकर्तव्यका
विचार करनेकी शक्ति शत्रुमें न रहे ऐसा करे ।

अग्नीयां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृणानाह्वान्यध्वे
परोहि । अ. ३।२।५

हे ग्याधी ! तू इनके चित्तोंको मोहित करके, इनके
अवपयोंको जकड़ कर दूरतक चली जा ।

स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृण्वज्जात-
वेदाः । अ. ३।१।१

यह वीर शत्रुओंकी सेनाको मोहित करे और उनकी
हस्तमहित करे ।

अयमग्निरमूहुद्यानि चित्तानि वो हृदि ।

वि वो घमस्वोकसः प्र वो घमन्तु सर्वतः ।

अ. ३।२।२

शत्रुके हृदयके विचारोंको यह अग्नी मोहित करे ।
शत्रुको घासे बाहर निकाल देवे और शत्रुको सब ओरसे
हटा देवे ।

अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिर्वास्ति-
मरातिम् । अ. ३।२।१

हमारा तेजस्वी तथा विद्वान् दूत घातपात करनेवाली
शत्रुसेनाको जलाता हुआ चले ।

अभि प्रोहे, निर्दहं हरस्तु शोकैर्प्राह्यामिभ्रास्त-
मसा विष्य शत्रून् । अ. ३।२।५

भाग बट, हृदयोंको शोकसे जला दो, जकड़नेवाले
रोगसे, तथा मूर्खसे शत्रुओंको बंध लो ।

यूयमुग्रा मरुत ईदशे स्यामि प्रेक्षमृणत सहर्ष्व ।

अ. ३।१।२

हे मरुतक छद्मेवाले वीरो ! तुम ऐसे तम वीर हो,
हमकेिये भागे बड़ो, काठो और जोत लो ।

आतृण्यक्षयणमसि आतृण्यक्षयणं मे दाः ।

सपत्नक्षयणमसि समत्नक्षयणं मे दाः ।

अरायक्षयणमसि अरायक्षयणं मे दाः ।

पिशाचक्षयणमसि पिशाचक्षयणं मे दाः ।

सदान्वक्षयणमसि सदान्वक्षयणं मे दाः ।

अ. २।१।८।५-५

वैशियों, सपरानों, निर्धनताओं, भास भक्षकों तथा आसुरी
वृत्तियोंको नाशका सामर्थ्य तुझमें है, यह सामर्थ्य मुझे दो।

भूतपतिर्निरजतु, इन्द्रश्चेतः सदान्वाः।

गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो घञ्जेणाधि तिष्ठतु।

अ. १।१४४

भूतपति राजा राक्षसी वृत्तियोंको यहसे दूर करे।
घरकी जड़में जो बुराहयाँ हों उनको इन्द्र वज्रसे दूर हटा
देवे।

विपूत्र्येतु कृन्तती पिनाकमिथ विधत्ती।

विध्यक् पुनर्भुया मनः। अ. १।२०।२

घनुष्य धारण करती हुई, काटती हुई बीरसेना चले जो
घनुसेनाका मनः विधलित करे।

आरे अस्मा यमस्यथ। अ. १।२६।१

किसीने मारा पथर हमसे दूर हो।

अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिद्रासति।

अ. १।२१।२

जो हमें दास करना चाहता है उसको हीम अंधकारमें
पहुँचा दो।

अपेन्द्र द्विपतो मनोऽप जिज्यासतो घधम्।

अ. १।२१।४

हे प्रभो ! हे वीर ! द्वेषीका मन बदल दे और हमारे
नाश करनेवालेके शत्रुको दूर कर।

इदं विष्कंधं सहते इदं वाघने अग्निणः।

अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः ॥

अ. १।१६।३

यह सीसा टुकड़ा पराभव करता है, यह शत्रुको बाधा
करता है, पिशाचोंकी सब आतिवाँ इससे पराभूत होती
हैं। (सीसा-सीसेकी गोली शत्रुका नाश करती है।

आराच्छरव्याऽस्मद्विपूत्र्योरिन्द्र पातय।

अ. १।१९।१

हे इन्द्र ! चारों ओर फैलनेवाले बाण हमसे दूर जाकर
गिरे।

यो नः स्वो यो अरणः सजात्र उत निष्ठयो यो

अस्मानमिद्रासति।

रुद्रः शरद्व्यपैतान् ममामित्रान् विविध्यतु।

अ. १।१९।३

जो अपना, जो परकीय, जो सजातीय, अपना जो हीम
जातीका हमको दास करना चाहता है, हमें दुःख देता है,
ऐसे मेरे शत्रुओंको रुद्र अपने बाणोंसे बंधे।

मा नो विद्दमिमा, मो अशस्तिः। अ. १।२०।१
पराभव हमारे पास न आवे, अवशस्तना हमारे समीप
न आवे।

इतश्च यदमुतश्च यद्वधं घरण यायय।

अ. १।२०।३

हे वधण ! यहांसे और वहांसे जो शत्रु हैं उनको
दूर कर।

सांसं म इन्द्रः प्रायच्छसर्दंग यातु-वातनम्।

अ. १।१६।२

' सीसेकी गोली मुझे इन्द्रने दी, वह यातना देनेवाले
दुष्टोंको दूर करती है।

निलपन्तु यातुधाना अग्निर्णो ये किर्मदिनः।

अ. १।०।३

जो यातना देनेवाले, सर्व भक्षक, घातक हैं वे बिलाप
करें। (दुष्टोंको यातना देना, सब कुछ खा जाना, और
सशः क्या खाकं ऐसा बोकना बिलाप करानेवाला है।

स्वमग्ने यातुधानातुपयद्वां इहाचह। अ. १।०।७
हे अग्ने ! तू यातना देनेवालोंको बांधकर यहां ला।
यातुधानस्य प्रजां जहि नयस्व च। अ. १।०।३
यातना देनेवाले शत्रुकी प्रजाका पराभव कर और उसको
ले चक।

एवा मे शत्रोर्मूर्धानि विष्वग्मिन्धि सहस्व च।

अ. १।६।६

इस तरह मेरे शत्रुके सिर तोट दो और उसको जीव लो।
म इन्तु शत्रून् मामकान् यानहं द्वेग्मि ये च माम्।

अ. ३।६।१; ३।५

वह मेरे शत्रुओंका नाश करे, मिनका मैं द्वेष करता हूँ
और जो मेरा द्वेष करते हैं।

अमित्रसेनां मघवन्नस्माच्छत्रूयतीमभि।

युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नशिश्रिश्च दहतं प्रति ॥

अ. ३।१।३

हे इन्द्र ! शत्रुवत् आचरण करनेवाली शत्रुसेनाको इन्द्र
और अग्नि तुम दोनों मिलकर जला दो।

इन्द्रः सेनां मोहयतु, मरुतो घ्नन्त्वोजसा ।
 चक्षुष्यभिरा दक्षां पुनरेतु पराजिता । अ. ३।१।६
 इन्द्र (सेनापति) शत्रुसेनाको मोहित करें। मरुत
 (सैनिक) विगसे हमला करें। अग्नि उनकी नाँसे लेंगे।
 इस तरह पराभूत होकर शत्रुसेना पीछे हटे।
 विष्वक् सत्यं कृणुहि चित्तमेवाम् । अ. ३।१।४
 सत्य रीतिसे इन शत्रुओंका चित्त चारों ओरसे स्वप्न करी।
 राजेयै सर्वानाजोन् यः । अ. २।१।५
 सब युद्धोंमें मैंने विजय प्राप्त किया है।
 अह्ना अरारति, मधिद्वा स्योनं, अप्यभूः भद्रे
 सुकृतस्य लोके ॥ अ. २।१।७
 छुपगताको तुमने छोड़ा है। सुखको प्राप्त किया है,
 स्वप्नकारि पुण्यलोकमें तू आया है।
 अरातीनां मा तारोमि नस्तारिषु रामिमातयः ।
 अ. २।७।४
 अनुदार शत्रु हमारे भागे न बनें। जो दुष्ट हैं वे भागे
 न बनें।
 अक्षुर्मस्त्रस्य दुर्हादः पृथारपि शृणीमसि ।
 अ. २।७।५
 दुष्ट मनुष्यके भाल और पीठ हम तोड़ देते हैं।
 मा ते रिपन्नुपल त्तरः । अ. २।६।२
 धेरे अनुपायी विनष्ट न हों।
 देधेर्दत्तेन मणिना जिक्रिडेन मयोभुवा ।
 विष्कंधं सर्धा रक्षसि व्याधामे सहामहे ।
 अ. २।४।४
 देवीने दिये, सुलदायक अंगिष्ठ मणिले, लोपक रोगका
 तथा सब रोगहृमियोंको हम दबा सकते हैं।
 म यहा, याहि शूर हरिभ्याम् । अ. २।५।१
 भागे बढ, दो घोड़ोंको जोतकर चला।
 इन्द्रस्तुरापापिमत्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न ।
 अ. २।५।३
 यत्न करनेवालोंके समान, एवरासे हमला करनेवाला
 इन्द्र धेरेवाले शत्रुको मारधा रहा।
 प्रतिदह पातुधानान् प्रति देव किमीदिनः ।
 सं दह यातुधान्यः । अ. १।२।२
 पातना देनेवालोंको जला दो। सदा मूर्खोंको जला दो।
 पातना देनेवाली छिपोंको भी जला दो।

अभीवर्ततां अभिभयः सपत्नक्षयणो मणिः ।
 राष्ट्रायमहां बंध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुये ॥
 अ. १।२५।४
 अभीवर्तमान शत्रुका पराभव करनेवाला और दुष्टोंको
 दूर करनेवाला है, राष्ट्रहितके लिये तथा शत्रुओंको पराभूत
 करनेके लिये वह मणि मेरे शरीरपर बांधे।
 मेमं प्रापत्पौरुषेयो यद्यो यः । अ. १।३।१
 जो अनुपयनाशक शत्रु है वह इसके पास न आवे।
 (मर्पात् पद न मेरे)
 असमृद्धा अघायय । अ. १।२।७।२
 पापी लोग समृद्ध न हों।
 आरेरेसावसादस्तु हेति । अ. १।२।१।१
 शत्रु हमसे दूर रहे।
 मा नो विदन् विव्याधिना मो अभिव्याधिना
 विदन् । अ. १।१।५।१
 विदोप वेधनेवाले शत्रु हमें न प्राप्त करें। चारों ओरसे
 वेधनेवाले शत्रु हमारे पास न आवे।
 यो अथ सेन्यो यथोऽघायूनामुदीरते ।
 युयं तं मित्रायरुणा असघावपतं पति ॥
 अ. १।२।७।२
 जो भाग सेनाके दूर युद्धोंका बध पापी शत्रुओंसे हो
 रहा है, हे मित्र बरुण ! तुम उनकी हमसे दूर कर।
 यिन इन्द्र मृषो जहि, नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
 अ. १।२।१।२
 हे शत्रुनाशक धीर ! हमारे शत्रुओंको मार, सैन्य हम-
 पर अज्ञानेवालोंकी हीन स्थितिमें पहुँचाओ।
 वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन् अमित्रस्यामिदासतः ।
 अ. १।२।१।३
 हे शत्रुनाशक धीर ! हमारे घात करनेवाले शत्रुके उखा-
 हका नाश कर।
 वरयो यावया वधम् । अ. १।२।१।४
 शत्रुके शत्रुको हमारेसे दूर कर।
 देवीमनुष्येयवो ममामित्रान् वि विध्यत ।
 अ. १।१।५।२
 मनुष्योंसे कैंके तथे विष्व बान, मेरे शत्रुओंको बाँधे।

यातुधानान् वि लापय । अ. १।७६
यातना देनेवालोंको रुलाओ ।
नीचे: पद्यन्तामधरे भयन्तु ये नः सूरिं मघवानं
पृतम्यान् । अ. ३।१५।३

जो शत्रु हमारे धनवान् और विद्वान् पर सैन्य भेजते हैं
वे नीचे गिरे और भयनत हों

एवामहमायुधा संस्याभ्येषां राशूं सुवीरं वर्धयामि ।
अ. ३।१५।५

इनके आयुध मैं तीक्ष्ण करता हूँ तथा इनका शत्रु उसम
धीरोंसे युक्त करके उन्नत करता हूँ ।

पृथग्योषा उलूलयः केतुमन्त उदीरताम् ।
अ. ३।१५।६

झंडे लेकर हमला करनेवाले धीरोंके घोष पृथक्-पृथक्
ऊपर उठें ।

अथसृष्टा परा पत शरद्वये ब्रह्मसंशिते ।
जयामिभ्राम् प्र प्रघरुच, जह्योषां चरं वरं,
मामीषां मोचि कञ्चन । अ. ३।१५।८

हे ज्ञानसे तेजस्वी बने शत्रु ! तू छोटा जानेपर दूर जा,
शत्रुओंको जीव लो, भागे बढ, शत्रुके धीरोंसे श्रेष्ठ-श्रेष्ठ
धीरोंको मार डाल, इनमेंसे किसीको न छोड ।

अस्ती या सेना मरुतः परेवामस्मानित्यभ्यांजसा
स्पर्धमाना । तां विध्यत तमसापद्यतेन यथै-
यामन्यो अभ्यं ॥ जानात् । अ. ३।१६

हे मरुतो ! वह जो शत्रुकी सेना वेगसे स्पर्धा करती
हूँ हमारे ऊपर आही है, उसको क्षयप्रत तमसाजसे
धीरो जिससे इनमेंसे एक दूसरेको न जान सके ।

उग्रस्य भयोरुदिर्मं नयामि । अ. १।१०।१

उग्र क्रोधसे इसके ऊपर मैं लेजाता हूँ ।
सपाना अस्मदधरे भयन्तु । अ. १।१२।४

शत्रु हमसे नीचे रहें । शत्रुका अघःपात हो ।
जहि एषां शततर्हम् । अ. १।८।४

इन दुष्टोंका सैकड़ों कष्ट देनेका साधन दूर कर, शत्रुको
पगलित कर ।

एवामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि शृञ्चतु ।
अ. १।१०।७

इन्द्र वज्रसे इन दुष्टोंके गिर काट दे ।
प्रवीतु सर्षो यातुमानयमस्येत्येत्य । अ. १।७।४

'सर्व यातना देनेवाले आकर बोलेंकी हम यहाँ हैं ।'
दृश्याः हन्ता धमूविथ । अ. १।७।१
तू दृश्यका विनाशक है । (दृश्यका विनाश करना
योग्य है)

वि रक्षो विमृषो जाहि विवृषस्य हनू रुच ।
अ. १।२।१।३

राक्षसो, शत्रुओंको पराभूत कर । घेनेवाले शत्रुके
जबड़े तोड ।

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विपन् छपाति नः ।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्मयमं ममान्तरम् ।
अ. १।१५।९

जो सपत्न और जो असपत्न हैं, पर जो शाप देकर हमें
द्वेष करके कष्ट पहुंचाता है, सब देव उसका नाश करें ।
मेरा भान्तरिक कवच ब्रह्मज्ञान है ।

ज्ञानरूप कवच जो पहनता है, उसका हलम रक्षण
होता है ।

मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या । अ. १।२०।१
जो द्वेष करनेवाले कुटिल हैं वे हमारे पास न आवें ।
विष्वङ्मो अस्त् छरवः पतन्तु ये अस्ता ये
स्वास्याः । अ. १।१५।२

जो फेंके गये हैं, और जो फेंके जानेवाले हैं वे बाण
चारों ओर हमसे दूर आकर गिरें ।

यत्त आरमनि तन्वां घोरमस्ति ।
यद्वा केदोषु प्रतिचक्षणे वा ।
तत्सर्वं वाचाप हन्मो वयं । अ. १।१८।३

जो इसके शरीरमें, बुद्धिमें, केशोंमें, देखनेमें बुरा है,
उस सबको हम बाणोंकी मारणसे दूर करते हैं । (बाणोंसे
मूचना देकर उस दोषको दूर करते हैं ।)

दहन्नप द्वयाविनः यातुधानान् किमीदिनः ।
अ. १।२।१।१

दुसुखों, यातना देनेवालों और अथ क्या खाऊं ऐसे
बोलनेवाले दुष्टोंको अग्नि जला देता है ।

भ्रेतं — भागे बढो ।
प्रस्फुरतं — फुरती करो ।

पृणतः गृहान् चदतं — संतोष देनेवालोंके घर जाओ ।
अ. १।२।७।४

अभिवृष्य सपत्नान् अभि यो नो भरातयः ।

अभि पृतन्यस्तं तिष्ठामि यो नो दुरस्थति ॥

अ. १।२१।२

शत्रुओंको पराभूत करके, हमारे अंदर जो कंजूस हैं उनको दूर करके, सेनासे जो चढाई करता है और जो हमसे दुष्टताका व्यवहार करता है, उन सबको पराभूत करो ।

विश्व्या ह्यग्ने दुरिता तर । अ. २।६।५

सब पापवृत्तियोंको, पापियोंको दूर कर ।

स्वयुग्मिर्मस्त्वेह महे रणाय । अ. २।५।४

अपनी योजनाओंसे वृ यहाँ जानिद्व होकर रह और बड़े युद्धके लिये तैयार रह ।

ससहे शशून् । अ. २।५।३

शत्रुका पराभव करता हूँ ।

प्रति तमभि चर योऽस्मान् द्वेष्टि यं धयं द्विष्मः ।

अ. २।१।१३

उसपर चढाई कर जो भयैला हम सबका द्वेष करता है ।

और जिसका हम सब द्वेष करते हैं ।

पृथ्वामि तं कुलिशेन वृक्षं यो भस्माकं मन

इदं हिनस्ति । अ. २।३।२३

जो हमारे इस मनको विगाड़ता है, उसको कुठारसे वृक्ष काटनेके समान काटता हूँ ।

सपत्नह्यग्ने अभिमातिजिद् भव । अ. २।६।३

हे अग्ने ! साधनोंका विनाशक हो तथा वैरियोंको जीतने-वाला हो ।

अग्नेर्घातस्य ध्राज्या तान् विपृचो वि नाशाय ।

अ. २।१।५

अग्नि और वायुके वेगसे जैसा नाश होता है वैसा नाश शत्रुओंका चारों ओरसे करो ।

जहि प्रतीचो अनूचः पराच्यः । अ. २।१।४

समुल रहे, पीछेसे जानेवाले और भागनेवाले शत्रुको विनष्ट करो ।

अग्निमृणन् वसवो नाधिता इमे, अग्निर्घोपां

दूतः प्रत्येतु विद्वान् । अ. २।१।२

ये बलवान् बसानेवाले वीर काटते रहे हैं, इनका विद्वान् अग्नि समान वेजस्वी दूत चढाई करना हुआ भागे बडे ।

अग्निर्मः शशून् प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदृष्टमिदश-

स्तिमरातिम् । अ. २।१।१

विद्वान् वेजस्वी वीर घातघात करनेवाले शत्रुको बडाया हुआ हमारे शत्रुओंपर हमला करे ।

इन सुक्तियोंमें विशेष महत्त्व रखनेवाली ये हैं—

स्वे गये जागृहि— अपने घरमें जागृत रह । अपने राट्टमें जागृत ॥ ।

उप्रा वः सन्तु वाहवः— भारके बाहु ठम हों ।

प्रेत— शत्रुपर हमला कर ।

जयत— विजयी हो ।

नदयेतः सदाग्यः— दानवोंका पहा नाश हो ।

समहमेपां राष्ट्रं स्यामि— इनका राष्ट्र मैं वेजस्वी बनावा हूँ ।

पृथ्वामि शशूपां वाहून्— शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूँ ।

उद्धपन्तां वाजिनानि— इनके बल हलसेजित हों ।

तीक्ष्णेपयोऽयलधन्वतो हत— तुम्हारे तीक्ष्ण बालोंसे निबंरु शस्त्रवाले शत्रुको मारो ।

पया तान् सर्वान् निर्भेदिघ— इस तरह इन सब शत्रुओंका नाश कर ।

सेनां मोहयामिनाणां— शत्रुकी सेनाको मोहित कर ।

तान् विपृचो विनाशाय— शत्रुको चारों ओरसे विनष्ट कर ।

स चिच्चानि मोहयतु परेपां— वह शत्रुओंके चित्त मोहित करे ।

स सेनां मोहयतु परेपां— वह शत्रुकी सेनाको मोहित करे ।

अभि प्रेहि, निर्दह— भागे बढ, शत्रुको जला दो ।

अभि प्रेत, मृणत, सहध्वं— हमला करो, काटो और जीतलो ।

भूतपतिर्निरजतु— भूतोंका पति दुर्बलियोंको दूर करे ।

विपृच्येतु कृन्तती— काटती हुई सेना भागे बडे ।

आरे अदमा— परपर हमसे दूर रहे ।

अपेन्द्र द्विपतो मनः— दे हन्त ! शत्रुका मन बदल दे ।

मा नो विदृग्भिमा— परामव हमारे पास न भावे ।

विलपन्तु यातुघानाः— घातना देनेवाले शत्रु रीते रहें ।

यातुघानस्य प्रजां जहि— घातना देनेवाली प्रजाका पराजय कर ।

स हन्तु शत्रून् मामकान्— वह मेरे शत्रुओंका वध करे ।

अजैपं सर्वानाजीन्— सब युद्धोंमें मैं विजय प्राप्त करता हूँ ।

अथा अरातिं— कृपणताके छोड़ो ।

अधिः स्थीनं— सुखमार्गको मानो ।

अभूः भेद्रे सुकृतस्य लोके— कल्पानकारी पुण्य लोकमें रहो ।

अरातीर्नो मा तारीत्— कंगूष हमारे पास न बढें ।

मा नस्तारिपुरभिमातयः— शत्रु हमारे भागे न बढें ।

प्र वह— भागे बढ ।

याहि शू— हे वीर ! भागे बढ ।

प्रतिदह यातुधानान्— पातना देनेवालोंको जला दो ।

मेमं प्रापरपौरुषेयो यद्यो यः— मनुष्यनाशक शस्त्र मेरे ऊपर न पडें ।

असमूहा आघायवः— पापी समूह न हों ।

मा नो विद्वन् विख्याधिनः— वेष करनेवाले शत्रु हमें न जानें ।

मो अभिव्याधिनो विद्वन्— चारों ओरसे आक्रमण करनेवाले शत्रु हमें न जानें ।

वि न इन्द्र मृषो जहि— हे इन्द्र ! हमारे शत्रुओंको मार ।

नीचा यच्छ पृतग्यतः— सैन्यसे हमका करनेवालोंको हीन अवस्थामें पहुँचा दो !

घरीयो यावया यचम्— शस्त्र हमसे दूर रह ।

इयधो नमामिभ्रान् वि विध्यत— बाण में शत्रुओंको वीधे ।

यातुधानान् विलापय— पातना देनेवालोंको हलानो ।

एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि— इनके राष्ट्रको वीर बनाकर बढ़ाता हूँ ।

जयामिभ्रान्— शत्रुपर विजय प्राप्त कर ।

जद्येषां वरं वरं— शत्रुवीरोंके प्रमुखोंको मार ।

मामीयां मोचि कश्चन— शत्रुओंमेंसे किसीको न छोड़ ।

विध्यत तमसापत्रतेन— शत्रुको अपघत तमसाक्षसे वीधो ।

सपाना असदघरे भयन्तु— शत्रु हमसे नीचे रहें ।

वस्योर्हन्ता वभूविद्य— शत्रुका विनाशक वत ।

वि रक्षो विमृषो जहि— राक्षसों और द्विसकोंका परामव कर ।

मा नो विद्वद् वृजिना द्वेष्या या— कुटीक और पापी मुझे न जानें ।

वहपय प्रयाधिनः— दुमुखोंके मैं जलाता हूँ ।

प्रेतं— हमला करो ।

प्रस्फुरत्वं— जुराही बढाओ ।

पूणतः गृहान् यदहत्— संतोष देनेवालोंके घरोंके पास जाओ ।

अभि पृतग्यन्तं तिष्ठ— सेनासे हमका करनेवाले शत्रुका परामव कर ।

विभ्वा सुरिता तर— सब पापोंको तर जा ।

अस्वेह महे रणाय— बड़े युद्धके लिये जानन्दसे तैयार रह ।

ससहे शत्रून्— शत्रुका परामव करता हूँ ।

अभिमातिजिद्भव— शत्रुका परामव करनेवाला हो ।

शत्रून् प्रत्येतु विद्वान्— विद्वान् शत्रुपर चढाई करे ।

इस तरह इन सूक्तियोंमें अनेक वाक्य भजनमें बोलने योग्य हैं । इस तरहके वचन सब बोलने होते हैं जब शत्रुके विरुद्ध अपने लोगोंको, अपने वीरोंको बढाना या तैयार करना होता है । ईश्वर भक्तिके बेदवचन बपासनाके समय बोलने होते हैं और ये वीरता बढ़ानेवाले वचन वीरता बढ़ानेके समय उच्चार करने होते हैं । विवेकी पाठक इसकी अच्छी तरह समझ सकेंगे ।

शत्रुपराजय करनेके लिये अपने राष्ट्रको तैयार रखनेके समय ये वचन बड़े उपयोगी हैं । राष्ट्रको संजीवित करनेके लिये राष्ट्रमें एकता प्रस्थापित करनेकी आवश्यकता होती है । वह एकताका विषय अब देखिये—

एकता

एकता बढ़ानेका उपदेश वेद इस तरह करता है—

सहृदयं सांभनस्यमविद्वेषं कृणोमि यः ।

अ. ३।३०।१

सहृदयता और उच्चम मनवाला होना और विद्वेष न करना ये तुम्हारे अन्दर हों ऐसा मैं करता हूँ ।

अन्यो अन्यमभिद्वयंत वार्षं जातमिवाच्या ।

अ. ३।३०।१

एक दूसरे पर देता प्रेम करो त्रैसानवजात बंधुपर गौ प्रेम करती है ।

अनुमत्तः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।

अ. ३।३०।२

पिताके अनुकृतप्रथ पात्रण करनेवाला पुत्र हो और वह मातासे समान मनवाला हो ।

जाया पत्यो मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ।

अ. ३।३०।३

ही पतिके साथ मधुर और दान्य मायग करे ।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।

अ. ३।३०।४

माई माईसे द्वेष न करे, बहन बहनसे द्वेष न करे ।

सम्यञ्चः समता भूत्वा वार्षं वदतु भद्रया

अ. ३।३०।५

मिलजुलकर एक प्रथपालन करनेवाले होकर बह्याण करनेवाला भावग करो ।

ज्वायस्वन्तश्चित्तो मा हि यौष्ठ संराघयन्तः

सपुराश्चरन्तः । अन्यो अन्यस्ते वस्तु वदन्त

पत सध्रीचीनाम्नः संमनसस्तृणोमि ॥

अ. ३।३०।६

बूढ़ोंका संमान करनेवाले, और उतम विचार करनेवाले बनो, तिरिदिक परान करनेवाले, एक पुराके नीचे चलने-वाले होकर आपसमें विरोध न करो, परस्पर प्रेम पूर्वक भावग करनेवाले और उतम विचार करनेवाला होकर रहो ।

समानो प्रया सह वो अन्नभागः समाने योक्त्रे

सह वो युनेग्मि । अ. ३।३०।७

पानी पीनेका भागका स्थान एक ही, भागका अन्नभाग एक ही, एक जोतेके अन्दर साथ-साथ भागके जोतका हूँ ।

सम्यञ्चो वरिं सपर्यतारा नाभिमियाभितः ।

अ. ३।३०।८

सब मिलकर अग्निके पूजा करी और चकड़ी नाभिके चारों ओर जैसे आर होते हैं वैसे तुम परस्पर जुड़कर रहो ।

सध्रीचीनावः संमनसस्तृणोम्येक द्रुष्टृन्सं-
चननेन सर्वान् । अ. ३।३०।९

परस्पर प्रेम भावका बर्ताव करनेवाले, साथ साथ दुष्ट-पार्य करनेवाले, उतम मनवाले और एक नेत्राकी आशमें कार्य करनेवाले मैं तुमको बनाया हूँ ।

देवा इवामृतं रक्षमाणाः सार्यं प्रातः सौमनसो
षो अस्तु । अ. ३।३०।१०

अमृतका रक्षण करनेवाले देव जैसे प्रेमसे रहते हैं देवा परस्पर प्रेम भावके व्यवहारमें सबेरे और शामकी होते ।

सं वो मनांसि सं प्रता समाकूर्तान्मामानसि ।

अ. ३।३०।११

तुम्हारे मनोको एक करो, तुम्हारे प्रथ एक हों, तुम्हारे संकल्पोंकी एक भावसे पुष्ट करा हूँ ।

मम प्रतेपु हृदयानि चः कृणोमि

मम पातमनुवर्तमान एत । अ. ३।३०।१२

मेरे मनमें तुम्हारे हृदय संलग्न हों ऐसा मैं करता हूँ ।

मेरे पात-चलनेके अनुकृत तुम होकर चलो ।

अ-दार-सूद भवतु । अ. ३।३०।१३

आपसमें कूट उतरक करनेवाला कोई न हो ।

महं गुण्यामि मनसा मनांसि

मम चित्तमनु चित्तेभिरत । अ. ३।३०।१४

मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोको लेता हूँ । मेरे चित्तके साथ अपने चित्तोंको चलाओ ।

यथा नः सर्व इज्जनः संगदयां सुमना असत्

दानकामश्च नो भुवत् ॥ अ. ३।३०।१५

हमारे सर्वोंके लोग संगतिमें उतम मनवाले हों और दान देनेकी भी इच्छा करें ।

सं संघ्नयथो अश्विना, क्रामिना सं च वस्तुधः ।

सं वां मगासो अम्रत, सं चित्तानि, समुप्रता ॥

अ. ३।३०।१६

हैं परस्पर कामना करनेवाले अश्विदेवों ! मिलकर चलो, मिलकर बटो, ऐश्वर्यको मिलकर प्राप्त करो, तुम्हारे चित्त एक हो, तुम्हारे प्रथ एक हों ।

दिवाभिमृष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीचो मोदिपीठाः

सुवर्चाः । सवासिनी पिबतां मन्थमेतं अश्विनी

रूपं परिचाय भ्रायाम् ॥ अ. ३।३०।१७

कवचाकारिणी त्रिधात्री द्वारा ठेरे हृदयकी गूढ कलाएँ हैं। नोरोध और तेजस्वी होकर आनन्दमें रही। साथ रहकर आश्विनके स्पर्शकर्मकी बुधकलाकी प्राप्ति होकर हृष्यरसको पीयी।

इस रीतिसे सबकी एकता करनेका उपदेश देइ करती है। घरकी तथा परिवारकी एकता करनेके लिये प्रयत्न करा है—

मा आता आतरं द्विद्वन्द्वम्— माई-माईसे द्वेष न करे। वह आरेख यदि माई-माई मनमें रखते, तो कौरव पांडवोंकी एकता होती और आपसका कलह न होता और १८ बर्षोंकी सेनाका नाश न होता। और माघ देव क्षात्र तेजसे हीन न होता।

सम्यञ्चो अग्नि सपर्यत

आरा नामिनिवामितः । अ. ३१२०१३

जैसे बच्चे आरे नामिके चारों ओर रहते हैं, उस तरह बीचमें अग्नि रहे और चारों ओर बैठकर हवन करो यह सामुदायिक उपासना करी है जो एकता बढ़ानेवाली थी। सामुदायिक संस्था, सामुदायिक हवन होनेसे समुदायकी एकता होती थी। इस स्थानपर आज वैवदिक संस्था हो गयी है जो एक दूसरेको वृथक् करती है।

अरनेमें 'अदारस्तु अरनु' आपसकी कूट बढ़ाने-बाढा कोई न रहे। परन्तु आपसकी एकता सब बराबरी और सब सुसंगठित हों। इस कारण कहा है—

अहं गुण्यामि मनसा जनांसि । अ. ३१४१३

मैं अरने मनसे मुझसे मनोको एकत्रित करके लेता हूँ अर्थात् मैं अपना मन ऐसा बनाता हूँ कि जो सबके मनोको आकर्षित करे और सबके विचार एक प्रकारके बनाने और सबको संगठित करे। इस रीतिसे राष्ट्रके सब लोगोंको संगठित किया जाय और राष्ट्रका बल बढ़ाया जाय।

इस तरह संघटनाके सूचक ये मंत्र हैं। पाठक इनका विचार करें और आपसमें सुसंघटीत होकर अपने राष्ट्रका बल बढ़ावे इससे राष्ट्रका अम्युद्ध होगा।

अम्युद्ध

इमा याः पञ्च भद्रिचो मानवीः पञ्च रूपयः ।

वृष्ट शपं नदीरिवेह स्फाति समावद्धम् ॥

अ. ३१२१३

जो ये पांच दिशाओंमें रहनेवाली मानवीकी पांच आवियाँ हैं, वे समृद्धिको प्राप्त हों, जिस तरह वृष्टिसे नदी बहती है।

जैसे वृष्टि होनेसे नदी बहती है उस तरह सब प्रजा-जनोका अम्युद्ध हो। अम्युद्धोंकी सब प्रकारकी ऐहिक तथा पारमार्थिक उन्नति हो, सब राष्ट्र एकतासे अपना अम्युद्ध करने लगेगा तो ही राष्ट्रकी उन्नति हो सकती है। एकता मूलक सब उन्नति है।

राष्ट्रकी एकता होनेके लिये राष्ट्रमें पशु भावना होनी चाहिये। अज्ञानोंका सरकार, राष्ट्रकी एकता अपना संघटना करना और दानका साथ-से गुण पशुमें है। इन गुणोंसे राष्ट्रका उत्कर्ष होता है।

यज्ञ

अस्य यथा च वर्धय । अ. ३१२०१५

ज्ञान और प्रशस्तता कर्मको बढ़ाओ।

इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमन-

अस्यमानाः ॥ अ. ३१२५१५

विक्रमे रक्षिताने यह यज्ञ कैदाया है। उत्तम मनसे सब देव इस यज्ञमें जायें।

उतादित्समंतं दापयतु प्रमानम् । अ. ३१२०१८

दान न देनेवालेको जानबूझकर दान देनेकी प्रेरणा कर।

य ईशो पशुपतिः पशूनां चतुष्पदासुत यो

द्विपदाम् । निष्क्रीतः स यथिषं भागमेतु,

रामस्पोषा यजमानं सचरताम् ॥ अ. ३१३१३

जो चतुष्पाद पशुओंका तथा द्विराशों-अनुषोंका स्वामी है, यह वज्रके माणको प्राप्त हो, उसकी उदारता हो, धन और पोषण यजमानको मिले।

विद्वानोंका स्मरण करना चाहिये, दासकी उत्तम संपत्तना होनी चाहिये और जो दीन होंगे धनकी दीनता दूर करनेके लिये दान देना चाहिये। दानमें विद्यादान, चरका संवर्धन, धनका दान और कर्मशक्तिका उत्कर्ष यह चतुर्विध सहाय्य होना चाहिये। यह जहाँ होगा वहाँ पशु होगा। और इससे राष्ट्रका परम उत्कर्ष होगा।

मधुरता

मधुरतासे एकता होती है। इस विषयमें वेदमंत्रोंका स्पष्ट आदेश यह है—

मघोरसि मघुतरो मघुधान्मधुमत्तरः ।

अ. १।१४।४

मैं सबसे भी अधिक भीठा हूँ, मधुर पदार्थसे भी अधिक मधुर हूँ ।

याचा धदासि मधुमद् भूयासि मधुसंदद्याः ।

अ. १।१४।३

मैं बानीसे भीठा भावण करूँगा और मैं मधुरताकी मूलि बूँगा ।

मधुमन्मे निष्क्रमणे मधुमन्मे परायणम् ।

अ. १।१४।३

मेरा जाना और जाना भीठा हो ।

जिह्वया अग्ने मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।

अ. १।१४।२

मेरी जिह्वाके मूलमें मधुरता रहे और जिह्वाके अग्रभागमें भीठास रहे ।

ऐसी भीठास होनेसे राष्ट्रमें मेम बढ़ता है और मेमसे संगठना होती है । मिथता बढ़ती है । पराश्वर सहायता करनेकी हृष्या बढ़ती है । इससे सबका मिलकर कल्याण होता है ।

मित्रता

यः सुहासि तेन नः सहः । अ. २।०।५

जो इतना हृदयवाला है उसके साथ हमारा मित्रता हो ।

सखासावसलभ्यमस्तु रातिः । अ. १।२६।२

दामक्यी मित्र हमारे साथ रहे ।

मित्रेणाग्ने मित्रघ्ना यतस्व । अ. २।६।५

मित्रके साथ मित्रके समान व्यवहार कर ।

शिवे ते चावापृथिवी उभे स्तम् । अ. २।१०।१

वेरे शिवे ये दोनों तु और पृथिवी लोग कल्याण करनेवाले हैं ।

शदमस्तद् यावप दिपुं । अथर्व १।२।३

दिपुं शरं अस्तत् यावय- शत्रुके तेजस्वी बाणकी

हमसे दूर कर (शत्रुका बाण हमपर न जावे ।)

वसोपते ! नि रमय । अथर्व १।१।२

हे वसुधैवि स्वामिन् ! मुझे जानन्द शुभ कर ।

वयमङ्घ्यादेवपि व्यथामस्यघायोः परिपन्थिनः ।

अ. १।१०।११

पानी और दुष्टोंके नाश हम एक देते हैं ।

पानी और दुष्ट दूर हों और उत्तम हृदयसे सबकी एकता रहे और एकतासे बल बढ़े ।

बल

अश्मानं तन्वं कृधि । अथर्व १।२।२

शरीरको पथर जैसा सुदृढ कर ।

पृष्टदमानया तिष्ठ, अदमा भवतु ते तनूः ।

अ. २।१३।४

जा, इस छिटापर चढ़, तेरा शरीर पथर जैसा सुदृढ बने ।

याचस्वपतिः तेषां तन्वः बला मे अथ दधानु ॥

अथर्व १।१।९

चाहताति इनके शरीरके बलोंको मुझमें जाड बाराण करे ; (विश्वमें जो पदार्थ हैं उनमें बल मुझे प्राप्त हों और मैं उनसे बलवान् बनकर इस विश्वमें विश्वसेबाका कार्य करता रहूँ ।)

वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषांस्या कृधि ॥

अथर्व १।२।२

वीडुः वरीयः अरातीः द्वेषांति अवाकृधि— हममें शरीर बलवान् और अंग बनें । शत्रुओं और द्वेष करनेवालोंको दूर कर ।

ओजोऽस्वोजो मे दाः । सहोऽसि सहो मे दाः ।

बलमसि बलं मे दाः । नायुरसि द्यायुर्मे

दाः ! ध्रोत्रमसि भ्रोत्रं मे दाः । चक्षुरसि

चक्षुर्मे दाः । परिपाणमसि परिपाणं मे दाः ।

अ. २।१०।१-७

सामर्थ्य, शत्रुका पराभव करनेकी शक्ति, बल, आयु, दान, शोक, संरक्षण यह तुम्हारा स्व है अतः तू मुझे ये शुभ दे ।

अक्त्योऽसि, प्रतिसरोऽसि, प्रत्योमचरपोऽसि ।

अ. २।१।२

तू (जामा) यतिशोक है, तू जामे बढनेवाला है, तू

दुष्टताको दूर करनेवाला है ।

शुक्रोऽसि, आजोऽसि, स्वरासि, ज्योतिरासि ।

अ. २।१।५

तू शुद्ध तथा वीरवान् है । तू तेजस्वी है, तू ज्ञान-

शक्ति है, तू ज्योति है ।

प्र च वर्धयेमम् । अ. २।६।२

इसको विशेष ऊंचा कर ।

सबका बल, तेज, ज्योति, वीर्य, बडे और सब छोग
देजस्वी बनें और सबका सामर्थ्य बडे ।

धीरता

प्रजां त्वष्टरधि निघेह्यस्मे । अ. २।२९।२

हे त्वष्टा ! इसको सुप्रजा दे ।

आ धीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ।

अ. ३।२३।२

तेरे किये दशवें मासमें अग्नेवाला धीर पुत्र होवे ।

अथास्माकं सह धीरं रयिं दाः । अ. २।६।५

इमें धीरोंके साथ रहनेवाला धन दे ।

सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।

अ. ३।१०।५

हम उत्तम प्रजावाले तथा उत्तम धीरोंसे युक्त होकर
धनोंके स्वामी बनें ।

तनूपानः सयोनिर्वीरो धीरेण मया । अ. ३।५।८

तू सजातीय धीर मुझ धीरके साथ रहकर धीर रहकर है ।

वृषेन्द्रः पुर पतु नः सोमपा अभयंकरः ।

अ. १।२।११

बलवान्, शक्ति करनेवाला, सोमरस पीनेवाला शत्रु-
नाशक धीर हमारा भगुवा बने ।

ज्ञान

घोरा ऋषयो, नमो अस्त्वेष्यश्चक्षुर्यदेवां मन-

सश्च सत्यम् । अ. २।६।५

ऋषि बडे तेजस्वी हैं, उनको हमारा प्रणाम प्राण हो,
इसकी भाँस और मन सत्यस्वरूप रहते है ।

येन देवा न विप्रन्ति नो च विद्विषते मिथः ।

नःकृष्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥

अ. ३।३।७

जिससे ज्ञानी आपसमें झगडते नहीं और आपसमें द्वेष
भी नहीं करते, वह श्रेष्ठ ज्ञान आपके घरके पुरपोंके लिये मैं
करता हूँ ।

ब्रह्माणस्ते यदासः सन्तु, मान्ये । अ. २।६।२

ज्ञानी ही तेरे यशके भागी बनें, न दूसरे ।

मयि एव अस्तु मयि श्रुतम् । अथर्व० १।१।२;२

पवा हुआ, सुना हुआ ज्ञान मेरे अन्दर स्थिर रहे । (प्राप्त
किया ज्ञान मूला न जाय ।)

सं श्रुतेन गमेमहि । मा श्रुतेन विराधिपि ॥

अथर्व० १।१।४

हम सब ज्ञानसे युक्त हों। हम कभी ज्ञानसे विमुक्त
न हों ।

इमं वर्धयता गिरः । अ. १।१।५।२

वाणिषां इसका गुणवर्धन करे । गुणगान करे ।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि । अ. २।१।१

ज्ञानसे मैं तुझे नित्यप करवा हूँ ।

उपास्मान् वाचस्पतिर्ह्ययताम् । अथर्व० १।१।४

ज्ञानी हमें बुलावे (और उपदेश करे, हमें मार्ग बतावे ।)

सूर्यं चक्षुषा मा पाहि । अ. २।१।६।३

हे सूर्य ! भाँससे मेरी सुरक्षा कर ।

विद्विदि, शक धिया इदि आ नः । अ. २।५।४

उत्तम शत्रुघासन कर, हे इन्द्र ! हमारे पाल बुद्धिकी
योजनासे आओ ।

एहि देवेन मनसा सह । अथर्व १।१।२

दिव्य मनके साथ इधर (मेरे समीप) जा । (मनमें
दिव्य शक्ति है, उस दिव्य शक्तिसे प्रभावित हुए मनसे यहाँ
जाओ । मनमें दिव्य शक्ति धारण करके, जहाँ जाना हो,
जाओ आशिये ।)

व्यापस्त्वृष्णयास्वरन् । अ. ३।३।३

जल तृपासे दूर रहता है ।

इमामग्ने शरणिं मीसृषो नः । अ. ३।१।५।४

हे अग्ने ! मेरी इस भूलकी क्षमा करो ।

तर्पुषं तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विपं घौर-

मिसंतपाति । अ. २।१।२.६

ज्ञानका द्वेष करनेवाले उस दुष्टको सब कार्य ताप-
दायक हों । उस ज्ञानके द्वेषको भाँसता संतप्त करे ।

सूर्यमृतं तमसां ब्राह्म्या अधिदेवा मुञ्चतो अस्तु-

जिह्नुरेणसः । अ. २।१।०।८

देवोंने अंधकारकी पकडसे तथा पापसे मुक्त करके
सब स्वरूपी सूर्यको प्रकट किया है ।

प्रापेयं सर्वा आकृतीर्मनसा हृदयेन च ।

अ. ३।२०।५

मनसे और हृदयसे सब संस्कारोंको प्राप्त कर सखूँ ।

ग्रह या यो निन्दिवत् निःशमाणम् ।

अ. २।१२।६

जो हमारे ज्ञानकी निंदा करता है । (वह संतापको प्राप्त हो)

तेजस्विता

सह सर्वसौदिहि । अ. ३।१।१

तेजके साथ उदयको प्राप्त हो ।

तेन मानस्य सर्वसाधे सर्वस्विन्नं कृणु ॥

अ. ३।२२।३

हे मनो ! इस तेजसे मुझे मानस उन्नत्ती कर ।

देवानो विश्वघायसस्वते माजन्तु सर्वसा ।

अ. ३।२२।४

सबका धारण करनेवाले देव मुझे तेजसे संजारी करें ।

देवा इमं उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु ।

अ. ३।१।१

देव इस पुरवकी उत्तम प्रकाशमें धारण करें ।

ज्योत्स्व च सूर्ये हृदो । अ. ३।१५।३

सूर्यकी मैं दीर्घकालक देखूँ । (मैं दीर्घायु बनूँ ।)

उत्तमं नाकमधि रोहयमम् । अ. ३।१२।४

इसको उत्तम स्वर्गमें चढानो, इसको उत्तम सुखमें रख ।

नमस्ते हेतये सपुत्रे च कृष्मः । अ. ३।३।३

हेरे राजके किये तथा तेरे तेजके किये प्रणाम करता हूँ ।

सं दिव्येन दीर्घिहि रोचनेन, विश्वा मा माहि

प्रदिशास्तथाः । अ. ३।१।१

दिव्य तेजसे तेजस्वी हो और संपूर्ण चारों दिशाओंको प्रकाशित करो ।

आप्नुहि श्रेयांसं अति सामं काम् । अ. २।१।१।१

परम कल्याणको प्राप्त करके अपने सत्तान जो होंगे उनसे भाग बढ, उषत हो ।

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु । अ. ३।१।२

हे देवों ! इसके चारों ओर प्रकाश रहे ।

आ रुग्णां सर्वतो वायुः, त्वष्टा वोपं दद्यात मे ॥

अ. ३।२०।१०

वायवायु सब ओरसे मुझे चरे और त्वष्टा मुझे पुष्टि देवे ।

इष्टार्थमवन्तु नः । अ. २।१।२।४

इष्ट कर्म तथा पूर्ण कर्म हमारा रक्षा करें । (इष्टार्थक क्रिया कर्म इष्ट और अपूर्णको पूर्ण करनेका कर्म है ।)

धन

त्वं नो देव दातव्ये रयि दानाय चोदय ।

अ. ३।२०।५

हे देव ! तू दान देनेवालेके किये दानके कर्म धनको प्रेरित करो ।

ये पन्थानो यहयो देवयाना अन्तरा घाया

पृथिवी संस्वरमिता ते मा जुपन्तां पयसा घृतेन

यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ अ. ३।१।५।९

जो सजनोंके जाने जानेके बहुलसे मार्ग थावा पृथिवीके बीचमें बह रहे हैं, वे मुझे धी और दूधसे दूध करें । जिनसे अन्नकर ऋषिकय करके मैं धनको प्राप्त करूँ ।

यमध्वानमगाम दूरम् ।

धुनं नो भस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः

कलिनं मा कृणोतु । अ. ३।१।५।४

मैं दूर मार्गपर भाया हूँ । ऋषिकय हूँ हिणकारी

हूँ । प्रत्येक व्यापार मुझे लाभदायी हो ।

येन धनेन प्रपणं खरामि धनेन देवा धनमिच्छ-

मानः । तन्मे भूयो भवतु मा कर्नापो सातधो

देवान् हृदियेन लियेष ॥ अ. ३।१।५।५

हे देवों ! जिन धनसे मैं व्यापार करता हूँ, वह धनसे धन कमानेकी इच्छा करके करवा हूँ । वह धन हमारे कार्यके किये पर्याप्त हो, कम न हो । काममें हाथि करने-

वाले जो हों उनका नियंत्रण कर ।

येन धनेन प्रपणं खरामि धनेन देवा धनमि-

च्छमानः । तस्मिन् इन्द्रो वचिमा दध्यातु

प्रजापतिः सञ्चिता सोमो अग्निः ॥ अ. ३।१।५।६

हे देवों ! धनसे धन प्राप्तिकी इच्छा करके जिन धनसे मैं व्यवहार कर रहा हूँ, उनमें इन्द्र, प्रजापति, सचिता,

सोम, और अग्नि मंत्री रुचि स्थिर रखे ।

रायस्पोषिण समिया मदन्तो मा ते अग्ने प्रति-

वेशा रियाम ॥ अ. ३।१।५।८

धनकी पुष्टी और बढाये मान्यता होये हुए, वेरे तथा-

सक हम, हे अग्ने ! कर्षा नष्ट न हो ।

इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन्तद्दक्ष-
माणो विगरद्विरण्यम् । अ. १।३।५।२

इन्द्रके समान हम इंद्रियोंको धारण करते हैं जो दक्ष-
मासे सुवर्ण घाण करता है (उसमें उन्नत इंद्रिय शक्ति
रहती है ।)

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः
प्रथमजं होतुम् । अ. १।३।५।२

इस सुवर्णको राक्षस और पिशाच (सूक्ष्मरोग कृमि)
वहीं सह सकते । क्योंकि यह देवोंका पहिला सामर्थ्य है ।
तं जानन्नम आरोहाद्या नो वर्धया रयिम् ।

अ. ३।२०।१

हे भग्रे ! उस मार्गको जानकर ऊपर चढ़ और हमारे
धन बड़ा दो ।

नुदन्नरार्ति परिपन्थिनं मृगं सर्वशानो धनदा
अस्तु मद्यम् । अ. ३।१।५।१

मार्गपर छटनेवाले, दुँडते रहनेवाले शत्रुको दूर करके, वह
ईश्वर मुझे धन देनेवाला होवे ।

भग प्रणो जनय गोभिरश्वैर्मग प्र नृभिर्नृयन्तः
स्याम । अ. ३।१।६।३

हे भग ! गौनों और अश्वोंके साथ हमारी संतान वृद्धि
कर । हम अश्वके मानवीके साथ रहकर मानवीके युक्त हों ।

तं त्वा भग सर्व हज्जोहवीमि स नो भग पुर-
एता भवेह । अ. ३।१।६।५

हे भगवान् प्रभो ! तुझको मैं सब प्रकारसे भजता हूँ ।
वह तु हमारा भगुवा हो ।

मयि पुप्यत यद्वसु । अ. ३।१।७।२

हे गौनों ! जो धन है उससे मेरे साथ तुम दृष्ट-पुष्ट
बनो ।

अथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः । अ. ३।१।७।५

इतने वीर पुत्रोंके साथ धन दो ।

रयिं देयी दधातु मे । अ. ३।२।०।३

देवी मुझे धन देवे ।

रयिं च नः सर्ववीरं नियच्छ । अ. ३।२।०।८

हमें सब प्रकारके वीर भावसे युक्त धन दो ।

इन्द्रमहं यणिजं चोदयामि स न एतु पुरएता
नो अस्तु । अ. ३।१।५।१

मैं वणिक् इन्द्रको प्रेरित करता हूँ, वह हमारे पास भावे

और वह हमारा भगुवा बने । (इन्द्र-शत्रुका विदाण
करनेवाला)

याचद्दीशे ब्रह्मणा चन्द्रमान इमां धियं शतसे-
याय देवीम् । अ. ३।१।५।३

जिससे इस दिव्य बुद्धिका ज्ञान द्वारा सम्मान करा
हुआ मैं सैकड़ों सिद्धियोंको प्राप्त करने योग्य होऊँ ।

शुने नो अस्तु चरितमुदियतं च । अ. ३।१।५।४

हमारा चालचलन और उद्यान हमें कामदायी होवे ।
भग प्रणेतर्मग सत्यराघो भगमां धियमुद्वि-
द्वन्नः । अ. ३।१।६।३

हे भग, हे बच्चे नेता, सत्य सिद्धि देनेवाले प्रभो ! इस
बुद्धिको देकर हमारा रक्षण कर ।

भग एष भगवाँ अस्तु देवस्तेन धयं भगधन्तः
स्याम । अ. ३।१।६।५

माग्यवान् भगदेव मेरे साथ रहे, उसके साथ रहनेसे
हम माग्यवान् हों ।

भगस्य नाथमारोह, पूर्णामनुपदस्वतीम् ।

तयोपप्रतारय, यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ अ. २।३।६।५

पूर्ण तथा बहुत देवर्षवी नौकापर चढ़, उस नौकासे
उसके पास जा जो वर तेरी कामनाके योग्य हो ।

परि मां, परि मे प्रजां परिणः पाहि यद्धनम् ।

अ. २।७।४

मेरी रक्षा कर, मेरी प्रजाकी रक्षा कर, हमारे धनकी
रक्षा कर ।

उद्य तिष्ठ महते सौभगाय । अ. २।६।२

बड़े सौभाग्यके लिये ऊँचा होकर रह ।

अस्मिन् तिष्ठतु या रयिः । अ. १।१।५।२

इसमें पर्याप्त धन रहे ।

धनका महत्त्व राष्ट्रकी उन्नतिमें तथा व्यक्तिकी उन्नतिमें
बहुत है । इसलिये वेदमें धनके विषयमें बहुत ही जादर
प्रकट किया है । धनके संबंधमें ये सब वचन पुराणमें

धरने योग्य हैं परंतु इनमें ये वचन धारंवार मनन करने
योग्य हैं—

रयिं दानाय चोदय— धनको दानमें प्रेरित कर ।

दक्षमाणो विभरद्विरण्यम्— दक्ष सुवर्णका प्रिण
करता है ।

नो वर्धया रयि— हमारा धन बढ़ाओ ।

ईशानो धनदा अस्तु मह्ये— परमेश्वर मुझे धन देनेवाला हो ।

मयि पुष्यतु यद्वसु— जो धन है वह मेरे पास बढ़ता रहे ।

अस्मभ्यं सहवीरं रयिं दा— हमें वीर पुत्रोंसहित धन दो ।

रयिं देवी दधानु मे— देवी मुझे धन देवे ।

रयिं च नः सर्ववीरं निपच्छ— धन और वीर पुत्र हमें दो ।

ययं भगवन्तः स्वाम— हम धनवान् हों ।

भगव्य नावमारोह— ऐश्वर्यकी नौका पर चढ़ ।

परि नः पाहि पद्धनम्— हमारा धनका संरक्षण कर ।

उष तिष्ठ महते सौभाग्य— बड़े सौभाग्यके लिये उठकर खड़ा रह ।

अस्मिन् तिष्ठतु या रयिः— इसके पास धन रहे ।

ऐसे वचन हैं जो मनमें रहने योग्य होते हैं । इनमेंसे कोई एक वचन मनमें १०१० वां विचाररूपक रखिये । ऐसा करनेसे धनका महत्व प्रयत्नमें आ जायगा और धन प्राप्त करनेसे कैसा सुख होगा, इसका भी पता लग जायगा ।

आरोग्य

तेना ते तन्वे शं करं, पृथिव्यां ते निषेचनं

पदिष्टे अस्तु पालिते । अथर्व १।३।१-५

इससे तेरे शरीरका बरपान करता हूँ, पृथिवीपर तेरा सुखसे रहना हो । तेरे शरीरसे सब दोष दूर हों ।

अर्वाग्र्यं शीषिण्यमथो पाण्ड्यं हृमोन् ।

अवस्त्वर्थं व्यच्वरं क्रिमीन् वचसा जग्भयामसि ॥

अ. २।३।१४

जातोंमें, सिमें, पसकियोंमें रहनेवाले, रंगनेवाले, बुरे स्थानमें होनेवाले जो हृमि हैं, उनको मैं बचासे दयाला हूँ ।

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोपपीषु पशुष्वप्वन्तः ।

ये अस्माकं तन्वमाविधिषुः सर्वे तज्जनि जनिम

क्रिमीणाम् ॥ अ. २।३।१५

जो रोगहृमि पर्वतों, वनों, ऊँचियों, पशुओं, जड़ोंमें तथा हमारे शरीरोंमें घुसे हैं, उन हृमियोंका जन्म मैं नष्ट करता हूँ ।

उपप्रादित्यः हृमोन्दन्तु, निप्रोचगद्दन्तु रादिमभिः ।

ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥ अ. २।३।२।

बढ़य होनेवाला सूर्य रोगहृमियोंका नाश करे, अन्त होनेवाला सूर्य किरणोंसे हृमियोंका नाश करे जो हृमि मृमि पर हैं ।

दिश्वरूपं चतुरस्रं किमिं सारंगमनुंनम् ।

शृणाम्यस्य पृथोरपि वृक्षामि यच्छिरः ॥

अ. २।३।२।

अनेक कुंठोंवाले, चार भाँखवाले, रंगनेवाले, श्रेष्ठतावाले ऐसे अनेक प्रकारके हृमि होते हैं, उनके पीठ और सिर मैं तोड़ता हूँ ।

अग्निचक्रः क्रिमयो हृग्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।

अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं विनप्स्यहं हृमोन् ॥

अ. २।३।३

अग्नि, कण्व, जमदग्निसे समान मैं हृमियोंका नाश करता हूँ । अगस्त्यकी विद्यासे मैं हृमियोंको कुचटता हूँ ।

हृतो राजा हृमीणां उतैषां स्थपतिर्हृतः ।

हृतो हृतमाता क्रिमिर्हृतभ्राता हृतस्वसा ॥

अ. २।३।४

हृमियोंका राजा मारा गया, इनका स्वामरति मारा गया है । हृमियोंका नाश, बहिन और माँ मारा गया है ।

हृतासो अस्य चेद्यसो हृतासः परिवेदासः ।

अथो ये झुलका इव सर्वे ते क्रमयो हृताः ॥

अ. २।३।५

हम हृमिके परिचारक मारे गये, इससे सेवक पीसे गये, जो झुलका हृमि हैं वे सब मारे गये हैं ।

प्र ते शृणामि दृष्ट्वा याम्यां वितुदायसे ।

भिनाद्भि ते कुपुम्भं यस्ते विपयानः ॥ अ. २।३।६

तेरे सौम काटता हूँ जिससे तू काटता है, तेरे विषयानको मैं तोड़ता हूँ जिससे तेरा विष रहता है ।

पराच पनान् प्रणुद कण्वान् जीवितयोपनान् ।

तमांसि यत्र गच्छन्ति तत्कण्वाद्गो अजीगमम् ॥

अ. २।३।७

इन जीवितका नाश करनेवाले रोगक्रिमि दूर कर, जहाँ अंधेरा रहता है वहाँ इन मांसमय हृमियोंको पहुँचा देते हैं ।

तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि, प्र यक्ष्म पतु
निर्ऋतिः परार्चैः । अ. २११-१५

तुमको घृदावस्यामे मे घारण करता हूँ । क्षय रोग तथा
अन्य सब कष्ट तुमसे दूर चले जाय ।

अग्नी रक्षोहामोवचातनः । अ. ११२८१
अग्नि राक्षसोंका नाश करके रोगोंको दूर करनेवाला है ।

(रक्षः- रोगकृमि)

अनुसर्पमुदयतां हृद्योतो हरिमा च ते ।
गौरोहितस्य यणौन तेन त्या परिदध्मसि ॥

अ. ११२२११

तुम्हारा हृदयविकार तथा कामिला या पीडापन सूयो-
दयके साथ जानेवाले लाल किरणोंके काल वर्णसे तुम्हें चारों
भोर घेर कर मैं दूर करता हूँ ।

किलासं च पलितं च निरितो नाशय्यं पूयत् ।
अ. ११२३२

इस शरीरसे कुछ व सफेद धब्बे दूर कर ।
अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यरवचि ।
दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनौनशम् ।

अ. ११२३४

दोषके कारण स्वघात उरपक्ष हुए, अस्थिसे तथा शरीरसे
उरपक्ष हुए, कुटुका जो स्वघात विन्ध है उसको हम ज्ञानसे
विनष्ट करते हैं ।

शेरमक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः
किमीदिनः । यस्य स्य तमत्त, यो वः प्राहे-
त्तमत्त, स्वा मांसाग्यत्त ॥ अ. २१३४१

हे वच करनेवाले शक ! तुम्हारे यातना देनेवाले शक,
तथा हे खाऊ लोगों ! तुम जिनके हो उसको खामो, जिन्होंने
तुम्हें भेजा है उनको खामो, अपने ही मांस खाओ । (हम
सुरक्षित रहें ।)

गिरिमेनां आवेशय कण्वान् जीवितयोपनान् ।
अ. २१२५४

इन जीवितका नाश करनेवाले, पीडा देनेवाले कृमियोंको
पड़ाघर पहुँचाओ (ये रोगकृमि हमें कष्ट न दें ।)

क्षेत्रियात्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो
सुञ्जामि घरुणस्य पाशात् । अ. २११०१०

मानुषीतिक रोग, कष्ट, संबंधियोंसे कष्ट, दाह तथा
वरुणके पाशसे तुम्हें मैं छुड़ावा हूँ ।

दृष्टमदृष्टमवहमयो कुरुकृतवहम । अलगण्डम्
स्सर्वाञ्छलुनान्कृमिान्यचसा जम्भयामसि ॥

अ. २१३१२

दीखनेवाले, न दीखनेवाले कृमियोंको मैं मारता हूँ ।
रंगनेवाले कृमियोंको मैं निगल करता हूँ । थिसरे पर रहने-
वाले सब कृमियोंको बचासे मैं नष्ट करता हूँ ।

निःशालां घृष्णुं धिपणमेरुवाद्यां जियत्स्वम् ।
सर्वाश्चण्डस्य नन्यो नाशयामः सदान्वाः ॥

अ. २१३४१

घरदार न होना, भयभीत होना, एकवचनी निश्चयात्मक
बुद्धिका नाश करना, क्रोधकी सब संतानें, दानववृत्तियों
आदिका हम नाश करते हैं ।

प्राहिर्जं प्राह ययेतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्ष-
मेनम् । अ. ३११११

यदि जहकदनेवाले रोगने हृषको पकड़ रखा हो, तो उस
पीडासे इन्द्र भीरु अग्नि हृषको सुशावे ।

आ स्वा स्वो विशतां घर्णः परा शुक्लामि पातय ।
अ. ११२३२

तुम्हारे शरीरका निग्रहण तुम्हें प्राप्त हो भीरु श्वेत धब्बे
दूर हों ।

अमक्या यक्ष्मात् तुरिताद्वघाद् द्रुहः पाशाद्
प्राष्टाश्चोदमुक्याः । अ. २११०१९

क्षयरोग, पाप, थियकर्म, द्रोहियोंके पाश और जहकदने-
वाले रोग आदिसे मैं तुम्हें छुड़ाता हूँ ।

दूष्या दूपिरसि, हेत्या हेतिरसि, मेन्या मेनिरसि ।
अ. २११११

दोषको दूष करनेवाला, हृषियारका हृषियार, बज्रका
वज्र तु (आत्मा) है ।

दशवृक्ष मुञ्चमेमं रक्षसा ग्राह्या अधि यैनं
जग्राह पर्यसु । अथो एनं यनस्यते जीवानां
लोकमुच्यते । अ. २१११

हे दशवृक्ष ! इस रक्षसी गठियारोगसे हम रोगीको
दूर कर । जो रोग हृषको संघियोंमें पकड़ रखता है। हे
वनस्पति ! इसको जीवित लोगोंमें ऊपर उठा ।

नमः शंताय तक्मने नमो रूराय शोचिणे

कृणोमि। यो अन्येद्युःकभयद्युःभ्येति तृतीय-
काय नमोऽस्तु तपमन ॥ अ. १।२५।४

शीतउज्वरके लिये नमस्कार, सूक्ष्म उज्वरके लिये नमस्कार
जो एक दिन छोड़कर आता है, जो दो दिन आता है, जो
तीसरे दिन आता है उस उज्वरके लिये नमस्कार हो।

अर्थात् यह उज्वर हमसे दूर हो।

यद्विस्थ क्षेत्रियाणां यदि पुरुषेपिताः।

यदि दस्युभ्यो जाता नदपततः सदान्वाः ॥

अ. २।१५।५

यदि मानुषविक दोष हैं, यदि मनुष्यकी श्रेणाले हुए
हैं, यदि दस्युओंमें हुए हैं वे सब दौप्य बहासे हटें।

आसुरी शक्ते प्रथमेद् किलासभेपजामिद्
किलासनाशनम्। अर्नानिश्त् किलासं सक्त-
पामकरत्त्वचम् ॥ अ. १।२५।६

मासुरीने पहिले यह कुशनाशक औषध बनाया। इससे
कुष्ठ विनष्ट हुआ और (बच्चा) समान रंगवाली बनी।

आरोग्यके विषयमें रोगकृमिका नाश करना मुख्य है।
स्वच्छता की जाय, छुद्र वायु भाता रहे, सूर्यप्रकाश
आज्ञाय, हवन गौके पीछा होता रहे ये सब बातें आरोग्य-
संरक्षणके लिये अत्यावश्यक हैं।

सूर्य रोगकृमिघोका नाशक मुख्यतया है। सूर्यप्रकाश
माकसकाई करनेवाला है इसलिये रहनेके घरमें सूर्यप्रकाश
विपुल माना चाहिये।

अग्नी रक्षोहाऽमोवच्यतनः।

अग्नि रोगकृमिघोका नाशक और रोग दूर करनेवाला है।
इस रीतिसे इन मंत्रोंका विचार करना चाहिये।

त्रिजय

सपत्न-क्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः।

यथाहमेर्षा वीराणां विराजानि जनस्य च ॥

अ. १।२५।६

मैं मनुष्य नाश करनेवाला, बलवान्, राष्ट्रहितकर्ता,
दुष्टोंकी दूर करनेवाला, इन चीरोंमें प्रथम होकर सब लोगोंका
माननीय बनें।

पितेच पुत्रानभि रक्षतादिमम्। अ. २।१३।१

पिता पुत्रोंकी रक्षा करना है इस तरह हमकी रक्षा करो।

आशीर्ष, ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं, दक्षं घञं
द्रविणं सर्वतर्सां। जयं क्षत्राणि सहस्राय-
मिन्द्र कृण्वानो अन्यानपरान्सपत्नान् ॥

अ. २।२५।३

हमें आशीर्वाद दो, हे संतुष्ट मनावालों ! बल, सुप्रजा,
दक्षता तथा घन हमें दो। यह भवने बलसे विविध क्षेत्रोंमें
जय प्राप्त करे और दूसरे मनुष्योंको नीचे करे।

विश्व्वा रूपाणि विश्वनः त्रिपत्ताः परियन्ति।

अथर्व १।१।१

सब रूपोंकी धारण करके, तीन गुणा सात (अर्थात्
इकील) पदार्थ सर्वत्र चकटे हैं। (ये इकील पदार्थ विश्वमें
दीर्घनेवाले पदार्थोंके रूप धारण करते हैं।)

यः सहमानश्चरति सासहात इय क्रपमः।

तेनाश्वत्थ रथया ययं सपत्नान्सहियीमहि।

अ. ३।६।४

जो बलवान् मनुष्यो दवानेवाला, सामर्थ्यवान् होकर
चलता है, उस वीरसे हम शत्रुओंको पराजित करेंगे।

मनुष्यके जीवनमें शत्रुका पराभव करना और विजय
प्राप्त करना मुख्य बातें हैं। इसीसे मनुष्य सुखी हो
सकता है।

सुखप्राप्ति

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो
जगते पुरुषेभ्यः। अ. १।२५।७

माता, पिता, गौवं, पुरुष तथा चरनेवाले प्राणिशोंको
सुख प्राप्त हो।

ते विशि क्षेममदीघरन्। अ. ३।१।५

प्रजाजनोंमें तेरा क्षेम धारण करे।

मातेवास्मा अदिते शर्मं यच्छ। अ. ३।२७।५

हे अदिते ! माताके समान इसे सुख दे।

एतु प्रथमाजितामुपिता पुरः। अ. ३।२७।४

पहिली, अथवाजित, न छुटो हुई होकर आगे बढे।

शर्मं यच्छथाः सप्रथाः। अ. ३।२६।३

हमें प्रयत्नशील होकर सुख दो।

व्यात्यर्था एवमातः । अ. ३।३।१२

सुख मनुष्य पीडासे दूर रहता है ।

मुञ्चामि त्वा एविषा जीवनाय कमञ्जात यक्ष्मा-

दुत राजयक्ष्मात् । अ. ३।३।१३

सुखपूर्वक जीवनके लिये तुझको इस मज्जात रोगसे

तथा राजपक्ष्मासे हवन द्वारा छुटाते हैं ।

मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृषि ।

अ. ३।३।१२

हमारे शरीरोंको सुख हो, हमारे ऋक्षकोंको सुख हो ।

वि महच्छर्म यच्छ, चरीयो यावया यधम् ।

अ. ३।२०।३

बड़ा शर्मिलसुख हमें दो, शत्रुका शत्रु हमसे दूर का दो ।

कामो दाता, कामः प्रतिग्रहीता [अ. ३।२९।७

काम दाता और काम ही लेनेवाला है ।

कृतस्य कार्यस्य चेह स्फार्ति समावह ।

अ. ३।२४।५

लिये हुए कार्यकी यहाँ वृद्धि कर ।

यत्र सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं

तन्वः स्वायाः । सं लोके यमिष्यभिसंयभूव

सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशून् ॥ अ. ३।२८।५

जहाँ सुहृद तथा सहसंकरता, अपने शरीरके रोगको

त्याग कर जानेदसे रहते हैं, हे शुद्ध बच्चे देनेवाली गौ ! इस

स्थानपर जाकर रह, हमारे मनुष्यों और पशुओंकी हिंसा

न हो ।

सर्वान् कामान्पूरयत्यामयन् प्रमघ्नमवन् ।

आकृतिप्रोऽविर्दत्सः शितिपात्रोप दस्यति ॥

अ. ३।२९।२

यह दिया हुआ करभार सब प्रजाके संकल्पोंको पूर्ण

करता है । हिंसकोंको दबाता है । प्रजाका रक्षण करता है ।

प्रभावो बनकर, महिलायका रक्षण करता है और विनाशसे

बचाता है ।

विश्वं सुभूर्त् सुविदर्श नो अस्तु । अ. ३।३।१७

इस सबके लिये यह विश्व इष्टम सहायक तथा ज्ञान

देनेवाला हो ।

अग्ने अच्छा घदेह नः प्रत्यह् नः सुमना भव ।

अ. ३।२०।२

यहाँ हमारे साथ अच्छी तरह बोल । हमारे सम्मुख
इष्टम मनवाला हो ।

वि पन्थानो दिशं दिग्म् । अ. ३।३।१४

मार्गं मिथ दिशाभोगं मिथ-मिथ होकर जाते हैं ।

ये वध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा

चक्षुषा च । अग्निष्टानमे प्रसुमोक्तु देवो

विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥ अ. २।३।४३

ब्रह्मको जो सबसे और भाँससे प्रेमपूर्वक देखते हैं,

उनको विश्वका बनानेवाला और प्रजाके माय रहनेवाला

अग्नि देव प्रथम सुक करे ।

यूहस्वपतये महिष धुमश्रमो, विश्वकर्म्मन्, नम-

स्तं, पाहास्मान् ॥ अ. ३।३।५४

महाशक्तिमान् ! शानी तेजस्वी विश्वके रचयिता, आपको

हमारा नमस्कार हो, आपकी नमस्कार है, हमारी सुरक्षा

कर ।

स्वर्गोप त्वां मदाः सुवराचो अगुः । अ. २।५।२

स्वर्गोप ज्ञानदेके समान इष्टम भागपसे होनेवाले ज्ञानदे

उम्हारे पास पहुंचे हैं ।

सुपुदत, मृडत, मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोके-

भ्यस्कृषि । अ. ३।२९।४

आश्रय दो, सुखी करो, हमारे शरीरोंको सुखी रखो ।

हमारे ऋक्षकोंके लिये ज्ञानदे प्राप्त हो ऐसा करो ।

इमां देवा असाविषुः सौभगाय । अ. ३।१।८२

इस कन्याको देवोंने सौभाग्यके लिये उपस्र की है ।

शं मे चतुर्भ्यो अंगेभ्यः शमस्तु तन्वे मम ।

अ. ३।१।१४

'मेरे चारों अंगोंके लिये आरोग्य हो, मेरे शरीरके लिये

भीरोगिता हो ।

अग्नि च विश्वशंभुयम् । अ. ३।६।२

अग्नि सब प्रकारका सुख देनेवाला है ।

यो ददाति शितिपार्द्विं लोकेन संमितम् ।

स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रीयते

अवलेन बलीयसे ॥ अ. ३।२९।३

जो लोगोंसे समाविष्ट, हिंसकोंकानाश करनेवाले संरक्षक

करभारको देता है, वह दुःख रहित स्थानको प्राप्त करता

है, जहाँ निबँडको बहवानके लिये धन नहीं देना होता है ।

इन तरह सुख प्राप्त हुआ तो मनुष्यकी भायु दीर्घ होती है। रोग दूर हो, स्वास्थ्य प्राप्त हो, मन आनन्द प्रसन्न रह तो मनुष्य दीर्घायु होता है।

दीर्घ आयु

इम प्रकृत्योर्नो अये मंत्रोका विनोष उपयोग हे । इन मंत्रभागोंका उप करनेसे लाभ होता है—

शरीरमस्याद्धानि जरसे यद्दत्तं पुनः । अ. ३।१।१
इसका शरीर और इसके अवयव वृद्धावस्थातक पहुँचाने।

ये देवा विधि छ, ये पृथिव्यां, ये अन्तरिक्ष ओपधीयु पशुधन्तः । ते कृणुन् जरसमायुरस्मै शतमग्यान् परि वृणक्तु मृत्यून् ॥ अ. १।३०:३

जो देव पृथोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वीपर हैं । जो भौव-विषों और पशुओंमें हैं । वे देव इसके लिये वृद्धावस्था-तककी भायु करें । ऐकहों अन्न प्रकारके मृत्यु दूर हों ।

कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् । अ. २।१३।७

सब देव तेरी भायु सौ वर्षकी करें ।

तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शत-शरदाय । अ. ३।५।७

उस विषकी प्राप्ति कर, बहुत प्रकाशित होकर, सौ वर्षका दीर्घायु प्राप्त करें ।

वशामुम्रः सुमना घनेह । अ. ३।४।०

तू यहाँ उम्रवीर तथा उत्तम मनवाला होकर दसवीं दशक तक सब शत्रुको अपने वशमें (अर्थात् अपने अनु-कूल) कर ।

परि धत्त, धत्त नो यच्चसिमे जरामृत्यूं कृणुत दीर्घमायुः । अ. २।१३।२

इसमें इन पुरुषको धारण करो, तेजसे पुष्ट करके इसका धारण करो, दीर्घायु इसको देकर जरावस्थाके पश्चात् इसका मृत्यु हो देना करो ।

दत्तं च जीव शरदः पुरुची, रायस्थोपमुपलं-व्ययस्य । अ. २।१३।३

सौ वर्षतक पूर्ण रीतिसे जीवों और धन और पोषण उत्तम रीतिसे प्राप्त करो ।

इन्द्र पतां सृज्जे विद्धो अन्न ऊजां स्वधाम-

जरां, सा त एवा । तथा त्वं जीव शरदः सुखर्चा, मा त आ सुस्त्रोद्भिजस्ते अक्षन् ॥ अ. २।२९।७

इन्द्रने भक्ति करनेवा आन्न, बल, प्राकृतिक, अङ्गोत्पत्ता आदिको बलवान् किया, यह पतिक तुम्हारे लिये है । इससे तू पुष्ट होकर बहुत वर्ष जीवित रह, तेजस्वी बन, तेरे लिये मृत्युका न हो । वीर्योनि तेरे लिये यह उपयोग बनाया है ।

अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्वा । अ. ३।१।८

मित्र तरह गाप और बैलकी रज्जुसे बाँधते हैं वैसे वृद्धावस्था में तैयार बंधी रहे ।

जराये त्वा परिददामि । अ. ३।१।१०

वृद्धावस्थाके लिये तुझे देता हूँ ।

वि देवा जरसाकृतन् । अ. ३।३।११

देव आते दूर रहते हैं ।

स्वस्येन जरसे यहाय । अ. १।३।१२

इसको वृद्ध भायुतक मुझसे पहुँचा दे ।

विश्वेदेवा जरदष्टिर्यथासत् । अ. २।२।८।५

सब देव यह वृद्ध होनेतक जीवे, देना करें ।

जराये नियुवामि ते । अ. ३।१।१०

वृद्धावस्थातक तुझे पहुँचाता हूँ ।

जरा त्वा भद्रा नेष्ट । अ. ३।१।१०

तुझे वृद्धावस्था सुख देवे ।

वि यश्मेण, स्वमायुषा । अ. ३।३।१।१-१२

यहशरीरमे मैं दूर हूँ । दीर्घायुसे मैं संयुक्त रहूँ ।

मित्र एवं वदपोषा रिश्रादा जराभृत्युं कृणुतां संविदानी । अ. २।२।८।२

मित्र तथा धानुनाशक वदग जानते हुए हमको जराके पश्चात् मृत्युको प्राप्त होनेवाला दीर्घायु करें ।

दीर्घायुत्वाय मदते रणायातिप्यन्तो दक्षमापाः सदैव । मणि विष्कन्धदृपणे जह्निहं विधुमो वयम् ॥ अ. २।१।१

दीर्घायु प्राप्त हो, बका जानेंद प्राप्त हो, शीशुरोरग दूर हो इसके लिये जंगिक मणिको, हम सब विनष्ट न होने-वाले और अपना बल बढ़ानेकी रक्षा करनेवाले सदैव धारण करते हैं ।

रायस्योपं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति
शरद्स्तवायम् ॥ अ. ३।२१।२

वन और पोवन, हे सविता ! इसे तू दे। और यह जेरा
वनवर सौ वर्ष जीवित रहे।

इन्द्रो यद्येन शरदो नयात्यति विभ्वस्य दुरि-
तस्य पारम् ॥ अ. ३।११।३

सब पावजित दुःखके पार इसको इन्द्र के जाप और
वह सौ वर्षकी आयु इसे मिके देवा करे।

शतं जीय शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान्
शतमु घसन्तान् ॥ अ. ३।११।४

सौ वर्षतक बढ़ता हुआ जीवित रह। सौ हेमन्त, सौ
बसन्त और सौ शरद ऋतुतक जीवित रहे।

सहस्राक्षेण शतवर्षेण शतायुषा हविषा
द्वापमेनम् ॥ अ. ३।११।५

सहस्रों शक्तिधेसे युक्त, सौ बीसोंसे युक्त, शतायु करने-
वाले हवनसे इसको मैं मृत्युसे वापस लाया हूँ।

शतायुषा हविषाद्वापमेनम् ॥ अ. ३।११।६

सौ वर्षकी आयु देनेवाले हवनसे मैं इसे वापस
लाया हूँ।

शतं जीवाति शरद्स्तवायम् ॥ अ. १।१।२

उपवारा यह मनुष्य सौ वर्ष जीवित रहे।
मायुरस्मै धेहि जातवेदः ॥ अ. २।२१।२

हे मायवेद ! इसको दीर्घायु दे।
यस्त्वा मृत्युरभ्यघसत जायमानं सुपाशया।

तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यां उदमुञ्चद्वृहस्पतिः ॥
अ. ३।११।६

जिस मृत्युने तुझे कापस होते ही बांध रखा है उस
दुसको वृहस्पति सत्यके हाथोंसे छुटा देता है।

तुभ्यमेव जरिमान् वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो
हिसिपुः शतं ये ॥ अ. २।२६।१

हे वृदावरण ! तेरी आयुतक यह मनुष्य बढ़े। वे जो
सैकड़ों मृत्यु हैं वे इसकी हिसा न करें।

इममम आयुषे वर्धसे नय प्रियं रेतो वृण
मित्र राजन् ॥ अ. २।२६।२

हे अग्नि, हे वरुण, हे मित्र राजन् ! इसको वर्धवाञ्छ
करके दीर्घायु तथा तेजके प्रति के जा।

यदि क्षितायुर्पदि वा परेतो यदि मृत्योरंतिके
नीत एव । तमा हवामि निर्कृतेरुपस्थाद्वस्यार्प
मेनं शतशारदाय ॥ अ. ३।११।२

यदि इसकी आयु समाप्त हुई हो, यदि यह मृत्युके
समीप पहुँचा हो, तो भी निनाशके पाससे मैं इसको वापस
लाता हूँ और इसको सौ वर्षतक मैं जीवित रखता हूँ।

यो विभर्ति दाम्नायणं हिरण्यं स जीवेतु
कृणुते दीर्घमायुः ॥ अ. १।३।५।२

जो दाम्नायण सुवर्ण घरीरपर धारण करता है वह
जीवोंमें दीर्घायु धारण करता है।

परि त्वा रोहितैषणैर्दीर्घायुत्वाय दृष्यसि ।
यथायमरपा अस्तथो अहरितो भुवन् ॥

अ. १।२२।२

लाल रंगोंके किलोमें मैं तुझे दीर्घायु प्राप्त होनेके लिये
धरता हूँ। इससे यह नीरोग होगा और पीकिमा भी
इससे दूर होगी।

उदायुषा समायुषोदोपधीनां रसेन ।
अ. ३।११।३०

आयुषसे उच्च वन, दीर्घायुसे युक्त हो, औषधियोंके
रससे उच्चतिके प्राप्त हो।

कृत्वादूपिरयं मणिरयो अरातिदूपिः ।
अथो सहस्राङ्गङ्गिडः प्र ण मार्युपि तारियन् ॥

यह अंगिड मणि हिसासे बचानेवाला है, शत्रु मूय रोगोंको
दूर करनेवाला है और बल बढ़ानेवाला है, यह इसी
आयुकी बधावे।

यदा यध्नाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुम-
नश्यमानाः । तसे यध्नाभ्यायुषे घञ्चसे बलाय
दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ अ. १।३।५।१

उत्तम मनवाले बलकी वृद्धि करनेकी कामना करनेवाले
अथ पुरुष सैकड़ों बल प्राप्त करनेके लिये घरीरपर सुवर्ण
(का आभूषण) रखते हैं। यह सुवर्ण दीर्घायु, वैजस्विता,
बल, सौ वर्षकी दीर्घ आयु उन्हें प्राप्त हो इसलिये तेरे
घरीरपर बांधता हूँ।

व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान् शतम् ।
अ. ३।११।५०

सैकड़ों प्रकारके मृत्यु या दुःख इनसे दूर हो।

आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वषयम् ।

अ. ३।३।११

पर्जन्यकी वृष्टिजलसे हम ठकविक्रो प्राप्त हों और हम कमर बने । हमें शीघ्र मृत्यु न आवे ।

इहैष स्तं प्राणापानौ प्राण गतमितो यूयम् ।

अ. ३।१।१६

हे प्राण और जपान वहां ठहरो, तुम इससे दूर न जाओ । प्राणेत प्राणतां प्राणहैव भव, मा मृयाः ।

अ. ३।३।१९

जीवित रहनेवालोंकी जैसी प्रायशक्ति प्राप्त कर और वहां जीवित रह, मत मर जा ।

प्राणापानार्भ्यां गुपितः शतं हिमाः । अ. २।९।८४
प्राण तथा जपान द्वारा सुरक्षित होकर यह सौ हिम-
काण्ड-सौ वर्ष-जीवित रहे ।

आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव, मा मृयाः ।

अ. ३।३।१८

दीर्घ आयुवालों और आयुष्य बढ़ानेवालोंकी जैसी माल-
दाक्षिसे जीवित रह, मत मर जा ।

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं । अ. २।१।११

हे प्राण और जपान ! मृत्युसे मेरी सुरक्षा करो ।

प्र विदशतं प्राणापानावनद्वाहाविव व्रजम् ।

अ. ३।१।१५

जैसे बैल गोहाडामें जाते हैं वैसे प्राण और जपान
इसके वेदमें प्रविष्ट होते रहें ।

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वाधि-

पुमोऽमित्राः । अ. २।२।८३

इसको प्राण न छोड़े, जपान न छोड़े, इसका वध मित्र
न करें और इसका वध ऋषु भी न करें ।

यथा प्रश्वं च क्षत्रं च न विभीतो न रिप्यतः ।

यथा सत्यं चानृतं च न विभीतो न रिप्यतः ।

यथा भूतं च भव्यं च न विभीतो न रिप्यतः ।

एवां मे प्राण मां विभेः ॥ अ. २।१।१४-६

ज्ञान और दौर्ग्य, सत्य और ऋत, भूत और भविष्य
दरते नहीं इक्षतिके विनष्ट नहीं होते, इस तरह मेरा प्राण
न टरे और विनष्ट न हो ।

घौष्ट्रा पिता पृथिवी माता जरा मृत्युं कृणुतां
संविदाने । अ. २।२।८४

घु रिता और पृथिवी माता ज्ञानपूर्वक इसको ब्राह्मे
पश्चात् मृत्यु हो ऐसा करें ।

मनुष्य दीर्घ आयु चाहता है । इसलिये दीर्घायु चाहने-
वाला मनुष्य पहलादिये, वधनोंका धन करे, बारंबार उरथा-
रण करे, बारंबार मजन करे । काम भवद्वय होगा जैसा—

शरीरं अस्याज्ञानि जरसे वहतं— इसका शरीर
और इसके जंग वृद्ध अवस्थातक पहुंचा दो ।

यह वचन अपने शरीरके विषयमें भी बांधार होना जा
सकता है । मनके वह विचारसे काम होता है । तथा—

कृणुत जरसें आयुः यस्मै— इसकी आयु वृद्ध
अवस्थातक करी ।

कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतं— सब देव
सौ वर्षकी मुग्धारी आयु करें ।

दशार्शो उग्रः समना वयोह— यह उग्रवीर बनकर
दसवीं दशकतक जीवित रहे ।

जरा मृत्युं कृणुत दीर्घमायुः— इसकी दीर्घायु काके
जाके पश्चात् मृत्यु हो ।

शतं च जीव शरदः पुरुर्वाः— सौ वर्षकी दीर्घायु
इसे मिके ।

स्वं जीव शरदः सुवर्चाः— ठकम वेद्वसी होकर
सौ वर्ष जीवित रह ।

जरायै त्वा परि द्यामि— वृद्धावस्थातक मुझे पहुंच-
वाता हूं ।

स्वस्त्येनं जरसे वहाय— सुखपूर्वक वृद्ध अवस्थातक
इसे पहुंचा दो ।

जरायै नि धुवामि ते— मुझे वृद्धावस्थातक पहुंच-
वाता हूं ।

जरा त्वा भद्रा नेष्ट— हितकर वृद्धावस्था मुझे
प्राप्त हो ।

वि यक्ष्मेण, समायुष्य— वेदा रोग दूर हो और मुझे
आयुष्य प्राप्त हो ।

शतं जीवाति शरदस्तवायम्— वेदा यह मनुष्य सौ
वर्ष भीवे ।

शतं जीव शरदो चर्षमानः— बरता हुआ सौ वर्ष
जीवित रह ।

शतायुषा हायेमन्म— सौ वर्षकी आयुके साथ इसे
मे (मृत्युसे) वापस लाया हूं ।

आयुस्समै घेहि— इसको आयु मदान करो ।
मेममये मृत्युयो हिंसियुः शतं ये— सैकड़ों मृत्यु
इसका नाश न करे ।

इमम आयुये वर्त्संसे नय— हे अग्ने ! इसे आयु और
तेजके लिये ले जा ।

अस्पार्यमिन् शतशारदाय— सौ वर्षकी आयुके लिये
मैं इसे स्वर्ग करता हूँ ।

तत्तं यधामि आयुये— आयुष्यकी प्राणिके लिये तुझे
यह मणि बाँधता हूँ ।

मा मृथाः— मत मर ।

प्राणेन जीव— प्राणसे जीवित रह ।

प्राणायानौ मृत्योर्मां पातं— प्राण और अपान मृत्युसे
मुझे बचावे ।

अरा मृत्युं कृणुतां— जराके पश्चात् मृत्यु हो ।

इस तरह अन्याय्य वचनोंका भी उपयोग हो सकता
है। कोई बीमार पड़ा हो, तो पवित्र होकर सिरकी ओरसे
पाँवतक अपने हाथोंको घुमाना और ये मंत्रभाग बोलना,
मनमें ही निमहर्षक बोलना। वारंवार बोलना। अपने
हाथोंमें बीमारी दूर करनेकी शक्ति है ऐसा मानकर
इससे बीमारी दूर होगी ऐसे दिक्कालसे यह करना।
रोगीका भी साध-साध विश्वास हो तो लाभ शीघ्र होगा।
अप्य वचन अप्य समय बोलनेके लिये हैं। यह विचार
करके पाठक जान सकते हैं।

वनस्पति

शं नो देर्धा पृश्निपर्यशं निर्झत्या अकः ।

अ. २।१५।१

हे पृश्निपर्णी देवी, हमारे लिये कल्याण कर, और
प्राणियोंको दुःख प्राप्त हो ।

अरायमच्छक्पावानं यश्च स्फार्ति जिहीर्षति ।

गर्मादं कण्ठं नाशय पृश्निपर्णि सहस्र च ऽ

अ. २।२५।३

शोभा हटानेवाला, रक्त पीनेवाला, जो पुष्टिको हटाता है,
गर्भको खानेवाला जो रोगबीज है उसका नाश कर । हे
पृश्निपर्णि ! दुःखको दूर कर ।

वीरुत् क्षेत्रियनाशान्यप क्षेत्रियमुच्छतु ।

अ. २।८।२-५

आनुवंशिक रोगको दूर करनेवाली यह औषधि आनु-
वंशिक रोगको दूर करे ।

श्यामा सरूपं कर्णी पृथिव्या अध्युद्धता ।

इदमूषु प्र साधय पुनः रूपाणि कल्पये ।

अ. १।२४।४

श्यामा वनस्पति सरूप करनेवाली है, पृथिवीसे ऊपर
उखाड़ी गयी है, इस कर्मका उत्तम साधन कर और पुनः
पूर्ववत् शरीरका रंग कर ।

जं सोमः सहौषधीभिः । अ. २।१०।२

औषधियोंके साथ सोम कल्याण करनेवाला हो ।

इदं जनासी विदथ महद्मह्य यद्विप्यति ।

न तत्पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणमितीरुधः ।

अ. १।३२।१

हे लोगों ! यह जानो कि ज्ञान बड़ी घोषणा करके
कहेगा। जिससे वनस्पतियाँ जीवित रहती हैं वह पृथिवीमें
नहीं है और न एतलोकमें है ।

असितं वे प्रलयनमास्थानमसितं तथ ।

आसिफ्न्यासि औषधे निरितो नाशया पुपस् ॥

अ. १।१३।३

वेरा कल्याण कृष्ण है और आस्थान भी कृष्णवर्णका
है। हे औषधे ! तू काले वर्णवाली है, इसलिये तू इसके
केत धरने दूर कर ।

सरूपकृत्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ।

अ. १।२४।३

हे औषधे ! तू सरूप स्वचाको करनेवाली है। मत्तः तू
स्वचाको सरूप कर ।

वधू

सोमजुष्टं ब्रह्मजुष्टं अर्थम्णा संभृतं भगम् ।

धानुर्दधस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम् ।

अ. २।३।२

आत्मज्ञानसे सेवित, ब्राह्मणों द्वारा सेवित, श्रेष्ठ मन-
वालेने दृक्कटा किया यह धन है, धाता देवके सत्य नियमा-
नुसार पतिकी प्राणिके लिये मैं इसको सुयोग्य करता हूँ ।

इदं हिरण्यं गुरुगुल्बयमौशो अयो भगः ।

एने पतिभ्यस्वामदुः प्रतिकामाय धेत्तये ।

अ. २।३।१०

यह उत्तम सुवर्ण है, यह बँल है, और यह धन है ।

ये पतिकी कामनाके लिये और तेरे लाभके लिये तेरे पतिको देते हैं ।

आ नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमां कुमारीं

सह नो भवेत् । अ. २।२।११

हे अग्ने ! धनके साथ उत्तम वक्ता पति हम उत्तम बुद्धि-मती कुमारीके प्रति जा जावे ।

यदन्तरं तद्वाह्यं यद्वाह्यं तदन्तरम् ।

कन्यानां विभ्वरूपाणां मनो गृभायीषधे ॥

अ. २।३।०४

जो अन्दर हो वही बाहर हो, जो बाहर हो वही अन्दर हो । विविध रूपवाली कन्याओंका मन प्रवृत्त कर ।

या ग्रीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसन्नता ।

अ. २।३।१३

कामका बाण लगनेपर ग्रीहोंको शोषित करता है ।

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मधायति ।

एवा मन्नामि ते मनो, यथा मां कामिन्यसो,

यथा मन्नापगा असः ॥ अ. २।३।०३१

हे स्त्री ! जैसा यह पृथ्वीपरका घास वायु हिलता है वैसा मैं तेरे मनको हिला देता हूँ, तू मेरी इच्छा करनेवाली हो, मुझसे दूर जानेवाली न हो ।

श्रिया भय पुरुषेभ्ये गोभ्यो अश्वेभ्यः श्रिया ।

श्रियास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय श्रिया न इहेधि ॥

अ. २।२।०३

पुरुषों, गौशों, घोड़ोंके लिये तथा इस सब क्षेत्रके लिये कल्याण करनेवाली हो । कल्याण करनेवाली बनकर यही रह ।

पयमनापतिकामा, जनिकामोहमागमम् ।

अश्वः कनिकद्वयथा भवेनाहं सहागमम् ॥

अ. २।३।०१५

यह कन्या पतिकी इच्छा करती हुई जा गयी है, स्त्रीकी इच्छा करता हुआ मैं जाया हूँ । जैसा दिनदिनानेवाला घोड़ा भाता है, वैसा मैं धनके साथ जाया हूँ ।

विन्दस्य त्वं पुत्रं नारि, यस्तुभ्यं दामसच्छमु

तस्मै त्वं भय । अ. ३।२।३।५

हे स्त्री ! तू पुत्रको प्राप्त कर, जो तुम्हारा कल्याण करनेवाला हो और तू भी उसके लिये कल्याण करनेवाली हो ।

तास्तया पुत्रविधाय देवी प्राघन्धोवधयः ।

अ. ३।२।३।६

वे दिव्य औपधियां पुत्रप्राप्तिके लिये तेरी रक्षा करे ।

एवा मगस्य सुष्टेयमस्तु नारी सन्निप्रया पत्या-

विराघयन्ती । अ. २।३।६।४

ऐश्वर्यसे सेवित हुई यह स्त्री बतिके विष और पतिसे विरोध न करती हुई यहाँ रहे ।

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।

भयासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यात् ॥

अ. ३।२।३।३

पुरुष पुत्र उत्पन्न कर, उसके पीछे भी पुत्र ही होते रहें ।

तू पुत्रोंकी माता हो, जो हो चुके तथा जो होनेवाले सब पुत्र ही हों ।

तं त्वा घातरः सुवृधा वर्षमानमनु जायन्तां

यहयः सुजातम् । अ. २।३।२।५

उस तुल्य उत्तम जन्मे हुए बरते हुएके पीछेसे बहुतसे बचनेवाले भाई उत्पन्न हों ।

पति-पत्नी

परि तथा परितस्तुनेशुणानामादिद्विये ।

यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥

अ. ३।३।५।५

मैं फैले हुए ईंखते तुझे घेरता हूँ । मोटा वापुमंरक चारों ओर बनाता हूँ । इससे देव दूर होगा, मेरी कामना दू करती रहेगी और मुझसे दूर नहीं होगी ।

शुष्टा घरेषु समनेषु यत्नः । अ. १।३।१।१

यह कुमारी बरोंमें-धेड़ोंमें विद्य है और उत्तम मनवालोंमें मनोरम है ।

सुधाना पुत्राय महिषी भयाति गत्या पतिं

सुभगा विराजतु ॥ अ. २।३।६।३

पुत्रोंको उत्पन्न करके यह घरकी रानी होवे, यह पतिको प्राप्त होकर सौभाग्यवती होकर विराजे ।

आमन्द्य घनपते, चरं आमनसं कृणु ।

सर्वं प्रदक्षिणं कुर्य, यो चरः प्रतिकाम्यः ॥

अ. २।३।६।६

हे घनपते ! वरको पुका ! उस वरके मनके अनुकूल सब

कार्य कर । सय कार्य इसके दाहिनी ओर कर, ओ वर तेरी कामनाके अनुकूल है ।

देवा गर्भे समैरयन् तं व्यूर्णवन्तु सूतवे ।

अ. ११११२

देव इस गर्भको प्रेरणा करें, प्रकृतिके लिये उस गर्भको प्रेरित करें ।

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासद्भिः ।

उभे सहस्रती भूर्या सपरनीं मे सहावहे ॥

अ. ३११८५

मैं विजयी हूँ और तू विजयी है । दोनों विजयी होकर सपत्नीका परामर्श करेंगे ।

पत्या सौभगत्वमस्त्वस्यै । अ. २१३६१

इस कुमारीको इस पतिले सौभाग्य प्राप्त हो ।

इयमग्ने नारी पतिं चिद्रेष्ट सोमो हि राजा

सुभगां कृणोति । अ. २१३६३

हे अग्ने ! यह नारी पतिको प्राप्त कर, राजा सोम इसको उत्तम भाग्यवती करे ।

वृक्षं यद् गावः परिपस्वजाना अनुस्फुरं शरं

मर्चन्त्यभुम् । अथर्व ११३३

वृक्षं परिपस्वजाना गावः क्रभुं शरं अनुस्फुरं अर्चयति— वृक्ष (से डापक धनुष्यके साथ रहकर) गौ (चर्मसे बनी डोरियां) सीधे बाणको स्फूर्तिके साथ जिस तरह फेंकती हैं (उस तरह धनुषके साथ मिलकर रहनेवाली छियां फूर्तिके वीर पुत्रको शत्रुपर भेजें ।)

धनुषकी लकड़ी पुरुष है, डोरी स्त्री है, इसका पुत्र बाण है । जिस तरह धनुष्य शत्रुपर बाण फेंकता है उस तरह गृहस्थ अपने पुत्रको बलवान् बनाकर शत्रुपर भेजे और शत्रुका परामर्श करें ।

इद्वैवाभि वि तनु उभे आनीं इव उपया ।

अथर्व १११३

(उभे आनीं उपया इव) धनुष्यके दोनों नोक जैसे दोरीसे तने रहते हैं, इस तरह (इव एव अभि वि तनु) यहाँ ही दोनोंको तनाओ ! (धनुष्यकी डोरी धनुष्यके दोनों नोकोंको तनाकर रहती है, जिससे विजय मिलता है । इस तरह इस संसारमें दोनों-ब्रह्म-नीच, धीमंत दरिद्र,

विद्वान् अविद्वान्- कार्य करनेके लिये जिस देशमें सिद्ध रहते हैं, वह देश विजयी होता है ।)

त्वष्टा दुहिते वहतुं (वि) युनक्ति । अ. ३१११५

पिता पुत्रको दहेज देनेके लिये बलग करके रखता है ।

सुसप्तसूति

आ ते योनिं गर्भं एतु पुमान् बाण इवेषुधिम् ।

अ. ३१२३१२

जैसा बाण माठमें जाता है वैसा यह पुरुषका गर्भ तेरे गर्भाशयमें जावे । (बाण शत्रुनाश करता है वैसा यह गर्भ वीर बने, शत्रु नाश करे ।)

आ योनिं गर्भं एतु ते । अ. ३१२३५

तेरे उदरसे पुरुष गर्भ होवे ।

रक्तस्राव दूर करना

तेभिर्मे सर्वैः संस्त्रावेधनं सं ज्ञाययामसि ।

अ. १११५१३

जब सब छोटोंले इस सब धनको सम्पत्क रीतिले हरना करते हैं ।

नियमसे चलना ।
चावस्पतिनियमसे । अथर्व १११३
विद्वान् नियमसे चलवे । (विद्वान्के नियमसे अन्य लोक चले, जिनसे उनकी उन्नति होगी ।)

मणि धारण

परीर्दं घासो अधिघाः स्वर्द्धये । अ. २११३३

इस बखको अपने कल्याणके लिये धारण करो ।

जङ्घिहो जङ्गमाद् विशराद् विष्कंघाद्भिशी-

घनात् । मणिः सहस्रधीर्यः परि णः पानु

धिभ्रतः ॥ अ. २१४२

यह जंगिह मणि सहस्र वीर्योंसे युक्त होनेके कारण जमु-हाई, क्षीणता, शोषक रोग, तथा शोक करनेकी रोगप्रवृत्तिले, सब बीरसे हमारा रक्षण करे ।

अयं विष्कन्धं सहतेऽयं याघते अत्रिणः ।

अयं नो विश्वमेघजो जङ्घिहः पातवंहसः ॥

अ. २११३

यह जंगिह मणि शोषक रोगसे बचाता है, यह रक्त मक्षण

करनेवाले क्रिमियोंको थापा पहुँचाता है, यह सब जाँपधी शक्तिसे युक्त है, यह पापसे हमें बचावे ।

शूनक्ष मा जंगिदक्ष विष्कंधादभि रक्षताम् ।

शरण्यादन्य आभृतः कृष्या मन्यो रसेभ्यः ॥

अ. २।१।५

शून और जंगिद ये दोनों शोषक रोगसे मेरा रक्षण करें । एक मनसे लाया है और दूसरा लोरीके रससे बनाया है ।

काम

कामिन तथा प्रति शुद्धामि, फार्मेतत्ते । अ. ३।१९।०
कामसे प्रसन्न होता हूँ । यह सब है काम । तेरा कर्तव्य है ।

पापसे बचना

यदेनश्चकृषान्, यद् यय, तं विंभ्वकर्मन् प्रमुञ्चा स्वस्त्ये । अ. २।१५।३

इसने पाप किया, इसलिये यह बन्द हुआ है । हे विश्वके रचना करनेवाले ऋषु ! उसको कवचाग प्राण्य हो इस लिये उसे मुक्त कर ।

पापमाघातव्यकामस्य कर्ता । अ. २।१२।५

अनिष्ट कार्य करनेवाला पापकी प्राण छोड़े ।

मातेय पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र पत्नं मित्रिया-
रपास्वहस्ता । अ. २।२८।१

जैसी माता प्रेमसे पुत्रकी गोदमें लेती है । उस तरह मित्र मित्रसंबन्धि पापसे इसको बचावे ।

ते नो निर्मात्याः पाशेभ्यो मुञ्जांहस्तो-अंहस्तः ।

अ. १।११।२

ये देव बिनाशके पाशोंसे तथा पापसे इसे मुक्त करें ।

विंभ्वं शुभ्र निचिकेपि द्रुघधम् । अ. १।१०।२

हे उग्र वीर ! सब पापको दू जानता है । पाप कहीं रहता है यह दू जानता है ।

व्याकृतय प्पामितायो वित्तानि मुह्यत ।

अथो यदधैर्पा हृदि तवैर्पा पत्ति निर्जाहि ॥

अ. ३।२।४

इन पशुओंके संकल्पों और इनके चित्तोंको मोहित करो । और जो इनके हृदयमें विचार हैं उन सबका नाश करो ।

व्यहं सर्वेण पाप्मना । अ. ३।११।१-५, १०-११

सब पापोंसे मैं दूर रहता हूँ ।

वि शकः पापकृत्यथा । अ. ३।२।१२

समर्थ मनुष्य पापकर्मसे दूर रहता है ।

सजातानुप्रेहा यद् ब्रह्म चाप चिकीदति न ।

अ. १।१०।४

हे उग्र वीर ! स्वजातियोंसे घोपणा करके कह दे कि हमारा ज्ञान ही दुर्बलोंको दूर कर सकता है ।

आत्मरक्षण

तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः । अ. २।१३।५

सब देव ठेरी सुरक्षा करें ।

स्त्रिरसि, वचोधा असि, तनूपानोऽसि ।

अ. २।११।४

दू शानी है, दू वेजरकी है, दू घरीरका रक्षण करने-
वाला है ।

अन्न-जल

वौलस्य प्राज्ञान । अ. १।१।२

वोलकर स्नाओ । (मिठ भोजन करो)

क इदं कस्मा अदात् कामः कामयादात् ।

अ. ३।२९।०

किसने यह कितको दिया । काम ही कामके कर्ष देता है ।

दानाय खोद्य ।

अ. ३।२०।०

दानके लिये प्रेरण कर ।

शतहस्त समाहर सहजहस्त सं किर ।

अ. ३।२४।५

शत हस्तोंसे प्राप्त कर और हजार हाथोंसे दान कर ।

घृतं पीत्वा मधु चाक यधयम् । अ. २।१३।१

मीठा सुग्धर गौका घी पीओ ।

इह सुष्टिर्दिव रसः इह सहज्यसातमा भव ।

पशून् यमिनि पोषय ।

अ. ३।२८।४

यहाँ सुष्टि और यहाँ रस है । यहाँ हजारों लाभ देनेवाली होकर रह । हे उग्रवें सब देनेवाली गो ! यहाँ पशुओंको पुष्ट कर ।

सा न आयुधमर्तो प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ।

अ. ३।१०।३।८

यह तू हमारी दीर्घायुवाली प्रजाको धनकी प्रविष्टिसे युक्त
कर ।

यविस्तस्मात् ॥ मुञ्चति दत्तः शितिपात्सवा ।

अ. ३।११।१

घर (सोलहवां भाग कर) दिया हुआ रक्षक बनकर
हिसकोई रक्षण करनेवाला तथा अपनी धारणा करनेवाला
होता है, और वह दुःखसे मुक्त करता है ।

बुहां मे पञ्च प्रदिशो दुःहामुर्धा यथायलम् ।

अ. ३।१०।११

ये बड़ी दार्ढ्य दिशाएँ यह शृङ्गी यथाशक्ति मुझे साम-
र्थ्य देवे ।

पप वां यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन् मा तपत् ।

अ. ३।११।४

हे यावापृथिवी ! यह तुम्हारे समीप रहता हुआ क्षुधासे
नपवा तथासे दुःखी न हो ।

गृहीनिर्माण

गृहानलुभ्यतो धर्म संविज्ञोभोप गोमत्तः ।

अ. ३।१०।११

हमारे घरोंमें बहुत गाएँ हों और किसी पदार्थकी न्यूनता
न रहे ।

तं त्वा शाले सर्वधीराः सुवीरा अरिष्टवीरा

उपसंभरेम ।

अ. ३।११।१

हे घर ! तेरे चारों ओर हम सब उत्तम वीर, उत्तम
पराक्रम करते हुए संभार करते रहेंगे ।

इदेष भ्रुवा तिष्ठ शालेऽध्वावर्ता गोमती स्मृ-

तावती । ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्य

महते सौभाग्य ॥

अ. ३।१२।१

हे घर ! तू यही रह, यहाँ खड़ा रह, गौजोसे युक्त,
घोड़ोसे युक्त, मधुर भाषणसे लक्षवान् बीसे युक्त, दूधसे युक्त
होकर महान् सौभाग्यसे युक्त होकर यही खड़ा रह ।

आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आघेनवः साय-

मास्पन्दमानाः ॥

अ. ३।१२।३

घरके पास बछड़ा और लकड़ा तथा कूदती हुई गौवं
साथकाळ जा जाय ।

धरुण्यसि शाले वृहच्छन्दा पृतिधान्या ।

अ. ३।१२।३

हे घर ! तू बड़े उतवाळा और पवित्रे क्षन्पवाळा होकर
धारणशक्तिले युक्त होकर रह ।

दृणं यसाना सुमना असस्त्यं ।

अ. ३।१२।५

घासको पहनेवाळा तू घर हमारे लिये उत्तम मनवाळा
हो ।

मानस्य पतिन शरणा स्योना देवी देवेभिर्नि-

मितास्यग्रे ।

अ. ३।१२।५

संमानका रक्षक, रहने योग्य, सुखकर यह दिग्घ घर
देवीद्वारा पहिले बनाया गया था ।

कृतेन स्थूणामधि रांह वंशीप्रो धिराजन्नप

शृङ्ख शशून् ।

अ. ३।१२।६

हे बाँस ! जनने सीधेपनसे अपने माधारपर खड़ा रह ।
उपवीर बनकर शत्रुओंको हटा दे ।

शाले शर्तं जीविम शरद्ः सर्वधीराः ।

अ. ३।१२।६

हे घर ! सब वीर प्रजाँसे युक्त होकर हम सौ वर्षोंतक
जीवित रहेंगे ।

परमां कुमारस्तदण मा वत्सो जगता सह ।

परमां परिश्रुतः कुम्भ आ दग्नाः कलशौरुणः ॥

अ. ३।१२।७

इस घरके पास कुमार जाई, तदण जावे, बछड़ेके साथ
घठनेवाले गो जाई प्राणी जावें, इसके पास मधुर रससे
भरा घटा वहीके कलशोंके साथ जा जाय ।

असौ यो अघराद् गृहः तत्र समवराद्यः ।

तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुघान्यः ॥

अ. ३।१३।३

जो यह नीच घर है, वहाँ विपत्तियाँ रहें, वहाँ क्लेश हो,
सब यातना वहाँ रहे ।

मा ते त्पिन्नुपसत्तारो गृहाणाम् ।

अ. ३।१३।६

हे घर ! तेरे आश्रयसे रहनेवाले विनष्ट न हों ।

पूर्ण नादि प्र मर कुम्भमेतं घृतस्य घारामृ-

तेन संभृताम् । इमां पातूनमृतेना समङ्ग्धी-

ष्टापूर्वमभि रक्षत्येनाम् ॥

अ. ३।१३।८

हे स्त्री ! इस पूर्ण भरे घड़ेको तथा जमुतसे मरी बीकी

घाराको मन्त्री तरह भन्का ले भायो । पीनेवालोंको भन्की तरह मर दे । पञ्च भौत ब्रह्मदान इस घरका रक्षण करते हैं ।

गौ

स नः प्रजास्वामस्तु गोपु प्राणेषु जागृहि ।
इह तू हमारी प्रजा, भावना, गौवों और प्राणोंके विषयमें जागता रह ।

इहैव गाव एतनेहो अकेव पृथ्यत ।
इहैवोत प्रजापध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः ॥

अ. ३।११४

हे गौवों ! यहाँ भायो, साङ्के समान पुष्ट बनो, यहाँ बन्धे उत्पन्न करो और भायका प्रेम मुझपर रहे ।

मया गावो गोपतिना संवध्वं अयं वो गोष्ट
इह पोपयिष्णुः । रायस्पोयेण बहूला भयंती-
र्जाधा जीवन्तीरुप वः सदेव ॥ अ. ३।११५

हे गौवों ! मुझ गोपतीके साथ मिली रहो । तुम्हारा पोषण करनेवाली यह गोष्टाळा यहाँ है । सोभायुक्त वृद्धिके साथ बढती हुई, जीवित रहनेवाली तुमको हम सब प्राप्त करते हैं ।

संजग्माना अविभ्युपरिस्मिन्नोष्टे करीपिणीः ।
विध्वती सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥

अ. ३।११६

इस गोष्टाळामें मिलकर रहती हुई, निर्भय होकर गोबरका उत्तम खाद उत्पन्न करनेवाली, चाणित उत्पन्न करने-वाले रस-दूध-का धारण करती हुई हमारे पास हमारे समीप गौवें आ जाय ।

शिवो वो गोष्टो भवतु आरिशाकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्रजापध्वं भया वः संसृजामसि ॥

अ. ३।११५

मह गोष्टाळा तुम्हारे लिये हितकारिणी होवे, घाकीकी ऋणके समान तुम यहाँ पुष्ट बनो, यहाँ प्रजा उत्पन्न करो, मेरे साथ तुमको अमणके लिये के जाता हूँ ।

अं वो गोष्टेन सुपदा सं रम्या सं सुमृत्या ।

अ. ३।१११

हे गौवों ! तुमको उत्तम बैठने योग्य गोष्टाळामें युक्त कराता हूँ, उत्तम देवर्ष और उत्तम रत्न-सहस्रके संयुक्त रक्ता हूँ ।

इमं गोष्टं पशवः सं स्रवन्तु । अ. ३।२१।१
इस गोष्टाळामें पशु रहें ।

अभ्याचतीर्गोमतीर्न उपासो धीरयतीः सद्मु-
च्छन्तु मद्राः । पृतं हुहाना विध्वतः पर्यता
यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ अ. ३।१५।०

कल्याण करनेवाली उपासमें घोटों और गौवोंके साथ तथा धीर पुत्रोंके साथ हमारे बरोंको प्रकाशित करें । धी देवें, सब औरसे संतुष्ट होकर भाप सदा हमें कल्याणोंसे युक्त रहें ।

तीमो रसो मधुपृचामरंग वा मा प्राणेन सह
वर्चसा गमेत् । अ. ३।१३।५

यह मधुरतासे भरा तीव्र जलरूप रस, प्राण और तेजके साथ मुझे प्राप्त हो ।

ऊर्जमसा ऊर्जस्वती धसं पयो मस्यै पयस्वती
धसम् । ऊर्जमसौ धाधापृथिवी अघातार्तिविधे-
देवा महत ऊर्जमापः ॥ अ. ३।२९।५

जलवाली (धाधापृथिवी) इसे जल देवे, दूधवाली इसे दूध देवे, धाधापृथिवी इसको बल देवे, सब देव, महत् और जल इसे शक्ति प्रदान करे ।

आहरामि रवां शीरं आहार्यं धान्यं रसम् ।

आहता अस्माकं वीरा भा परनीरिदमस्तकम् ॥

अ. ३।२१।५

मैं गौओंका दूध काठा हूँ, धान्य और रस छाटा हूँ । हमारे वीर भाग्य हैं, वे परनिवा हैं और यह घर है ।

सं सिन्धामि रवां शीरं समाज्येन बलं रसम् ।

सं सिका अस्माकं वीराभुवा गावो मयि गोपतौ ॥

अ. ३।२१।७

मैं गौओंका दूध देता हूँ, बलवर्धक रसको धीके साथ मिलाता हूँ । हमारे वीर दूधसे सींचे गये । मुझ गोपतिमें गौवें स्थिर रहें ।

या रोहिणीर्देवत्या गावो या उत रोहिणीः ।

रूपं रूपं वयो वयस्ताभिष्टा परि दध्मसि ॥

अ. ३।२२।३

जो काल रंगकी गौवें हैं और जो ऋणके समान रंगकी गौवें हैं । रूप, भाकार तथा भायुके अनुसार उनके साथ तुम्हारा संयोग करता हूँ जिससे दू नीरोग होगा ।

यदि नो गां हंसि यद्यश्चं यदि पूरुपम् ।

तंत्वा सीसेन विष्यामो यथा नोऽसौ अर्चिरहा ॥
न. ११६१४

यदि हमारी गौका बप त् करेगा, यदि घोटेका था यदि
उपरका बप करेगा, तो तुसे सीसेकी गोलीसे बेष करेगा,
जिससे हमारे समीप कोई वीरोंका नाथ करनेवाला नहीं
रहेगा ।

कृपि

सति वन्दामहे त्वार्वाचां सुमगे भव ।

पथा नः सुमता असौ यथा नः सुफला भुवः ॥
न. ११७१८

हे इतकी रेवा ! तुसे हम वन्दन करते हैं, तू संमुख हो,
और भाववशाली हो । तू उचम इच्छावाली हो और सुख
देनेवाली हो ।

शुनं वाहाः, शुनं नरः, शुनं कृपतु लांगलम् ।

शुनं वखा बध्यन्तां शुनमप्रामुदिक्य ॥
न. ११७१९

बैठ चुकी हो, अनुप्य प्रसन्न रहें, हल चुकसे जमीन
कोड़े, रक्षितवा सुकसे बाघों चाप, और बापूक सुकसे
बकाया जाव ।

धृतेन सीता मधुना समका विश्वैर्देवैरनुमता

मकङ्किः । सा नः सति पयसान्यायवृत्स्वोर्ज-
स्वती धृठवतिपन्वमाना ॥ न. ११७२०

यौ और प्रथमे सिवित हलकी रेवा सब देवों और बापु-
कोंसे अनुमोदित हुई । हे हलकी रेवा ! तू धीसे सिवित
शेकर हमें बल देनेवाली होकर दृष्टसे पुनत कर ।

शुनं सुफला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा
अनुपन्तु वाहान् । शुनासीरा हविषा तोश-

माना सुपिपला भोपघाः कर्तमसै ॥ न. ११७२१

शुनर हलके फल भूमिको उत्तम सीविते छोड़े । किसान
सुकसे बैलोंको चलायें । हे पायु और सूर्य ! तुम हविसे
सन्तुद होकर इसके लिये उत्तम फलपुनत धान्य देवें ।

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषामि रहसुतु ।
सा नः पयस्वती दुहामुचरासुचरां समाम् ॥
न. ११७२२

इन्द्र हलकी रेवाकी रक्षा करे, पूषा उसकी चारों ओरसे
रक्षा करे । यह रसपुनत होकर आगिके वर्षोंमें हमें अधिक
आधिक रस प्रदान करे ।

नेदीय इत् सृण्यः पकमावन् । न. ११७२२

हंमूचे परिपक धान्यको हमारे निकट ले जावें ।

विराजः श्रुष्टिः समरा असन्नः । न. ११७२२

बलकी उपज हमारे लिये भरपूर हो जावे ।
सीरा युशन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक् ।

धारा देवेषु सुस्रयो ॥ न. ११७२३

जो ज्ञानियोंमें उत्तम मनवाले बुद्धियान् कवि हैं वे हल
जोवते हैं । और जनोंको पृथक् करते हैं ।

भगो नो राजा नि कृपि तनोतु । न. ११२१४

राजा भग हमारे लिये कृपिको बडावे ।
युनक्त सीरा, विद्युगा तनोत, कृते योनौ वप-

तेह बीजम् ॥ न. ११७२२

हल जोतो, तुनोंको फैडा दो, भूमि तैवार करनेपर
बीज वहाँ बी दो ।

जल

अप्सु मे सोमोऽन्नवात् । अन्तर्धिभ्वानि भेयजा ॥
न. ११६१२

सोमने तुसे कहा कि जलमें सब औषधियां हैं ।
अप्यन्तरमृतं अप्सु भेयजम् । न. ११६१४

जलमें मृत्यु है, जलमें औषधि गुण है ।
आपः पूर्णत भेयजं वरुपं तन्वे मम । न. ११६१३

हे जलो ! तुसे औषध दो और मेरे शरीरकी संरक्षण दो ।
ईशाना वार्याणाम् । स्रवन्तीर्ध्वर्णानाम् ।

अपो याचामि भेयजम् ॥ न. ११६१४

भरणीय सुखोंका स्वामी जल है । आगियोंका निवासक
जल है । इस जलसे मैं औषधकी पाचना करता हूँ ।

आप इहा उ भेयजोरापो अमीवचातनीः ।
आपो विभ्वस्य भेयजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रेयात् ॥
न. ११७१५

जल औषधी है, जल रोग दूर करनेवाला है, जल सब
रोगोंकी औषधो है, इस जलसे आधुनिक रोगसे तुसे
मुक्त करता हूँ ।

अपां तेजो ज्योतिरोजो वलं च वनस्पतीनामुत्
वीर्याणि । अस्मिन्नधि धारयामः । न. ११३५३

जलका तेज, प्रकाश, जीवन, बल और वनस्पतियोंके बीर्य
(इस सुवर्णमें है) उनका हम धारण करते हैं ।

-(आपः) महे रणाय चक्षसे (दघातन) ।
न. ११५११

जल बड़ी रमणीयताके दर्शनके लिये हमें धारण करे ।
(हमारे अन्दर रमणीयता रहे ।)

ता न धापः शं स्योना भवन्तु । अ. १।२१।१-४
वे अत्र इमारं छिद्ये सुखमन्त्रि देनेवाले हीं ।

इमा धापः प्रमराग्यपद्मा यद्मननाग्निनाः ।
गृहानुपमसांदिमि अमृतेन चहाग्निना ॥

अ. १।१२।१

वे रोगनाशक और रोगरहित अत्र मैं भर छात्रा हूं ।

अमृत, अन्न और अग्निसे साथ मैं धर्ममें जाकर बैठता हूं ।

शं नः स्वामिनिमा धापः । अ. १।१।४

खोदकर निहाला अत्र हमें सुख देवे ।

अिवा नः सन्तु धार्पिकीः । अ. १।१।४

वृष्टिसे प्राप्त अत्र हमें कल्याण करनेवाला हो ।

शानु सन्तु धनूप्याः । अ. १।१।४

अच्छपूर्ण पदार्थका अत्र हमें आम्नि देवे ।

शानु पा कुम्भ आभूताः । अ. १।१।४

जो अत्र धरमें रखा है वह हमें आम्नि देवे ।

शं न धापो धमन्त्याः । अ. १।१।४

रेवीके पदार्थका अत्र हमें कल्याण करनेवाला हो ।

धृतस्तुतः शुचयो याः पायकास्ता न व्यापः

शं स्योता भवन्तु । अ. १।१३।१४

तेजस्वी, पवित्र, सुदृढा करनेवाला अत्र हमारे छिद्ये

सुखदायी हीं ।

शंपोएभिष्वधन्तु नः । अथर्व १।१।१

अत्र हमें आम्नि और इष्ट आग्नि देनेवाला होवे ।

शिवया उन्वीप स्पृष्टात् त्वजं मे । अ. १।१३।१४

अपना कल्याण करनेवाले धर्मसे मेरी स्वभावी स्वर्ण करो ।

(हे धापः !) यो वः शिवतमो रसः तस्य

भाजयते इ नः । अथर्व. १।५।२

हे जको ! जो भाजमें कल्याण करनेवाला रस है, उसका

हमें भागी करो । (हमें वह कल्याण करनेवाला सुग्हा

भाग मिले ।)

भापी अत्रयया च नः । अथर्व. १।५।३

हूँ जको ! हमें बराभो ।

भापी भवन्तु पीतये । अथर्व. १।६।१

अत्र हमारे पीनेके छिद्ये, (सम्पन्ने छिद्ये हो ।

शिवेन मां चक्षुषा पश्यतापः । अ. १।१३।१४

हे अहो ! कल्याणकारी नेत्रसे धार मुझे देखो ।

भापो हि धा मपो सुवः ता न ऊर्ध्वं दपातन ।
अथर्व. १।५।१

अत्र सचमुच सुखदायी है, वह उठ हमें छानि दे ।

शं नो द्वेषीरभिष्वये । अथर्व. १।१।१

दिव्य अत्र हमें आम्नि सुख देवे ।

तस्मा अरंगभाववो यस्य क्षुपाय विन्मप ।।

अथर्व. १।५।३

अधिके निवासके छिद्ये धार चल जाते हैं, धारसे

पर्याप्त मात्रामें (वह अत्र) प्राप्त हो ।

अगानुत् प्रशस्तिभिरम्भा अथय चाग्निना ।

गात्री भवप श्वाविनीः ॥ अथर्व. १।१।४

उत्तरे मरुत्सनीय गुप्तसे वीधे वक्ष्यन् होते हैं और

गाँवें बरसातकी होती हैं ।

सुमापितोका उपयोग

अथर्ववेदके पाठिने तीन भागोंके सुभाषित यहाँ दिने

हैं । वे इतने ही हैं ऐना नहीं । संख्यामें वे सुभाषित

अधिक भी हो सकते हैं । वे बिना तरह अधिक हो सकते हैं

यह हम जेकमें बतलाया ही है । व्यवहारमें उपयोगी कार्य

अत्र नाम सुभाषित कहा जाता है ।

सूरिपति, चर्वाधा अस्ति, तनूपामोऽस्ति ।

अ. १।१।१४

ए शायी है, ए उखेखी है, ए अतीर रसक है । पर

एकमेव है, पर हमने तीन सुभाषित हैं ।

सीसेकी गोली

'तं त्वा सीसेन विषयानः' उच्यते मुमको छीसेके

हम बंध करेगे । सीसेसे बंध करनेका अर्थ सीसेकी गोलीके

बंध करेगे । गोला बंध करनेवालेको या पुरुरका बंध करने-

वालेको सीसेकी गोलीसे बंध करनेका दण्ड था है ।

सीसा था, सीसेकी गोली थी और गोलीके बंध करनेका

साधन बंदूक जैसा बंध था ऐसा यहाँ क्या समझा है ।

अष्टादशिकासे सब रोग दूर होते हैं ऐना पाठक अत्रके

सुमापितोमि देखेंगे । सुमापितोका उपयोग करनेकी रीति

यहाँ बताई है । वेदके उपदेशको नाशकी भावना और

व्यवहारमें लानेकी रीति यह है । पाठक इतका उपयोग

करके वैदिक जीवनके व्यवहार करने अपना लाभ प्राप्त करें ।



अथर्ववेद

का

सुबोध माण्य ।

प्रथमं काण्डम् ।

ब्रह्म और ज्येष्ठ ब्रह्म ।

ये पुरुषे ब्रह्मं विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।
यो वेदे परमेष्ठिनं यश्च वेदे प्रजापतिम् ।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः ॥

(अथर्व० १०।१।१७)

“ (ये) जो (पुरुषे ब्रह्म) पुरुषमें ब्रह्म (विदुः) जानते हैं, वे (परमेष्ठिनं) परमेष्ठीको जानते हैं, जो परमेष्ठीको जानता है, और जो प्रजापतिको जानता है, तथा जो (ज्येष्ठं ब्राह्मणं) ज्येष्ठ ब्राह्मणको जानते हैं, वे स्कम्भको (अनुसंविदुः) उच्यते प्रकार जानते हैं । ”

ॐ

अथर्ववेद के विषयमें

स्मरणीय कथन ।

(१) अथर्ववेदका महत्त्व ।

अथर्ववेदका नाम "ब्रह्मवेद, अमृतवेद, आत्मवेद" आदि है। इससे यह आत्मज्ञानका वेद है, यह स्पष्ट है। इसी लिये कहा है, कि—

श्रेष्ठो ह वेदस्तपसोऽपि जातो ब्रह्मज्ञानां हृदये संबभूव ॥
(गोपय मा. १।९)

एतद्दे भूपिठं ब्रह्म यद् भुवङ्गिरसः। येऽङ्गिरसः स रसः।
येऽयवांगस्तज्ञेषमन् ॥ यज्ञेषजं पदभूतम् ॥ यद्भूतं तद्ब्रह्म ॥
(गोपय मा. ३।४)

चात्वारो वा इमे वेदा अथर्वेदो यदुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः ॥
(गोपय मा. २।१६)

"(१) यह अथर्व वेद है, ब्रह्मज्ञानियोंके हृदयमें यह प्रसिद्ध रहता है। (२) भुवङ्गिरस ब्रह्म ज्ञान है, जो अंगिरस हैं वही रस अर्थात् सत्य है, जो अथर्वों है वह भेषज (दवा) है, जो भेषज है वह अमृत है, जो अमृत है वही ब्रह्म है। (३) ऋक्, यजु, साम और ब्रह्म येही चार वेद हैं।"

अथर्ववेदको इस बचनमें "भेषज" अर्थात् रोगदोष दूर करनेवाली औषधि, 'अमृत' अर्थात् मृत्युको दूर करनेका साधन, तथा 'ब्रह्म' ब्रह्म ज्ञान कहा है। ये तीन शब्द अथर्ववेदका महत्त्व स्पष्ट रीतिसे व्यक्त कर रहे हैं। और देखिये—
अथर्वमन्त्रसम्प्राप्त्या सर्वसिद्धिर्भविष्यति ॥

(अथर्वपाठशुद्धि २।५)

"अथर्ववेद मंत्रको संप्राप्ति होनेसे सब पुण्यार्थ सिद्ध होंगे।" यह अथर्वमंत्रोंका महत्त्व है, इस वेदमें (सांत्विक कर्म) शांति स्थापनके कर्म, (पाँष्टिक कर्म) पुष्टि बलशुद्धि आदिथे

सिद्धिके कर्म, (राजकर्म) राज्यशासन, समाजव्यवस्था आदि कर्मके आदेश होनेके कारण यह वेद प्रमादितको दृष्टिसे विधेय महत्त्व रखता है। इस विषयमें देखिये—

यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वान् शान्तिपारगः ।

निवसत्यपि तद्गाष्टुं वर्धते निरुपद्रवम् ॥

(अथर्वपरीशिष्ट. ४।६)

"जिस राजाके राज्यमें अथर्ववेद जाननेवाला विद्वान् शांति स्थापनके कर्मपर निरत रहता है, वह राष्ट्र उपद्रवरहित होकर बढ़ता जाता है।

(२) अथर्व-शाखा ।

१ पैपलाद, २ तौद, ३ मौद, ४ शौनकीय, ५ जाबल, ६ जलद, ७ ब्रह्मश्रव, ८ देवदर्श, ९ चारण्येय ये अथर्वके नौ शाखाभेद हैं। इनमें इस समय पिप्पलाद और शौनक ये दो शिष्टताये उपलब्ध हैं, अन्य उपलब्ध नहीं हैं। इनमें योडाहा मंत्रपाठभेद और सुक्त कमभेद भी है, अन्य व्यवस्था प्रायः समान है।

(३) अथर्वके कर्म ।

- १ स्थालीपाकः — अन्नासिद्धि ।
- २ मेधाजननम् — बुद्धिके शुद्धि करनेका उपाय ।
- ३ ब्रह्मचर्यम् — वीर्य-रक्षण, ब्रह्मचर्यवन आदि ।
- ४ ग्राम-नगर-राष्ट्र-वर्धनम् — ग्राम, नगर, कीले, राज्य आदि की प्राप्ति और उनका संवर्धन ।
- ५ पुत्रपुत्रधनधान्यप्रजाकीकरितुरगराद्यान्दौलिकदिसम्पत्साधकानि — पुत्र, पशु, धन, धान्य, प्रजा, स्त्री, द्वाया, घोड़े, रथ, पालकी आदि ऐश्वर्यके साधनोंके सिद्धि करनेके उपाय ।

- ६ साम्मनस्यम्—जनगणों ऐक्य, मिलाप, प्रेम, एकता आदिकी स्थापना के उपाय ।
- ७ राजकर्म — राजके लिये करनेयोग्य कर्म ।
- ८ शत्रुघ्रासनम्—शत्रुको कष्ट पहुंचानेका उपाय ।
- ९ संप्रामविजयः— युद्धमें विजय संपादन करना ।
- १० शस्त्रनिवारणम्— शत्रुओंके शस्त्रोंका निवारण करना।
- ११ परसेनामोहनोद्देजनस्तेभनौघाटनादीनि — शत्रुसेनामें मोह भ्रम उत्पन्न करना, उनमें उद्वेग-भय-उत्पन्न करना, उनको हलचलको रोकना, उनको उखाड़ देना आदिका साधन ।
- १२ स्वसेनोत्साहपरिरक्षणभयार्थानि— अपनी सेनाका उत्साह बढ़ाना, और उनको निभेय करना ।
- १३ संप्रामे जयपराजयपरीक्षा— युद्धमें जय होगा या पराजय होगा इसका विचार ।
- १४ सेनापत्यादिप्रधानपुहुरजयकर्मणि— सेनापति मंत्री आदि सुवच औरहेदारीके विजयका उपाय ।
- १५ परसेनासंचरणम्— शत्रुकी सेनामें संचार करके गुप्त रीतिसे सब ज्ञान प्राप्त करना और बहाके अपने ऊपर आनिबाले अनिष्टोंको दूर करना ।
- १६ शत्रुस्त्राङ्गितस्य राशः पुनः स्वराष्ट्रप्रवेशनम्— शत्रुद्रोह उलटते गये अपने राजाकी पुनः स्वराष्ट्रमें स्थापन करनेके उपाय ।
- १७ पापक्षयकर्म—पतनेके साधनोंको दूर करना ।
- १८ गोपमुद्रिकृषिपुष्टिरागि— गौ बैल आदिकोंका संवर्धन और कृषिको गोपन करना ।
- १९ गृहमम्बलरागि—घाकी घोमा बढ़ानेके कर्म ।
- २० वैपग्यानि— रोगनिवारक औषधियां ।
- २१ गर्भभ्रानादि कर्म— (एक संस्कार)
- २२ सभानजयघ्राणनम्—सभामें जय, विवाहमें जय और कलह शांत करनेके उपाय ।
- २३ वृष्टिसाधनम्— यौग्य समयपर वृष्टि कलनेका उपाय ।
- २४ उत्थानकर्म— शत्रुपर चढ़ाई करना ।
- २५ वागिज्यलाभः— क्रय विक्रय आदिमें लाभ ।
- २६ ऋणविमोचनम्— ऋण उतारना ।
- २७ अभिचारनिवारणम्— भाग्यसे अपना बचाव करना ।
- २८ अभिचारः— शत्रुके नाशका उपाय ।
- २९ स्वस्थयनम्— सुखसे देशदेशतरमें भ्रमण ।
- ३० आयुष्यम्— दीर्घ आयुष्यकी प्राप्ति ।
- ३१ यज्ञयाग आदि ।

इत्यादि अनेक विषय इस वेदमें अनेके कारण इसका अण्य-यन विशेष सूत्रम दृष्टिसे करना आवश्यक है । ये सब उपाय और कर्म मनुष्यमात्रके अभ्युदय निःश्रेयशके साधक होनेके कारण मानव जातिके लिये लाभदायक हैं, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता । परन्तु यहाँ विचार इतनाही है कि, ये सब विषय अथर्व-वेदके सूत्रोंसे हम किस रीतिसे जानकर अनुभवमें ला सकते हैं । नि-संदेह यह महान् और गंभीर तथा कठिन ज्ञान हिनियोग विषय है । इसलिये यदि सुविज्ञ पाठक इसमें अपनी सहयोग देगे तोही इस गंभीर विषयका कुछ पता लग सकता है, और गुप्त विषय अधिक खुल सकता है । क्योंकि किसी एक मनुष्यके प्रयत्नसे इस कठिन विषयकी उत्पत्ति होना प्रायः अशक्य ही है ।

(४) मनका संबंध ।

अथर्ववेदद्वारा जो कर्म किये जाते हैं वे मनकी एकाग्रतासे उत्पन्न हुए सामर्थ्यसे ही किये जाते हैं, क्योंकि आत्मा, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि अंतःशक्तियों ही अथर्ववेदका विशेष संबंध है, इस विषयमें देखिये—

मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं परं संस्क्रोति

(गोपय ब्रा० ३ । १२)

तद्वाचा ब्रह्म्या विद्यैकं परं संस्कुर्वते । मनसैव ब्रह्मा संस्क्रोति ॥

(ऐतरेय ब्रा० ५ । ३३)

अर्थात् “ ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद द्वारा वाणीपर संस्कार होकर एक भाग सुसंस्कृत होता है और अथर्ववेद द्वारा मनपर संस्कार होकर दूसरा भाग सुसंस्कृत होता है । ” मनुष्यमें वाणी और मन ये ॥ मुख्य दो पक्ष हैं । उन दोनोंसे ही मानवी उन्नतिके साधक अभ्युदय निःश्रेयस विषयक कर्म होते हैं ।

घोरिके रोग दूर करना ही अथवा राष्ट्रका विजय संपादन करना ही, जो ये सब कर्म मानसिक सामर्थ्यसे ही हो सकते हैं । इसी लिये अथर्ववेदने मनःशक्तिकी अभिवृद्धि द्वारा उक्त कर्म और विविध पुत्रार्थ सिद्ध करनेके उपाय पताये हैं ।

(५) श्रांतिकर्मके विभाग ।

समाज तथा राष्ट्रमें श्रांति स्थापन करना अथर्ववेदका मुख्य विषय है । वैमनस्य, शत्रुता, द्वेष आदि भावोंको दूर करके मित्रता, एक विचार, सुमनासिता आदिकी वृद्धि करना अथर्ववेदका साम्य है । इसी कार्यकी सिद्धिके लिये अथर्ववेदका श्रांति प्रकरण है । इस प्रकरणमें कई प्रकारकी श्रांतियां हैं, विनका घोषणा वर्णन यहाँ करना उचित है—

- १ मूचाल, विमुच्यत आदिके मय निवारण करनेके लिये महाशान्ति ।
- २ आयुष्य प्राप्ति और वृद्धिके लिये वैश्वदेवी शान्ति ।
- ३ भग्न्यादि मयकी निवृत्तिके लिये आग्नेयी शान्ति ।
- ४ रोगादि निवृत्तिके लिये भांगवी शान्ति ।
- ५ ब्रह्मवचन-ज्ञानका तेज प्राप्त करनेके मार्गमें जाने-वाले विप्र दूर करनेके लिये माद्री शान्ति ।
- ६ राज्यलक्ष्मी शौर ब्रह्मवचन प्राप्त करनेके लिये अर्षात् क्षात्र और ब्राह्म तेज की बुद्धि करनेके लिये बार्हस्पत्य शान्ति ।
- ७ प्रजा क्षय न हो और प्रजा पशु ब्रह्म आदिकी प्राप्ति हो इसलिये प्राजारत्या शान्ति ।
- ८ बुद्धि करनेके लिये सावित्री शान्ति ।
- ९ ज्ञानमन्त्रब्रह्मके लिये गायत्री शान्ति ।
- १० घनादि ऐश्वर्य प्राप्ति करने, शत्रुमें हानेवाला मय दूर करने और अपने शत्रुको उन्नाह देनेके लिये आश्विनी शान्ति ।
- ११ परचक्र दूर हो और अपने राज्यका विजय हो तथा अपना बल, अपनी पुष्टि और अपना ऐश्वर्य बढे इसलिये ऐन्द्र शान्ति ।
- १२ राज्यविस्तार करनेके लिये माहेन्द्री शान्ति ।
- १३ अपने घनका नाश न हो और अपना ऐश्वर्य बढे इसलिये करनेयोग्य कौबेरी शान्ति ।
- १४ विद्या तेज घन और आयु बढानेवाली आदित्या शान्ति ।
- १५ ब्रह्मकी विपुलता करनेवाली वैष्णवी शान्ति ।
- १६ वैभव प्राप्त करनेवाली तथा वस्तु संस्कारपूर्वक प्रहादिकी शान्ति करनेवाली वास्तोष्पत्या शान्ति ।
- १७ रोग और आपत्ति आदिके कष्टोंमें बचानेवाली तैत्थी शान्ति ।
- १८ विजय प्राप्त करनेवाली-अनरात्रिता शान्ति ।
- १९ शत्रुका मय दूर करनेवाली याम्या शान्ति ।
- २० अलमय दूर करनेवाली वाह्यनी शान्ति ।
- २१ आयुष्य दूर करनेवाली वायव्या शान्ति ।
- २२ कुलक्षय दूर करनेवाली और कुलवृद्धि करनेवाली सन्वति शान्ति ।
- २३ वस्त्रादि भोग बढानेवाली तथा कारीगराकी वृद्धि करनेवाली त्वष्ट्री शान्ति ।
- २४ बालकोंको हृष्टपुष्ट करके उनको अपशत्रुमें बचानेके लिये कौमारी शान्ति ।

- २५ दुर्गादिमें बचानेके लिये नैऋति शान्ति ।
- २६ बलवृद्धि करनेवाली मारुद्गणी शान्ति ।
- २७ घोडाकी अभिवृद्धि करनेके लिये गान्धर्वी शान्ति ।
- २८ हाथियोंकी अभिवृद्धि करनेके लिये पारावती शान्ति ।
- २९ भूमिके संबंधी कष्ट दूर करनेके लिये पार्थिवी शान्ति ।
- ३० सब प्रकारका मय दूर करनेवाली भमया शान्ति ।

ये और इस प्रकारकी अनेक शान्तियाँ अथर्ववेदसे सिद्ध होती हैं। इनके नामोंका भी यदि विचार पाठक करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि मनुष्यका जीवन सुखमय करनेके लिये ही इनका उपयोग निःसंदेह है। वेदमंत्रोंका मनन करके प्राचीन ऋषि मुनि अपनी उन्नति की विद्यार्ण क्लिष्ट रीतिसे सिद्ध करते थे, इसकी कल्पना इन शान्तिमंत्रोंका विचार करनेसे हो सकती है। कई शान्तिमंत्रोंके नामोंसे पता लग सकता है कि किसे ऋषिदेवी सोमदे देवि शान्तिर्कर्मकी उत्पत्ति हुई। यदि वैदिक धर्म जीवित और जागृत रूपमें फिर अपने जीवनमें डालना है तो पाठकोंको भी इसी दृष्टिसे विचार करना अत्यावश्यक है।

विविध इष्टियाँ, गाय, कर्तु, मेघ आदिकी जो योजना वैदिक धर्ममें है, यह सब बातकी सिद्धता करनेके लिये ही है। इन सबका विचार कैसे है और इनकी सिद्धि किसे रीतिसे की जा सकती है इसका यथामति विचार आगे किया जायगा। परन्तु यहां निवेदन है कि पाठक भी अपनी बुद्धियोंको इस दृष्टिसे काममें लावें और जो खोज होगी वह प्रकाशित करें। क्योंकि अनेक बुद्धिगर्भक एकाम होनेसे ही यह विद्या पुनः प्रकट हो सकती है अन्यथा इसके प्रकट होनेका कोई संभव नहीं है।

(६) मन्त्रोंके अनेक उद्देश्य ।

अथर्ववेदके षोडशे मन्त्रोंसे इतने विविध कर्म किसे प्रकार सिद्ध हो सकते हैं, यह संशय नहीं उत्पन्न हो सकती है। इसके उपरान्त निवेदन है, कि वेदके मन्त्र और सूक्त "अनेक मुख" होते हैं अर्थात् एकही सूक्त और एकही मंत्रसे अनेक उद्देश्योंको सिद्धि होगी है। मंत्रका उपागार्य एक मात्र बताया है, अंदरका गूढ आशय कुछ विशेष उपदेश देता है, स्वयं अर्थ श्लेषादि आदि अनेक रीतिसे अनेक उपदेश प्रकट होते हैं। इस कारण एकही मंत्र और एकही सूक्त अनेकविध उपदेश देते हैं, और इस दृष्टिसे अनेकानेक विद्यार्ण और अनेकानेक कर्म वेदसे प्रकट होने हैं और इन सबके द्वारा मनुष्यके ऐहिक और पारलौकिक सुखवृद्धिके साधन सिद्ध हो जाते हैं ।

(७) सूक्तोंके गण ।

अथर्ववेदके सूक्तों और मंत्रोंके कई गण हैं, जिनके नाम "अमय गण, अपराजित गण, सांश्रामिक गण" इस प्रकार अनेक हैं। प्रथम कांडमें अपराजित गणके सूक्त निम्न-लिखित हैं—

१ विद्या धारस्य वितरं ०	(१ । २)
२ मा मो विदन् वि म्याधिनः ०	(१ । १५)
३ अदारसुद्रवत् देव ०	(१ । २०)
४ स्वस्तिना विद्यां पतिः ०	(१ । २१)
इसके पश्चात् पठ्यकाण्डमें अपराजित गणके सूक्त निम्नलिखित हैं—	
५ मव मनुयुः ०	(६ । ६५)
६ निर्देस्तः शसुः ०	(६ । ६६)
७ परिवारमामि ०	(६ । ६७)
८ अभिभूर्यज्ञः ०	(६ । ९७)
९ इग्ने जपाति ०	(६ । ९८)
१० आभि त्वेन्द ०	(६ । ९९)

कौनसा सूक्त किस गणमें है, यह समझनेसे उमका अर्थ करना, उसके अर्थका मनन करना और उससे बोध लेना, बड़ा सुगम हो सकता है। तथा गणोंके मंत्रोंके अंदर परस्पर संबंध देखना भी सुगम हो जाता है। इसलिये इस गणोंका विचार वेद पढ़नेके समय अवश्य ध्यानमें धरना चाहिये। हम आगे बतायेंगे कि कौनसा सूक्त किस गणमें आता है और उसका परस्पर संबंध किस पद्यतिसे देखना होता है।

पूर्वोक्त शांतिर्वसिं त्रिन जिन शांतिर्वोका संबंध राजयन्वव-स्थासे है, उन शांतिवृद्धके साथ अपराजित गणके मंत्रोंका संबंध है, इस एक बातसे पाठक बहुत कुछ बोध प्राप्त कर सकते हैं। एक एक गणके विषयमें हम स्वतंत्र विबंध लिखकर उसका अधिक विचार आगे करेंगे। उसका अनुसंधान पाठक करें हली लिये यह बात महा दर्शनी है।

अब इन सब गणोंका विचार हो जायगा तब ही वेद की विद्या ज्ञात हो सकती है, अन्यथा नहीं। वहां यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि कई सूक्त किसी गणके साथ सम्बन्ध नहीं रखते क्योंकि वे स्वतंत्र हैं अथवा उनका सम्बन्ध गणसूक्तोंके समान किसी अन्य सूक्तसे नहीं है।

"स्वतंत्र-सूक्त" और "गण-सूक्त" इनका विचार करनेके समय स्वतंत्र सूक्तके मंत्रोंका मनन स्वतंत्र ऋतिये करना चाहिये, और गणसूक्तोंके मंत्रोंका मनन संपूर्णगणोंके संबंध-का विचार करके ही करना चाहिये।

(८) अथर्ववेदका महत्त्व ।

अथर्ववेदके ज्ञान, यजुर्वेदसे उत्तम कर्म और सामवेदसे उत्तम पुरुषकी उपासना, इन तीन काण्डोंका सम्पादन होनेके पश्चात् आत्माका ज्ञान और बल प्राप्त करनेके मार्ग बतानेका कार्य अथर्ववेद करता है। इस कारण इसको "ब्रह्मवेद" अथवा "आत्मवेद" भी कहते हैं।

उत्तम ज्ञान, प्रथम कर्म और उत्तम पुरुषकी उपासना द्वारा अंतःशुद्धि होनेके पश्चात् ब्रह्मज्ञान संभवनीय है, इसलिये यह पूर्वोक्त वेदत्रयीसे विभक्त यह "चतुर्थ वेद" कहा जाता है।

उपासक लोग आत्माके जगत्में छुंठते हैंउते थक गये, उस समय उनको साक्षात्कार हुआ कि "आत्माके जगत्में कहाँ छुंठते हो ? यहाँ आत्मा और 'अपने पासही उसे छुंठो !"

अयावांटे नमेतास्वेवाऽप्स्वन्विरज्जेति, सद्यद्वनीदयावांछ्तेन-मेतास्वेवाप्स्वन्विरज्जेति, तद्यवाऽभवत् ॥

(गोरथ-ब्राह्मण १-४)

"अब पासही उसे छुंठो !" वह पासही है। यह बात इस अर्थ [अप-अर्वात्=अपवा (क्)] वेदने कही, इसी लिये इसका नाम "अथर्ववेद" हुआ है। यह गोप्य ब्राह्मणका अथर्ववेदका ज्ञानक्षेत्र कहाँतक है इसका वर्णन स्पष्ट शब्दोंमें कर रहा है। आत्माका पता अपने पासही लगना है, यह यताना अथर्ववेदके ज्ञानक्षेत्रमें है। इसी लिये इसका नाम "ब्रह्मवेद" दे क्योंकि यही ब्राह्मणका ज्ञान बताना है।

"यर्व" शब्द अचलताका वाचक है। और "अ-पूर्व" शब्द शांतिका अथवा एकमतका चोक्त है। आत्मासुख अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार जो होना है, वह चित्तकी अचलता इतनेके पश्चात् और चित्तशुद्धियोंका निरोध होकर उसमें शांति आनेके पश्चात् ही होना है। २.१ आत्मज्ञानके मार्गकी सूचना इस प्रकार अपने नामसे ही इस अथर्ववेदने बता दी है। वेदके नामोंका महारव पाठक यहाँ देख सकते हैं।

"अथर्वन्" (अप-अर्वात्) इस शब्दका अर्थ "अब इस ओर" ऐसा होता है। जगत्में दो पदार्थ हैं, एक मैं और दूसरा मेरेसे विभक्त संपूर्ण जगत्। हरएक मनुष्य समसता है कि मेरेसे विभक्त पदार्थोंके ही मुझमें प्रतिबिम्बित आता है, मैं स्वयं अचलता हूँ और यदि मेरेसे प्राप्त होता है। इस सर्वसाधारण विचारसे विभक्त परंतु अत्यंत सत्य विचार जो अथर्ववेद जनताके समुच्च रहना चाहता है, वह यह है कि "अब यदि के लिये अपनी जोर" ही देखो। सब जगत्में यह नियम देखो

कि वृद्धि अंदरभे होती है, वृक्ष अंदरसे बढ़ते हैं, बालक अंदर-से बढ़ते हैं, अर्थात् शक्तिकी वृद्धि अंदरसे हो रही है, इस-लिये अपने अंदर अपनी ओर देखकर विचार करो । बाह्य जगत्में न देखते हुए, परंतु उसके साथ अपनी शक्तियोंको जोड़कर अपनी उन्नतिके हेतु अपने अंदर देखो, शक्ति अपने अंदर है न कि बाहर है । यह अथर्ववेदकी शिक्षा अत्यंत महत्त्वकी है ।

इस अथर्ववेदका स्वाध्याय करना है । ब्रह्मवेद होनेके कारण

यह वेद संपूर्ण रीतिसे समझना कठिन है, इसलिये इस वेदके जितने मंत्र समझमें आवेंगे, उनकाही स्वाध्याय करना है । जिन-का ठीक प्रकार ज्ञान नहीं हुआ उनके विषयमें हम कुछ भी नहीं लिखेंगे । तथा जो मंत्र स्वाध्यायके लिये यहां लेंगे उनके विषयमें थोड़ेसे थोड़े शब्दोंमेंही जो कुछ लिखना हो वह लिखेंगे अर्थात् बहुत विस्तार नहीं करेंगे । परंतु जहांतक हो सके वहां-तक थोड़े बात संक्षिप्त नहीं छोड़ेंगे । इससे स्वाध्याय करने वालोंको बड़ी सुविधा होगी ।



अथर्ववेद ।

प्रथम--काण्ड ।

इस प्रथम कांडमें छः अनुवाक, पैंतीस सूक्त और १५३ मंत्र हैं।

१ प्रथम अनुवाकमें छः सूक्त हैं, तीसरे सूक्तमें ९ मंत्र हैं। दोष पांच सूक्तोंमें प्रत्येकमें चार चार हैं। इस प्रकार इस अनुवाकमें २९ मंत्र हैं।

१ द्वितीय अनुवाकमें (७ से ११ तक) पांच सूक्त हैं। सतत सूक्तमें ७ और ग्यारहवें में ६; दोष तीनों प्रत्येकमें चार चार मंत्र हैं। इस प्रकार कुल २५ मंत्र हैं।

३ तृतीय अनुवाकमें और पंचम अनुवाकमें (१२ से २० तक सूक्तों) के प्रत्येक सूक्तमें चार मंत्रवाले क्रमशः पाच, पाच और सात सूक्त हैं। इन तीनोंकी मंत्रसंख्या १८ है।

४ षष्ठ अनुवाकमें सात (२१ से २५ तक) सूक्त हैं। २९ वें सूक्तमें छः मंत्र और ३४ वें में पांच मंत्र हैं, दोषमें चार चार हैं। इस प्रकार कुल मंत्रसंख्या ३१ है।

इस ३५ सूक्तोंमें चार मंत्रवाले सूक्त ३७ हैं, पांच मंत्रवाला एक, छः मंत्रवाले दो, सात मंत्रवाला एक, और नौ मंत्रवाला एक है। यह सूक्त और मंत्रविभाग देखनेसे पता लगता है कि यह अथर्ववेदका प्रथम भाग प्रधानतया चार मंत्रवाले सूक्तोंका ही है। इसका प्रथम सूक्त यह है इसमें जुद्धि बहानेका विषय कहा है जिसका नाम " मेघा-जनन" है-





मेधाजनन ।

(१) बुद्धिका संवर्धन करना ।

(ऋषिः—अथर्वा । देवता—वाचस्पतिः ।)

ये त्रिपुसाः परियन्ति विश्वा रूपाणि विभ्रतः । वाचस्पतिर्विला तेषां तन्वोऽग्रिच दंघातु मे ॥१॥

अन्वयः— विश्वा रूपाणि विभ्रतः, ये त्रि-ससाः परियन्ति, तेषां तन्वः बला वाचस्पतिः अग्र मे दंघातु ॥१॥

अर्थ— सब रूपोंको धारण करके, जो तीन-गुणा-सात पदार्थ सर्वत्र व्यापते हैं, उनके चारोंके बल वाणीका स्वामी आज मुझे देवें ॥१॥

पदार्थ दो प्रकारके हैं एक रूपबाले और दूसरे रूपरहित । आत्मा परमात्मा रूपरहित हैं और संपूर्ण जगत् रूपबाले पदार्थोंसे भरा है । पदार्थोंके विविध रूप ओ मनुष्य पशु पक्षी इल वनहरति पाप्राण आदि मे दिखाई देते हैं—कौन धारण करता है, ये रूप कैसे बनते हैं ? इस संकाके उत्तरमें वेद कह रहा है, कि जगत्के मूलमें जो सात पदार्थ-पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, तन्मात्र और अहंकार—हैं ये ही संपूर्ण जगत् मे दिखाई देनेवाले विविध रूप धारण करते हैं । ये सात पदार्थ तीन अवस्थाओंमें गुजरते हुए जगत्के रूप और आकार धारण करते हैं । (१) सत्त्व अर्थात् समावस्था, (२) रज अर्थात् गतिरूप अवस्था और (३) तम अर्थात् गतिहीन अवस्था, इन तीन अवस्थाओंमें पूर्वोक्त सात पदार्थ गुजरनेसे कुल इतीस पदार्थ बनते हैं, जो संपूर्ण सृष्टिका रूप धारण करते हैं ।

सृष्टिके हरएक आकारधारी पदार्थमें बड़ी शक्ति है । हमारा शरीर भी सृष्टिके अंतर्गत होनेसे एक रूपवत पदार्थ है और इसमें भी पूर्वोक्त " तीन गुणा सात " पदार्थ हैं । और इत्या कारण शरीरके अंदरके इन इतीस तत्त्वोंध संबंध बाह्य जगत् के पूर्वोक्त इतीस तत्त्वोंके साथ है । शरीरका स्वास्थ्य या रोगीपन इन संबंधके ठीक होने और न होनेपर अवलंबित है ।

शरीरान्तर्गत इन तत्त्वोंको बाह्य जगत्के तत्त्वोंके साथ योग्य संबंध रखने द्वारा अपना आरोग्य स्थिर करके अपना बल अंदरले बढानेकी सूचना इस मंत्रद्वारा यहां मिलती है । जैसे बाह्य शुद्ध वायुसे अपना प्राणका बल, बाय मूर्ध-प्रक्षालसे

अपने नेत्र का बल, इसी प्रकार अन्यान्य बल बढा कर अपनी शक्ति पराछायातक बढानी चाहिये । यह अर्थवेदका मुख्य विषय है ।

जगत्का तरवज्ञान जानकर, जगत् का अपने साथ संबंध अनुभव करके, अपना बल बढानेकी विद्याका अध्ययन करके, उसका अनुष्ठान करना चाहिये । यह उन्नतिशा मूल मंत्र इस प्रथम मंत्रमें बताया है । यहां प्रथम होता है, कि यह विद्या कौन दे सकता है ? उत्तरमें मंत्रने बताया है कि " वाचस्पति " ही उक्त ज्ञान देनेमें समर्थ है ।

" वाचस्पति " कौन है ? वाक्, वाच्, वागी, वक्त्व, उपदेश, व्याख्यान ये समानार्थक शब्द हैं । वक्त्व करनेवाला अर्थात् उक्त उपदेशक गुरु ही यहां वाचस्पतिसे अभिप्रेत है । इस अर्थको लेनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार हुआ—

" मूल सात तत्त्व तीन अवस्थाओंमें गुजर कर सब जगत्के संपूर्ण पदार्थोंके रूप बनाते हुए सर्वत्र फैले हैं । इनके बलोंको अपने अंदर धारण करनेकी विद्या व्याख्याता गुरु आजही मुझे पढावे । "

अर्थवेदकी पिपुगाद-संदि"ाका पाठ ऐसा है—
" ये त्रिपुसाः परियन्ति... । ...तेषां तन्वमम्याद्घातु मे ॥ "

इसका अर्थ निम्न प्रकार होता है— " जो मूल सात तत्त्व तीन अवस्थाओंमें गुजरकर सब जगत्के संपूर्ण पदार्थोंके रूप बनाते हुए सर्वत्र (पर्यन्ति) घूमते हैं, व्याख्याता गुरु ही आज उनके बलोंको मेरे (तन्व) शरीरमें (अम्याद्घातु) धारण करावे, अर्थात् धारण करनेके उपाय बतावे । "

पुनरोहिं वाचस्पते देवेन मनसा सह । वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयिं श्रुतम् ॥२॥
इहैवाभि वि तनुमे आत्नी इव ज्यया । वाचस्पतिनि यच्छतु मय्येवास्तु मयिं श्रुतम् ॥३॥

अन्वयः— हे वाचस्पते! देवेन मनसा सह पुनः पुनः पुनः । हे वसोष्पते ! निरमय । श्रुतं मयि मयि एव अस्तु ॥ २ ॥

उपया उभे आनी इव, इह एव उभौ अभि वि तनु । वाचस्पतिः नि यच्छतु । श्रुतं मयि मयि एव अस्तु ॥ ३ ॥

अर्थ— हे आनीके स्वामी ! दिव्य मनके साथ सन्मुख जाओ । हे वसुओंके स्वामी ! मुझे आनंदित करो । पता हुआ ज्ञान मुझमें स्थिर रहे ॥ २ ॥

कोरीसे धनुष्यकी दोनों धोटीयोंकी तरह, यहांही (दोनोंको) तनाओ । वाच्योका पति निरमय बने । पता हुआ ज्ञान मेरेमें स्थिर रहे ।

इस मंत्रमें प्रारंभमें ॥१॥ पुनः” शब्द है। इसका अर्थ “बारंबार, पुनः पुनः अथवा संमुख” है। शिष्य विद्याकी एक ओर और गुरु दूसरी ओर होता है, इसलिये गुरु शिष्यके सन्मुख और शिष्य गुरुके सन्मुख होते हैं। इन दोनोंकी इधी प्रकार रचना चाहिये। यदि ये परस्पर सन्मुख न रहे तो पढ़ाई असंभव है।

गुरु (देवेन मनसा) देवां भावनासे युक्त मनसेही शिष्यके साथ वसोष्पते करे। मन दो प्रकारके हैं—एक देव मन, और दूसरा राक्षस मन। राक्षस मन जगत् में सगड़े उत्पन्न करता है और देव मन जगत्में शांति रखता है। गुरु-देवमनसे ही शिष्यको पढ़ाये।

गुरु शिष्यको (नि रमय) रममाण करे, अर्थात् ऐसा पढ़ाये कि जिससे शिष्य आनंदके साथ पढ़ता जाय। इस शब्दके द्वारा पढ़ाईकी “रमण पद्धति” वेदने प्रकट की है। इससे निम्न “रोदन पद्धति” है जिसमें रोते हुए शिष्य पढ़ाये जाते हैं।

गुरुके दो गुण हव मंत्रने बतलये हैं। एक गुण (वाचरगतिः) अर्थात् भाषाका प्रयोग करनेमें समर्थ, शिष्यको विद्या समझा देनेमें निपुण, उत्तम वक्ता। तथा दूसरा गुण (वसोष्पतिः) धनुष्योका पति अर्थात् अग्न्यादि पदार्थोंका प्रयोग करनेमें निपुण शब्दों द्वारा (Theoretical) ज्ञान जो कहेगा, उसको नक्ख-आदारा (Practical) साक्षात् प्रत्यक्ष कथ देनेमें समर्थ गुरु होना चाहिये।

शिष्य भी ऐसा हो कि जो (मयि श्रुते अस्तु) अपने-ज्ञान स्थिर रहनेसे इच्छा करनेवाला हो। अर्थात् दिव्यसे पढ़नेवाला और सधा (विद्यार्थी-विद्यार्थी) विद्या प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला हो।

इन अर्थोंको ध्यानमें धरनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार होता है—

“हे उत्तम उपदेश करनेवाले गुरु! देव भावने युक्त मनसे ही शिष्यके सन्मुख जा। हे अग्न्यादि धनुष्यके प्रयोग कर्ता गुरु! तू शिष्यको रमाता हुआ उभे विद्या पढ़ाओ। शिष्य भी कहे कि पता हुआ ज्ञान अपने अंदर स्थिर रहे ॥”

अथर्ववेद विप्लवाद्-संहितामें मंत्रका प्रारंभ “उव देह” शब्दसे होता है और “वसोष्पते”के स्थानपर “असोष्पते” पठ है। अतएव (असोः पति) का अर्थ प्रायोजक पति गुरु। “प्रायोजक पति” अर्थात् योगादि साधनद्वारा प्राणीको स्थापन रखनेवाला उत्तम योगी गुरु ही। वह शब्द भी गुरुका एक उत्तम उदाहरण बता रहा है।

धनुष्यकी दोनों धोटीयों कोरीसे तनी रहती हैं इस तनी हुई अवस्थामें ही धनुष्य विजयका साधन हो सकता है। जिस समय दोनों कोटीयोंसे कोरी हट जाती है उस समय वह धनुष्य धनुष्याघात विजय प्राप्त करनेमें अनर्ह्य हो जाता है। इधी प्रकार जाति या समाजरूपी धनुष्यकी दो कोटीयों गुरु और शिष्य हैं, इन दोनोंको विद्यारूपी कोरी बांधी गदी है और इस कोरीसे यह धनुष्य तना हुआ अर्थात् अपने कार्यमें विद्ध रहता है। समाजको यह धनुष्य सदा विद्ध रखना चाहिये। इधीकी सिद्धतासे जाति, समाज या राष्ट्र जीवित, जाग्रत और उद्यत रहता है। जिस समय विद्याकी कोरी गुरु शिष्यरूपी धनुष्यसे हट जाती है उस समय अज्ञान-दुःख सुरू होनेके कारण जाति पतित हो जाती है।

(वाचस्पतिः) उत्तम वक्ता गुरुही स्वयं (नि यच्छतु) निरमय बने और शिष्योंको निरमयके अनुसार पढ़ाये। गुरु-उक्त आचार्यकुंड अथवा विद्यालयदि संस्कार उत्तम निरमयके अनुसार चलानी आंव। वहाँ स्वेच्छा विहार न हो।

शिष्य प्रयत्न करे और पता हुआ ज्ञान अपने अंदर सरा

उपहृतो वाचस्पतिरुपास्मान्वाचस्पतिर्ह्वयताम् । सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिपि ॥ ४ ॥

अन्वयः— वाचस्पतिः उपहृतः । वाचस्पतिः अस्मान् उपह्वयताम् । श्रुतेन सङ्गमेमहि । श्रुतेन मा वि राधिपि । ॥ ४ ॥

अर्थ— बाणीका स्वामी बुलाया गया । वह बाणीका स्वामी हम सबको बुलावे । ज्ञानसे हम सब युक्त हों । हम ज्ञानके साथ कमी विरोध न करें ॥ ४ ॥

स्थिर रखनेके लिये अति दक्ष रहें । पहिले पडा हुआ ज्ञान स्थिर रहा तो ही आगे अधिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । यह भाव ध्यानमें धरनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार होता है—

“ जिस प्रकार डोरिसे धनुष्यकी दोनों कोटियां विजयके लिये तनी होती हैं, उसी प्रकार गुरु और शिष्य ये समानकी दो कोटियां विद्यामें सज रखिये । आचार्य स्वयं नियमानुसार चले और शिष्योंकी नियमानुसार चलाने । शिष्य अध्ययन किया हुआ ज्ञान दृढ़ करके आगे बढ़े ॥”

“ उपहृत ” का अर्थ “ बुलाया, पुकारा, आह्वान किया अथवा पूजा गया ” है । उत्तम व्याख्याता गुरुको हमने बुलाया और उसे प्रश्न पूछे गये अर्थात् विद्याका व्याख्यान करनेके लिये उसे आह्वान किया गया है । गुरु भी शिष्यके प्रश्न सुनकर उनके प्रश्नोंका उचित उत्तर देकर उनका समाधान करे । अर्थात् गुरु कोई बात शिष्यसे छिपाकर न रखे । इस प्रकार दोनोंके परस्पर प्रेमसे विद्याकी शृद्धि होती रहे ।

हरएक अपने मनमें यह इच्छा रखे कि “ हम सब ज्ञानसे युक्त हों, ज्ञानकी शृद्धि करते रहें और कमी ज्ञानकी प्रगतिमें बाधा न बालें, ज्ञानका विरोध न करें और शिष्या ज्ञानका प्रचार न करें ।”

इस स्पष्टीकरणका विचार करनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार प्रतीत होता है—

“ हम सब व्याख्याता गुरुसे प्रार्थना करते हैं । यह हमें योग्य उत्तर देवे । इस [प्रश्नोत्तरकी रीतिसे हम सब] ज्ञानसे युक्त होते रहें और कमी हमसे ज्ञानकी उन्नतिमें बाधा उत्पन्न न हो ।”

मनन ।

इस अथर्ववेदके प्रथम सूक्तके ये-चार मंत्र शिष्यके मुखमें रखे हैं, इसका आदिधेनुपसे तात्पर्य यह है—

“ जो इकीस [पदार्थ जगत्की वस्तुओंके] आकार धारण करते हुए [सर्वत्र] फैले हैं, उनकी शक्तियोंमें मेरे [शरीरके

अंदर स्थिर करनेकी विद्या] गुरु हमें सिखावे ॥ १ ॥ हे गुरु ! तू मनमें शुभ संकल्प धारण करके हमारे सम्मुख आ, हमें रमावे [हुए पदा] प्राप्त किया हुआ ज्ञान हममें स्थिर रहे ॥ २ ॥ डोरिसे दोनों धनुष्यकोटियोंके तनावके समान यहां तू [विद्यासे हम दोनोंको] तना [कर बांध दे] गुरु नियमसे चले और हमें चलावे । ज्ञान हममें स्थिर रहे ॥ ३ ॥ हम गुरुसे प्रश्न पूछते हैं, वह हमें उत्तर देवे । हम सब ज्ञानी बनें । कोई भी ज्ञानका विरोध न करे ॥ ४ ॥

इन मंत्रोंका जितना मनन होगा, इनपर जितना विचार होगा, उसना ज्ञान बढ़ानेका उपाय— (मेधाजनन)— हो सकता है । आधा है कि पाठक इसका योग्य विचार करें और अपनी परिस्थितिमें अपने ज्ञानकी शृद्धि करनेके लयाय सीधें । इसमें निम्नलिखित पांच बातोंका अवश्य विचार हो—

१ विद्या— जिनसे जगत् बनता है उन मूलतत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करना और उनका अपना उन्नतिसे संबंध देखना तथा उसका अनुष्ठान करनेका विधि जानना, यही सीखनेयोग्य विद्या है ।

२ गुरु— उक्त विद्या सिखानेवाला गुरु (वाचस्पतिः) बाणीका उत्तम प्रयोग करनेमें समर्थ, उत्तम रीतिसे विद्या पढ़ानेवाला हो, (वसोप्यतिः) अग्न्यादि मूलतत्त्वोंका प्रयोग यथावत् करनेवाला हो, (अघोप्यतिः) प्राणविद्याका ज्ञाता हो । “ पति” शब्द यहां “ प्रभुत्व ” (mastership) का भाव बताता है ।

३ पढानेकी रीति— गुरु अपने (देवेन मनसा) मनके शुभ संकल्पके साथ पढावे । (निरमय) रमणपदातिसे पढाने, शिष्योंका आनंद बढ़ाता हुआ पढावे । स्वयं (नि यच्छत्रु) मुनियोगसे चले और शिष्योंका सुनिर्वास चलावे । शिष्योंके प्रश्नोंका (उपह्वयता) आदरपूर्वक उत्तर देकर उनका समाधान करे ।

४ शिष्य— शिष्य सदा प्रयत्नपूर्वक इच्छा करे कि (ध्रुतेन सं गमेमहि) हम ज्ञानी बनें, (श्रुतं मयि अस्तु) प्राप्त ज्ञानमें मेरे अंदर स्थिर रहे । तथा (ध्रुतेन मा वि राधिपि) ज्ञानका विरोध कमी न करें ।

विजय-सूक्त ।

(२)

यद् "अपराजित गग" का प्रथम सूक्त है जिसका ऋषि "अथर्वा" और देवता "परम्य" है ।

विद्वा शरस्य पितरं पुत्रंयं भूरिधायसम् । विद्वा प्वंस्य मातरं पृथिवीं भूरिवपसम् ॥२॥

ज्यांकि परिं गो नमाश्मानं तन्त्रं कृषि । वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषास्या कृषि ॥२॥

वृक्षं यद्वावः परिपस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्युभम् । शरुमस्मद्यावप दिद्यामिन्द्र ॥३॥

यथा द्यां चं पृथिवीं चान्तास्तिष्ठति तेजसम् । एवा रोगं चाम्नावं चान्तास्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥४॥

अर्थ— (शरस्य) शरका, बागका पिता (भूरि-धायसं परम्यं) बहुत प्रकारसे धारण पोषण करनेवाला परम्य है यह (विद्य) इम जानने है । तथा (अस्य) इमकी माता (भूरि-वपसं) बहुत प्रकारकी कुशलताओंसे युक्त पृथिवी है, यह हमें (सुविद्य) उत्तम प्रकारसे पता है ॥ १ ॥ हे (ज्यांके) माता ! (नः) हम सब पुत्रोंको (परि नम) परिणत कर अर्थात् हमारे (तन्त्रं) शरीरको (अदमानं) परस्पर जैसा सुरत (कृषि) कर (वीडुः) बलवान बनकर (अ-नागीः) अदानके भावोंको तथा (द्वेषांसि) द्वेषोंको अर्थात् सब पशुओंको (वरीयः) पूर्ण रीतिसे (अप कृषि) दूर कर ॥ २ ॥ (यथा) जिस प्रकार (वृक्षं) वृक्षके साथ (परिपस्वजानाः) लिपटी हुई या बंधी हुई (गायः) गीएँ अपने (अमुं शरं) तेजस्वी पुत्र शरको (अनुस्फुरं) फुल्लिके साथ (अर्चन्ति) आहत हैं, उसी प्रकार हे इन्द्र ! (अस्मत्) हमसे (द्विषुं शरुं) तेज-पुत्र शरको (यावप) दूर बढ़ा ॥ ३ ॥ जिस प्रकार (द्या) सुलोक और पृथ्वीके (अन्तः) बीचमें (तेजसं) तेज (तिष्ठति) होता है, (एव) इसी प्रकार यद् (सुञ्जः) मुंज (रोगं चाम्नावं च) रोग और स्नावके (अन्तः) बीचमें (इत् तिष्ठतु) निश्चयसे रहे ॥ ४ ॥

भावार्थ— धारण-पोषण उत्तम प्रकारसे करनेवाला पिता परम्य है, कुशलतासे अनेक कर्म करनेवाली माता पृथ्वी है, इन दोनोंसे शर-सरकंडा-पुत्र उत्पन्न होता है ॥ १ ॥ माता पुत्रके शरीरपर ऐसा परिणाम करावे कि जिससे वह बलवान बनकर पशुओंकी पूर्ण रीतिसे दूर करनेमें समर्थ हो सके ॥ २ ॥ जिस प्रकार वृक्षके साथ बंधी हुई गीएँ अपने बछड़े को वेगसे प्राप्त करना चाहती हैं, उसी प्रकार हे ईश्वर ! तेज शर हमने आगे बढ़े ॥ ३ ॥ जिस प्रकार सुलोक और पृथ्वीके बीचमें प्रणय होता है, उसी प्रकार रोग और स्नाव-शरके बीचमें शर ठहरे ॥ ४ ॥

५ गुरु तिरय— राज पशुपक दोनों नोक जिस प्रकार लोरीसे लने रहते हैं, उस प्रकार विद्यारूपी लोरीसे समाजके गुरु-शिष्य-रूपी दोनों नोक एक दूसरेसे पूर्णतया सुसंबंध रहें । कभी उनमें बलियन न आयावे ।

यह सब सूक्त शिष्यके सुखदारा उच्चारित होनेके अर्थान है, इससे अनुमान होता है कि गुरुको लाने, रखने आदिके प्रबंधादि व्यवस्था उत्तरदातृत्व शिष्यों या शिष्योंके संरक्षकों-पर ही पूर्णतया है ।

अनुसन्धान

इत प्रथम सूक्तमें "मिधाजनन" अर्थात् बुद्धिका संवर्धन

करनेके मूलभूत नियम बताये हैं । गुरु, शिष्य तथा विदालय अदिक प्रबंध किन्तु रीतिसे करना चाहिये, गुरु किन्तु प्रकार पढ़ावे, शिष्य किस ढंगसे पढ़े और दोनों मिलकर तादृकी उत्तमि किन्तु रीतिसे करें इसका विचार किया गया ।

इसके पश्चात् विद्याकी पढ़ाई शुरू होती है, जिसमें अपरा-जित गणका सूक्त "विद्या शरस्य पितरं" यह है । अथर्व-वेदमें यह द्वितीय सूक्त है । तृतीय सूक्त भी इसी वाक्यसे प्रारम्भ होता है । इन दोनों सूक्तोंका विचार अब करेंगे ।—

यह भावार्थ भी परिपूर्ण नहीं क्योंकि इन मंत्रोंके दूर एक आगे गच्छेता संबन्ध देखकर जो भाव व्यक्त होता है, वह जानकर ही मंत्रोंका सच्चा भावार्थ जानना चाहिये । वह भाव,

देखने के लिये आगेका स्पर्शकरण देखिये—

(१) वैयक्तिक विजय ।

इस सूक्तमें पहिला वैयक्तिक विजय प्राप्त करनेके उपदेश निम्न प्रकार बताये है—

- १ उत्तम मातापितासे जन्म प्राप्त हो, (मंत्र १)
- २ शरीर बलवान बनाया जावे, (मंत्र २)
- ३ रोगादि शत्रुओंको दूर रखा जावे, (मंत्र २)
- ४ शरीरमें कुर्ती खाई जावे, (मंत्र ३)
- ५ जगत्में अपना तेज फैलानेका यत्न किया जावे, (मंत्र ४)
- ६ शत्रुओं से रोगोंको दूर किया जावे, (मंत्र ४)

पाठक विचारकी दृष्टिमें इन मंत्रोंका विचार करेंगे तो उनको उक्त छः भाव वैयक्तिक उन्नतिके साधन पूर्वोक्त चारों मंत्रोंके अन्दर गुप्तरूपसे दिखाई दिये । इनका विशेष विचार होनेके लिये यहां मंत्रोंके शब्दार्थ और स्पर्शकरण दिये जाते हैं—

(२) पिताके गुण-धर्म-कर्म ।

पूर्वोक्त मंत्रोंमें पित्तके गुणधर्म बतायेवाले ये शब्द आये हैं—“ पिता, पर्जन्य, भूरिधायस्, वृक्ष, योः । ” इनके अर्थोंका बोध होनेसे पिताके गुण-धर्म-कर्मोंका बोध हो सकता है; इसलिये इनका आशय देखिये—

- १ पिता— (माता) रक्षक, संभालनेवाला ।
- २ पर्जन्यः— (पूर्ति+जन्म्यः) पूर्ति करनेवाला, पूर्णता करनेवाला । न्यूनताको दूर करनेवाला ।
- ३ भूरिधायस्— (भूरि) बहुत प्रकारसे (धायस्) धारण पोषण करनेवाला, दाता, उदारचरित ।
- ४ वृक्षः— आधार, स्वयं धूप सहकर दूसरोंको छाया देनेवाला ।
- ५ योः— प्रकाश देनेवाला, अंधकारका नाश करनेवाला ।

मुख्यतः ये पांच शब्द हैं जो उक्त मंत्रोंमें पिताके गुणधर्म कर्मोंका प्रकाश कर रहे हैं । इनका आशय यह है—“ पिता ऐसा हो कि जो अपने पुत्रादिकोंका उत्तम पालन करे उनके अंदर जो जो न्यूनताएँ हों उनको पूर्णता करे अर्थात् अपनी संतानमें पूर्ण उच्च गुणोंसे युक्त बनानेमें अपनी पराकाष्ठा करे, उनका हर प्रकारसे पोषण करे और उनको हृष्ट पुष्ट तथा बलिष्ठ बनावे, वह स्वयं कष्ट मदन करके भी अपनी संतान की उन्नति करे, तथा अपने पुत्रों और लक्षकियोंको ज्ञान देकर उनको उत्तम नागरिक बनावे । ”

(३) माताके गुण-धर्म-कर्म ।

“ माता, प्रथिवी, भूरिवर्षम् ज्याका, गौ ” ये पांच शब्द पूर्वोक्त मंत्रोंमें माताके गुणधर्मकर्मोंकी प्रकट कर रहे हैं । इनका अर्थ देखिये—

- १ माता— बालकोंका हित करनेवाली ।
- २ प्रथिवी— क्षमाशाल, सहनशाल, पुत्रोंकी उन्नतिके लिये आनन्दक वृष्ट मदन करनेवाली ।
- ३ भूरिवर्षम्— (भूरि) बहुत (वर्षम्) कुशलतासे कर्म करनेमें समर्थ, कर्ममें अत्यंत कुशल, सदा कर्म करनेमें दक्ष, परिचारकी उन्नतिके लिये उत्तम कर्म करनेवाली ।
- ४ ज्या, ज्याका— (ज्या—जया) जयका धाधन करनेवाली, माता, प्रथिवी, रस्मा, बलशालिनी ।
- ५ गौः— प्रगतिशाल, दुग्धादिद्वारा पुत्रोंकी पुष्टि करनेवाली । किरण, स्वर्ग, रत्न, वाणी, सरस्वती, माता, जल, नेत्र, आकाश सूर्य आदिके शुभगुणोंसे युक्त ।

माताके गुणधर्म इन शब्दों द्वारा व्यक्त हो रहे हैं । अर्थात्—“ बालबच्चोंका हित करनेवाली क्षमाशाल, पुत्रोंकी उन्नतिके लिये करनेयोग्य कर्मोंमें सदा दक्ष रहनेवाली, बहुतही कुशलतासे अपने कुटुंबकी उन्नति करनेमें समर्थ, बलशालिनी, सौके समान दुग्धादिद्वारा बालकोंकी पुष्टि करनेवाली, किरणोंके समान प्रकाश करनेवाली, स्वर्गके समान मुखदायिनी, जलके समान धरकी शोभा बढ़ानेवाली, शुभ भाषण करनेमें चतुर, विदुषी, जलके समान ज्ञाति बढ़ानेवाली, नेत्रके समान मार्ग दर्शनेवाली, आकाशके समान सबको आश्रय देनेवाली, सूर्यके समान अक्षान्धकार दूर करनेवाली माता होनी चाहिये । ”

पिताके गुणधर्मकर्म पाहेले बताये, और यहां माताके गुण धर्म बताये हैं । ये आदर्श माता पिता हैं, इनसे जो पुत्र पैदा होगा और पाला तथा बढाया जायगा, वह भी सच्चा वीर पुत्रही होगा तथा पुत्री भी उसी प्रकार वीरा बनेगी इसमें क्या संदेह है ?

(४) पुत्रके गुण-धर्म-कर्म ।

पूर्वोक्त मंत्रोंमें पुत्रके गुणधर्मकर्म बतायेवाले ये शब्द हैं—“ शरः, अस्मा-तनुः, वीडुः, श्मशुः, चरुः, दिशुः, तेजसं, सुरुः ” इनके अर्थ ये हैं—

- १ शरः— (शृण्वति) जो शत्रुका नाश कर सकता है ।
- २ अस्मा-तनुः— परधरके समान मुदह शरीरवाला ।
- ३ वीडुः— नलिष्ठ, शूर ।

४ ऋतुः—सुदिमान्, वृशल, क्षारीगर, तेजस्वी ।

५ शरः—शत्रुका माश करनेवाला ।

६ दिपुः—तेजस्वी ।

७ तेजनः—प्रवाहमान ।

८ मुञ्जः—(मुञ्जति मार्गपति) शुद्धता और पावित्रता करनेवाला ।

पुत्र ऐसा हो कि जो “शत्रुका माश करनेमें समर्थ हो, सुख अंगवाला हो, शर, सुदिमान्, वृशल, क्षारीगर, तेजस्वी, यशस्वी और पवित्र आचारवाला हो।” माता पिताको उचित है, कि वे ऐसा यज्ञ करें कि पुत्रमें ये गुणधर्म आरंभ कर्म बड़ें और इन गुणोंके द्वारा सुलका यज्ञ केंसे ।

यह बात स्पष्ट ही है कि पूर्वोक्त गुणधर्म कर्मोंसे पुत्रको मातापिता होंगे तो उनके पुत्रों और पुत्रियोंमें ये गुणधर्म आ सकते हैं ।

(५) एक अद्भुत अलंकार



इस सूक्तमें बाण, धनुष्य और बोगीके अलंकारसे एक महारवपूर्ण बातका प्रकाश किया है। धनुष्यका सख्त भाग जिसपर बोगी चढ़ाई जाती है वह पुरुषरूप समक्षिण, बोगी मातारूप है और पुत्र बाणरूप है। पिताका बल और माताका प्रेरणा इनसे युक्त होकर पुत्र संसारमें फेंका जाता है। वह संसारमें जाकर अपने शत्रुओंका नाश करके यशका भागी होता है। इस अलंकारका विचार पाठक करेंगे तो उनके

बड़ाही बोध प्राप्त हो सकता है। पुत्रकी उन्नतिमें माता पिताका कार्य कितना होता है इसकी ठीक कल्पना इस अलंकारसे पाठकोंके मनमें आ सकती है।

बोगीके बिना केवल धनु जैसा शत्रुनाश करनेमें असमर्थ है उसी प्रकार बोगीके बिना पुरुष असमर्थ है। तथा जिस प्रकार धनुके बिना बोगी कार्य करनेमें असमर्थ है उसी रीतिसे पुरुषके बिना स्त्री असमर्थ है। माता पिता की योग्य प्रेरणा और योग्य शिक्षाद्वारा सुशिक्षित बना पुत्रही जगत्में यशस्वी होता है। यह अलंकार एहस्थियोंको बड़ाही बोधप्रद ही सकता है।

पिताके सूचक “पर्जन्य, वृक्ष” आदि शब्द तथा माताके सूचक “पृथिवी” आदि शब्द उनका ऋतुगामित्व होकर प्रकाशनी होनेकी सूचना कर रहे हैं। [इस विषयमें स्वाध्याय मंडलद्वारा प्रकाशित “ब्रह्मचर्य” पुस्तकके अंदर अथर्ववेद्रीय ब्रह्मचर्य सूक्तको व्याख्यामें पृथ्वी, पर्जन्य और वृक्षोंके ब्रह्मचर्यका प्रकरण अवश्य देखिये]

(६) कुटुम्बका विजय ।

व्यक्तिकी उन्नतिके विषयमें पहिले बतायाही है कि वैयक्तिक विजय की सूचनाएं इन सूक्तमें किस रूपमें हैं। कुटुम्बके या परिवारके विजयका संबंध पूर्वोक्त अलंकार तथा स्पष्टीकरणके देखनेसे स्पष्ट हो सकता है। कुटुम्बका विजय माता पिताके उत्तम कर्तव्य पालन करने और सुभजा निर्माण करनेसे ही प्राप्त होता है।

(मंत्र १) जैसा “अनेक प्रकारसे पौषण करनेवाला पर्जन्य पिता ऋतुगामी होकर वर्षा ऋतुमें अपने जलरूपी बौधका धिवन उत्तम उपजाऊ भूमिमें कटा है और एरूपी विजयी संतानकी उत्पत्ति करता है,” तद्वत् माता पिता ऋतुगामी होकर वीर पुत्र उत्पन्न करें।

(मंत्र २) “हे जयका साधन करनेवाली माता ! अपने पुत्रोंका शरीर पत्थर जैसा सुदृढ बना, जिससे पुत्र बलवान बनकर अपने शत्रुओंको दूर कर सके।”

(मंत्र ३) — “जिस प्रकार वृक्षके साथ बंधी हुई पीठ अपने तेज बढेकी चाहती है” [उसी प्रकार पिताके साथ रहती हुई माता भी अपने बिये तेजस्वी पुत्र उत्पन्न करनेकी ही इच्छा करे] अथवा— “(वृक्ष) धनुष्यके साथ रहनेवाली बोगी तेजस्वी (शर) बाण ही वेगसे छोड़ती है।” [उसी प्रकार पतिकी उपासना करनेवाली स्त्री वीर पुत्र उत्पन्न होनेकी ही अभिलाषा करे] “ हे (इन्द्र) परमा-

यम् । इमसे तेजस्वी (शरः) बाणके समान तेजस्वी पुत्र चले अर्थात् उत्पन्न हो । ” [मातापिता परमात्माके प्रार्थना ऐसी करें कि हे ईश्वर ! हमारा ऐसा पुत्र हो कि जो दूर दूर जाकर जगत्में विजय प्राप्त करे ।]

(मंत्र ४) — “ जिस प्रकार [पिता] सुलोक और [माता] पृथिवीके मध्यमें विद्युत् आदि तेजस्वी पदार्थ [पुत्ररूपसे] रहते हैं, ” [उसी प्रकार माता पिता के मध्यमें तेजस्वी शंकर बालक बनकरता रहे ।] “ जैसा मुझ शर रोग और स्त्रावके धावके बीचमें रहता है ” अर्थात् उनको दूर करता है उसी प्रकार [यह पवित्रता करनेवाला पुत्र रोग धावके मध्यमें रहता हुआ भी स्वयं अपना बचाव करे और कुलका भी उद्धार करे]

यह भाव पहिलेकी अपेक्षा अधिक विवृत है और इसमें स्पष्टीकरणके लिये पूर्वापर संबंध रखनेवाले अधिक शक्य जोड़ दिये हैं, जिससे पाठकोंके पता लग जायगा, कि यह सूक्त कुटुंबके विजयका उपदेश किस ढंगसे दे रहा है । जातिके या राष्ट्रके विजयकी सुनियार इस प्रकार कुटुंबकी स्थायित्वपर तथा सुप्रभा निर्माणपर ही अवलंबित है । जो लोग राष्ट्रकी उन्नति चाहते हैं, वे अपनी उन्नतिकी सुनियार इस प्रकार कुटुंबमें रखें । आदर्श कुटुंब-व्यवस्था ही सब विजयका मुख्य साधन है ।

(७) पूर्वापर-सम्बन्ध

पहिले सूक्तमें विद्या पदानेका उपदेश दिया है । इस द्वितीय सूक्तसे पढ़ाईका प्रारंभ हो रहा है । विद्याका प्रारंभ बिल्कुल साधारण बातसे ही किया गया है । घास की उत्पत्तिकी विषय हरएक स्थानके मनुष्य जानते हैं । “ मेघसे पानी गिरता है और पृथ्वीसे घास उगता है इसलिये घासका पिता मेघ और माता भूमि है । ” इतना ही विषय इस सूक्तके प्रारंभमें बताया है । इतनी साधारण घटनाका उपदेश करते हुए “ पिता-माता-पुत्र ” रूपी कुटुंबकी उन्नतिकी शिक्षा किस ढंगसे वेदने बतायी है यह पाठक यहाँ देख चुके हैं । घासे अंदर मुझ या शर एक जातिका घास है । यह शर-कंडा स्वयं घट्टका बंध करनेमें समर्थ नहीं होता । क्योंकि कोमल रहता है । परंतु जब उसके साथ कठिन लोहेका संयोग किया जाता है और पीछे पर लगाने जाते हैं, तब वही कोमल शरकंडा धनुष्यपर चढ़कर लौकीकी गति प्राप्त करके घट्टका नाश करनेमें समर्थ होता है । इसी प्रकार कोमल बालक युव दृढ़की कठिन तपस्या करता हुआ ब्रह्मचर्य पालनरूपी कठिन

बन्धसे युक्त होकर उन्नतिके नियमोंके पालनसे अपना गतिकी एक मार्गमें रखता हुआ अपने, कुटुंबके, जातिके तथा राष्ट्रके मनुष्योंको मग्य देनेमें समर्थ होता है ।

पहिले सूक्तके तृतीय मंत्रमें धनुष्यकी उपमा देकर बताया है कि “ गुरु शिष्यरूपी धनुष्यकी दो कोठियों विद्यारूपी दोरीसे तनी हैं । ” प्रथम सूक्तमें यह अलंकार भिन्न उपदेश दे रहा है और इस सूक्तका धनुष्यका दृष्टांत भिन्न उपदेश दे रहा है । दृष्टांतमें एकदेशी बातको ही देखना होता है, इसलिये एक ही दृष्टांतसे भिन्न उपदेश देना कोई शोष नहीं है । प्रथम सूक्तके दृष्टांतमें भाँ जोड़िका स्थान विद्या माता अर्थात् सरस्वती देवीको दिया है उसमें मातृत्व का सादर्य है ।

अंगलमें सूक्तके साथ बंधी हुई गाय भी अपने बछड़ेका स्मरण करती रहती है, गायका बछड़ेके ऊपर का प्रेम सबसे बढ़िया प्रेम है । इस प्रकारका प्रेम अपने बालकके विषयमें माताके हृदयमें होना चाहिये । अपना बालक अति तेजस्वी हो, अति यशस्वी हो, यही भावना माता मनमें धारण करे और इस भावनाके साथ यदि माता अपने बालकको दूध पिलावेगी, तो उक्त गुण पुत्रमें निःसंदेह उत्तरेंगे । इस विषयमें तृतीय मंत्र मनन करके योग्य है ।

(८) कुटुंबका आदर्श ।

चतुर्थ मंत्रमें आदर्श कुटुंबका नमूना सन्मुख रखा है । सुलोक पिता, भूमि माता और इनके बीच का तेजस्वी गोलक इनका पुत्र है । अपने घरमें भी यही आदर्श होवे । आकाश और पृथ्वीमें जैसा सूर्य होता है उसी प्रकार पिता और माताके मध्यमें बालक बनकरता रहे । कितना उच्च आदर्श है ! हरएक शहस्वी इसका स्मरण रखे ।

(९) औषधिसंयोग ।

मुझ घास अपने रस आदिसे अनेक रोगों और अनेक स्त्रावोंको दूर करता है, क्योंकि मुझ शोषक, सूक्ष्मता तथा निर्मलता करनेवाला है । इसलिये स्पष्ट है कि यदि शोषकता और पवित्रता का गुण अपने अंदर बड़ाया जाय तो रोगादि दूर रह करते हैं । हरएकके लिये यह सूचना अपनाने योग्य है ।

मुझ या शर औषधिकी प्रयोग करके स्त्रावके रोग तथा, मूलाघात आदि रोग दूर होते हैं । इस विषयका सूक्त उपदेश इस सूक्तके अन्तमें है । वीच लोग इसका विचार करें ।

(१०) राष्ट्रका विजय ।

व्यक्ति, कुटुंब, जाति, देश तथा राष्ट्रके विजयपूर्ण अभ्युदयके नियमोंमें समानता है। पाठक इस बातको अच्छी प्रधार जानते ही हैं। वह किका कार्यक्षेत्र छोटा और राष्ट्रका विस्तृत है, छोटेपन और विस्तृतपन की बातको छोड़नेसे दोनों रक्षाओंमें नियमोंकी एकरूपताका अनुभव आ सकता है।

कुटुंबका ही विस्तृत रूप राष्ट्र है, ऐसा मान लें और पूर्व स्थानमें एक घर या एक परिवारके विषयमें जो उपदेश बताया है, वही विस्तृत रूपसे राष्ट्रमें देखते तो पाठकोंको राष्ट्रीय उन्नति का विषय पूर्वोक्त रीतिसे ही ज्ञात हो जायगा।

परमें पिता धासक है, राष्ट्रमें राजा धासक है; परमें माता प्रबंधकर्त्री है, राष्ट्रमें प्रजाधारा सुनी हुई राष्ट्रसभा प्रबंधकर्त्री है। परमें पुत्र वीर बनाया जाता है और राष्ट्रमें बालचमुओंमें वीरता बढाई जाती है। इत्यादि साम्य देखकर पाठक जान सकते हैं कि यह सूक्त राष्ट्रीय विजयका उपदेश किस ढंगसे देता है। पूर्वोक्त स्थानमें वर्णन किये हुए पिता, माता और

पुत्रके गुणधर्मक्रमें यदा राष्ट्रीय क्षेत्रमें अतिविस्तारसे देखनेसे इस क्षेत्रकी बात पाठकोंकी अतिस्पष्ट हो जायगी। ह्य भावको ध्यानमें धारण करनेसे इस सूक्तका राष्ट्रीय भाव निम्नलिखित प्रकार होगा—

“प्रजाका उत्तम धारणपोषण और पूर्णता करनेवाला राजा ही शूरका सचा पिता और उसकी माता बहुत कर्मोंकी प्रेरणा करनेवाली मातृभूमि ही है ॥ १ ॥ हे मातृभूमि ! हम सबके शरीरअति सुदृढ हों, जिससे हम सब उत्तम बलवान बनकर अपने दानुओंको भगा देंगे ॥ २ ॥ जिस प्रकार गौ अपने बछड़ेका दूध सदा चाहती है, उसी प्रकार हे ईश्वर ! मातृभूमिके प्रेमसे बड़े हुए वीर आंग बढें ॥ ३ ॥ जिस प्रकार आकाश और भूमिके बीचमें तैजोगोलक होते हैं उसी प्रकार राजा और प्रजाके मध्यमें वीर घमकते रहें। तथा वे पवित्रता करते हुए रोगादि भयसे दूर हों ॥ ४ ॥

साधारणतः यह आशय अतिस्पष्टपत्रे है। पाठक इस प्रकार विचार करें और वेदके आशयको समझनेका यत्न करें।

आरोग्य-सूक्त ।

(३)

पूरा सूक्तका अभ्यास करनेसे यह ज्ञान हुआ कि परमैव्य पिता है, भूमि माता है और इनके पुत्र वृक्षानस्यति आदि सब हैं। यहां शंका उत्पन्न होती है कि, क्या परमैव्यके समान सूर्य, चंद्र, वायु आदि भी वृक्षानस्यतिशैलोंके लिये वितृस्थानोय हैं वा नहीं, क्या इनके न होते हुए, केवल अकेला एक ही परमैव्य तृणादि की उत्पत्ति करनेमें समर्थ हो सकता है ? इसके उत्तरमें यह तृतीय सूक्त है—

[श्रापि—अथर्वा । देवता—(मंत्रोंमें उक्त अनेक) देवताएँ]

विद्या शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम् ।

तेना ते तन्वेदुं शं करं पृथिव्यां तं निपेचनं हिष्टं अस्तु बालिति ॥ १ ॥

विद्या शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम् ।

तेना ते तन्वेदुं शं करं पृथिव्यां तं निपेचनं बहिष्टं अस्तु बालिति ॥ २ ॥

विद्या शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम् ।

तेना ते तन्वेदुं शं करं पृथिव्यां तं निपेचनं बहिष्टं अस्तु बालिति ॥ ३ ॥

विद्या शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम् ।

तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां तं निषेचनं ब्रह्मिष्ठं अस्तु बालिति ॥ ४ ॥

विद्या शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम् ।

तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां तं निषेचनं ब्रह्मिष्ठं अस्तु बालिति ॥ ५ ॥

अर्थ— (विद्या) हमें पता है कि शरके पिता (दात-वृष्ण्यं) सैकड़ों बलोंसे युक्त परंज्य, मित्र, वरुण, चंद्र, सूर्य... (ये पांच) हैं। (तेन) इन पांचोंके निषेध (ते तन्वे) तैरे शरीरके लिये मैं (शं करं) आरोग्य करूं। (पृथिव्यां) पृथिवीके अन्दर (ते निषेचनम्) तैरा निषेचन होवे और सब दीप (ते) तैरे शरीरके (बाल इति) चौप्रदी (यदि: अस्तु) बाहर हो जावें ॥ १-५ ॥

भावार्थ— तुगादि मनुष्यपर्यंत सृष्टिकी माता भूमि है और पिता परंज्य, मित्र, वरुण, चंद्र, सूर्य ये पांच हैं। इनमें अर्धत बल है। उनके बलका योग्य उपयोग करनेसे मनुष्यके शरीरमें आरोग्य स्थिर रह सकता है, मनुष्यका जीवन दीर्घ हो सकता है और उसके शरीरसे सब दीप बाहर हो जाते हैं।

आरोग्यका साधन ।

पांच संज्ञाका मिश्रकर यह एकही मगमंत्र है और इसमें मनु-भ्यादि प्राणियों तथा वृक्षवनस्पतियोंके आरोग्यके मुख्य साधन-का दिये हैं। "घर" शब्द पास मानक होता हुआ भी सामान्य अर्थसे यहाँ उपलक्षण है और लृषसे लेकर मनुष्यतक सृष्टिका अग्रगण्य उसमें है। विशेष अर्थमें "घर" संज्ञक वनस्पतिरा गुणधर्म बताया जाता है यह बात भी स्पष्ट ही है।

॥ मंत्रोंमें "पांच" पिता कहे हैं। "पिता" शब्द पाता अर्थात् रक्षा, संरक्षण करनेवाला इस अर्थमें यहाँ प्रयुक्त है। तुगादिसे लेकर मानव-सृष्टिपर्यंत सब की सुरक्षा करनेका कार्य इनका ही है। ये पांचों सब सृष्टिकी रक्षा कर ही रहे हैं। देखिये-
१ परंज्य सृष्टिद्वारा जलसिंचन करके सबका रक्षण करता है।
२ मिश्र प्राणवायु है और इस वायुसे ही सब जीवित रहते हैं।
३ वरुण जलकी देवता है और वह जल सबका जीवन ही कहलाता है।

४ चंद्र औषधियोंका अधिराजा है और औषधियों काकर ही मनुष्य पशुपक्षी जीवित रहते हैं।

५ सूर्य सबका जीवनदाता प्रसिद्ध है। सूर्य न रहे तो सब जीवित नष्ट ही होगा।

इन पांचोंकी विविध शक्तियां हमारे जीवनके लिये सहायक हो रही हैं, इसलिये ये पांचों हमारे संरक्षक हैं और संरक्षक होनेसे ही हमारे पितृसम्पत्ति हैं। इनसे आरोग्य किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है? यह प्रश्न बग गहन और बड़ी अन्वेषणाओं अर्पण रखता है। परंतु संक्षेपसे यहाँ इस विषयकी सूचना दी

जाती है, पाठक विचार करें और काम उठावें—

परंज्यसे आरोग्य ।

परंज्यका शुद्ध जल जो खाती आदि मध्य मनुष्योंसे प्राप्त किया जा सकता है वह बड़ा आरोग्यप्रद है। दिनके पूरे लंघन-के समय यदि इसका पान किया जाय तो शरीरके संपूर्ण दौर दूर हो जाते हैं और पूर्ण नीरोगता प्राप्त हो सकती है। वृष्टि जलके स्नानसे शरीरके शुष्क सुखली आदिना निवारण होता है। अंतरिक्षमें शुद्ध प्राण विराजमान है वह वृष्टिके जलविद्युओंके साथ भूमिपर आता है। इसलिये वृष्टिजलका कान आरोग्य-वर्धक है।

मिश्र (प्राण) वायुसे आरोग्य ।

प्राणायामसे योगसाधनमें आरोग्यरक्षणका जो उपाय वर्णन किया है वह यशं अनुसंधेय है। दोनों नासिका-रन्ध्र-सुप्त-नेतिसे, अश्लिषासे अथवा जलकी नेतिसे स्वच्छ और मल-रहित रखनेसे प्राणवायु अंदर जाता और उत्तम पवित्रता स्थापित करता है। छुली वायुमें सब रूपसे उतार कर रहनेसे भी होने-वाला वायुस्नान बड़ा आरोग्यवर्धक है। जो सदा बहुरहित रहते हैं उनको रोग कम होते हैं इसका यही कारण है। कस्यदि बदनसे भी रोग नभे हैं इसका कारण इतना ही है कि वक्षोके कारण प्राणवायुका संबंध शरीरके श्वां जैसा होना चाहिये वेला नहीं होता और इस कारण आरोग्य न्यून होता है।

वरुण (जल) देवसे आरोग्य ।

वरुण मुख्यतः समुद्रका देव है। समुद्रके खारे पानीके स्नानसे संपूर्ण चर्मदीप दूर होते हैं, कथिरामिसरण उत्तम होता है, पाचनशक्ति बढ़ती है और अनेक प्रकारसे आरोग्य

प्राप्त होता है। अन्य जल अर्थात् नालीय, कूरः नदी आदिकोके जलके स्नानसे उनमें उत्तम प्रकार केनेमें भी कई दोष दूर हो जाते हैं। जलाचिन्मसाका यह विषय है वह पाठक यहाँ अनुमोचन करके देखें। यह बड़ा ही विस्तृत विषय है क्योंकि प्रायः सभी दोषोंमें जलचिकित्सासे दूर हो सकती है।

चन्द्र (सोम) देवस आरोग्य ।

चंद्र ज्योतिषीका राजा है, इसका दूसरा नाम सोम है। सोमादि ज्योतिषियोंसे आरोग्य प्राप्त करनेका साधन आकाशिक आचार्योंने अपने ग्रंथोंमें लिखा ही है। इसी साधनका दूसरा नाम 'देवत' है।

सूर्यदेवसे आरोग्य ।

सूर्य देवित्वा ब्रह्मवाता है। सूर्याभिरणसे जीवनका तत्त्व सर्वत्र फैला है। सूर्याभिरणोंका स्नान जंगे शरीरसे करनेसे अर्थात् धूमसे अपना शरीर तपानेसे आरोग्य प्राप्त होता है। सूर्याभिरणोंसे चिकित्सा करनेका भी एक बड़ा मारी पाण्ड है।

पञ्चपाद पिता ।

ये पाँच देव जनेक प्रकारसे मनुष्य, पशुपक्षी, वृक्ष, वन-रूपित आदि केका आरोग्य साधन करते हैं। वृक्षवनरूपित और आरोग्यक पशु उक्त पंचपाद पितरों अर्थात् पाचों देवोंके साथ पाँचों पितृओंके साथ-पाँचों रक्षकोंके साथ मिल रहते हैं, इस-लिये सदा आरोग्यरूपत होने हैं। नागरिक पशुपक्षी मनुष्यके जन्म-बनावर्षों जीवनसे संरक्षण होनेके कारण रोगोंसे अधिक प्रसूत होते हैं। जंगली लोग प्रायः सदैव सदैव रहनेके कारण अधिक नापीय होने हैं। परन्तु नागरिक लोग कि जो उदात्त मकानोंमें रहते हैं, सदा तंग बच्चोंसे वेष्टित होते हैं और जल वायु तथा सूर्य प्रकार आदिकोंसे अपने आपमें दूर रहते हैं, अर्थात् जो अपने पचरिगामोंमें ही विमुक्त रहते हैं वेही अधिकसे अधिक रोगी होने हैं और प्रति दिन इन लोगोंमें पाँचपितृ नागरिक लोगोंमें ही विविध रोग बढ रहे हैं और अस्वास्थ्यसे वे ही सदा दुःखी होते हैं।

इसलिये वेद कहता है कि परमैव्य, मित्र (प्राण) वायु, जलदेव वरुण, चंद्र, सूर्यदेव इन पाँच देवोंको अपना पिता अर्थात् अपना संरक्षक जानो और —

तेना से तन्वे ही करम् ।

"इन पाँचों देवोंके विविध षट्से अपने शरीरका आरोग्य प्राप्त करो" अथवा "मैं उक्त देवोंकी शक्तियोंसे तेरे शरीरका आरोग्य करूँ।" आरोग्य इनकेही प्राप्त होता है। आरोग्यका मुख्य ज्ञान इस मंत्रमें स्पष्टतया आ गया है। पाठक इनका

विचार करें और इस नियमनिर्देशा पालन करके अपना आरोग्य प्राप्त करें।

पृथ्वीमें जीवन ।

पृथ्वीमें प्राणिमानका सामान्यतः और मनुष्यका उत्कृष्ट जीवन विदितः उक्त पाचों पितृओंमें ही निर्मा है। मंत्रका "निवेचन" शब्द "जीवनरूप उल" का सूचक है। इसलिये—
ते पृथिव्यां निवेचनम् ।

इस मंत्रमात्रका अर्थ "तिस पृथ्वीमें जीवन" पूर्वोक्त पाचा देवोंकोके साथ संबन्धित है यह स्पष्ट है। जो शरीर का अरोग्य, शरीरका कल्याण करनेवाले हैं वेही जीवन कादा दीपं जीवन देनेवाले निवेच्यते हैं। इनके ज्ञान ही—
ते वाष्टु इति बहिः मत्सु ।

"तेरे शरीरके दीप शीघ्र बाहर हो जाय।" पूर्वोक्त पाँचों देवोंके योग्य संबन्धसे शरीरके सब दोष शरीरसे बाहर हो जाते हैं। दीपदे—

- (१) शीघ्रजल-पान-पूर्वक संघन करनेसे मूत्रद्वारा शरीर शीघ्र बाहर हो जाते हैं।
- (२) शुद्ध धानके अंदर जानेसे एकमुद्धि होती है और उच्छ्वासद्वारा शीघ्र दूर होते हैं।
- (३) जलाचिकित्साद्वारा शरीरके अवयवके शीघ्र दूर किये जा सकते हैं।
- (४) सोम आदिक औषधियोंका औषधि नाम इसलिये है, कि वे शरीरके (दोष-पी) दोषोंको घेती हैं।
- (५) सूर्यकिरण पर्वीना जाने तथा अन्त्यान्व रीतियोंसे शरीरके रोग बाह्य दूर कर देते हैं।

इस रीतिसे पाठक अनुभव करें कि ये पाँच देव किस प्रकार शरीरका (सं करं) कल्याण करते हैं। आरोग्य देते हैं, (निवेचनं) जीवन बढ़ाते हैं, और (बहिः) दोषोंको बाहर निकाल देते हैं।

"शं" शब्द "शान्ति" का सूचक है। शरीरमें "शान्ति, समता, सुख" आदि स्थापन करना आरोग्यका भाव बना रहा है। ये देव "शं" करनेवाले हैं, इसका तात्पर्य यही है कि, ये आरोग्य बढ़ानेवाले हैं। आरोग्य बढ़ानेके कारण जीवन बढ़ानेवाले अर्थात् दीपं जीवन करनेवाले हैं और सदा सर्वदा दीपोंकी शीघ्र बाहर करनेवाले हैं। पाठक इस मंत्रके मननसे अपने आरोग्यके सुख निदान्तरका ज्ञान स्पष्टतया प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार आरोग्यके मुख्य साधनका सामान्यतया उपदेश करके मूलदोष निवारणका विशेष उपाय बताया है—

मूत्रदोष-निवारण ।

यदान्त्रेषु गत्रीन्योर्यद्दस्तावधि संश्रुतम् । एवा ते मूत्रं मुच्यतां वृद्धिर्वालिति सर्वकम् ॥६॥
 प्र ते मिनत्रि मेहनं वत्रं वेदान्त्या इव । एवा ते मूत्रं मुच्यतां वृद्धिर्वालिति सर्वकम् ॥७॥
 विपितं ते वास्तिसिलं समुद्रस्योदधेरिव । एवा ते मूत्रं मुच्यतां वृद्धिर्वालिति सर्वकम् ॥८॥
 यथेषुका परापतदवसृष्टाऽधि घनवनः । एवा ते मूत्रं मुच्यतां वृद्धिर्वालिति सर्वकम् ॥९॥

अर्थ— (यत्) जो (आन्त्रेषु) आंतोंमें (गत्रीन्योः) मूत्र नाडियोंमें तथा जो (वस्तौ) मूत्राशयमें मूत्र (संश्रुतं) इकट्ठा हुआ है। वह तेरा मूत्र (सर्वकं) सबका सब एकदम बाहर। मुच्यताम्) निकल जावे ॥६॥ (वेदान्त्याः) सीलके पानीके (वत्रं) बंधको (इव) निष प्रकार खोल देते हैं तद्वत् तेरे (वेहनं) मूत्रदात्रको (प्र मिनत्रि) मैं खोल देता हूँ... ॥७॥ समुद्रके अथवा (उदधेः) बड़े तालाबके जलके लिये मार्ग खुला करनेके समान तेरा (वास्तिसिलं) मूत्राशयका बिल मैंने (विपितं) खोल दिया है... ॥८॥ निष प्रकार घनुष्यसे छूटा हुआ (इषुका) बाग (परा अपतत्) दूर जगता है, उस प्रकार तेरा सब मूत्र शीघ्र बाहर निकल जावे ॥ ९ ॥

भावार्थ—तालाब आदिसे निष प्रकार नहर निकाल देते हैं जिससे तालाबका पानी सुखपूर्वक बाहर जाता है उसी प्रकार मूत्राशयसे मूत्र मूत्रनाडियों द्वारा मूत्रैरियसे बाहर निकल जावे ।

मूत्र खुली रीतिसे बाहर जानेसे शरीरके बहुत दोष दूर हो जाते हैं । शरीरके सब विष मानो इस मूत्रमें इकट्ठे होते हैं और वे मूत्र बाहर जानेसे विष भी उसके साथ बाहर जाते हैं और आरोग्य प्राप्त होता है । इसीलिये किमी रोगी का मूत्र अंदर दक जानेसे मूत्रक विष शरीरमें फैलते हैं और रोगी शीघ्र ही मर जाता है । इस कारण आरोग्यके लिये मूत्रका उत्सर्ग नियमपूर्वक होना अन्यात आवश्यक है । यदि बड़ मूत्र मूत्राशयमें दक जाय तो मूत्र नलिकाको खोल कर मूत्रका मार्ग खुला करना आवश्यक है । इस कार्यके लिये धार या मुञ्ज औषधिका प्रयोग बड़ा सहायक है । कैच लोग इषका उपयोग करें । इषवर दूधका उपाय मूत्रदात्र खोलनेका है, इसके लिये लोह शलाका, वास्तिसंघ (Catbeter ड्रेजेटर) का प्रयोग करनेकी सूचना इन मंत्रों की उपमाओंसे मिलती है । यह मूत्राशय यंत्र सोनेका, चांदीका या लोहेका बनाया जाता है, यह शरीरक नलिका आंशमें गोल सी होती है, आजकल रबर आदि अल्पान्य पदार्थोंका भी बनानाया मिलता है । इस समय इसको हाएक बाइटरके पास पाठक देख सकते हैं । यह मूत्र ईंद्रियसे मूत्राशयमें योग्य रीतिसे डाला जाता है । यह बड़ा पट्टनेसे अंदर दका हुआ मूत्र इसके अंदर की नलीसे बाहर हो जाता है ।

करते हैं मूत्रदात्रसे कोया दूध अथवा जल आदि अदृग् मूत्राशयमें खींचने और उससे द्वारा मूत्राशयका शुद्ध करनेका सामर्थ्य अपनेमें बढ़ाते हैं । इसका अभ्यास बढानेसे न केवल मूत्राशयपर प्भुन्व प्राप्त होता है, परंतु संपूर्ण शरीर नाडियोंके समेत संपूर्ण शरीराशयपर भी प्रभुत्व प्राप्त होता है । ऊर्ध्वरेता होनेकी सिद्धि इसीके योग्य अभ्याससे प्राप्त होता है । योग्य लोग इस अभ्याससे अतिगुण स्वतः हैं और योग्य परीक्षा होनेके पश्चात् ही यह अभ्यास शिष्यको सिखाया जाता है । पूर्वज्ञानर्य रहना इसी अभ्याससे साध्य होता है । यह स्थ भूमि पालन करते हुए भी पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन होनेकी संभावना इस अभ्याससे ही सकती है ।

जिस प्रकार तालाब या कुँचेके अंदरसे पोटिला जल निकालनेसे उसकी स्वच्छता ही सकती है, और शुद्ध नया जल उसमें आनेसे उसका अधिकने अधिक लाभ हो सकता है इसी प्रकार मूत्राशयका पूर्णक प्रकार योगादि साधनद्वारा बल बढानेसे बड़ा ही आरोग्य प्राप्त हो सकता है ।

सामान्य मनुष्योंके त्रिये मुञ्ज औषधिके प्रयोगसे, अथवा मूत्राशयमें मूत्रवस्ति यंत्रके प्रयोगसे लाभ होता है । योगिधोंकी वज्रौली आदि अभ्याससे मूत्रस्थानकी सब नष नाडी बलवन्नी और शुद्ध करनेसे आशय प्राप्त होता है ।

योगी लोग इसकी सहायतासे वज्रौली आदि क्रियाएं साध्य

पूर्वापपर सम्बन्ध

द्वितीय सूक्तमें आरोग्य साधनका विषय प्रारंभ किया था । उसी आरोग्यशास्त्रिका विस्तृत नियम इस तृतीय सूक्तके प्रथम पांच मंत्रोंके गणमें कहा है । सबके आरोग्यका मानी यह मूल-मंत्र हो है । हरएक अवस्थामें सुगमतया आरोग्यसाधन करनेका उपाय इस गणमें मर्णन किया है । इस तृतीय सूक्तके अंतिम चार मंत्रोंमें मृत्साध्यके दोषको दूर करनेका साधन बताया है ।

इस सूक्तका "रुत-वृष्यं" शब्द अर्थात् महत्त्वपूर्ण है । "वृष्य" शब्द बल, शीर्ष, उरसाह, प्रजननसामर्थ्य आदिका वाचक है । ये भैरवों बल देनेवाके पूर्वोक्त पांचों शेष हैं वह यहाँ इस सूक्तमें स्पष्ट हुआ है । बोधवंधक अन्य उपायोंका अवलंबन न करके पाठक यदि इन पाँचोंको ही योग्य रीतिमें पढ़ने रहेंगे तो उनको अनुपम लाभ हो सकता है ।

द्वितीय सूक्तमें, "भूरि-धायस" शब्द है जिसका अर्थ "अनेक प्रकारसे धारण पोषण करनेवाला" पूर्व स्थानमें दिया है । यह भी पर्यन्तके साहचर्यके कारण इस सूक्तमें अनुरूपि से आता है और पाँचों देवोंका विशेषण बनता है । पाठक इस शब्दको लेकर मंत्रोंका अर्थ देखें और बोध प्राप्त करें ।

"भूरि-धायस" शब्दका "शत-वृष्य" शब्दसे निकट संबंध है, मानी ये दोनों शब्द एक दूसरेके सहायक हैं । विशेष प्रकारसे धारण पोषण करनेवाला ही भैरवों कीर्तियोंके देनेवाला हो सकता है । क्योंकि पुष्टिके साथ ही बलका संबंध है । इस प्रकार पूर्व सूक्तमें इस सूक्तका संबंध देखिये ।

शारीरशास्त्रका ज्ञान ।

इस सूक्तके मननसे पाठकोंके ज्ञान ही लिया होगा कि शारीर-

शास्त्रका ज्ञान अथर्ववेदिका क्यातः ज्ञाननेके लिये अत्यंत आवश्यक है । मृत्साध्यमें दलाकाका प्रयोग विना बड़ाके अवयवोंके जाननेसे नहीं हो सकता । शारीरशास्त्रको न जाननेवाला मनुष्य योगसाधन भी नहीं कर सकता, तथा अथर्ववेदका ज्ञान भी यथा योग्य रीतिसे प्राप्त नहीं कर सकता ।

यह "अंगि-रस" का विषय है, अर्थात् भ्रमंकि रसोर्धाई यह अथर्ववेदका है । अर्थात् जिसमें अंगोंका ज्ञान नहीं प्राप्त किया है, अंगोंको अंदरके जीवन रक्षका जिसको कुछ भी ज्ञान नहीं है वह अथर्ववेदिका बहुत लाभ प्राप्त नहीं कर सकता ।

डाक्टर लोग जिस प्रकार सुईकी चार घाट करके उरीर-गोछा दबावत ज्ञान प्राप्त करते हैं उसी प्रकार योगियों और अथर्ववेदशास्त्रियोंके पढ़नेवालोंको करना उचित है ।

हमने यहाँ सोचा था कि इस सूक्तमें वर्णित दलाकाके प्रयोगके लिये आवश्यक अवयवोंका परिचय चित्रोद्धार किया जावे, परंतु इसके कई लोग अधिक भ्रममें भी पड़ सकते हैं और जो चित्रोंको ठीक प्रकार समझ नहीं सकते वे उल्टाही प्रयोग करके दोषके मार्ग हो सकते हैं । इस भयको सामने देखकर इस बातको चित्रोंसे स्पष्ट करनेका विचार इस सम्व-के लिये दूर कर दिया है । और हम यहाँ पाठकोंके विवेक करना चाहते हैं कि वे इस प्रयोगका ज्ञान सुविज्ञ डाक्टरोंसे ही प्राप्त करें तथा ऊपर दिये हुए योग-प्रक्रियाका ज्ञान किसी उत्तम योगीके पास जाकर सीखें; क्योंकि अंगरस चिबित्तामें इन बातोंकी आवश्यकता है । इनके विना केवल मंत्रार्थ पढ़नेसे अथवा शाब्दिक ज्ञान समझने मात्रसे भी उपनोग नहीं हो सकता ।

जल-सूक्त ।

पूर्व सूक्तमें आरोग्यसाधक जलका संश्लेष वर्णन किया है इसलिये अब उसी जलका विचार वर्णन क्रमसे भागोंके तीन सूक्तोंमें करते हैं-

[४]

(ऋषिः- सिन्धुद्वीपः । देवता [अर्पानपात्, सोमः-] आपः ।)

अम्बयौ यन्त्यध्वमिर्जामयो अध्वरीयताम् । पृञ्चन्तीर्मधुना पर्यः ॥ १ ॥

अमूर्या उप घ्ये यामिर्वा स्यः सह । ता नो हिन्वन्त्यध्वरम् ॥ २ ॥

अपो देवीरुपं ह्यये यत्र गावः पिबन्ति नः । सिन्धुम्युः कर्त्वी हविः ॥ ३ ॥

अप्स्व १ न्तरधृतमप्सु भेषजम् । अपामुत प्रशंस्तिभिरश्वा भवथ व्राजिनो गावो भवथ व्राजिनीः ॥ ४ ॥

अर्थ— (अध्वर्यायतां) यज्ञकर्ताओंके (जामयः) बहिनोंके समान और (अम्बयः) माताओंके समान जलसे नदियाँ (अप्यमिः यन्ति) अपने मागोंसे जाती हैं जो (मयुना) मधु-उद्दरके साथ (पयः) दूध या जल (शृङ्गन्तीः) मिलती हैं ॥ १ ॥ (याः) जो (अप्युः) ये नदियाँ (उप सूर्ये) सूर्यके सम्मुख होती हैं अथवा (धामिः) जिनके साथ सूर्य होता है । वे हम सरका (अप्यरं) यह (हिन्वन्ति) सांग करती हैं ॥ २ ॥ (यत्र) अहाँ हमारी (गावः) गौंवे पानी (पिबन्ति) पीती हैं उन (देवाः आपः) दिव्य जलोंकी (सिन्धुम्युः) नदियोंके लिये हवि करनेके कारण (उप ह्यये) मैं प्रशंसा करता हूँ ॥ ३ ॥ (अप्यु बन्तः) जलमें लयते हैं, (अप्यु भेषजं) जलमें दवाई है (उठ) और (अपां प्रदासिभिः) जलके प्रशंसनीय गुण भनोंसे (अश्वाः व्राजिनः) घोड़े बलवान् (भवथ) होते और गौंवे बलयुक्त होती हैं ॥ ४ ॥

आधार्य—जल उनके लिये माता और बहिनके समान हितकारक होता है जो उनका उत्तम उपयोग करना जानते हैं । जलकी नदियाँ बह रही हैं, मानो बह रूपमें शरद्व दिला रही हैं । जो जल सूर्यके समक्षे झुड़ बनता है अथवा जिसकी पवित्रता सूर्य करता है वह जल हमारा आरोग्य विद्ध करे । जिन नदियोंमें हमारी गौंवे जल पीती हैं और जिनके लिये हवि बनाया जाता है उनके उत्कृष्ट गुणगान करना चाहिये । जलमें लयते हैं, जलमें दवाई है, जलके गुण से घोड़े बलवान् बनते हैं और गौंवे भी बलवती बनती हैं ।

[५]

(श्रविः- सिन्धुद्वीपः । देवता—[अपानपात्, सोमः] आपः) ।

आपो हि सा अयोभुवस्ता नं ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥

यो वः शिवर्तमो रसुस्तस्यं भाजयतेह नः । उग्रतीरिव मातरः ॥ २ ॥

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्रुषणीनाम् । अपो वाचामि भेषजम् ॥ ४ ॥

अर्थ—हे (आपः) जलो ! (हि) क्योंकि आप (मयोभुवः) सुखधरक (स्य) ही इसलिये (ताः) सो तुम (नः) ऊर्जे) हमारे बलके लिये तथा (महे रणाय चक्षसे) बड़ी रणायताके दर्शनके लिये हमें (दधातन) पुष्ट करो ॥ १ ॥ (यः) जो (वः) आपके अंदर (शिवतमः रसः) शरद्व कल्पानकारी रस है (तस्य) उच्छ्र (नः) इह भाजयते) हमें यहाँ भागी करो (इव) जैसी (उग्रतीः मातरः) इच्छा करनेवाली माताएं करती हैं ॥ २ ॥ हे जलो ! जिसके (क्षयाय) निवासके लिये आप (जिन्वथ) लुप्त करते हो (तस्मै) उसके लिये हम (वः) अरं गमाम) आपको पूर्णतया प्राप्त करेंगे । और आप (नः) हमें (जनयथ) बढ़ाओ ॥ ३ ॥ (वार्याणां) इच्छा करनेयोग्य सुखोंके (ईशाना) स्वामी इशुर्वे (चर्षणीनां) प्राणिमात्रके (क्षयन्तीः) निवासके हेतु ऐसे (अपः) जलोंसे (भेषजं वाचामि) भोज्यवही याचना करता हूँ ॥

आधार्य—जल सुखधरक है, उससे बल बढ़ता है, रमणीयता प्राप्त होती है और पुष्टि भी है ॥ जिस प्रकार पुत्रको माताके दूधसे पुष्टि का माग मिलता है, उसी प्रकार जलके अंदरके उत्तम सुखवर्षक रस हमें प्राप्त हों ॥ जिसके प्राणिमात्रकी स्थिति होती है, वह रस हमें प्राप्त हो और उससे हमारी वृद्धि होती रहे ॥ जलसे इष्ट सुख प्राप्त होते हैं और प्राणिमात्रकी स्थिति होती है, उस जलसे हमें भोज्यवस्तु प्राप्त होगा रहे ॥

[६]

[ऋषिः- सिन्धुद्वीपः । देवता (अर्पानपात्) आपः, २ आपः सोमो अग्निश्च]

शं नो देवीरभिप्रय आपो भवन्तु पीतये । शं योऽभि संवन्तु नः ॥ १ ॥

अप्सु मे सोमो अन्नवीदन्तर्विद्यानि भेषजा । अग्निं च विश्वसंभ्रवम् ॥ २ ॥

आपः पृणीत भेषजं वरुधं तन्वेडु मम । ज्योक् च सूर्यं ह्ये ॥ ३ ॥

शं नु आपो धन्वन्प्याडैः शमु सन्त्वनूप्याः ।

श नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥ ४ ॥

अर्थ— (देवीः आपः) दिव्य जल (नः दां) हमें सुख दे और (अभिप्रये) इष्ट प्राप्तके लिये तथा (पीतये) पीनेके लिये हो और हमपर घातिका (अभि स्वध्मु) छोट चलावे ॥ १ ॥ (मे) मुझे (सोमः अन्नवीन्) सोमने कहा कि (अप्सु भन्तः) जलमें (विश्वानि भेषजा) सब औषधियां हैं और अग्नि (विश्व-दां-भुवं) सब कर्षण कतिवाला है ॥ २ ॥ (आपः) जलो । (भेषजं पृणीत) औषध दो और (सम तन्वे) मरे धरीरके (वरुधं) संरक्षण दे जिससे मैं सूर्यकी (ज्योक् ह्ये) दीर्घकालतक देखू ॥ ३ ॥ (नः) हमारे लिये (धन्वन्प्याः आपः) मददेयका जल (दां) सुखकारक हो, (अनूप्याः) अलपूर्ण प्रदेशका जल सुखकारक हो, (खनित्रिमाः) छोटे हुए कूपे आदिका जल सुखदायक हो, (कुम्भे) घड़ेमें भरा जल सुखदायक हो, (वार्षिकी) वृष्टिका जल सुखदायक होवे ॥ ४ ॥

भाषार्थ— दिव्य जल हमें पीनेके लिये मिले और वह हमारा सुख बटाये ॥ १ ॥ जलमें सब औषध रहते हैं और अग्नि सुख पढानेवाला है ॥ २ ॥ जलसे हमारी बिकरसा होवे और चारोंका बचाव रोगसे होकर हमारा दीर्घ आयु बने ॥ ३ ॥ मददेयका, जलमय देशका, कूपका, वृष्टिका तथा घड़ोंमें भरा हुआ जल हमारा सुख पढानेवाला होवे ॥ ४ ॥

ये तीन सूक्त जलको वर्णन कर रहे हैं । तीनों सूक्त इकट्ठे हैं इसलिये तीनोंका विचार यहां इकट्ठाही करेंगे ।

जलकी भिन्नता ।

जल मित्र प्रकारका है यह बात पूर्व सूक्तोंमें कही है—

१ देवीः (दिव्याः) आपः (४।३) —आकाशसे अर्षान् मेधासे प्राप्त होनेवाला जल, इषी वा नाम “वार्षिकी” भी है ।

२ वार्षिकीः आपः (६।४) —वृष्टिसे प्राप्त होनेवाला जल ।

३ सिन्धुः (४।३) —नदी तथा समुद्रसे प्राप्त होनेवाला जल ।

४ अनूप्याः आपः (६।४) —जलमय प्रदेशमें प्राप्त होनेवाला जल ।

५ धन्वन्प्याः आपः (६।४) —मददेश, रेतोंने देशमें, अथवा योटी वृष्टि होनेवाले देशमें मिलनेवाला जल ।

६ खनित्रिमाः आपः (१।४) —छोटेकर बताने हुए कूप बावतोंसे प्राप्त होनेवाला जल ।

वृष्टिसे प्राप्त होनेवाला जल भी रेतोंने स्थान, कीचड़की मिट्टीके स्थान आदिमें गिरनेसे भिन्न गुण धर्मोंसे युक्त होता है । जिस स्थानमें सालों साल भीषण बना रहता है, उसमें पड़े हुए पानीकी अवस्था भिन्न होती है और रेतोंनेसे प्राप्त हुए पानीके गुणधर्म भिन्न है । इसी कारण ये सब जल विभिन्न गुणधर्मसे युक्त होने हैं । जलका उपयोग आरोग्यके लिये करना हो, तो प्रथम सबसे उत्तम शुद्ध और पवित्र जल प्राप्त करना आवश्यक है ।

उक्त जल जो बाहर प्राप्त होता है वह घरमें लाकर घड़ोंमें रखनेके कारण उसके गुणधर्ममें बदल जाता है । अर्थात् कूबेका ताजा पानी जो गुणधर्म रखता है, वही घरमें लाकर (कुम्भे आभृताः ६।४) घड़ेमें कई दिन रखनेपर भिन्न गुणधर्मोंसे युक्त होना संभव है । तथा प्रमाणी नदीका पानी और कूबेके स्थिर पानीके गुणधर्म भी भिन्न हो सकते हैं ।

इस प्रकार एक ही जल विभिन्न स्थानमें और विभिन्न गुणधर्मोंसे मुक्त होता है। यह दर्शानेके लिये निम्नलिखित मंत्रमें कहा है—

अनूपा उप सूर्ये दानिषां सूर्यः सह । (४ । २)

“ यह जल जो सूर्यके अनुसृत रहना है, अथवा त्रिषके साथ सूर्य रहता है ।” अर्थात् सूर्यकिरणोंके साथ स्पर्श करनेवाला जल विभिन्न गुणधर्मवाला बनता है और सदा अधोत्थे रहनेके कारण त्रिषपर सूर्यकिरण नहीं गिरते उसके गुणधर्म भिन्न होते हैं। त्रिष ऊबोरे वृषादिकी हमेशा छाया होती है और त्रिनगर नहीं होता। उनके जलोके गुणधर्म भिन्न होते हैं। तथा—

अन्वयो बन्त्यच्छभिः । (४ । १)

“ नदियां अपने मार्गमें बचनी हैं ।” इसमें जलमें गतिका वर्णन है। यह गतिमान जल और स्थिर जल विभिन्न गुणधर्मोंसे युक्त होता है। स्थिर जलसे कृमिबोटक तथा सड़ावट होना संभव है उस प्रकार गतिवाले जलमें नहीं। इसी प्रकार गतिहीन मंदता और तेजोके कारण भी जलके गुणधर्मोंमें भेद होते हैं। तथा—

पृथ्वीमिन्दुना पयः । (४ । १)

“ मनु अर्थात् पुण्य-पराग आदिसे जलमें मिलावट होती है ।” इससे भी पानीके गुणधर्म बदलते हैं। नदी तालाबके तटपर वृषादि होते हैं और उन जलमें वृषजनसृष्टिबलसे फूल, फूलके पराग, पत्त आदि गिरते हैं, जलमें सड़ते वा मिलते हैं। यह कारण है कि त्रिषसे जलके गुणधर्म बदलते हैं तथा—

यत्र गावः पिरन्ति । (५ । ३)

“ जिस अलासधर्ममें गाँव पानी पीती हैं, ” जहाँ गाँव, भैंसे आदि पशु जाते हैं, जलगम करते हैं। उस पानीकी अवस्था भी बदल जाती है।

जल लेनेके समय इन बातोंका विचार करना चाहिये। जो जलकी अवस्थाएँ वर्णन की हैं, उनमें सबसे उत्तम अवस्थावाला जल ही पीने आदि कार्यके लिये योग्य है। हर एक अवस्थानमें प्राप्त होनेवाला जल लाभदायक नहीं होगा। वेदने से सब जलको अवस्थाएँ बताकर स्पष्ट कर दिया है कि जलमें भी उतन मध्यम अथम अवस्थाका जल हो सकता है और यदि उतम आयेय प्राप्त करना हो तो उतमसे उतम पवित्र जलही लेना चाहिये। पाठक इन अवस्थाओंका उतम विचार करें।

जलमें औषध ।

जलका नाम ही “अमृत” है अर्थात् जीवन का रस ही

ही जल है यही बात मंत्र कहता है—

अमृत अमृतम् । (४ । ४)

अमृत भेषजम् । (५ । ४)

“जलमें अमृत है, जलमें औषध है,” जल अमृतमय है और औषधिमय है। भरनेसे बचानेवाला अमृत कहलाता है, और शरीरके दोषोंको धोकर शरीरकी निर्दोशता सिद्ध करनेवाला भेषज कहलाता है। जल इन गुणोंसे युक्त है। इसी लिये जलको कहा है—

शिवतमः रसः । (५ । २)

“जल अत्यंत कल्याण करनेवाला रस है ।” केवल “शिवो रसः” कहा नहीं है, परंतु “शिवतमो रसः” कहा है, इसमें स्पष्ट है कि इससे अत्यंत कल्याण होना संभव है। यही बात अन्वयोस्ये भी वेद स्पष्ट कर रहा है—

आयः मयोसुवः । (५ । १)

“जल हितकारक है।” यहाँका “मयम्” शब्द “सुख, आनंद, सनायान, सुप्ति” आदि अर्थका बोध करता है। यदि जल पूर्ण आरोग्य साधक न होगा तो उससे आनंद बढ़ना असंभव है। इसलिये जल अमृतमय है यह स्पष्ट सिद्ध होता है इसीलिये कहा है।—

अमृत विद्यानि भेषजानि । (६ । २)

“जलमें सब दवाइयाँ हैं।” जलमें केवल एकही रोग की औषधि नहीं प्रत्युत सब प्रकारकी औषधियाँ हैं। इसीलिये हर एक बीमारीका जलाधिकित्याने इलाज किया जा सकता है। योग्य वैद्य और पच्यपालन करनेवाला रोगी होगा, तो आरोग्य निःसंदेह प्राप्त होगा। इसलिये कहा है—

आयः पृथीय भेषजम् । (६ । ३)

अपो याषानि भेषजम् । (५ । ४)

“जल औषध करता है। जलसे औषध मांगता हूँ।” अर्थात् जलसे चिकित्सा होती है। रोगोंकी निवृत्ति जलचिकित्सा से हो सकती है। रोगिके कारण शरीरमें जो विषमता होती है उसे दूर करना और शरीरके सप धातुओंमें समता स्थापित करना जलचिकित्सासे संभवनीय है।

समता और विषमता ।

शरीरकी समता आरोग्य है और विषमता रोग है। समता स्थापन करनेकी सूचना वेदके “सं, छाति” आदि शब्द करते हैं और विषमता दूर करनेका मांत्र “योः” शब्द वेदमें कर रहा है। दोनों मिलकर “सं-योः” शब्द बनता है। इसका संयुक्त तात्पर्य “समताकी स्थापना और विषमताका दूर करना” है। इसलिये कहा है—

शं योराभि स्वन्तु नः । (६ । १)

समताकी स्थापना और विषमताको दूर करना हमारे लिये जलकी धाराएँ करें । किंवा जलधाराएँ उफान दोनों बातोंका प्रभाव हमपर छोड़ें । जलसे उफान दोनों बातोंकी सिद्धता होती है यह बात यहाँ सिद्ध ही है । तथा—

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु । (६ । १)

“दिव्य जल हमारे लिये शान्तिकाएक दो” इसमें भी वही भाव है । (सूक्त. ६, मं. ४) यह मंत्र तो कई बार शान्ति या समताका उल्लेख करता है । समताकी स्थापना और विषमताका दूर करना, ये दो कार्य होनेमें ही उत्तम रक्षा होती है, इसी लिये मंत्रमें कहा है—

वरुथं तन्वे मम । (६ । ३)

“मेरे शरीरका रक्षण” जलसे हो । “वरुथ” का अर्थ “रक्षक कवच” है । जलका वर्णन “रक्षक कवच” से किया है अर्थात् जल कवचके समान रक्षा करनेवाला है । यह भाव स्पष्ट है ।

बलकी वृद्धि ।

उक्त प्रकार आरोग्य प्राप्त होनेके पश्चात् शरीरका बल बढ़ानेका प्रश्न आता है । इस विषयमें मंत्र कहता है—

नः ऊर्मै दधातन । (५ । १)

“हमें बलके लिये पुष्ट करो ।” अर्थात् जलसे धारण पोषण होकर उत्तम प्रकार बल बढ़ाना भी संभव है । विषमता दूर होकर समताकी स्थापना हो गई तो बल बढ़ सकता है । जलसे रमणीयता भी शरीरमें बढ़ती है । देखिये—

महे रणाय चक्षसे । (५ । १)

“बड़ी (रणाय) रमणीयताके लिये” जलका उपयोग होता है । जलसे शरीरकी रमणीयता बढ़ जाती है । शरीरकी मांस शुद्धि होकर असी सुंदरता बढ़ जाती है उसी प्रकार जल अंतःशुद्धि करता है इसलिये आरोग्य बढ़ानेद्वारा शरीरका सौंदर्य बढ़ानेमें सहायक होता है । आरोग्यके मांस सुंदरताका विशेष संबंध है । तात्पर्य यह जल मनुष्यकी यहाँ की सुस्थिति के लिये कारण होता है, इसलिये कहा है—

क्षयाय त्रिन्वय । (५ । ३)

क्षयन्तीभ्रपैणीमासु । [५ । ४]

“निवासके लिये तृप्ति करते हो । प्राणियोंके निवासका कारण है ।” इन मंत्रोंका स्पष्ट कथन है कि जल मनुष्यादि प्राणियोंकी यहाँ सुस्थिति करनेका मुख्य हेतु है । इसी लिये कहते हैं—

ईदानीं वायांगाम् । [५ । ४]

“स्वीकारने योग्य गुणोंका अधिपति जल है ।” अर्थात्

प्राणियोंको जिन जिन बातोंकी आवश्यकता होती है सबका अस्तित्व जलमें है, इसी कारण जल निवासका हेतु बतलता है ।

दीर्घ आयुष्यका साधन ।

मनुष्यादि प्राणियोंके दीर्घ आयुका साधक जल है यह बात इस मायमें देखिये—

युष्कं च सूर्यं द्यौः । [६ । ३]

“बहुत दिनतक सूर्यका दर्शन वरुं ।” यह एक महावरा है । इसका अर्थ है कि—

“मैं बहुत दीर्घ आयुतक जीवित रहूँ” अर्थात् जलके उपयोगसे दीर्घ आयु प्राप्त करना संभव है । “जन्म” वह कि जो जन्मसे लेकर रूपतक उपयोगी है ।

प्रजनन-शक्ति ।

जल का नाम वीर्य है । इसी सूचना मिल मंत्रभाससे मिलती है—

आपो जनवया च नः । (५ । ३)

“जल हमें उत्पन्न करता है” अर्थात् इसके कारण हममें किंवा प्राणियोंमें प्रजनन शक्ति होती है । आरोग्य, बल, दीर्घ आयुष्य, धातुओंकी समता आदिका प्रजननशक्तिके साथ निकट संबंध है, यह बात पाठक जान सकते हैं । इसलिये इस विषयमें यहाँ अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । इस प्रजनन शक्तिका नाम वाजीकरण है और इसका वर्णन मंत्रमें निम्न प्रकार हुआ है—

अपामुत् प्रद्यस्तिभिरभ्वा भवथ वाजिनो

गावो भवथ वाजिनीः ॥ (४ । ४)

“जलके प्रशस्त गुणसे अश्व (पुरुष) वाजी बनते हैं और गौमें (लिये) वाजिनी बनती हैं ।” वाजी शब्द प्रजननशक्तिके युक्त होनेका भाव बता रहा है । अश्व और गौ शब्द यहाँ पुरुष और स्त्री जातिको बोध करते हैं । जलके उपयोगसे वाजीकरण की शक्ति इस प्रकार यहाँ कही है । तथा और देखिये—

अम्बवो यन्वयज्जभिर्जांमयोऽश्वरीयताम् । (४ । १)

“यज्ञकर्तृओंकी माताएँ और बहिने अपने मार्गोंसे जाती हैं ।” जो श्रियोंके लिये उचित मार्ग है उसीसे जाती है । अर्थात् नियमानुकूल बर्ताव करती हुई प्रगति करती है । जो पुरुष अपने योग्य नियमोंसे बड़ेसे सौदा उत्तम प्रजनन होना संभव है, इस बातकी सूचना यहाँ मिलती है ।

इस रीतिसे इन तंत्रोंमें सूखतीं जलविषयक महत्त्वपूर्ण ज्ञानक उपदेश दिया है ।

[अथर्ववेद प्रथमकाण्डमें प्रथम अनुवाक समाप्त ।]

धर्म-प्रचार-सूक्त ।

(ऋषिः— चातनः । देवतः— अग्निः (जातवेदः), ३ अग्नीन्द्रो)

(७)

स्तुवानमग्र आ वंह यातुधानं किमीदिनम् । एवं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्वभूविथ ॥१॥	
आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तनूवशिन । अग्नें तौलस्य प्राशान यातुधानान् विलापय ॥२॥	
विलपन्तु यातुधानां अस्त्रिणो ये किमीदिनः । अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति ह्येतम् ॥३॥	
अग्निः पूर्वं आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान् । त्रवीतु सर्वो यातुमान् यमस्मीत्येत् ॥४॥	
पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानानृचक्षः ।	
त्वया सर्वे परितप्ताः पूरस्तात् आ यन्तु प्रभुवाणा उपेदम् ॥५॥	
आ रमस्व जातवेदोऽस्माकार्याय जज्ञिषे । दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् विलापय ॥६॥	
स्वमग्ने यातुधानानुपयद्वां इहा वंह । अथैपामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्तु ॥७॥	

अर्थ— हे अग्ने ! (स्तुवानं) स्तुति करनेवाले (यातुधानं किमीदिनं) घातक यज्ञियोंको भी (आ वंह) यहां ले आ । (हि) क्योंकि हे देव ! (यन्दिनः स्वं) नमनको प्राप्त हुआ तू (दस्योः) डाकूका (हन्ता) हनन या पति करने वाला (वभूविथ) होता है ॥ १ ॥ हे (परमेष्ठिन्) श्रेष्ठ स्थानमें रहनेवाले (जातवेदः) शानको प्राप्त करनेवाले और (तनूवशिन) शरीरका संयम करनेवाले अग्ने ! तू (तौलस्य आज्यस्य) तोले हुए धी आदि का (प्राशान) भोजन कर और (यातुधानान्) दुष्टोंको (विलापय) विलाप करा ॥ २ ॥ (ये) जो (यातुधानाः) दुष्ट (अग्निणः) भटकनेवाले और (किमीदिनः) घातक हैं वे (विलपन्तु) विलाप करें । (अय) और अब, हे अग्ने ! (इयं हविः) यह हवि तू और (इन्द्रः च) इन्द्र (प्रतिह-र्येतम्) स्वीकार करो ॥ ३ ॥ (पूर्वं) अग्निः आरभतां पहिला अग्नि आरंभ करे, तथा पश्चात् (बाहुमान् इन्द्रः प्र नुदतु) बाहुबलवाला इन्द्र विशेष प्रेरणा करे, जिसे (सर्वैः यातुमान्) सब दुष्ट लोग (पत्य) आकर (प्रवीतु) बोले, (हि) (अयं अस्मि इति) यह मैं हूँ ॥ ४ ॥ हे (जातवेदः) शान ! (ते वीर्यं पश्याम) तेरा पराक्रम हम देखें । हे (नृ-चक्रः) मनुष्योंके मार्ग दर्शक ! (यातुधानान्) दुष्टोंको (नः) हमारा अदिष्ट (प्र ब्रूहि) विशेष रूपसे कह दे । (त्वया) तुझसे (पूरस्तात्) पहिले (परितप्ताः) तपे हुए (ते सर्वे) वे तप (इयं भुवाणाः) यह कदते हुए (उप आयन्तु) हमारे पास आजायें ॥ ५ ॥ हे (जातवेदः) शान ! (आरमस्व) आरंभ कर (अस्माकनकार्याय) हमारे प्रयोजनके लिये तू (जज्ञिषे) उत्पन्न हुआ है । हे अग्ने ! तू हमारा दूत बनकर यातुधानोंको विलाप करा ॥ ६ ॥ हे अग्ने ! तू [यातुधानान्] दुष्टोंको [उपयदात्] बाधे हुए अर्थात् बांधकर [इहा आ वंह] यहां लेआ । [अय] और इन्द्र अपने वज्रसे [एषां शीर्षाणि] इनके मस्तक [वृश्तु] काट डाले ॥ ७ ॥

इसका भावार्थ हम सबसे पहले लिखेंगे क्योंकि इस सूक्तके कई शब्दोंके अर्थोंका विचार पहिले करना चाहिये । इस सूक्तके कई शब्द भ्रम उत्पन्न करनेवाले हैं, और जनतक इनका निश्चित

ठीक अर्थ प्थानमें न आयेगा, सब तक इस सूक्तका उपदेश समझमें नहीं आसकता । सबसे प्रथम “अग्नि” कान है इसका निश्चय करना चाहिये—

अग्नि कौन है ?

इस सूक्तमें अग्निपद से किसका गहन करना चाहिये, इसका निश्चय कराने वाले ये शब्द इस सूक्तमें हैं—“जातवेदः, परमेष्ठिन, तन्वाशेष, वृषक्षः, पन्दिताः, दूतः, देवः, अग्निः ।” इन शब्दोंका अर्थ देखकर अग्नि का स्वरूप सबसे प्रथम हम देखेंगे—

१ जातवेदः— [जातं वेदि] ओ बनी हुई गृष्टिको ठीक ठीक जानता है । [जात-वेदः] जिसने ज्ञान प्राप्त किया है । अर्थात् ज्ञानी सृष्टिविद्या और आत्मविद्या का यथावत् आनने वाला ।

२ परमेष्ठिन्— (परमे पदे स्वाता) परमपद में उठानेवाला अर्थात् समाधिकी अंतिम अवस्थाकी ओ प्रगत है, आत्मानुभव जिसने प्राप्त किया है, तृप्तौ-व्यतृप्य अवस्थाका अनुभव करनेवाला ।

३ तन्वाशेष— (तन्-शेषिन्) अपने शरीर और इन्द्रियोंके स्वाधीन करने वाला, इन्द्रिय संयम और मनोनिग्रह करनेवाला, आसनादि योगाभ्याससे जिसने अपनी काशासिद्धि की है । यही मनुष्य “ परमे-ष्ठिन् ” होना संभव है ।

४ वृ-वक्षः— “ वक्षन् ” शब्द स्पष्ट शब्दोंद्वारा उपदेश देने का भाव बताता है । मनुष्योंकी जो योग्य धर्म मार्गका उपदेश देता है ।

ज्ञानी उपदेशक

ये चार शब्द अग्निंकेगुण धर्म बताते हैं । ये शब्द देखनेसे स्पष्ट हो जाते हैं, कि यहाँका अग्नि “वर्षोपदेशक पन्दिता” ही है । सृष्टि विद्या जाननेवाला, अप्याय शास्त्रमें प्रवीण, योगाभ्याससे शरीर, इन्द्रिय और मनको वशमें रखने वाला, समाधि की सिद्धि जिसको प्राप्त है, वह ही ब्राह्मण पन्दिता “वृ-वक्षः” अर्थात् लोगोंको धर्मोपदेश करनेके लिये योग्य है । उपदेशक बननेके पूर्व उपदेशककी तैयारी कैसी होनी चाहिये, इसका बोध यहाँ प्राप्त हो सकता है । ऐसे उपदेशक को, तो ही धर्मका ठीक प्रकार होना संभव है ।

५ पन्दिताः— इस प्रकारके उपदेशककी ही सब लोग बन्दन कर सकते हैं ।

६ दूतः— ओ सन्देश पहुँचाना है वह दूत होता है । वह उपदेशक पन्दिता धर्मका सन्देश सब अनन्ता तक पहुँचाता है इस लिये यह “धर्मका दूत” है । दूत शब्दका इसका अर्थ “नीकर, मृत्यु” है वह अर्थ यहाँ नहीं है । धर्मका सन्देश स्थान स्थान-

पर पहुँचाने वाला वह दूत धर्मका उपदेशक ही है ।

७ देवः— प्रकाशमान, तेजस्वी ।

८ अग्निः— प्रकाश देख कर अन्धकारका नाश करनेवाला, ज्ञानकी रोगनी बड़ाकर अज्ञानान्धकार का नाश करनेवाला । उच्चता (वर्षो) उत्पन्न करके हलचल करने वाला ।

ये सब शब्द योग्य उपदेशक का ही वर्णन कर रहे हैं । इस प्रकार वेदमें “अग्नि” शब्द ज्ञानी उपदेशक ब्राह्मणका वाचक है । तथा “इन्द्र” शब्द सृष्टियका वाचक है ।

ब्रह्म सृष्टिय ।

“ ब्रह्म सृष्टिय ” शब्द ब्राह्मण और सृष्टिय का बोध करता है । वेदमें ये दो शब्द इच्छे कई स्थानपर आये हैं । यही भाव “अग्नि-इन्द्र” से दो शब्द वेदमें कई स्थानोंपर मन्वत कर रहे हैं । अग्नि शब्द ब्राह्मणका और इन्द्र शब्द सृष्टियका वाचक है । अग्नि शब्दका ब्राह्मण अर्थ हमने देखा, अब इन्द्र शब्दका अर्थ देखेंगे—

इन्द्र कौन है ?

स्वयं इन्द्र शब्द सृष्टिय वाचक है, क्योंकि इसका अर्थ ही शत्रु नाशक है—

१ इन्द्रः— (इन्द्रः) शत्रुओंके विना मित्र करनेवाला ।

२ बाहुमान्— बाहुवाला, मुखावाला, अर्थात् बाहुबलके लिये सुशिक्षित । हरएक मनुष्य मुखावाला होता ही है, परन्तु सृष्टियको ही “बाहुमान्” इसलिये कहा है, कि उसका कार्य ही बाहुबल का होता है ।

३ इन्द्रः वज्रेण शीर्षाणि बृहन्तु = सृष्टिय उत्पन्नके शत्रुओंके विरुद्ध काटे । वह सृष्टियका कार्य इस सूक्तके अंतिम मंत्रमें वर्णन किया है । युद्धमें शत्रुओंके विरुद्ध काटनेका कार्य तथा युद्धोंके विरुद्ध काटनेका कार्य सृष्टियोंका ही अधिक है ।

इससे सिद्ध है, कि इस सूक्तमें “इन्द्र” शब्द सृष्टिय का भाव सूचित करता है । अग्नि शब्दसे ब्राह्मण उपदेशक और इन्द्र शब्दसे सृष्टिय का अर्थ करनेवाले सृष्टियका बोध लेकर इस सूक्तका अर्थ देखना चाहिये ।

धर्मोपदेशका क्षेत्र ।

पाठक यह न समझें, कि साप्ताहिक या वार्षिक अरुधर्मोंमें व्याख्यान देना ही धर्मोपदेशक का कार्य क्षेत्र है । वहाँ तो धार्मिक लोग ही आते हैं । पहिलेसे जिनकी प्रशस्ति धर्ममें होती है, वे ही धार्मिक लोग अरुधर्मोंमें आते हैं ; इस लिये ऐसे धार्मिकोंको धर्मोपदेश देना योग्य हुए पड़े वे फिर धर्मोंके

समान ही है। वास्तव में मालिन कपडे को ही धोकर स्वच्छ करना चाहिये, इसी तरह अधार्मिक शक्तिके लोगों को ही धर्मोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये, यही सच्चा धर्म प्रचार है, यह बतानेके लिये इस सूक्तमें धर्म प्रचार करने योग्य लोगोंका वर्णन निम्न लिखित शब्दोंसे किया है—“यातुधान, किर्मादिव, दस्यु, अत्रिव ।” अब इनका आशय देखिये

१ यातु—“यातु” भटकनेवाले का नाम है। जिसको परदार कुछमी नहीं है और जो अन्य पशुके समान इधर उधर भटकता रहता है उसका नाम “यातु” है। भटकने का अर्थ बतानेवाला “या” यातु इसमें है।

२ यातुमान्— यातुमान्, यातुवान्, यातुमत्, शब्दका अर्थ “यातुवाला” है अर्थात् जिसके पास बहुतसे यातु (भटकनेवाले) लोग होते हैं। अर्थात् भटकने वालों के जमाव का सुझिया।

३ यातुमावान्— बहुतसे यातुमानों को अपने कार्यमें रखनेवाला।

४ यातुधानः— यातुओंका कारण पोषण करनेवाला, अर्थात् भटकनेवालोंको अपने पास रखकर उनको पोषण करनेवाला। “यातु धान्य” भी इसी भावका वाचक है।

पाठकीने जान लिया होगा, कि ये शब्द विशेष बातको व्यक्त कर रहे हैं। जिसके परदार अंगुष्ठ आदि होते हैं, और जो कुटुम्बमें रहता है, वह उतना उपद्रव देनेवाला नहीं होता; जितना कि शिशुका घरदार कुछमी न हो, और जो भटकने वाला होता है। यह सदा भूखा रहता है, किसी प्रकारका भनका समीपान बचको नहीं होता, इसलिये हरएक प्रकारका उपद्रव देनेके लिये वह तैयार होता है; इसी कारण “यातु” शब्द “बुरी शक्ति वाला” इस अर्थमें प्रयुक्त होता है। दुष्ट, बाहु, चोर, छुटेरे, बटमार आदि इसी शब्दके अर्थ आगे आकर बने हैं। ये चोर बाहु जबतक अकेले अकेले रहते हैं, तब तक उनका नाम “यातु” है, ऐसे दोचार बाहुओंको अपने वशमें रखकर बाका बालनेवाला “यातु-मान्, यातु-वान्, यातुमत्” अर्थात् यातुवाला किंवा बाहुवाला कहा जाता है। पहिले की अपेक्षा इससे समाजको अधिक कष्ट पहुंचते हैं। इस प्रकारके छोटे बाहुओंके अनेक संघोद्यो अपने आपीन रखने वाला “यातु-मान्-वान्” अर्थात् बाहुओंकी कई जमातोंको अपने आपीन रखनेवाला। यह पूर्वकी अपेक्षा अधिक कष्ट प्रामों और प्रांतोंको भी पहुंचा सकता है। इसीके नाम “यातु-धान, यातु-धान्य” हैं। पाठक इससे जान सकते हैं, कि ये वैदिक शब्द

जो कि वेदमें कई स्थानोंमें आते हैं, इन और दुष्ट लोगोंके वाचक हैं। अब और देखिये—

५ अत्रिव्— अत्री (अतति) मतत भटकता रहता है। यह शब्द भी पूर्व शब्द का ही भाव बताता है। इसका दूसरा भाव (अति) खानेवाला, सदा अपने भोगके लिये दूसरोंका गला काटनेवाला। जो थोड़ेसे धनके लिये खून कते हैं, इस प्रकारके दुष्ट लोगोंका वाचक यह शब्द है।

६ किर्मादिव्— (कि इदानीं) अब क्या खांय, इस प्रकार की शक्तिवाले भूले किंवा पेटके लिये ही दूसरोंका घात पाण करनेवाले दुष्ट लोग।

७ दस्यु— (दस्यु उपश्रये) घातपात करनेवाले, दूसरोंका नाश करनेवाले हर प्रकारके दुष्ट लोग।

ये सब लोग समाजके सुलभता नाश करते हैं, इनके कारण समाजके लोगोंको कष्ट होते हैं। ये ग्राममें आगये, तो ग्राममें चोरी, चकैती, खून, छटमार होती है, श्री विषयक अत्याचार होते हैं, सजनोंके अनेक प्रकारके नष्ट होते हैं इसलिये इन लोगोंको धर्मोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये, यह इस सूक्तका आदेश है। जो घरदारसे हीन हैं, जो जंगलों और बनों में रहते हैं, जो चोरी चकैती आदि दुष्ट कर्म करते हैं। उनको धर्मोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये। अर्थात् जो नागरिक हैं, जो पहिलेसे ही धर्मके प्रेमी हैं उनमें धर्म की जागृति करनी योग्य है; परंतु जिनके पास धर्म की आवाज नहीं पहुंची और जिनका जीवन कर्म ही धर्मबान्ध मार्गमें सदा चलता रहता है, उनका सुधार करके ही उनको उत्तम नागरिक बनाना चाहिये। धर्मोपदेशक यह अपना कार्य क्षेत्र देखें।

धर्मोपदेशक के गुण, शासन कार्य में नियुक्त क्षत्रिय के गुण, और जिन लोगोंमें धर्म प्रचारकी अत्यंत आवश्यकता है उनके गुणकर्म इनमें इस सूक्तके आधारसे देखें। अब इन शब्दार्थोंके प्रकाश में यह सूक्त देखना है—

दुष्टोंका सुधार।

प्रथम मंत्र—“हे धर्मोपदेशक! तुम्हारी प्रशंसा करनेवाले दुष्ट चकैतों को यहां ले आ, क्योंकि तू बंदना प्राप्त करनेपर दस्युओंका नाशक होता है” ॥ १ ॥

इस पहिले मंत्रमें दो विधान हैं—

- (१) स्तुति करनेवाले बाहुको यहां ले आ, और
 - (२) उनका नमस्कार प्राप्त करके उनका नाशक हो।
- इसका तात्पर्य यह है— “धर्मोपदेशक ऐसे दुष्ट बाहुबटमार आदिकों में धर्मोपदेश करनेके लिये जावे, उनको सत्य धर्मका उपदेश करे, चोरी अदि पाप कर्म हैं यह उनको ठीक प्रचार

रामदा दे, उन दुष्ट कर्मों से उनको वह निवृत्त करे, जब वे ठीक प्रकार जानेंगे कि चोरी आदि उनके व्यवसाय बुरे हैं और मानवों की रक्षा करनेवाला सत्य धर्म भिन्न है और वह सत्य धर्म इस धर्मोपदेशकसे प्राप्त हो सकता है, तब वे इसके पास आना भूलकर आँगे, इसकी प्रशंसा करेंगे और इसके सागने सिर झुकायेंगे अर्थात् इनको प्रणाम करेंगे । जब उनमें इतनी धृष्टाभाकि बढ़ेगी, तब उनका बाकूपनका नाश या हनन स्वयं ही हो जायगा । इसलिये मंत्र कहता है कि "धर्मोपदेशक दुष्ट मनुष्योंको अपने उपदेशद्वारा अपनी प्रशंसा करनेवाले बनाकर अर्थात् अपने अनुयायी बनाकर, अपने समाजमें ले आवे, और उनसे नमस्कार प्राप्त करके उनका पातक बनें ।"

"जिनसे नमस्कार प्राप्त करना उनकाही फल करना" प्रथम विधि सा प्रतीत होता है, परन्तु अधार्मिक दुष्ट मनुष्यों के सुधार करनेवालेसे ऐसाही फलदा है । जब दुष्ट मनुष्य धार्मिक बन जाता है उस समय वह पहिले धर्मोपदेशक के सामने अपना सिर झुकाता है और सिर झुकाते ही दुष्ट मनुष्यके रूपसे मर कर धार्मिक नवजीवन प्राप्त करने द्वारा वह मागो नया ही मनुष्य बनता है । यदि एक ढाकू धर्मोपदेशक सुनकर धार्मिक बन गया, तो उसकी सामाजिक दृष्टिसे सत्य अर्थ यही है कि एक ढाकू मर गया और एक सच्चा धार्मिक मनुष्य नया पैदा हुआ । जब दूसरा मंत्र देखिये—

मित भोजन करो ।

द्वितीय मंत्र— "हे परम श्रेष्ठ अयस्यामि रहनेवाले, शरीर घटामें रहने वाले जानी धर्मोपदेशक ! धी आदि पदार्थ चाल कर अर्थात् प्रमाणसे अक्षण कर । और दुष्टोंको रहलादो " ॥ १२ ॥

इस द्वितीय मंत्रमें दो आदेश हैं—

(१) चोलकर धी आदि भोजन का और

(२) दुष्टोंको रहला ।

धर्मोपदेशकों को ये दोनों बातें श्वानमें घरनी चाहिये । धर्मोपदेशक जिस समय बाहर प्रचारके लिये जाते हैं उस समय भगत लोग उनको भेवा, मिठाई, घी, मक्खन, दूध आदि पदार्थ आशुयकतासे भी अधिक देते हैं । तथा जो नये धर्ममें प्रविष्ट होते हैं, उनकी भक्तिकी तीव्रता अत्यधिक होनेके कारण वे ऐसे उपदेशकों का अधिक ही आदर करते हैं । इस समय बहुत संभव है कि मिठाईका गालचमें आकर उपदेशक अधिक खाये, और और की विगाहके कारण विमार पड़े । इसलिये वेदने उपदेश दिया कि धर्मोपदेशकोंको चोलकर ।

खाना चाहिये । ये उपदेशक सदा भ्रमणमें रहनेके कारण तथा जलनायुके सदा परिवर्तन होनेसे इनकी पाचक शक्तिमें विगाह होना संभव है; अतः जितनी पाचक शक्ति होती है, उससे भी कम ही खाना इनके लिये योग्य है । इस कारण वेद कहता है, कि "उपदेशक चोलकर ही धी आदि पदार्थ खावें" कभी अधिक न खावें ।

मंत्रमें दूसरी बात "दुष्टोंकी रहला" की है । यदि उपदेशक प्रमाण खानी होगा, और यदि उससे उपदेशसे शोताओंको अपने दुराचाराका पता लगा तथा उनके अंतःकरणमें धर्म भावना आण्ट हो गई तो उनके रो पकनेमें तथा अपने पूर्व दुराचारमय जीवनके विषयमें पूर्ण पश्चात्ताप होनेमें कोई सन्देहही नहीं है । इस प्रकार द्वितीय मंत्रका भाव देखनेके पश्चात् अब तीसरा मंत्र देखिये—

दुष्टजीवनका पश्चात्ताप

तृतीय मंत्र— "दुष्ट लोग रो पड़ें, और हे धर्मोपदेशक ! उरे लिये यह हमारा दान है, क्षत्रिय भी इसका स्वीकार करे " ॥ ३ ॥

जब धर्मोपदेशक के धर्मोपदेश सुनकर दुष्ट लोगोंको अपने दुष्टाचाराका पश्चात्ताप होवे और वे रो पड़ें । तथा जनता ऐसे धर्मोपदेशकोंको तथा उनके सहायक क्षत्रियोंको भी यथा शक्ति दान देती रहे । जनताकी धनरक्षि सहायतासे ही धर्मोपदेशका कार्य चलता रहे । अब चतुर्थ मंत्र देखिये—

धर्मोपदेशक कार्य चलावे ।

चतुर्थ मंत्र— "पहिले धर्मोपदेशक अपना कार्यप्रारंभ करे । पहिले क्षत्रिय उसकी सहायता करे । इसका परिणाम ऐसा हो कि सब दुष्ट आकर 'मैं यहाँ हूँ' ऐसा कहें " ॥ ४ ॥

धर्मोपदेशक देशदेशान्तरमें, जहाँ जहाँ वे पहुँच गँकें, वहाँ निरंतर होकर आकर, अपना धर्मप्रचारका कार्य जोरसे करते जाँव । कठिनसे कठिन परिस्थितोंमें भी न हारते हुए वे अपना कार्य जोरसे चलावें । पहिले क्षत्रिय उनकी उचित सहायता करे । परन्तु ऐसा बन्धी न होवे कि धर्मोपदेशक पहिले ही क्षत्रियोंकी सहायता प्राप्त करके क्षत्रबलके जोरपर धर्मप्रचार का कार्य चलावें, यह ठीक नहीं । इतलिये वेदका कहना है कि धर्मोपदेशक आदि क्षत्र बलके भरतोंसे अपना धर्म प्रचारका कार्य न करे, प्रत्युत धर्मप्रचारको अपना आवश्यक कर्तव्य समझ कर ही अपना कर्तव्य करता रहे । इस धर्मप्रचारका परिणाम

ऐसा हो, कि सब दुष्ट दुराचारी मनुष्य अपना आचरण सुधारने और खुले दिलसे उपदेशोंके पास आकर कहें कि " हम अब आपकी सारणमें आगे हैं।" यहाँ धर्म प्रचारका सा-य है। धर्म प्रचारमे दुराचारी बाहु सुधार जाय और अच्छे धार्मिक बनें, वे अपने पूर्व दुराचारका पश्चात्.प करें, तथा जब पूर्व दुराचारका उनको स्मरण आवे उस समय उनको रोना आवे। क्षत्रियके बल की अपेक्षा न करते हुए केवल ब्राह्मण ही अपनी धार्मिक और आत्मिक शक्तिये यह कार्य करें। विद्येमे क्षत्रिय उनको मदत पहुंचावे। क्षत्रियके जोरसे जो धर्म प्रचार होता है, वह सत्य नहीं है, परन्तु ब्राह्मण अपने सार्विक कृतिसे जो हृदय पलटा देता है, वही सच्चा धर्मपरिवर्तन है। इस प्रकार चतुर्थ मंत्रका भाग्य देखनेके पश्चात् अब अगला मंत्र देखिये—

दुष्टोंकी पश्चात्पसे शुद्धि ।

पंचम मंत्र— " हे ज्ञानी उपदेशक ! हम तुम्हारा पराक्रम देखेंगे। हे मनुष्योंकी सम्मार्ग बलवानेवाले ! तुम दुष्टोंको हमारे धर्मका उपदेश करो। तुम्हारे प्रयत्नसे पश्चात्प को प्राप्त हुए सब दुष्ट लोग हमारे पास आवें और वैसाही कहें।" ॥ ५ ॥

पूर्वोक्त प्रकारका सच्चा धर्मोपदेशक जिस समय धर्मोपदेश के लिये चलने लगता है, उस समय उसका गौरव कइते हुए लोग कहते हैं कि " हे उपदेशक ! अब तू उपदेश करनेके लिये आ रहा है, हम देखेंगे कि तू अपने परिशुद्ध हृदयपदेशके कितने लोगोंके हृदयमें पलटा कल्पन करते हो और कितनों को सत्य धर्मकी दीक्षा देते हो। इसीसे तुम्हारे पराक्रमका हमें पता लग जायगा। हम जाओ, हम तुम्हारा गौरव करते हैं। सत्यधर्मका संदेश सब जनता तक पहुंचाओ। तें उपदेश की ज्ञानामिसे तपे हुए और पश्चात्पको प्राप्त हुए लोग हमारे अंदर आवें और कहें " कि हमने अब धर्मोपदेश पाया है। और अब हम आपके बने हैं।"

"तप्त, संतप्त, परितप्त" ये शब्द पश्चात्पके सूचक हैं। तप्त शब्द तपकर शुद्ध होनेका सूचक है। अग्नि तपाकर सोना, चाँदी, तांबा आदि धातुओंको शुद्ध करता है अर्थात् उनके मलोंका दूर करता है। इस प्रकार यहाँका अग्नि-जो ज्ञानी धर्मोपदेशक है-वह अपनी ज्ञानामिसे सब दुष्टोंको तपाता है और अच्छी प्रकार उनके मलोंको दूर करता है। शुद्धिकी वही विधि है। भोगके जीवनको छोड़कर उनके बचनमें आना ही धार्मिक बदला है। इस दृष्टांत इस मंत्रका "परि-तप्ताः" शब्द

बड़े भावका सूचक है। अब छोटे मंत्रका भावार्थ देखिये—

धर्मका दूत ।

षष्ठ मंत्र—" हे ज्ञानी पुरुष ! अपना कार्य आरंभ कर। हमारे कार्य के लिये ही तुम्हें आगे किया है। हे उपदेशक ! तू हमारा धार्मिक संदेश पहुंचाने वाला दूत बन कर दुष्टोंको पश्चात्पसे कडा दे" ॥ ६ ॥

धर्म प्रचारके लिये बाहर जानेवाले उपदेशकोंको लोग कहते हैं कि—" अब तू अपना धर्म प्रचारका कार्य आरंभ करदो। बिना कर देशदेशांतरमें जा और वहाँ सत्यधर्मका प्रचार कर। यही हमारा कार्य है और इसी कार्यके लिये तुम्हें आगे भेजा जाता है, अपना आगे रखा जाता है। हमारा धार्मिक संदेश जगत्में फैलाना है, इस संदेशको स्थान स्थानमें पहुंचानेवाला दूतही तू है। अब जा और धार्मिक संदेशको चारों दिशाओंमें फैला दो और इस समय तक जो लोग अधार्मिक कृतिसे रहते हैं, उनको अपने सदुपदेशद्वारा शुद्ध करो और उनको अपने पूर्व दुराचारका पूर्ण पश्चात्प होने दो। उनके दिलोंका ऐसा पलटा दो कि जिससे वे अपने पूर्वचरणका स्मरण करके रोने लगें।" इस प्रकार जगत्का सुधार करनेके लिये धर्मोपदेशकोंको भेजा जाता है।

बाहुओंको दण्ड ।

इतना धर्मोपदेश होकर भी जो सुधरने नहीं और अपना दुराचार जारी रखेगे अथवा पूर्वोक्त प्रकारके भ्रष्ट धर्मोपदेशकोंके पराक्राण्टके प्रयत्न करनेपर भी जो अपना दुष्ट आचरण नहीं छोड़ते और जनताको चोरी चकैती आदिसे धार्यत कष्ट देते ही रहेंगे, उनको योग्य दण्ड देना ब्राह्मणका कार्य नहीं, वह कार्य क्षत्रियका है यह आशय अग्ने मंत्रमें कहा है—

सप्तम मंत्र—" हे धर्मोपदेशक ! तुम्हारे प्रयत्न करनेपर भी दुष्ट बाहु आदि अपने दुराचार छोड़ते नहीं उनको बांध कर पहाँ ला और पश्चात् क्षत्रिय उनके सिर ललवारसे काट दे" ॥ ७ ॥

भ्रष्ट धर्मोपदेशक अपना धर्मोपदेशका प्रयत्न करे और दुष्टोंको पवित्र धार्मिक बनानेका यत्न करे। जो सदाचारी बनेंगे वे अपनेमें संश्लिष्ट हो जायेंगे। परंतु जो बारंबार प्रयत्न करनेपर भी अपना दुष्ट आचार जारी रखेंगे उनको दण्ड देना आवश्यक ही है। क्योंकि सब शासन संस्था समाज की शक्तिसे लिये ही है। परंतु दुष्टोंके भी सुधरनेका पूरा अवसर देना चाहिये। जब बारंबार प्रयत्न करनेपर भी वे सुधरने नहीं तो क्षत्रिय आवे बड़े और अपना कठोर दण्ड आगे करे। क्षत्रिय उन अत्याचारी दुष्टोंको बांधकर उनके सिर ही कटदे, इससे

अन्योंको भी यह उपदेश मिल सकता है, कि हम भी धार्मिक बननेसे लाल सकते हैं, नहीं तो हमारी भी यही अवस्था बनेगी।

ब्राह्मण और क्षत्रियोंके प्रयत्नका प्रमाण।

इस सूक्तमें ब्राह्मणके प्रयत्न के लिये छः मंत्र हैं और एकही मंत्रमें क्षत्रियका कठोर दण्ड आगे करनेको सूचित किया है। इससे स्पष्ट है कि हमसे कम छः गुणा प्रयत्न ब्राह्मण अपने सुदुपदेशसे करें, इतने प्रयत्न करनेपरभी यदि वे न सुधरे, कमसे कम छः बार प्रयत्न करनेपर भी न सुधरे, छःबार अथवा देने-पर भी जो भोग दुष्टता नहीं छोड़ते, उनपर ही क्षत्रियका वज्र प्रहार होना योग्य है। क्योंकि जिनको अन्तसे ही दुष्टता करने का अभ्यास होगा वे एक बारके उपदेशसे पलट जायेंगे अथवा सुधरेगे यह कठिन अथवा अशक्य है। इसलिये मित्र सपायसे उनको अधिक अवसर देने चाहिये। इतना करनेपर भी जो नहीं सुधरते उनको या तो बंधन में डालना या शिरच्छेद करना चाहिये।

ब्राह्मण भी हनन करता है और क्षत्रियभी करता है परन्तु दोनोंके हननों में बड़ा भारी भेद है। पहिले मन्त्र में ब्राह्मण की रीति बताई है और सप्तम मन्त्रमें क्षत्रिय की पद्धति बतायी है। क्षत्रिय की रीति यही है कि तलवार लेकर दुष्टका गला काट डालना, अथवा दुष्टको कारागृहमें बान्धकर रखना। ब्राह्मण की रीति इससे भिन्न है। ब्राह्मण उपदेश करता है, उपदेश द्वारा भोताभोंक दिष्टोंको पलटा देता है, उनको अनुगामी बना देता है, उनके मनकी दुष्टता का नाश करता है। दोनोंका उर्वर्य दुष्टोंकी संख्या कम करने का ही होता है, परन्तु ब्राह्मण दुष्टोंकी सुभालेका प्रयत्न करता है, हृदय शुद्ध बनाता है और दुष्टोंकी संख्या घटाता है। और क्षत्रिय उनकी कत्तक करके उनकी संख्या घटाता है। इसी लिये ब्राह्मण के प्रयत्न श्रेष्ठ और क्षत्रियके क्षर दंडके हैं।

वेदमें जहाँ “हनन, दहन, परिताप, विलाप” आदि शब्द आते हैं वहाँ सर्वत्र एकसादी अर्थ लेना उचित नहीं। वे शब्द ब्राह्मण के लिये प्रयुक्त हुए हैं या क्षत्रिय के लिये हुए हैं यह देखना चाहिये। हनन से शत्रुकी संख्या घटती है, ब्राह्मण, क्षत्रिय दोनों अपने अपने दायरे हनन करते हैं, परन्तु ऊपर बतायाही है, कि ब्राह्मण विनाश परिवर्तन द्वारा शत्रुका नाश करता है और क्षत्रिय शिरच्छेदादि द्वारा शत्रुको घटाता है। इसी प्रकार “विलाप” भी दो प्रकार का है। क्षत्रिय शत्रुकी कत्तक करता है उस समय भी शत्रुके भोग विभाप करते हैं और रेतों पीटने ही हैं। उसी प्रकार ब्राह्मण धर्मोपदेश द्वारा गित समय भोताभोंके हृदयमें अस्मिभाव और धर्मप्रेम उत्पन्न करने द्वारा कृत दुराचारका पश्चात्ताप उत्पन्न करता है उस समय भी वे भोग रेतें हैं और आंसू बहाते हैं। इन दोनों आंसू बहाने में बड़ा भारी भेद है। जो श्रेष्ठ परिवर्तन ब्राह्मण कर सकता है, वह क्षत्रिय क्यापि नहीं कर सकता। यही बात “परिताप, घन्ताप” आदिके विषयमें समझनी चाहिये।

इस सूक्तका अर्थ करनेवाले विद्वानोंने इस ब्राह्मणक्षत्रिय प्रणालिके भेदको न समझने के कारण इन शब्दोंके अर्थका बड़ा अनर्थ किया है। इसलिये पाठक इस भेदको पहिले समझें और पश्चात् मन्त्रोंके उपदेश जाननेका यत्न करें। यह बात एकरार ठीक प्रकार समझने आगई, तो मन्त्रोंका आशय समझनेमें कोई कठिनाता नहीं होती, परन्तु ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके क्रमशः कोपल और तीक्ष्ण मार्गोंका भेद यदि ठीक प्रकार समझने नहीं आया, तो अर्थका अनर्थ प्रतीत होगा। इसलिये दुष्टोंकी संख्या ब्राह्मण किस प्रकार घटाता है और क्षत्रियकिस प्रकार घटाता है, इसी प्रकार ये दोनों शत्रुओंको किस रीतिसँ ब्रह्मते हैं, तपाते हैं और जलाते हैं, यह पाठक अपने विचार से और वहाँ बताये मार्गसे ठीक समझें और ऐसे सूक्तोंका तात्पर्य जानें।

(८)

(ऋषिः—चातनः । देवता—अभिः, वृहस्पतिः)

इदं हविर्यातुघानान् नदी फेनमिवा बहन् । य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवता जनः ॥१॥
अयं स्तुवान् आगमदिमं स्म प्रति हर्षत । वृहस्पते वश्रे लन्घ्वापीपोमा वि विंध्यतम् ॥२॥
यातुघानस्य सोमप ज्जहि प्रजा नयस्व च । नि स्तुवानस्य पातय परमह्युतावरम् ॥३॥

यत्रैपामग्रे जनिमानि वेत्य गुहां सतामृत्त्रिणां जातवेदः ।
तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो ज्ञोषिषां शततर्हमग्रे

॥४॥

अर्थ— (नदी फेन इव) नदी फेन को जेही लाती है उस प्रकार (इदं हविः) यह दान (यागुधानान् भावइव) दुर्गोहे यहाँ लावे । (यः पुमान्) जो पुरुष अथवा जो स्त्री (इदं अकः) यह पाप करती रही है । (सः जनः) वह मनुष्य तेरो (स्तुवतां) प्रशंसा करे ॥ १ ॥ (स्तुवानः अयं) प्रशंसा करनेवाला यह ढाङ्गु (भागमन्) आया है, (इमं) इसका (स्म प्रति हयंत) अथवा स्वागत करो । हे (बृहस्पते) ज्ञानो उपदेशक ! इस को (वसो लब्ध्वा) वशमें रखकर, हे (भग्नी-पोमौ) अग्नि और ओम ! (वि विष्यतं) इसका विशेष निरीक्षण करो ॥ २ ॥ हे (सोमय) सोमगान करनेवाले ! (यागुधानस्य प्रजां) ब्रह्मकी सन्तान के प्रति (जहि) जा, पहुँच और (च नयस्व) उन्हें लेजा अर्थात् सन्मार्गसे चला । तथा (स्तुवानस्य) प्रशंसा करनेवालेका (परं उत अवरं) भेद और कनिष्ठ (अक्षि) आँखें (नि पातय) नीचे कर दो ॥ ३ ॥ हे (अग्ने जातवेदः) तेजस्वी ज्ञानी पुरुष ! (यत्र गुहा) जहाँ कहा गुहामें (एषां) इन (अग्निगांसतां) मटकनेवाले सजनों के (जनिमानि) कुलों और संतानों को (वेत्य) तू जानता है (तान् ब्रह्मणा वावृधानः) उनको ज्ञानसे बडाता हुआ (एषां शततर्हं जहि) इनके सैकड़ों कटौत कर ॥ ४ ॥

यह सूक्त भी पूर्वसूक्त का ही उपदेश विशेष रीतिसे बढाता है। ब्रह्म लोगोंको किस रीतिसे सुधारना योग्य है इसका विचार इस सूक्तमें देखने योग्य है। इस सूक्तमें ब्राह्मण उपदेशक का एक और विशेषण आगया है वह “बृहस्पतिः” है। इसका अर्थ ज्ञानपति प्रसिद्ध है, बृहस्पति देवोंका गुरु ब्राह्मण ही है; इसलिये इस विषयमें शंका ही नहीं है। “सोम” शब्द इलीका वाचक इस सूक्त में है। “सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा।” ब्राह्मणोंका मुखिया सोम है, उसी प्रकार बृहस्पति भी श्रेष्ठ ज्ञानी ब्राह्मण ही है। पाठक इन शब्दोंको पूर्वोक्त सूक्तके ब्राह्मण वाचक शब्दोंसे साध मिलाकर देखें और सबका मिलकर मनन करें, तो उनसे पता लग जायगा कि धर्मोपदेशक ब्राह्मण किन गुणोंसे युक्त होना चाहिये। अब क्रमशः मन्त्रोंका आशय देखिये—

धर्मोपदेशका परिणाम ।

प्रथम मन्त्र—“ जिस प्रकार नदी फेन को लाती है, उस प्रकार यह दान दुष्टोंको यहाँ ले आये। उनमें से खी या पुरुष जो कोई इस प्रकारका पाप करता है वही आदमी स्तुति करनेवाला बने। ” ॥ १ ॥

शुद्धिबोध मपी हुई नदी जिस प्रकार अपने साथ फेनको लाती है उसी प्रकार धर्मप्रचार के लिये अर्थग किया हुआ यह हमारा दान दुष्ट लोगोंको यहाँ धरिण लावे। अर्थात् इस दानका विनियोग धर्मप्रचारमें होकर उस धर्मप्रचारसे इतना प्रचारका कार्य होवे, कि जिससे सब दुष्टलोग अपनी दुष्टता छोडकर उतम नागरिक बननेके लिये हमारे पास आजावे। उनमें किये

हों या पुरुष हों, जो कोई उनमें पापाचरण करनेवाला हो, वह उपदेश सुनते ही धर्म मार्गसे जोरित होकर तथा धर्ममें आनेके लिये उसका हीकर, धर्मकी प्रशंसा करे और अधर्माचरण की निंदा करे। पाठक प्यान रखें, कि इदयके भाव परिवर्तित होनेका यह पहिला लक्षण है। धर्ममें प्रविष्ट होनेके पश्चात् धर्म-संपर्कके लोभ उससे किब प्रहार आचरण करे इस विषयका उप-देश द्वितीय मंत्रमें देखिये—

नवप्रविष्टका आदर ।

द्वितीय मंत्र—“ यह स्तुति करता हुआ आगया है, इसका स्वागत करो। हे ज्ञानी पुरुष ! उसको अपने बशमें रख कर, ब्राह्मण और उनका मुलिया ये उस पर प्यान रखें ॥ २ ॥ ”

उपदेश श्रवण करके धर्मकी ओर आकर्षित होकर धर्मकी प्रशंसा करता हुआ यह पुरुष आया है। अर्थात् जो पहिले अधार्मिक दुष्टचारी ढाङ्गु या उसका मन धर्मकी ओर झुका है और वह नुबे दिलसे कहता है कि धर्म मार्गसे जाना ही उतम है। धर्मकी श्रेष्ठता वह जानने लगा है और अधर्माचरणसे मनुष्यकी जो गिरावट होती है वह उसके मनमें अब अच्छी प्रकार आगई है। उस गिरावटसे बचनेके कारण वह अब धर्मसंपर्कमें प्रविष्ट होना चाहता है और उसी उद्देशसे वह धार्मिक लोगोंके पास आगया है। इस समय धार्मिक लोगोंको चाहिये कि वे उसका स्वागत करें, उसका स्वाकार आदर पूर्वक करें अर्थात् उसको अपनायें। बृहस्पति अर्थात् जो ज्ञानी ब्राह्मण ही उसके पास वह रहे, वह उनके कहे नियमोंके अनुसार चले, तथा अन्य समय उनपर

निरिक्षण उपदेशक और प्राणशक्ति मुखिया करते रहें, और चारों तरफ उनको धर्मपन्था बोध कराते रहें ।

इस प्रकार उसकी योग्यता बढ़ाई जाय और उसके धार्मिक भावराज्यपण लिया जाय । नती तो धर्मसंघर्षमें प्रविष्ट हुआ नव मानव सम्पूर्णगोष्ठी उदासीनताके कारण उदासीन होकर चला जायगा और अधिक विरोधी बनेगा; इसलिये नवीन प्रविष्ट हुए मनुष्यको अनानाके शिष्यमें सम्मेलितकर यह नया मारी बोध है । इस शिष्यमें वेदके चार अर्थ प्यानमें करने योग्य हैं ।

१ यह नवीन प्रविष्ट हुआ है,

२ इसका गौरव करो,

३ प्रविष्ट होते ही शानी इसे नियममें चलानेकी शिक्षा दे और

४ अन्य विद्वान् उसका निरीक्षण करें ।

इस मंत्रमें "विधर्त" शब्द है, उसका प्रविष्ट अर्थ निघाना मानना है, निघाना माननेका तात्पर्य उसपर वैधक्य रहित रखना, उसकी विशेष निराणी करना है । उसका विशेष स्थान रखना, उसका सदा भला करनेका यत्न करना । अस्तु । अब तीसरा मंत्र देखिये—

दुष्टोंकी संतानका सुधार ।

तृतीय मंत्र— "हे सोमपान करनेवाले ! दुष्ट लोगोंकी प्रजाको अर्थात् उनके बालबच्चोंको प्राप्त करो और उनको उत्तम मार्गसे चलाओ । जो सुन्दारी प्रसंता करेगा उसकी दोनो मातें नीचे करो ॥ ३ ॥"

सोम-पान करनेवाला अर्थात् यह शर्त्ता प्राणय यह शर्त्ता धर्म प्रचारका बड़ा कार्य करता है । दुष्टोंका सुधार करनेके महत्व पूर्ण कार्यमें विशेष महत्त्वकी बात यह है कि, धर्मके प्रचारके आयुषे बड़े बड़े आदेशोंकी ओर उदासीन नबुवकोंके सुधारका अधिक यत्न करें । नवयुवकोंके संघ बनने, उनका आचार सुधार, उनकी रचि सदाचारकी और करें अर्थात् हाएक पीठिसे उनकी धार्मिक बननेका सबसे पहिले उद्योग करें । क्योंकि आयुषे बड़े लोग अपने दुष्टचारमें हैं। मस्त रहते हैं अथवा उनको वही आचार प्रिय और लाभदायक प्रतीत होता है, अतः उसको परताना कठिन कार्य है । परंतु नवयुवकोंके कोमल मन होते हैं, उनमें उतने दृढ सुसंस्कार नहीं होते, इसलिये नवयुवकोंका सुधार अति शीघ्र हो सकता है । इसके अतिरिक्त यदि नव युवक सुधार गये, तो उनका योगका संघर्ष एकदम सुधार जाता है । इसलिये नवयुवकोंका सुधारनेका प्रयत्न विशेष रीतिसे करना चाहिये । दुष्टोंके चानकोंको जना कहेके उनको धर्मनीति अर्थात् धार्मिक आचारकी शिक्षा देना चाहिये । उनमें जो सुन्दारे धर्म-

की प्रयोग करेगा उसकी आँखें पहिले नीचे करो, अर्थात् उनकी जो आँखें ऊंची होती हैं वह नीची हो जाय । इसका आशय यह है कि उनकी घमंडी दृष्टि दूर करके उनमें नम्र भाव युक्त दृष्टि स्थापित करो । अधार्मिक दुष्ट लोगोंकी आँखें लाल और मरुन्नम होती हैं, आँदें टेडी और चट्टी हुई होती हैं, दूसरे मनुष्यकी जान लेना उनकी एक सहज वान होती है, यह टेडी दृष्टि का भाव है । नीची दृष्टि का आशय चानचलनकी नम्रता, श्रद्धा, भक्ति, आत्मपरीक्षा, आत्मसुधार आदि है । (अक्षि निपानय) आँख नीचे करना, यह दृष्टिमें भेद है । साधारण मनुष्यकी दृष्टि और प्रचारकी होती है, चोरकी दृष्टि और होती है, साधुकी दृष्टि और होती है तथा ब्राह्मणकी दृष्टि भी और होती है । बानककी दृष्टि, तथा तरुण और वृद्धोंकी दृष्टिमें भेद है । इसलिये वेदमें कहा कि उनकी दृष्टि नम्र करो । धार्मिक आचार जीवनमें डाले गये तो ही यह दृष्टि बनती है अन्वयात् । अस्तु । इस प्रकार तृतीय मंत्रका भाव देखनेके पश्चात् चतुर्थ मंत्रका आशय अब देखिये—

घरोंमें प्रचार ।

चतुर्थ मंत्र— "हे शानी उपदेशक ! जहाँ जहाँ गुणालोंमें इन भटकने वालोंमेंसे किंचित भले पुरुषोंके कुछ या संतान होगे, वहाँ पहुँच कर ज्ञानकी उनमें वृद्धि करते हुए, उनसे होनेवाले सैकड़ों कष्टोंको दूर करो ॥ ४ ॥

चोर बाहु आदिभक्त सुधारका विचार करते समय उनकी संघर्षमें उपदेश करना यह साधारण ही बात है, इससे अधिक परिणाम करके बात यह है, कि उनके परिवारोंमें जाकर वहाँ उनकी धर्मोपदेश करना चाहिये । ऐसा करनेके समय उन दुष्ट लोगोंमें जो कुछ भी भले आदमी (सदा अशिवा) हों, सबके घरोंमें पहिले जाना चाहिये, क्योंकि उनके दिन किंचित नरमसे होनेके कारण उनपर शीघ्र परिणाम होना संभव है । इनके घरोंमें जाकर उनकी, उनकी शिष्योत्पत्ति तथा उनके बाल बच्चोंको योग्य उपदेश देना चाहिये । उनकी उन्नति (अज्ञाना वाङ्मयः) ज्ञान द्वारा करनेका यत्न करना चाहिये, अर्थात् उनके ज्ञान देना चाहिये । सदा धर्मज्ञान देनेसे ही इनका उद्धार हो सकता है । एकबार धर्मज्ञानमें इनकी रचि बंध गयी, तो इनसे होनेवाले सैकड़ों कष्ट दूर हो जायेंगे और इनका भी कल्याण होगा ।

इस प्रकार इन दो सूक्तोंका उपदेश विशेष मनन करने योग्य है । धर्म प्रचार करने वाले उपदेशक तथा उपदेशकोंको नियुक्त करनेवाले सब्जन इन वैदिक आदेशोंका मनन करें और उचित बोध लेकर अपने आचरणमें लायेका यत्न करें ।

वर्चःप्राप्ति-सूक्त ।

यह सूक्त "वर्चस्य-गण" का प्रथम सूक्त है । वर्चस्यगणके सूक्तमें "तित्र संवर्धन, बलसंवर्धन, धनकी प्राप्ति, शरीरकी पुष्टि, समाज या राष्ट्रमें सम्मानप्राप्ति" आदि अनेक विषय होते हैं । वर्चस्यगणमें कई सूक्त हैं, उनका निर्देश आगे वही उसी स्थानपर किया जायगा—

(९)

[ऋषिः— अथर्वा । देवता-वस्वादयो नानादेवताः]

अस्मिन्वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः ।
 इमर्मादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरास्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु ॥ १ ॥
 अस्य देवाः प्रदिसि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम् ।
 सुपत्ना अस्मदधरे भवन्तुत्तमं नाकुमर्षि रोहयेमम् ॥ २ ॥
 येनेन्द्राय समभरः पर्यास्पुत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः ।
 तेनु त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रेष्ठय आ वैश्वेनम् ॥ ३ ॥
 एषां युञ्जमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषंमुत चित्तान्यमे ।
 सुपत्ना अस्मदधरे भवन्तुत्तमं नाकुमर्षि रोहयेमम् ॥ ४ ॥

अर्थ — (अस्मिन्) इस पुरुषमें (वसवः) वसु देवता तथा इन्द्र, पूषा, वरुण, मित्र, अग्नि ये देव (वसु) धनकी (धारय-
 न्तु) धारण करें । आदित्य और विश्वे देव (इमं) इस पुरुषको (उत्तरास्मिन् ज्योतिषि) अग्नि उत्तम तेजमें धारण करें ॥ १ ॥ हे (देवाः) देवी ! (अस्य) इस पुरुषके (प्रदिसि) आदेशमें ज्योति, सूर्य, अग्नि और हिरण्य (अस्तु) हे वि । (सपत्नाः) शत्रु (अस्मद अधरे) हमारे नीचे (भवन्तु) होवें और (इमं) इसको (उत्तमं नाकं) उत्तम सुखमें (अग्नि रोहय) दुःख नश्वो ॥ २ ॥ हे (जातवेदः) शानी उपदेशक ! (येन उत्तमेन ब्रह्मणा) विश्व उत्तम ज्ञानसे इन्द्रके लिये (पर्यासि समभरः) दुःखनाश रस दिये जाते हैं (तेन) उस उत्तम ज्ञानसे, हे (अग्ने) तेजस्वी पुरुष ! (इमं) इसको (इह) यहाँ (वर्धय) बढ़ाओ और (एनं) इसको (सजातानां श्रेष्ठये) अपनी जातिमें श्रेष्ठ स्थानमें (आ वैश्वे) स्थापित कर ॥ ३ ॥ हे (अग्ने) तेजस्वी पुरुष ! (एषां) इनके यज्ञ, (वर्धः) तेज, (रायः पोषं) धनकी वृद्धि और चित्त आदिकी (अहं आ ददे) मैं प्राप्त करता हूँ । (सपत्नाः) शत्रु हमारे नीचेके स्थानमें रहें और (इमं) इस मनुष्यको उत्तम सुखमें (अग्नि रोहय) पहुँचा दो ॥ ४ ॥

इस सूक्तका भावार्थ देखनेके पूर्व सूक्तकी कई बातोंका स्पष्टी-
 करण करनेकी आवश्यकता है, अन्यथा सूक्तका भावार्थ समझमें ही
 नहीं आवेगा । सबसे प्रथम सूक्तमें वर्णित देवताओंका मनुष्यके
 क्या संबंध है इसका ठीक ठीक ज्ञान होना आवश्यक है,
 इसलिये उसका विचार सबसे प्रथम करेंगे—

१ (अ. सू. भा. का १)

देवताओंका सम्बन्ध ।

जो ब्रह्माण्डमें है, वह पिण्डमें है, तथा जो पिण्डमें है वह
 ब्रह्माण्डमें है अर्थात् जो विश्वमें है, उसका सब मत्त्व एक
 व्यक्तिमें है और जो व्यक्तिमें है उसका विस्तार सब विश्वमें है,
 इसका विशेष ज्ञान निम्नलिखित ऋषिकृते हो सकता है ।

व्यक्तियों देवता का निवासक शक्तियाँ	ममाग्ने देवता समा शस्यतेषीं आठ शक्तियाँ	विश्वमें देवता बसवाः (अष्ट)
स्फुल्लशरीर रक्षादि धातु शरीरका तेज प्राण कान अक्षयन प्रकाश हृन्दिन गण ज्ञान क्षात्रतेज पुष्टि शांतिभाव मित्रभाव वाणी यार्तान्य मेन, दर्शनशक्ति सप्त दिव्य गुण तेज वृष्ट विचार आर्तद तेजो सुख	मातृभूमि जल मदी नद्य आदि शरिण विद्युत् आदि ह्युच वायु स्थान औषधि, वनस्पति धान्यादि प्रकाश साधारण जनता प्राण्यग, हानी मनुष्य क्षत्रिय वीर राष्ट्रपोषक अधिकारी जगधिकारी मित्र जन हानी उपदेसक स्वतंत्र विचारके लोग दार्शनिक विद्वान् सब विद्वान्, कारीगर धन शत्रु स्थापनता " "	पृथ्वी आप् तेजः ज्योतिः वयुः आकाशः सोमः अहः नक्षत्राणि, देवाः मर्यान् इन्द्रः पृथा वरुणः मित्रः अग्निः आदिष्ठाः सूर्यः विभे देवाः दिव्यं सप्तलाः नाक (सर्प) उत्तमं ज्योतिः मध्यमं " अथमं "

इस सूक्तमें प्रारंभमें जो "अग्निन्" पद है इसका अर्थ "हय मनुष्यमें" ऐसा है । प्रथम होता है कि जिस मनुष्यके उद्देशमें यह चन्द्र यहाँ आया है । पूर्व सूक्तके साथ इस सूक्तका संबंध देखनेसे स्पष्टतापूर्वक पता लगता है कि इस चन्द्रका संबंध पूर्व सूक्तमें वर्णित "नवप्रविष्ट शुभ हुर" मनुष्यके साथ ही है । जो मनुष्य मनकी शक्ति बदलनेके कारण अपने धर्ममें प्रविष्ट हुआ है, उसकी सबसे अधिक उन्नति करनेकी इच्छा करना प्रत्येक मनुष्यका आवश्यक कर्तव्यही है । अपने धर्ममें जो प्रे-
 छमें अंध प्रान्ध है, वह उसको तीव्र गति हो, इस विषयकी इच्छा मनमें धारण करनी चाहिये, अर्थात् उसको विशेष तेज प्राप्त हो ऐसी इच्छा धरना चाहिये । यद्यपि इस सूक्तका पूर्वा-
 पर संबंध देखनेसे यह सूक्त नव प्रविष्टकी तेजवृद्धिके लिये है ऐसा प्रतीत होगा है; तथापि इत्येक मनुष्यकी तेज वृद्धिके सा-
 मान्य निर्देश भी इसमें है और इस दृष्टिसे यह सामान्य सूक्त सब मनुष्यके उपयोगी भी है । पाठक इसका दोनों प्रकारसे विचार करें ।

अब यहाँ पूर्वोक्त मंत्रोंका भाष्य दिया जाता है और वह भाष्य देनेके समय व्यक्तियों को देवताएँ हैं उनको संस्कारों दिया जाता है । पाठक इसकी तुलना पूर्वोक्त कोटिके करें-

उक्तिका मूलमन्त्र ।

प्रथम मंत्र-" इस मनुष्यमें जो निवासक शक्तियाँ हैं तथा क्षात्र बल, पुष्टि, शांति, मित्रता तथा वाणी आदिकी शक्तियाँ हैं, ये सब शक्तियाँ इतने धन्यता स्थापित करें । इसके स्वतंत्र विचार और इसके सब इन्द्रियों इसको उत्तम तेजमें धारण करें ॥ १ ॥ "

मनुष्यमें अथवा जगत्के हरएक पदार्थमें कुछ निवासक (बसु) शक्तियाँ हैं जिनके कारण वह पदार्थ या प्राणी अपनी अवस्थामें रहते हैं । त्रिष समय निवासक बसु शक्तियाँ बटती रहती हैं, उस समय पोषण होता है और घटती जाती हैं, उस समय क्षीणता होता है; तथा निवासक शक्तियोंके नाश होनेपर श्यु निश्चित है । इसी प्रकार अन्यान्य शक्तियोंके बटने घटनेसे वे वे गुण बढते या घटते हैं । मनुष्यमें बसुशक्तियाँ आठ हैं और अन्य देवताओंसे प्राप्त अन्य शक्तियाँ भी हैं । इन शक्ति-
 योंके विकसित रूपमें प्रकटित होनेसे ही मनुष्य बसु अर्थात् धन प्राप्त करता है और अपने आरको धन्य कर सकता है । शरीर रूपसे उन्नतिवा यही मूल मंत्र है । (१) अपनी निवासक बसुशक्तियोंका विचार करना, तथा (२) अपने अंदर क्षात्र-
 तेजकी वृद्धि करना (३) अपनी पुष्टि करना, (४) अपने

" प्रह्लाचर्य " पुरुषकमें अंशवतारका वैदिक भाव वर्णन किया है वह इस समय अवश्य पठिये । (लाक्षण्य मंडलद्वारा प्रकाशित । मूल्य १॥)

इस कोटिके पाठकोंको पता नभ आयेगा कि सूक्तके देवता शरीरमें किस रूपमें हैं, राष्ट्रमें त्रिष रूपमें हैं और अणुत्तमें त्रिष रूपमें हैं । सूर्यदेव जगत्में कहाँ है यह सब जानते हैं, वही अंशरूपसे शरीरमें है जिसकी नेत्र या दर्शनशक्ति कहते हैं, राष्ट्रमें भी जो पुरुष विशेष विचारसे राष्ट्रकी अवस्थाका विचार करते हैं वे दार्शनिक पुरुष राष्ट्रके सूर्य हैं क्योंकि उनके दशाने मार्गसे जाता हुआ राष्ट्र उत्तम अवस्थामें पहुँच सकता है । इसी प्रकार अन्यान्य देवताओंके विषयमें इसना-
 योग्य है ।

अंदर समता और शांति रचना, (५) मनमें मित्रभाव बसाना और शिष्ट भाव बन करना, तथा (६) बागीची घाँटि विकसित करना । इन छः शास्त्रियोंके बड़ जन्मसे मनुष्य हरएक प्रकारका धन प्राप्त कर सकता है और उससे अपने आपको धन्य बना सकता है । यहाँ का " वसु " शब्द धनवाचक है परंतु यह धन केवल पैसाही नहीं, परंतु यह बड़ धन है, कि जिससे मनुष्य अपने आपको भेद पुरुषोंमें धन्य मान सकता है । इस ब्रह्ममें सब दिवाचक शास्त्रियोंके विकाससे प्राप्त होनेवाली धन्यता आ जाती है । (१) " निषालक घाँटि, (२) सात्रतेज, (३) वृद्धि, (४) समता, (५) मित्रभाव, (६) वक्र-सूत्र, " इन छः शास्त्रोंकी वृद्धि करनेकी सूचना इस प्रकार प्रथम मंत्रके प्रथमार्थमें दी है और दूसरे अर्थमें कहा है कि (७) इसके स्वर्तंत्र विचार और (८) इसकी इंद्रिय शक्तियाँ इनकी उत्तमोत्तम तेजस्वी स्थानमें पहुँचाने । मनुष्यके स्वतंत्र विचारही मनुष्यको उठाते या गिराते हैं, उसी प्रकार इंद्रियाँ स्थायी रहतीं ही वह संयमी मनुष्य भेद बनता है अन्यथा इंद्रियोंके आधीन बनकर दुर्बल्यनी बना हुआ मनुष्य प्रतिदिन हीन होता जाता है । मनुष्यकी निःसंदेह उन्नति करनेका यह अष्टविध साधन प्रथम मंत्रमें दिया है । यह हरएक मनुष्यको देखने-दोस्य है । अथ दूसरा मंत्र देखिये—

विजयके लिये संयम ।

द्वितीय मंत्र— " हे देवो ! इस मनुष्यकी आज्ञामें तेज, नेत्र, बागी और धन रहे । हमारे सन्तु मंत्रों ही जाँच और इसकी सुखकी उत्तम अवस्था प्राप्त हो ॥ २ ॥ "

इस मंत्रमें " (अस्व प्रतिधि स्वर्गः अस्तु) इसर्थे आज्ञामें स्वर्ग रहे " यह वाक्य है । पाठक मान सकते हैं कि किसी भी मनुष्यकी आज्ञामें सूर्य रह ही नहीं सकता, क्योंकि वह मनुष्यकी घाँटिके बाहर है; परन्तु सूर्यका अंश जो शरीरमें नेत्र स्थानमें रहता है और जिसको नेत्र इन्द्रिय कहते हैं वह तो संयमी पुरुषके आधीन रह सकता है । इससे पूर्व बौद्धकी बात सिद्ध होती है कि ब्यक्तिके विषयमें विचार करनेके समय देवताओंके शरीरस्थानीय अंशही लेने चाहिये जैसा कि पहले मंत्रमें किया है और इस मंत्रमें भी करना है ।

मनुष्यके अंदर प्रायः ज्योतिष्का अंश तेजी, सूर्यका अंश नेत्र, अग्निका अंश बागीके रूपमें रहता है । इसी प्रकार अन्योन्य देवोंके अंश यहाँ रहते हैं, वे ही इन्द्रिय शक्तियाँ हैं । मनुष्यकी वृद्धि, आँख और बागी तथा उरलक्ष्यमें अन्य इन्द्रियों भी उसकी आशामें रहें, अर्थात् इन्द्रियाँ स्वतंत्र न बनें ।

साध्य-मनुष्य इन्द्रिय-संयम और मनोनिग्रह करके अपनी शक्तियोंको अपने आधीन रखे । अपनी इन्द्रियोंको अपने आधीन रखना आत्मविजय प्राप्त करना है । इस प्रकारका आत्माचरणी मनुष्यही शत्रुओंको दबा सकता और उत्तम सुख प्राप्त कर सकता है । यदि जयतमें विजय पाना है, शत्रुओंकी दवाना है, तथा उत्तम सुख करना है, तो अपनी शक्तियोंको सबसे प्रथम आधीन करना चाहिये, यह महत्त्वपूर्ण उपदेश यहाँ मिलता है । अथ तृतीय मंत्र देखिये—

ज्ञानसे जातिमें श्रेष्ठताकी प्राप्ति ।

तृतीय मंत्र— " जिस ज्ञानसे क्षत्रियको उत्तमोत्तम रत्न प्राप्त होते हैं, वे धर्मोपदेशक ! उसी ज्ञानसे यहाँ इस मनुष्यकी वृद्धि कर और अपनी जातिमें इसे श्रेष्ठता प्राप्त हो ॥ ३ ॥ "

क्षत्रियको, इन्द्रको अथवा राजाको जिस ज्ञानसे उत्तम भोग प्राप्त होते हैं और जिस ज्ञानसे वह सब श्रेष्ठ समझा जाता है, वह ज्ञान इष्ट मनुष्यको प्राप्त हो और वह मनुष्य भी वैसाही अपनी जातिमें अथवा अपने राष्ट्रमें श्रेष्ठ बने । राष्ट्रके हरएक पुरुषको श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करनेके सब साधन होने चाहिये । यह मनुष्य ज्ञान प्रवृद्ध हो वा उसी जातिमें उत्तम हुआ हो । तथा हरएक मनुष्यमें यह महत्त्वकांक्षा होनी चाहिये कि मैं भी उन ज्ञानको प्राप्त करके वैसाही श्रेष्ठ बनूँगा, मैं अपनी जातिका नेता बनूँगा और अपने देशमें श्रेष्ठता प्राप्त करूँगा । यह मंत्रका आशय हरएकके लिये स्वल्पमें रचना उचित है । अथ अगला मंत्र देखिये—

जनताकी मलाई करना ।

चतुर्थ मंत्र— " इन सबके चित्त मैं अपनी मोर खींचता हूँ और इनके धनकी वृद्धि मैं करूँगा, तथा इनके सत्कर्म मैं फैलाऊँगा । हमारे सन्तु मंत्रों ही जाँच और इसकी उत्तम सुखका स्थान प्राप्त हो ॥ ४ ॥ "

(१) पहिले मंत्रके उपदेशानुसार आचरण करनेसे अपनी शक्तियोंकी उन्नति थी, (२) दूसरे मंत्रके उपदेशानुसार अपने इन्द्रिय संयम द्वारा आत्माचरण प्राप्त किया, (३) तीसरे मंत्रके उपदेशानुसार अपनी ज्ञानशक्ति द्वारा प्रशस्त कर्म करके अपनी जातिमें बहुमान प्राप्त किया, तथा (४) इस चतुर्थ मंत्रमें वर्णित जनताकी मलाई करनेके उत्तमोत्तम कर्म करने और करानेका योग्य अवसर प्राप्त होगा है । पाठक यहाँ चार मंत्रोंमें वर्णित यह चार धर्मिताएँ देखें और विचारें, तो पता लग जायगा कि यहाँ इस सूक्तमें वेदने योद्धे धर्मोंमें माननी उन्नति का

अत्यंत उत्तम उपदेश किया है, इसका पाठक जितना विचार करे उतना योडाही है । देखिये—

उन्नतिकी चार सीटियाँ ।

“ अपनी शक्तियोंका विकास ॥”

प्रथम मंत्र— शरीरकी चारक शक्तियों, इन्द्रियों और अवयवों की सब शक्तियों, तथा मनकी विचार-शक्तियोंका उत्तम विकास करो ॥

“ स्वशक्तियोंका संयम ॥”

द्वितीय मन्त्र— अपने आर्धन अपनी सब शक्तियों रखो, संयम द्वारा आत्मविजय प्राप्त काले शत्रुको दूर करो और सुखी हो जाओ ।

“ ज्ञानबुद्धिद्वारा स्वजातिमें संमान ॥”

तृतीय मन्त्र— ज्ञानकी बुद्धिद्वारा विविध रस प्राप्त करो, और अपनी बुद्धिद्वारा स्वजातिमें श्रेष्ठ बनें ।

“ जनताकी उन्नतिके लिये प्रयत्न ॥”

चतुर्थ मन्त्र— लोगोंके चित्त अपनी ओर आकर्षित करो, लोगोंके धर्मोंकी शक्ति करो और उनके प्रयत्न कर्मोंको फैला

दो । इससे शत्रुओंको दूर करके सुखके स्थानमें विराजो ॥

ये चार मन्त्र महत्त्वपूर्ण चार आदेश दे रहे हैं (१) स्वशक्ति-संयमन, (२) आत्मसंयम, (३) ज्ञानके कारण स्वजातिमें श्रेष्ठत्व और (४) जनताकी भलाईके लिये प्रयत्न, ये संक्षेपसे चार आदेश हैं । इन चार मन्त्रोंपर चार विस्तृत व्याख्यान हो सकते हैं इतना इनके उपदेशोंका विस्तार और महत्त्व है ।

चतुर्थ मन्त्रमें “ एवा ” शब्द है, यह “ इन सब लोगोंका ” यह भाव बता रहा है । इन सब लोगोंके चित्त में अपनी ओर खींचता हूँ, इनके धर्मोंकी शक्ति करनेके उपाय में करता हूँ, इनके प्रयत्न कर्मोंको बढ़ाता हूँ, और इनके सब शत्रुओंकी नाँबे दबाकर इन सबका सुख बढ़ानेका प्रयत्न करता हूँ । यह इस चतुर्थ मन्त्रका भाव अति स्पष्ट और सुगम है । पाठक इसका मनन करे और इस सूक्तकी अपने आचरणमें ढाल दे ।

वर्चस्व-गणके सूक्तके उत्तम उपदेशका अनुभव पाठकोंकी यहाँ आया ही होगा । इसी प्रकार आगे भी कई सूक्त इस गणके आवेंगे । उस समय सूचना दी जायगी । पाठक गणोंके अनुसार सूक्तोंका विचार करे और लाभ उठावे ।

इन सूक्तोंका स्मरणीय उपदेश

- १ सौकस्य माशाल— रोलकर खाओ । मित भोजन करो ।
- २ प्रजां जपस्व— सन्तानको ठीक मार्ग बताओ ।
- ३ ब्रह्मणा वावृधानः— ज्ञानसे (बढनेवाला तथा दूसरोंकी) बढानेवाला (बनें)
- ४ उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु— अधिक श्रेष्ठ तेजमें (इसकी) धारणा करें ।
- ५ अरुण प्रादिषी ज्योतिः सूर्यः अग्निः उत हिरण्यं अस्तु—

इसकी आशामें तेज, सूर्य, अग्नि और धन रहें, (अर्थात्) इस (मनुष्य) की आशामें जगत्के पदार्थ रहें और कभी मनुष्य इनकी आशामें जाकर पराधीन न बने ।

१ सपला अस्मदधरे भवन्तु-शत्रु हमारे नाँबे रहें ।

७ उत्तमं आकामधि रोहयैनस्-इसे उत्तम स्थानमें चढाओ ।

८ सजातानां श्रेष्ठ्यं वा चोद्येनम्— इसकी अपनी जातिमें श्रेष्ठ बनाओ ।

असत्यभाषणादि पापोंसे छुटकारा ।

(१०)

(ऋषिः-अथर्वा । देवताः १ असुरः, २-४ वरुणः ।)

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः ।
 सतस्परि ब्रह्मणा शार्शदान उग्रस्य मन्योरुदिसं नवामि ॥ १ ॥
 नमस्ते राजन्वरुणान्तु मन्यवे विश्वं सुप्रि निचिकेपि द्रुग्धम् ।
 सहस्रमन्यान्प्र सुवामि साकं शतं जीवाति शरदुस्तवायम् ॥ २ ॥
 यदुवकथानृतं जिह्वया वृजिनं बहु । राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादुहम् ॥ ३ ॥
 मुञ्चामि त्वा वैश्वानुरादंश्वान्महतस्परि । सजातानुग्रहा वद ब्रह्म चापं चिकीहि नः ॥ ४ ॥

अर्थ— (अर्थ) यह (देवानां असुरः) देवोंकी मी जीवन देनेवाला ईश्वर (वि राजति) प्रद्यच्छता है । (हि) क्योंकि (राजः वरुणस्य) राजा वरुण देव अर्थात् ईश्वर की (वशा) इच्छा (सत्या) सत्य है । (सतः परि) इतना होनेपर मी (ब्रह्मणा) ज्ञानसे (शार्शदानः) तीक्ष्ण बना हुआ मैं (उग्रस्य मन्योः) प्रबन्ध ईश्वरके क्रोधसे (इमं) इस मनुष्यको (उक्तं नवामि) ऊपर उठाता हूँ ॥ १ ॥ हे (वरुण राजन्) ईश्वर ! (ते मन्यवे) तेरे क्रोधको (नमः) अर्पण नमस्कार होने । हे (उग्र) प्रबन्ध ईश्वर ! तू (विश्वं द्रुग्धम्) सब द्रोहादि पापोंको (निचिकेपि) ठीक प्रकार जानना है । (सहस्रं अन्यान्) हजारों अन्योंको (साकं) साथ साथ मैं (प्रसुवामि) प्रेरणा करता हूँ । (अर्थ) यह मनुष्य (तव) तेरा बनकर ही (शतं शरदः) जी वर्ष (जीवाति) जीता रह सकता है ॥ २ ॥ हे मनुष्य ! (यत्) जो (अमृतं वृजिनं) असत्य और पाप वचन (जिह्वया) जिह्वसे (बहु उवचय) बहुतसा तू बोलता है, वसधे तथा (सत्यधर्मो) सच न्यायी (राज्ञः वरुणात्) राजा वरुण देव ईश्वरसे (अहं) मैं (त्वा) तुझको (मुञ्चामि) छुटाता हूँ ॥ ३ ॥ हे मनुष्य ! त्वा तुझको (महतः वैश्वानुरात् अर्णवात्) बड़े समुद्रके समान गर्भीर विश्वनाथक देवसे (परि मुञ्चामि) छुटाता हूँ । हे (उग्र) वीर ! (वद) बोल (सजातान्) अपनी जातिवालोंको (आ वद) सब कह दे और (नः) हमारा (ब्रह्म) ज्ञान (अप चिकीहि) तू जान ॥ ४ ॥

भावार्थ— यह सूर्यादि देवताओंको धार्मिक प्रदान करनेवाला प्रभु ईश्वर सब जगत्पर विराजता है, सबका सर्वोपरि शासक बड़ी है, इसलिये उसकी इच्छा ही सर्वदा सत्य होती है । अर्थात् उसकी इच्छाके प्रतिकूल कोई भी जा नहीं सकता । तथापि ज्ञानसे साधनगोत्रोंको जाननेवाला मैं इस पापी मनुष्यको निम्न लेखित मार्गसे उस ईश्वरके क्रोधसे छुटाता हूँ ॥ १ ॥ हे ईश्वर ! तेरे क्रोधके सामने हम नम्र होते हैं, तेरे सामने शिर झुकाते हैं । क्योंकि तू हम सबके पापोंको ब्यापक जानता है । इसलिये हम अपने पापोंको तेरे सामने छिपा नहीं सकते । हे प्रभो ! यह बात मैंने हजारों मनुष्यों की समाओंमें घोषित की है । यह संदेहरहित बात है कि यदि यह मनुष्य तेरा भक्त बनेगा तो ही सौ वर्ष जीवित रह सकेगा, अन्यथा इसको कौन बचा सकता है ? ॥ २ ॥ हे पापी मनुष्य ! तू अपनी जवानसे बहुत असत्य और बहुत पाप वचन बोलता है । इस पापसे दूसरा कोई तुझे बचा नहीं सकता । मैं तुम्हें उसरी धारणसे से जाता हूँ और उसकी कृपसे तेरा बचाव कर सकता हूँ ॥ ३ ॥ हे पापी मनुष्य ! तुझको विश्वेश्वरके क्रोधसे इस प्रकार छुटाता हूँ । हे वीर ! तू अपनी जातिमें सब बातें कह और हमारे ज्ञानको जानकर अपना ॥ ४ ॥

पापसे छुटकारा पानेका मार्ग ।

यद्यपि यह सूत्र अति सरल है तथापि पाठकोंके विशेष ध्यान कोषके लिये यह। धोषणा स्पष्टीकरण किया जाता है ।

इस सूत्रमें पापसे छुटकारा पानेका जो मार्ग बताया है वह निम्नलिखित है—

एक शासक ईश्वर ।

(१) " देवानां असुरो विराजनि "—सूर्यदेवतादि देवीशो विविध शाक्ति देनेवाला एक प्रभु ईश्वरों मन्त्र जगत्का परम शासक है। इमसे अधिक शाक्तिवाला दूसरा कोई नहीं है। (मंत्र १)

(२) " शर्मो बलमस्य यथा हि मत्वा "—उम प्रभु ईश्वरका मत्प शान्तन है। उम ही इच्छा सर्वोपरि है। उसके अपूर्व शासनका कोई उल्लंघन कर नहीं सकता। (मंत्र १)

(३) " विश्वं ह्युग्र निचिकेपि दुग्धम् "—है प्रभु ईश्वर ! तु हम सबके पापोंको यथावत् जानता है। अपना कोई मनुष्य अपने पाप उगले छिपा नहीं सकता। कदाकि वह सर्वज्ञ है इसलिये हम सबके गुरे भले कर्म यह यथावत् उसी समय जानता है। (मंत्र २)

ईश्वरको सर्वोपरि मानना, सबके मामुर्दगाली यह है यह स्मरण रखना और उससे छिपाकर कोई मनुष्य कुछ कर नहीं सकता, यह निश्चित रीतिसे समझना, पापसे बचनेके लिये आशयक है। पापसे बचानेवाले ये तीन महान्वेपूर्ण विद्यात इस सूत्रमें कहे हैं, पाठक इनका मनन करें और इनको अपने अंदर स्थिर करें। यही तीन भाव मनुष्यका पापसे बचाव कर सकते हैं।

ज्ञान और भक्ति ।

मनुष्यशो पापसे बचानेवाले ज्ञान और भक्ति ये दो ही हैं। इनका बर्णन इस सूत्रमें निम्नलिखित रीतिसे किया है—

(१) " महत्त्वा दातादानः । " ज्ञानने दीप्त बना हुआ मनुष्य पापसे बच जाता है और दूसरोंको भी बचाता है। अधिकके तथा आत्मिके यथार्थ विज्ञानको "महा" कहते हैं। महा महा अपूर्व सृष्टिविदा और आत्मविद्याका उत्तम ज्ञान मनुष्यको दीप्त बनाता है। अपूर्व तेज बनाता है। त्रिस प्रकार तेज प्राप्त करना नाम करता है उद्योग प्रकार ज्ञानका तेज प्राप्त भी अज्ञान पाप भादि दण्डोंका नाश करता है। मनुष्यकी सभी उच्छ्रितिका यही कारण है। (मंत्र १)

(२) " ममसे राजन् पश्यात्सु मम्यथे । "—हे ईश्वर ! तेरे कोशके सामने हम नमन करते हैं, तेरे सामनेके सामने हम अपना धिर झुकाते हैं। अपूर्व हम तेरी सामने

आकर रहते हैं, हम अपने आशके तेरी इच्छामें समर्पित करते हैं। वही हमारा लक्ष्यवाला है। तेरे बिना हम किसी अन्तःकरण ज्ञानयोग्य समझते नहीं। (मंत्र २)

(३) " शर्मो जीवाणि चतुस्रशपम् । "—सर्व शर्मो जीवित रहेगा जो तेरा बनेगा। जो परमेश्वरका मन्त्र बनकर रहेगा उसका नाम शर्म कर सकता है ! (मंत्र २)

पाठक इन तीन मंत्रभागोंमें ज्ञान और ईश्वरके साथ मोक्षनकी संभावना देख सकते हैं। सृष्टिविदाके निदानोंकी जानकर उदनुकूल आचरण करना, आत्मविद्याको जानकर परमात्माको सर्वोत्तम सत्तावादी मानना, भक्तिसे ईश्वरके सम्मुख नमन करना और ईश्वरका मन्त्र बनकर आत्मन्दसे उच्छ्रित होकर रहना यही पारमोचनका सीमा और निश्चित मार्ग है। पाठक इस सूत्रमें यह मार्ग देखें। इस-सूत्रमें त्रिस मार्गसे पारमोचनकी संभावना कही है वह यही मार्ग है और यही निश्चित और शीघ्र मार्ग है।

प्रापक्षिप्त ।

पापसे बचनेके लिये प्रापक्षिप्त भी यहाँ कहा है और यहाँ देखनेयोग्य है—

(१) " महा अपचिकीहि । "—पूरांक ज्ञान प्राप्त करना उत्तम ज्ञान प्राप्त करना, तथा संक्षिप्त जो विषय उपर बताया है उनको जानना यह उच्छ्रितक्षिप्त निश्चित कारण है। जब इस ज्ञानसे अपने अज्ञानोंका नाश होगा, अपने उच्छ्रितकारका ज्ञान होगा तब पश्चात्तपसे शुद्धि करनेका मार्ग यह इस प्रकार है—(मंत्र ४)

(२) " सत्रातानुमेहा वद । "—हे शीर ! तु अपने जातिके पुरखोंके सामने अपने सब अपराध कह दे। यही प्रापक्षिप्त है। अपनी जातिके भी पुरखोंके सम्मुख अपने अपराधोंके नाश न छिपाते हुए कहना, यह बड़ा भाग प्रापक्षिप्त है और इस मनुष्यके मनकी शुद्धि होती है। (मंत्र ४)

ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् या निवृत्त धनन पश्चात्तप हो तब समय अपने सब अपराध अपनी जातिके सम्मुख कहना बड़ा धैर्यका तथा मनकी पवित्रताका ही कार्य है। हाएक मनुष्य इस प्रकार प्रापक्षिप्त नहीं कर सकता। प्रायः मनुष्य अपने अपराधोंको छिपानेका ही मन्त्र करते हैं परंतु जो लोग अपने दोषोंके जनतोके सम्मुख कह देते हैं वे छुट बनकर पीपरी बन महात्मा बन जाते हैं।

इस सूत्रमें "बचन" भादि शब्दों द्वारा परमात्माका बर्णन हुआ है, "महावि" भादि शब्दोंसे पारिर्णको पारि

सुहानेवाला महोपदेशक का वर्णन है और "इमं" अर्थात् धर्मोपदेश पापी मनुष्योंका भी वर्णन हुआ है । धर्मोपदेशक पापियोंको पापसे बचानेका उपदेश परमेश्वरमन्त्रिका मार्ग बतानेकर कर रहा है, यह बात इस सूक्तके धर्मोपदेश स्पष्ट होती है। अर्थात् धर्मोपदेशक इसी मार्गसे स्वयं पापसे बचें और दूसरोंको पारने पचावें ।

पापी मनुष्य ।

पापी मनुष्य सहस्रों प्रकारके पाप करता है, परंतु इस सूक्तमें कुछ मुख्य पापोंकाही उल्लेख किया है, वह भी यहाँ देखने-योग्य है—

(१) " विभं हुषं । " — सच ब्रह्म अर्थात् सच प्रकारका

यह पापमोचन-प्रकरण समाप्त ।

सुख-प्रसूति-सूक्त ।

(११)

[ऋषिः—ऋषर्वा । देवता-पूषादया नाना देवताः]

वषट् ते पूषभस्मिन्त्स्रतांवर्युमा होतां कृणोतु वेषाः ।

सिस्रतां नार्युतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां स्रुवा उं ॥ १ ॥

चतस्रो द्विवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्यां उत । देवा गर्भे समैरयन् तं व्यूर्ण्वन्तु स्रतवे ॥ २ ॥

सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि । श्रथया स्रणे त्वमव त्वं विष्कले सृज ॥ ३ ॥

नेवं मसि न पीवसि नेवं मञ्जस्वाहंतम् ।

अवैतु पृश्नि शेवलं शुनें जराय्वत्सेज्वं जरायुं पथताम् ॥ ४ ॥

वि तैं भिनष्टि मेहनं वि योनिं वि गृवीनिके ।

वि मातरं च पुत्रं च वि कुंमारं जरायुणावं जरायुं पथताम् ॥ ५ ॥

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।

एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पृतावं जरायुं पथताम् ॥ ६ ॥

अर्थ-हे (पूषन्) पोषक ईश्वर ! (ते वषट्) तेरे लिये हम अपना अर्पण करते हैं । (आसिन् सूती) इस प्रसूतिके कार्यमें (अर्पणा होना वेषाः) आर्थ मनवाला वाता विषाला ईश्वर गदापता (कृणोतु) करे । (नमप्रजाता) विषमपूर्वक बालकीसे

म्य देवैशान् (नारी) स्त्री (मित्रतां) दक्षगमे रहे । तथा अपने (पर्वणि) अंगोंको (सूतवै ऋ) सुहृत्प्रसूतिके
 ये (विजिह्वां) दाते करे ॥ १ ॥ (द्विवः) आकाशको (उत) तथा (भूम्याः) भूमिही (चतस्रः प्रादेतः) चारों
 शाभिमं रहनेवाले (देवाः) देवाने (गर्भं समैरयन्) गर्भ को बनाया, इनलिये वेही (सूतये) उसही सुहृत्प्रसूतिके लिये
 ते वि ऊर्जुवन्तु) उमको प्रकट करे, उसको बाहर छुला करे ॥ २ ॥ (स्या) उतम संतान उदत्त करनेवाली माता
 व्यूर्जोत्तु) अपने अंगोंसे खुला करे । इम (योनि) योनिको (विहायप्राप्तिसि) खोलेत है । हे (सूयेगे) प्रसून होनेवाली
 ॥ १ ॥ (स्व) तू मी (ध्वयय) अंदरसे प्रेरणा कर । और हे (विष्कले) बौर ली । (र्वं) तू (अवसूत) बालकको उत्पन्न
 ॥ ३ ॥ (न ह्य मति) नही तो मानये, (न पीयथि) न चर्बोंमें, और (न ह्य भ्रमसु) न ती मज्जामें वह
 आहत) लिपटा है । (शभि श्वलं) नरम सेवारके समान (जरायु) जेली (शुने अचवे) कुनैके भ्रिये खानेको
 अक्षैतु) नाँबे आवे, (जरायु) जेली (अवपद्यताम्) नीचे गिर जावे ॥ ४ ॥ (ते अद्वं) तेरे गर्भके मार्गको, (योनिं)
 योनिसे तथा (गर्भानिके) दोनों नाडियोंको (वि वि वि भिनत्ति) विशेष रीतिसे खुलवा करता हूं । (मातरं पुत्रं च)
 माता और पुत्रको (वि) अन्न करता हूं तथा (कुमारं जरायुगा वि) गर्भको जेहिसे अलग करता हूं । (जरायु) जेरी
 अय पद्यताम्) नीचे गिर जावे ॥ ५ ॥ जैसे वायु, जैसे मन और जैसे पत्नी (पत्यम्) चलते हैं (एव) इसी प्रकार हे
 सूतमास्य) दस मदिनेवाले गर्भ ! तू (जरायुगा साकं) जेरीके साथ (पत) नीचे आ तथा (जरायु अवपद्यताम्)
 ही नीचे गिर जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—हे सबके पोषण करनेवाले जगदाद्य ! तेरे लिये हम अपना अर्घ्य करते हैं । इस प्रसूतिके समय सब जगत्कानिर्माता
 हैं। हमारा सहायक बन । यह स्त्री भी दक्षतासे रहे और इस समय अपने अंगोंको ढीला करे ॥ १ ॥ आकाश और भूमि-
 ही चारों दिशाभिमं रहनेवाले सूर्यादि सम्पूर्ण देवाने इस गर्भको बनाया है । और वे ही इस समय अपनी सहायतासे इसको सुख
 ऋ गर्भस्थानसे बाहर लावें ॥ २ ॥ जो अब अपने अंग खुले करें, सहाय करनेवाली पार्वी योनि से खोले । हे स्त्री ! सूक्ष्म मनसे
 अंदरसे प्रेरणा कर और सुलसे बालकको उत्पन्न कर ॥ ३ ॥ वह गर्भ मांस, चर्बी या मज्जामें पिपका नहीं होता है । वह पानीमें
 सरसोंपर बननेवाले नरम सेवारके समान अति कोमल चैनीमें लिपटा हुआ होता है, वह सब चैनीकी पैनी एकदम बाहर
 आवे और वह नालके साथ जेली कुनैको खानेके लिये ही जावे ॥ ४ ॥ योनि, गर्भस्थान और पिछली नाडियोंकी ढाला किया
 जावे, प्रसूति होनेकी मातासे बच्चा अलग किया जावे और बच्चेसे जेली नाल समेत अलग की जावे । नाल समेत सब जेली पूर्वतासे
 बाहर निकल आवे ॥ ५ ॥ जिस प्रकार मन वेगसे विपरीन गिरता है, जैसे वायु और पत्नी वेगसे आकाशमें चलते हैं उसी प्रकार
 दसवें मदिनेमें गर्भ जेरीके साथ गर्भस्थानसे बाहर आवे और जेरी आ दे सब नीचे गिर जावे अर्थात् माताके गर्भस्थानमें उसका
 कुछ भाग अवशिष्ट न रहे ॥ ६ ॥

प्रसूति प्रकरण ।

ईशमक्ति ।

इस सूक्से मया प्रकरण प्रारंभ हुआ है । यह प्रकरण विशेषतः
 श्रियंके लिये और सामान्यतः सबके लिये विशेष लाभकारी
 । श्रियंको प्रसूतिके जितने वृत्त सहने पड़ते हैं उनका दुःख
 छिगाही जानता है । प्रसूतिके समय न्यून कष्ट होना प्रयत्नसे
 साध्य है । गर्भधारणसे लेकर प्रसूतिके समयतक अथवा गर्भ-
 धारणसे भी पूर्व समयमें मी जो विन्ध्य पालन करनेयोग्य
 होते हैं, उनका योग्य रीतिसे पालन करनेसे प्रसूतिके वृत्त बहु-
 तयें पृ हना संभव है । इस विषयमें आगे बहुत उपदेश
 आनेवाला है । यहां इस सूक्में जितना विषय आया है, उसको
 अब यहां रेखिये—

परमेश्वरकी मक्तिही मनुष्यको दुःखोंसे पार कर सक्षता है ।
 गृहस्थी स्त्रीपुरुष यदि परमेश्वरके उपाय भक्त होंगे, तो उस
 पारेश्वरकी श्रियंको प्राप्तिके कष्ट न होंगे; यह बतानेके लिये इस
 सूक्के प्रथम मंत्रके पूर्वार्थमें ही सबसे पहिले ईश्वरकी मानस-
 पूजाका वर्णन किया है ।
 “ वषट् ” शब्द “ स्वाहा ” अर्थमें अर्थात् “ आत्मसम-
 र्पण ” के अर्थमें प्रयुक्त होता है । (हे एवम् । ते वषट्) हे
 ईश्वर ! तेरे लिये हम अपने आपको समर्पण कर रहे हैं । तू
 ही (अर्थ मा) श्रेष्ठ सम्झनोंका मान करनेवाला अर्थात् दितृष्ठा
 है, तू ही (वैषाः) सब अमृतका रचनेवाला और निर्माता है

और वृद्धि (होना) सब सुखोच्छा दाता है । इसलिये हम तेरे आभयसे रहते हैं और तेरे शिष्यही पूर्णतया समर्पित होते हैं ।

यहां पूर्व सूक्तमें वर्णन किये ईश्वरके गुण अनुसंधानसे देखने योग्य हैं । “ सब सूर्यादि देवताओंको शक्ति देनेवाला एक ईश्वर है और उसका शासनही सर्वोपरि है । ” इत्यादि भाव जो पूर्व सूक्तमें कहे हैं, यहां देखिये । “ सबसे समर्थ प्रभु ईश्वर मेरा सहायकांत है, और मैं उसकी गोदमें हूँ ” इत्यादि भाविके भाव त्रिसंके हृदयमें अकृत्रिम प्रेमके गाय रहते हैं, वह मनुष्य विशेष शक्तिसे और आगेग्यसे युक्त होता है और प्रायः ऐसा मनुष्य सदा आनन्दमें रहता है ।

काम विद्याका संयम करनेके लिये परमेश्वर शक्तिही एक दिव्य औपधि है । कामविद्यारका नियमन हुआ तो जिनके प्रसूतिके दुःख बीममें भीष्ये कम होयें, क्योंकि कामकी अति होनेसेही जिनका अशक्त बनती है और अशक्तके कारण प्रसूतिके कष्ट अधिक होते हैं तथा प्रसूतिके पश्चात्के लडादि रोग भी कष्ट देने हैं । इसलिये कामयोगका नियमन परमेश्वर माउसे करनेका उपदेश हरएक जीपुत्रके यहां अवश्य ध्यानमें बरना चाहिये ।

देवोंका गर्भमें विकास ।

सूर्यादि देवताएं अपना अपना अंश गर्भमें रखती हैं, सब देवताओंका अंशांतरा गर्भमें होनेके पश्चात् आत्मा उठमें आता है । इत्यदि विषय वेदमें स्थान स्थानपर आया है । [इस विषयमें स्नाभ्यायमंडल द्वारा प्रकाशित “ ब्रह्मवर्ष ” पुस्तकमें “ देवोंका अंशावतार ” शीर्षक विस्तृत लेख अवश्य पाविये । वहां विविध वेदमंत्रों द्वारा यह विषय स्पष्ट कर दिया है ।] तत्पर्य गर्भमें अंशरूपसे अनेक देवताएं रहती हैं और उनका संबंध बाधा देवताओंके साथ है । भूमि और आकाशकी चारों दिशाओंमें रहनेवाली सब देवताएं अपने गर्भमें अंशरूपसे आगई हैं, मानो उनका संमेलन (समैरण) ही गर्भमें हुआ है और उनका अधिष्ठाता आत्मा भी उसी गर्भमें है । यह दृढविश्वास गर्भ धारण करनेवाली माताका होना चाहिये । अर्थात् जो गर्भ अपने अंदर है वह अपने केवल कामोपयोग का ही फल नहीं है, परंतु उसमें और विशेष महत्त्वपूर्ण आत्म-शाक्तिका और दैवी शक्तिका संबंध है । ऐसा मातृ गर्भवती स्त्रीमें स्थिर रहनेसे गर्भवतीका स्वास्थ्य तथा गर्भका पोषण भी उत्तम होता है । गर्भाधानके समयमें भी देवताओंका आह्वान किया जाता है । उस समयके मंत्र इस दृष्टिसे पाठक देखिये तो

३ (म. सु. मा. कां. १)

उनको पता लगेगा कि गर्भाधान कामविकारके पोषणके लिये नहीं है परंतु उच्च शक्तियोंकी धारणा के लिये ही है । अस्तु । गर्भिणी स्त्री अपने गर्भके विषयमें इतना उच्च भव मनमें धारण करे और समझे कि जिन देवताओंके अंश गर्भमें दकड़े हुए हैं वेही देवताएं गर्भका पोषण और सुख प्रभूतिमें अक्षर्य सहायता देगी । अर्थात् इस प्रकार देवताओंकी सहायता और परमात्मा का आचार सुझे है इसलिये सुझे कोई कष्ट नहीं होगा । पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका द्वितीय मंत्र पढ़ें ।

गर्भवती स्त्री ।

पूर्वोक्त भाव गर्भवती अपने अंदर दृढ़तासे धारण करे । अब गर्भवती स्त्री अथवा गृहस्थाश्रममें रहनेवाली स्त्री निम्न बातोंका विचार करे—

१ नारी-जो गर्भनीतिसे (वृगाति) चलती है अर्थात् धर्म नियमोंसे अपना आचरण करती है, तथा (नर) पुत्रवत्के साथ रहती है, वह नारा कहलती है । अर्थात् विशेष गृहस्थधर्मके नियमोंका पालन करनेका भाव इस शब्दसे सूचित होता है । (मंत्र १)

२ नर-प्रजाता—(नर) मलयिमात्रुक (प्रजाता) प्रजनन कर्मसे युक्त । अर्थात् गर्भ-धारण, गर्भ-पोषण और प्रसूति आदि सब कर्म जिसके सत्य धर्मनियमोंके अनुकूल होते हैं । ऋतुगामी होना, गर्भ धारणके पश्चात् तीन वर्षके उपान्त अथवा बालक दुध पीना छोड़ दे तत्पश्चात् ऋतुगामी होना, इत्यादि सब नियमोंका पालन करनेवाली स्त्री सुखसे प्रसूत होता है । (मंत्र १)

३ सुख, सुष्णा-त्रिस स्त्रीके प्रसूतिके कष्ट नहीं होते, अर्थात् जो सुखसे प्रसूत होती है । जिनको योग्य नियमोंके पालन द्वारा यह गुण अपनेमें लाना चाहिये । (मंत्र ३)

४ विश्वकृष्णा वीर स्त्री अर्थात् धैर्यवती स्त्री । जिनकी अपने अंदर धैर्य बढाना आवश्यक है । थोड़ेसे कष्ट होने लगे तो थबराना नहीं चाहिये । धैर्यसे उनको सहना चाहिये । (मंत्र ३)

गर्भवती जिनको इन शब्दों द्वारा प्राप्त होनेवाला बोध अपने अंदर धारण करना उचित है, क्योंकि सुखप्रसूतिके लिये इन गुणोंकी आवश्यकता है ।

गर्भ ।

इस सूक्तमें गर्भका नाम “ दद्या-म स्य ” आया है । इसका अर्थ “ दम मासका आद्यबाला ” ऐसा है । यह शब्द परिपूर्ण

गर्भका समय बता रहा है। दसवें माहिनेमें प्रसूतिका ठीक समय है। दसवें माहिनेसे पूर्व जो प्रसूति होती है, वह गर्भकी बगल अवस्थामें होनेके कारण मागके कष्ट बढ़ती है। योग्य समयके पूर्व होनेवाले गर्भपान और गर्भप्राय ये सब मागके कष्ट बढ़ानेवाले हैं और ये सब दुःख गूदस्याप्रती क्लृप्तुवर्षके निन्द्यरहित वर्त्तवसे ही होते हैं। जो गूदस्याप्रती क्लृप्तुवर्ष योग्य नियमोंका पालन करते हैं, उनकी क्रियाकी सुखसे प्रसूति होती है।

सुख-प्रसूतिके लिये आदेश ।

- १ क्री परमेश्वरकी भाक्ति करे। (मंत्र १)
- २ अपने गर्भमें देवताओंका अंगारार हुआ है ऐसा ज्ञान मनमें धारण करे। (मंत्र २)
- ३ (सिद्धतां) दसलासे अपना व्यवहार करे। (मंत्र १)
- ४ प्रसूतिके समय (पर्वानि विजिह्वां) अपने अंगोंको धोला करे। (मंत्र १)
- ५ (सूया वृणोतु) सुखप्रसूति चाहनेवाली क्री अपने अंगोंकी धोला अपना सुला करे अर्थात् सत्य व बनने। (मंत्र ३)
- ६ (सूपने ! त्वं अयय) सुख-प्रसूति चाहनेवाली क्री मनको इच्छा शक्ति भी अंदरसे प्रेरणा करे, तथा मनसे प्रसूतिके अंगोंको प्रेरित करे। यह प्रेरणा स्वयं उस क्री को ही अंदरसे करनी चाहिये। (मंत्र ३)

घाईकी सहायता ।

१ प्रसूतिके समय घाई की सहायता आवश्यक होती है। वह घाई भी प्रसूत होनेवाली क्रीको लक्ष सूचनाएं देती रहे और शीघ्र देती रहे। " परमेश्वर तेरा सहायक है और सब देवही तुम्हारे परममैं हैं अतः उनकी भी सहायता तुम्हें है "

इत्यादि वाक्योंमें लक्षण शीघ्र बताये।

२ आवश्यकता होनेपर मोनिरूपान उचित ढंगसे सुला करे। (मंत्र ३)

३ जेम्बे अंदर गर्भ होता है। गर्भके मांस जेरी नाव आदि सब बाहर लाजाव और कोई उसका पदार्थ मालाके गर्भोद्यममें न रह जब इस विद्यममें घाई दसलासे अपना काम करे। यह पदार्थ अंदर रहनेसे बहुतही दुःख होना संभव है। (मंत्र ४)

४ प्रसूतिके समय गर्भनाश, दोमि और विउले अथवा सुने कले चाहिये। इनको यथायोग्य रीतिसे छूटे करे, ताकि प्रसूति सुखसे होवे। (मंत्र ५)

५ प्रसूति होनेही मागके पानसे पुत्रको जन्य करके उत्तरका वेरीया रेंदन हुआकर जो आवश्यक कार्य करना हो वह सब योग्य रीतिसे करे। (मंत्र ५)

सूचना ।

यह विषय शारीरशास्त्र है, केवल पंजिलग नहीं है। इस सूक्त पाठोंका अर्थ भी शारीरशास्त्रके प्रसूति प्रकरणके अनुकूल ही समझना उचित है। इसलिये जो वैद्य या वास्तव है, जिन्होंने सुख-प्रसूति पाठका विचार किया है, तथा जिन क्रियाओंके इस पाठके ज्ञानके साथ अच्छा अनुभव नहीं है, उनको इस सूक्तका अधिक विचार करना चाहिये। वेही इस सूक्तके " सिद्धतां, विजिह्वां, वृणोतु " आदि पाठोंमें ठीक प्रकार समझते हैं और वेही इस सूक्तकी ठीक व्याख्या कर सकते हैं।

आशा है कि प्रसूति-पाठके अन्धाधी इच्छा अन्धाध करेगे और अधिक विद्वेष व्यक्तना कर सकेंगे।

[इति द्वितीय अनुबन्ध समाप्त ।]

श्वासादि-रोग-निवारण-सूक्त ।

(१२)

[ऋषिः—भृगुर्वांगिराः । देवता—वसुमनाशनम्]

जरायुजः प्रथम उस्त्रियो वृषा चार्तभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या ।
 स नो मृडाति तन्वुः ऋजुगो रुजन् य एकुमोजस्रेषा विचक्रमे ॥ १ ॥
 अङ्गे-अङ्गे शोचिषां शिश्रिणानं नमस्पर्न्तस्त्वा हविषां विधेम ।
 अङ्कान्तमङ्कान् हविषां विधेम यो अग्रभीत्पर्वीत्या प्रभीता ॥ २ ॥
 मुञ्च शीर्षिकत्या उत कास एनं परुष्परात्रिवेज्ञा यो अस्य ।
 यो अग्रजा चातुजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्सचतां पर्वताश्च ॥ ३ ॥
 शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे । शं मे चतुर्म्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वेष्टुमर्मा ॥ ४ ॥

अर्थ— (वात+अनाः) वायु और मेघसे उत्पन्न होकर (प्रथमः जरायुजः) पहिला जेरीसे उत्पन्न होनेवाला (उस्त्रियोः वृषा) तेजस्वी बलवान् सूर्य (वृष्ट्या स्तनयन्) वृष्टिके साथ गमना हुआ (एति) चलता है । (स ऋजुगः) वह सीधा चलनेवाला और (रुजन्) दीप दूर करनेवाला (नः तन्वे) हमारे शरीरके (मृडाति) मुड़ देता है । (यः) जो (एकं मोजः) एक सामर्थ्यको (श्रेया) तीन प्रकारसे (विचक्रमे) प्रकाशित करता है ॥ १ ॥ (अङ्गे अङ्गे) प्रत्येक अवयवमें (शोचिषां शिश्रिणानं) अपने तेजसे आभय करनेवाले (स्त्वा) तुमको (नमस्पर्न्तः) नमन करते हुए (हविषां विधेम) अर्पण द्वारा पूजा करते हैं । (यः) जो (प्रभीता) प्रहण करनेवाला (अस्य पर्व) इसके जोड़ को (अग्रभीत्) प्रहण करता है उसके (अङ्कान् समङ्कान्) बिन्दुको और मिले हुए बिन्दुको (हविषां विधेम) हवनके अर्पणसे पूरे ॥ २ ॥ (शोचिषाः) शिरदर्दसे (उत) और (यः कासः) जो आँखों से उससे (एनं मुञ्च) इसको छुड़ा । तथा (अस्य) इसके (पदः पदः) जोड़ जोड़में जो रोग (नाप्येवैश) घुस गया है । उससे भी छुड़ा । (यः अग्रजाः) जो मेघोंकी वृष्टिसे उत्पन्न हुआ है अपना जो (वात+नाः) वायुसे उत्पन्न हुआ है तथा जो (शुष्मः) उष्णताके कारण उत्पन्न हुआ है, उसके दूर करनेके लिये (वनस्पतीन् पर्वतान् च) वृक्ष वनस्पति और पर्वतोंके साथ (सचतां) संबंध करें ॥ ३ ॥ (मे परस्मै गात्राय शं) मेरे अंग अवयवोंका कल्याण हो । (अवराय वी अस्तु) मेरे साधारण अवयवोंके लिये कल्याण हो । (मे चतुर्म्यः अङ्गेभ्यः शं) मेरे चारों अंगोंके लिये आराम्य प्राप्त हो । (अम तन्वे वी अस्तु) मेरे शरीरके लिये सुख होवे ॥ ४ ॥

साधारण-वायु और मेघसे प्रकट होकर मेघोंके आवरणसे प्रथम बाहर निकला हुआ तेजस्वी सूर्य वृष्टि और मेघपर्वनाके साथ आ रहा है । वह अपनी सीधी गतिमें दोषों अपना रणको दूर करना हुआ हमारे शरीरों को भिरावना बढ़ाता है और हमें सुख देता है । वह सूर्यका एकही तेज तीन प्रकारसे कार्य करता है ॥ १ ॥ वह शरीरके प्रत्येक अंगमें अपने तेजके अंशसे रहता है, उसका महत्त्व जानकर, हम हवन द्वारा उसका सहकार करते हैं । जो मनुष्यके हरएक अंगमें रहता है उसके प्रत्येक चिन्दुका भी हवन द्वारा हम सहकार करने हैं ॥ २ ॥ दूसरी सदायतासे शिरदर्द हटाओ, आँखी हटाओ, जोड़के अदरकी पीटा को हटाओ । जो रोग मेघोंकी वृष्टिमें अर्थात् कास, वायुके प्रकोपसे अर्थात् वातसे और गर्भिक कारण अर्थात् पित्तसे पाते हैं-उनका भी हटाओ । इसके लिये वनस्पतियों और पर्वतोंका सेवन करो ॥ ३ ॥ इससे मेरे उतम अंग साधारण अंग तथा मेरे चारों अंग अर्थात् मेरा सब शरीर नीरोग होवे ॥ ४ ॥

यह भावार्थ मंत्रोंके अर्थोंके अनुसंधानसे पाठक पढ़ेंगे तो उनके ध्यानमें सूक्तदाता-परम्य आजायगा क्योंकि यह सूक्त सरल और सुगम हैं। तथापि पाठकोंके विशेष बोधके लिये यहाँ विशेष बातोंका स्पष्टीकरण किया जाता है। यह "तवमनाशन गण" का सूक्त है अर्थात् रोगादिनाशक भाव इसमें है।

महत्त्वपूर्ण रूपक ।

सबसे पहले प्रथम मंत्रमें वर्णित महत्त्वपूर्ण रूपक विचार करनेयोग्य है। 'पूर्यसूक्तम्' (जरायुजः इयमास्यः पुत्रः) जैरुसि वैदित उरयम इतिवाले दशमासतक गर्भमें रहनेवाले पुत्र" का वर्णन है। उसके साथ इस सूक्तका संबंध बतानेके लिये इस सूक्तके प्रारंभमें 'जरायुजः प्रथमः' ये शब्द आगये हैं। यहा सुप्रकाश वर्णन बड़े महत्त्वपूर्ण रूपकसे किया है। इस रूपकमें सूर्य ही "पुत्र" के सूर्यके पुत्र होनेका वर्णन वेदमें अनेक स्थानमें आगया है। यहाका यह वर्णन सनसमें आनेके लिये कुछ निदर्शकों और ध्यान देनेकी आवश्यकता है।

बरसातके दिनोंमें जब बड़े दिन आकाश मेंधौंधे आच्छादित होता है और सूर्यदर्शन नहीं होता, छाये होता है, वायु चलता है, विजला चमरती है तब बभी बभी ऐसा होता है कि थोड़ा वायु चरनेसे बीचका आकाश मेघरहित हो जाता है और स्वच्छ सूर्य-मंडल दिखाई देता है। मानो यही पुत्र-दर्शन है। पुत्रजन्मके समय में भी भूतल होते हैं गर्भके उपर जैरीआदि का बेटन होता है, जलादि प्रवाह प्रभृतिके समय होते हैं, यह सब मानो सूर्य-वेष्टन मेघ और उनको वृष्टि है। इस प्रकार इस उपमामें साम्य देख सकते हैं।

बहुत दिनोंतक मेघाच्छादित आकाशके पश्चात् जब सूर्यदर्शन होता है, हवा साफ़ हो जाती है तब मनुष्योंके आर्यन आनन्द होता है, मनुष्य प्रसन्नचित्तसे उत्सव मनाते हैं। इसी प्रकार जब गर्भिनो अर्थात् पुत्र प्रसव होता है, उसकाकी जैरी अलग की जाती है, उसको स्वच्छ किया जाता है, तब उसका मुखरूपी सूर्य देखकर जो आनन्द माताके हृदय में चमक उठता है उसका वर्णन कथ कभी शब्दोंसे होना समभव है? माताका आनन्द इन्हीं शब्दोंसे व्यक्त हो सकता है कि "यह पुत्र धरवा सूर्य है, यह माताके हृदय की ज्योति है, यही माताकी आशुका प्रकाश है। जिस प्रकार सूर्य अंधेरा हटाता है उसी प्रकार पुत्र धरके, उलके और जातिके उज्वल बनाता है।" इत प्रकार बालक के मुखकी रोशनीका वर्णन माता अपने चन्द्ररहित भावोंसे ही कर सकती है। पाठक अपनी काम्यमय आस्य खोलकर ही इसको पढकर समझनायान करें।

पात्रु यहाँ नूतनोपज बालका वर्णनही करना नहीं है, किंतु जीवनदाता सूर्यछाही वर्णन अर्थात् सूर्यके जीवन-पोषक रक्षित-रक्षण का वर्णन करना है। वह करनेका प्रस्ताव इस प्रकार इस सूक्तके प्रारंभमें किया है। और इस प्रस्तावसे पूर्व सूक्तके साथ इस सूक्तका संबंध जोड़ दिया है।

प्रायः प्रसूतिके समय तथापश्चात् शिशुमें अशक्तता आ जाती है और माता रोगोंकी संभावना उत्पन्न होती है। इसलिये इस कृष्णके दूर करना सुगमतासे किस रीतिसे माध्य होता है, यही बाताना सूक्तका मुख्यतया विषय है। मानो इस विषयसे आरोग्य का विषय इस सूक्तमें दर्शित किया है।

आरोग्यका दाता ।

सूर्य ही आरोग्यका दाता है यह बात इस सूक्तके प्रथम मंत्रके उत्तरार्धमें स्पष्ट कही है

स नो मृदाति तन्वे ऋतुगो रजन् । (मंत्र १)

"बह (सूर्य) हवासे गरीबोंके आरोग्य देता है, छाया जाने-वाला लोगोंको नाश करके, " इस मंत्र भागछा स्पष्ट आशय यह है कि वह सूर्य दोषोंको दूर करता है और आरोग्य बढ़ाता है। यदि यह सत्य है तो यह भी सत्य है कि सूर्य प्रकाश जहाँ नहीं पहुँचता वहाँ ठीक आरोग्य रहना संभव नहीं है। इस आरोग्यके वैदिक नियम की ध्यानमें रखकर आप अपने धर्मोद्ध और प्रसूतिके बरसेका विचार कीजिये। आरोग्यदाता सूर्य-प्रकाश हमारे कमरोंमें कितना जाता है! प्रसूतिके स्थानमें भी विपुल प्रकाश आना चाहिये, तभी माता और नूतन उत्पन्न बालक का उत्तम स्वास्थ्य रह सकता है। धरके कमरोंमें विपुल प्रकाश आता रहेया तो घरवालोंका स्वास्थ्य ठीक रहेगा। इष्ट प्रकार वेद कहता है कि सूर्य प्रकाश सबके स्वास्थ्यके लिये आवश्यक है। पाठक अपने अपने व्यवहारमें इस कृतका उपयोग करें।

प्रथम मंत्रका अंतिम कथन है कि (एकमोक्षकेषा विषकमे) अर्थात् एकही धारिके तीन प्रकारसे प्रकाशित हो रही है। यह बात कई स्थानोंमें सत्य है। सूर्य का ही तेज सुनोकेमें सूर्य प्रकाशसे, अंतरिक्षमें विद्युत् रूपसे और भूतलकेमें अग्निके रूपसे प्रकाशित हो रहा है। यही बात धरारमें देखिये-मस्तिष्कमें मज्जासूक्ष्म, हृदयमें पाचनशक्तिके रूपमें और सब धरारमें उष्णताके रूपमें सूर्यका तेज प्रकाश है और विविध कार्य करता है। आरोग्यका विचार करनेके समय हम धानका अवश्य विचार करना चाहिये। सूर्य प्रकाशसे इन तीनों धरारिक स्थानोंमें योग्य परिणाम होकर धरारका आरोग्य होता है, बुद्धिका तेज बढ़ता है और सुखकी वृद्धि होती है। पर है

संक्षेपसे सूर्यका हमारे आरोग्यसे संबंध । पाठक विचार करें और अधिक ज्ञान प्राप्त करें ।

इस रीतिसे प्रथम मंत्रमें आरोग्यका मूलमंत्र बताया है और उपरान्त यह भी कहा है कि जिस प्रकार धरमें बालकहृषी सूर्यका वक्ष्य होता है उसी प्रकार विश्वमें विश्वरूपी सूर्यका उदय होता है । धर छोटा विश्व है तथा विश्वही बड़ा धर है । इसलिये इस धरके सूर्यका आर विश्वके सूर्यका संबंध देखना चाहिये । आरोग्यके लिये तो इस धरके सूर्यका विश्वके साथ संबंध करना चाहिये अर्थात् जहातक हो सके बहातक बालक को धरमें बंद न रखते हुए विश्वसूर्यके खुले प्रकाशमें सनैः सनैः खानेका धन करना चाहिये, जिससे धरका सूर्य भी आरोग्य और बलवान बन सके ।

सूर्यकिरणोंसे चिकित्सा ।

आगे द्वितीय मंत्रमें कहा है कि (अग्नि अग्नि सौमित्रिया सिद्धिर्वाणं) धरारके प्रत्येक अंगमें तेजके अंशसे यह सूर्य रहता है, उनमें (मनस्पन्तः) जमन करना चाहिये, अर्थात् उमका आदर करना चाहिये, सूर्यके तेजसे अपने तेजको बढ़ाना चाहिये । जो लोग धरके अंधेरे कमरोंमें अपने आपको बंद रखते हैं वे मिले-ब होते हैं, परंतु जो खुली हवामें घूमते हुए सूर्यप्रकाशसे अपना तेज बढ़ाते हैं वे तेजस्वी होते जाते हैं ।

• धरारके प्रत्येक (पर्व) ओटमें यह अंश रहता है, इस सूर्यके अंशसे इस स्थानपर (प्रभूता) अपना अधिकार जनाया है । हरएक अवयवमें इसके (अंकात्) चिन्होंकी पहचानना चाहिये और (समकाल्) मिले जुले चिन्होंकी भी पहचानना चाहिये । जैसा आंसुमें तेजस्वसे सूर्यका निवास है, अन्य स्थानोंमें अन्य अंशोंसे है । यह सब जानना चाहिये । और जिस स्थानमें अनारोग्य या बीमारी हुई हो उस स्थानका आरोग्य सूर्य-प्रकाशका उचित रीतिसे प्रयोग करके प्राप्त करना चाहिये । सबके मंद सूर्यके प्रकाशमें खुली आंखसे सूर्य विच देखते रहनेसे प्रायः नेत्ररोग्य दर होता है । विशेष नेत्ररोगोंके लिये विशेष युक्तिसे सूर्य-किरणका प्रयोग करना चाहिये । विशेष अंगके लिये भी विशेष युक्तिसे ही सूर्यकिरणका प्रयोग करना होगा है । माघारण आरोग्यके लिये वह विशेष अवयव सूर्यकिरणोंमें तपानेसे भी बहुतसा कार्य हो जाया है । इस

युक्तिसे केवल सूर्य किरणचिकित्सासे बहुतसे रोग हल करना संभव है । यदि सदन हो सके इतने उष्ण सूर्य प्रकाशमें नंगा धरार कुछ देरतक तपाया जाय तो भी सर्वसाधारण धरार की नीरोगता बढ़ती है । शीतकालमें यह करना उत्तम है, परंतु गर्मीके दिनों और उष्ण देशोंमें विचारसे और युक्तिसे ही इसका प्रयोग करना चाहिये । नहीं तो आरोग्यके स्थानपर अनारोग्य भी होगा इसलिये यह सब अभ्यास युक्तिसे ही बढ़ाना चाहिये ।

तृतीय मंत्रमें (सौर्विस्वाः) सिरदर्द, (कासाः) खांती, (पक्) अंधिस्थानके रोग उक्त प्रकार इटनेकी सूचना दी है । (वातजाः) वात, (शुष्माः) पित्त, (अन्नजाः) कण्ठके प्रकोपके कारण उत्पन्न हुए ये तथा अन्य रोग भी उसी युक्तिसे दूर काले ही सूचना तृतीय मंत्रमें है । (पर्वताद् सचतां) तथा पर्वतों पर रहकर (वनस्पतीन् सचतां) उचित वनौषधियोंका सेवन करनेका भा उपदेश इसी मंत्रमें है । वनौषधियोंका सेवन दो प्रकारसे होता है, एक वृक्षादिकोंके नीचे रहना और दूसरा योग्य औषधियोंके रसादिना उपयोग करना । पर्वतोंके उच्च शिखरोंपर निवास और इक्षोंके नीचे बैठना उठना बड़ा आरोग्यदायक है, यह बातें हमने कई रोगियोंपर युक्तिसे आजमाई हैं और हमारे अनुभवसे बड़ी लाभदायक सिद्ध हुई हैं । पाठक भी इससे लाभ उठावें ।

चतुर्थ मंत्रमें सिर आदि उत्तमोंय तथा पाँच आदि अधरंग-तापयें सब धरारका स्वास्थ्य-पूर्वक रीतिसे प्राप्त करनेकी सूचना प्रार्थना मंत्रद्वारा दी है ।

सर्वसाधारण उपाय ।

इस सूक्तिसे सर्व साधारणके लिये भी बड़ा बोध प्राप्त हो सकता है । मुख्य बात यह है कि जो नंगे धरार सूर्यके किरणोंमें घूमते हैं अर्थात् अपने धरारको सूर्यकिरणोंसे तपते हैं उनको चर्म रोग, खांती, दमा तथा सय आदि रोग होतेही नहीं । वे सब रोग उनको होते हैं कि जो नंगे धरारपर सूर्यकिरण नहीं लेते, अर्थात् सदा बर्छोंसे ढेकित होकर तंग मछानोंमें बैठते हैं । जो इससे बोध लेगे वे इस सूक्तिसे बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं । वेदमें इभीलिये परका नामही " सय " आता है । यदि पाठक अपने परको " सय " का कारण समझेंगे तो वे उससे बाहर अधिक देरतक रहेंगे और सूर्यकिरणसे मिलनेवाला आरोग्य प्राप्त कर सकेंगे ।

अन्तर्यामी ईश्वरको नमन ।

(१३)

[श्रुति:- भृगुवह्निराः । देवता-विद्युत्]

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्स्त्रे । नमस्ते अस्त्वहमन्त्रे येना दृढाशु अस्वसि ॥१॥

नमस्ते प्रवतो नपाद्यतस्तर्षः समूहमि । मृडर्या नस्तन्मृषो मर्यस्तोकेर्म्यस्काधि ॥२॥

प्रवतो नपाद्यर्ष एवास्तु तुभ्यं नमस्ते हेतये तपुषे च कृष्णः ।

विष्य ते धाम परमं गुहा यस्तंमुद्रे अन्तर्निहितासि नामिः ॥३॥

या त्यां देवा अमुजन्तु विश्व इषुं कृष्णाना असनाय घृष्णुम् ।

सा नो मृड विदथे गृष्णाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥४॥

नमः- (विद्युते वे) विशेष प्रहासमान गुप्तको (नमः) नमस्कार (अस्तु) देवि । (स्तनयित्स्त्रे त्रै नमः) गडगडानेवाले गुप्तको नमस्कार होवे । (अहमन्त्रे वे नमः अस्तु) ओंते रूप गुप्तको नमस्कार होवे । (येना) जिसने तू (दृढाशु अस्वसि) दुःखदायीको दूर केंका है ॥ १ ॥ हे (प्रवतः नपाद्य) उच्छ्वासो न भिगनेवाले! (ते नमः) तेरे लिये नमस्कार होवे । (पतः) कर्षोके । (समा समूहसि) तपसो इच्छा करता है । (मः सन्म्यः कृष्ण) हमारे धरतोंको सुख दे और (तोकेर्म्यः मयः कृषि) कृषीके लिये सुख प्रदान कर ॥२॥ हे (प्रवतः नपाद्य) उच्छ्वासो न गिरानेवाले! (तुभ्यं एव नमः अस्तु) तुम्हारे लिये ही नमस्कार होवे । (ते हेतये तपुषे च नमः कृष्णः) तेरे अन्न और तेजके लिये नमस्कार करते हैं । (यत् ते धाम) जो तेरा स्थान (परमं गुहा) परम गुप्त अर्थात् हृदयस्थी गुप्तमें है वह हम (विष्य) जानते हैं । उस (समुद्रे अंतः) समुद्रके अंदर (नामिः निहिता अमि) तू नामिष्प रहा है ॥ ३ ॥ हे (देवि) देवी! (असनाय) घण्टार केंहनेके लिये (घृष्णुं ह्युं कृष्णानाः) बलवान् घृष्णु बाग करनेवाले (विश्वे देवाः) सब देव (यां त्यां) जिस गुप्तको (अमुजन्तु) प्रशु करते हैं, (तस्यै ते नमः अस्तु) तम तेरे लिये नमस्कार होवे । (सा) वह तू (विदथे गृष्णाना) गुप्तमें प्रशंसित होनेवाली (मः कृष्ण) हमें सुख दे ॥ ४ ॥

भाषार्थ- हे देवि! ईश्वरी! तू बिजली आदिमें अपना तेज प्रकट करती है, मेघमें गर्जना कराती है और अपनी धाँकसे मोने में शरसां है, इन सब बातोंसे तू हमारे सब दुःखोंको दूर करती है, इसलिये तुझे हम सर प्रणाम करते हैं ॥ १ ॥ हे उच्छ्वासे न गिरानेवाली देवि ईश्वरी! तू तपोमय जीवनको हमारे अंदर इच्छा करती है अर्थात् हमारे तपःशक्त बढाती है, उस तपसे हमें तथा हमारे संतानोंको सुखी कर, तेरे लिये प्रणाम करते हैं ॥२॥ हे उच्छ्वासे न गिरानेवाली देवी ईश्वरी! हम जानते हैं कि तेरा स्थान हृदयस्थी श्रेष्ठ गुप्तमें है, वहाके समुद्रके अंदर तू म-म आभाररूप होकर रहती है, इसलिये तप तेज और तेरे दुष्ट विषयतक मन्त्र अर्थात् तेरी शक्तिके अनुसार हम तिर चुकाने हैं ॥३॥ हे देवी ईश्वरी! घण्टोके दूर करनेके लिये सबान्त्र बनानेवाले सब तपत्रियेच्छु लोग वदा तेरी शक्ति करते हैं इस कारण गुप्तोंमें प्रशंसित होनेवाली तू हमें सुख दे । हम सब तुझे प्रणाम करते हैं ॥४॥

ध्रुव की देवता ।

इस सूक्तकी देवता " विद्युत् " है । यद्यपि विद्युत्का अर्थ बिजली है, और इस सूक्तका धारम वेदस्थानमें विद्युत्के वर्णन

से ही हुआ है, तथापि विद्युत् का वर्णन करना मुख्य उद्देश्य इस सूक्तमें नहीं है । जिस प्रकार अग्निष्पत्ति सूक्तोंमें अग्नि आदि देवताओंके मिश्रसे परमात्माका वर्णन होता है, उसी प्रकार विद्युत् रूप की देवताके मिश्रसे ईश्वरका, जगन्माता, आदिवाता

देवीके रूपमें, परमात्माका ही वर्णन यहाँ हुआ है, उस मान-चे स्पष्ट व्यक्त करनेवाले इसी सूक्तके मित्र मंत्रभाग यहाँ देवने-योग है

१ "प्रवतः न-पात्" — "प्रवत्" शब्दका अर्थ सच स्थान है। सच अवस्था, उच्यता आदि भाव इस शब्दसे प्रकट होते हैं। सचतासे न गिरानेवाला यह "प्रवतो न-पात्"का भावार्थ है। परमात्मा ही मनुष्यमात्रके सच अवस्थामें रहनेवाग और वहाँसे न गिरानेवाला है। (मंत्र २, ३)

२ "ते परमं धाम गुहा" — तेरा परम धाम हृदय की गुफामें है। हृदयमें आत्माका निवास है, वही उच्च परम पवित्र निवास-स्थान है, यह उपनिषदादिमें अनेक बार आगया है।

३ "समुद्रे अन्तः नाभिः निदिताऽसि ।" — उची समुद्रमें मध्यभाग वृहत् है। हृदय गुफामें मानस सरोवर है, समुद्र है, विवागका अथवा भावनाओंका महासागर है। उमरी नामी उसका आधार स्थान, वही आत्मा है। कौटिल्य इस समुद्रकी सब लहरें उसकी ही प्रेरणासे अथवा धारिणें उठती हैं और उठीगी अन्तः इस समुद्रमें शांति स्थापित होती है।

४ "यां त्वा देवा असृजन्त विभे ।" — जिस मनुष्यको सब देव प्रकट करते हैं। आत्माका देवीद्वारा प्रकाशित होना वेदमें अनंत स्थानोंमें स्पष्ट हुआ है। शरीरमें नेत्रादि सब इंद्रियोंद्वारा आत्माका प्रकाशन हो रहा है। यदि नेत्रादि इंद्रियाँ न हों, तो आत्माका अस्तित्व भी ज्ञात नहीं हो सकता। इस प्रकार सब इंद्रियादि देव शरीरमें आत्माको प्रकट करते हैं। विषुवें सूर्यदेवादि देव परमात्माकी महिमा प्रकट कर रहे हैं। मनुष्य सनातनमें सब विज्ञान परमेश्वरकी प्रशंसा कर रहे हैं। इस प्रकार सर्वत्र देवीद्वारा आत्मा प्रकाशित होता है।

५ "विद्युधे मृणान्ना ।" — युद्धके समय इसकी अग्नि की जाती है। मनुष्य संकटमें पड़नेपर उसकी सहायताके लिये प्रार्थना करता है। योके सज्जनोंको छोड़ दिया जाय तो प्रत्यय साधारण मनुष्य संकट समयमें ही ईश्वरकी भक्ति करने लगते हैं। मनुष्यपर संकट न आजाय, तो वह ईश्वरकी प्रार्थना भी नहीं करेगा। युद्धमें सभी भक्ति होती है। मुख्य युद्ध जीवन-युद्ध है। मनुष्य युद्ध करके ही जीवित रहता है। विरोधीशक्तिके धामना करना युद्ध है।

इन सब मंत्रभागोंका वर्णन देखनेमें पता लगता है, कि

इस सूक्तके परमात्माकी तैमन्न शक्तिका ही मुख्यतया वर्णन करना है। और वह वर्णन हीरूप देवके वर्णनद्वारा यहाँ किया है।

जिस प्रकार मनुष्यका नेत्र देखता है, परंतु अपनी शक्तिों वह देख नहीं सकता, किंतु हृदयस्थानीय आत्माकी शक्तिके ही देख सकता है; इसी प्रकार अन्त्यात्म्य इंद्रियों आत्माकी शक्तिके प्रेरित होकर ही अपना कार्य करता है। जैसी यह बात शरीरमें है, उसी प्रकार जगतकी सृष्ट्यादि देवताएँ तेज फैलाना आदि कार्य अपनी शक्तिके नहीं कर सकतीं। विश्वव्यापी परमात्माकी शक्ति लेकर ही सूर्य प्रकाशना, विद्युत् चमकती और वायु बहता है। इसलिये सूर्यप्रकाशमें, विद्युत्की चमकाइसे अथवा वायुके वेगने न केवल इन देवताओंकी शक्तिया प्रकट हो रही हैं, परंतु परमात्माकी ही शक्ति प्रकट हो रही हैं। यह भाव ध्यानमें रहकर यदि पाठक इस सूक्तका विचार करे, तो उनकी इस सूक्तमें विद्युत्की चमकाइसे परमात्माका तेज फैल रहा है यहाँ भाव विदित होगा। इसी रीतिसे इस सूक्तका विचार करना चाहिये।

प्रथम मंत्रमें विद्युत्की चमकाइसे, मेघोंकी प्रचंड गर्जना, मेघोंसे बरसकी वृष्टि अथवा जलकी वृष्टि आदि द्वारा परमात्माका प्रचंड कार्य देखना उचित है। इससे परमात्मा प्राणिमात्रके दुःख दूर करता है। वृष्टिसे जल और जल प्राप्त होनेके कारण प्राणियोंके अनंत क्लेश दूर हो रहे हैं। यही परमात्माकी कृपा है।

तपका महत्त्व ।

द्वितीय मंत्रमें तपका महत्त्व वर्णन किया है। तप अपने द्वारा शक्तिके किश जाता है, वाणोंका तप, मनका तप, शरीरका तप, ब्रह्मचर्यका तप, हरेण हृदियः तप आदि अनेक तप मनुष्यको करने चाहिये। इन सब तपोंका अितन्त्र ब्रह्मा (तपः समृद्धिः) समूह होगा, उतना उच्च स्थान उस मनुष्यको प्राप्त होगा। अर्थात् तपके जीवनपर मनुष्यका महत्त्व अवलंबित है।

जिस कारण तपके प्रभावसे मनुष्य उच्च होता है, उसी कारण तपके प्रभावसे ही मनुष्य नहीं गिरता। इसीलिये इस द्वितीय मंत्रमें उच्यतामें न गिरनेका हेतु तपका प्रभाव (प्रवतः न-पात्, च तपः समृद्धिः) कहा है। यहाँ पाठक इनका परस्पर संबंध देखें और गिरावटसे बचनेका कारण जान अपने धारकों गिरावटसे बचानें। जो स्वयं अपने आपको गिरावटसे बचा सकता है, वह दूसरोंको सुखी कर सकता है।

परमधाम ।

तृतीय मंत्रमें परमेश्वरके परम धामका पता दिया है । परमेश्वरका परम धाम हरएक के हृदयमें है, विशेषतः भक्तके हृदयमें ही है । परमेश्वरके भक्त ही उस धामको जानते हैं और वर्णन करते हैं । चीन दुसा उनको जान सकता है और वर्णन कर सकता है ? यही स्थान जानना और इसीछा अनुभव लेना मनुष्यका साम्य है ।

मनुष्य समुद्रके अंदर गिर पडा है, इस समुद्र की सहरें बही भारी सहा रही है, प्रबल वायु चल रहा है, धूँगांधार भेज करस रहे हैं, विभिन्नियाँ चक्कम रहीं हैं, और यह मनुष्य ऐसे प्रहृष्टच सद्गुरुमें सहायताके लिये पुकार रहा है । उसका प्याल है, कि सहायता बाहरसे आनेवाली है । यहाँ मनुष्यका भ्रम है, यही अज्ञान है और यही कमजोरी है ।

यह तृतीय मंत्र स्पष्ट साक्ष्यसे कह रहा है, कि उस प्रहृष्ट समुद्रका केन्द्र बही परमात्मा है और वह भक्तके हृदयमें विराजता है । हे भक्त ! यदि तू सचमुच बसकी सहायताके लिये पुकार रहा है तो अपने हृदयमेंही उसे हूँउनेका यत्न कर, बही सहाय परम धाम है । और बहादी वह अपने वैभवसे प्रकाश रहा है ।

पाठको । आप यह ध्यानन राखिये कि आपमेंते हरएक के हृदयमें वह आरमभ्योति है । बही सब उन्नति की सहायक शक्ति है । आप उसे पकड़ लीजिये, तो आपकी उन्नति निःसंदेह हो जायगी । सब जगत् अंदरसे बढ रहा है, बाहरसे नहीं । आपकी उन्नतिश भी यही नियम है ।

युद्धमें सहायता ।

युद्धके समय, शत्रुका हमला होनेके प्रसंगमें, करके समयमें

इस परमात्माकी सहायता सब चाहते हैं । मरण, दुःख आदिके कारण मनुष्य परमात्माकी खोज करते हैं । इसलिये बड़े सत्पुरुष दुःखको स्वीछरते हैं और बन्नोंको सुख देते हैं । यही दुःखधा महत्त्व है ।

तृतीय मंत्रमें कहा है, कि “ सब देव उसको प्रकट करते हैं । ” इसीका स्पष्टीकरण इसने पूर्व किया जा चुका है । “ युद्धमें अपनी प्रशंभा या स्तुति प्रार्थना होती है ” इसका भी कारण स्पष्टतापूर्वक हमने देखा है । यह सब इसलिये करते हैं कि “ शत्रुको दूर भगानेके लिये प्रबल शक्ति प्राप्त हो । ” जो परमात्माके सवे भक्त होते हैं, या तो उनके सन्मुख कोई शत्रु नहीं उठर सकता, भयश जो उनकी शत्रुता करता है, वह स्वयं नष्ट हो जाता है । अर्थात् परमेश्वर भाकिही एक बही शक्ति है, जो सर्व शत्रुओंका नाश कर सकता है ।

नमन ।

इस चार मंत्रोंके सूक्तमें परमेश्वरकी बात बार नमन किया है, अर्थात् यहाका अनेक बारका नमन सिद्ध कर रहा है, कि परमेश्वरको सार्वभौम सत्ताके सामने सिद्ध बुझाना, उसके सर्वत्र उपस्थित समझना, उसीकी सर्वोपी समझना मनुष्यकी उन्नतिके लिये अत्यावश्यक है । उसकी छोड़का किसी दूसरेको नमन न करनेके संबंधमें “ तुभ्यं एव नमोऽस्तु ” (मंत्र ३) यह मंत्रभाष्य देलने योग्य है । “ मैं तुझे ही नमन करता हूँ । ” ऐसेसे भिन्न किसी भयगी उपासना मैं नहीं करता, हे ईश्वर ! तेरे नामने ही मैं सिद्ध बुझाना हूँ । मुझे अनुग्रहीत कर और कृतार्थ कर । इन सूक्तमें सर्वोत्कृष्ट उपासना कही है, पाठक इसका उपयोग उपासनाके समय कर सकते हैं ।



कुलवधू-सूक्त

[ऋषिः— भृग्वङ्किराः । देवता-यमः]

(१४)

मर्ममस्या वर्च आदिप्याधि वृक्षादिं स्रजम् । महासुंघन इव पर्वतो ज्योक् पितृत्वास्ताम् ॥१॥
 एषा तै रात्रन्कन्या वृधुनि धूपतां यम । सा मातुर्विष्यतां गृहेऽप्यो आतुरयो पितुः ॥२॥
 एषा तै कुलपारां जन्तामुं ते परं ददासि । ज्योक् पितृत्वांसाता आ श्रीर्णः समोप्यात् ॥३॥
 असितस्य ले ब्रह्मणा कुर्यपस्य गयंस्य च । अन्तःकोशमिव ज्ञामयोऽपि नद्यामि ते शर्मम् ॥४॥

अयं—(वृक्षान् अपि स्रजं इव) वृक्षेषु जिन प्रकार फूलोंकी माला लेते हैं, उस प्रकार (अस्याः भगं वधैः आदिपि) इस कन्याका ऐश्वर्य और तेज में स्वीकारता हूँ । (महावृक्षः पर्वतः इव) बड़े जडवाले पर्वतके समान स्थिरतासे यह कन्या (विवृषु ज्योक् आस्तां) मातापिताके घर बहुत समयतक रहे ॥ १ ॥ हे (यम राजन्) नियमपालन करनेवाले स्वामिन् ! (पूषा कन्या) यह कन्या (ते वधूः) तेरे वधू होकर (निवृष्यात्) व्यवहार करे । (अयो) अथवा (सा) वह माताके, माईके (अयो) किंवा पिताके (गृहे बध्यताम्) परमें रहे ॥ २ ॥ हे (राजन्) हे स्वामिन् ! (पूषा) यह कन्या (ते कुञ्ज-या) तेरे कुञ्जका पालन करनेवाली है । (तां) उससे (उ तं परिदद्यासि) तेरे लिये देते हैं । यह (ज्योक्) उस समयतक (विवृषु आसासौ) मातापिताके घरमें निवास करे (आ शीर्षाः समोभ्यात्) जबतक शिर न सजाया जावे ॥ ३ ॥ (आसितस्य) बंधन रहित, (कश्यपस्य) दृष्टा (च) और (गयस्य) प्राग साधन करनेवाले (ते) तेरे (ब्रह्मणा) ज्ञानके साथ मैं (ते नागं अपि नद्यामि) तेरे ऐश्वर्यको बांधता हूँ, [जामयः अंतः कोतं इव] जियां अपनी पित्रादीको जैसे बांधती है ॥ ४ ॥

भावार्थ [१] वृक्षने फूल और पत्ते निकाल कर जैसी माला बनाकर लेंग पड़ते हैं उसी प्रकार इस कन्याका सौंदर्य और तेज में स्वीकारता हूँ और उसने अपने आगो सजाना चाहता हूँ, जिस प्रकार बड़ा जडवाला पर्वत अपने ही आधारपर स्थिर रहता है; उस प्रकार कन्या भी अपने मातापिताके घरमें निवृषु रहकर देवकी सुपत्नी रहे ॥ १ ॥ [२] हे नियमपालक पति ! यह हमारी कन्या तेरी वधू होकर नियमरूपे व्यवहार करे । जिस समय यह आपके घरमें रहेगी उस समय वह पिता, माता अथवा माईके घर रहे, परंतु किसी अन्यके घर जाकर न रहे ॥ २ ॥ दे पति ! यह हमारी कन्या तेरे कुञ्जका पालन करनेवाली है, इसको तेरे लिये हम सनसग करने हैं । जबतक इसका शिर सजाने का समय नजावे तबतक यह मातापिताके घरमें रहे ॥ ३ ॥ बंधनरहित, दृष्टा और प्राणिकी स्वीकरी करनेवाले तेरे ज्ञानके साथ इस कन्याके मायघा संबंध में करता हूँ । जिस प्रकार जियां अपने जेवर संभरकर देती है, वैसे प्रकार इसका भाव्य सुरक्षित रहे ॥ ४ ॥

पहला प्रस्ताव । 97268 उसके साथ विवाह करनेकी इच्छा प्रकट करता है । अर्थात्

इस सूक्तमें चार मंत्र हैं । पहले मंत्रमें मावी पतिका प्रस्तावरूप भाषण है । पति कन्याके रूपको और तेजको पसंद करता है और उस तेजका स्वीकार करना चाहता है । इस विषयमें मंत्रका रूपक अतिस्पष्ट है—

“वृक्षत्रनस्वदिपौते पत्ते फूल और मंत्रियां लेकर लोग माला बनाते हैं, और उस मालाको गलेमें धारण करते हैं । इस प्रकार यह कन्या सुगंधित फूलोंवाली बच्ची है, इसके फूल और पत्ते (मुसकमल और हलपत्रद) अथवा इसका सौंदर्य और तेज में लेवा हूँ और उससे मैं सुशोभित होना चाहता हूँ । अर्थात् मैं इस कन्याके साथ गृहस्थाग्रन करनेकी इच्छा करता हूँ । जैसा पर्वत अपने विनाश आघारपर रहता है, उस प्रकार यह कन्या अपने मातापिताओंके सुदृढ आघारपर रहे । अर्थात् मातापिताओंसे मुद्रिष्टा पत्नर यह कन्या सुयोग्य बने और पश्चात् मेरे (पतिके) घर जावने ।”

यह भाव प्रथम मंत्रका है । इसमें मावी पतिका प्रथम प्रस्ताव है । मावी पति कन्याका सौंदर्य और तेज पसंद करता है और

उसके साथ विवाह करनेकी इच्छा प्रकट करता है । अर्थात् आवी पति कन्याकी प्रायना उसके माता पिताके पास करता है । और साथ यह भी चढ़ता है कि, कन्या कुछ समयतक मातापिताके घर ही रहे अर्थात् योग्य समय आनेतक कन्या मातापिताके घर रहे, तत्पश्चात् पतिके घर जावे । योग्य समय की मर्यादा आगे तृतीय मंत्रमें कहीं आयगी ।

इस मंत्रके विचारसे पता लगता है कि, पुरुष अपनी उद्यमबर्गारिणी को पसंद करता है । पुरुष अपनी रुचि के अनुसार कन्याको चुनता है और अपना मानस कन्याके मातापिताओंसे निवेदन करता है । कन्याके मातापिता इस प्रस्ताव का विचार करते हैं और मावी पतिकी योग्य उत्तर देते हैं ।

इस सूक्तमें यह स्पष्ट नहीं होता है, कि कन्याको भी अपने पतिके विरुद्ध पसंदगी नापसंदगीका विचार प्रदर्शित करने का अधिकार है वा नहीं । प्रस्ताव होनेपर भी कन्याका मानागतिके घरमें देतक वास्तव्य [विवृषु कन्या ज्योक् आस्तां] क्या रहा है कि, यह प्रस्ताव कन्याके रजोदर्शन के पूर्व ही, अथवा उपर होनेके पूर्व ही होना है । आजकल जिसको “मंगनी” कहते हैं, उसके समान ही यह बात दीखती है । इस सूक्तमें कन्याका एक मां भाषण नहीं है,

वरतु मायी पति और कन्याके मातृपिता या पालकोंका प्रो भाग्य है । इससे अनुमान होगा है कि, कन्याको उतना अधिकार नहीं है, कि पितृता पतिको है ।

तोसरे मंत्रमें कन्याके पालक कहते हैं कि, हम [ते वां पति द्रष्टसि] तोलिये इस कन्याको समर्पण करते हैं ।^१ यह मंत्रभाग स्पष्ट बता रहा है कि, कन्या इस विषयमें परतंत्र है । मंत्रमें दो वाक आया है कि "कन्या पिता माता अथवा भाईके घरमें रहे" अथवा आगे जाकर हम यह सारते हैं कि, विवाह होनेपर यह पतिके घर रहे । परंतु यह कभी स्वतन्त्रतासे न रहे ।

जिस प्रकार ब्रह्मका आधार बसती अके है, अथवा पर्वतका आधार उसी अति विस्तृत सुनिश्चिद है, उसी प्रकार कन्याका पहला आधार मातृपिता अथवा भाई है, और पालकका आधार पति ही है । इसके गिन किसी अन्यथा आधार को सेना उचित नहीं है ।

प्रस्तावका अनुमोदन ।

प्रथम मंत्रमें उचित मायी पतिका प्रस्ताव सुननेके पश्चात् कन्याके माता पिता विचार करके भाका पतिसे कहते हैं; कि—

"हे नियमसे बलनेवाले स्वामिन् । यह कन्या तेरे साथ नियमपूर्वक व्यवहार करे । तबतक यह माता पिता अथवा भाईके घरमें रहे ॥ हे स्वामिन् । यह कन्या तेरे पुत्रका पालन करनेवाली है, इसलिये हम तेरे लिये इनका प्रदान करते हैं । यह तबतक मातापिताके घर रहे, जबतक इसके विर सम्प्रतिक समय आजाय ॥ तू संघनरहित, द्रष्टा और प्राणघातके युक्त है, इसलिये तेरे ज्ञानके साथ इस कन्याके भाग्यका सम्बन्ध हम जोड़ देने हैं । जैसी जितनी अपने जेवर संतुल्यमें बंद रखती है उस प्रकार इसके साथ तेरा भाग्य सुरक्षित रखना है ।"

यह तीनों मंत्रों का तात्पर्य है, यह बहुगुणी विचार करने-योग्य है । पाठक इनका बहुत विचार करें । यहाँ उनकी सुविधाके लिये कुछ विचार किया जाता है—

चरकी परीक्षा ।

इस सूत्रमें पतिके गुण धर्म बताये हैं वे यहाँ प्रथम देखने योग्य हैं—

१ धर्मः— धर्मिययोश्च पावन करनेवाला, धर्मिययोके अनुकूल अपना आचरण रखनेवाला ।

२ राज्ञः— राजा (राजपति) अपनी धर्मपत्नीका रंजन करने-वाला । (उदा पत्नीके विषयका अर्थ होनेसे 'राजन्' शब्दका

अर्थ यह लेना योग्य है ।) राजा कन्याका अर्थ " बहानिका रंजन करनेवाला " । एतदर्थधर्मिय धर्मयत्नां पुरुष श्री महात्मी श्री है । उस धर्मरक्षी ही संतोष बढानेवाला ।

३ कसितः— (क-सितः कसदा) संघनरहित । अर्थात् जिसका मन स्वतंत्रताका भावनेयमा है । गुनामीके भाव जिसके मनमें नहीं है ।

४ कश्यपः— (कश्यकः) देखनेवाला । अपनी परिस्थितिको उतम गतिसे जाननेवाला और अपने कर्तव्यको ठीक प्रकार समझनेवाला ।

५ गवः— (प्राणवक्त्रयुक्तः) प्राणवक्त्रादि दोषाकणद्वारा जिसमें अपने प्राणोंका बल बढया है ।

६ ब्रह्मणा युज्यः— ज्ञानसे युक्त । ज्ञानी ।

ये छः शब्द इस सूत्रमें पतिके गुणधर्म बता रहे हैं ।

पतिके गुणधर्म ।

धर्मिययोके अनुकूल आचरण करना, धर्मरक्षणीकी संतुष्ट रचना, स्वाधीनताके लिये बल करना, अपनी परिस्थितिको ठीक प्रकार जानना, योगादि साधनद्वारा अपनी दीर्घ आयु नीरोगता तथा सुखका सांपादन करना, तथा ज्ञान बढ़ाना, ये गुण पतिकी योग्यता प्रदर्शित कर रहे हैं ।

यों कीटो संतुष्ट रचना धर्मोत्कल बलनेसे पितृता ही सफटा है उतनाही कहा है, क्योंकि " धर्म राजन् " के दो शब्द मंत्रमें इकट्ठे प्रयुक्त हुए हैं ।

अपनी कन्या के लिये घर हूँदना ही तो एक का गुणोंकी कसौटीसे ही हूँदना तथा पसंद करना चाहिये । जिसका आचरण धर्मोत्कल हो, जो धर्मरक्षीके साथ प्रेमपूर्ण बर्ताव करनेवाला हो, जो स्वाधीनताके लिये प्रयत्नशील हो, जो अपनी अवस्थाको जाननेवाला और तदनुकूल कार्य व्यवहार करनेवाला हो, जो बलवान तथा नीरोग हो और स्वास्थ्य रक्षा कर सकत हो, तथा जो ज्ञानवान और प्रबुद्ध हो, तो उस करके अपनी कन्या प्रदान करना योग्य है ।

तथा जो धर्मोत्कल आचरण नहीं करता, जो किशकि साथ प्रेममय आचरण नहीं करत, जो बराधीनतामें रहता है, जो अपनी अवस्थाके प्रतिकूल आचरण करता है, तथा जो निर्बल और रोगी हो, तथा जो शक्ती न हो, उसके किसी भी अवस्थामें अपनी कन्याके लिये घर रूपमें पसंद नहीं करना चाहिये ।

पाठक वर परीक्षाके विषयमें इन बातोंका ध्यान रखे । अब वधु परीक्षा करनेके नियम देखिये—

वधु-परीक्षा ।

इस सूक्तमें वधुपरीक्षाके निम्नलिखित मंत्र मांग हैं—

१ कन्या— [कन्येना] कन्या ऐमी हो, कि त्रिविको देखनेमें मनमें प्रेम उत्पन्न हो । रूप, तेज, अवयवोंकी सुन्दरता, स्वच्छता, ज्ञान, आदि सब बातें, जिससे देखनेवालेके मनमें प्रेम उत्पन्न होता हो, इस सम्बन्धे ज्ञान हो जाती है ।

२ वधु— [उद्यते पतिवर्ह] जो पतिके घर जाकर रहना पसन्द करती है । जो पतिके घरको ही अपना सखा घर मानती है ।

३ कुलया— कुलया पालन करनेवाली । पित्तके तथा पतिके कुलोंकी सर्वोदासीनता पालन करनेवाली । जो अपने सदाचारके दोनों कुलोंपर बराबर बढाती है ।

४ वे [पत्युः] भगवत्— धर्मपत्नी ऐसी होनी चाहिये, कि जो पतिप्रिय भाव्य बढावे । जिसने पतिके धन्यता अनुभव ही ।

५ पितृदुःखास्ताम्— शिवाहके पूर्व अथवा आपर्यायमें मातापिता अथवा माँ इनके घरमें रहनेवाली और शिवाहके पश्चात् पतिके घर रहनेवाली । किन्ती अन्वके घर जाकर रहनेकी इच्छा न करनेवाली कन्या होनी चाहिये ।

६ वृद्धात् वधु-वृद्धसे पुष्पमालाके समान कन्या हो, पित्तके कुलकी इच्छाके पुष्पमालारूप कन्या सुगन्धित करे ।

ये छः मंत्रमांग कन्याकी परीक्षा करनेके नियम बता रहे हैं । पाठक इनका तमन विचार करे और इन उपदेशोंके अनुकूल कन्याकी परीक्षा करे ।

कन्याके गुणधर्म ।

कन्या मूल रूप तथा तेजस्विनी हो, पतिके घर प्रेमपूर्वक रहनेवाली हो, दोनों कुलोंका पया अपने सदाचरणसे बढानेवाली हो, पतिके भाग्य बढानेवाली, जीवनके पूर्व पित्तके घरमें तथा जीवन प्राप्त होनेके पश्चात् पतिके घर रहनेवाली, तथा पुष्पमालाके समान अपने कुलकी शोभा बढानेवाली हो । इस प्रकारकी जो सुलक्षणी कन्या हो उसकोही पसन्द करना योग्य है ।

परंतु जो पीकी, निस्तेज, दुर्मुखी, पतिके घर जानेकी इच्छा न करनेवाली, दुष्टकारिणी, पतिके मान्यको घटानेवाली, तथा

दोषयुक्त हो, वह कन्या शिवाहके लिये योग्य नहीं है ।

मंगनीका समय ।

इस सूक्तसे विवाह के समयका ठीक ज्ञान नहीं होता, क्योंकि उसका ज्ञापक कोई प्रमाण नहीं है । " कन्या सिर सजानेके समयके पूर्व मालाके घर देरतक रहे " इस तृतीय मंत्रके कथनसे मंगनीका समय ऋतुमान होनेके पूर्व कुछ वर्ष-अधिकसे अधिक एक दो वर्ष-गोना संभव है । तथापि वधुपरीक्षाके जो छः लक्षण ऊपर बताया हैं, वे लक्षण हाटतया शक्य होनेके लिये प्रौढ दयाकी प्रासिकी अत्यंत आवश्यकता है । " पतिके घर जानेकी कन्या " जिस अवस्थामें कन्याके मनमें आती है वह अवस्था मंगनीका प्रसंग होती है । ये छः शब्द अच्छी, प्रौढ, प्रयुक्त, करुण उदार, कन्याकी अवस्था बना रहे हैं । पाठक सब शर्तोंका विचार अच्छी प्रकार करे, तो उनको कन्या की किरा आरुमें मंगनी होनी चाहिये इस विषयका निश्चय हो सकता है ।

भारत पति मंगनी करे और कन्याके माता पिता पूर्वोक्त लक्षणोंका ध्यान विचार करके भावी पतिके प्रसन्नता स्वीकार या अस्वीकार करे । इस सूक्तमें वरके मातापिताको तथा कन्याके अपना मत देनेका अधिकार है ऐसी माननेके लिये एक भी प्रमाण नहीं है । यह बात यदि किसी अन्य सूक्तमें आगे मिल जायगी, तो उस समय कही जायगी ।

सिरकी सजावट ।

तृतीय मंत्रमें कहा है " उपोह् पितृशामाता मा शीर्षः समोप्यात् । " (देरतक वानापिताके घरमें कन्या रहे, जबतक सिर सजानेका समय आयावे :) यहां एक बात कहना आवश्यक है, कि जिस समय जो ऋतुमती होती है, उस समय उसको " पुष्पवती " कहते हैं । पुष्पवतीका अर्थ फूलोंसे अपने आगको सजाने योग्य । प्रथम रत्नोद्घातन, प्रथम ऋतु-प्राप्ति अथवा प्रथम पुष्पवती होते गे उसका फूलोद्घातन सजानेकी प्रथा विशेषतः उसका सिर फूलोंसे सजानेकी प्रथा भारतवर्षमें इस समय में भी है । मैसूर और मद्रासकी ओर तो पहले गर्भोधानके प्रसंगके लिये वैद्यकों द्वाराके हूल इस पुष्पवती स्त्रीको सजावट के लिये लाये जाते हैं । सुंघर्षमें भी कई जातियोंमें यह प्रथा है । अन्य जातियोंमें कम है, परंतु सिरमें फूल पहननेका रिवाज इस ऋतुप्राप्तिके समयके लिये विशेष है । यह रिवाज प्रतिदिन कम हो रहा है । एक भनामात्र कारण और दूसरा तजाहके जमाव के कारण यह रिवाज मूल्य हो रहा है ।

वनी लोग इस प्रसंगके लिये सोने और रत्नोंके नौ फूल बनाते हैं और पुष्पवती स्त्रीके चतुर्थ दिनमें उदय सिर बहुत सज्जते हैं । दिन प्रारंभमें पूंगट निहालनेका रिवाज है, उन प्रारंभमें यह रिवाज कम है ऐसा हमारा प्यास है, परंतु सच्ची बात वहां के लोग ही जान सकते हैं । इसके हम अनुमान कर सकते हैं कि पूंगटकी प्रथा वैदिक कालमेंसे हमारे समाजमें उस गई है ।

संगतिके पश्चात् विवाह ।

दम सूक्तके देखनेमें ऐसा प्रतीत होता है कि, संगतिके पश्चात् विवाह का समय बहुत दूर का नहीं है । प्रथम मंत्रमें वामे पहला प्रस्ताव अर्थात् संगतीका प्रस्ताव हुआ है । और द्वितीय तथा तृतीय मंत्रमें ही कन्याके अर्पण का विषय आगया है । दास्ये—

१ एषा कन्या ते वधूः निर्यताम्—यह हमारी कन्या तेरी पत्नी बनकर निःशेष व्यवहार करे । तथा—

२ एषा [कन्या] ते कुलपा, तां उ ते परिदत्सि—

यह हमारी कन्या तेरे कुलका पालन करनेवाली है, इसलिये उसको तेरे लिये हम प्रदान करते हैं ।

३ ते अगं अपिनद्दामि— तेरा माग्य [इस कन्या के साथ] बांधता हूँ, अर्थात् इससे तू अलग न हो ।

ये मंत्रमाग्य स्पष्ट बता रहे हैं कि संगतीका स्वीकार होनेके पश्चात् शीघ्र ही विवाहका समय होता है । यद्यपि इसमें समय का साक्षान् उल्लेख नहीं है, तथापि [१] संगती, [२] कन्यादान की संज्ञाते, [३] अिरसज्जानेके समयतक अर्थात् पुण्यवती होनेतक कन्याके विन्यासमें विवाह का विधान स्पष्ट बता रहा है, कि संगती के पश्चात् विवाह होनेके बाद अनुमती और पुष्पवती होनेके मंतर कन्याका पातके पर निवाह होनेका क्रम दिखाई देता है । पाठक इस विषयमें अधिक विचार करें । यह विषय कन्यान्वय सूक्तके साथ संबन्धित है, इसलिये इस विवाह प्रकरणके सूक्त जहां जहां आयेगे वहां वहां इसके साथ संबन्ध देखकर ही सब बातोंका निर्णय होगा । पाठक भी इस विषयमें अपने विचारों का सहारा देंगे, तो अधिक निर्दोष निबन्ध होगा संभव है

संगठन—महायज्ञ—सूक्त ।

[ऋषिः— अथर्वा । देवता—सिंधुः]

(१५)

सं सं संवन्तु सिन्धुः सं वाताः सं पतृविष्णुः ।

इमं यज्ञं प्रदिशो मे जुपन्तां संस्राव्येण इविषां जुहोमि

इहैव इवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः ।

इहेतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रविः ॥२॥

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सांसः सदमर्षिताः । तेभिर्मै सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥३॥

ये स्रविषं संस्रवन्ति सौरस्यं चोदकस्यं च । तेभिर्मै सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥४॥

॥१॥

अर्थ— [सिंधुः] नदिनां [सं सं संवन्तु] उत्तम शीतसे मिलकर बढ़ती रहें, [वाताः सं] वायु उत्तम शीतसे मिलकर बढ़ते रहें, [पतृविष्णुः सं] पृथ्वी में उत्तम शक्तिसे मिलकर बढ़ते रहें । इहैव प्रथम (प्र दिशः) उत्तम दिग्गज (मे इमं यज्ञं) मेरे इस यज्ञकी (जुपन्तां) सेवन करें, क्योंकि मैं (संस्राव्येण इविषां) संघटनके अर्थमें (सुरोमि) दान कर रहा हूँ ॥ १ ॥ : इद एव ; यदां ही [मे इहं] मेरे यज्ञके प्रति (वापात्रः) आत्मी

(उठ) और है (संघावणाः) संगठन करनेवाले [गिरः] बन्ताओ ! [इमं वर्षयत्] इस संगठनको बढ़ाओ : [यः पशुः] जो सब पशुमाव दे यह (इह पशु) यहाँ आवे और (भूमिम्) इसमें (या रविः) जो संपत्ति है, वह (तिष्ठतु) रहे ॥ २ ॥ (नदीनां) नदियोंके जो (अशिताः उत्सासः) अक्षय स्रोत इस (सदां) संगठन स्थानमें (संव्रवन्ति) बह रहे हैं, (तेभिः मे सर्वैः संघावैः) उन मेरे सब स्रोतोंसे हम सब (धनं) धन (संघावयामसि) इकट्ठा करते हैं ॥ ३ ॥ (जे) जो (सारिपः) पीकी (क्षीरस्य) दूधकी (च उदकस्य) और जलकी धाराएँ (संघवन्ति) बह रही हैं, (तेभिः मे सर्वैः संघावैः) उन सब धाराओंसे हम (धनं संघावयामसि) धन इकट्ठा करते हैं ॥ ४ ॥

मावायै-नदियाँ मिलकर बहती हैं, वायु मिलकर बहते हैं, पक्षी भी मिलकर उड़ते हैं, उस प्रकार दिव्य जन भी इस मेरे यज्ञमें मिल जुलकर संमिलित हों, क्योंकि मैं संगठनके बढानेवाले अर्पणसे ही यह संगठनका महायज्ञ कर रहा हूँ ॥ १ ॥ हाँ मेरे इस संगठनके मारायज्ञमें आज्ञाओं और हे संगठनके साफल्यके लिये लोग ! तुम अपने सतम संगठन बढानेवाले बन्तुओंसे इस संगठन मारायज्ञको चला दो । जो हम सबमें पशुमाव हो, वह यहाँ इस यज्ञमें आवे और हम सबमें धन्यताका भाव बिराहलतक निवास करे ॥ २ ॥ जो नदियोंके अक्षय स्रोत इस संगठन महायज्ञमें बह रहे हैं उन सब स्रोतोंसे हम अपना धन संगठन-द्वारा बढाते हैं ॥ ३ ॥ क्या पी, क्या दूध और क्या जलकी जो धाराएँ हमारे पास बह रही हैं, उन सब धाराओंसे हम अपना धन इस संगठनद्वारा बढाते हैं ॥ ४ ॥

संगठनसे शक्तिकी वृद्धि ।

इस संगठन महायज्ञका सूक्त है । इसके प्रथम मंत्रमें संगठनसे शक्ति बढानेका वर्णन है यह संगठन करनेवालोंके देखना और उसपर सब विचार करना चाहिये । देखिये—

१ लिखतः—नदियाँ । जो बह बहती हैं उसको स्रोत कहते हैं । इस प्रकारके सेकों और हजारों स्रोत जब इकट्ठे होते हैं और अपना मेदमाव छोड़कर एकत्र हाँकर बहते हैं, उस लक्षणका नाम "नदी" होता है । नदी भी जिस समय महा-पूरसे बहती है, उस समय विविध छोटे स्रोतोंके एकरूप होकर बहनेके कारण जो महाशक्ति प्रवृत्त होती है, वह अपूर्व ही शक्ति है । वह नदी इस समय बड़े बड़े वृक्षोंकी उखाड़ देती है, जो सबके सामने आजाते हैं उनकी भी अपने साथ बहा देती है । बड़े वृक्ष, बड़े मकान, बड़े पहाड़ भी महानदीके वेगके सामने टूटकर ही जाते हैं । यह वेग बढाये जाता है !

पाठक विचार करें तो पता लग जायगा कि यह वेग छोटे स्रोतमें नहीं होता, परंतु जब अनंत छोटे स्रोत एकरूप होकर और अपना मेदमाव गहकर एकरूपसे बहने लगते हैं; अर्थात् अनंत छोटे स्रोत अपना संगठन करते हैं, तभी उनमें यह अभूतपूर्व शक्ति उत्पन्न होती है । इस प्रकार नदियाँ मनुष्योंकी "संगठन द्वारा अपनी शक्ति बढानेका उपदेश" दे रही हैं ।

२ वाकः—वायु भी इसी प्रकार मनुष्योंको संगठनके उपदेश दे रहे हैं । छोटे छोटे वायु जिस समय बहते हैं उस

समय इसके पते भी नहीं मिलते, परंतु वही सब एक होकर प्रचंड वेगसे जब बढने लगते हैं तब महाशक्ति बृद्धि पाते हैं और मनुष्य भी डर जाते हैं । पाठक इन संघावर्तोंसे भी संगठनके बलका उपदेश ले सकते हैं । इस प्रकार वायु भी संगठनका उपदेश मनुष्योंको दे रहा है ।

३ पक्षी—पक्षी भी संगठन करते हैं । जब एकएक पक्षी होता है तो उसको दूसरा कोई भी मार सकता है, परंतु जब सेकों और हजारों पक्षियोंका एक कलापमें रहकर अपना संगठन करती हैं, तब उनकी शक्ति बड़ी भारी होती है । इस प्रकारके पक्षियोंके कलाप बड़े बड़े स्रोतोंका धान उत्पन्न समयमें प्राप्त करके खा जाते हैं । यह संगठनका सामर्थ्य पाठक देखें और अपना संघ बनाकर अपना ऐश्वर्य बढावें । पक्षी यह उपदेश मनुष्योंको अपने आचरणसे दे रहे हैं ।

इस प्रकार पहिले मंत्रमें ये तीनों उदाहरण मनुष्योंके संयुक्त रहकर संगठनका महत्त्व बताया है । यदि पाठक इन उदाहरणोंका सतम मनन करेंगे, तो उनकी पता लग जायगा कि अपना संगठन किस प्रकार किया जाय ।

यज्ञमें संगतिकरण ।

"यज्ञमें संगठन होता ही है । कोई यह ऐसा नहीं है कि जिसमें संगतिकरण न हो । यज्ञका मुख्य अर्थ संगठन ही है । प्रथम मंत्रके द्वितीयार्थमें इसीलिये कहा है, कि नदियोंमें, वायुओंमें और पक्षियोंमें संगठनकी शक्ति अनुभव करके उस-प्रकार अपने संगठन बनानेके उद्देश्यसे हमारे समाजके अथवा

हमारे देश, जाति या राष्ट्रके लोग, इस संगठन भावभावमें संमिलित हों। एक स्थानपर जमा होना पहिली सीढ़ी है। इसके पश्चात् परस्पर सम्बन्ध करनेसे संगठनकी शक्ति बढ़ने लगती है। इसमें सतत प्रकाशकी शक्तिपूर्ण एकत्रित होना है और अग्निद्वारा प्रकाश करती है। यदि एक एक छिपिया अलग होयी तो अग्नि बुझ जायगा। इसी प्रकार जातिके लक्ष लोग संगठित होनेसे उस जातिका बरा बरों दिशाओंमें फैलता है, परांत जित जातियें एकना नदी हैंभी, उसकी दिन प्रति दिन गिरावट होती जाती है। इससे यहाँ स्पष्ट हुआ कि संगठन करनेवाले लोगोंमें परस्परके लिये आत्मसमर्पणका भाव अवश्य चाहिये।

इस प्रकार प्रथम मंत्रमें संगठन करनेके मूल सिद्धान्तोंका उक्तम उपदेश दिया है।

संगठनका प्रचार ।

“ सब लोग यहाँ आजाय, उनकी एक परिवार बने और संगठन बनायेवाले उपाय बचना अपने एकमेवमात्र बनायेवाले बन्धुत्वमें ही संगठन महासम्पन्न फैलाने करे। ” यह द्वितीय मंत्रके पूर्वार्थका भाव है।

सभा, परिवार, महासभा आदि द्वारा जातिबोध संगठन करनेका रीति इस मंत्रार्थमें कही है। सब लोग एकसाथ महान् ज्ञानते ही हैं। भागे जाकर इसी द्वितीय मंत्रमें एक महासम्पन्न बात कही है वह अवश्य पालनके देखने योग्य है—

पशुभावका अर्थ ।

“ जो सब पशुभाव हम सबमें ही वह इस यज्ञमें आजाये, और यहाँ रहे अर्थात् फिर हमारे साथ वह पशुभाव न रहे। ” पशुभावकी प्रधानता जिन मनुष्योंमें होती है, उनमें ही आपसके संगठन होते हैं। यदि पशुभाव संगठनके लिये दूर किया जाय और मनुष्यत्वका भाव बढ़ाया जाय, तो आपसके संगठन नहीं होगा। इसलिये पशुभाव की यज्ञमें अभावमें करनेकी सूचना इस द्वितीय मंत्रके तृतीय अरण्यमें दी है और संगठनके लिये

वह अर्थमें आवश्यक है। इसके बिना कोई संगठन ही ही नहीं सकता।

पशुभाव छोड़नेका फल ।

पशुभाव छोड़ने और मनुष्यत्वका विचार करनेसे तथा संगठनमें अपनी शक्ति बढ़ानेसे जो फल होता है उसका वर्णन द्वितीय मंत्रके चतुर्थ अरण्यमें दिया है—

“ जो धन दे वह इस हमारे समानमें स्थिर रहे। ” संगठनका यही परिणाम होता है। जिससे मनुष्य धन्य होता है उसका नाम धन है। मनुष्यकी धन्य बनानेवाले सब धन मनुष्यको अपने संगठन करनेके पश्चात् ही प्राप्त हो सकते हैं। इस द्वितीय मंत्रमें संगठनके निबन्ध बताया है, वे ये हैं—

१ एक स्थानपर संमिलित होना, समा करना,

२ उत्तम वस्तु जनताको संगठनका महत्त्व समझा देना,

३ अपने अंदरका पशुभाव छोड़कर, पशुभावसे मुक्त होकर, लोग वास्तु जाय, सब लोग मनुष्य बनकर परस्पर बर्ताव करें।

इन बातोंके करनेसे संगठन होना संभवतीय है। इस प्रकार जो लोग संगठन करेंगे, वे अवश्य धन्य हो जायेंगे।

तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें फिर नदियोंके और जलोंके स्रोतों का वर्णन आया है, जो पूर्वोक्त रीतिये एकताका उपदेश पुनः पुनः कर रहा है। संगठन करनेवालोंको घी, दूध, दही आदि पदार्थ अर्थात् धन सकते हैं, यानी धनमें इन महाप्राणियों नदियों की नदियों। इसलिये संगठन करना मनुष्योंके उन्नतिका एकमात्र प्रधान कारण है।

इस कारण तृतीय और चतुर्थ मंत्रोंके उत्तरार्थमें कहा है, कि “ इन संघटित प्रयत्नोंके इस अपना धन बढ़ाते हैं। ” संघटित प्रयत्नोंके ही यज्ञ, धन और भाग बढ़ता है।

आत्मा के कि गठक इस सूक्तका अधिक विचार करेंगे और संगठनद्वारा अपनी सुवर्णयुक्ति शक्ति बढ़ाकर अपना यज्ञ बरों दिशाओंमें फैलायेंगे।

चोर-नाशन-सूक्त ।

[ऋषि-चातनः । देवताः अग्निः, इन्द्रः, वरुणः]

(१६)

वेऽमात्रास्यां३ रात्रिमुदस्युर्वाजमत्त्रिणः । अग्निस्तृतीयो यातुहा सो अस्मभ्युमार्घं ब्रवत् ॥१॥
 सीसायाध्याह्नं वरुणः सीसायाधिरुपावति । सीसं म् इन्द्रः प्रायच्छुचदुङ्ग यातुचार्त्तनम् ॥२॥
 इन्द्रं विष्कन्धं सहत इन्द्रं बाधते अत्त्रिणः॥ अनेन विश्वा ससहे या ज्ञातानि पिशाच्याः ॥३॥
 यदि नो गां हंसि यद्यश्चं यद्वि पूरुषम् । तं त्वा सीसेन विष्यामो यथा नोऽसौ अवीरहा ॥४॥

अर्थ—(ये ऋषिः) जो बाहु चोर (अमावस्या रात्रि) अमावस्य रात्रिके समय हमारे (ब्राह्मं) मन्त्रपर (उदस्युः)
 ब्रह्मा करते हैं, उक्त विषयमें (यातुहा सोः सुरीयः अग्निः) योर्गो का नाशक वह अतुर्थ अग्नि (अस्मभ्यं) हमें (अधि ब्रवत्)
 ब्रह्मा दे ॥ १ ॥ वरुणने सीसेके विषयमें (अध्याह्नं) कहा है । अग्नि सीसेको (उपावति) रखक कहता है । इन्द्रे तो (मे)
 सुखे सीसा (प्रायच्छुचं) दिया है । हे (जन) त्रिय । (उर यातुचात्तनम्) वह बाहु इतने गाला है ॥ २ ॥ (इन्द्रं) यह
 अश्व (विष्कन्धं) उपावट करनेवालोंको [सहते] इतना है । वह सीसा (अत्त्रिणः) बाहुओंको (बाधते) पीडा देता है ।
 (अनेन) इन्द्रसे (पिशाच्या या विश्वा जावति) पिशाचों की जो जातिवां हैं, उनको (ससहे) मैं इतना हूं ॥ ३ ॥
 (यदि नः गां हंसि) यदि हमारी गायको तु मारता है, (यदि यश्चं) यदि योद्धेको और (यदि पूरुषं) यदि मनुष्यको
 मारता है (तं त्वा) तो उस मनुष्यको (सीसेन विष्यामः) सीसेसे हम बेधते हैं, (यथा) जिससे तु (नः अ-वीर-हा
 अस्तः) हमारे वीरोंका नाश करनेवाला न होवे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—अमावस्या की अर्धेरी रात्रिके समय जो बाहु इगरे संवरर हथला करने दें, उस विषयमें हमें ज्ञानसे उपदेश मिला
 है ॥ १ ॥ अनेके रखक तथा उपदेशक सीसेकी गोली का प्रयोग करनेको प्रेरणा देते हैं । शूर वीरने तो भिक्षुकी गोली हमें दे
 रकी है । हे अतुर्गो ! यह बाहुओंको इतनेगाली है ॥ २ ॥ यह सीसेकी गोली बाहुओंको हटाती है और प्रतिबंध करनेवालोंको
 दूर करती है । इससे चल धनिशाली अब जातियोंकी दूर मवाया जाता है ॥ ३ ॥ हे चोर ! यदि तु हमारी गाय, हमारा घोडा
 मारता मनुष्यका बध करेगा, तो तुझसे हम गोली बर्सेवे, जिससे तु हमारा नाश करनेके लिये फिर जीवित न रह सकेगा
 ॥ ४ ॥

सीसेकी गोली ।

इस सूक्तमें अर्धेरी गोली का प्रयोग बाहुओंपर करनेकी
 कहा है । सूक्तमें केवल "सीस" शब्द है, गो-की क्वाचक शब्द
 नहीं है । तथापि "सीसेन विष्यामः" (सीसेके द्वारा बेध
 करेगे) इस प्रयोगसे सीस शब्दसे सीसेकी गोली का भाव
 समझना उचित है ; केवल अर्धेरी उपयोग बाहुओंके नाशमें
 किसी अन्य प्रकार समवनीय नहीं दीखता है । 'विष्यामः'
 बेध करनेका भाव दूरसे चाँदमारीके समान निशाना आना है ।
 अश्वरुत सीसेकी गोली बंदूककी गोलोंमें रखकर दूरसे शत्रुको
 बेधते हैं । बाण भी शत्रुभ्यारथे दूरसे ही निशाने पर फँका जाता
 है । तात्पर्य हम मंत्रोंके शब्द बला रहे हैं कि सीसेकी

गोलीसे दूरसे ही बाहुओंका बेध करना चाहिये । लाठी
 छोटके समान यह पाछेसे नहीं प्रयोग होता है इतना ही
 कहा बताना है ।

शत्रु ।

"अग्निः, यातु" आदि शब्दोंके अर्थ अतम-सूक्तके विवरणमें
 किये हैं, पाठक वहां ही देखें । ये सब शब्द बाहु चोर लुटेरे
 अपातित समाजके शत्रुओंके बाधक हैं । इनसे निम्न विन
 शब्दोंका इससे पूर्व विचार नहीं हुआ उबस विचार यहां करते
 हैं—

१ विष्कन्ध— प्रतिबंध करनेवाला, उपावटें उत्पन्न करनेवा-
 ला, हरएक जगमें निम्न बाधनेवाला ।

२ विद्याय, विद्यायी-रक्त पानेवाले और कृषा मांस खानेवाले क्रूर लोग, जो मनुष्यघ्न मांस भी खाते हैं ।

ये मर तदा (सत्रिन्) भूके ढाकू, (यातुः) चौर ये सब समाजके शत्रु हैं । इनको उपदेशद्वारा सुभारतके विषय पूर्व आये हुए (कां० १, सू० ७, ८) धर्मध्वारके सूक्तोंमें आबुद्ध है । जो नहीं सुपरते उनको बंदके लिये क्षत्रियोंके आश्रम करनेकी आज्ञा भी सम्यक् कर्तव्य दी है । उपदेश और दण्ड इन दो उपायोंसे जो नहीं सुभरते उनपर क्षत्रियोंके गोलीका प्रयोग करनेका विधान इस सूक्तमें आया है । अपने संगठन करनेका उपदेश पूर्व सूक्तमें करनेके पश्चात् इस सूक्तमें शत्रुगण गोली चलानेकी आज्ञा है यह विशेष ध्यानसे देखना चाहिये । विनय आपनमें उन्नत संगठन नहीं है यदि ऐसे लोग शत्रुगण हनना करेंगे, तो संभव है कि वे स्वयं ही नष्टभट्ट हो जायेंगे । इसलिये " प्रथम अपना संगठन और पश्चात् शत्रुगण बघाई " यह नियम ध्यानमें रखना चाहिये ।

आर्य वीर ।

अग्नि इन्द्र आदिके विषयमें सूक्त सातके प्रथममें वर्णन आया ही है । (अग्निः) ज्ञानी उपदेशक, (इन्द्रः) शूरवीर ये आर्यवीर हैं यह पहिले बताया है । इन दो शस्त्रोंसे साम्राज्य और क्षत्रियोंका बोध होता है यह बात पहिले बतानी बाजुची है ।

(यहां तृतीय अनुवाक और पहिला प्रपाठक भी समाप्त हुआ ।)

इस सूक्तमें " वरुण " उद्धृत आया है । वरुण समुद्र मयत जलका अधिपति वैदमें तथा पुराणमें प्रसिद्ध है । जलस्थान, नदी आदि तथा समुद्र परते जो शत्रुओंके हतते होते हैं उनसे रक्षा करनेका यह ओद्देश्य है । अत्रि प्रथम " अग्नि " शब्द महाशयस्वभावक, " इन्द्र " शब्द क्षात्रधर्मका बोधक है उक्त प्रथम " वरुण " शब्द अहोनामसे अग्निभित्तके और देशांतरोंमें व्यापार करनेवाले देवोंका अथवा वैश्वदेव्य सुवक यहां प्रदत्त होता है । इसलिये गोत्री अग्निके विषयमें (अग्नि) साम्राज्य, (इन्द्र) क्षत्रिय और (वरुण) वैश्यने भी संमति दी है और (इन्द्र) क्षत्रिय ने तो संक्षेपे गोत्रियोंको हमारेपास दे रखा है, इत्यादि द्वितीय मंत्रका नाम इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है । सम्यक् सूक्तमें दिये उपदेशानुसार साम्राज्य प्रचारकेने प्रयत्न करना और उन्होंने कहा कि ये ढाकू दुबलते नहीं हैं, क्षत्रियोंमें भी कहा कि अनेक बार देहर्द्ध देमैर भी इन दुष्टोंका पुषार नहीं हुआ, वैसे तो टूटे अलंके कारण कहते ही रहे, इस प्रकार तीनों वर्णोंका परिषद्ने जब गोली अग्निकी आज्ञा दी, तब इस सूक्तके आधारपर योकी बघावी जा सकी है । पाठक यह पूर्वार्ध संबंध अदभ्य ध्यानमें रखें ।

सूक्तके दोष बातें स्पष्ट हैं । इसलिये अधिक विवरणकी आवश्यकता नहीं है ।

रक्तस्राव बंद करना ।

[ऋषिः प्रह्ला । देवता-योषित्]

(१७)

अमूर्ष्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः । अत्रातरं इव जामयास्तिटन्तु हृत्तर्चसः ॥१॥
 तिष्ठान्तेरु तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्यमे । कृनिष्ठका च तिष्ठति तिष्ठादिद्मार्निर्मही ॥२॥
 सुतस्य प्रमर्शानां सहस्रस्य हिराणाम् । अस्युनिर्मध्यमा इमाः साकमन्वा अरंसत ॥३॥
 परि वुः सिकतावती धनुर्मुहृत्स्यक्रमीत् । तिष्ठतेल्यंता सु कम् ॥४॥

अर्थ - (अमूर्ष्याः पाः) यह जो (लोहितवाससः) रक्त राल करने पहनी हुई (योषिताः) स्त्रियां हैं अर्थात् लाल रंगका हत ले जानेवाली (हिराः) धननिधिं शरीरमें हैं वे (तिष्ठन्तु) उद्धर जाय अर्थात् अथवा बचना बंद करें, (इव) अत्रि

प्रकार (अ-भ्रातरः) विना मार्लेके (हृत् वर्चसः) निस्त्रेज बनी (जामयः) बहिनें ठहर आती हैं ॥ १ ॥ (अचरे तिष्ठ) हे नीचेकी नाबी ! तू ठहर । (परे तिष्ठ) हे ऊपरवाली नाबी ! तू ठहर । (उत मध्यमे) और बीच वाली (त्वं तिष्ठ) तू भी ठहर । (कनिष्ठिका च तिष्ठति) छोटी नाबी भी ठहरती है तथा (धमनिः इत् विष्ठात्) बर्गों नाबी भी ठहर जावे ॥ २ ॥ (धमनीनां शतस्य) सैकड़ों धमनिशके और (हिरामां सहस्रस्य) हजारों नाडियोंके बीचमें (हमाः मध्यमाः अस्थुः) ये मध्यम नाडियां ठहर गई हैं । (साकं) साथ साथ (अंताः) अंत भाग भी (अरंसत्) ठीक हुए हैं ॥ ३ ॥ (बृहती धनुः) बड़े धनुष्यने (यः परि अक्रमत्) तुमपर हमला किया है, अतः (सिक्तावतीः तिष्ठत) रेतवाली अथवा शर्करावाली बनकर ठहर जाओ, जिससे (कं) सुख (सु इलयत्) प्राप्त करोगे ॥ ४ ॥

भावार्य-शरीरमें लाल रंगका रक्त शरीरभर पहुंचानेवाली धमनियां हैं । जब धाव लग जावे तब उनकी गति रोकनी चाहिये, जिस प्रकार दुर्भाग्यकी प्राप्त हुई मार्ले रहित बहिनेंकी गति रुक जाती है ॥ १ ॥ नीचेवाली, ऊपरवाली, तथा बीचवाली छोटी और बड़ी सब नाडियोंको बंद करना चाहिये ॥ २ ॥ सैकड़ों और हजारों नाडियोंमेंसे आवश्यक नाडियां ही बंद की जावें अर्थात् उनके फटे हुए अंतिम भाग ठीक किये जावें ॥ ३ ॥ बड़े धनुष्यके बड़े बागोंसे धमनिशीपर हमला होकर नाडियां फट गई हैं, उनको शर्करासे साथ संबंध करनेसे शीघ्र आरोग्य प्राप्त हो सकता है ॥ ४ ॥

धाव और रक्तस्राव ।

शरीरमें घनादिसे धाव होनेपर धावके ऊपरकी और नीचेकी नाडियोंको बंदसे बांधनेसे रक्तका स्राव बंद हो जाता है । धाव देखकर ही निश्चय जानना चाहिये, कि कौनसे भागपर बंद लगाना चाहिये । यदि रक्तस्राव इस प्रकार बंद किया जाय तो ही रोगीको शीघ्र आरोग्य प्राप्त हो सकता है, अन्यथा रक्तके बहुत स्राव होनेके कारण ही मनुष्य मर सकता है । इसलिये इस विषयमें सावधानता रखनी चाहिये ।

इसके पूर्व सूक्ष्ममें शयुको गोलसे मारनेकी सूचना दी है । इस लक्ष्ममें शरीरपर धाव होना संभव है, इसलिये इस रक्तस्रावके बंद करनेके विषयमें इस सूक्ष्म उपदेश दिया है " सिक्तावती " अर्थात् रेतवाली अथवा शर्करावाली धमनी करनेसे रक्तस्राव बंद होता है । कार्क मिथ्रीका कार्क चूर्ण लगानेसे स्राव बंद होता है, यह कथन विचार करनेयोग्य है ।

दुर्भाग्यकी स्त्री ।

(हृत्-वर्चसः जामयः) जिनका तेज नष्ट हुआ है ऐसी स्त्रियां, दुर्भाग्यकी प्राप्त हुई स्त्रियां अर्थात् पति मरनेके कारण जिनकी माध्यहीन अवस्था हुई है ऐसी स्त्रियां पिता, माता अथवा मार्लेके पर जाकर रहें, किसी अन्य स्थानपर न जावें यह उपदेश पूर्व आये चतुर्दश सूक्त (कां. १, सू. १४) में कहा है । परंतु यदि बड़ी स्त्रियां (अ-भ्रातरः) आतासे हीन हों अर्थात् उनसे मार्ले न हों तो उनकी गति रुक जाती है, अर्थात् ऐसी स्त्रियां बड़ी भी जा नहीं सकतीं । जिस प्रकार

पति जीवित रहनेपर स्त्रियां बड़े बड़े समारंभोंमें और उत्सवोंमें जा सकती हैं, उस प्रकार पति मर जानेके पश्चात् वे जा नहीं सकतीं अर्थात् उनकी गति रुक जाती है । पहले उनकी गति सर्वत्र होती थी, परंतु दुर्भाग्य-वश होनेके पश्चात् उनका प्रमण नहीं हो सकता ।

यहां क्रांतिपथक एक वैदिक मर्यादाका पता लगता है, कि पति मरनेके पश्चात् जो उस प्रकार नहीं घूम सकती कि जैसी पतिके होनेके समय घूम सकती है । घरमें रहना, उत्सवोंके आनंद प्रसंगोंमें न जाना, मंगलोलसवोंमें भाग न लेना इत्यादि श्रुतपति स्त्रीके व्यवहार की रीति यहां प्रतीत होती है ।

श्रुतपतिश्री स्त्री मार्ले होनेपर मार्लेके घर जा सकती है, मार्ले न रहनेपर किंवा पिता माता न रहनेपर उनको दुःखमें ही रहना होता है । इस समय वह दुर्भाग्यवती स्त्री परमेश्वर भाक्तसे अपना समय गुजारे और परोपकार का कार्य करे ॥

विधवाके वस्त्र ।

" हृत्वर्चसः जामयः लोहितवाससः योषितः । " ये शब्द विधवा स्त्रीके रूपमेंका स्राव रंग होना बता रहे हैं । " निस्त्रेज दुर्भाग्यवत बहिनें लालवस्त्र पहनेवाली स्त्रियें " ये शब्द दुर्भाग्यवत स्त्रियोंके लाल रंगके कपड़े होनेकी सूचना दे रहे हैं । दक्षिण भारतमें इस समय भी यह वैदिक प्रथा जारी है, इसलिये विधवा स्त्रियां यहां केवल लाल रंगके कपड़े पहनती हैं । पतिपुत्र स्त्रियां केवल लाल रंगका कपड़ा नहीं पहनतीं, परंतु अन्य रंगोंकी लक्ष्मियोंके पुत्र कपड़े अर्थात् लालके साथ

आयान्य रंग निने जुने हों तो वैभे सब रंगके कपडे पहनतीं पाठक इस विषयमें अधिक विचार करें, क्योंकि एह हैं। कंसल ध्वन वस्त्र भा विधवा खिया पहनती हैं, यह श्रेत विषयका निश्चय होनेके लिये कई अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता वस्त्रा विवाज सपूर्ण भारतवर्षमें एक जैसा है। है।

सौभाग्य-वर्धन-सूक्त ।

(१८)

(ऋषिः—द्रविणोदाः । देवता—वैनायकं सौभाग्यम्)

निर्दुःख्यं ललाभ्यं निररातिं सुवामसि ।
 अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरानि नयामसि ॥ १ ॥
 निरराणि सविता साविष्णु पुदोर्निहस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा ।
 निरस्मभ्यमनुमनी रराणा प्रेमा देवा असाविषुः सौभाग्य ॥ २ ॥
 यत्तं आत्मनि तन्वां घोरमस्ति यद्वा केतुषु प्रतिचक्षणे वा ।
 सर्वं तद्वाचापं हन्मो वयं देवस्त्वां सविता संदयतु ॥ ३ ॥
 रिदयपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत ।
 विदुःख्यं ललाभ्यं ता अस्मिप्राशयामसि ॥ ४ ॥

अर्थ—(ललाभ्यं) निरपर होनेवाले (लक्ष्यं) बुरे विन्दुकी (निः) निःशेषतासे दूर करते हैं; तथा (न-रातिं) कञ्जुभी आदि (नि सुवामसि) निःशेष दूर करते हैं। (अथ वा भद्रा) और जो कल्याण करके विन्दु हैं (तानि नः प्रजाया) य सब हमारी संतानके लिये नः प्राप्त करते हैं जो (अरानि) कञ्जुभी आदिसे (नयामसि) दूर प्रगति हैं ॥ १ ॥ सविता, वरुण, मित्र और अर्यमा (वयो-इत्यव्ययः) पार्श्व आर दाहिनीकी । (अरानिं) पीछाकी (निः निः-छाविचर) दूर करें । (रराणा अनुमतिः) दानार्थक अनुमतेन । (अस्मभ्यं निः) हमारे लिये निःशेष प्रेषणा की है। तथा (देवाः) देवोंने (हमारे) इस ब्रह्मके । (सौभाग्य) सौभाग्यके लिये (असाविषुः) प्रेरित किया है ॥ २ ॥ (यत्तं आत्मनि) जो तेरी आत्मामें मया (तन्वां) पार्श्वमें (वा यत् केतुषु) अथवा जो केशमें (वा प्रतिचक्षणे) अथवा जो हाथमें (घोरमस्ति) अमानक रिदु है (तन् सर्वं) वह सब (वयं वाचा हन्मः) हम वाणीसे हटा देते हैं । (सविता देवः) सविता देव (वा वृषदती) तुमसे विद करे अथवा पारपक बनने ॥ ३ ॥ (रिदयपदीं) हरणके समान पाँववाली, (वृषदतीं) देवके समान दाँवाली, (गोषेधां) गायके समान बलनेवाली, (विधमां) विदक शब्द बोलनेवाली, त्रिषण् शब्द कंडार है ऐसी (उत ललाभ्यं विदुःख्यं) और निरपका कुलजन यह सब हम (अस्मिप्राशयामसि) अपनेसे नाश करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—निरपर तथा निरपर जो बुलखण होने करनेकी दूर करना चाहिये तथा अंत-करणमें कञ्जुभी आदि जो दुर्गुण हैं उनको भी दूर करना चाहिये, और जो बुलखण है उनको करने तथा अपने संतानोंके पापस्थिर करना अथवा ब्रह्माना चाहिये। तथा कञ्जुभी आदि मनके बुरे भावोंकी हटाना चाहिये ॥ १ ॥ सविता, वरुण, मित्र, अर्यमा, अनुमति आदि सब देव और देवता हाणों और पार्वीकी पीछाकी दूर करें, इस विषयमें वे हमें उपदेश दें। क्योंकि देवोंने स्त्री और पुरुषको उपास भाग्यके लिये ही बनाया है ॥ २ ॥ तुम्हारे आया अथवा मनमें, पार्श्वमें, पेशोंमें तथा हाथमें जो बुरे बुलखण हों, जो बुरे भाँ दुर्गुण हों उनको हम

वचनसे हटाते हैं । परमेश्वर तुम्हें उत्तम लग्नपति युक्त बनावे ॥ ३ ॥ हरिणके समान पांव, बैलके समान दांत. गाथके समान चलनेकी आदत, कठोर बुरा अन्धकार होना तथा गिरापरके अन्ध कुलक्षण यह सब हमसे दूर हों ॥ ४ ॥

कुलक्षण और सुलक्षण ।

इस सूक्तमें शरीरके तथा मन, बुद्धि, आत्मा आदिके मीजों कुलक्षण हैं। उनको दूर करने तथा अपने आपको पूर्ण सुलक्षण-युक्त बनानेका उपदेश किया है । इस सूक्तमें वर्णित कुलक्षण ये हैं-

(१) छलान्धं लक्ष्म्यं-सिरपरका लक्षण, कपाल छोटा होना, मालपर बाल होने, बुद्धिहीन दर्शन आदि कुलक्षण । (मंत्र १)

(२) छलान्धं विलीम्बं-सिरपर बालोंके शुष्क रहने और उससे सिरकी शोभाका विनाश आदि कुलक्षण । (मंत्र ३)

(३) रिहपदी—हरिणके समान कृश पांव । (मंत्र ४)

(४) वृषद्वी-बैलके समान बड़े दात । (मंत्र ५)

(५) गौषेधा—गायके समान चलना । (मंत्र ५)

(६) वि-घना-कानोंको बुरा लगनेवाला आवाज, भ्रिषघ मीठा मंजुल आवाज नहीं । (मंत्र ४)

ये अंतिम (३-६) चार कुलक्षण क्षीर्णिग निर्देशमें जिनके लिये बहुत बुरे हैं अर्थात् क्षिणोंमें ये न हों ; वधू पसंद करनेके समय इन लक्षणोंका विचार करना योग्य है ।

(७) केवोपु घोरं—शरीरमें कूरता अथवा भयानकता दिखाई देना अर्थात् बालोंके कारण मुख कूरसा दीखना । (मंत्र ३)

(८) प्रविचक्षणे कूर्-नेत्रोंमें कूरता, भयानक नेत्र, भयानक दृष्टि । (मंत्र ३)

(९) तन्वा कूर्-शरीरमें भयानकता, अर्थात् शरीरके अवयवके टेढामेढा होनेके कारण भयानक दृश्य । (मं. ३)

(१०) नारमनि कूर्-मन, बुद्धि, चित्त, आत्मामें कूरताके भाव होना । (मंत्र ३)

(११) न-रार्ति—कंजुली, उदाराभावका अभाव । (मं. ३)

(१२) पदोः हस्तयोः न-रजिः—पांव और हाथों की जोड़ा अथवा उच्छ विचार । (मं. २)

ये चारह कुलक्षण इस सूक्तमें कहे हैं । इस सूक्तका विचार करनेके समय इससे पूर्व आयु हुआ “ कुलवधूसूक्त ” (अथर्व. १ । १४) भी देखने योग्य है । अर्थात् इन दोनोंका विचार करनेसे ही वधूवर परीक्षा करनेका ज्ञान हो सकता है ।

इसलिये पाठक इन दोनों सूक्तोंका साथ साथ विचार करें । इन कुलक्षणोंमेंसे कई लक्षण केवल क्षिणोंमें और कई पुरुषों तथा कई दानोंमें होंगे । अथवा सब लक्षण न्यूनाधिक भेदसे क्षीणत्वमें दिखाई देना भी संभव है ।

ये कुलक्षण दूर करना और इनके विरोधी सुलक्षण अपनेमें बढाना हरएकका कर्तव्य है । इन कुलक्षणोंका विचार करनेसे सुलक्षणोंका भी ज्ञान हो सकता है । जिससे शरीर सुदौर्ब दिखलाई देता है वे शरीरके सुलक्षण समझने चाहिये । इस प्रकार ईशियों, मन, बुद्धि आदिमें भी सुलक्षण हैं । इन सबका निश्चित ज्ञान प्राप्त करनेके अपनेमें कुलक्षण दूर करना और सुलक्षण अपनेमें बढाना हरएकका आवश्यक कर्तव्य है ।

वाणीसे कुलक्षणोंको हटाना ।

मंत्र ३ में “ सर्वं तद्वाचका हम्मो वयं । ” अर्थात् हम ये सब कुलक्षण वाणीसे दूर करते हैं, अथवा वाणीसे इन कुलक्षणोंका नाश करते हैं, कहा है; तथा साथ साथ “ देवस्त्वा भविता स्वपयु ” अर्थात् सचिना देव तुम्हें पूरा सुलक्षणयुक्त बनावे, कहा है । परमेश्वर रूपमें मनुष्य सुलक्षणोंमें युक्त हो सकता है, इसमें किसीको संदेह नहीं हो सकता, परंतु वाणीसे कुलक्षणोंको दूर करनेके विषयमें बहुत लोगोंको संदेह होना संभव है, अतः इस विषयमें कुछ स्पष्टीकरणकी आवश्यकता है । वेदमें यह विषय कई सूक्तोंमें आनुक्त है । इसलिये पाठक इसका खर विचार करें ।

वाणीसे प्रेरणा ।

वाणीसे अपने आपको अथवा दूसरोंको भी प्रेरणा या सूचना देकर रोग दूर करना, तथा मन आदिके कुलक्षण दूर करना संभवनीय है, यह बात वेदमें अनेक स्थानोंमें प्रकाशित हुई है । यह सूचना इस प्रकार दी जानी है—“ मेरे अंदर यह कुलक्षण है, यह केवल थोड़ा दूर रहनेवाला है, यह निराश्रय नहीं रहेगा, यह कम हो रहा है, अतिशय कम होगा । मेरे अंदर सुलक्षण बढ़ रहा है, मैं सुलक्षणोंसे मुक्त होऊंगा । मैं निर्दोष बन रहा हूँ । मैं लोभ छोड़ रहा हूँ । मैं दोषोंकी हटाता हूँ और अपनेमें गुणोंको विकसित करता हूँ । ”

इत्यादि चीनीमें अनेक प्रशंसी सूचनाएँ मनमें देने और उनमें प्रतिबिम्ब मनके अंदर स्थिर रखनेसे इष्ट सिद्धि होती है । वेदका यह मानसशास्त्रका सिद्धांत हरएकको विचार

करने योग्य है । "मैं हीन हूँ, दीन हूँ" आदि विचार जो लोग लाज कल धोते हैं, वे विचार मनमें प्रतिबिम्बित होनेसे मनपर कुसंस्कार होनेके कारण हमारी गिरावटके कारण हो रहे हैं । इसलिये शुद्ध वाणीका उच्चारण ही हमें या करना चाहिये, कभी भी अनुद्ध गिरे हुए भावोंसे कुछ शब्दोंका उच्चारण नहीं करना चाहिये । वाणीकी शुद्ध प्रेरणाके विषयमें साक्षात् उपदेश देनेवाले कई सूक्त आगे आनेवाले हैं, इसलिये इस विषयमें यहां इतना ही लेख पर्याप्त है । अस्तु इस प्रकार शुद्ध वाणीद्वारा और परमेश्वर भक्तिद्वारा अपने कुलघणोंको दूर करना और अपने अंदर सुलक्षणोंको बढ़ाना हरएक मनुष्यको योग्य है ।

हाथों और पांवोंका दर्द ।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि सविता (सूर्य), वरुण (जल), मित्र (प्राणवायु), अर्यमा (आगका घोषा) ये हाथों और पांवोंके दर्दको तथा शरीरके दर्दको दूर करें । सूर्यप्रभास, समुद्र आदिका जल, शुद्ध वायु, आकके पत्तोंका ठेक आदिसे बहुतसे रोग दूर हो जाते हैं । इस विषयमें इससे पूर्व बहुत कुछ कहा गया है और आगे भी यह विषय बारंबार आनेवाला है । आरोग्य तो इनसे ही प्राप्त होता है ।

सौभाग्यके लिये ।

" इमा देवा असाविषुः सौभाग्याः । " इसको देवोंने सौभाग्यके लिये बनाया है । विशेष करके ऋषिके उद्देशसे यह

मंत्रभाग है, परंतु सबके लिये भी यह माना जा सकता है । कर्णात् मनुष्य मात्र स्त्री हो या पुरुष हो वह अपना कर्मगत साधन करनेके लिये हां उत्पन्न हुआ है और वह यदि परमेश्वर भक्ति करेगा तथा शुद्ध वाणीका सुचनासे अपने मनमें प्रभावित करेगा तो अवश्यमेव सौभाग्यका भागी बनेगा । हरएक मनुष्य इस वैदिक धर्मके सिद्धांतको मनमें स्थिर करे । अपनी उत्तमोत्तम सिद्ध करना हरएकके पुरुषार्थपर अवलंबित है । यदि अपनी अवनति हुई है तो निश्चय जानना चाहिये कि पुरुषार्थमें त्रुटी हुई है ।

सन्तानका कल्याण

यदि अपनेमें कुछ कुलक्षण रहे भी, तथापि अपनी संतानोंमें सब सुलक्षण आर्जय (या भद्रा तानि नः प्रजायै) यह प्रथम मंत्रका उपदेश हरएक गृहस्थोंको ध्यानमें धरना चाहिए । अपनी संतान निर्दोष और सुलक्षणोंसे तथा सद्गुणोंसे युक्त बने यह भाव यदि हरएक गृहस्थोंमें रहेगा, तो प्रति पुरुषमें मनुष्योंका सुधार होता जायगा और राष्ट्र प्रतिदिन उत्तमोत्तम सीडोपर चढेगा । यह उपदेश हरएक प्रकारसे कल्याण करनेवाला है इसलिये इसको कोई गृहस्थी न भूले ।

इस प्रकार पाठक इस सूक्तका विचार करें और अपने कुलक्षणोंको दूर करके अपने अंदर सुलक्षण बढ़ानेका प्रयत्न करें ।



शत्रु-नाशन-सूक्त ।

(१९)

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवता—ईश्वरः, ब्रह्म)

मा नो विदन् विव्याधिर्नो अंभिव्याधिर्नो विदन् । आराच्छर्त्स्व्याऽस्मद्विधूचीरिन्द्र पातय ॥ १ ॥
विध्वञ्चो अस्मच्छर्त्स्वः पतन्तु ये अस्ता ये त्रास्याः । दैर्वाभिनुष्येषत्रो ममामित्रान् वि विंच्यत ॥ २ ॥
यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्टथो यो अस्मां अंभिदासंति ।

रुद्रः शर्व्युयैतान् ममामित्रान् वि विंच्यत

॥ ३ ॥

यः सुपत्नो योऽसंपत्नो यश्च द्विपञ्चपाति नः । देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म धर्म ममान्तरम् ॥ ४ ॥

अर्ध- (वि-व्याधिः) विशेष घेघनेवाले घनु (नः मा विदन् ; हमतक न पहुँचें । (अंभिव्याधिः) चारों ओरसे मारने करनेवाले घनु (नः मो विदन्) हमतक कभी न पहुँचें । हे (इन्द्र) परमेश्वर । (विध्वञ्चः शत्रुः) सब और फैलने-

बाले बाण सन्तुओ (बसन्त आराव पातय) हमसे दूर गिरा ॥ १ ॥ (ये अन्ताः) जो फेंके हुए और (ये च अस्याः) जो फेंक आये, वे सब (विष्यञ्जः शरवः) चारों ओर फैले हुए बाण आदि शस्त्र (अस्मत् पतन्तु) हमसे दूर जाकर गिरे (देवीः मनुष्यैवः) हे मनुष्योंके दिव्य बाणों ! (मम अमित्रान्) मेरे शत्रुओंको (विविष्यत्) वंध कर डालो ॥ २ ॥ (यः नः स्वः) जो हमारा अपना व्यवसाय (यः अरणः) जो दूसरा परगण हो, किंवा जो (स-जातः) समान उष्य जातिका कुलीन, उद्य) अथवा जो (निष्यः) भिन्न जातिवाला या संतर जातिका हीन (अस्मान् अभिदासति) हमपर चढ़ाई करके हमें दास बनानेकी चेष्टा करे, [एतद् मम अमित्रान्] इन मेरे शत्रुओंको [रुद्रः] इलानेवाला वीर [शारव्यया विविष्यतु] बाणोंसे वंध करे ॥ ३ ॥ [यः] जो [सपलनः] विरोधी और [यः अ-सपलनः] जो प्रकट विरोधी नहीं है । [च यः द्विपत्] और जो द्वेष करता हुआ [नः शापति] हमको धारता है [सं] उसका [सर्वे देवाः] सब देव [पूष्यन्तु] नाश करें । [मम अन्तर यमं] मेरा आंतरिक कवच [ब्रह्म] ब्रह्मज्ञान ही है ॥ ४ ॥

आचार्य-हमारे शीरोंका शीर्ष ऐसा हो कि हमारा नाश-कनेभी इच्छा करनेवाले सब शत्रु हमसे दूर रहें और हमतक वे कभी न पहुंच सकें । उनके शस्त्र भी हमसे दूर रहें ॥ १ ॥ सब शस्त्र हमसे दूर गिरे । और हमारे शत्रुओंपर ही सब शस्त्र गिरते रहें ॥ २ ॥ कोई हमारा मित्र या शत्रु, हमारी जानिवाला या परजातीका, कुलीन या हीन, बंधी भी कभी न हो, यदि वह हमें दास बनाने या हमारा नाश करनेकी चेष्टा करता है तो उसका नाश शस्त्रोंसे करना योग्य है ॥ ३ ॥ जो प्रकट या छिपा हुआ शत्रु हमारा नाश करना चाहता है या हमें बुरे शब्द बोलता है सब सज्जन उसको दूर करें । मेरा आंतरिक कवच सत्य ज्ञान ही है ॥ ४ ॥

यह "ताम्रामिक गण" का सूक्त है, इस कारण "अपराभित गण" के सूक्तोंके साथ भी इसका संबंध है, अतः पाठक इस गणके सूक्तोंके साथ इसका भी विचार करें ।

आन्तरिक कवच ।

इस सूक्तमें जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात कही है वह आंतरिक कवचकी है । देवोंके कवच पर्वत, दुर्ग और समुद्र होते हैं, इनके होनेके कारण बाहरके शत्रु देशमें घुस नहीं सकते । प्राणिक कवच किले होते हैं इनके कारण शत्रु प्राणमें घुस नहीं सकते । शरीरके कवच लोहके अथवा तारके बनाने जाते हैं जिनके कारण शत्रुके शस्त्र शरीरपर लगते नहीं और शरीर सुरक्षित रहता है । शरीरके अंदर आत्मा और अंतःकरण है, मन, बुद्धि, चित और अहंकार मिलकर अंतःकरण होता है, इसकी साथ आत्माके तिथे रहती है । इस "अन्तःकरण" के तिथे "अंतः कवच" अथवा चारित्र्य, जो इस शत्रुनाशन सूक्तमें " ब्रह्म बर्म ममान्ताम् " शब्दोंद्वारा बताया है । "ज्ञानरूप कवच ही मेरा आंतरिक कवच" है । जिसके आत्मा और अंतःकरणका ज्ञानरूप कवचसे संरक्षण होता है, उनको किसी शत्रुसे डर नहीं हो सकता, वह अज्ञात शत्रु ही बन सकता है । इस ज्ञानरूप कवचके बतानेमें जो ज्ञानवाचक " ब्रह्म " शब्द सूक्तमें प्रयुक्त किया है । नहीं परमेश्वर या परब्रह्मका वाचक है और इसलिये इस "ब्रह्म" शब्दसे "परमात्म-

विषयक आस्तिक्य बुद्धिपुष्प ज्ञान" इतना अर्थ इस शब्दसे समझना योग्य है ।

इस सूक्तके दो विभाग ।

इस सूक्तके दो विभाग होते हैं, प्रथम विभागमें प्रारंभसे षट्पथ मंत्रके तृतीय चरणतकके सब मंत्र आते हैं और द्वितीय विभागमें षट्पथ मंत्रके षट्पथ चरणका ही समावेश होता है । इन विभागोंका देखकर इस सूक्तका विचार करनेसे बड़ा ही पवित्रता है ।

वैदिकधर्मका साध्य । ब्राह्म कवच ।

" परमात्माकी अधिकसे परिपूर्ण सत्य सनातन ज्ञान ही मेरा कवच है " इस ब्राह्म कवचसे सुरक्षित होनेपर मुझे किसी भी शत्रुका भय नहीं, यह आत्मविश्वास मनुष्यमें उत्पन्न करना वैदिक धर्मका साध्य है । यह भाव मनुष्यमात्रमें स्थापित करनेके लिये ही वैदिक धर्मकी शिक्षा दे । परंतु यह ज्ञान समय समयपर योद्धे परिशुद्ध महात्माओंमें उत्पन्न होता है और उनसे भी थोड़े संतोंमें इसका साक्षात् अनुभव होता है, यह बात हम श्रुतिद्वारा देखते हैं । इसलिये यद्यपि वेदका यह साध्य है, तथापि सब मनुष्योंमें यह साध्य साक्षात् प्रत्यक्षमें आना कठिन है इसमें भी संदेह नहीं है । इसीलिये सर्व साधारण मनुष्य आत्मिक दिव्य शक्तिको धारण करनेकी अपेक्षा मत्तमेवका नियंत्रण करनेके समय शारीरिक पाशवी

एतिका ही आशय करते हैं ।। अतः इन कृते हैं प्रथम विना-
यके मंत्र पाठवी एतिका विचार करते हुए आशय प्रतीका
मार्तं बना रहे हैं और द्वितीय विनायका मंत्रनाय आत्मिक
दिग्ग एतिका मानवी शक्तिम भिन्न बना रहा है ।

“ आत्मिक गणक या आत्मिक ज्ञान ही ज्ञेय सबसे बड़ा
बदल है, जिससे मैं सब प्रकारके अनुभूतों सुखित रह सकूँगा
हूँ, मेरे अंदर अहिंसाका भाव पूर्ण रूपसे स्थिर रहा, तो जो जो मेरे
पाव आदिसे उनके अंदरले भी दृष्टताका भाव हुए ही आया ”

इत्यादि वैदिक धर्मकी शिक्षा अनेकान रूप है, अनुभवकी
बड़ी बात अंतमें स्वीकारनी है, परंतु यह संशयकारण देवायते
नहीं होना चाहिये, परंतु अंतःस्फूर्तिही होना चाहिये, अपना
सकार ही देना बनना चाहिये । इसी भावसे अनुभवका सबसे
कारक न्याय है ।

अन्य कवच । क्षत्र कवच ।

हाथके, नसोंके तथा देवी-कर्मनाथ बरब उपन विज्ञानके
कर्मामें आशयक ही है । इससे अनेकें रक्षाक ज्ञाने सब
इस कवचामें ही मन्त्रक है । अर्थात् उदरक अन्ता पूर्वोक्त
अधिकाके शिष्ये योग्य नहीं होनी, उदरक दूरदूर क्षत्रित्तय
पुरुका संज्ञक इन शक्तिकोते हैं । ये शत्रु काषण हैं । ज्ञान
कवचसे सुरक्षित होना शक्य साधन है और शक्तिके कवचो तथा
एककोसे सुखित होना क्षत्र-साधन है । साधनायन स्वीकारने
योग्य बनानवी उदरि परंपराधनसे करनी चाहिये और उदरक
कली बसाते नहीं होनी, तबतक क्षानसाधनसे अनुभवा

प्रतिकार बना योग्य है । अतः अनेकें सुदीके बहुत हीनेके
ही मनुष्य इन शक्तिको श्रुत्याका अनुभव जाता है और
प्रत्यक्षधनको स्वीकारलेका बन गया है ।

इन प्रकार सुदी नौ मनुष्यको आत्मसाधनक पहुंचायेते
मार्गदर्शक करते हैं ।

दासिनायका नाथ ।

सुदीय अंतमें कहा है कि “ जो अपना न करना मैं दास
बनने को कहा करता है तबका नाम जाना चाहिये । ”
एतरेय पारलंभ एतरेयक दान मादक टोलक है, इसके
आर्थिक नालयिक, ऐतरेयक तथा दायिक, पारलंभ नो है
और ये सबसे अधिक धानक हैं । शिल्प प्रका- जो पारलंभ
जो अंतमें मनुष्यका भाव ही वह स्वीकारण नो करिये,
परंतु उसके कारणकी दूर करना चाहिये । अंतमें जो यह कर्मी
नहीं करना चाहिये । स्वाधीनता ही मनुष्यका लक्ष्य है ।
जान और सुरक्षाके स्वाधीनता-ईश्वरके सुखि-ज्ञान ही
है, इनका भी आशय यही है । मनुष्यके सब सुख प्राप्तके
कारण है । इसमें कोई मनुष्य या कोई पद ही मनुष्यको
या शक्तिको दानकमें इतनेका कवच करे और नई शक्तिसे
देना प्रयत्न हुआ तो सब मनुष्य उदरका शिवाय रहें ।

दानकमें ही इत्येक उदरक पठक इन सुदीमें शिवाय
अज्ञाने देते और तबका कवच कवचमें पन्ने । एक
इस सुदीके हर प्रकार विचार करनेसे बहुत ही योग्य भाव
कर सकते हैं ।

महान् शासक ।

(२०)

(श्राधिः—अथर्वा । देवता—सोमः)

जदात्सद् भवतु देव सोमास्मिन्सुद्धे मरुतो मुहता नः ।
मा नो विददभिमा मो अयास्त्विर्मा नो विदद् वृक्षिना देभ्या या ॥ १ ॥
यो अथ सेन्यो वषोऽप्रायूनामुदीरते । युवं तं भिजावरुपावृस्नयावपुं परि ॥ २ ॥
इतश्च यदमुर्वश्च यद्वहं वरुप यावय । वि नृहृच्छर्मं पण्डु वरीयो चावया वृषन् ॥ ३ ॥
श्रुत इत्या मुहो अस्तमिन्नसाहो अस्तुतः । न पस्व इन्वते सत्ता न होरते उदा वन ॥ ४ ॥

अर्थ—हे (देव नील) सोम देव ! (अ-दार-सूद भवतु) आपसकी फूट उत्पन्न करनेका अर्थ न हो । हे (महतः) महतो ! (अस्मिन् यजे) इस यज्ञमें (नः सुदत्) हमें सुखों करो । (अग्नि-माः नः मा विद्द्) परामव हमारे पास न आवे, (अशक्तिः मो) अर्थात् हमें प्राप्त न हो, (या द्वेष्या वृजिना) जो द्वेष बढानेवाले कुटिल हृत्स हैं वे भी (गः मा विद्द्) हमारे पास न हों ॥ १ ॥ (यथायुतां) पापमय जीवनवालोंका (यः सेम्यः वचः) जो सेनाके सरदारोंसे वच (बच उदरीते) आज हो रहा है । हे मित्र और वरुणे ! (युवं) तुम (तं अस्मत् परि पावयतं) उसकी हमसे सर्वथा हटा दो ॥ २ ॥ हे (वरुण) सर्व श्रेष्ठ ईश्वर ! (यत् इतः च यत् असुतः) जो यज्ञसे और जो महासे वच होगा उस (वचं पावय) उपको भी दूर कर दे । (महत् धर्म विषय) बड़ा सुख अथवा आश्रय हमें दे और (वचं वरीयः पावय) वचसे शक्ति दूर कर दे ॥ ३ ॥ (इत्या महान् शासः) इस प्रकार सत्य और महान् शासक ईश्वर (अ-मित्र-साहः अस्तुतः) शत्रुका पराजय करनेवाला और कभी न हानेवाला (अग्नि) वृ है । (वस्य सखा) जिसका मित्र (कदाचन न ह्यस्यते) कभी भी नहीं मारा जाता और (न जीयते) न पराजित होता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे ईश्वर ! आपसकी फूट बढानेवाला कोई कार्य हमसे न हो । इस सतर्कसे हमें सुख प्राप्त हो । परामव, अयुक्तीति, अशक्त, द्वेष आदि कुटिलता हमारे पास न आवें ॥ १ ॥ हे देव ! शत्रुओंके द्वारा जो पापयोगिक वच हो रहे हैं, जैसे यज्ञके प्रयोग भी हमारे अंदर न उत्पन्न हों ॥ २ ॥ हे प्रभु ! हमारे अंदर अथवा दूसरोंके अंदर वच करनेका भाव न रहे । वचका भाव ही हम सबसे दूर कर और तेरा बड़ा आश्रय—सुखपूर्ण आश्रय—हमें दो ॥ ३ ॥ इस रीतिसे तेराही महान् सत्य शासन सबके ऊपर है, दुःखी सखा शत्रुओंका दूर करनेवाला और सर्वदा अपराजित है, तेरा मित्र बनकर और रहता है न वरुण वच कभी होगा और नहीं उसका कभी पराजय होगा ॥ ४ ॥

पूर्व सूक्तसे संबंध ।

पूर्व सूक्तके अंतमें " ईश्वरभक्तियुक्त सत्यज्ञान ही मेरा सखा शब्द है " यह विशेष बात कही है, उसीमे विशेषवर्णन इस सूक्तमें ही रहा है । सबसे पहिले आपसकी फूटकी दूर करनेकी सूचना दी है ।

आपसकी फूट हटा दो ।

"अ-दार-सूद भवतु" इसका आचरण फूट हटानेवाला हो, यह इस उपवेद्याका तात्पर्य है । देखिये—

- दार=दूद (दू=दटना पाठ)
- शर+सूद=दूदका प्रयत्न, दूदका कार्य ।
- अ+दार+सूद=दूद हटानेवाला कार्य ।

"अ+दार+सूद भवतु" अर्थात् "आपसकी फूट हटानेवाला कार्य हम सबसे होता रहे ।" आपस की फूटके कारण शत्रु हमला करते हैं और शत्रुओंके हमले हो जानेपर हमें शत्रुओंके भगनेका यत्न करना पडता है । इसलिये सुदका कारण आपस की फूट है । यदि आपसकी फूट न होगी और सब लोग एक भवसे रहेंगे तो सुदके लोभ हमका करनेके विषे भी रहेंगे । जहाँ आपसमें फूट होती है वही शत्रुओंका हमका होता है । इसलिये सुदका कारण अन्तर्घटी फूटमें देसना और आपस की फूटसे दूर करना

चाहिये । राष्ट्रीय सुखकी यही सुनिश्चय है ।

आपसकी फूट दूर जानेके पश्चात् ही (सुदत्) सुख होनेकी संभावना है । अन्यथा सुखकी भाशा नहीं है । आपसकी फूट हटानेसे जो लाभ होगा वह निम्नांकित प्रकारसे प्रथम मंत्रके उतरार्धमें वर्णन किया है ।

- १ अग्निमा नः मा विद्द=पराजय हमारे पास न आवे,
- २ अशक्तिः मो=अयुक्तीति हमारे पास न आवे,
- ३ वृजिना नः मा=कुटिल हृत्स हमसे न हों,
- ४ द्वेष्या नः मा विद्द=द्वेष आदि हमारे पास न आवें ।

जिस समय हम आपसकी फूट हटावेंगे, उस समय ही किसीके द्वेष करनेका कोई कारण नहीं रहेगा, किसीके कपट-युक्त कुटिल व्यवहार करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी, हमारा कभी परामव न होगा अथवा हमपर कोई अत्यापत्ति नहीं आवेगी और हमारी अयुक्तीति भी नहीं होगी, अर्थात् जब हम आपसकी फूट हटाकर आपना उत्तम संगठन करेंगे और एकता के बलसे आगे बढ़ेंगे, तब समय सब लोग हमारे मित्र बनकर हमारे साथ मित्रताका बंधन करेगे, हम सबके साथ सरल व्यवहार करते जायेंगे, एकताके कारण हमारा बल बढेगा और उस हेतुसे कभी परामव नहीं होगा तथा हमारा पक्ष फैलता जायगा । (मंत्र १)

द्वितीय और तृतीय मंत्रमें जो सोनिक वारसे होनेवाले दुष्टोंके भंङ्गारथा मन्त्र है, वह वषण भी हमारी आपसकी फूट के कारण ही दुष्ट लेय हमें सताते हैं और उनका वध करनेका प्रयोजन उत्पन्न होता है, अर्थात् यदि हमारा समाज सुसंगठित होगा तो उस वधभी जड़ही नष्ट होनेसे वह वध भी नहीं होगा और हमें (मङ्गल धर्म) क्या सुख प्राप्त होगा। "धर्म" शब्दका अर्थ "सुख और आशय" है। पूर्वोपर संबंधसे नदां परमेश्वरका आशय अभीष्ट है। क्योंकि सच्चा सुख भी परमात्माके आशयसे ही होता है। (मंत्र. २, ३)

बड़ा शासक।

एक ईश्वर ही सबसे बड़ा शासनकर्ता है, उसके ऊपर कौन,

किसी अन्यका अधिकार नहीं है, सब उसीके शासनमें कार्य करते हैं, वही सर्वोपरि है। यह शत्रुताका सधा नाराक और कभी पराजित न होनेवाला है। यदि ऐसे समर्थ प्रमुखा मित्र बनकर कोई रहे तो उसका कभी नाश न होगा, और कभी पराजय भी न होगा। अपौरु प्रमुखा मित्र बनकर व्यवहार करनेवालेका यत्र सर्वत्र पैरेगा और उसका ही नाम सर्वत्र होगा। (मंत्र ४)

पूर्व सूक्तमें जिस "ज्ञान-वचन, ब्रह्म-वर्म" का वर्णन किया है वह ब्रह्म-वचन यही है कि "परमेश्वरका शासन सर्वोपरि मानना और उसका सखा बनकर व्यवहार करना।"

आशा है कि पाठक इस प्रकार प्रमुके मित्र बननेका दाल

प्रजा-पालक-सूक्त ।

(२१)

(आधिः-अथर्व । देवता-इन्द्रः)

स्वस्तिदा विद्यां पतिर्वृत्रहा विमृषो वृशी । धृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अमपंकुरः ॥ १ ॥
 वि न इन्द्र मृषो जहि नीचा यच्छ पृतन्पुतः । अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥ २ ॥
 वि रक्षो वि मृषो जहि वि वृत्रस्य हनुं रुज । वि मन्पुमिन्द्र वृत्रहसामित्रस्यामिदासतः ॥ ३ ॥
 अपेन्द्र द्विपुतो मनोऽपु जिज्यासतो वृधम् । वि महच्छर्मं यच्छ वरीयो याचया वृधम् ॥ ४ ॥

अर्थ (स्वस्ति-दा) मंगल देनेवाला, (विद्यां पतिः) प्रजाओंका पालक, (वृत्र हा) धेनेवाले शत्रुका नाश करनेवाला, (वि-मृषः वृशी) विषय निरसक, वधमें करनेवाला, (वृषा) बलवान् । सोम पाः) सोमका पान करनेवाला, (अमपंकुरः) अमय देनेवाला (इन्द्रः) प्रमु राजा (यः) हमारे (पुरः पुर) आगे चले, हमारा नेता कने ॥ १ ॥ हे इन्द्र ! (नः मृषः) हमारे शत्रुओंके (निजहि) मार डालः (पृतन्पुतः) सेनाके द्वारा हमपर हमला करनेवालेको (नीचा यच्छ) नीचेही प्रतिबंध कर । (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमें दास बनाना चाहता है, या हमारा शास करना चाहता है, उसको (अधमं तमः गमय) हीन अंधकारमें पहुँचा दे ॥ २ ॥ (वृत्रः मृषः वि विजहि) राजाओं और द्विपकीओ मार डाल, [वृत्रस्य हनुं विरुज] परकः हमला करनेवाले शत्रुके दोनों जवकोंको तोड़ दे । हे (वृत्रहन् इन्द्र) शत्रुनाशक प्रमो ! (मनिदासतः आमित्रस्य) हमारा नाश करनेवाले शत्रुके (मन्पु विरुज) उन्साइकी तोड़ दे ॥ ३ ॥ हे (इन्द्र) प्रमो ! राजन् ! (द्विपतः मनः अप) देवीका मन बदल दे । [जिज्यासतः वधं अप] हमारी आयुका नाश करनेवालेको दूर कर (महच्छर्मं विषच्छ) बड़ा सुख हमें दे और (वधं वरीयः याचय) वधको दूर कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—प्रजासर्तोंका दित और मंगल करनेवाला, प्रजाओंका उपाय शासन करनेवाला, शेरकर नाश करनेवाले शत्रुको दूर करने-वाला, बालक, अनुत्पन्न करनेवाला, प्रजाको अमय देनेवाला राजा ही हमारा अमयानी बने ॥ १ ॥ हे राजन् ! राजके शत्रुका नाश

कर, सेना लेकर हमला करनेवाले शत्रुसे दबा दे, जो घातपात और नाश करना चाहता है उसको मगा दे ॥ २ ॥ हिमक झूर-शत्रुओंको मारना, बेर कर सतानेवाले दुष्टोंको काट दो, सब प्रकारके शत्रुओंका उखाड़ नाश कर दे ॥ ३ ॥ शत्रुओंके मन ही बदल दे अर्थात् वे हमला करनेका विचार छोड़ दें, नाश करनेवालोंको दूर कर दे, घातपात आदिको दूर कर और सब प्रजाको सुखी कर ॥ ४ ॥

शाश्वतधर्म ।

यह " अमवपण " ॥ सूक्त है । इस सूक्तमें शाश्वतधर्मका उपदेश और राजाके कर्तव्योंका वर्णन है उसका मनन पाठक करें । उक्तम राजाके गुण प्रथम मंत्रमें वर्णन किये हैं । इय मंत्रकी कवीर्द्धिसे राजा उगतम है या नहीं इसके परीक्षा हो

सकती है । अन्य तीन मंत्रोंमें विविध प्रकारके शत्रुओंका वर्णन है और उनका प्रतिकार करनेका उपदेश है । सब प्रकारके भेतनाश शत्रुओंका प्रविष्टार करके प्रजाको अधिकसे अधिक सुखी करना राजाका मुख्य कर्तव्य है । यह सूक्त अति सरल है इसलिये इसका अधिक स्थायीकरण आवश्यक नहीं है ।

[अनुर्थ अनुवाक समाप्त]

हृदयरोग तथा कामिलारोग

की चिकित्सा

(२२)

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवता—सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगः)

अनु सूर्यमुदयतां हृदयोतो हरिमा च ते । गो रोहिँतस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥ १ ॥
परि त्वा रोहिँतैर्वर्णेदीर्घायुत्वाय दध्मसि । यथाऽयमेत्वा असदयो अहरितो भुवत् ॥ २ ॥
यन् रोहिँणीदेवुत्याह गात्रो या उत रोहिँणीः । रूपंरूपं वयोवयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥ ३ ॥
शुकपु ते हरिमार्ण रोपणाकासु दध्मसि । अथो हारिद्रवेपु ते हरिमार्ण नि दध्मसि ॥ ४ ॥

अर्थ—(ते हृद-योतः च हरिमा) तेरे हृदयकी जलन (और पीलापन सूर्य अनु उदयताम्) सूर्यके पीछे चला जावे । गोके अमरा सूर्यके (रोहितस्य देन वर्णेन) उस लाल रंगसे (त्वा परि दध्मसि) तुझे सब प्रकारसे हृष्ट पृष्ट करते हैं ॥ १ ॥ (रोहितः वर्णः) लाल रंगसे (त्वा) तुझको (दीर्घायुत्वाय परि दध्मसि) दीर्घ आयुके लिये चरते हैं । (यथा) जिससे (अयं) यह (अ-रपा असत्) बीरोग हो जाय और (अ-हरितः भुवत्) पालक रोगसे मुक्त हो जाय ॥ २ ॥ (याः देवता रोहिँणीः गावः) जो दिव्य काल रंगकी गौवें हैं (उत या रोहिँणीः) और जो लाल रंगकी किरणें हैं (ताभिः) उनसे (रूपं रूपं) सुंदरता और (ययः वयः) बन्के अनुसार (त्वा परि दध्मसि) तुम्हें चरते हैं ॥ ३ ॥ (ते हरिमार्ण) पालक रोगको (सुकेपु रोपणाकामु च) तोते और पौषोंके रंगोंमें (दध्मसि) धारण करते हैं (अथो) और ते (हरिमार्ण) तेरा श्रीदान हम (हारिद्रवेपु) इसी वनस्पतियोंमें (नि दध्मसि) रख देते हैं ॥ ४ ॥

माथार्थ—तेरा हृदयरोग और पालक रोग सूर्यकिरणोंके सन्ध संबंध करनेसे चला जायगा । लाल रंगकी गौवें और सूर्यकी काल किरणें होनी हैं, इनके द्वारा नाशगता हो सकती है ॥ १ ॥ लाल रंगके प्रयोगसे दीर्घ आयु प्राप्त होता है, पालक रोग

रूढ़ होता है और नीरोगता प्राप्त होती है ॥ २ ॥ साल रंगधी गीरे और जल रंघी मूर्धाभिले दिव्य गुणोत्त सुख होती है । रूप और बलके अनुसार उनके द्वा । रोगी भय जने ॥ ३ ॥ इसनाल रंघी चिन्तित्पाने रोगीणा परदारन तथा धीमान् रूढ़ होना और यह हरे पर्या और हरी वनस्पतिवर्गों आकर निवास करेगा, अर्थात् रोगोंके प्राण फिर नहीं लावेगा ॥ ४ ॥

वर्णचिकित्सा ।

यह सूक्त " वर्णचिकित्सा " के मध्यवर्ग विषयका उपदेश दे रहा है । मनुष्यके हृदयका रोग और कामिभ नामक पीला रोग बह देते हैं । अरबन, वेडके निकार, तामाख, मद्यमादन आदि अनेक कारण हैं, जिनके कारण हृदयके दोष उत्पन्न होते हैं । तदन अवस्थामें वीर्यदोष एतिते कारण भी हृदयके विचार उत्पन्न होते हैं । बाधिता रोग विपत्तके द्युति होनेके कारण उ पक्ष होता है । इन रोगोंके कारण मनुष्य रुच, मिलेज, पीसा, दुर्बल और दान होता है । इसलिये इन रोगोंकी इलाजका उपाय इस सूक्तमें बंद बना रहा है । सूक्तकर्त्ता द्वारा चिकित्सा तथा साल रंगवाली गोशोकके द्वारा चिकित्सा करनेसे उक्त दोष दूर होते हैं और उत्तम स्वास्थ्य मिलता है ।

सूर्यकिरण-चिकित्सा ।

सूर्यकिरणोंमें सात रंग होते हैं अथवा रंगवाली दार्ष्टिकी सहायतासे इष्ट रंगके चित्र प्राप्त किये जा सकते हैं । नये शरीरपर इन किरणोंकी रक्षनेसे आरोग्य प्राप्त होता है और रोग दूर होते हैं । यह रंगीन सूर्यकिरणोंका स्थान ही है । यह नये शरीरसे ही करना चाहिये । छतपर लाल रंगके शीशे रखनेसे कमरमें लालरंगका किरण प्राप्त हो सकती है, इसमें नये शरीरसे रहनेसे यह बिराऊका साध्य हो सकती है ।

जिन प्रकार उक्त रंगोंके लिये लाल रंघी किरणोंके चिकित्सा होती है उसी प्रकार अन्त्यान् रंगोंके लिये अन्त्यान् रंगोंकी सूर्यकिरणोंसे चिकित्सा होना नैसर्गिक है । इसलिये सुषोचमें वैद्य इसका अनिष्ट विचार करें और सूर्यकिरण-चिकित्सासे रोगियोंके रोग दूर करके जनताके सुखकी दृष्टि करें ।

परिभारण विधि ।

सूर्यकिरण-चिकित्साके " परिभारण विधि " का मन्त्र है इस सूक्तमें " परि दानमे " चन्द्र जर वार, " निदम्प्यति " चन्द्र एक वार और " दामसि " चन्द्र एक वार अर्थात् है । " चारी औरसे धारण करना " यह पाठ इन चन्द्रोंके म्यक्त होता है । शरीरके चारों ओरसे संवत् करनेका नाम " परि-धारण " है । जिस प्रकार लालरंगके पानीमें तैलसे शरीरके रूप जलका परिभारण हो सकता है, उसी प्रकार जल रंघी

सूर्यकिरणोंके अन्तरेमें लेकर उसमें नये शरीर रहना और शरीरके उन्मत्त पुनः करने सब शरीरके साथ लाल रंगके सूर्यकिरणोंका संबंध करना परिभारण विधि का साध्य है ।

- १ शीतलैः वर्णैः परिदम्प्यति । (मंत्र २)
- २ दीर्घायुधाप परिदम्प्यति । (")
- ३ यो शीतलैः वर्णैः परिदम्प्यति । (मंत्र १)
- ४ कामिभृषा परिदम्प्यति । (मन्त्र ३)

ये सब मंत्रमात्र एक वर्णके सूर्यकिरणोंका स्थान अर्थात् " परिभारण " करनेका विधान कर रहे हैं । रोगियोंके नये शरीर पूर्ण एक वर्णके शीशेके कमरमें रखने और उनके शरीरका संबंध एक वर्णकी सूर्यकिरणोंके साथ करनेसे यह परिभारण हो सकता है और इससे नीरोगता, दायं आयुष्प्राप्ति तथा वनस्पति भी हो सकती है । अन्त्यान् रंगोंके निवारणके लिये अन्त्यान् रंगोंके किरणोंके स्थानोंकी रक्षणा करना बहुत बड़ेकी सुविधाकार निर्भर है ।

रूप और बल ।

रूप और बलके अनुसार यह चिकित्सा, यह परिभारण-विधि अथवा किरण-स्थान करना योग्य है यह सूचना लुप्त मंत्रके उत्तरार्धमें पाठक देख सकते हैं । काका अर्थ शरीरका कौर्द्ध, शरीरका रंग और शरीरकी सुकुमरता है । यदि मीठ शरीर हो, यदि सुकुमार अष्टक शरीर हो तो उनके लिये चिन्ता किम्प स्थान देना चाहिये, उसके लिये शीशेका कोमल प्रकाश, या दोषहरक कठोर प्रकाश करना चाहिये, इत्यादिच विचार करना बेचौका कार्य है । जो बाले शरीरवाने तथा मुटु या कठोर शरीरवाले-वर्तते हैं उनके लिये चिन्तनानाद्य प्रमाण भी सिद्ध होना योग्य है । तथा जो परमें बैठनेवाले लोग होते हैं और जो धूममें धार्य करनेवाले होते हैं उनके लिये भी उक्त प्रमाण न्यूनाधिक होना उचित है । इस विचारार्थ नाम ही " रूप और बलके अनुसार विचार " करना है । (स्वर्द स्वर्द धयो वधः) यह प्रमाण दुर्दानेवाला मंत्रमात्र अत्यन्त महत्वका है । रोगोंकी कोमलता या कठोरता, रोगीका रंग, रोगाद्या रहना रहना, रोगीका वेसा, उसकी आयु तथा शारीरिक बल इन सबका विचार करके चिकित्सास्थान भी योजना करना चाहिये । यही तो चोचन प्रशतिवालेकी अर्थिक स्थान देनेसे शारीरके

स्थानपर घनात्मक होगा । अथवा कठोर प्रकृतिकालेसे अल्प प्रमाणमें देनेसे उपपर कुष्ठ भी परिणाम न होगा । इस दृष्टिसे सूतीय मंत्रगा उत्तरार्ध बहुत मन्त्र करने योग्य है ।

रंगीन गौंके दूधसे चिकित्सा ।

इसी मूल्ये रंगीन गौके दूधसे रोगीकी चिकित्सा करनेकी विधि भी बना दी है । गौंके मूँडे, काँडे, लाल, भूरे, नमवारी, बादामी तथा विविध रंगके घन्चोवाला होती हैं । सूर्यकिरणों गौकी पीठपर गिरता है और उस कारण रंगके भेदके अनुसार दूधपर भिन्न परिणाम होता है । श्वेत गौके दूधका गुणधर्म भिन्न होगा, काले रंगकी गौका दूध भिन्न गुणधर्मवाला होगा, लाल गौका दूध भिन्न गुणधर्मवाला होगा, उसी प्रकार अन्यरंगवाली गौओंके दूधके गुणधर्म भिन्न होंगे । एक बार वर्ण-चिकित्सा का तत्त्व मन्त्रोंपर यह परिणाम मानना ही पड़ता है । इसीलिये इस मूल्ये मंत्र ३ में ' रोहिणीः गावः ' अर्थात्

लाल गौओंके दूधका तथा अन्यरंग गौओंका उपयोग इन्द्र विचार और कामला रोगकी निवृत्तिके लिये करनेका विधान है । यह विधान मन्त्र करनेसे बड़ा बोधप्रद प्रतीत होता है । और इसके मन्त्र करनेसे अन्यरंग रोगोंके लिये अन्यरंग गौओंके गोद-नीम उपयोग करनेका उरदेश भी प्राप्त होगा धर्म-चिकित्सा का ही तत्त्व गोदुग्ध-चिकित्साके लिये बर्ता जायगा । दोनोंके बीचमें तत्त्व एक ही है ।

पृथक् ।

वर्ण-चिकित्साके साथ साथ गौरस क्षेत्रना पृथक् रखनेसे अधिक लाभ माना समझना है । अर्थात् लालरंगके किणोंके परिभारक करनेके दिन लाल गौके दूधका सेवन करना इत्यादि प्रकार यह पृथक् समझना उचित है ।

इस प्रकार इस सूक्तके विचार करके पाठक बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं ।

श्वेतकुष्ठ-नाशन-सूक्त ।

(२३)

(ऋषिः—अश्वर्वा । देवता—ओषधिः)

नूक्तंजातास्पर्षोपघ्ने रामे कृष्णे आर्षिकिन च । इदं रजान रजस्य क्लिासं पलितं च यत् ॥ १ ॥
 क्लिासं च पलितं च निरितो नाश्या पृषत् । आ त्वा स्वो वैशुष्वां वर्णः परां शुक्लानि पादय ॥ २ ॥
 अर्षितं ते प्रलप्यन्मास्थानुमर्षितं तव । अर्षिकन्यस्पोपघ्ने निरितो नाश्या पृषत् ॥ ३ ॥
 आश्विजस्य क्लिासस्य तनुजस्य च यश्चाचि । दृष्यां कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्मं श्वेतमनीनिश ॥ ४ ॥

अर्थ—हे रामा कृष्णा और अर्षिकन औषधि । तू (मन्त्रं जाया अस्ति) रात्रिके समय उत्पन्न हुई है । हे (रजनि) रज देने वाली ! (यत् क्लिासं पलितं च) जो कुष्ठ और श्वेत कुष्ठ है (इदं रजस्य) उमरो रंग दे ॥ १ ॥ (इतः) इसके शरीरसे (क्लिासं पलितं) कुष्ठ और श्वेत कुष्ठ तथा (पृषत्) धन्वे आदि मन्त्र (निः नाशय) नष्ट कर दे । (शुक्लानि परा पातय) श्वेत धन्वे दूर कर दे (स्वःवर्णं) अपना रंग (त्वा) तुझे (आर्षिकतां) प्राप्त हो ॥ २ ॥ (ते रजस्यं) तेरा लक्ष्यस्थान (अर्षितं) कृष्ण वर्ण है तथा (तव अस्त्यानं) तेरा स्थान भी (अर्षितं) काला है हे औषधो ! रजस्यं (अर्षिकनी अर्षि) कृष्णे काशी है इसलिये (इतः) यज्ञमें (पृषत्) धन्वे (निः नाशय) नष्ट कर दे ॥ ३ ॥ (दृष्यां कृतस्य) श्वेतके कारण उत्पन्न हुए (अश्विजस्य तनुजस्य च) इन्द्रिये तथा शरीरसे उत्पन्न हुए (क्लिासस्य यत् स्वानि श्वेतं लक्ष्मं) कुष्ठका जो स्वभावर श्वेत चिह्न है उसका (ब्रह्मणा धनीनशम्) इन ज्ञानसे मैंने नाश किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—रामा कृष्णा अर्षिकनी ये श्वेत रंग हैं, इनका पीपण रात्रिके समय होता है, इनमें रंग बदलनेका सामर्थ्य है ।

इतिथि इन्के लेपनमे श्वेत्पुष्ट दूर होता है ॥ १ ॥ शरीरपर जो श्वेत कुष्ठके घन्के होते हैं, उन श्वेत घन्कोही इस औषधिके लेपनमे दूर कर दे और अपनी चमडीका जखली रंग शरीरपर आने दें ॥ २ ॥ यह वनस्पति नष्ट होनेपर भी जाला रंग बनता है, जलका प्याज काने रंगका होने के और वनस्पति भी स्वयं काने रंगवाली है, इसी कारण यह वनस्पति श्वेत घन्कोही दूर कर देगी ॥ ३ ॥ घुआषाकं दोषोमे उत्पन्न, हृदिमे उत्पन्न, मांसे उत्पन्न हुए सब प्रकारके श्वेत कुष्ठके घन्कोही इस ज्ञानसे दूर किया जाता है ॥ ४ ॥

श्वेतकुष्ठ ।

शरीरका रंग गामो या होता है। गोरे छानेका भेद होनेपर भी चमडी का एक शिकलका रंग होता है। जो रंग वह होनेसे चमडीपर श्वेतसे घन्के दिखाई देने हैं। उनका नाम ही श्वेत कुष्ठ होता है। यह श्वेत कुष्ठ शरीरपर होनेसे शरीरका रंग श्वेत नष्ट होता है और सुखोल सुंदर मनुष्य भी कुष्ठरोगादि लक्षणों से होता है, इसलिये इस (श्वेत लक्षण) श्वेत चिन्ह-श्वेत कुष्ठ-दूर करनेका उपाय देने का बताया है।

निदान ।

वेद इस श्वेत कुष्ठके निदान इस सूत्रमें निम्न प्रकार देता है—

(१) दृष्ट्वा कनस्य-शोषयुक्तं कृशं कर्णात् दोषपूर्वं आचरणम् । सदाचारं नहीनेति अथवा आवाग्विषयकं कर्णदोषं घृणमे रहनेमे या कुष्ठ होता है। जिन प्रकारसे श्वेतदोषसे तथा कुलकं दोषसे भी यह कुष्ठ होता है।

(२) सत्विकजस्य—अस्थिगत दोषमे यह होता है।

(३) समूहस्य—शारीरिक अर्थात् मांसे दोषसे होता है।

(४) सत्विक-वमशंके अंदर पुष्ट दोष होनेसे भी यह होता है।

ये दोष सके सब हों या इनमेंसे कोई हों यह कुष्ठ हो जाता है।

दो भेद और उनका उपाय ।

इस कुष्ठमे दो भेद होते हैं, एक दिग्गम और दूसरा पलित। पलित दृष्टमे केवल श्वेतत्वका ही दोष होता है इस कारण यह श्वेत घन्कोका वायक इष्ट है। इसको छोड़कर दूसरे कुष्ठका नाम शिकल प्रतीत होता है, जिसमें चमडी विरूपकी बनती ही सुयोग्य वंश इन घन्कोका अर्थ विषय करें।

“ रामा, हृष्णा, अमिक्नी ” इन औषधियोंका इस कुष्ठपर उपयोग होता है। ये नाम विषयमे किन औषधियोंके बोधक हैं और किन औषधियोंका उपयोग इस कुष्ठके निवारण

करनेके लिये हो सकता है, यह विषय केवल चम्पू शास्त्र नही कर सकता; न यह विषय केवल कोशोंकी सहायतासे एक हो सकता है। इस विषयमें केवल सुयोग्य वंश ही नियत मत दे सकते हैं, तथा वे ही योग्य मार्गसे छीम कर सकते हैं। इसलिये इस लेखद्वारा वैद्योंकी प्रेरणा देना ही यहाँ हमारा कार्य है। वेदमें बहुत विचार होनेसे अनेक विद्याओंके पंडित विद्वान् मित्रनेर ही वेदकी शोख हो सकती है। अतः सुयोग्य वैद्योंकी आशुर्विषयिक वेदभाषणी शोख लगानी चाहिये और वह प्रत्यक्ष विषय होनेसे इन औषध्यादेका प्रयोग करके ही इनका सप्रयोग प्रतिपादन करना चाहिये। आज है कि वैद्य और शास्त्रर इस विषयमें योग्य सहायता देंगे।

रंगका घुसना ।

कई लोग समझते हैं कि ऊपर ही ऊपर वनस्पतिक रस आदि लगातेसे चमडीका ऊपरका रंग बदल जाता है, परंतु यह सत्य नहीं है। इस सूत्रके द्वितीय मंत्रमें—

आ त्वा स्वे विद्यतां वर्णः ।

“ अपना रंग अंदर घुस जाय ” यह मंत्रमात्र बतल रहा है कि इन औषधियोंका परिणाम चमडीके अंदर ही होगा अर्थात् है, न कि केवल ऊपर ही ऊपर। ऊपर परिणाम ही परंतु “ विद्यतां ” किया “ अंदर घुसने ” का भाव बता रही है। इसलिये चमडीके अंदर रंग घुस जाता है और वही वह स्थिर हो जाता है। यह मंत्रका कथन स्पष्ट है।

औषधियोंका पोषण ।

औषधियोंका पोषण दिनेके समय होता है या रात्रिके समय, यह प्रश्न यथे फारसीय सदरवका है। औषधियोंका रात्रा सोप-चंद्र-है, इसलिये औषधियोंका पोषण और वर्धन रात्रिके समय होना है ! यही बात “ नक्तं जाता ” सूत्रोंसे इस सूत्रमें बताया है। रात्रिके समय बनी चंदी या पुष्ट हुई औषधि होती है। प्रत्यः सभी औषधियोंके संबंधमें यह बात सत्य है ऐसा हमारा पचास है। चमडीपति विद्या ब्रानेवाले लोग इस कथनक अधिक विचार करें।

“सौमन्य-वर्धन” के (१८ वें) सूक्तमें भौदर्यवर्धनका पाठक इय सूक्तको पूर्वोक्त १८ वें सूक्तके साथ पढ़ें । आशा है उपदेश दिया है, इसलिये उष कार्यके लिये श्वेत कुष्ठ यदि कि पाठक इय प्रकार पूर्वोक्त सूक्तोंका संवेध देखकर सूक्तार्थके किर्तियोंको हो, तो उषका दूा करना आवश्यक ही है । अतः अधिकसे अधिक काम टखरें ।

कुष्ठ-नाशन सूक्त ।

(२४)

(ऋषिः—प्रजा । देवता—आसुरी वनस्पतिः ।)

सुपुर्णो जातः प्रथमस्तभ्यु त्वं पित्तमांमिय । तदासुरी युषा जिना रूपं चक्रे वनस्पतीन् ॥ १ ॥
 आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलामनाशनम् । अनीनशक्तिक्लामं सरूपामकरचचम् ॥ २ ॥
 सरूपानामं ते माता सरूपो नामं ते पिता । सरूपकृत्समोषधे सा सरूपामिदं कृधि ॥ ३ ॥
 श्यामा सरूपंकरणी पृथिव्या अधुञ्जता । इदमु पु प्र सांघप पुनां रूपानि कल्पय ॥ ४ ॥

अर्थ—सुपुर्ण (प्रथमः जातः) सभे पहिले हुआ (तत्प रिचं) उषाच पित (त्वं आंमिय) तूने प्राप्त किया है । (युषा जिता) कुष्ठसे जीता हुई वह आसुरी (वनस्पतीन्) वनस्पतियोंको (तत् रूपं चक्रे) वह रूप करती रही ॥ १ ॥ (प्रथमा आसुरी) पाद्रीनी आसुरीने (इदं किलास-भेषजं) यह कुष्ठका औषध (चक्रे) बनाया । (इदं) यह (किलास-नाशनं) कुष्ठ रोगका नाश करनेवाला है । इत्ये (किलामं) कुष्ठका (अनीनसात्) नाश किया और (त्वचं) त्वचाके (स-रूपानां) समान रंगवाली (अकरत्) बना दिया ॥ २ ॥ हे औषधे! तूने माता (सरूपा) समान रंगवाणी है तथा तेरा पिता भी समान रंगवाला है । इसलिये (त्वं स-रूप-कृत्) तू जो समानरूप करनेवाली है (सा) वह तू (इदं सरूपं) इसको समान रंगरूपवाला (कृधि) कर ॥ ३ ॥ श्यामा नामक वनस्पति (सरूपं-करणी) समान रूपरंग बनानेवाली है । यह (घृयिभ्याः) अशुद्धता (धूम्रानि) उखाड़ी गई है । (इदं उ सु प्रसाधन) यह कर्म ठीक प्रकार निष्ठ कर और (पुनः रूपानि कल्पय) फिर पूर्ववत् रंगरूप बना दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—सुपुर्ण नाम सूर्य है उसको फिर न पित बढ़ानेकी शक्ति है । सूर्यकिरणों द्वारा वह पित्तवनस्पतियोंमें संवित होता है । योष्य उषाकीय स्वार्थान बनी हुई वनस्पतियों रूप रंगका सुधार करनेमें सहायक होती है ॥ १ ॥ आसुरी वनस्पतिसे कुष्ठ रोगके लिये उषा औषध बनाया है । यह निश्चये कुष्ठ रोग दूर करती है और इसमें शरीर की त्वचा समान रंग रूपवाली बनती है ॥ २ ॥ जिस पौधेके संयोगसे यह वनस्पति बनती है, वे पौधे (अर्थात् इसके माता पितारूपी पौधे भी) शरीरका रंग सुधारनेवाले हैं । इसलिये यह वनस्पति भी रंगका सुधार करनेमें समर्थ है ॥ ३ ॥ यह श्यामा वनस्पति शरीर की चर्मरङ्गका रंग ठीक करनेवाली है । यह धूम्रसे उखाड़ी हुई यह कार्य करती है । अतः इसके उपयोगसे शरीरका रंग सुधारा जान ॥ ४ ॥

वनस्पतिके माता पिता ।

इस सूक्तके तृतीय मंत्रमें वनस्पतिके मातापिताओंका वर्णन है अर्थात् दो वृक्षवनस्पतियोंके संयोगसे बननेवाली यह तीसरी वनस्पति है । दो वृक्षोंके कटन जोड़नेसे तीसरी वनस्पति विशेष

सुगन्धमेंसे कुष्ठ बनती है, यह उद्यानशास्त्र जाननेवाले जानते हैं । कुष्ठनाशक श्यामा आसुरी वनस्पति इस प्रकार बनायी जाती है । शरीरके रंगका सुधार करनेवाली दो औषधियोंके संयोगसे यह श्यामा बनती है । जो आघातका बीधा होता है उसका

नाम माता और जिसकी शाखा उसपर चित्रणायी या जोड़ी जाती है वह उसका पिता तथा उस संयोगसे जो नयी वनस्पति बनती है वह उस दांतीका पुत्र है । पाठ ६६ उद्यान-विद्याको ६६ मंत्रमें देखे । (मंत्र ३)

सरूप-काण ।

शरीरके वास्तविक रंगके समान पुश्रोंके रंगनके चमडेका रंग बनाना "सरूपकरण" का तात्पर्य है अमुरी श्यामा वनस्पति यह करती है इसीप्रिये पुश्रोंपर इसका उपयोग होता है । (मं. २-३)

वनस्पतिपर विजय ।

"शुद्धते जीतां हुई आमुरी वनस्पति औषध बनाती है ।" यह प्रथम मंत्रका कथन विशेष मननीय है । वैद्यकी १११६ दवापर इस प्रकार प्रभुत्व संपदन करना पड़ता है । अंग्रथि उसके हाथमें अनेकी आवश्यक्ता है । वनस्पतिके गुणधर्मोंमें पूर्ण परिचय और उसका उपयोग करनेच उत्तम ज्ञान वैद्यको होना आवश्यक है । नहीं तो औषध विद्व नहीं कहा जा सकता । (मं. १)

सूर्यका प्रभाव ।

सूर्यमें नाना प्रकारके बीज हैं । वे बीज किरणों द्वारा वनस्पतियोंमें जाते हैं । वनस्पतिद्वारा वे ही बीज प्राप्त होते हैं और रोगनाश अथवा बलवर्धन करते हैं । इस प्रकार यह सब

सूर्यका ही प्रभाव है । (मं. १)

सूर्यसे बीज-प्राप्ति ।

सूर्यसे नाना प्रकारके बीज प्राप्त करनेकी यह सूचना बहुत ही मनन करने योग्य है ।

सूर्य आत्मा जगत्तत्त्वस्थुरश्व । (ऋग्वेद १ । ११५ । १)

"सूर्य ही स्थानर जंगम का आत्मा है" यह वेदम उपदेश भी यही मनन करना चाहिये । जब सूर्यसे नाना प्रकारके बीज प्राप्त करके हम अधिक बीजवान हो जायेंगे तभी यह मंत्रभाग हमारे अनुभवमें आ सकता है ।

जने शरीर सूर्यकिरणोंमें विचरनेसे और सूर्यकिरणोंद्वारा अपनी चमड़ी अच्छी प्रकार तरानेसे शरीरके अंदर सूर्यका जीवन अंचलित होता है इसी प्रकार सूर्यसे तथा हुआ वायु प्राणायाममें अंदर लेनेके अभ्यासमें श्वरोगमें भी बड़ा लाभ पहुंचता है । इसी प्रकार कई रीतियोंमें हम सूर्यसे बीज प्राप्त कर सकते हैं । गठक स्वयं इसका अधिक विचार करेंगे छै उनसे बहुत बीज प्राप्त हो सकता है ।

वैद्योंमें उचित है, कि वे जो सबसे श्यामा वनस्पतिकी प्राप्त करे और उसके बीजसे पुत्र गीग दूर करे । तथा सूर्यसे अनेक बीज प्राप्त करनेके उपाय सूझकर निकाल दे और उनका उपयोग आरोग्य वर्धनमें करते रहें ।

शीत-ज्वर-दूरीकरण सूक्त ।

(२५)

(ऋषिः-भृगुः । देवतः-अग्निः, तक्मा ।)

यदाग्रासो अदहत्प्रविश्य यत्राकृण्वन् धर्मधृतो नमांसि ।

उत्रं त आहुः परमं जनित्रं स नः संविद्वान् परि वृग्धि तक्मन् ॥ १ ॥

यद्युर्विषट्टि वामिं शोचिः शंकरुषेपि यदि वा ते जनित्रम् ।

न्हृदुर्नामांसि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृग्धि तक्मन् ॥ २ ॥

यदि शोको यदि वाऽभिशाको यदि वा राज्ञो वरुणस्यासि पुत्रः ।

न्हृदुर्नामांसि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृग्धि तक्मन् ॥ ३ ॥

नमः शीतार्थं तुक्मने नमो रुगार्थं शोचिर्वे कुणोमि । १७२६८, यो अन्येषु रूग्णेषु च्युरभ्येति तृतीयकाय नमो अन्तु तुक्मने ॥ ४ ॥

अर्थ—(यत्र) जहाँ (घर्म-घटाः) घर्मका गलन करनेवाले सदावारी जोग (नमोसि कृष्णम्) नमस्कार करते हैं, वहाँ (प्रविश्य) प्रवेश करके (यत् भूमिः) जो भूमि (साय. अद्भुत्) प्राणधारक जलतत्वमेव जाता है (तत्र) वहाँ (से परमं अनित्रं) तेरा परम जन्म स्थान है, ऐसा (बाहुः) कहते हैं । हे (तुक्मन्) कष्ट देनेवाले ज्वर । (सः संविद्वात्) ज्ञानवा हुआ तू (नः परि वृत्तिव) हमको छोड़ दे ॥ १ ॥ (यदि शक्तिः) यदि तू उजालारूप, (यदि वा शोचिः शसि) अथवा याद तापरूप हो, (यदि ते अनित्रं) यदि तेरा जन्म स्थान (राक्षस्य-भूमि) अंगप्रसंगमें परिणाम करता है, तो तू (च्छुद्धः नाम शसि) च्छुद्ध [अर्थात् गति करनेवाला] इन नामका है । अतः हे (हरितस्य देव तुक्मन्) पीलक रोगको उत्पन्न करनेवाले ज्वर देव । (सः संविद्वात्) वह तू यह जानता हुआ (नः परि वृत्तिव) हमें छोड़ दे ॥ २ ॥ (यदि शोकः) यदि तू पीडा देनेवाला अथवा (यदि अग्नि शोक) यदि श्वेत रोगका उत्पन्न करनेवाला हो, (यदि परुणस्य राशः पुत्रः शसि) किंवा बहण राजाका तू पुत्र ही क्यों न हो, दुःखदा नाम च्छुद्ध है । हे पीलक रोगके उत्पन्न करनेवाले ज्वर देव । तू हम सबको यह जानकर छोड़ दे ॥ ३ ॥ (घीताय तुक्मने नमः) घीन ज्वरके लिये नमस्कार, (रुगार्थं शोचिषे नमः कुणोमि) सबके तापको भी नमस्कार करता हूँ । (यः अन्येषु) जो एक दिन छोड़कर आनेवाला ज्वर है, (उभयपु) जो दो दिन आनेवाला (अन्येषु) होता है, जो (तृतीयकाय) तिहाई है, उस (तुक्मने नमः अद्भु) ज्वरके लिये नमस्कार होवे ॥ ४ ॥

साधार्थ-पार्थिक लोग जहाँ प्राणयामद्वारा पंचभूतोंके अन्तर्गत प्रकृतियोंके प्रमाण जानकर उनको प्रमाण भी करते हैं उस प्राणके मूलस्थानमें पहुँचकर यह ज्वरका अर्थ अन्वेषणके निमित्तके प्रकृतियोंके अन्तर्गत इस ज्वरका परम स्थान है । यह जानकर इससे मनुष्य बचे ॥ १ ॥ यह ज्वर उत्पन्न करनेवाला तापित्व-व्यक्तिकाल हो किंवा श्वेत रोग अथवा एतद्वत् रोग उत्पन्न होता है, किंवा हृदय अंग-प्रसंगमें कमजोर करनेवाला हो, यह उत्पन्न करनेवाला अथवा पीलक रोगके उत्पन्न करता है, यह जानकर हृदय मनुष्य इससे अथवा बचाव करे ॥ २ ॥ कई ज्वर विशेष अंगमें दर्द उत्पन्न करते हैं और कई संघर्ष अंगप्रसंगमें उत्पन्न उत्पन्न करते हैं जस्तथा 'वृद्ध' इनकी उत्पत्ति होती है, यह हृदय अंगप्रसंगमें होता है और पीलक रोग शरीरमें उत्पन्न करता है । इसलिये हृदय मनुष्य इनसे बचना रहे ॥ ३ ॥ घात ज्वर, रुग्ण ज्वर, प्रतिदिन आनेवाला, एकदिन छोड़कर आनेवाला, दो दिन छोड़कर आनेवाला, तीसरे दिन आनेवाला ऐसे अनेक प्रकारके जो ज्वर हैं उनको नमस्कार हो अर्थात् ये इस सबमें दूर रहें ॥ ४ ॥

ज्वरकी उत्पत्ति ।

यह " तुक्मनाशन यत्र " का सूक्त है और इस सूक्तमें ज्वरकी उत्पत्ति निम्नलिखित प्रकार लिखी है ।

वरुणस्य राशः पुत्रः । (मंत्र ३)

यह " वरुण राजाका पुत्र है । " अर्थात् वरुणसे इसकी उत्पत्ति है । जलका अधिपति वरुण है यह सब जानते ही हैं । वरुण राजाके अद्भुती साम्राज्यमें यह जन्म लेता है । इसका सीधा भासय यह स्पष्ट हो रहा है कि जहाँ जल स्थिररूपमें रहता या सड़ता है वहाँमें इस ज्वरकी उत्पत्ति होती है । आशुतल भी प्रायः यह बात निश्चितही हो चुकी है कि जहाँ जल प्रवाहित नहीं होता पंशु रुग्ण रहता है, वहाँ ही घातज्वरकी उत्पत्ति होती है और घातज्वर ऐध ही स्थानोंमें फैलता है ।

यदि यह ज्ञान निहित हुआ तो ज्वरनाशक पहिला उपाय यही हो जाता है कि अपने परके आसपास तथा अपने प्रसंगमें अथवा निश्चय के लिये स्थान नहीं रखने चाहिये कि वहाँ जल रुकना और अडला रहे । पाठक ज्वरनाशक इस प्रथम और सबसे मुख्य उपायका विचार करे । और इससे अपना काम उठवे ।

ज्वरका परिणाम ।

इस सूक्तमें ज्वरका नाम " च्छुद्ध " लिखा है । इसका अर्थ " गति करनेवाला " है । यह ज्वर जब शरीरमें आता है तब शरीरके अन्तमें तथा अंगप्रसंगमें जीवन-नरदनमें गति उत्पन्न करता है । और इस कारण अंगप्रसंगमें जीवन-नरदन उत्पन्न करता है । वही बात प्रथम मंत्रमें कर्त दे -

कानिः काणः कदहद ॥ (मंत्र १)

'कडु जल आंनसने) ही बना देता है ।' इनो अरथ जवासे शरीरको शक्ति कम होती है । कान्त्तर धानकीन का धारण करनेवाला है । (काणमंत्र) कान्त्तकल्प प्राप है वह उपनिषदोक्त वचन है । प्राक काधकका पीरथ कान्त्तर इत उरके द्वारा जल गन्त है, इसी कारण जल अनेप जीवन प्राप्त कम हो आगे है । इसी कारण इस जलको पीलक योग्य उत्पन्न करा है । देखिये—

हरितल्प देव ! (मंत्र २, ३)

'पीलावन तल्प कनिवाला' पीछे पीलेप वननेवाला, पीलकरीग, शनिता, पीनुरीग, कान्त्तकला सब करनेवाला'ग इन सबका उदाहरण है । यह उदा इन्हे मधानके योगोको तल्पक के जेवाला है, इसीलिसे इससे अनुपपद्यो करने कापका बचाव करना चाहिये । यह उदा प्राणकी मूल एधानग इनका क के उगाओ कमयो काता है । इस विषयमें यह मंत्र देखिये—

यद्विषयां मदहृत् प्रविद्ध मयाकृपवत्
धर्मपुत्री जनांसि ॥ (मंत्र १)

'कहां धार्मिक लोग जाकर मनन करते हैं वहां प्रविष्ट होकर यह क्षमि-जवा-भाग धारक आंनसकी अलाभा है ।' योगीध धारणद्वारा धार्मिक लोग क्षमिध धारणमें इनको कमलमें प्रविष्ट होते हैं, इसी हृदयमें आंनसका तल है, इसीलिसे जलका है, कर्णिक जलका हृदयमें कान्त्तर पुप पीलावन होता है, जिससे बहुत क्षमशरीर की उत्पन्न होती है । इसी कारण यह जल पीलक योग्य लपका पादुगैय उत्पन्न करता है ऐसा सुक्ते द्वितीय मंत्रमें कहा है । यह हिमज्वर शिवको काव्यत " मनेरिवा " कहा जाता है इत. मनु १ ही हृदि-कारक है । इसलिसे इसको हृदिके प्रकटने दूर रखना चाहिये, यही नित्राकिवच मंत्रभागमें सूचित किया है—

स कः संविदान् परिबुधिय तवम् ॥ (मंत्र १, २, ३)

' यह बात जानना हुआ जल दूर रखा जाय ' अर्थात् जलके धारण कर करने उत्तम हमला अनुप्यार न हो इस विषयमें योग्य प्रदान किमें प्राण । जल कानेके बाद उसके मातिधारण धारण करना चाहिये इसमें किंचित्का विषय नहीं हो सकता, पीनु इस सुधका वेद कही अर्थय देना चाहना है, कि काने परकी और प्राणकी व्यक्तया मनुष्य इस प्रकार रखे कि यह शरीरका जल कानेकी न और उसके निवारकके लिसे दवादा पीनी न पडे । क्योंकि यह जल इतका पातक है कि

एक बात जाना हुआ हिमजवा कल्प प्रीणन सिद्ध रूपसे शरीरमें रज जाता है और उसके निवारकके लिसे बर्षाक और यह स्थिति मन करने कायक होते हैं ।

हिमज्वरके नाम ।

इत सूक्ति हिमज्वरके नित्राकिवच मान दिये हैं—

१ कडु-गाने अरथ कनिवाला, शरीरमें रज कल्प करनेवाला, उत्तरका रज विष धारण होता है, उक्त समय मनुष्य कानेके लगता है । मर्द्धि माननें इस दिन जलका नाम " कडुका पात्र " है, वह अर्द्ध की रजिक " कडु " शब्दके साथ मिलता जुलता है । यहीअर्थ नित्राकि इत्तिकावच पुत्रकमें नित्राकिवच अरथ किंका हुआ निकल है कडु, कडु, कडु, इत, इत, कडु, इत, कडु । कान्त्त-दधे नित्राकाद प्राका की रजिकामें " कडु " गाठ है । यह " कडु " अर्द्ध मयले " कडुका " कान्त्तकी साथ अर्द्ध है । (मंत्र १, २)

२ कानिः-ये जल पीत लय का धारण होता है । यह प्रीतिदिन कानिवाला वनसला उचित है । (मंत्र ४)

३ कान्त्तक-एक दिन छोडकर कानिवाला । (मंत्र ४)

४ उत्तपपुत्र-द्वारे दिव कानिवाला कवपादा दिव छेडकर कानिवाला । (मंत्र ४)

५ उत्तपपुत्र-पीररे दिव कानिवाला किंका रज दिन छोडकर कानिवाला कवपा निरत दिन बीचमें छोडकर कानिवाला । (मंत्र ४)

६ तवमा-बीवन दुखजन्य कानिवाला पत्र ।

७ कानिः-कानिधी जलकाद कदमके कानन शिवकी उत्पत्ता बाहर बहुत होता है । (मंत्र २)

८ शोधिः, लोका-विषमें शरीरमें काना शोधी है । (मंत्र २)

९ शकल्प-इति-अर्थ-अर्थय अर्थय अर्थय इन्हेके कानन शिविदया काली है । (मंत्र २)

१० कानिचोक-विषमें सब शरीर कमा दद करता है । (मंत्र २)

इत नामोंध विचार करनेसे इस जलके कल्पका पला कम सकता है और निषय होता है कि यह कानं पीनुज्वर किने शरीरका अत्यन्तक कहते हैं इसका ही है ।

इतके साथ जल सुधता न रहे, इतके पानकी मुनि कपुती रहे और किंकी मी कानमें इस रोगकी उत्पत्ति होने समय पीनुविषय न हो, इसी अर्थ मंत्रमें कान्त्तके काव्यत की

स्वान् योग्य और आरोग्य कारक हैं, जिससे यह रोग उत्पन्न
 ही न होगा । क्योंकि यह ज्वर जलके दलदलसे उत्पन्न होता
 है । इसीलिये "जल देवताका पुत्र" इसका एक नाम इधी
 सूक्तमें दिया है । यदि पाठक इसका योग्य विचार करेंगे तो
 उनको इससे बचनेका उपाय ज्ञात हो सकता है । आशा है कि
 वे इसका विचार करेंगे और अपने व्यापको इससे बचायेंगे ॥

नमः शुब्द ।

इस सूक्तके अंतिम मंत्रमें "नमः" शब्द तीनवार आना

है । यहाँका यह नमनवाचक शब्द घातक मनुष्यको दूर रखनेके
 लिये दिये जानेवाले नमस्कारके समान उस ज्वरसे बचनेका
 भाव सूचित करता है ऐसा हमारा ख्याल है । कौशान्ति
 "नमस्कर, नमस्कारी" शब्द औषधियोंके भी वाचक हैं ।
 यदि "नमः" शब्दसे क्लिष्ट औषधीका बोध होता हो तो वह
 खोज करना चाहिये । "नमः" शब्दके अर्थ "नमस्कार,
 अन्न, चक्र, दण्ड" इतने प्रसिद्ध हैं, "नमस्कारी, नमस्कार,
 नमस्कारी" ये शब्द औषधियोंके भी वाचक हैं । अतः इस
 विषयका अन्वेषण वैद्य लोग करें ।

सुख प्राप्ति सूक्त ।

(२६)

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवताः— इंद्रादयः)

आरे ई सात्रस्मदस्तु हेतिर्देवासो असन् । आरे अश्मा यमस्यय	॥ १ ॥
सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः सविता चित्रराधाः	॥ २ ॥
युर्य नः प्रवतो नपान्मरुतः सूर्यत्वचसः । शुभे यच्छाय सुप्रयाः	॥ ३ ॥
सुपुदत मूढत मूढया नस्तनूम्या मयस्तोकेभ्यस्फुधि	॥ ४ ॥

अर्थ—हे (देवानः) देवो! (असौ हेतिः) यह घञ (अस्मा आरे अस्तु) हमसे दूर रहे । और (यं अस्त्यय) जिससे
 दुःख फैलते हो वह (अश्मा आरे अस्तु) पथर भी हमसे दूर रहे ॥ १ ॥ (असौ रातिः) यह दानशील, (भगः)
 धनयुक्त सविता, (चित्रराधाः इन्द्रः) विविध ऐश्वर्यसे युक्त इन्द्र हमारा (सखा अस्तु) मित्र होते ॥ २ ॥ हे (प्रवतो नपाद्)
 अपने आराधन रक्षण करनेवालेको न गिरानेवालों हे (सूर्यत्वचसः मरुतः) सूर्यके समान तेजस्वी मरुत देवो! (युर्य) दुःख (नः)
 हमारे लिये (सप्रयः शुभे) विस्तृत सुख (यच्छाय) दो ॥ ३ ॥ (सुपुदत) दुःख हमें आश्रय दो, (मूढत) हमें छुडीको,
 (नः तनूम्याः मूढय) हमारे शरीरको आरोग्य दो तथा (तोकेभ्यः मयः फुधि) बालबच्चोंके लिये आनन्द करो ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे देवो! आराधन दंडरूप शत्रु आदि हमारे ऊपर प्रयुक्त होनेका अवसर न आवे, अर्थात् हमसे ऐसा कोई कार्य न हो
 कि जिसके लिये हम दण्डके मार्गो बनें ॥ १ ॥ इन्द्र सविता भग आदि देवगण हमारे सहायक हों ॥ २ ॥ मरुत देव हमारा सुख
 बढ़ावें ॥ ३ ॥ ६व देव हमें उत्तम आश्रय दें, हमारे शरीरका आरोग्य बढ़ावें, हमारे मनकी शान्ति शक्तिगत करें, हमारे बाल
 बच्चोंको सुख रहें और सब प्रकारसे हमारा आनंद बढ़ावें ॥ ४ ॥

देवोंसे मित्रता ।

इन्द्र, सविता, भग, मरुत आदि देवोंसे मित्रता करनेसे सुख
 मिलता है और उनके प्रतिशूल आचरण करनेसे दुःख प्राप्त
 होता है । इसलिये प्रथम मंत्रमें प्रार्थना है ॥ उन देवोंका दंड

हमपर न चले, और दूसरे मंत्रमें प्रार्थना है कि वे सब देव
 हमारे मित्र; हमारे उदात्तक बनकर हमारा सुख बढ़ावें, अथवा
 हमारा ऐसा आचरण बने कि वे हमारे सहायक बनें और
 विरोधी न हों । देखिये इसका लाघव क्या है—

१ सविता-सूर्यदेव है, यह स्वयं मित्रता करनेके लिये हमारे पास नहीं आता है, परन्तु सबसे उदय होनेके समयसे अपना हाथ हमारे पास भेजना है और हमसे मिलना चाहता है, परन्तु पाठक ही ख्याल करें कि हम अर्धन आपको तंग मर्यादोंमें बंद रखते हैं, और सविता देवके पवित्र हाथके पास जाते ही नहीं। सूर्य ही आरोग्य की देवता है, उसके साथ इस प्रकार विरोध करनेसे उसका ब्रह्मापात हमपर पारता है जिससे नाना रोगके दुःखोंमें गिरना आवश्यक होता है।

२ मरु-नाम वायु देवता है। यह वायुत्व भी हमारी सहायता करनेके लिये हरएक क्षणमें हमारे पाससे ही उपस्थित है, परन्तु हम चुली हवा सेवन नहीं करते हैं, परिशुद्ध वायु हमारे घाँटी और कमरोंमें भावे ऐसी व्यवस्था नहीं करते, इतना ही नहीं परन्तु वायुको बिगाड़नेके अनंत ध्यान निर्माण करते हैं। इत्यादि कारणोंसे वायु देवताका क्रोध हमपर होता है और उनका ब्रह्मापात हमें सहन करना पड़ता है। जिसने विषय भीमारिया वायुके बोधमें हर्मं सत्ता रहीं है।

इसी प्रकार अन्यान्य देवोंका संबंध जानना उचित है। इस विषयमें अथर्ववेदका शांखायक का० १ सूक्त ३, ५ देखिये, इन सूक्तोंके १-११०के अंशमें देवताओंसे हमारे संबंधका वर्णन किया है। इसलिये इन सूक्तोंके साथ उन सूक्तोंका संबंध अवश्य देखना चाहिये।

जिस प्रकार ये ब्रह्म देवताएँ हमारे मित्र बनकर रहनेसे भी हमारा स्वास्थ्य और सुख बढ सकता है, उसी प्रकार उनके प्रतिनिधि-ओ हमारे शरीरमें स्थान स्थानमें रहे हैं उनकी मित्र बनाकर रखनेसे भी हमारा स्वास्थ्य और आरोग्य रह सकता है, इस विषयमें अब थोटासा विवरण देखिये—

१ सविता सूर्य देव आकाशमें है, वहीका प्रतिनिधि अंशस्व देव हमारी आँखमें तथा नाभिरायनके सूर्यचक्रमें रहा है। अमयः इनके काम दर्शनयुक्त और पावनचारिकके साथ संबंधित है। पाठक यहाँ अनुभव करें कि ये देव यदि हमारे मित्र बनकर रहें तो ही स्वास्थ्य और आरोग्य रह सकता है। यदि दाँव किसी समय भोज्य देवे, क्यथा इसके विषयमें मोहित होकर हीन मार्गसे इस शरीरको ले चले, तो उसके प्राप्त होनेवाली शरीर का कष्टमय दशा का कल्पना पाठक ही कर सकते हैं। इसी प्रकार पेटकी पाचन शक्ति ठाँक न रहनेसे

कितने रोग उत्पन्न हो सकते हैं, इसका ज्ञान पाठकोंसे छिपा नहीं है। अर्थात् शरीरस्वामी सूर्य-प्रवृत्ताके साथ दर दिन के तथा बनकर न रहनेसे मनुष्यकी भागीगीमोटी संख्या कितनी बढ सकती है इसका पाठक ही विचार करें।

२ इसी प्रकार मरु वायुदेव शरीरमें तथा शरीरके नाना स्थानोंमें रहते हैं। यदि उनका कभी प्रकोप हो जाय तो नाना विघातोंकी उत्पत्ति हो सकती है।

इसी प्रकार इन्द्रदेव अंतःकरणके स्थानमें तथा अन्यान्य देव शरीरके अन्यान्य स्थानोंमें रहते हैं। पाठक विचार करके जान सकते हैं कि उनके "सत्ता" बनकर रहनेसे ही मनुष्य मानको स्वास्थ्य और आनंद प्राप्त हो सकता है। इनके विरोधी बननेसे दुःखदायक परिणाम नहीं होगा।

पहले मंत्रमें "देवोंके दृग्गणे दूर रहने की" और दूसरे मंत्रमें "देवोंसे मित्रता रखने की" सूचनाका इस प्रकार विचार पाठक करें और यह परम उपयोगी उपदेश अपने आचरणमें डालनेका प्रयत्न करें और परम आनंद प्राप्त करें। तीसरे मंत्रका "इसी आचरणसे विभूत सुख मिलता है," यह कथन अब सुरक्षित ही हुआ है।

चतुर्थ मंत्रमें जो कहा है कि "ये ही देव हमें सहाय देते हैं, हमें सुखी रखते हैं, हमारे शरीरका आरोग्य बढ़ाते हैं और बालबच्चोंको भी अनंतित रखते हैं," यह कथन अब पाठकोंको भी दिनके प्रथमके सनाव प्रत्यक्ष हुआ होगा। इसलिये स्वास्थ्य और सुखकी प्राप्तिके इस सच्चे मार्गका अवलंबन पाठक करें।

विंशत सूचना ।

विंशत कर पाठक इस बातका अधिक ख्याल रखें, कि देव सुख स्वास्थ्य और आनंदके प्राप्त करनेके लिये घनादि धायन नहीं करता है, प्रयुक्त "जल, वायु, सूर्य आदि के साथ संबंधित" यही साधन बता रहा है। यह हरएक कर सकता है। यदि घन किसीको मिले या न भी मिले, परंतु "जल वायु और सूर्य प्रकाश" तो हरएक को मिल सकता है। इस स्वास्थ्यके अति सुलभ साधनका पाठक अधिक विचार करें, वेदकी इस शैलीका अवश्य मनन करें और उपदेशके अनुसरण आचरण करके लाभ उठावें।

विजयी स्त्री का पराक्रम ।

(२७)

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-इन्द्राणी)

अमूः पारे पृढाकंस्त्रियुता निर्जरायवः ।

तासां जुरायुर्भिव्यमक्ष्या इवै वरिषे व्ययामस्यघायोः परिपन्थिनः

॥ १ ॥

विपुंन्पेतु क्नुतती पिनाकमिवु विप्रंती । विपुंन्पुनुरुय्या मनोऽसंमृद्धा अघायवः

॥ २ ॥

न बहवः समशकृन्नाभिका अभिदांष्टुः । वेणोरद्गा इवाऽमितोऽसंमृद्धा अघायवः

॥ ३ ॥

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान् । इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतामुपिता पुरः

॥ ४ ॥

वर्ष—(पृष्ठ पारे) वह पारमें (निर्जरायवः) विप्रींसे विन्दते हुई (वि-ससाः) तीन गुण सात (इवाकः) परिपन्थिके समान अनाक्षी । (तासां) उनकी (जुरायुभिः) कंचुलियोंसे (वरिषे) हम (अघ-आयोः परिपन्थिनः) पापी दुष्टराजकी (अहवौ) दोनों आसों (ऋषि व्ययामसि) डके देते हैं । १ ॥ (पिनाकं ह्य विप्रंती) धनुष्य धारण करनेवाली, और शत्रुको (क्नुतती) काटने वाली आरभेना (विपुन्वी पृथु) चारों ओर आगे बढ़े । जिससे (पुनुरुय्याः) फिर इकट्ठी हो हुई अनुतेनाका (मनः विपुक्) मन इधर उधर हो जावे । और उससे (अघायवः) पापी शत्रु (असंमृद्धाः) निर्धन हो जावे ॥ २ ॥ (बहवः न समशकृन्) बहुत शत्रु भी उनके सामने ठहर नहीं सकते । फिर (अर्भकाः) जो बालक हैं वे (न अभि दाष्टुः) भैरवी नहीं कर सकते । (वेणोः अद्गाः इव) बंसके अंडरोंके समान (अभितः) सब ओरसे (अघायवः) पापीलोग (असंमृद्धाः) निर्धन होवें ॥ ३ ॥ हे (पादौ) दोनों पांवों । (प्रेतं) आगे बढ़ा, (स्फुरतं) फुलती करो, (पृणतः गृहान्) घहसे संतोष देनेवाले घरोंके प्रति हमें पहुंचाओ । (अजीता) विना जीतो, (असुपिता) बिना लट्टी हुई और (प्रथमा) मुखिया बनी हुई (इन्द्राणी) महारानी (पुरः पृथु) सबके आगे बढ़े ॥ ४ ॥

भाषार्थ—कंचुलीसे बाहर आयी हुई परिपन्थिके समान चपल सेनाएं तीन गुने सात विभागोंमें विभक्त होकर दुष्टके लिये सिद्ध हैं, उनकी हलचलोंसे हम सब पापी दुष्टोंकी आसों बंद कर देते हैं ॥ १ ॥ शत्रु धारण करनेवाली और शत्रुको काटनेवाली बीरवी सेना चारों दिशाओंमें आगे बढ़े, जिससे शत्रुनेनाका मन तितर बितर हो जावे और सब पापी शत्रु निर्धन हो जावें ॥ २ ॥ ऐसी शत्रु बीरवीकी सेनाके सम्मुख बहुत शत्रु भी ठहर नहीं सकते फिर कमजोर बालक केमे ठहर सकेंगे ? वामके वामान और अशक्त अंडरके समान चारों ओरसे पापी शत्रु धनहीन होकर नाशको प्राप्त होंगे ॥ ३ ॥ विजयी अपराजित और न लट्टी गई वीर स्त्री महारानी मुखिया बनकर आगे बढ़े, इतर लोग उसके पीछे चलें, हरएक वीरके पांव आगे बढ़ें, शरीरमें फुलों चडे और सब कोण संतोष बरानेवालोंके घरोंतक पहुंच जाय ॥ ४ ॥

इन्द्राणी ।

“ इन्द्र ” शब्द राजाका वाचक है जैसा-इन्द्र (मनुष्योंका राजा) शूरोन्द्र (शूरोंका राजा), खगेन्द्र (पक्षियोंका-राजा) इत्यादि । केवल इन्द्र शब्द भी राजाका ही वाचक है, और “ इन्द्राणी ” शब्द इन्द्रकी रानी, राजाकी रानी, महारानी, रानी ” का वाचक है । यह इन्द्राणी सेनाकी प्रेरक देवी है यह

सात तीसरीय सौतेलामें कही है देखिये—

इन्द्राणी वै सेनायै देवता । ते- सं० २।१।८।१

“ इन्द्राणी सेन्यही देवता है । ” क्योंकि इसकी प्रेरणासे सैनिक अपना पराक्रम दिखाने और विजय प्राप्त करते हैं ।

वीर स्त्री ।

“ इन्द्राणी सर्वान् रानी सेनाकी मुखिया बनकर सेना-

प्रेमसादन देते हुई आगे वाले, दरएकके पांव आगे बढ़े, हाएकका मन उत्साहसे मुक्त रहे, संतोष बढ़ाने वाले सज्जनोंके परामर्श ही लीज जायें । " परंतु जो लोग संतोषवश कम परने वाले, उत्साहवा नाश करने वाले, और मन्त्री आशाका घात करनेवाले हों उनके पास कोई न जायें, क्योंकि ऐसे लोग अपने हीन भावने मनुष्योंको निरुत्साहित ही करते हैं । यह मंत्र ५ या भाव विचार करने योग्य है ।

जिस राष्ट्रमें शिवांभो ऐसी शूर और दक्ष होंगी, वह राष्ट्र सदा विजयी ही होगा इसमें क्या संदेह है ? जिस देश में शिवां सेनासे बना सज्जोंगी उस देशके पुरुष कितने शूर और कौंठे हीर होंगें । क्या ऐसी वीर शिवांको कोई देश मनवासा कादमी घमका सकता है और ऐसी शूर शिवांकी किछी स्थानपर कोई बेदखली कर सकता है । इसलिये आत्मसंमान रखनेकी इच्छा करने वालोंको लोचन है, कि वे स्वयं मर्द पने और अपनी शिवांके ही ऐसी शिक्षा दें कि वे भी शूरवीर बनकर अपने संमान की रक्षा कर सकें ।

" क्षामे षष्ठ्य पारण करती हुई, मनुष्यो काटती हुई भागे बड़े, जिसका वेग देखकर मनुष्य मन उत्साहरहित होवे और मनु नियंत्रण व्यर्था परास्त हो जावें ।" यह इतनाय मंत्रज्ञान मात्र भी बहुर्ये मंत्रके साथ देखने योग्य है । क्योंकि यह मंत्र भी वीर शीघ्र पराक्रम ही बता रहा है । यह सेना का वर्णन करता हुआ भी वीर शीघ्र वर्णन करता है । (मंत्र २)

वैश्वदेवोंको अपना कुंजलीसे निजनी हुई सर्पिणीका इस सूक्तमें दी है । स्वभावतः सर्पिणी बड़ी तेज रहती ही है और अति क्रुद्धसे मनुष्य पर हमला करती है । परंतु जिस समय वह कुंजलीसे बाहर आती है उस समय अतिवेगवती और अतिचपल रहती है क्योंकि इस समय वह नवव्रजनिंस मुक्त होती है । वीर ही ऐसी ही होती है । ही स्वभावतः चपल होती है, परंतु जिस समय कर्मवश राष्ट्रीय आपत्तिसे प्रेरित होकर, आत्मसंमान ही रक्षाके लिये कोई वीर ही अपने अंतर्द्वेष रूपी कुंजलीसे बाहर आती है, उस समय उसकी तेजस्विताका वर्णन मन्त्र करता है । वह उस समय सच्चमुच सर्पिणीकी अतिप्रति चमकती हुई, बिजलीके समान तेजस्विनी बनकर दीरघेतामणोंको प्रेरित करती है । उस समयका उत्साह वीर पुरुष ही कल्पनासे जान सकते हैं । " उसके तेजसे मनुष्य ही आसिं दो संघो बन जाती हैं " और उसके सब मनु नियंत्रण ही जाते हैं । (मंत्र १)

जहां ऐसी वीररांगनाएं समर्थ हैं उन लोगोंके सामने बड़े बड़े मनु भी उठर नहीं सकते, फिर अल्प शक्तिवाले कमजोर मनुष्योंकी बात ही क्या है ? चापके अंतुरोंके समान उनके मनु नष्टप्रष्ट ही हो जाते हैं । " (मंत्र २)

मनुष्याचक शब्द ।

इस सूक्तमें मनुष्याचक उक्त शब्द है उनका विचार यहां करना आवश्यक है—

- १ अयातु = आयु भर पाप धर्म करनेवाला ।
- २ पारिपन्थिद = घटमार, घुरे मार्गसे चलनेवाला ।

पारिपन्थि वे हैं और इनके घुरे आपराणके कारण ही वे मनुष्य करने योग्य हैं । "अशमृदा मयायवः" यह शब्द प्रथम इस सूक्तमें दोबारा आया है । " पापी समुद्विष्ट रहित होते हैं ।" यह इच्छा भाव है । पापसे कभी छुट्टि नहीं होगी । पापसे मनुष्य गिरता ही जाता है । यह भाव इसमें देखने योग्य है । जो मनुष्य पाप धर्म द्वारा धनाश्रय बनना चाहते हैं उनको यह मंत्र माय देखना योग्य है । यह मंत्र उपदेष्ट दे रहा है कि " पापी कभी सफल नहीं होगा; " यदि किसी अश्लेषके हाथपावण हुआ, तो भी वह उसका धन उसके माथका ही देणु निःसंदेह बनेगा । तत्पर्ये परिणामकी दृष्टिसे यह स्पष्ट ही समझना चाहिये कि पापी लोग अश्रय ही नासको प्राप्त होंगे ।

तीन गुणा सात ।

येनाके तीन गुणा सात विभाग हैं । रपयोषी, मजयोषी, अश्रयोषी, पदाशी, दुर्गयोषी, अलयोषी तथा कृदयोषी ये सात प्रकारके शिखर होते हैं । प्रत्येकमें अधिकांश, प्रत्यक्ष युद्धकारी, और सहायक इन तीन भेदोंसे तीन गुणा सात शैलिक होते हैं ।

निर्जरायु ।

" जरायु शब्द तिन्नी, त्रेतीका वाचक है, परन्तु मां शिवांसे प्रयुक्त है । यही उक्तका अर्थ (जरा+आयु) वृद्धावस्था अपना जीर्णता किवा यशोवृद्ध, तथा आयुष्यो (निः+जरा-आयुः) जो जीर्णता, यशोवृद्ध, वृद्धावस्था अपना आयुषी पर्याप्त करने माने होते हैं, अर्थात् जो अपने जाने मरनेकी पर्याप्त न करके लडते हैं, जो अपनी अवस्थाकी तथा सुखदुःख की पर्याप्त न करते हुए अपने यशके लिये ही लडते रहते हैं उनको "निर्जरायु" अर्थात् " जरा और आयुके विचारसे मुक्त " कहते हैं । अर्थात् वी आशा छोड़कर लडनेवाले शैलिक ।

इस सूक्तके मंत्र वीरा ही-विषयक तथा सेना विषयक अर्थ बताते हैं, इसलिये वे मंत्र विद्वेष्य मननके साथ पढ़ने योग्य हैं ।

तदा इसमें कई शब्द देव अर्पण बताने वाले भी हैं जैसा कि ऊपर बताया है। इन सब बातोंका विचार करके यदि पाठक इस सूक्तका अभ्यास करे तो उनको बहुत शोच मित्र सकता है।

वीर पुरुष उत्पन्न करने और अपना यश बढ़ानेका परम पुरुषार्थ करे।

यह सूक्त " स्वस्त्ययन गण" का है इसलिये इस गणके अभ्यसनाके साथ पाठक इसका विचार करे।

दुष्ट नाशन सूक्त ।

(२८)

(ऋषिः-चातनः । देवता-स्वस्त्ययनम् ।)

उप प्रागादिवो अग्नी रस्रोहार्मीवृषार्तनः । दहन्नर्ष द्वयाविनो यानुधानान्किमीदिनः ॥ १ ॥

प्रति दह यातुधानान्प्रति देव किमीदिनः । प्रतीर्चाः कृष्णवर्तने सं दह यातुधान्यः ॥ २ ॥

या शुष्ठाप शपनेन पापं मूर्मादधे । या रसस्य हरणाय जातमार्त्तमे होकर्मत्त सा ॥ ३ ॥

पुत्रमक्षु यातुधानीः स्वसारमुत् नप्त्यम् ।

अर्षा मियो विक्रियो इ वि प्रतां यातुधान्यो इ वि तृक्षन्तामराय्यः ॥ ४ ॥

अर्थ—(अग्नीव-चातनः) रोगोंको दूर करनेवाला और (रस्रोहा) पशुओंका नाश करनेवाला अग्निदेव (किमीदिनः) सदा भूछोंको (यातुधानान्) छत्रों को तथा (द्वयाविनः) दुमुझे करटियोंको (अर्ष दहन्) बलाता हुआ (उप प्रागात्) पास पहुंचा है ॥ १ ॥ हे अग्निदेवों (यातुधानान् प्रति दह) छत्रों को जलादे तथा (किमीदिनः प्रति) सदा भूछोंको भी जलादे । हे (कृष्णवर्तने) कृष्ण मार्गवाले अग्निदेवों (प्रतीर्चाः यातुधान्यः) अनुभव आनेवाली छत्रों त्रियोंको भी (सद्दह) ठीक जला दो ॥ २ ॥ यह दुष्ट छत्रों त्रियों (शपनेन शशाप) शापते शाप देती हैं, (या अर्षं मूर्ं मादधे) जो पाप हैं। प्रारंभसे स्वीकारती हैं, (या रसस्य हरणाय) जो रस पीनेके लिये (जातं तोकं आरत्तं) जन्मे हुए बालकको खाना आरंभ करती हैं और (सा अक्षु) वह पुत्र खाती है ॥ ३ ॥ (यातुधानीः) पापी स्त्री (पुत्रं अक्षु) पुत्र खाती है। (स्वसारं वत् नप्त्यम्) बहिन को तथा नाती को खाती है। (अर्षा) और (विक्रियोः) केश पकड़ पकड़ कर (मियोः प्रतां), भावधर्मों संगठना हैं। (मराय्यः यातुधानीः) दानभाव-रहित पातकों स्त्री (विवृक्षन्तां), आपसमें मारपीट करती हैं ॥ ४ ॥

साधारण-रोग दूर करनेमें समर्थ अर्थात् उत्तम वैद्य, आसुर भावधर्म इत्यादि बाल, अग्निदेव समान तेजस्वी, उपदेशक स्वामी छत्रों तथा कपटियोंसे दूर करता हुआ आगे चले ॥ १ ॥ हे उपदेशक ! तू छत्रों स्वार्थों दुष्टोंको नाश कर, तथा सामने आने वालों दुष्ट त्रियोंकी भी दुष्टता दूर कर दे ॥ २ ॥ इन दुष्टोंछ लक्षण यह है कि ये आपसमें गालियां देते रहते हैं, दरएक काम पाप हेतुसे करते हैं, यज्ञांतक से क्रूर होते हैं कि रक्त पीनेकी इच्छासे नये उत्पन्न बालकको ही चूमना आरंभ कर देते हैं ॥ ३ ॥ इनकी स्त्री आने पुत्रसे खाती है, बहिन तथा नातीको भी खाती है, तथा एक दूसरेके बाज पकड़कर आपसमें ही लड़ती रहती हैं ॥ ४ ॥

पूर्वापर संबंध ।

इसी प्रथम श्लोकके ७ तथा ८ वें श्लोककी व्याख्याके

प्रथममें अर्थप्रकार प्रकरणमें आग्निदेव किस प्रकार ब्राह्मण

उपदेशक ही है तथा १॥ किस प्रकार जनाता है अर्थात्

दुर्गाके उच्चारता है, इत्यादि सब विषय कतिपय ही दिना है। इसलिये इन ७ और ८ वें सूक्तके स्थापनपाठक यहाँ परिके पठें और पश्चात् यह सूक्त पठें

संस्कृतमें " वि दग्ध " (विशेष प्रकारसे जलदुग्धा) यह शब्द "अति विदग्ध" के लिये प्रयुक्त होता है। यहा अन्न-नक्ष दहन जलन आदि कर्म समझना उचित है। जिस "घार अग्नि छोड़े आदिको तयाकर शुद्ध करता है उसी प्रकार उपदेशक द्वारा प्रेरित ज्ञानगिन कर्माती मनुष्योंके अज्ञानको उखा कर शुद्ध करता है। इस कारण "श्राद्धन " के लिये वेदमें " अग्नि " शब्द आता है। श्राद्धन और क्षत्रियके वाचक वेदमें " अग्नि और इष्ट " शब्द प्रसिद्ध हैं। श्राद्धनधर्म अग्नि देवताके और क्षात्रधर्म इन्द्र देवताके सूक्तोंसे प्रकट होता है। इत्यादि बातें विस्तारसे ७ और ८ वें सूक्तकी व्याख्याके प्रसंगमें स्पष्ट कर दी हैं। यहाँ धर्म प्रचार की बात इस सूक्तमें है इसलिये पाठक उक्त पूर्व सूक्तोंके साथ इस सूक्तका संबंध देखें।

इस सूक्तमें " अग्नि-वातनः " (रोगोंका दूर करनेवाला) यह शब्द विशेषण रूपमें आया है। यह यहाँ विद्विस्ता द्वारा रोग दूर कर मरने वाले जलन वैद्यका बोध करता है। उपदेशक जैसा श्राद्धमें प्रयोग चाहिये वैसा ही। यह जलन वैद्य भी चाहिये। वैद्य होनेसे यह रोगोंका निश्चिन्ता करता हुआ धर्मका प्रचार कर सकता है। धर्म प्रचारके अन्वय शुभसूक्त ७, ८ में देखिये।

दुर्गाके लक्षण।

इस सूक्तमें दुर्गाके पूर्वकी अपेक्षा कुछ अधिक महान कहें हैं जो सूक्त ७, ८ में कहे लक्षणोंकी पूर्ति कर रहे हैं; इस लिये उनका विचार यहा करने हैं-

१ दूपागिन- मनमें एक भाव और बाहर एक भाव ऐसा कथन करनेवाले। (मं ७१) "किन्नादिन्, यागुधातु" इन शब्दोंका भाव सूक्त ७, ८ की व्याख्याके प्रसंगमें बताया ही है। ॥॥ सूक्तमें दुर्गाके कई व्यवहार बताये हैं, वेनी यहाँ देखिये-

२ धारणन शदाप- धारण श्रा देना, सुरे शब्द बोलना, गालिमा देना इ०। मं ३

३ अथं मूरं आदधे- आरंभमें पापका भाव दखता है। हरएक काममें पाप रक्षामें ही उपका आरंभ करना।

४ रसस्य हरणाय जावं शोकं आरेये- रक्त पीनेके उभय नवयात कहेको खाती है।

५ यत्पुषानी पुत्रं स्वसां नस्यं अथि- यह दुष्ट आहुती की रचना, मदिन जयवा नायी को खाती है।

६ विक्रयः नियः विप्रतां, विगृह्णन्तां- आपछने के पकर कर परस्पर मार पीट करती है।

ये छव दुर्जन क्षीणुरापके लक्षण हैं। आठरखेके कलेवरके लोग इस समय अज्ञानमें कई स्थानोंपर हैं, परंतु अन्य देवोंमें जब ये नहीं हैं। जहाँ कहीं ये हों, वहाँ धर्मोपदेशक बला शत्रु और उनको उपदेश देकर उत्तम मनुष्य बना देंगे, ज्ञानी बनाने, उनही दुष्टता दूर करके उनको उत्तम बना देंगे।

ऐसे मनुष्य-मनुष्य दुष्ट, क्रूर, हिंसक, मनुष्यों में भी बाहर धर्मोपदेश देकर उनको सुभानेका धान फलका उपदेश होनेसे इससे कुछ सुखरे हुए विविध कारागी धेनीके मनुष्योंमें धर्म जागृति करनेका आशय स्वयंही स्पष्ट हो जाता है।

दुर्गाका सुधार।

दुष्ट लोगोंने दुष्टता होनेके कारण ही ये अशुभ्य समझे जाते हैं। उनको दुष्टता उपदेश आदि द्वारा हटाकर उनको शुभ्य बनाना श्राद्धनाम है और उनको दंड देकर क्षत्रिये उनका सुधार करनेका बल करना क्षात्र मार्ग है। वेदमें अनिदेवता से श्राद्धनाम और इन्द्र देवतासे क्षात्र मार्ग बताया है। जलते या लगने ली दोनों ही हैं, परंतु एक उपदेशद्वारा उनके अज्ञानको जलाता है और दुष्टता छूट दण्ड और इच्छाप्रकार के कठोर उपदेशोंसे पीटा देकर उनको सुधारता है।

सुधार लो होनेमें रोगा है, परंतु क्षत्रियके दंडद्वारा लगने के उपदेशके श्राद्धनामके ज्ञानादिद्वारा लगनेका ज्ञान अधिक लगन है और इसमें बह भी कम है।

पाठक अग्नि शब्दसे आपका प्रहम करते उलझे दुर्गाके उल्लेख भाव इस सूक्तसे न निश्चले, क्योंकि इस सूक्तका संबंध आगेकीउठे अनेक सूक्तोंसे है और अग्निके गुणोंके प्रमाण देकर ज्ञानी उपदेशक ही अग्निशब्दसे ऐसे सूक्तोंमें अग्निः है यह सूक्त ७, ८ के प्रसंगमें स्पष्ट बताया ही है। इसके अतिरिक्त "रिग दूर करनेवाला अग्नि" इस सूक्तमें कहा है यदि यह उन लोगोंके जलती देवे लो उचके रोगमुक्त, करनेके गुणमें क्या टाल हो सकता है। इसलिये यह अग्निशब्द अज्ञान "हानानिसे अज्ञानदाह जलाना" ही है। इन्हें गुणधर्मोंके इष्टान और वहाँ अष्ट गुण धर्म स्थापित करना ही बड़ा कर्तव्य है और इसलिये रोगमुक्त करनेवाला उत्तम

बेवसी धर्मोपदेशका कार्य करे, यह सूचना इस सक्तमें हमें मिलती है। क्योंकि रोगीके मनपर वैद्यके उपदेशका जैसा असर होता है वैसा वक्ताके व्याख्यानसे श्रोताओंपर नहीं होता। रोगीका मन आतुर होता है इसलिये श्रवण यों हुई ज्ञान बात उसके मनमें जम जाती है और इस कारण वह शान्त ही सुधर जाता है ॥

‘शान्ते’ ऐसा होता है परंतु “शशाप आदये” इन क्रियाओंके अनुसंधानसे “अनु” के स्थानपर “अभि” मानना युक्त है। क्योंकि यहाँ याजुधानीकी रीति बत ई है जैसे (शशाप) शाप देते रहते हैं, (अधे आदये) पाप स्वीकारते रहते हैं, (तांके अभि) बच्चेको खाते रहते हैं अर्थात् यह उनकी रीति है। पूर्वोपर संबंधसे यह अर्थ यहाँ अर्थः६ है ऐसा हमें प्रतीत होता है। तथापि पाठक अधिक योशय और कोई अन्य बात इस सूक्तमें देखेंगे, तो अर्थकी खोज होनेमें अवश्य सहायता होगी।

[यह श्रुतीय और पदार्थ मंत्रमें “अनु” शब्द है जिसका अर्थ

इति पंचम अनुवाक समाप्त ।

राष्ट्र-संवर्धन-सूक्त ।

(२९)

(ऋषिः-वसिष्ठः । देवता-अभीवर्तो मणिः)

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे । तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्षय ॥ १ ॥
 अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरांतयः । अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्पति ॥ २ ॥
 अभि त्वा देवः संविताभि सोमो अवीवृधत् । अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवृतां यथासंसि ॥ ६ ॥
 अभीवृतां अभिमवः सपत्नक्षयणो मणिः । राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराश्रुवे ॥ ४ ॥
 उदसौ सूर्यो अगाद्दुदितं मामकं वचः । यथाहं शत्रुहोऽस्तान्यसपत्नः सपत्नहा ॥ ५ ॥
 सपत्नक्षयणो वृषामिराष्ट्रो विपासहिः । यथाहमेपां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥ ६ ॥

अर्थ-है (ब्रह्मणस्पते) शानी पुरुष ! (येन इन्द्रः अभिवावृधे) तिससे इन्द्रका मित्रय हुआ था, (तेन अभिवर्तेन मणिना) उस विषय करनेवाले मणिसे (अस्मान्) हमको (राष्ट्राय अभिवर्षय) राष्ट्रके लिये बड़ा दो ॥ १ ॥ (याः नः अरांतयः) जो हमारे शत्रु हैं उनको तथा अन्य (सपत्नान्) बैरियोंकी (अभिवृत्य) पराभूत करके, (यः नः दुरस्पति) जो हमसे दुष्टताका आचरण करता है तथा जो (पृतन्यन्तं) सेनासे हमपर चढाई करता है उससे (अभि अभि तिष्ठ) युद्ध करनेके लिये स्थिर हो जाओ ॥ २ ॥ (संविता देवः) सूर्य देवने तथा (सोमः) चंद्रमा देवने भी (त्वा) तुमसे (अभि-अभीवृधत्) सब प्रकारसे बढ़ाया है । (विश्वा भूतानि) सब भूत (त्वा अभि) तुमसे बड़ा रहे हैं, तिससे तू (अभिवर्तः अस-सि) शत्रुको दगानेवाला हुआ है ॥ ३ ॥ (अभिवर्तः) शत्रुको धरनेवाला, (अभिमवः) शत्रुका पराभव करनेवाला, (सपत्नक्षयणः) प्रतिपक्षिणेंद्र नाश करनेवाला यह (मणिः) मणि है । यह (सपत्नेभ्यः पराश्रुवे) प्रतिपक्षियोंका पराभव करनेके लिये तथा (राष्ट्राय) राष्ट्रके अभ्युत्थयके लिये [मह्यं बध्यतां] सुखपर बांधा जावे ॥ ४ ॥ (असौ सूर्यः उदगात्) यह सूर्य उदयको प्राप्त हुआ है, (इहं मामकं वचः उदत्) यह मेरा वचन भी प्रकट हुआ है, (यथा) तिससे (अहं शत्रुहः) शत्रुका नाश करनेवाला, (सपत्नहा) प्रतिपक्षिक्र घात करनेवाला होकर मैं (असपत्नः असानि) शत्रुरहित होऊँ ॥ ५ ॥

(तथा) विषये (एवं) मैं (सत्य-धर्मः) प्रतिनिधायक नाम कविना, (वृषा) बन्धान् और (विनाशिनः) विनाशो होकर (समिपः) राष्ट्रके अनुकूल बनकर तथा राष्ट्रकी सहायता प्राप्त करके (पूर्वां वीर्याणां) इन वीरोंका जनन्य च) और सब लोगोंका (नि राजानि) विषय प्रकाशे रंजन करने वाली राजा होऊँ ॥ २ ॥

मानस-हे राष्ट्रके राजा पुरोहि ! त्रिषय रामचिह्न रूपी मणियों धारण करके इन्द्र विजयी हुआ था, उसी विजयी मणियों इन राष्ट्रके दिनेके लिये बनाये ॥ १ ॥ जो अत्रारार शत्रु हैं और जो प्रतिपक्षी हैं उनको परास्त करनेके लिये; तथा जो हमने पुरा स्मरण करते हैं और जो हमपर सेना मंत्रकर चढाई करते हैं उनको लोक करनेके लिये अपनी सेनाओं करके जागे रहो ॥२॥ सूर्य चन्द्र आदि देव तथा सब भूतमान इससे सहायता देकर बदा रहे हैं, त्रिषय तू सब यज्ञभोगी दानेवाला बन गया है। ॥ ३ ॥ पशुको घेरनेवाला, वीरोंका पराभव करनेवाला, शत्रुसमूहोंके दूर करनेवाला यह रामचिह्न रूपी मणि है । इच्छिते, प्रतिपक्षियोंका पराभव करनेके लिये और अपने राष्ट्रका अभ्युदय करनेके लिये सुस्मर यह मणि बांध लीजिये ॥ ४ ॥ वैशाख सूर्य उदय हुआ है, वैशाख मह मंत्र धवन भी प्रवृत्त हुआ है, अब प्रथम ऐसा करो कि त्रिषय मैं राष्ट्रका भाग करनेवाला, प्रतिपक्षियोंके दूर करनेवाला होकर शत्रु रहित हो जाऊँ ॥ ५ ॥ मैं प्रतिनिधायक नाम करके बलवान बनकर, विजयी होकर अपने राष्ट्रके अनुकूल कार्य करता हुआ अपने वीरोंका और अपने राष्ट्रके सब लोगोंका हित धारण करूँगा ॥ ६ ॥

अनुसन्धान

यह सूक्त राज प्रकरणके हे इत्यनेके इच्छा करनेके धनदायक गणके सब सूक्तोंके साथ इसका विचार करना योग्य है । तथा भाग आनेवाले राज प्रकरणके सूक्तोंके साथ भी इसका संबंध देखने योग्य है । इससे पूर्व उदाहरित गणके सूक्त २, १५, २०, २१ से भागे हैं, इसके अतिरिक्त अमर गण, सामाजिक गणके सूक्तोंके साथ भी इन सूक्तोंका विचार करना चाहिये ।

अभिप्रेत मणि ।

जिस प्रकार राजाके चिह्न रामचंद्र, छत्र, जामा आदि इन्हीं हैं वही प्रकार 'अभारत मणि' भी एक रामचन्द्र है । इसके धारण करनेके समय यह सूक्त बोला जाता है ।

देवीका राजा इन्द्र है, उसका पुरोहित वृहस्पति महादेवत्वति है । यह पुरोहित इन्द्रके शरीरपर यह अभारत मणि बांधता है । अर्थात् राम पुरोहित दो राजाके शरीरपर यह रामचिह्न रूपी मणि बांध देवे । वहाँ संबंध देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह सूक्त संवाद रूप है । यह संवाद इस प्रकार है ।
तोहे—

इस सूक्तका संवाद ।

राजा-हे पुरोहित श्री ! जो अभारत मणि इन्द्रके शरीरपर देव युक्त वृहस्पतिने बांध दिया था और त्रिषय इन्द्र दिग्विजयी हुआ था, वह रामचिह्नरूपी मणि मेरे शरीरपर धारण धारण करावने, त्रिषय मैं राष्ट्रका कर्षण करनेमें समर्थ हो जाऊँ ॥ १ ॥
पुरोहित- हे राजन् । जो अनुदार शत्रु हैं और जो प्रतिपक्षी

हैं तथा जो हमारे राष्ट्रके साथ पुरा स्मरण करते हैं और हमारा सैन्यके चरण करते हैं वहीको परास्त करनेकी तैयारी करो ॥ २ ॥ सूर्य, चंद्र तथा सब भूत दुन्दुभी सहायता कर रहे हैं त्रिषय तू शत्रुको दण्ड करवा दे ॥ ३ ॥

राज-पुरोहित श्री ! यह रामचन्द्र रूपी मणि शत्रुको घेरने, वीरोंका पराभव करने और प्रतिपक्षियोंके दानेका सामर्थ्यकरनेवाला है । इच्छिते कितोविधायक पराभव और अपने राष्ट्रका अभ्युदय करनेके लिये सुस्मर समर्थ बनानेके लिये सुकृत यह मणि बांध लीजिये ॥ ४ ॥ वैशाख सूर्य उदयके प्रातः होना है वैशाखी मेरुके पश्चिम प्रकाश होता है, इच्छिते भाग देण कर कि त्रिषय मैं शत्रुका नाश कर लूँ ॥ ५ ॥ मैं बलवान बनकर प्रतिपक्षियोंके दूर करूँगा और विजयी होकर अपने राष्ट्रके अनुकूल कार्य करता हुआ अपने वीरोंका और राष्ट्रके हित करूँगा ॥ ६ ॥

पाठक यह ध्यान विचारिये बहुत ही उनके ध्यानमें इस सूक्तका धारण योग्यतासे कावरेण । राजा रामचन्द्र बाल जाता है, उस समय पुरोहित राजसे प्रसादितको कुछ बातें करनेके लिये करते हैं और राजा भी उदाहित करनेके लिये उच्च ध्यान करता है । पुरोहित साम्राज्यिक और राज ध्यान योग्यता प्रतिनिधाय है । राष्ट्रकी साम्राज्यिक पुरोहित मुखसे राजकीयधर उद्देश्य राजाको करती है, राजकीय राजाकी रचना का वह रचना राष्ट्रकी साम्राज्यिक कार्य कराने चाहिये । अर्थात् साम्राज्यिक धारण साम्राज्यिक रूपसे चाहिये । यह बात वहाँ प्रथमिये होती है । वही धारण

शौची हुइत न रहे, पांशु या शक्तीशैलीके साधन कार्य करे । राष्ट्रही (Civil and military) मात्र तथा क्षत्र शक्ति एक दूसरेके साथ कैसा बर्ताव करे, यह इस सूक्तमें स्पष्ट हुआ है । वाक्प्राणिक द्वारा संनत हुआ राजा है । रावणशीर कायकदा है अन्य नहीं ।

राजाके गुण ।

इस सूक्तमें राजाके गुण बताये हैं, वे निम्न शब्दोंद्वारा पठक देख सकते हैं—

१ अत्मान् राष्ट्रान् अस्मिन्वर्षन्ध्वनारी रात्रि राष्ट्रधी उच्यति के लिये बड़े अर्थात् राजाके अंदर जो शक्ति बढती है यह राष्ट्रही उच्यतिके लिये ही अर्थात्कमें समे, वही मात्र राजाके अंदर रहे । अन्नी वही हुई तन मन धन आदि सब शक्ति अपने मोयके लिये नहीं है प्रत्युत राष्ट्रही मलाईके लिये ही है यह विषय राजाका नियम होगा वही सदा राजा कहा जासकता है ॥ (मंत्र १ ४)

२ राष्ट्रान् मरुं बभूवती सजलेभ्यः पामुवन्=राष्ट्रही उच्यति और वैरिभ्योका पराजय करनेके लिये राजविग्रह रूप मगि नेरे (राजाके) शरीरपर बांधा जने । मगि आदि रथ तथा अन्य राजविह्र जो राजा चरण पर करवा दे वह अन्नी शोभा बढाने के लिये नहीं है, प्रत्युत वे केवल ही ही उद्वेग के लिये हैं, (१) राष्ट्रही उच्यति हो, और (२) अन्नाके शत्रु हुए श्विये बांध । एगके अंदर यह शक्ति उत्पन्न करनेके लिये ही उच्यत राजविग्रह बढाये जाते हैं । (मंत्र ४)

३ अश्विराष्ट्रः—(अग्निः राष्ट्रं यत्न) जिसके अर्थात् और राष्ट्र है, ऐसा राजा हो । अर्थात् राजा अपने राष्ट्रमें रहे, राष्ट्रके साथ रहे, राष्ट्रका बनकर रहे । राजाका हित राष्ट्रहित ही हो, और राष्ट्रका हित राजहित ही, अर्थात् दोनोंके हित संबंधमें फरक न रहे । राजाके लिये राष्ट्र अनुकूल रहे और राष्ट्रके लिये राजा अनुकूल हो । राष्ट्रहितका उच्च ध्येय अपने अपने रम्येवाते राजाका शेष इस शब्दके होता है । जिस राजाके लिये अपनी जन देनेके लिये राष्ट्र तैयार होता है उस राजाका यह नाम है । यह शब्द आदर्श राजाका वाक्य है । (मंत्र ६)

४ शत्रुहृ-शत्रुका नाश करने वाला । (मं० ५)

५ अस्तनः—अंदरके प्रतिपक्षों या विरोधों विघ्नको न हो । (मं० ५)

६ सजल-या—प्रतिपक्षोंका नाश करनेवाला, अर्थात् प्रतिपक्षियोंका पराजय करने वाला । (मंत्र ५) "सजल-स्रवणः"

यह शब्दभी इसी अर्थमें (मं० ६ में) आया है ।

७ वृषा- बलवान् । सज प्रकारके बर्तोंसे युक्त राजा शोभा चाहिये, अन्वया यह परास्त होगा । (मं० ६)

८ विषाणदिः—शत्रुके हनने होनेपर उनको सदन करके अपने स्थानसे पीछे न हटने वाला । (मं० ६)

९ वीरान्म अमत्य च विराजानि-राष्ट्रके शूरवीर तथा राष्ट्रही संतुर्ग जनता इन सबको संयुक्त करनेवाला । (मं० ६)

१० प्रतिपक्षियोंको दबाना, वैरियोंको नाश करना, सेनाके साथ चढाई करनेवालेका प्रतिचार करना और जो युद्ध व्यवहार करता है उसको ठीक करना आदि राजाके कर्तव्य (मंत्र ०२) में कहे हैं ।

ये दश कर्तव्य राजाके इस सूक्तमें कहे हैं वे सब मनन करने योग्य हैं । ये सब कर्तव्य वही भंग करता रहे हैं कि राजा अपने मोयके लिये राजगुपीवर नहीं आता है, प्रत्युत राष्ट्रका हित करनेके लिये ही आता है । यदि राजालोग इस सूक्त का अधिक मनन करके अपने लिये योग्य शेष लेंगे तो बहुत ही उत्पन्न होगा ।

राजविह्र ।

घन, वामर, राजदग्ध, मगि, रत्न, रत्नमाला, सुडड, विशेष रूपकेले, राजसमाका लठ, हाथी, घोड़े आदि सब जो राजविह्र रूपमें समझे जाते हैं, इन विह्रोंके धारण करनेमें जनतापर कुछ विशेष प्रभाव पड़ता है और उस प्रभावके कारण राजाके इंद्र पिदं शक्ति केन्द्रामूल हो जाती है । यद्यपि इस प्रत्येक विह्रमें कोई विशेष शक्ति नहीं होती, तथापि राजविह्र धारण करनेवाले का धारण सिनाईमें भी अल्प सामान्य जनोंकी अपेक्षा कुछ विशेष शक्ति होनेका अनुभव हरएक करता है : इसी प्रकार उस विह्रोंके कारण अन्तर्ग राज शासनका एक विशेष प्रभाव जनतापर पड़ता है जिस कारण राजा शक्तियोंका केन्द्र बनता है । जिस समय अपने विह्रोंमें और संतुर्ग ठाठसे राजा जाता है उस समय उसका बढानारी प्रभाव सामान्यजनता पर पड़ता है, इसी कारण राजाके शक्ति इतनी होती है । इस सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें " यद् मगि ही शत्रुनाश करने वाला, प्रभाव बढानेवाला, राष्ट्रहित साधन करनेवाला है " इत्यादि कहा है, उसका अर्थ उक्त प्रकार ही समझना योग्य है । विपक्षोंकी शक्ति उसके विह्रोंसे ही उसमें आती है और यह शक्ति वास्तविक नहीं प्रत्युत एक विशेष माननामे ही उत्पन्न होती है । संतुर्ग राजविह्रों की शक्ति इसी प्रकार माननात्मक है । अस्तु, अब शत्रुके लक्षण देखिये—

शत्रुके लक्षण ।

इस सूक्तमें निम्नलिखित प्रकारमें शत्रुके लक्षणोंका वर्णन किया है—

१ यः दुरत्ययि = जो दुष्ट भवनाश करता है । (मं- २)

२ सपत्नः = मित्र पक्षवा मनुष्य । राष्ट्रमें जिनमें पक्ष होगा, उतने पक्षवाले आपसमें सपत्न होंगे । सपत्न पक्ष (Party Politics) पक्ष भेदका राजकारण बता रहा है ।

३ अरातिः = अनुशास, जो मनमें श्रेयभाव नहीं रखता ।

४ पृतन्यन् = वैश्वसे चढाई करनेवाला ।

इन शब्दोंके विचारसे शत्रुका पता लग सकता है । इनमें कई अंदरके शत्रु हैं और कई बाहरके हैं ।

सचकी सहायता ।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि " सूर्य चंद्र और सब भूतमात्र जिस राजाके सहायक होते हैं वह शत्रुको पराजित करता है । " (मं० ३) इसमें सूर्य चंद्र आदि शब्द मात्र सृष्टिची सहायता बता रहे हैं, (Nature's help) जिसमेंही सहायता राजाकी शक्तिका एक महत्त्वपूर्ण भाग है । राष्ट्रकी रचना ही ऐसा ही कि जहाँ शत्रुका प्रवेश अनुमततासे नु हो सके । यह एक शक्ति ही है ।

दूसरी शक्ति (विद्या भूतात्मि) सब भूत मात्रसे प्राप्त होती है । अथवा भूतोंसे शक्ति प्राप्त करनेकी भी बात इसमें सुगमतासे कहा हो सकती है । " भूत " शब्दका दूना प्रसिद्ध अर्थ " प्राणी, मनुष्य " ऐसा होता है । जिस राजाको राष्ट्रके सब प्राणी और सब मनुष्य सहायक हों, उसका शक्ति विशेष होगी ही, इसमें क्या संदेह है ! यही सब अन्तर्धी शक्ति इच्छासे प्राप्त होनेवाली शक्ति है जो राजाको अपने पास रखनी चाहिये क्योंकि इसीपर राजाका चिरस्थायित्व अवलंबित है ॥

वैदिक राजप्रक्रमके विषयमें इस सूक्तमें बड़ा अच्छा उपदेश है । यदि पाठक अधिक मनन करे तो उसकी राजप्रकरणके बहुत उपाय निर्देश इस सूक्तमें मिल सकते हैं ।

केवल राष्ट्रके लिये ।

इस सूक्तके अंदर कई गमन्य निर्देश भी हैं जिनका यहाँ विचार करना आवश्यक है । इससे पाठकोंको इस बातका भी पता लग जायगा कि वेदके विशेष उपदेशोंमें भी सामान्य निर्देश कैसे प्राप्त होते हैं । दोसरे प्रथम मंत्रमें कहा है—

अस्मान् राष्ट्राय अभिवर्धय । (मंत्र १)

इसका अर्थ— " हमें राष्ट्रके लिये बढ़ाओ " अर्थात् हमारी उन्नति इसलिये करो कि हम राष्ट्रहित प्राप्त करनेके योग्य

बनें । हमारा शरीर सुदृढ़ हो, हमारी धारु दीर्घ हो, हमारी इन्द्रिय अधिक कार्य सम करने, हमारा मन मननशक्तिसे युक्त हो, हमारी बुद्धी ज्ञानसे परिपूर्ण हो, हममें आभिक बल बढ़े, तथा हमारी नैतिक, सामाजिक तथा अन्तर्गत शक्तियाँ बढ़ें । ये सब शक्तियाँ इसलिये बढ़ें कि इनसे योगसे हमारा राष्ट्र अमर-व्यसे युक्त हो । इन शक्तियोंकी शक्ति इसलिये नहीं करनी है कि इनसे केवल व्यक्तिना ही सुख भेद, केवल एक वर्गीके हाथमें अधिकार रहे, या किसी एक कुलके पास परम अधिकार हो जाय, परंतु ये शक्तियाँ इसलिये बढ़ानी चाहिये कि इनके योगसे राष्ट्री प्रगति हो, राष्ट्री उन्नता हो ।

सामान्य अर्थ देखनेके समय इस प्रथम मंत्रका " अस्मान् " शब्द बड़ा महत्त्व रखता है । इसका अर्थ होता है " हम सबको " । अर्थात् हम सबको मिलकर राष्ट्र हितके लिये शक्तिगत करो । इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि किसी एककी ही उन्नति या किसी एककी शक्तिका विकास ही यहाँ अपेक्षित नहीं है, परंतु सबकी शक्तिका विकास यहाँ अपेक्षित है । राष्ट्रीय उन्नतिके लिये जो प्रजाजनकी शक्तिका विकास करना है वह हर एक प्रजाजनका, किसी प्रकार भी पक्षपात न करते हुए, करना चाहिये । अर्थात् आतिथिगिष्ठ या संघविशिष्ट पक्षपातके लिये यहाँ कोई स्थान रहना नहीं चाहिये ।

जो मैं करता हूँ वह राष्ट्रके लिये समर्पित हो यही मात्र हर एकके मनमें रहना चाहिये ।

राष्ट्राय मयां बध्यतां ।

सपत्न्यः परामुवे ॥ (मं० ४)

" मुझे राष्ट्रके लिये बांध दे ताकि मैं राष्ट्रके शत्रुओंका पराभव कर सकूँ । " यह भाव मनमें धारण करना चाहिये । मैं राष्ट्रके साथ बांधा जाऊँ, मेरा अपने राष्ट्रके साथ ऐसा संबंध जुड़ जाय कि वह कभी न टूटे, राष्ट्रका हित और मेरा हित एक बने, मैं राष्ट्रके लिये ही जागृत रहूँ, इत्यादि प्रकारके भाव उक्त मंत्रमें हैं । जो जिन्के साथ बांधा जाता है वह उसीके साथ रहता है । यदि साक्षात्प्रमाणसे मनुष्य राष्ट्रके साथ एक बार अच्छी प्रकार कसकर बांधा जाय तो वह बहलसे नहीं हटता । इसी प्रकार मनुष्य अपने राष्ट्रके साथ बांधे जाय और ऐसा परस्पर संबंध जुटनेके कारण राष्ट्रमें अपूर्व संघ शक्ति उत्पन्न हो यह बात वेदकी अभीष्ट है ।

हा एक मनुष्य 'अभिराष्ट्र' (मं ६) बने अर्थात् राष्ट्रहित करनेका ध्येय अपने समुच्च रखे । वह मनुष्य कहीं भी जाय, कुछ भी कार्य करे, उसके समुच्च अपने राष्ट्रके अन्वेषण विचार

जायत रहे। इस प्रकार जिसके मनके सामने राष्ट्रका विचार घटा जायत रहता है, उसीको वेद 'भामिराष्ट्र' कहता है (अभितः राष्ट्रं) अपने चारों ओर अपना राष्ट्र है ऐसा माननेवाला हरएक अवस्थामें अपने संमुख अपने राष्ट्रको देखनेवाला जो होता है उसका यह नाम है।

'राष्ट्र' का अर्थ

राष्ट्र शब्द केवल देश अथवा केवल जनताका प्राचक शब्दमें नहीं है। केवल भूमिके एक विभागपर रहनेवाले मनुष्यसमाजका बोध 'राष्ट्र' शब्दसे वेदमें नहीं होता है। इस प्रकारके राष्ट्र भूमिपर बहुत होंगे, परंतु वेद जिसको राष्ट्र कहता है, वैसे राष्ट्र किनने होंगे इसका विचार पाठकोंको अवश्य करना चाहिये वेदमें 'राष्ट्र' शब्द (राजते च राष्ट्रं) जो चमकना है, वह राष्ट्र है' इस अर्थका बोधक है। जो मनुष्योंका समुदाय भूमंडल पर अपने क्रमसे यत्से चमकता है और सब अन्य लोगोंको

आंख अन्नी ओर खींच सकता है वही वैदिक दृष्टिसे राष्ट्र है। अन्य मानवी समुदाय राष्ट्र नहीं हैं। इस प्रकारके राष्ट्र विस्तारसे छोटा हो या बड़ा हो, वह राष्ट्र ही कहलायेगा। परंतु जो निस्तारसे अति प्रचंड हो, परंतु यशकी दृष्टिमें जिसमें चमकाहट न हो तो वह राष्ट्र नहीं होगा। वैदिक धर्मियोंको अपने परिमधसे अपने राष्ट्रमें इस प्रकारका तेज उत्पन्न करना चाहिये और बढाना चाहिये, सभी उनके देशका नाम वैदिक रीतिसे राष्ट्र होगा। वेदमें राष्ट्रवर्धन विषयक अनेक सूक्त हैं और उनका परस्पर निकट संबंध भी है। पाठक जिस समय इन सूक्तोंका विचार करने लगे उस समय आगे पीछेके राष्ट्रीय सूक्तोंका संबंध अवश्य देखें और सब उपदेशका इकट्ठा मनन करें।

पाठक इस प्रकार मंत्रोंके सामान्य उपदेशोंसे अधिक मनन करके बोध उठावे। वेदमें राष्ट्रवर्धनके उपदेश किस प्रकार स्पष्ट रूपमें हैं यह इस रीतिसे पठक देख सकते हैं।



आयुष्य-वर्धन-सूक्त ।

(३०)

(ऋषिः— अथर्वा आयुष्यकामः । देवता विश्वे देवाः)

विश्वे देवा वसन्वा रक्षतेममृतादित्या जागृत युयमुस्मिन् ।

मेमं सनाभिरुत वान्यानाभिमेमं प्रापत् पौरुषेयो वधो यः

॥ १ ॥

ये वाँ देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतमेा भे शृणुतेदमुक्तम् ।

सर्वेभ्यो वः परिं ददाम्येतं स्वस्त्वैनं जुरसे वहाय

॥ २ ॥

ये देवा दिवि षु ये पृथिव्यां ये अन्तर्क्षि ओपंधीषु पशुष्वप्स्वपुन्तः ।

ते कृणुत जरसमायुरस्मै श्रुतमन्यान्परिं वृणक्तु मृत्युन्

॥ ३ ॥

येषां प्रयाजा उत वानुयाजा हुतमांगा अहुतादंश्च देवाः ।

येषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान्वाँ अस्मै संजसदः कुणोमि

॥ ४ ॥

वर्ष-हे (विश्वे देवाः) सब देवो ! हे (वसवः) वसुदेवो ! (इमं रक्षत) इसकी रक्षा करो । (उत) और हे (आदित्याः) आदित्य देवो ! (यूयं आस्मिन् जागृत) तुम इसमें जागते रहो । (इमं) इस पुरुषको (सनाभिः) अपने बंधु (उत वा-) अन्य-नाभिः) अपवा किंधी दूखरेको (वधः मा प्रापत्) वधकारक शत्रु न प्राप्त करे, न प्रहार करे तथा (यः पौरुषेयः वधः

जो पुरुष प्रयत्नसे होनेवाला घातघात है वह भी (हुनं मा प्रापत्) इसको प्राप्त न करे ॥ १ ॥ हे(देवाः) देवो (ये वः पितरः) जो आपके पिता हैं तथा (च ये पुत्राः) जो पुत्र हैं वे सब (स-चेतसः) सावधान होकर (मे इदं उक्तं श्रुतुम्) मेरा यह कथन श्रवण करें (सर्वेभ्यो वः एतं परिदृशामि) सब आपकी निगरानांमें इसको मैं देता हूँ (एनं जस्मै स्तूलि वहाय) इसको वृद्ध आयुक्त मुखपूर्वक पहुंचा दो ॥ २ ॥ (ये देवाः दिवि स्य) जो देव पुलोकमें हैं, (ये पृथिव्यां, ये अन्तरीक्षे) जो पृथ्वीमें और अंतरिक्षमें हैं और जो (धोषधीयु पशुयु अप्यु नन्तः) औषधिये, पशु और जंतोंके अंदर हैं (ते अस्मै जस्य-मायुः कृणुवन्) वे इसके लिये वृद्धावस्थावाली दीर्घ आयु करें। यह पुरुष (एतं अन्त्यान् श्रुत्यून् परिदृशन्तु) संकड़ों अन्य अपमृत्युकी हटा देवे ॥ ३ ॥ (येषां) जिन तुम्हारे अंदर (प्रयाजाः) विशेष यजन, करनेवाले, (उष वा मनुयासाः) अथवा अनुकूल यजन करनेवाले तथा (हुत-मागाः अहुतादः च देवाः) हवनमें माग रखनेवाले और हवन किया हुआ न खानेवाले जो देव हैं, (येषां वः एव प्रदिशः विमन्ताः) जिन आपकी ही पांच दिशाएं विभक्त की गई हैं, (चाद् वः) उन हमको (अस्मै) इस पुरुषकी दीर्घ आयुके लिये (सन्न-सद्गः कृणोमि) सदस्य करता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे सब देवो, हे वसुदेवो ! मनुष्यकी रक्षा करो। हे आदित्य देवो ! तुम मनुष्यमें जाग्रत रहो। मनुष्यका उपायके शंभुसे अथवा कोई अन्य मनुष्यसे अथवा कोई पुरुषसे वचन न हो ॥ १ ॥ हे देवो ! जो तुम्हारे पिता हैं और जो तुम्हारे पुत्र हैं वे सब मेरा कथन सुनो। मनुष्यको पूर्ण दीर्घ आयुक्त स्ते जाना तुम्हारे आधीन है, अतः मनुष्यकी दीर्घ आयु करो ॥ २ ॥ जो देव पुलोक, अंतरिक्षलोक, भूलोक, औषध, पशु, जल आदिमें हैं वे सब मिलकर मनुष्यकी दीर्घ आयु करें। तुम्हारी सहायतासे मनुष्य संकड़ों अपमृत्युसे बचें ॥ ३ ॥ विशेष यजन करनेवाले, अनुकूल यजन करनेवाले, हवनका भाग देनेवाले तथा हवन किया हुआ न खानेवाले जो देव हैं और जिन्होंने पांच दिशाएं विभक्त की हैं, वे सब आप देव मनुष्यकी आयुपूर्वक समाके सदस्य बनो और मनुष्यकी आयु दीर्घ बनानेमें सहायता करें ॥ ४ ॥

आयुका संघर्षन ।

मनुष्यका आयुष्य न केवल पूर्ण होना चाहिये प्रत्युत अति-दीर्घ होना चाहिये। पूर्ण आयुष्यकी मर्यादा तो १२० वर्षोंकी है इससे कम १०८ वर्षोंकी और इससे कम १०० वर्षोंकी है। छौं वर्षोंकी मर्यादा तो हरएकको प्राप्त होनी ही चाहिये, परंतु उसके प्रयत्न इससे अधिक आयुष्य प्राप्त करनेकी और होने चाहिये इसका ध्येय मंत्र यह है—

भूयश्च शरदः शतात् । यजुर्वेद. ३६ । २४

सौ वर्षोंसे भी अधिक आयु प्राप्त हो। १२० वर्षोंसे अधिक आयु जितनी भी होगी वह दीर्घ वा अनिदीर्घ संज्ञाको प्राप्त होगी। अर्थात् अति दीर्घ आयु प्राप्त करनेका पुरुषार्थ करना वैदिक धर्मके अनुकूल है। इस दीर्घ आयुष्यकी प्राप्तिकी वैदिक रीति हम सूक्तमें दर्शाई है, इसलिये पाठक इस सूक्तका विचार करें तथा जो जो सूक्त इस विषयके साथ संबंध रखनेवाले हैं उनकाभी मनन इसके विचारके साथ करें।

सामाजिक निर्भयता ।

दीर्घ आयुष्यकी प्राप्तिके लिये समाजमें-सामाजिक तथा राष्ट्रीय दृष्टिमें, तथा धार्मिक और अन्याय दृष्टिमेंसे निर्भयता रहनी अत्यंत आवश्यक है। निर्भयता-श्रुतिगतता न रहेगी तो

मनुष्य दीर्घायु हो नहीं सकते। समाजमें कोई एक दमोपर हमला करनेवाला न हो, इस प्रकारका समाज बनना चाहिये। राजनैतिक कारणसे हो, धर्मके नामपर हो, अथवा किसी दूसरे निमित्तसे हो, कानून अपने हाथमें लेकर एक दूसरेपर हमला करना किसीको भी उचित नहीं है, यह दर्शानेके लिये प्रथम मंत्रका सतारार्थ है, इसका आशय यह है—

“ इस मनुष्यका वष कोई राजनीय, अन्य जातीय या कोई अन्य मनुष्य किसी कारणसे न करे ॥ ” (मंत्र १)

यह वेदका उपदेश मनुष्य मात्रके लिये है, हरएक मनुष्य यह ध्यानेमें रखे और अपने आचरणमें शालीनता प्रयत्न करें।

“ मैं किसीका वष न करूंगा, किसी दूसरेकी हिंसा मैं नहीं करूंगा। मैं आदिश जितने आचरण करूंगा। ” यह प्रतिज्ञा हरएक मनुष्य करे और तदनुकूल आचरण करें।

इस मंत्रमें जो शक्ति वर्णन का है वह मनुष्य मात्रमें स्थिर रहनी चाहिये, यह बुनियाद है और इसी आदिश शक्तिपर दिर्घायुका मंदिर खग होना है। जबतक मनुष्यमें हिंसक शक्ति रहेगी तब तक वह दीर्घायु बन नहीं सकता। घातघात करनेकी शक्ति, कंधकी लटर, दूसरे का हून करनेकी वाचना, इससेकी दबाकर अपनी धनसंपत्ति बचानेकी अभिरुपा जबतक रहेगी

तब तक मनुष्यकी आयु क्षीण ही होती जायगी । इसलिये वध करनेकी शक्ति अपने समाम्रम से दूर करनेका यत्न मनुष्य प्रथम करे ।

देवोंके आधीन आयुष्य ।

मनुष्यका समान जितना आदिताइतिवाला होगा उतनी उसकी आयुष्यमर्यादा दीर्घ होयकती है । यह बात जितनी सिद्ध होगी उतनी सिद्ध करके आगेका मार्ग आक्रमण करना चाहिये । आगेका मार्ग यह है कि—“ अपना आयुष्य देवोंके आधीन है, देव हमारी रक्षा कर रहे हैं ” यह भाव मनमें धारण करना । इसकी सचना प्रथम मंत्रके पूर्वार्धने दी है, उसका आशय यह है—

“ हे सब वसुदेवो ! मनुष्यकी रक्षा करो । हे सब आदित्यो ! मनुष्यमें जागते रहो । ” (मंत्र १)

इस मंत्रमें भी दो भाग हैं । पहिले भागमें वसु देवोंकी रक्षक शक्तिके साथ संबंध बताया है और दूसरे भागमें आदित्य देवोंको मनुष्यके अंदर, मनुष्यके देहमें, जाग्रत रहनेकी सचना दी है । ये दोनों बातें दीर्घ आयु करनेके लिये अत्यंत आवश्यक हैं । अब इनका संबंध देखिये—

सबसे पहिले मनुष्य यह विचार मनमें धारण करे कि संपूर्ण देव मेरी रक्षा कर रहे हैं, परमेश्वर परमात्मा सर्वेश्वर सर्व समर्थ प्रभु मेरी रक्षा कर रहा है और उसकी आज्ञानिता में सूर्यादि सब देव घटा मेरी रक्षा कर रहे हैं । मैं परमात्माका अमृत पुत्र हूँ इसलिये मेरा परमपिता परमात्मा मेरी रक्षा करता था, करता है और करताही रहेगा । परमात्माके आधीन अन्य सब देव होनेके कारण मे भी उस परमात्माके पुत्र ही रक्षा अवश्य करूँगे ही ।

इस प्रकार संपूर्ण देव मेरा संरक्षण करते हैं इसलिये मैं निर्भय हूँ यह विचार मनमें दृढ़ करके मनके अंदर जो जो चिन्ताके विचार आयेगे उनको दृढ़ता चाहिये और विश्वाससे मनकी ऐसी दृढ़ अवस्था बनानी चाहिये कि जिसमें चिन्ताका विचार ही न उठे और चिन्तारहित निर्भय होनेके भाव आनंद शक्तिके साथ मनमें रहें । दीर्घायुष्यके लिये इस प्रकार परमात्मा पर तथा अन्याय देवोंकी संरक्षक शक्तिपर अपना पूर्ण विश्वास रखना चाहिये, अन्याय दीर्घ आयुष्य प्राप्त होना अशक्य है ।

कई पाठक शंका करेंगे कि अन्याय देव हमारी रक्षा किस प्रकार कर रहे हैं ! इस विषयमें इससे पूर्व कई स्थानोंपर उल्लेख आया है । तथापि संक्षेपसे यहाँ भी इसका विचार करते हैं । पाठक जानते ही हैं कि प्रथम मंत्रमें “ वसु ” देवोंका उल्लेख

है, ये सब जगत्के निवासक देव होनेके कारण ही इनको “ वसु ” कहते हैं । सबके जो निवासक होते हैं वे सबकी रक्षा अवश्य ही करेंगे ।

सब वसुओंका भी परम वसु परमात्मा है क्योंकि वह जैसा सब जगत् को वसना है इसी प्रकार जगत्के संरक्षक सब देवोंको भी वसना है । उसके बाद पृथ्वी, आप, अग्नि, वायु आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ये अष्टवसु हैं ऐसा कहा जाता है । भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, आदि के साथ हमारे धनधान्यके आयुष्यका संबंध है, इनमें से एकका भी संबंध हमसे टूट गया तो हमारा नाश ही है । इतना महत्त्व इनका है और इसी कारण इनके रक्षणमें सदा मनुष्य रहता है ऐसा ऊपरवाले मंत्रमें कहा है । इससे स्पष्ट हुआ कि मनुष्य की रक्षा इन देवोंके धारण ही रही है और अति निःपक्षपातसे हो गयी है । ये देव कभी किसीका पक्षपात नहीं करते हैं । सूर्य सबपर एकसा प्रकाशता है, वसु सबके लिये एकसा बह रहा है, जल सबके लिये आकाशसे गिरता है, पृथ्वी सबको समानतया आधार दे रही है, इस प्रकार ये सब देव न केवल सबकी रक्षा कर रहे हैं प्रत्युन सबके साथ निःपक्षपातका भी वर्तान कर रहे हैं ।

हमारे जीवनके साथ इनका संबंध इतना घनिष्ठ है कि इनके बिना हमारा जीवन ही अशक्य है । वायुके बिना प्राण धारणा कैसी होगी ? सूर्यके बिना जीवन ही अर्धसंभव होगा, इत्यादि प्रकर पाठक देखें और मनमें निश्चयपूर्वक यह बात धारण करें कि परमात्माके निम्नके आधीन रहते हुए ये सब देव हमारी रक्षा कर रहे हैं ।

हम क्या करते हैं ?

सब देव तो हमारी रक्षा कर ही रहे हैं, परंतु हम क्या कर रहे हैं, हम उनकी रक्षामें रहनेका यत्न कर रहे हैं या उनकी रक्षासे बाहर होनेके यत्नमें हैं ? इसका विचार पाठकोंको करना चाहिये । देखिये, परमात्माही और देवोंकी रक्षासे हम कैसे बाहर जाते हैं—परमात्मापर जो विश्वास ही नहीं रखते वे परमात्माकी रक्षासे बाहर हो जाते हैं । दयालय परमात्मा तब भी उनकी रक्षा करता ही रहता है यह उनकी ही अपार दया है, परंतु ये अविश्वासी लोग उनकी अपार दयासे लाभ नहीं उठाते । अविश्वासेके कारण जितनी हानि है, किसी अन्य कारणसे नहीं हो सकती । दीर्घ आयुष्य प्राप्तिके लिये इसी कारण मनुमें परमात्मविषयक दृढ़ विश्वास चाहिये ।

इसके बाद सूर्य अपने प्रकाशसे सबको जीवनामृत देकर सबकी रक्षा कर ही रहा है, परंतु मनुष्य सूर्य प्रकाशसे दूर रहते हैं, तब यत्किंचि संग मरुतोंमें रहते हैं, दिनभर कमरोंमें अपने आपको बंद रखते हैं और इस प्रकार सूर्यदेवकी संरक्षण शक्तिसे अपने आपको दूर रखते हैं। इनके लिये मगवान् धृतराष्ट्रभी सूर्यदेव कया कर सकते हैं ? इसी प्रकार वायु और जल आदि देवोंके विषयमें समझना उचित है। ये देव तो सबकी रक्षा कर ही रहे हैं परंतु मनुष्योंको भी चाहिये कि वे इनकी उपासना रखते अपने आपको दूर न रखें और जहांतक होसके अपना प्रयत्न करके उनको रक्षामें अपने आपको अधिक रखें।

पाठक यहां समझ ही गये होंगे कि संपूर्ण देव मनुष्यमापकी निष्ठा रीतिसे रक्षा कर रहे हैं और मनुष्य उनकी रक्षाके किस प्रकार दूर होते हैं और जय अपना लुप्तमान किस प्रकार कर रहे हैं।

आदित्य देवोंकी जाग्रती ।

इस प्रथम मंत्रमें दीर्घ आयुष्य वर्षक एक महत्त्वपूर्ण बात कही है वह यह है—“ हे आदित्य देवों ! इस मनुष्यमें जाग्रत रही। ” मनुष्यके अंदर आदित्यसे ही सब जीवन शक्ति आरही है। यह जीवन शक्ति जैसी मनुष्यमें कार्य करती है उसी प्रकार सब जगदमें कार्य कर रही है। इसी शक्तिसे सब जगत् चल रहा है। परंतु यहां मनुष्यका ही हमें विचार करना है। मनुष्यमें यह आदित्य शक्ति मलिनिकर्म रहती है, नेत्रमें रहती है और पेटमें रहती है। मलिनिकर्म मज्जाकेन्द्र चलाती है, पेटमें पाचक केंद्रको चेतना देती है और नेत्रमें देखनेका व्यापार कराती है। इनमेंसे कोई भी आदित्य शक्ति कम हुई तो भी मनुष्यका आयुष्य घटता जायगा। मलिनिकर्म मज्जाकेन्द्र आदित्य शक्तिसे हीन होयगा तो संपूर्ण शरीर चेतना रहित हो जाता है पेटका पाचक केंद्र आदित्य शक्तिसे हीन होयगा तो हाजमा बिगड़ जाता है, नेत्रकी आदित्यशक्ति दृष्टगर्भ तो मनुष्य अंधा बनता है और सभके सब व्यवहार ही बंद हो जाते हैं। इतना महत्त्व इस आदित्य शक्तिका मनुष्यके अथवा प्राणिके शरीरमें है। इसलिये वेदमें कहा है कि—

सूर्यं भास्वत जाग्रतस्त्युपुष्टम् । अग्नेदेव १। ११५। १

“ यह आदित्य सूर्य ही रथावर जंगम जगत्का आत्मा है। ” पठक इस मंत्रका आशय ध्यानमें रखें और अपने अंदरकी आदित्य शक्ति सदा जाग्रत रखनेका अनुष्ठान करें। सूर्यभेदन व्यायाम और सूर्यभेदी प्राणायाम द्वारा पेटके स्थानमें रहनेवाली

आदित्य शक्ति जाग्रत हो जाती है, ध्यान धारणा द्वारा मलिनिकर्मकी आदित्य शक्ति जाग्रत होती है, तथा पाठक आदि अन्त्याध द्वारा नेत्रकी आदित्य शक्ति जाग्रत हो जाती है। इस प्रकार योगाभ्यास द्वारा अपने अंदरकी आदित्य शक्ति जाग्रत और बलवृद्ध करनेसे मनुष्य दीर्घजीवी हो सकता है।

इस प्रथम मंत्रके ये उपदेश यदि पाठक ध्यानमें धारण करेंगे और इन उपदेशोंका योग्य अनुष्ठान करेंगे तो उनकी आयु बड़ा जायगी इसमें कोई संदेह ही नहीं है। “ समानमें नियमिता, परमेस्वरपर दृढनिष्ठा, वायु जल सूर्य आदि देवताओंके अधिक संबंध करना और अपने अंदर आदित्य शक्तियोंकी जाग्रती करना ” यह संज्ञेयसे दार्ढ्य प्राप्त करनेका मार्ग है।

इसी मार्गका योशवा स्पष्टीकरण आगेके मंत्रोंमें है, वह अब देखिये—

देवोंके पिता और पुत्र ।

इस आयुष्यवर्षन सूक्तके द्वितीय मंत्रमें कहा है, कि “ हे देवों ! जो तुम्हारे पिता हैं और तुम्हारे पुत्र हैं वे मेरी बात सुन ! मैं तुम्हारे ही आर्षीन इस मनुष्यको करता हूँ, तुम इसको दीर्घ आयुष्य तक सुखसे पहुंचाओ। ” (मंत्र २)

इस द्वितीय मंत्रमें “ देव, देवोंके सब पिता और देवोंके सब पुत्र ये सब मनुष्यको सुखसे दीर्घ आयुष्य तक पहुंचानेवाले हैं ” ऐसा कहा है, यह सूचना मनन करने योग्य है। यह मंत्र ठीक सज्ञामें आनेके लिये देव कौन हैं, उनके पिता कौन हैं और उनके पुत्र कौन हैं, इसका विचार करना यहां अत्यंत आवश्यक है। अथर्ववेदमें इन पिता पुत्रोंका वर्णन इस प्रकार लाया है—

दत्ता साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा ।

यो वै सान्निध्यात्सत्यं स वा ब्रह्म महद्देव ॥ १ ॥

प्राजापतौ वसुधेःश्रेष्ठमश्रितिक्ष क्षितिक्ष पा ।

ध्यानीदानौ वाह्मनस्ते वा आकृतिमावहन् ॥ ४ ॥

कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निजायत ।

कुतस्तवदा समभवत्कुतो धावाऽजायत ॥ ८ ॥

इन्द्रादिन्द्रः सोमात्सोमो अग्नेरग्निजायत ।

त्वष्टा ह जले त्वष्टृर्धातुर्धाताऽजायत ॥ ९ ॥

ये त आसन्दश् जाता देवा देवेभ्यःपुरा ।

पुत्रेभ्यो लोकं दावा कस्मिन्स्ते लोक आसते ॥ १० ॥

[अथर्व. ११।२।१०]

(पुरा) सबसे प्रथम (देवेभ्यः दत्ता देवाः) देवोंमें दत्ता देव (साकं अजायत) साथ साथ वत्सव हुए । जो इनको प्रत्यक्ष जनिया, (सः अथ महत् वदेत्) वह बड़े मझके विषयमें

बोलेगा । बही ब्रह्मज्ञान ज्ञान बहेगा ॥ ३ ॥ प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, (अ-क्षितिः) अग्निः, शोण, और (शितिः) नाशवान चित्त, ध्यान, उदान, वाचा और मन ये दस देव तेरे (आकृति आवद्ध) संकल्पको चठाते हैं ॥ ४ ॥ कदांमि इन्द्र, सोम, और अग्नि हांगये ? कदांमि त्वष्टा हुआ, और घातामी कदांसि हो गया ? ॥ ८ ॥ इन्द्रसे इन्द्र, सोमसे सोम, अग्निसे अग्नि, त्वष्टासे त्वष्टा, और घाताये घाता हुआ है ॥ ९ ॥ (ये पुरा देवभ्यः दत्ता देवाः) जो पहिले देवोंसे दत्त देव हुए हैं, (पुत्रेभ्यो लोके दत्त्वा) पुत्रोंको स्थान देकर वे स्वयं (कस्मिन् लोके आसते) किस लोकमें बैठे हैं ? ॥ १० ॥

इन मंत्रोंमें देव, देवोंके पिता और पुत्र कौनसे हैं इसका वर्णन है । प्राण अपानादि दस देव इन्द्रादि देवोंसे बने हैं और वे पुत्र रूप देव इस धारणमें रहते हैं, इन पुत्रदेवोंके पिता देव इस जगत्में हैं और उनके नी पिता परमात्मामें रहते हैं, इसका स्पष्टीकरण यह है—प्राणरूप देव मनुष्य धारीमें है, वह जगत्में संचार करनेवाले वायुका पुत्र है, और इस वायु-कामी पिता-वायुका भी वायु-परमपिता परमात्मा है । इसी प्रकार बल्लुकी पुत्रदेव धारीमें रहता है, उसका पिता सूर्यदेव सुलोकांम है, और सूर्यका पिता-सूर्यका भी सूर्य-परमपिता परमात्मा है । इसी प्रकार अन्यान्व देवोंके विषयमें जानना योग्य है । यह विषय इससे पूर्व आशुका है, इसलिये यहाँ अधिक विवरण की आवश्यकता नहीं है ।

सबका धारांश यह है कि पुत्र रूपों देव प्राणियोंके इन्द्रियों और अवयवोंमें अर्थात् धारीमें रहते हैं । इनके पितादेव मनुष्यः स्वः इस त्रिलोकीमें रहते हैं और इन सूर्यादि देवोंके भी पिता विशेष शक्तिरूपसे परमात्मामें निवास करते हैं ।

हमारी आज्ञा सूर्यके बिना कार्य करनेमें असमर्थ है और सूर्य परमात्माकी और महाशक्तिके बिना अपना कार्य करनेमें असमर्थ है । इसी प्रकार संपूर्ण देवों और उनके पिता पुत्रोंके विषयमें जानना योग्य है । इन सबके आधीन मनुष्यका दीर्घायु बनना है ।

इसलिये जो दीर्घ आयुष्यके इच्छुक हैं, वे भक्तियुक्त अंतःकरणसे अपना संबंध परम पिता परमात्मासे टूट करें । यह परम पिता परमात्मा सूर्यका भी सूर्य, वायुका भी वायु, प्राण का भी प्राण, अर्थात् देवोंका भी देव है और वहाँ हम सबका पिता है । इसका भक्ति यदि अंतःकरणमें टूट हो गई तो मनुषी समता स्थिर रह सकती है और उससे दीर्घ आयु प्राप्त होती है । इस प्रकार देवोंके रिताये मनुष्यका संबंध होता है

और यह संबंध बल्लंत लाभकारी है ।

वायु सूर्य आदि देवोंसे हमारा संबंध किस प्रकार है और उसका हमारे आरोग्य और दीर्घ आयुमें कितना घनिष्ठ संबंध है, यह हमने प्रथम मंत्रके व्याख्यानके प्रथममें वर्णन किया ही है इसलिये उनके दुहरानेका यहाँ आवश्यकता नहीं है ।

प्राण, चक्षु, कर्ण आदि देवपुत्र हमारे शरीरमें ही रहते हैं । योगादि साधनोंसे इनका बल बढ सकता है । इसलिये इनके ध्यायामके अनुष्ठानसे पाठक इनकी शक्ति विकसित करें और अपना शरीर नीरोग और बलवान बनाकर दीर्घायुके अधिकारी बनें ।

इस प्रकार मनुष्यका दीर्घ आयुष्यके साथ देवों, देवोंके पितरों और देवोंके पुत्रोंका संबंध है । यह जानकर योग्य-अनुष्ठान द्वारा आयु-वर्धन का प्रयत्न करें ।

परमपिता परमात्मा यद्यपि एक ही है तथापि वह संपूर्ण सूर्य, चंद्र, वायु, इंद्र आदि अनेक देवताओंकी विविध शक्तियोंसे युक्त है, इसलिये संपूर्ण देवताओंका सामुदायिक विगृह उसमें है, ऐसा कल्पनाय वर्णन मंत्रमें किया है वह उचितही है । इस प्रकार इस मंत्रमें मनुष्यके दीर्घ आयुष्यके अनुष्ठान का मार्ग इस मंत्रमें उक्त और स्पष्ट शब्दोंद्वारा बताया है । पाठक इसका विशेष विचार करें ।

देवोंके स्थान ।

तृतीय मंत्रमें देवोंके स्थान कहे हैं । यह तृतीय मंत्र यह श्राव्य प्रकट करता है, कि “ सुलोक, अंतरिक्ष, पृथिवी, औपधि, पृष्ठ, जल, इन स्थानोंमें देव रहते हैं, वे मनुष्यके लिये दीर्घ आयु करते हैं और जिनकी सहायतासे सेकड़ों अपमृत्यु दूर हो जाते हैं । ” (मंत्र ३) यह मंत्र बड़ा विचार करने योग्य है ।

सुलोकमें सूर्यादि देव, अंतरिक्षमें वायु, इंद्र, इन्द्र, चन्द्र आदि देव, पृथ्वीमें अग्नि आदि देव, औपधियोंमें रक्षात्मक सोमदेव पृष्ठओंमें दुग्धादिरूपसे अमृत देव, जलमें वरुण आदि देव निवास करते हैं । ये सब देव मनुष्यकी आयु बढानेके कार्योंमें सहायक होते हैं । सूर्य देव जीवन देता है, वायु प्राण देता है; इन्द्र और चन्द्र कृपासे सुषुप्ति और जाग्रतिके व्यापक और व्यापक मनेके संचालक देव हैं, इंद्र स्वयं प्राणोंका चालक है, अग्नि वागीसे संबंध रखता है, औपधिवनस्पतियोंसे अप तथा दवाइयां बनकर मनुष्यकी सहायता करती हैं, पृष्ठओंसे दुग्ध रूपी अमृत मिलता है, जल देवसे दीर्घ बनता है, इस प्रकार अन्यान्व देव मनुष्यके सहायक हैं । परंतु प्रयत्न द्वारा

मनुष्यने उनसे लाभ उठानेका पुरुषार्थ करना आवश्यक है ।

इन सब देवोंसे अपना संबंध सुरक्षित करके, उनसे दयायोग्य लाभ लेनेका मन करनेसे अत्युत्पन्न बड़ सकता है । इन देवोंसे नाना प्रकारकी चिकित्साएं बनी हैं, सुलोच्छे देवोंसे वीरचिकित्सा, वर्णचिकित्सा, प्रकाशचिकित्सा-चिकित्सा; अंतरिक्षस्वर्गाय देवोंसे वायुचिकित्सा, विद्युच्चिकित्सा, मालमचिकित्सा अथवा काशचिकित्सा, पृथ्वीस्वर्गाय देवोंसे अग्निचिकित्सा, खनिजपदार्थोंसे रसचिकित्सा, राक्षचिकित्सा, औषधियोंसे तथा वनस्पतियोंसे भेषजचिकित्सा, पशुओंके दुग्धसे दुग्धचिकित्सा अर्थात् पशुओंकी विविध औषधियां लिहाकर तथा विविध रंगोंकी गौओंके दूधका उपयोग करनेसे, तथा पशुके मूत्रादिके उपयोगसे विविध चिकित्साएं मिळ सकती हैं; जलसे जल चिकित्सा, इस प्रकार अनेकानेक चिकित्साएं होती हैं ।

इन सब चिकित्साओंका लक्ष्य ही यह है कि विविध रोगोंके इन सब देवोंकी दिव्य शक्तियोंसे लाभ उठाना । प्राचीन कालके ऋषिमुनिोंने इन सब देवोंसे लाभ उठानेके जो जो प्रयत्न किये, उनका पता ही ये सब चिकित्साएं हैं । आजकल भी इस दिशासे विविध प्रयत्न हो रहे हैं । इन देवताओंमें विविध और अनंत शक्तियां हैं, उनका समाप्ति नहीं होगी, इसलिये मनुष्योंकी विविध रोगोंसे यत्न करके इन देवताओंसे विशेष लाभ उठानेके लिये यत्न करना बाहिये । इतने प्राचीन कालमें ऋषिमुनि यह उद्योग करते थे और लाभ उठानेके और धर्मार्थीकी भी बने थे । यह क्लिष्टता दूर गया है, तथापि आजकल प्रयत्न अरिप्रेरक रत्न मार्गसे बहुत खोज होना संभव है । जो पाठक इस क्षेत्रमें कार्य कर सकते हैं कार्य करें और विद्यार्थी उत्तमि करें तथा यशके भागी बनें । अस्तु । इस प्रकार इन देवताओंकी शक्ति अपने अंदर लेने और उस शक्तिको अपने अंदर स्थिर करनेसे मनुष्य धर्म आमुष्य प्राप्त कर सकता है ।

साधारणसे साधारण प्रयत्नसे भी बड़ा लाभ हो सकता है । जैसा सूर्य किरणोंमें अपना रंग शरीर टपानेसे, वायुमें रंगों शरीर घूमनेसे, अक्षमें तरंगोंसे उष्ण औषधियोंका रस पीनेसे और गोदुग्ध आदिके सेवनसे साधारण परिस्थितियोंमें रहनेवाले मनुष्य भी बहुत लाभ उठा सकते हैं । फिर जो विविध यंत्र निर्माण द्वारा इन देवों शक्तियोंसे अधिक लाभ उठानेका पुरुषार्थ करेगा उनके विषयमें बड़ा बहना है । इस प्रकार ये देवताएं गौरी समान हैं, इससे जितना दुग्ध रोचना चाहे लाभ उठाना दुग्ध सकते हैं । इनमें अर्धक अमृत रस गता है । जो जितना पुरुषार्थ करेगा, उसकी उतना अमृत मिलेगा और बड़ उतना अमर होगा ।

देवताओंके चार वर्ग ।

इस प्रकार तीन वर्गोंमें देवताओंसे अमृतरस प्राप्त करके अनमृत प्राप्त करके अर्थात् दीर्घायु बननेके अनुष्ठानका स्वरूप बतातेके पश्चात् चतुर्थ मंत्रमें देवताओंके चार वर्गोंका वर्णन किया है और इन देवताओंके अपने स्वरूपी सदस्य बनानेका उपदेश किया है । इस चतुर्थ मंत्रका आरंभ यह है—

“ देवोंमें प्रदात्र, अनुदात्र, हुतभाग और अहुताद ये चार वर्गोंके देव हैं । इन देवोंसे ये पावों दिशाएं मिल सकें हैं । ये सब देव मनुष्यके स्वरूपी सभ्य बनें । ” (मंत्र ४)

इन चार वर्गोंके देवोंके लक्षण इनके वाचक शब्दोंसे ही स्पष्ट होते हैं । ये लक्षण देखिये—

- १ प्रदात्राः— विशेष यत्न करने वाले,
- २ अनुदात्राः— अनुकूल यत्न करने वाले,
- ३ हुतभागाः— हवन का भाग लेने वाले,
- ४ अहुतादः— हवनका भाग न खानेवाले ।

पाठक इन देवोंकी अपने शरीरमें सबसे प्रथम देखें— (१) जिनपर इच्छा शक्ति का परिधान नहीं होता, परंतु जो अथवा अपनी ही गतिसे कार्य करते हैं उन अथवाका नाम प्रदात्र है, जैसे हृदय आदि अथवा । (२) जो अथवा अपनी इच्छा शक्ति अनुकूल कार्यमें लगाने जा सकते हैं उनको अनुदात्र कहते हैं, जैसे हाथ, पांव, आंख आदि । (३) हुतभाग ये इन्द्रियां हैं जो भोग की इच्छुक हैं और कार्य करनेसे यच्छा हैं और विधानसे तथा अथवा मिलनेसे पुष्ट होती हैं । (४) शरीरमें अहुताद केवल अथवा प्राप्त ही हैं, क्योंकि मैं प्राण शरीरमें सदा कार्य करते हैं और स्वयं इच्छामी भोग नहीं लेते, अन्तमें लेकर अनेक अथवा कार्य करते हैं ।

इस प्राणका वर्णन तथा अन्य इन्द्रियोंका वर्णन इसी प्रकार उपनिषदोंमें किया है । प्राणाग्निशेष उपनिषदमें शरीर यज्ञके प्रयात्र और अनुदात्र का वर्णन इस प्रकार है—

शरीरयज्ञस्य...के प्रयात्राः केऽनुदात्राः ॥

महामूत्रानि प्रयात्राः ॥

मूत्रान्पशुनात्राः ॥ प्राणाग्निशेष ॥ २—४

शरीरमें चले हुए यज्ञके प्रयात्र और अनुदात्र कौन हैं ! महामूत्र प्रयात्र और मूत्र अनुदात्र हैं । इसीप्रकार हुतभाग और अहुताद विषयक वर्णन उपनिषदोंमें तथा ब्राह्मणोंमें लिखा है जिसका तात्पर्य ऊपर दिया ही है ।

इसी आन्तरिक दृष्टका नक़्का काय्यक्रममें दिया जाता है,

उपका करने न यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है । अनुयायियों से प्रनाय अधिक महत्त्व के हैं तथा हुताभ्यां से अहुताद विशेष महत्त्व रखते हैं । जो शरीरशास्त्र जानते हैं उनको इसका अधिक विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे जानते ही हैं कि इच्छा शक्तिकी नियंत्रणसे चलनेवाले हस्तनगादि अवयवोंको अनेकानेक प्रकारसे कार्य करनेवाले हृदयादि अंतरवयव अधिक महत्त्व के हैं । तथा अहुताद अर्थात् कुल भी भोग न लेते हुए जन्मसे मरनेतक अविभ्रान्त कार्य करनेवाले प्राणादिक अधिक धेनु हैं और नेत्र, कर्ण आदि अवयव जो भ्रमसे धकते हैं, विभ्राम करते हैं और भोग भी भोगते हैं वे उनसे गौण हैं ।

यह मुख्य गौणका भेद देखकर दीर्घायु प्रातिष्ठा अनुष्ठान करनेवाले को उचित है, कि वह अपने अंदर के मुख्य देवों अर्थात् इंद्रियशक्तियोंको अधिक बलवान् करे और अग्यों को भी बलवान् करे, परंतु यह ख्याल रखे कि गौण अवयवों की शक्ति बढाने के कार्य करते हुए मुख्य अवयवोंकी क्षीणता न होने दे । उदाहरण के लिये पहलवानोंके व्यायाम ही लीजिये । पहलवान लोग अपने शरीरके पुष्टीको बलवान बनानेके यत्न बहुत करते हैं, परंतु हृदय आदि अंतरवयवोंका स्थान नहीं करते हैं, इससे ऐसा होता है कि उनका स्थूल शरीर बड़ा बलशाली होता है, परंतु हृदयादि विशेष महत्त्वके अवयव कमजोर हो जाते हैं । इसका परिणाम अस्वास्थ्यमें उनकी मृत्यु हो जाती है ।

यदि वे लोग साय हृदयको भी बलवान बनानेका यत्न करेंगे तो ऐसा नहीं होगा इसलिये यहां कहना यह है कि अपने अंदर

जो देवताओंके अंश रहते हैं उनमें मुख्य अवयवोंका विशेष स्थान करना, उनकी शक्ति बढानेका और उनकी कषत्रोरी न बड़े इसका विशेष विचार करना चाहिये । इसके पश्चात् गौण अवयवोंका विचार करना उचित है । श्वासस्थान, मज्जासंस्थान और हृदयसंस्थान आदि महत्त्वपूर्ण संस्थानोंका बल बढाना चाहिये और स्नायु आदि उनके अनुकूल रहनेयोग्य शक्तिशाली बनने चाहिये ।

मंत्रका प्रयाज शब्द मुख्यका भाव और अनुयाज शब्द गौणका भाव बताता है । ये सब देव हमारे चारों ओर सब दिशाओंमें विभक्त हुए हैं और उन्होंने संपूर्ण स्थानको विभक्त किया है । ये सब देव हमारे शरीरमें चलनेवाले शान्तिवत्सरिक यज्ञके मागी बनें, अर्थात् ये इस सौ वर्ष चलनेवाले जीवनरूपी महायज्ञके हिस्सेदार हैं ही, परंतु ये अपना कार्य करनेमें समर्थ बनकर अपना यज्ञका भाग उत्तम रीतिसे पूर्ण करनेमें समर्थ हों, अपना यज्ञका भाग उत्तम रीतिसे पूर्ण करें और निर्दिन्तासे यह शान्तिवत्सरिक यज्ञ बलानेमें हमारे सहकारी बनें ।

इस प्रकार इन मंत्रोंका आशय है, ये मंत्र स्पष्ट हैं और बहुत बोधप्रद हैं । यदि पाठक इस ढंगसे अनुष्ठान करेंगे तो उनको निःसंदेह लाभ हो सकता है । यह “ आयुष्य-गण ” का सूक्त है और पाठक इस विषयके अन्य सूक्तोंके साथ इसका विचार करें ।

आशा-पालक-सूक्त ।

(३१)

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता— आशापालाः; वास्तोष्पतिः)

आशांनामाशापालेर्म्यश्नुतुर्म्यो अमृतैर्म्यः । इदं भूतस्याप्येषैर्म्यो विधेम हविषा वयम् ॥ १ ॥

य आशांनामाशापालाश्चत्वार स्थन देवाः । ते नो निर्रक्त्याः पार्श्वेभ्यो मुञ्चताहंसो-अंहसः ॥ २ ॥

अन्नामस्त्वा हविषा यज्ञाम्यश्लोणस्त्वा घृतेन जुहोमि ।

य आशांनामाशापालस्तुगीयो देवः स नः समुतमेह वक्षत ॥ ३ ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुह्येभ्यः ।

विश्वं सुमृतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव ईशेभ्यु र्घर्मम् ॥ ४ ॥

अर्थ—(भूतस्य अर्पणस्यः) जगत्के अर्पण (अमृतस्यः) अमर (आशातां चतुर्भ्यः आशागलेभ्यः) दिशाओंके चार दिशापालकोंके लिये (वर्ण) हम सब (द्विषाद् द्विषेण) द्विर्विष्यम इस प्रकार अर्पण करते हैं ॥ १ ॥ हे (देवा) देवो ! (ये आशातां चतवारः आशापालाः स्थन) जो तुम दिशाओंके चार दिशापालक हो (ते नः) वे तुम हम सबको (निश्चिन्त्याः) परोक्षः) अवलोकके पाणोंसे तथा (अंहस अंहसः) दरण्डक पाणसे (सुखतां) सुखाभी ॥ २ ॥ (अद्यामः) न यथा हुआ मैं (द्विषाया त्वा यजामि) द्विर्विष्यसे तैसा यजन करता हूँ । (अ-श्लोणः त्वा पृतेन जुहोमि) संगडा न होता हुआ तुझको पीते अर्पण करता हूँ । यह (आशातां आशापालः तुष्टीयः देवः) जो दिशाओंका दिशापाल चतुर्भ देव है (सः नः) सुभूत हूँ आवश्यत्) वर हम सबको उत्तम प्रकारसे यहाँ पहुँचावे ॥ ३ ॥ (नः मात्रे उत पित्रे स्वस्ति अस्तु) हम सबको माताके लिये तथा हमारे पिताके लिये आनंद होवे । तथा (गोभ्यः लगते पुरुषेभ्यः स्वस्ति) गाँवोंके लिये, बल्लभे शिरोमालोंके लिये और पुरुषोंके लिये सुख होवे । (नः विश्वं सुभूतं सुविद्वं अस्तु) हम सबके लिये सब प्रकारका ऐश्वर्य और उत्तम ज्ञान हो और हम (सूर्यं ज्योत् पृथ ह्योम) सूर्यको बहुत बालकके देखते रहें यथात् हम दीर्घायुशी हों ॥ ४ ॥

भाषा— चार दिशाओंके चार अमर दिक्पाल हैं, वे इस बने हुए जगत्के अर्पण हैं । उनही पूजा हम करते हैं ॥ १ ॥ चार दिशाओंके चार दिक्पाल हैं, वे हमें हरएक पाणसे बचावें और दुर्गतिसे भी हमारा छुटकारा करें ॥ ३ ॥ मैं न यजता हुआ उनका अकार करता हूँ, संगडा लाना न मनकर मैं उनको भी देता हूँ, जो इन चार दिक्पालोंके चतुर्भ देव है वह हमें सुखपूर्वक उत्तम अवस्थातक पहुँचावे ॥ ५ ॥ हमारे माता पिता, हमारे अन्य इष्टमित्र, हमारे गाय घोड़े आदि पशु तथा ओं भी हमारे प्राणी हों वे सब हमें इस प्रकार सुखी हों । हमारा सब प्रकारसे अभ्युदय होवे और हमारा ज्ञान उत्तम प्रकारमें बढ़े तथा हम दीर्घायु हों ॥ ४ ॥

दिक्पाल ।

पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर ये चार दिगाएँ हैं । उनको रक्षा करनेवाले चार दिक्पाल हैं, वे अपनी अपनी दिशाका संरक्षण कर रहे हैं । ये चारके रक्षक इतने दक्ष हैं कि इनको न गमनते हुए कोई मनुष्य किसी भी प्रकार दुःख कार्य कर नहीं सकता । हरएक मनुष्यको जितने है कि वह एक बात मनमें धारण करे और इन दिवाँ लोकपालोंके दण्डके योग्य कोई आचरण न करे ।

राजा अपने राज्यकी व्यवस्था और राजकी मुशासन करनेके लिये अपने राज्यमें चार विभाग करके उनपर एक एक मुख्य आधिकार अथवा नियत करे, वह अधिकारी दक्षतासे अपने विभागका योग्य शासन करे । दुर्गोको दंड करे और सुदोषका प्रतिपादन करे । और वहीं भी अनाचार होने न दें । वह राष्ट्रनिरिक्ता पाठ इस सूक्तसे हमें मिलता है ।

विश्वके अंदर राष्ट्र, और राष्ट्रके अंदर व्यक्तिका देह है । और इन दोनों स्थानोंमें नियम एक जैसा ही है । इसलिये राष्ट्रशासनका विचार होनेके पश्चात् जिन व्यक्तियोंरा राष्ट्र बनना है उन व्यक्तियोंके अन्दर चार दिशाओंके चार दिक्पाल स्थित रूपमें हैं और उनका शासन इस अध्यात्मभूमिकामें कैसा चल रहा है और उससे हमें नैतिक बदलाचारके नियममें कौनसा

बोध लेना है, इनका विचार करना चाहिये ।

देहमें चार दिक्पाल ।

देहमें चतुर्को "द्वार द्वार" कहते हैं और गुहाको "पथिक द्वार" कहते हैं । ये द्वार एक दूसरेके साथ संबन्धित होते हैं । पूर्व द्वारसे अर्थात् सुखसे अन्न पान शरीरके अंदर सुखता है, वहीं का कार्य करता है और शरीरके मलादिके हटने पर परिवर्तित होकर पथिक द्वारसे अर्थात् गुहासे बाहर हो जाता है । अर्थात् पाण्डक अन्नका प्रवेश पूर्व द्वारसे इस शरीरमें होता है और मलाको दूर करनेका कार्य पथिक द्वारसे होता है । दोनों कार्य शरीरके स्वास्थ्यके लिये अत्यंत आवश्यक हैं । परंतु यह तो स्थूल शरीरके स्वास्थ्यके साथ का संबंध है, सूक्ष्म और दो द्वार हैं जिनका संबंध मनुष्यकी अस्मिति या अयोगतिके साथ अधिक है; वे दो द्वार मनुष्यके शरीरमें ही हैं, जिनको "उत्तर द्वार" तथा "दक्षिण द्वार" कहते हैं ।

"उत्तर द्वार" मलाकमें है जिसका नाम "विहाते द्वार" उपनिषदोंमें कहा है, इस द्वारसे शरीरमें जीवात्माका प्रवेश होता है और इसी द्वारसे अपने प्रवृत्तसे जिस समय यह बाहर जाता है उस समयसे वह जन्ममरणके दुःखमें छूटता है और पुनः शरीरके संघनमें पड़ता नहीं । वाजसनेयिके मन्त्रकमें छोटैपनमें इस स्थानपर इच्छी नहीं होती । इसका नाम उत्तर द्वार है क्योंकि

इस द्वार से जानेसे उच्चतर अवस्था प्राप्त होती है ।

यह द्वार मन्वा केन्द्रके साय संबंधित है । इसी मन्वा केन्द्रके साय संबंध रखनेवाला निचला द्वार शिखर है जिससे वायुका पात होता है । इसके योग्य नियम पालनेसे सुयोग्य संतति उत्पन्न होती है, परंतु इसके अनियम में चलानेसे मनुष्यकी अधोगति होती है । ये दो द्वार मनुष्यको उच्च और नीच बनानेमें समर्थ हैं । मध्यमयं पालनद्वारा उत्तर मार्गसे जानिका उपनिषदोंका वर्णन इसी उत्तर मार्गके सूचित करता है, इसीका नाम "उत्तरायण (उत्तर+अयन)" अर्थात् उत्तर मार्गसे जाना है । इसके विपक्ष "दक्षिणायन" अर्थात् दक्षिण मार्गसे जाना है, जिसके समयसे उत्तम पुरुषत्वमंपालनपूर्वक उन्नति होना संभव है, परंतु अस्वयंसे मनुष्य इतना गिरता है कि उसका कोई ठिकाना ही नहीं होता । ये दो मार्ग मन्वातंत्रुओंके साय संबंध रखनेवाले हैं ।

इस प्रकार पूर्वद्वार और पश्चिमद्वार से द्योगीमें अन्नतलिका के साय संबंध बताते हैं तथा उत्तर द्वार और दक्षिण द्वार ये दो मार्ग मन्वातंत्रुओंके साय संबंध रखते हैं । ये चार द्वारोंके चार संरक्षक देव हैं परंतु ये देव राजसौंके हमलेके अंदर दबने नहीं चाहिये ।

आशा और दिशा ।

इस सूक्तमें दिशावाचक "आशा" शब्द है और, उसके पालकका नाम "आशापाल" मंत्रोंमें आया है । "आशा" शब्दके दो अर्थ हैं । एक 'दिशा' और दूसरा "आशा, महत्-कांक्षा, उन्मीद" । मनुष्यकी जैसी आशा, इच्छा, महत्-कांक्षा और उन्मीद होती है वही प्रकारकी उसकी कार्य करनेकी दिशा होती है । मनुष्य जिस समय आशाहीन हो जाता है, निराश होता है, हताश होता है, उस समय वह इस जगत्से

हटनेका या भर जानेका इच्छुक होता है । यह विचार यदि पाठकोंके मनमें जम जायगा, तो उनके पता लग जायगा कि यह सूक्त मनुष्यके साय कितना पनिष्ठ संबंध रखता है ।

जिस समय "आशा" शब्दका अर्थ "आशा, आकांक्षा," आदि किया जाता है उस समय यही सूक्त मनुष्यका अभ्युदयका मार्ग बनाता है । तथा जिस समय इसी "आशा" शब्दका अर्थ "दिशा" किया जाता है, उस समय यही सूक्त बाह्य जगत् तथा राष्ट्रके प्रबंधका भाव बताता है । सूक्तकी यह शब्दरचना विशेष गंभीर है और वह हरएक को वेदकी अद्भुत वर्णन ऐनीका स्वरूप बता रही है ।

सूक्तका मनुष्यवाचक भावार्थ ।

मनुष्यकी चार आशाएँ हैं, उनके चार अक्षर पालक हैं । इन मूलाप्यकोंकी हम इतनेसे पूजा करते हैं ॥१॥ मनुष्यकी चार आशाओंके चार पालक हैं, वे हमें पापसे बचावें और दुष्ट अवस्थाने भी बचावें ॥२॥ मैं न थकता हुआ और अंगोंसे दुर्बल न होता हुआ हविसे तथा घृतसे इनको तुल्य करता हूँ । इन चार आशाओंके पालकोंमें से चतुर्थ पालक जो है वह हमें उत्तम आनंदको प्राप्त करनेमें सहायक होवे ॥३॥ इनकी सहायतासे हमारे माया, पिता, इष्ट, मित्र, गाय, घोड़े आदि सब सुखी हों । हमारा अभ्युदय होवे और हम ज्ञानी बनकर दौर्भाग्य बनें ।

केवल एक "आशा" शब्दका अर्थ उीक प्रकार ध्यानमें आनेसे व्यक्तिवियत उन्नतिके मार्गके संबंधमें कैसा उत्तम उपदेश मिल सकता है यह पाठक यहाँ देखें । यह उपदेश इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसके अनुसार चलनेसे मनुष्य ऐहिक अभ्युदय तथा पारमार्थिक निःशेष प्राप्त कर सकता है । इस सूक्तपर बहुत शिक्षा जा सकता है, परंतु यहाँ संक्षेपमें ही । इसका विवरण करेंगे ।

मनुष्यमें

चार द्वारोंकी चार आशाएँ ।

मनुष्यके शरीरमें चार द्वार हैं, इस बातका वर्णन इससे पूर्व किया है । इन चार द्वारोंके कारण चार आशाएँ मनुष्यके मनमें उत्पन्न होनी हैं । जिस प्रकार घरके जितने द्वार होते हैं उनसे बाहर जाने और उन दिशाओंसे कार्य करनेकी इच्छा घरके मालिक को होनी है, उसी प्रकार इस शरीररूपी घरके स्वामी आशमेवकी आशाएँ इस घरके द्वारोंसे जगत्में गमन करके

वहाँके कार्यक्षेत्रमें पुरुषार्थ करनेकी होती है । वास्तवमें इस शरीरमें अनेक द्वार हैं, इसमें नौ द्वार हैं, ऐसा अन्यत्र कई स्थानोंमें कहा है । देखिये—

नष्टावका नवद्वारा देवानां पूर्योप्या ।

तस्यां क्षिप्रययः क्रोधाः स्वर्गो ज्योतिषाऽऽवृतः ॥

(जयवं० १० । २ । ११)

“आठ चक्र और ना द्वाराय युक्त यह देवाका अदोष्या नामक नगरी है, इसमें सुवर्णमय कोण है वही तेजस्वी स्वर्ग है।”

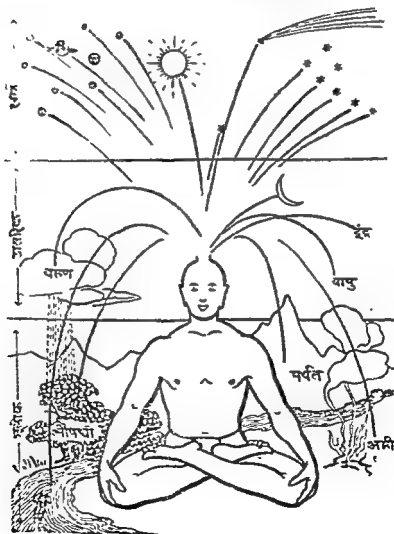
इस अध्यात्म श्रुतिमें शरीरका और हृदय गुहाका वर्णन करते हुए कहा है, कि इस शरीरमें नौ द्वार हैं। ये द्वार हैं इसमें कोई छेदेह ही नहीं है। दो नाक, दो आक्ष दो कान, एक मुख, गुदा और शिखर ये नौ द्वार यहाँ कहे हैं। इनमें से मुख पूर्व द्वार, गुदा पश्चिम द्वार, शिखर दक्षिण द्वार इन तीनोंका संबंध इस अपने प्रचलित सूक्तके मंत्रमें है। जो चतुर्भुजा है वह आठ

चक्रवाले घृष्टवृक्षके ऊपर मस्तिष्कके भी ऊपर के भागमें विद्यते नामसे प्रसिद्ध है। इसका वर्णन अपरंवेदमें इस प्रकार है—

मूर्धानमस्य संसोष्यायवां हृदयं च यत् ।
मस्तिष्कात्पूर्वः प्रैरयत् पवमानोऽपि दीर्घतः ॥
(मयर्व० १० २।२६)

“मस्तिष्क और हृदय को सीकर अर्थात् एक केन्द्रमें सीन करके मस्तकके भी ऊपर तिरके बाँवमें से प्राण फैका जाता है।”

विद्यति-द्वारसे प्रवेश ।



विद्यति द्वारसे तैत्वास देवोके साम आत्माका शरीरमें प्रवेचा। अंदर जानेपर यह द्वार बंद होता है। पश्चात् प्राणसाधन द्वारा अपनी हृच्छासे इसी द्वारसे वापस जानेपर मुक्ति। साधारण जन देहत्याग करनेके समय किसी अन्य द्वारसे बाहर जाते हैं, परन्तु केवल योगी ही अयवैवेदके कहे मार्गसे मस्तिष्कके परे इसी द्वारसे जाता है और मुक्त होता है।

इस मंत्रमें "मस्तिष्कान् कर्ष्यः। अधि शीर्षतः।" आदि शब्दों द्वारा मस्तिष्कके ऊपर के उत्तर द्वारका वर्णन किया है। अर्थात् जो चार द्वार हमने इस मंत्रके व्याख्यानके प्रसंगमें निश्चित किये हैं उनका वेदमें अन्यत्र वर्णन इस प्रकार आता है। नौ द्वारोंमेंसे छान और इस मंत्रका-संख्यानका एक मिलकर चार द्वार हैं और उनही चार आशाएं अथवा दिशाएं हैं। अब ये आशाएं देखिये—

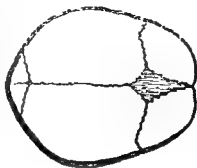
द्वार

आशा

- १ पश्चिमद्वार = शुदा = की आत्मा विसर्जन करना। शरीरधर्म।
- २ पूर्वद्वार = मुच = " " मैथुर भोजन करना। अर्थप्राप्ति।
- ३ दक्षिणद्वार = शिख = " " योगका उपनोग करना। काम।
- ४ उत्तरद्वार = विद्यति = " " बंधनसे मुक्त होना। मोक्ष।

आरोग्यका आचार

हमें पश्चिमद्वारसे जो आशा है वह केवल "शरीरधर्म" पालन करने की ही है तथापि इस शौच धर्मसे अर्थात् पवित्र बनने के कर्मसे शरीर शुद्ध होनेके कारण इससे शरीर स्वास्थ्यकी प्राप्ति होती है। सब अन्य भोग इसके आश्रयसे हैं यह बात हर एक जान सकते हैं। इस द्वारका कार्य विगड जानेसे शरीर रोगी होता है और अन्य द्वारों की आशाएं पूर्ण होने की असमर्थता होती है। इसके उत्तम प्रकार कार्य करनेपर अन्य आशाएं सफल होनेकी संभावना है। इसलिए हम कह सकते हैं, कि इस पश्चिम द्वारकी आत्मा मनुष्यके मनमें "आरोग्यकी प्राप्ति" रूपसे रहती है। इस आशाका कार्यक्षेत्र बहुत बड़ा है, मनुष्य इस विषयमें जितना कार्य करेगा उतना वह स्वस्थता प्राप्त करेगा और वह यदि ऐसे व्यवहार करेगा कि इस पश्चिम द्वारके व्यवहार ठीक न चले तो उसके रोगी होनेमें कोई संशयही नहीं है।

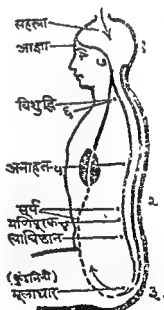


मस्तकमें विद्यतिद्वार



पृष्ठवंश

विद्यतिद्वार



सहस्रार चक्र पृष्ठवंशमें चक्रोंके स्थान।

खानपान ।

अब पूर्वद्वारकी आशा देखिये । संघर्षसे इतना कटना इस विषयमें पर्याप्त होगा कि इस द्वारासे मनुष्य उत्तम अन्न और उत्तम पान करने की इच्छा करता है । मधुरताका प्रेम करते करते मनुष्य इतना आधिक खाता है कि वह अजीर्णसे बीमार हो जाता है । इसलिये इस विषयमें प्रयत्नपूर्वक संयम रचना चाहिये । रनिका गुलाम और गिहानका दास जो बनता है उसकी आयु कष्टप्रद हो होती है । हरएक इन्द्रियके विषयमें यही बात है । इस प्रकार ईन्द्रिय भोगके लिये इनकी आवश्यकता है इस हेतु इस द्वारकी आशा "अर्थही प्राप्ति" ही है । यह आशा अत्यधिक बढ़लिये कष्ट हमी और संयम द्वारा अत्यावश्यकताके अनुसार भोग लेनेसे सुख बढ़ेगा, उच्चति होगी । सुखद्वारसे शब्द शौक्लेंद्रा नी एक काम होता है । उत्तम शब्द-प्रयोगसे जगहमें प्राप्ति कैलकी है और कुचन्द्रके प्रयोगसे अज्ञाति कैलती है । इस विषयमें भी गिहानपर संयम रहना आवश्यक है । अन्यथा अनर्थ होनेमें कोई देर नहीं लगेगी । इस प्रकार इस द्वितीय द्वारकी आशाका संबंध मनुष्यकी वृत्तिके साथ है ।

कामोपभोग ।

शौचरा दक्षिण द्वार है । इस द्वारसे जगहमें उत्तम प्रजनन अर्थात् सुप्रजाजनन करना आवश्यक है । परंतु जगह में इसके अंशयमें जो अनर्थ हो रहे हैं, वे किछिसे छिगे नहीं है । इसका संयम महत्प्रयाससे साध्य होता है । ऊर्ध्वरेण होना ही वैदिक धर्मका साध्य है । इसके विचारसे इस द्वारकी आशाए पता लग जायगा । यह केंद्र आर्यत महत्त्वका है, परंतु जनता का लक्ष्य इसके कार्यमें विगठ करनेकी ओर अधिक है और सुधारके मार्गमें प्रयत्न अति कम है ।

बंधनका नाश ।

अब चतुर्थ विरति द्वारपर हम आते हैं । यह विरति-द्वार है । इससे जीवामा इस धरतीमें मुक्त है, परंतु इसी द्वारसे बाहर जानेका मार्ग इसकी मितता नहीं है । युद्धभूमिमें प्रवेश करना यह जानता है, परंतु सुपक्षिण बाण छिनेकी विद्या इसे पता नहीं है । चक्रव्यूहमें घुसनेकी विद्या जाननेवाला, परंतु चक्रव्यूहमें घुसकर युद्धमें विजय प्राप्त करने और सुरक्षित वापस आनेकी विद्या न जाननेवाला अस्मिन् प्रजा अस्मिन्सु खरी है । यदि यह मुरासत वापस आनेकी विद्या जानेगा तो यह विजय-अर्जन-होगा, किं इसकी रर किससे है ? " विजयी "

बननेके लिये ही वे सब धर्मनार्थ हैं । त्रिष समय आये हुए मार्गसे वह जीवामा वापस आनेकी राहें प्राप्त कर सकेगा उस समय इसके कोई बंधन कष्ट नहीं पहुंचा सकता । हरएक बंधन की रूढ़ करनेकी इच्छा इसमें इस द्वारके कारण है ।

इस प्रकार चार द्वार की चार आशाएं हैं और हरएक मनुष्य इन आशाओंके कार्यक्षेत्रमें कुछ या नया काम करता है और भिरना है या ठठना है । इन आशाओंके कार्यक्षेत्रकी कल्पना पाठकोंकी ठीक प्रकार हो गई, तो इस सूक्तके भंजीका विचार समझनेमें कोई कठिनाता नहीं होगी । इसलिये प्रथम इन चार द्वारोंका विचार पाठक बारबार मननद्वारा करें और वह बात ठीक प्रकार ध्यानमें धारण करें । तदनन्तर निम्नलिखित स्पष्टीकरण पढ़ें—

अमर दिक्पाल ।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रके कथनमें तीन रातें कही हैं—“(१) चार आशाओंके चार अमर आशा पालक हैं । (२) वेही चार मृत्युपक्ष हैं । (३) उनकी पूजा हम हवनसे करते हैं ।”

मनुष्यमें चार आशाएं खोजी हैं, उन आशाओंका स्वरूप क्या है और उनके साथ मनुष्यके पतन अथवा उदयानका किस प्रकार संबंध है, यह पूर्व स्वतन्त्र बताया ही है । चार आशाएं मनुष्यके अंदर संगतन हैं, (१) धारीधर्मका स्वदाक करना, (२) भोग प्राप्त करना, (३) कामका भोग करना और (४) बंधनसे निवृत्त होना, ये चार भावनाएं अथवा कामनाएं मनुष्यमें सदा प्राणवी हैं, मूढ़नें तथा प्राणमें ये समागतसे रहती हैं । पशुपक्षियोंमें भी अत्याचल ये रहती हैं अर्थात् भूतनात्रमें ये सदा रहती हैं, इसलिये इनका समातन आधिचार प्राणानात्रपर है, माने ये ही भूतेके अन्ध हैं । इनको अन्ध है इसलिये कहा कि है इनकी प्रेरणाये ही प्राणी अने अने सब व्यवहार करते हैं । यदि ये आशाएं प्राणिके अंदर न रहें तो उनकी इतक भी बंद हो जायगी । मनुष्यके संपूर्ण प्रयत्न इनकी आधीनतामें ही हो रहे हैं । इसलिये ये ही चार आशा—पालक मनुष्यके चार अधिधारी हैं । इनकी आधीनतामें रहता हुआ मनुष्य अपने व्यवहार करता है और उनका सुख या नया परिणाम भोगता है ।

हवनसे पूजन ।

इनका पूजन हवनसे ही हो रहा है । पूर्वद्वार सुख है, उसमें अन्नपानका हवन हो रहा है । कौन प्राणी ऐसा है कि जो यह हवन नहीं करता । इसी प्रकार दक्षिणद्वार विजय देवके पूजक सब ही प्राणी हैं, इतनाही नहीं परंतु सुख कामदेवकी अति

पूजा से लोग अपना ही पात कर रहे हैं। इतनी बात मर्य है कि उत्तरद्वार जिसका नाम विरति है उसके पूजक अत्यंत अल्प हैं और पश्चिमद्वार की पूजा करना बांटे ही जानते हैं। पश्चिमद्वार की पूजा योगमें प्रसिद्ध "अपानायाम" से ही जाती है। जिस प्रकार नासिका द्वारा करनेका प्राणायाम होता है उसी प्रकार पश्चिम द्वार से अपानायाम किया जाता है। इसकी क्रिया भी बांटे लोग जानते हैं। यह क्रिया योग-शास्त्रमें प्रसिद्ध है और इससे नासिके निचले भागका आरोग्य प्राप्त होता है। उत्तरद्वार विरतिके उपासक काम योगी होने हैं वे इस स्थानकी आज्ञा करके अपनी मुक्तता प्राप्त करते हैं। इनकी हवनसे पूजा यह है—

१ पूर्वद्वार— (सूक्त) — अपानायामिके हवनसे पूजा

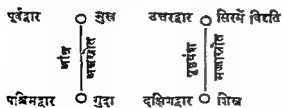
२ दक्षिणद्वार— (शिल्प) — भोगादिद्वारा कामदेवकी पूजा।

६ पश्चिमद्वार— (गुदा) — अपानायाम—अपानका प्राणमें हवन करके पूजा। इसका उल्लेख भगवद्गीतामें। नी है — अपना उद्धृति प्राणं प्राणोऽपानं उदा परे । (म० गी० ४।२९)

७ उत्तरद्वार— (विरति) — मस्तिष्कके मज्जाकेन्द्रके सहस्रचारकमें ध्यानदिसे पूजा।

यहां पाठक जान गये होंगे, कि पहिली दो उपासनाएं अथवा में अधिका हैं और दूसरी दो कम हैं। परंतु बीचमेंसे हैं। प्रथम मंत्रमें " हम चारों अमर आशापालकोंकी हवनद्वारा पूजा करेंगे" ऐसा स्पष्ट कहा है। यह इसलिये कि हर एक मनुष्य चारोंकी उपासनाद्वारा अपना उद्धार करे।

यहां नियमन की बात पाठकोंके ध्यानमें धारण करनी चाहिये। यह नियमन इस प्रकार है—



पूर्व तथा पश्चिमद्वार ये हमारे आंतोंके विरुद्ध दिशाके सूक्त हैं। मुखका अतिरिक्त होनेसे गुदाका कार्य बिगड़ता है, और

गुदाका कार्य ठीक रहनेसे मुखकी रुचि ठीक रहती है। इस प्रकार ये एक दूसरेका नियमन करते हैं। इसी प्रकार मस्तिष्क और शिल्प ये परस्परका नियमन करते हैं। यदि शिल्पदेवने अतिरिक्त किया तो मस्तिष्क दृग्घ होता है, और मनुष्य बुद्धि-का कार्य करनेमें अमर्ष्य होता है, पागल बनता है, निरम्मा होता है। तथा मस्तिष्कमें सुविचारोंको स्थिर करनेसे वे सुविचार सिद्धदेवका संयम करनेमें सहायक होते हैं। इस प्रकार ये परस्पर उपचारक भी हैं और पाठक भी हैं। पाठक सोच कर जाननेका प्रयत्न करें कि ये किस प्रकार उपचारक होते हैं और कैसे पाठक होते हैं तथा इनकी उपासना किस प्रकार करनी चाहिये और इनके प्रकीर्णसे किस प्रकार बचना चाहिये। अब द्वितीय मंत्रका विचार करेंगे—

पापमोचन ।

द्वितीय मंत्रका आशय यह है— "चार आशाओंके चार आशापालक देव हैं वे हमें पापसे तथा अधोपातिके पापसे बचावें।"

पूर्वोक्त वर्णनसे पाठकोंके मन लिया होगा कि ये चार देव हमें किस प्रकार बचा सकते हैं और किस प्रकार गिरा सकते हैं। देखिये—

१ पूर्वद्वार—सूक्त—शिक्षाकी शुभामासे खानपानमें अतिरिक्त होकर, पेडाक विषाद और स्वास्थ्यका नाश। इसी शिक्षाके संयमसे आरोग्यप्राप्ति।

२ पश्चिमद्वार—गुदा—पूर्वोक्त संयम और असंयमसे ही इसका काम या हानि प्राप्त होनेका संबंध है।

३ दक्षिणद्वार—शिल्प—नक्षत्रवर्गद्वारा संयमसे उन्नति, संयम-पूर्वक गृहस्थयर्म पालनसे सुखप्राप्ति और असंयमसे क्षय।

७ उत्तरद्वार—विरति—पूर्वोक्त संयम और असंयमसे हृदयके क्षम और हानि प्राप्त होनेका संबंध है।

इसका मनन करनेसे ये किस नियमने पापसे छुटा सकते हैं इसका ज्ञान हो सकता है। पापसे छुटानेसे ही निश्चितिके पापसे मनुष्य छूट जाता है। निश्चितिका अर्थ नाश है। पाप करने-वालेको निश्चितिके अर्थात् विनाशके प्रायः बाध देते हैं। और पुण्यवानोंको उनसे कोई कष्ट नहीं होता। इस मंत्रका यह कथन तथा बोधप्रद है कि ये चार द्वारकी चार आशाएँ मनुष्यको पापसे छुटा सकती हैं और नेचनसे भी मुक्त कर सकती हैं। पाठक अपनी अपनी अवस्थाका विचार करें और आत्मपरीक्षणद्वारा जाननेका प्रयत्न करें कि उनके शरीरमें क्या हो रहा है। यदि

बोई आशापालक बनके विकल धर्य करता हो, ना मनुके आशीन हुआ हो, त्ने काइधानोषे अपने बवावध चल करे । इस प्रकार द्वितीय मंत्रका विचार करनेसे इतना धीम निष्ठा; अब तृतीय मंत्र देखते हैं—

चतुर्थं देव ।

तृतीय मंत्रका आशय यह है—“मैं न यकला हुआ ओः अंगोषे दुर्बल न होता हुआ हबनवे, तथा पाँसे इबधी तुमि काटा हूँ । इन चार आशाशालोंमें जो चतुर्थ आशापालक देव है वह हमें सुखसे यहाँ आनंद स्थानमें पहुंचावे ।”

इ मंत्रमें कहा हुआ “तुरीयः देवः” अर्थात् चतुर्थं देव विदितिद्राका रहल मोक्षदी आशाका पालक है । इसी देवकी कृपासे अन्य सब द्वागोका नियमन हो सकता है । इसी कृपिते अन्य सब कार्य-व्यवहारका नियमन रोना चाहिये । वैदिक धर्मके संघर्ष कार्य-व्यवहार इत्थे दृष्टिसे रचे गये हैं । मोक्षके मार्गसे ध्यातसे उगतके सब व्यवहार होने चाहिये । इसीका नाम धर्म है । बंधनसे मुक्त होना मुख्य साध्य है, उक्तें चतानकारी सब अन्य व्यवहार होने चाहिये । अन्यथा जगत्के व्यवहारको अधिक म्दस्व देनेसे और मोक्षपथके कम महत्त्व देनेसे मनुष्यमें लोभमदृष्टि होनेके कारण बड़ा अनर्थ होगा । त्यागपूर्ण जीवन और भोगपूर्ण जीवनका भेद यहाँ स्पष्ट होता है ।

मंत्रमें कहा है कि न धरुणा हुआ और अहदरोषि विकल न होता हुआ मैं इन देवोंको पूजा करुंगा । इस कथनका भाव स्पष्ट है कि मनुष्य प्रयत्न करके अपना शरीर सुदृढ बनाने और अनेक उदरार्थ कलेका उत्साह मनमें स्थिर करे ।

इन चार देवोंकी आराधिते तथा पी आशिते कृति करनी चाहिये । विश्वास जो हबन है उसीके अनुरूप उदरध भी नी है । वह जैसा विश्वास देना है वह यथायोग्य रीतिसे देकर उसकी कृति करनी चाहिये । इस विश्वासमें दयावद करना योग्य नहीं । न यकते हुए और न श्रांत होते हुएने योग प्राप्त करने और योग्य प्रमाणसे उदरध स्वीकार भी करना चाहिये । अर्थात् यहाँ दक्षतासे अन्तर्ध व्यवहार करना अहित है । परंतु सब व्यवहार करते हुए चतुर्थं देवकी कृपा संग्रहण करनेका अनुसंधान रखना चाहिये । क्योंकि उद्योगी कृपासे कानंद, उत्तमि, यश आदि ची यहाँ प्राप्ति होती है और सद्यो भी निरु सकती है ।

दीर्घं आयुः ।

पूर्वोक्त प्रकार तीन मंत्रोंका विचार करनेके पश्चात् अब

चतुर्थं मंत्र इस प्रकार हमारे अन्तर्ध आता है—“इन आशाशालोंकी शोभायपासे इन तथा हमारे माता, पिता, इष्ट, मित्र, पत्न, पौत्रे आदि सब सुखी हों । इनका अन्तुदय होरे तथा इन ज्ञानी बनकर मित्रोदयके सामी बने और दीर्घं आयु बने ।” इस मंत्रमें चार बातें चर्चा हैं—

१ स्वस्ति (सु + अस्ति) = स्वका उत्तम अस्तित्व हो अर्थात् इस लोकका जीवन सुखपूर्वक हो ।

२ सुपूर्व = (सु + पूर्व) = उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त हो, वह उत्तम अन्तुदयका सुख विधान है ।

३ सुविद्वं = (सु + विद + वं) = उत्तम ज्ञान मित्रे । आत्मज्ञान ही सब दुर्गमो उगन और विनिषेधका हेट्ट है । यह हमें प्राप्त हो ।

४ ज्योक् = दीर्घकाल जीवन हो । यह ही अन्तुदय और मित्रोदयसे सहज ही प्राप्त हो सकता है ।

वेदमंत्रोंमें बारंबार “उदीह् च सुर्वं रणेन” अर्थात् “दीर्घकालक सुर्वंको हम देखते रहें ।” यह एक मुहावर है, इच्छा व्यक्त्यर्थ “इसारी आयु अनिदीर्घ हो” यह है । परंतु यहाँ ध्यानमें विशेषरतता धारण करनेकी बात यह है कि अति दीर्घ आयु प्राप्त करनेका संशय सुर्वंसे अलग नहीं है । यहाँ यहाँ दीर्घ आयु प्राप्त करनेका उद्देश्य देवमें जाना है यहाँ यहाँ सुर्वंका संशय अत्यंत बढाया है । इसलिये जो लोग दीर्घ आयु प्राप्त करना चाहते हैं वे सुर्वंके साथ आनुत्तरपरदरध संशय है यह बात न भूलें । अद्यपि कृपासे दीर्घ आयु प्राप्त होती है इस विश्वासमें अल्पदेवमें अल्पन कहा है—

यो वे तीं ब्रह्मणः वेदान्तेनावृतां पुरम् ।
उत्से ब्रह्म य आस्ताव चतुः प्राणे मवीं दृष्टुः ॥ २५ ॥
न वै तं चतुर्बुधवित् न प्राणो जलतः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद पत्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥
(अथर्व ११२)

“जो विश्वविते ब्रह्मणं अन्तर्ध परिपूर्ण अंगोंको जानता है उसको स्वयं ब्रह्म और ब्रह्मके साथी अन्य देव कष्ट, प्राण और द्रव्य देते हैं ॥ २५ ॥ यदि इच्छावस्थासे पूर्ण उत्तरो प्राण और चतुर्बुधविते नहीं जो ब्रह्मणोंको जानता है और विश्व पुरीमें रहनेके कारण उसको पुरुष कहते हैं ॥ ३० ॥”

भाव स्पष्ट है कि ब्रह्मणं कृपासे दीर्घ आयु, संतान और अरोग्य सुर्वं ईश्वरोंसे मुक्त उत्तम शरीर प्राप्त होता है । यही भाव संशयसे अल्पने प्रकल्पिते सुखके चतुर्थं मंत्रमें ब्यप्य है

इस प्रकार यह ज्ञानी मनुष्य इस परलोकमें यशस्वी होता है ।
यही इस सूक्तका उपदेश है ।

विशेष दृष्टि ।

यह सूक्त केवल बाह्य दिशाएं और उनके पालकोंका ही वर्णन नहीं करता है । बाह्य दिशाओंका वर्णन इस सूक्तमें है, परंतु दिशा शब्द न प्रयुक्त करते हुए "आधा" शब्द का प्रयोग इसमें इर्षालिये हुआ है कि मनुष्य अपनी आधाओं और उनकी पालक शक्तियोंकी अपने अंदर अनुभव करे और उनके संयम, नियमन, और योग्य उपसन आदिसे अपना अभ्युदय और निःश्रेयस शिखर करे

इस सूक्तका यह खेयालंकार बड़ा ही महत्वपूर्ण है । और जो इस सूक्तको केवल बाह्य दिशाओंके लिये ही समझते हैं वे इसके महत्वपूर्ण उपदेशसे वंचित ही रहते हैं । पाठक इस दृष्टिसे इसका अध्ययन करें

इस सूक्तका संबंध आधुन्य गण, अपराजित गण आदि धनेरु मणिसि विषयकी अनुकूलतासे है । यह सूक्त स्वयं वास्तोष्पति गण अथवा वसु गण का है । इसलिये "महाकिं निवाध" के साथ इसका अपूर्व संबंध है । इस प्रकारकी दृष्टिसे विचार करनेसे पाठक इससे बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं और उसकी आवरणमें डालकर अपना अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त कर सकते हैं ।



जीवन-रसका महासागर ।

(३२)

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता—वावापृथिवी)

इदं जनासो विदथं महद्ब्रह्मं वदिष्यति । न तत्पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥ १ ॥

अन्तरिक्ष आसां स्थाम् आन्तसदाभिवं । आस्थानंमस्य भूतस्य विदुदृष्टेषसो न वा ॥ २ ॥

यद्रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम् । अद्रै तदद्य सर्वदा समुद्रस्यैव स्रोत्याः ॥ ३ ॥

विश्वंमुन्याममीवारं तद्वन्यस्यामर्षिश्रितम् । दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाफुं नमः ॥ ४ ॥

अर्थ—हे (जनासः) लोगो ! (इदं विदथ) यह ज्ञान प्राप्त करो । वही ज्ञानी (महत् ब्रह्म वदिष्यति) वही ब्रह्मके विषयमें कहेगा । (येन वीरुधः प्राणन्ति) जिससे जीवधियां आदि प्राण प्राप्त करती है, (तत् पृथिव्यां न, नो दिवि) यह पृथ्वीमें नहीं और नहीं गुलोक ॥ १ ॥ (आसां अन्तरिक्षे स्थाम्) इन जीवधि आदिकोंका अन्तरिक्षमें स्थान है, (आन्तसदां इव) एक कर बैठेहुओंके समान (अस्य भूतस्य आस्थानं) इस बने हुए अरु स्थान जो है (तत् वेधसः पितुः वा न) वह ज्ञानी जानते हैं वा नहीं ? ॥ २ ॥ (यत् रेजमाने रोदसी) जो हिलनेवाले वावापृथिवीके और (भूमिः च) केवल भूमिने भी (निरतक्षतं) बनाया (तत् अद्य सर्वदा आद्रं) वह आजतक सदासर्वदा रसमय है (समुद्रस्य स्रोत्याः इव) जैसे समुद्रके स्रोत होते हैं ॥ ३ ॥ (विश्वं) सब ने (अन्यां जग्भवार) दुसरोंको धरलिया है, (तत्) वह (अन्यस्यां कधिधितम्) दुसरोंमें आभित हुआ है । (दिवे च) गुलोक और (विश्ववेदसे च पृथिव्यै) संपूर्ण धर्मोंके युक्त पृथिवीके दिवे (नमः अकरं) नमस्कार देने किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे लोगो ! यह समझो कि जो तत्त्वज्ञान समझेगा वही ज्ञानी उसका विवरण करेगा । तत्त्वज्ञान यह है कि—जिनमें वजनेवाली वनस्पतियां आदिक अपना जीवन प्राप्त करती है वह जीवनका सत्व पृथ्वीपर नहीं है और नहीं गुलोक ॥ १ ॥ इन वनस्पति आदिका स्थान अंतरिक्ष है । जैसे यकैनादे विभ्राम करते हैं उसप्रकार ये वनस्पति आदिक अंतरिक्षमें रहते हैं । इस बने हुए जगत्का जो आधार है उसको कौनसे ज्ञानी लीय जानते हैं और कौनसे नहीं जानते ? ॥ २ ॥ हिलने जलनेवाले

दुलोक और पृथ्वीलोक के द्वारा जो कुछ बनाया गया है, वह सब इस समयतक बिल्कुल नया अर्थात् जीवन रससे परिपूर्ण जैसा है, जैसे सरोवरसे चलनेवाले स्रोत रससे परिपूर्ण होते हैं ॥ ३ ॥ यह सब जगत् दूसरी शक्ति के ऊपर रहा है और वही दूसरी के ही आश्रयसे रहा है। दुलोक और सब धर्मोंसे युक्त पृथ्वी देवोंको मैं नमन करता हूँ (क्योंकि ये दो देवताएं इस जगत् का निर्माण करनेवाली हैं।) ॥ ४ ॥

स्थूल सृष्टि ।

जो सृष्टि दिखाई देती है वह स्थूल सृष्टि है, इसमें मिट्टी परपर आदि अतिस्थूल पदार्थ, वृक्षवनस्पत्यादि बटनेवाले पदार्थ, पशुपक्षी आदि बटने और हिलनेवाले प्राणी तथा मनुष्य बटने हिलने और उभरत होनेवाले उच्च कोटीके प्राणी हैं। परपर मिट्टी आदि स्थिर सृष्टीको छोड़ जाय और वनस्पति पशु तथा मानव सृष्टिमें देखा जाय, तो ये उत्पन्न होते हैं, बटते हैं और प्राण धारण करते हैं यह बात स्पष्ट दिखाई देती है। इसमें दिखाई देनेवाला जीवनतरल कौनसा तत्व है? क्या यह स्थूल ही है या इससे भिन्न और कोई तत्व है इस का विचार इस सूत्रमें किया है ।

अब लोग इस जीवन रसका ज्ञान प्राप्त करें। यदि उनको जीवनरस आनंद प्राप्त करना है तो उनको उचित है कि वे इस (मनासः विषय) ज्ञानको प्राप्त करें। यह मनन करने योग्य सूचना प्रथम मंत्रके प्रारंभमें ही दी है। (मंत्र १)

यह जीवन रसकी विद्या कौन देगा? किससे यह प्राप्त होगी? यह धांका यहाँ आती है, इस विषयमें प्रथम मंत्रने ही आगे जाकर कहा है कि, जो हम विद्याको जानता होगा, वही (महत् ब्रह्म ब्रह्मिष्यति) बड़े ब्रह्मके विषयमें अर्थात् इस महत्त्वपूर्ण ज्ञानके विषयमें कहेगा। जिसको इस विद्याकी प्राप्ति करनेकी इच्छा हो, वह ऐसे विद्वानके पास जावे और ज्ञान प्राप्त करे। किसी अन्यके पास जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

जीवन का रस

सारांश रूपसे यह समझो कि "जिस जीवनतरलके आश्रयसे बटनेवाले वृक्ष वनस्पति प्राणी आदि प्राण धारण करते हैं यह जीवनका आधारतत्त्व न तो पृथ्वीपर है और नहीं सुलोकमें है।" (मंत्र १) वह किसी अन्य स्थानमें है इसलिये उसको इस बाह्य वावापृथिवीसे भिन्न किसी अन्य स्थानमें ही ढूँढना चाहिये ।

इस प्रथम मंत्रमें स्पष्ट शन्दोंसे कहा है कि जिससे जीवनका रस मिलता है वह तत्त्व इस स्थूल संसारसे बाहर अर्थात् वह अतिसूक्ष्म है। वह कहाँ है इसका पूर्ण उत्तर

आगे के मंत्रोंमें ध्यायागण ।

भूतमात्रका आश्रय ।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि—“इस सृष्टिगत संसृष्ट परा योना आश्रयस्थान अंतरिक्ष है। इन स्थूल पदार्थ मात्रका जो अंतरिक्षमें आश्रय स्थान है वह ज्ञानी भी जानते हैं वा नहीं?” अर्थात् इतना ज्ञान सब ज्ञानियोंको भी एकसा है वा नहीं? ज्ञानियोंमें भी जो परिपूर्ण ज्ञानी होते हैं वे ही केवल जानते हैं। सृष्टि विद्याके जाननेवाले इस बातसे नहीं बान सकते, परंतु आर्यविद्याका ज्ञान जाननेवाले ही इसको यथावत् जानते हैं। (मंत्र २)

इस द्वितीय मंत्रमें “भूत” शब्द है, इसका अर्थ ‘बना हुआ पदार्थ’। जो यह बनी हुई सृष्टि है इतीहा नाम भूत है और इसकी विद्याका नाम भूतविद्या है। इस सब सृष्टिका आधार देनेवाला एक सूक्ष्मतरंग है जिसका ज्ञान अन्त्यात्मविद्या जाननेवाले ही ज्ञान सकते हैं। इसलिये जीवनरस विद्याका अध्ययन करनेवाले ऐसे सद्गुरुके पास जावें, कि जो इसका ज्ञाता हो और उसके पाससे वह जीवनकी विद्या प्राप्त करें। यह ही ज्ञानी (महत् ब्रह्म ब्रह्मिष्यति) बड़े ब्रह्मका ज्ञान कहेगा। इस प्रकार द्वितीय मंत्रका प्रथम मंत्रके साथ संबंध है।

सनातन जीवन ।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि—“जो इस वावापृथिवीके अंदर बना हुआ पदार्थ मात्र है वह सदा सर्वदा, जिस समय बना है उस समयसे लेकर इस समयतक बाहर जीवन रससे परिपूर्ण होनेके कारण नहीं सा रहा है, इसमें जीवन रस ऐसा भरा है जैसा सरोवरसे चलनेवाले विविध स्रोतोंमें सरोवरका जल बहता है।”

जगत्के माता पिता ।

अदिति भूमि जगत्की माता है और सौमित्रता जगत् का पिता है। मूलोक और सुलोक, भूमि और सूर्य, आकाश और पुरुष शक्ति, श्रमण शक्ति और धन शक्ति, रथि शक्ति और प्राण शक्ति, प्रकृति और पुण्य, प्रकृति और आत्मा इतना प्रकाशके दो शक्तियोंसे यह जगत् बना है, इसलिये इनकी जगत्के माता पिता कहा है। विविध-प्रकारोंमें उक्त ब्रह्म शक्तियोंके

विविध नामोंसे किसी नामका प्रयोग किया है और जगत्स्य मूल उत्पादक शक्तियोंका वर्णन किया है ।

जीवनका एक महासागर ।

वेदमें यावा पृथिवी — युगोक्त और पृथ्वीलोग — को जगत् के माता पिता करके वर्णन किया है क्योंकि संपूर्ण जगत् इन्हींके अंदर समाया है । यह बना हुआ जगत् यद्यपि बननेके पश्चात् बड़ता और बिगड़ता भी है तथापि बने हुए संपूर्ण पदार्थोंमें जो जीवन तत्त्व व्याप रहता है वह एक रस-से व्यापता है, इसलिये संपूर्ण जगत्के निचम अटल और एक जैसे हैं । हजारों वर्षोंके पूर्व जैसा जीवन संसारमें चलता था वैसा ही आज भी चल रहा है । इसके जीवनसूत्रको अगाध सत्ता की कल्पना हो सकती है ।

जिस प्रकार एक ही सागरसे अनेक झील चलते हैं तो उनमें एक ही जीवन रस सबमें एकसा, प्रवाहित होता रहता है, उसी प्रकार इस संसारके अंदर बने हुए अनंत पदार्थोंमें एक ही अगाध जीवनके महासागरसे जीवन रस फैल रहा है, मानो संपूर्ण पदार्थ उस जीवनामृतसे ओतप्रोत भरपूर हो रहे हैं ।

पाठक धनगर अपने आपको भी उसी जीवन महासागरमें ओतप्रोत भरनेवाले एक घड़ेके सामान समझें और अपने अंदर वही जीवन स्रोत चल रहा है इसका ध्यान करें । जिस प्रकार तैरनेवाला मनुष्य अपने चारोंभोर जलका अनुभव करता है उसीप्रकार मनुष्य भी उसी जीवन महासागरमें तैरनेवाला एक प्राणी है, इसलिये इस प्रकार ध्यान करनेसे उस जीवनामृतके महासागर की अस्पष्टी कल्पना हो सकती है । यह जीवन सदा ही नवीन है, कभी भी यह पुराना नहीं होता, कभी बिगड़ता नहीं । अन्य पदार्थ बनने और बिगड़ने पर भी यह एवसा नवीन रहता है । और यही सबको जीवन देता है । (तद् अथ सर्वदा आर्यं) वह आज और सदा सर्वदा एक जैसा अमिन्नव रसपूर्ण रहता है । सबको जीवन देने पर भी जिसकी जीवन शक्ति रतिमात्र भी कम नहीं होती, इतनी अगाध जीवन शक्ति सबमें है ।

सबका एक आभय ।

चतुर्थ मंत्रका कथन है कि—“संपूर्ण विश्व अर्थात् यह स्थूल जगत् एक दूसरी शक्तिके ऊपर रहता है और वह शक्ति और दूसरी शक्तिके आश्रयसे रहती है । वही आधारका तत्त्व पृथ्वी और युगोक्तके स्वरूपमें दिखाई दे रहा है इसलिये मैं तुलोकाम उसकी प्रकाशशक्तिकी और पृथ्वीमें उसकी आधार शक्तिकी नमस्कार करता हूँ ।” अर्थात् संपूर्ण जगत्में उसकी शक्ति ही जगत् के रूपमें प्रकट होगई है ऐसा जानकर, जगत्की देखकर उस शक्तिका स्मरण करता हुआ उस विषयमें अपनी मनता प्रकट करता हूँ ।

स्थूल सूक्ष्म और कारण ।

इस मंत्रमें विश्व “शब्द” स्थूल जगत्का श्लेषक है इस स्थूलका आधार (अन्या) दूसरा है, इससे सूक्ष्म है और वह इसके अंदर है अथवा उसके बाहर यह सब विश्व है । प्रत्येक स्थूल पदार्थके अंदर यह सूक्ष्म तत्त्व है और यह भी ताँसे आसिद्धम तत्त्व पर आश्रित है । यह ताँसे तत्त्व ही सबका एक मात्र आधार है और इसका जीवन अमृत सबमें एक रस होकर व्याप रहता है । इसी रस वनके समुद्रमें सब विश्वके पदार्थ तैर रहे हैं अथवा संपूर्ण पदार्थ रूपा छोटे बड़े स्रोत उसी एक अद्वितीय जीवनमहासागर से चल रहे हैं । इनमें उसीका जीवन कार्य कर रहा है यह बताना इस सूक्तका उद्देश्य है । अनेकोंमें एक ही जीवन भरा है इसका अनुभव यहाँ होता है ।

यह सूक्त केवल पढ़नेके लिये नहीं है, प्रत्युत यह मनकी धारणा करके अपने मनमें धारणामें स्थिर करनेके अनुष्ठानके लिये ही है । जो पाठक इसकी उक्त प्रकार धारणा कर सकेंगे वे ही इसके योग्य लाभ प्राप्त कर सकेंगे । पाठक यहाँ देखें कि छोटेसे छोटे सूक्तों द्वारा वेद कैसा अद्भुत उपदेश दे रहा है ! निःसंदेह यह उपदेश जीवन फलदा देनेमें समर्थ है । परंतु यह लाभ वही प्राप्त करेगा कि जो इन्हींके जीवनमें डालनेका यत्न करेगा ।

जलसूक्त

(३३)

(ऋषिः-शन्तातिः । देवता आपः । चन्द्रमाः)

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः संविता यास्वमिः ।
 या अमि गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ १ ॥
 यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अंवपश्यन् जनानाम् ।
 या अमि गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ २ ॥
 यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति ।
 या अमि गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ३ ॥
 शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशतु त्वर्चं मे ।
 घृतश्रुतः शुचयो याः पावकास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ४ ॥

अर्थ-जो (हिरण्य-वर्णाः) सुवर्णके समान चमकनेवाले वर्णसे युक्त (शुचयः पावकाः) शुद्ध और पवित्रता बढानेवाला (यासु सन्विता जातः) जिनमें संविता हुआ है और (यासु अमिः) जिनमें अमि है, (याः सुवर्णाः) जो उत्तम वर्णवाला जल (अमि गर्भं दधिरे) अमिको गर्भमें धारण करता है (ताः आपः) वह जल (नः शं स्योनाः भवन्तु) हम सबको दांति और मुख देनेवाला होवे ॥ १ ॥ (यामां मध्ये) जिन जलके मध्यमें रहता हुआ (वरुणः राजा) वरुण राजा (जनानां सत्यानृते अवपश्यन्) जनोंके सत्य और असत्य फर्कोंका अवलोकन करता हुआ (याति) चलता है । (याः सुवर्णाः) जो उत्तम वर्णवाला जल अमिको गर्भमें धारण करता है वह जल हम सबको शांति और सुख देनेवाला होवे ॥ २ ॥ (देवाः दिवि) देव लोकोमें (यामां भक्षं कृण्वन्ति) जिनका भक्षण करते हैं, और जो (अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति) अन्तरिक्षमें अनेक प्रकार से रहता है और जो उत्तमवर्णवाला जल अमिको गर्भमें धारण करता है वह जल हम सबको दांति और सुख देनेवाला होवे ॥ ३ ॥ हे (आपः) जल ! (शिवेन चक्षुषा मा पश्यत) कल्याणकारक नेत्र द्वारा मुझको तुम देखो । (शिवया तन्वा मै-
 त्यर्चं उपस्पृशत) कल्याणमय अग्ने परांसे मेरी त्वचाको स्पर्श करो । जो (घृतश्रुतः) तेज देनेवाला (शुचयः पावकाः) शुद्ध और पवित्र (आपः) जल है (ताः नः शं स्योनाः भवन्तु) वह जल हमारे लिये शांति और सुख देनेवाला होवे ॥ ४ ॥

भानार्थ-अंतरिक्षमें संचार करनेवाले मेघमंडलमें तेजस्वी पवित्र और शुद्ध जल है, जिन मेघोंमेंसे सूर्य दिखाई देता हो, जिनमें विद्युत् रूपी अग्नि कमी भ्रमक और कमी गुप्त रूपसे दिखाई देता हो, वह जल हमें शांति और आरोग्य देनेवाला होवे ॥ १ ॥ जिनमेंसे वरुण राजा घूमता है और जाते जाते मनुष्योंके सत्य और असत्य विचारों और कर्मोंका निरीक्षण करता है जिन मेघोंमें विद्युत् रूपी अमिको गर्भके रूपमें धारण किया है उन मेघोंका उदक हमें सुख और आरोग्य देवे ॥ २ ॥ एलोकिक के देव जिसका भक्षण करते हैं और जो विविध रूपरंगवाले अंतरिक्षस्थानीय मेघोंमें रहता है तथा जो विद्युत्का धारण करते हैं उन मेघोंका जल हमारे लिये सुख और आरोग्य देवे ॥ ३ ॥ जल हमारा कल्याण करे और उग्रघ्न हमारे परांरके घाय होनेवाला स्पर्श हमें आल्हाद देनेवाला प्रतीत हो । मेघोंका तेजस्वी और पवित्र जल हमें शांति और सुख देनेवाला होवे ॥ ४ ॥

वृष्टिका-जल ।

इन चारों मंत्रोंमें वृष्टिजलका वाच्यमय वर्णन है। इन मंत्रोंका वर्णन इतना काव्यमय है और छंद भी ऐसा उत्तम है कि एक स्वरसे पाठ करनेपर पाठकको एक अद्भुत आनंदका अनुभव होता है। इन मंत्रोंमें जलके विशेषण "सुधि, पावक, सु-वर्ण" आदि शब्द वृष्टि जलकी सुगन्धा बता रहे हैं। वृष्टि जलजितना शुद्ध होता है उतना, कोई दूषण जल नहीं होता। शरीर शुद्धिची इच्छा करनेवाले दिव्यलोग इसी जलका पान करें और आरोग्य प्राप्त करें। इसके पानसे शरीर पवित्र और निरोग

होता है। सामान्यतया वृष्टि जल शुद्ध ही होता है परंतु जिस वृष्टिमें सूर्यकिरणें भी प्रकाशती हैं उसकी विशेषता अधिक है। इसी प्रकार चंद्रमाकी किरणोंका भी परिणाम होता है।

इस सूक्तके चतुर्थे मंत्रमें उत्तम स्वास्थ्यका लक्षण बताया है वह ध्यानमें धारण करने योग्य है—“जलका स्पर्श हमारी चमकीको आनंदाद देवे।” जबतक शरीर निरोग होता है तबतक ही शीत जलका स्पर्श आनंद कारक प्रतीत होता है, परंतु शरीर रुग्ण होते ही जल स्पर्श घुरा लगने लगता है।



मधु-विद्या ।

(३४)

(ऋषिः— अथर्वा । देवता—मधुवल्ली)

इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि । मधोराधि प्रजातासि सा नो मधुमत्स्कृधि ॥ १ ॥
 जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् । ममेदह क्रतावसो मम चिचमुपायसि ॥ २ ॥
 मधुमन्मे विक्रमणं मधुमन्मे परायणम् । वाचा वंदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ॥ ३ ॥
 मधौरस्मि मधुवरो मधुघान्मधुमत्तरः । मामित्किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥ ४ ॥
 परिं त्वा परितत्तुनेक्षुणांगामविद्विषे । यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापंग्ना असः ॥ ५ ॥

अर्थ— (इयं वीरुन् मधुजाता) यह वनस्पति मधुरताके साथ उत्पन्न हुई है, मैं (त्वा मधुना खनामसि) तुझे मधुसे खोदता हूँ। (मधोः अधि प्रजाता असि) शहरदके साथ तू उत्पन्न हुई है अतः (सा) वह तू (नः मधुमत्ः कृधि) हम सबको मधुर कर ॥ १ ॥ (मे जिह्वाया अग्रे मधु) मेरी जिह्वाके अग्र भागमें मधुरता रहे। (जिह्वामूले मधूलकम्) मेरी जिह्वाके मूलमें भी मीठास रहे। हे मधुरता ! तू (मम क्रतावसो अह असः) मेरे अर्थमें निश्चयसे रह। (मम चित्तं उपायसि) मेरे चित्तमें मधुरता बनी रहे ॥ २ ॥ (मे विक्रमणं मधुमत्) मेरा चालचलन मीठा हो। (मे परायणे मधुमत्) मेरा दूर होना भी मीठा हो। मैं (वाचा मधुमत् वंदामि) वाचसे मीठा बोलता हूँ जिससे मैं (मधुसन्दृशः भूयासं) मधुरताकी मूर्ति बर्तूंगा ॥ ३ ॥ मैं (मधोः मधुवरोः अस्मि) शहरदसे भी अधिक मीठा हूँ। (मधुघात् मधुमत्तरः) मधुरपदार्थसे व्याधिक मधुर हूँ। (मां इत् किल त्वं वनाः) सुसपर ही तू प्रेम कर (मधुमतीं शाखां इव) जैसे मधुर रखवाली वृक्ष शाखासे प्रेम करते हैं ॥ ४ ॥ (अ-विद्विषे) वैर दूर करने के लिये (परितत्तुना इक्षुणा त्वा परि अगाम्) फैले हुए ईखके साथ तुझे घेरता हूँ। (यथा मां कामिनी असः) जिससे तू मेरी कामना करनेवाली होवे और (यथा मत्न अपंगाः असः) जिससे तू सुखसे दूर न होनेवाली होवे ॥ ५ ॥

भावार्थ— यह ईख नामक वनस्पति स्वभावसे मधुर है और उसको लगानेवाला और उखाड़नेवाला भी मधुरता की भावनासे ही उसको लगाता है और उखाड़ता है। इस प्रकार यह वनस्पति परमात्मासे मीठास अपने साथ लाती है, इसलिये हम चाहते हैं कि यह हम सबको मधुरतासे युक्त बनावे ॥ १ ॥ मेरी जिह्वाके अग्रभागमें मधुरता रहे, जिह्वाके मूल में और मध्यमें मधुरता

रहे । में। कर्ममें मधुरता रहे, और मेरा चित्त भी मधुर विचारोंका मनन करे ॥ २ ॥ मेरा बचवचन मीठा हो, मेरा खाना जाना मीठा हो, मेरे हारों और आभूषणों में रत्न भी मीठी हों। ऐसा होनेसे मैं अंदर बाहरसे मीठास की मूर्ति ही बनेगा ॥ ३ ॥ मैं राहसे भी मीठा बनता हूँ, मैं मिठाईसे भी मीठा बनता हूँ, इसलिये जिस प्रकार मधुर पत्रवाली साधारण पक्षी प्रेम करते हैं उस प्रकार तू सुखी प्रेम कर ॥ ४ ॥ कोई किमीना श्रेय न करे इस उद्देश्यमें व्यापक मधुरवर्णिका अर्थात् व्यापक मधुर विचारोंकी सब चारों ओर बनाता हूँ ताकि इस बातमें सब मधुरता ही बटे और सब एक दूसरेपर प्रेम करें और विद्वेषसे कोई किसीसे विमुख न हो ॥ ५ ॥

मधुविद्या ।

वेदमें कई विद्याएं हैं अन्धारमिथिया, देवावेदा, जन विद्या, युद्ध विद्या; इसी प्रकार मधुविद्या भी वेदमें है। मधुविद्या जगत् की ओर किस प्रकार देखना चाहिये वह दृष्टिकोण ही मनुष्यमें उपलब्ध करता है। उपनिषदों में भी यह मधुविद्या वेद मंत्रोंसे की है। यह जगत् मधुरूप है अर्थात् मीठा है ऐसा मानकर जगत् की ओर देखना इस बातका मधु विद्या उपदेष्ट करता है। दूसरी विद्या जगत् को बहका आगर करता है; इसको पाठक कटुविद्या कह सकते हैं। परंतु यह कटुविद्या वेदमें नहीं है। वेद जगत् की ओर दुःख दृष्टिसे देखाता नहीं, न ही दुःख दृष्टिसे जगत्की देखनेका उपदेष्ट करता है। वेदमें मधुविद्या इसीलिये है कि इसका ज्ञान प्राप्त करके लोग जगत् की ओर मधुरदृष्टिसे देखनेकी बात सीखें। इन विद्याके मंत्र अधर्ववेदमें भी बहुत हैं और अन्य वेदोंमें भी हैं, उनका यहां विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इन सूक्तके मंत्र ही स्वयं उक्त विद्याका उगम उपदेष्ट करते हैं। पाठक इन मंत्रोंका विचार करें और उचित बोध प्राप्त करें।

जन्म स्वभाव ।

इसमें क्या और प्राणियोंमें क्या इराक का न्यन्त्रिण्डध अन्मस्वभाव रहता है जो बदलता नहीं। जैसा सुयंका प्रकाशना, अमिका उष्ण होना, ईशका मीठा होना, करलेका कड़वा होना, इत्यादि ये जन्मस्वभाव हैं। ये जन्मस्वभाव कहाँसे आते हैं यह विचारणीय प्रश्न है। ईश मिठास लाता है और करेला कड़वाहट लाता है। एक ही भूमिमें सभी ये दो वनस्पतियाँ परस्पर मिश्र दो रसोंकी अपने साथ लाती हैं। कभी करेलेमें मीठा रस नहीं होता और न ही ईशमें कटुता। ऐसा क्यों होता है ? कहाँसे रस आते हैं ?

कोई कहेंगा कि भूमिसे। क्योंकि भूमिका नाम "रसा" है। इस भूमिमें विविध रस होते हैं। जो जहाँ पौधा उसके पास जाता है, वह अपने स्वभावके अनुसार भूमिसे रस खींचता है और जनताको देता है। करेलेका स्वभाव-कटुता है और ईशका

मीठा है। ये पौधे भूमिके विविध रसोंमें से अपने स्वभावके अनुसार रस लेते हैं और उनको लेकर जगत् में प्रकट होते हैं।

मनुष्यमें भी यही बात है। विभिन्न प्रकृतिके मनुष्य विभिन्न गुणधर्म प्रकट कर रहे हैं, उनको एक ही अज्ञानसे एकही जीवनके महासागरसे जीवन रस मिलता है, परंतु एकमें वही जीवन चान्ति बढानेवाला और दूसरेमें अघान्ति फैलानेवाला होता है। ये स्वभाव धर्म हैं। एकही जल में दोनों जाता है और मीठा बनकर दृष्टिसे परिशुद्ध स्थितिमें प्राप्त होता है, जिसकी पीकर मनुष्य सुख ही उठना है वही अन्न मनुष्यमें जाता है और खारा बनता है, जिसको कोई पी नहीं सकता नहीं यह स्वभाव भेद है।

अन्य पदार्थ अथवा अन्य योनियों अपने स्वभाव बदल नहीं सकती। मरनेतक उनमें बदल नहीं होता। परंतु मनुष्य योनि ही एक ऐसी योनि है कि जिस योनिके लोग सुनिश्चयके आचरणसे अपना स्वभाव बदल सकते हैं। दुष्टके दुष्ट बन सकते हैं, मूर्खके प्रबुद्ध बन सकते हैं, दुराचारियोंके धराधारी हो सकते हैं, इसीलिये वेद मनुष्योंकी भलाई के लिये इस मधुविद्याका उपदेष्ट दे रहा है। मनुष्य अपना कड़वाहट कम करे और अपनेमें मिठास बढाने परी यही इस विद्याका उद्देश्य है।

अब मधुविद्याका प्रथम मंत्र देखिये— "यह ईश नामक वनस्पति मिठास के साथ जन्मी है, मनुष्य मीठी भावनाके साथ उसे खाते हैं। यह मधुरता लेकर आगई है, इसलिये रस सबको यह वही मिठाससे युक्त करे।" (मंत्र १)

यह प्रथम मंत्र बड़ा अदभुत है। इसमें चार बातें हैं—(१) स्वयं मीठे स्वभाव का होना, (२) मीठे स्वभाव वालोंसे संबंध करना, (३) स्वयं मधुर जीवनको हृदीय करना, और (४) दूसरोंको मीठा बना देना। पाठक देखें कि—(१) ईश स्वयं स्वभावसे मीठा होता है, (२) मीठा उद्यम करनेकी इच्छा वाले मित्रांशुके लक्ष्मी मित्रता होती है, (३) ईश स्वयं मीठा जीवन रस अपने साथ लाता है और (४) जिस बीज के साथ

मिलता है उसको मीठा बनाता है। क्या पाठक इस आदर्श मीठे जीवनसे बोध नहीं ले सकते ?

ये चार उपदेश हैं जो मनुष्यको विचार करने चाहिये। यह ईश्वर अपने व्यवहारसे मनुष्यको उपदेश दे रहा और बता रहा है कि इस प्रकार व्यवहार करनेसे मनुष्य मीठा बन सकता है। इसके अनन्तसे प्राप्त होनेवाले नियम ये हैं -

(१) अपना स्वभाव मीठा बनाना। अपनेमें यदि कोई कटुता, कठोरता या तीक्ष्णता हो तो उसको दूर करना तथा प्रति समय आत्मपरीक्षा करके, दोष दूर करके, अपने अंदर मीठा स्वभाव बढ़ानेका यत्न करना।

(२) मनुष्यको उचित है कि वह स्वयं ऐसे मनुष्यों के साथ मित्रता करे कि जो मीठे स्वभाव वाले हों अथवा मधुरता फैलाने के इच्छुक हों।

(३) अपना जीवन ही मीठा बनाना, चालचलन, बोलना चालना मीठा रखना। अपने हृत्कारोंसे भी कटुताका भाव व्यक्त न करना।

(४) प्रयत्न इस बातका करना कि दूसरोंके भी स्वभाव मीठे बनें और कठोर प्रकृतिवाले मनुष्य भी सुधर कर उत्तम मधुर प्रकृतिवाले बनें।

पाठक प्रथम मंत्रका मतन करेंगे तो उनको ये उपदेश मिल सकते हैं। " ईश्वर स्वयं मीठा है, मीठा चाहनेवाले किञ्चन से मित्रता करता है, अपनेमें मधुर जीवन रख लाता है और जिसमें मिल जाता है उनको मीठा बना देता है।" इस प्रथम मंत्रके चार पादोंका भाव उक्त चार उपदेश दे रहे हैं। पाठक इन उपदेशोंको अपनेनामका प्रथम करें। (मंत्र १)

यहाँ अम्योक्ति अलंकार है। पाठक इस वाक्यमय मंत्रका यह अलंकार देखें और समझें। वेदमें ऐसे अलंकारोंसे बहुत उपदेश दिया है।

मीठा जीवन।

पूर्वोक्त प्रथम मंत्रके तीसरे पादमें अम्योक्ति अलंकारसे सूचित किया है कि "मनुष्य मिठास के साथ जीवन व्यतीत करे।" अर्थात् अपना जीवन मधुर बनावे। इसी बातको व्याख्या अगले तीन मंत्रोंमें स्वयं वेद करता है। इधलिये उक्त तीन मंत्रोंका भाव योद्धाविस्तार से यहाँ देते हैं-

(दूसरा मंत्र) - " मेरी जिह्वामें मूल, मधु और अम्रभागमें मिठास रहे अर्थात् मैं वाणीसे मधुर शब्द ही बोलूँगा। कभी कटु शब्दका प्रयोग बोलनेमें और लेखमें नहीं करूँगा, कि जिससे जगत्में कटुता फैले। मेरा चित्त भी मीठे विचारोंका

चिन्तन करेगा। इस प्रकार चित्तके विचार और वाणीके उच्चारण एक रूपता में मीठे बन गये तब मेरे (कतु) आचार व्यवहार अर्थात् कर्म-भी मीठे हो जायेंगे। इस प्रकार विचार उच्चारण आचारमें मीठा बना हुआ मैं जगत् में मधुरता फैलाऊँगा। मेरे विचार से, मेरे भावोंसे और मेरे आचार व्यवहार से चारों ओर मिठास फैलेगी। "

(तीसरा मंत्र) - " मेरा आचार व्यवहार मीठा हो, मेरे पासके और दूरके व्यवहार मीठे हों, मेरे शरीर मीठे हों, मैं वाणीसे मधुर ही शब्द उच्चारूँगा और उस भावगुणा अथवा भी मधुरता बढ़ानेवाला ही होगा। जिस समय मेरे विचार उच्चारण और आचार में स्वाभाविक और अकृतमि मधुरता टपकने लगेगी, उस समय मैं मारुत्य की मूर्ति ही बनूँगा। "

(चतुर्थ मंत्र) - " जब शब्दसे भी मैं अधिक मीठा बनूँगा, और लड़हसे भी मैं अधिक मीठा बनूँगा तब तुम सब लोग निःसंदेह सुधरकर वैवा प्रेम करोगे कि जैसा पाक्षिगण मीठे फलोंसे युक्त इंसानाखापर प्रेम करते हैं। "

ये तीन मंत्र कितना अद्भूत उपदेश दे रहे हैं इसका विचार पाठक अवश्य करें। ऊपर भावार्थ देते समय ही भावार्थ ठीक व्यक्त करने के लिये कुछ औपिक शब्द रखे हैं, उनके कारण इनका अर्थ अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

प्रतिज्ञा।

ये मंत्र प्रतिज्ञा के रूपमें हैं। मैं प्रतिज्ञा इस प्रकार करता हूँ, यह भाव इन मंत्रोंमें है। जो पाठक इन मंत्रोंसे अधिकसे अधिक लाभ उठानेके इच्छुक हैं वे यही प्रतिज्ञा करें, यदि उन्होंने ऐसी प्रतिज्ञा की और उस प्रकार उनकी आचरण हुआ तो उनका यश सर्वत्र फैल जायगा। यह पूर्ण अहिंसा की प्रतिज्ञा है। अपने विचार, उच्चारण, आचरणके किसी प्रकार किसीकी भी हिंसा न हो, किसीका द्वेष न हो, किसीका शिर न हो, किसीकी शत्रुता न हो, इस प्रकार अपना आदर्श जीवन बननेपर जगत्में आनंदका ही साम्राज्य बन जायगा। इस आनंदका साम्राज्य स्थापन करना वैदिक धर्मियोंका परम धर्म ही है और इसीलिये इस मधुविद्याका उपदेश इस सूक्तमें हुआ है।

मीठी वाड।

ऐतन्ना वाड लगाते हैं जिससे खेपका नाश करनेवाले पशु उन खेततक पहुँच नहीं सकते और खेत सुरक्षित रहता है। इसी प्रकार स्वयं मीठा और मधुरता फैलानेवाला मनुष्य अपने चारों ओर मीठा भाव बनावे। जिससे उसके विरोधी शत्रु-कार्य देप

भान आदि दानु-उस तक न आसके । यह बात अपने मनमें सुविचारोंकी हो, अपने दंष्ट्रियोंके साथ संयम की हो, अपने घरमें परस्पर प्रेमकी हो, समाजमें परस्पर मित्रताकी हो । अपने सब मित्रमां उत्तम मति विचार जीवन में लाने और मधुरता फैलाने वाले हों ऐसी बात होगई तो अंदरका मिठासका खेत चिंचड़ेगा नहीं । इस विषयमें पंचम मंत्र देखने योग्य है-

(पंचम मंत्र)—“ मैं विद्वेषको इष्टानिके लिये चारों ओर फैलनेवाले मीठे इंसोंकी बात सुन्दारे चारों ओर करता हूँ जिससे तू मेरी इच्छा करेगी अंत सुससे दूर भी न होगी । ”

यह जितना श्री पुरयके आशुके अविद्वेषके लिये सत्य है

उतना ही अन्य परिवारों और मित्रजनोंके अविद्वेष और प्रेम बढ़ानेके विषयमें सत्य है । परंतु अपने चारों ओर मीठों बात करनेकी शक्ति पाठकोंके अक्षय्य जानने चाहिये । अपने साथ ईश्वर की गंठेरियां लेनेसे यह कार्य नहीं होगा । यह कार्य करनेके लिये जो ईश्वर चाहिये वे विचार, उचार और आचारके तथा मनोभावना की ईश्वर चाहिये । जो पाठक अपने अंतःकरणके क्षेत्र में ईश्वर लगायें और उसकी पुष्टि अपने मति जीवन से करेंगे, वे ही वे वैदिक ऋषदेव आचार्यमें ढाल सकते हैं ।

ये मंत्र स्पष्ट हैं । अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है, परंतु पाठक इनको काव्य की दृष्टिसे समझनेका मूल करने तभी वे स्पष्ट उठा सकते हैं ।

तेजस्विता बल और दीर्घायुष्य

की प्राप्ति ।

(३५)

(ऋषिः—अथर्वा । देवता—हिरण्यं, इन्द्राग्नी, विश्वेदेवाः)

यदावभन्दाक्षायुणा हिरण्यं शुतानीकाय सुमनुस्पर्मानाः ।

तत्तै वषन्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाम्यं श्वशारदाय

॥ १ ॥

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्येष्टेत् ।

यो विभक्तिं दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषुं रुणुते दीर्घमायुः

॥ २ ॥

अर्वा तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामूत दीर्घायुषि ।

इन्द्रं इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन्तद्दक्षमाणो विमरद्विरण्यम्

॥ ३ ॥

सर्मानां मासामूतमिष्ट्वा वयं संघत्सरस्यु पर्वसा पिपर्मि ।

इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामर्हणीयमानाः

॥ ४ ॥

अर्थः—(सुमनुस्पर्मानाः दाक्षायणः) शुभ मनवाले और बलकी वृद्धि करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष (श्वशरानीकाय) बलके ही विभागों के संघालक के लिये (यद्द हिरण्यं अथर्वा) जो सुवर्ण बांधते रहे (वत्) वह सुवर्ण (आयुषे वर्चसे) जीवन, तेज, (बलाय) बल और (श्वशरदाय दीर्घायुत्वाम्यं) श्री वर्णकी दीर्घ आयुके लिये (से यज्ञानि) तेरे ऊपर बांधता हूँ ॥ १ ॥ (न रक्षांसि, न पिशाचाः) न राक्षस और न पिशाच (एनं सहन्ते) इस पुरुषका हमला सह सकते हैं (हि) क्योंकि (एतद् देवानां प्रथमजं-

भोजः) यह देवोंमें प्रथम उष्यत हुआ सामर्थ्य है । (यः दाक्षायणं हिरण्यं विभक्तिं) जो मनुष्य दाक्षायण सुवर्ण धारण करता है (सः जीवेषु दीर्घं आयुः कृणुते) यह जीवोंमें अपनी दीर्घ आयु करता है ॥ २ ॥ (अपं तेजः ज्योतिः भोजः बलं च) जलका तेज, कान्ति, पराक्रम और बल (उच्यते) तथा (यनस्पर्शानां वीर्याणि) औषधियोंके सब वीर्य (अस्मिन् अधि धारयामः) इस पुरुषमें धारण करते हैं (इन्द्रे इन्द्रियाणि इव) जैसे आत्मामें इन्द्रिय धारण होते हैं । इस प्रकार (दक्षमाणः हिरण्यं विभक्तुः) बल बढ़ाने की इच्छा करनेवाला सुवर्णका धारण करे ॥ ३ ॥ (समानां मासां ऋतुभिः) सम महिनोंके ऋतुओं के द्वारा (संवत्सरस्य पयसा) वर्ष रूपी गौके दूधसे त्वा अर्घ्यं पिपर्मि) तुझे हम सब पूर्ण करते हैं । (इन्द्राभी) इन्द्र और अग्नि (विश्वे देवाः) तथा सब देव (अहृणीयमानाः) संकोच न करते हुए (ते अनु मन्वन्तां) तेरा अनुमोदन करें ॥४॥

भावाय- बल बढ़ानेवाले और मन्त्रमें शुभ विचारों की धारणा करनेवाले श्रेष्ठ महात्मा पुरुष सेना संचालकके देहपर बलवृद्धि के लिये जिस सुवर्णके आभूषणको लटका देते हैं, वही आभूषण में तेरे शरीरपर इसलिये लटकता हूँ कि इससे तेरा जीवन सुधरे, तेज बढ़े, बल तथा सामर्थ्य वृद्धित हो और तुझे सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त हो ॥ १ ॥ यह आभूषण धारण करनेवाले वीर पुरुषके हमलेके न राक्षस और नही विघाच सह सकते हैं । वे इसके हमलेसे घबराकर दूर भाग जाते हैं, क्योंकि यह देवों से निकटा हुआ सबसे प्रथम दर्जेका बल ही है । इनका नाम दाक्षायण अर्थात् बल बढ़ानेवाला सुवर्णका आभूषण है । जो इसका धारण करता है वह मनुष्योंमें सबसे अधिक दीर्घ आयु प्राप्त करता है ॥ २ ॥ हममत्र इस पुरुषमें जीवन का तेज, पराक्रम सामर्थ्य और बल धारण करते हैं । और वाय साथ औषधियोंसे नाना प्रकारके वीर्यशाली बल भी धारण करते हैं । जिस प्रकार इन्द्रमें अर्थात् आत्मामें इन्द्रिय शक्तियां रहती हैं उठी प्रकार इस सुवर्णका आभूषण धारण करनेवाले मनुष्यके अंदर सब प्रकारके बल रहें, वे बाहर प्रगट हो जाय ॥ ३ ॥ दो महिनोंका एक ऋतु होता है । प्रत्येक ऋतुकी शक्ति अलग अलग होती है; मानो संवत्सररूपी गौका दूध ही संवत्सरकी छह ऋतुओंमें निचोड़ा हुआ है । यह दूध मनुष्य पीवे और बलवान् बने । इसकी अनुकूलता ईद अग्नि तथा सब देव, करें ॥ ४ ॥

दाक्षायण हिरण्यम् ।

हिरण्य शब्दका अर्थ सुवर्ण अथवा सेना है, यह परिशुद्ध स्थितिमें बहुत ही बलवर्धक है । यह वेदमें भी लिया जाता है और शरीरपर भी धारण किया जाता है । श्री० यास्काचार्यः हिरण्य शब्दके दो अर्थ देते हैं—' हितरमणीयं, हृदयरमणीयं' अर्थात् यह सुवर्ण हितकारक और रमणीय है तथा हृदयकी रमणीयता बढ़ानेवाला है । सुवर्ण बलवर्धक तथा रोग नाशक है इसलिये आरोग्य चाहनेवाले इसका उपयोग कर सकते हैं—

इस सूक्तमें " दाक्षायण " शब्द (दक्ष-अयन) अर्थात् बलके लिये प्रयत्न करनेवाला ऋतु अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । प्रथम मंत्रमें यह शब्द मनुष्योंका विशेषण है और द्वितीय मंत्रमें यह सुवर्णका विशेषण है । तृतीय मंत्रमें इसी अर्थका " दक्ष-माग " शब्द है जो शक्तिमानक शब्दक है । पाठक विचार करेंगे तो उनकी निश्चय होगा कि " दाक्षायण और दक्षमाग " ये दो शब्द करीब शक्तिमान के ही शब्दक हैं । दक्ष शब्द वेदमें बलवर्धक प्रसिद्ध है । इस प्रकार इस सूक्तमें बल बढ़ानेका जो मार्ग बताया है, उसमें सबसे प्रथम हिरण्यधारण है । हिरण्यधारण दो प्रकारके होता है, एक तो आभूषण शरीरपर धारण करना और दूसरा

सुवर्ण शरीरमें भेदन करना । सुवर्ण शरीरमें खानेकी रीति वैद्यमेंभी में प्रसिद्ध है । सब अन्य धातु तथा औषधियां सेवन करनेपर शरीरमें नहीं रहती, परंतु सुवर्ण की ही विशेषता है कि वह शरीरके अंदर हृदयमेंके जोड़ोंमें जाकर स्थिर रूपसे रहता है और मृत्युके समय तक साथ देता है । इस प्रकारकी सुवर्णधारणाने अनेक रोगोंसे मुक्तता होती है । इस रीतिसे धारण किया हुआ सुवर्ण देह मृत होनेपर उसके अलनिक बाद शरीरकी राखतें राखका सब मिलता है । अर्थात् यदि किसी पुरुषमें एक तोला सुवर्ण वैद्यकीय रीतिसे सेवन किया तो वह तोलाभर सुवर्ण मृत शरीरके देह होनेके पश्चात् उसके संबंधियोंको प्राप्त हो सकता है । इस प्रकार कोई हानि न करता हुआ यह स्वर्ण बल और आरोग्य देता है ।

जो वैद्य इस सुवर्ण धारण विधिसे जानते हैं उनका नाम " दाक्षायण " प्रथम मंत्रके कण्ड है । इस प्रकारका परिशुद्ध सुवर्ण बलवर्धक होनेसे उसका नाम भी " दाक्षायण " है यह बात द्वितीय मंत्रने बता दी है । जो मनुष्य हम प्रकार सुवर्ण धारण विधिसे अपना आयुष्य बढ़ाना चाहता है, उसका भी नाम वेदने

तृतीय मंत्रमें "दक्ष-भाग" बलादा है। इस प्रकार यह सूक्त बलवर्धन की बात प्रारंभसे अंत तक बतला रहा है।

दाक्षायणी विद्या ।

बल बढ़ानेकी विद्याका नाम दाक्षायणी विद्या है। (दक्ष-अयनः) बः, प्राग करकेके मार्गका उपदेश इस विद्यामें होता है। इस विद्यामें मनके साथ विरोध संबंध रहता है (सु-मनस्यमान) उक्त मनसे युक्त अर्थात् मनको विरोध चकित्तसे संपन्न। कमजोरीकी भावनासे मन अप्रमत्त होता है और सामर्थ्य की भावनासे बलशाली होता है। मनको शक्ति गणेशकी जो विद्या है उस विद्याके अनुसार मन सुनियन्त्रसे युक्त धनत्रेयाके छेष्ट लोग "सुमनस्यमाशः वासायणाः" शब्दों द्वारा बंदेन बलाये हैं। पाठक अपने मनकी अवस्थाके साथ अपने बलका संबंध देखें और इन शब्दों द्वारा जो सुमनस्क होने की सूचना मिलती है, यह लेके और इस प्रकार मातासिक धारणामें अपना बल बढ़ावे।

सुवर्ण धारण ।

यद्यपि प्रथम मंत्रमें केवल शूल नागरपर सुवर्ण शोधनेका विधान किया है तथापि आगे जाकर पेटमें बौद्धवर्धक नामा रस पीनेका उपदेश इसी सूक्तमें आनेवाला है। सुवर्ण तथा अम्य कई रत्न हैं कि जो शरीरपर धारण करनेसे भी बलवर्धन तथा आरोग्य वर्धन कर सकते हैं। यह बात सूर्यकिरण चिकित्सा तथा वर्णचिकित्साके साथ संबंध रखनेवाली है अर्थात् सुवर्ण रत्नादिका धारण करना भी शरीरके लिये आरोग्यप्रद है। औषधियाँकी जहाँके मृगी शरीरपर धारण करनेसे भी आरोग्यकी दृष्टिसे बड़ा लाभ करते हैं। संसर्गजन्य रोगमें बवा-भ्रूतिके पारलसे अनेक लाभ हैं। यही बात सुवर्ण रत्नादि धारणसे होती है। परंतु इसकेलिये शुद्ध सुवर्ण चाहिये।

इस विषयमें प्रथम मंत्रमें कहा है कि— "बल बढ़ानेकी विद्या जाननेवाले और उक्त मनःशक्तियुक्त छेष्ट पुरुषोंके द्वारा शरीरपर लटकाया हुआ सुवर्ण जीवन, तेज, बल, तथा शीघ्र आयुष्य देता है। "इसमें शरीरपर सुवर्ण लटकानेवाले गनुष्यों का उक्त मनोभावना भी लाभदायक होती है यह सूचित किया है, यह मनन करने योग्य है।

इन मंत्रमें "शालाकीय हिरण्यं ब्रह्मामि" का अर्थ "सैन्य विभागोंके संचालकके शरीरपर सुवर्ण लटकाता हूँ" ऐसा किया है, परंतु इसमें और भी एक गूढ़ता है यह यह है कि "अनीक" शब्द बल वाचक है। बल शब्दसैन्य वाचक और बल वाचक भी है। विशेषतः "अनीक" शब्दमें "अन-प्राणने"

धनु है जो जीवन शक्तिका वाचक प्रसिद्ध है। इसलिये जीवन शक्तिका अर्थ भी अनीक शब्दमें है। इस अर्थके लेनेसे "शालाकीक" शब्दका अर्थ "सौ जीवन शक्तियों, अथवा सौ जीवन शक्तियोंसे युक्त" होता है। यह भाव लेनेसे उक्त मंत्र भागका अर्थ ऐसा होता है कि—

शालाकीकाय हिरण्यं ब्रह्मामि । (मंत्र १)

"सौ जीवन शक्तियोंकी प्रातिके लिये मैं सुवर्णका धारण करता हूँ।" सुवर्णके अंदर सेकड़ों शीघ्र हैं, उन सबकी प्रातिके लिये मैं उसका धारण करता हूँ। यह आशय प्रथम मंत्र भाग का है। इस प्रथम मंत्रमें इनमें कुछ गुण कहे भी हैं— आयुष्ये । वर्धते । बलाय । शीघ्रायुष्याय । शालाकारदाय ।

"आयु, तेज, बल, शीघ्र आयु, सौ वर्षकी आयु" इत्यदि शब्द जीवन शक्तियोंके ही सूचक हैं। इनका योग्य परिणाम यही किया है। इससे पाठक अनुमान कर सकते हैं और जान सकते हैं कि इसी प्रकार अनेक जीवन शक्तियाँ हैं, उनको प्राप्ति अपने अंदर करनी और उनको छुड़ने भी करनी वैदिक धर्मका उद्देश्य है। इस विचारसे ज्ञात ही सकता है कि यहाँ "शालाकीक" शब्दका अर्थ "जीवनके ही वर्धने, जीवन की सेकड़ों शक्तियों" अर्थात् है। यद्यपि यह अर्थ हमने मंत्रार्थ करने समय किया नहीं है तथापि यह अर्थ हमें यहाँ प्रकट हो रहा है। इसलिये प्रसिद्ध अर्थ ऊपर देकर यहाँ यह अर्थ लिखा है। पाठक इसका अधिक विचार करें।

इस प्रकार प्रथम मंत्रका मनन करनेके बाद इसी प्रकारका एक मंत्र यजुर्वेदमें भी देखे पाठभेदसे जाता है उसकी पाठकीके विचारके लिये यहाँ देते हैं—

यदाब्रह्मन्दाक्षायणा हिरण्यं शालाकीकाय सुमनस्यमानाः ।
उन्न आब्रह्मामि शालाकारदायापुष्पाभरदाक्षिर्वयासव ॥
(या. यजु. १४।५९)

"उक्त मंत्रवाले दासायण लोग शालाकीकके लिये त्रिसुवर्ण भूषणको धारण रहे, (तत्) यह सुवर्ण भूषण (मे आब्रह्मामि) मैं अपने शरीरपर धारण हूँ इसलिये कि मैं (आयुष्मान्) उन्नत आयुसे युक्त और (अरदष्टिः) शुद्ध अवस्थाका अनुभव करनेवाला होकर (यथा शालाकारदाय आसे) जिस प्रकार सौ वर्षकी पूर्ण आयुको प्राप्त होऊँ।"

इसका अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त भावही इस मंत्रमें अन्य रीतिये और निम्न शब्दोंसे व्यक्त हुआ है। इस मंत्रका द्वितीय अर्थ है। निम्न है।

प्रथमार्थ वैशाखा वैशा हो है। यहाँ प्रथम मंत्रका विवरण समाप्त हुआ, अब द्वितीय मंत्रका विचार करते हैं। —

राक्षस और पिशाच ।

नरनास भोजन करनेवाले राक्षस होते हैं और रक्त पीनेवाले पिशाच होते हैं। ये सबसे बुरे होनेके कारण सब लोग इनसे बरते रहते हैं। परंतु जो पूर्वोक्त प्रकार "सुवर्ग" प्रयोग करता है उसके हनलेकी राक्षस और पिशाच भी सह नहीं सकते।" इतनी शक्ति इस सुवर्ग प्रयोगसे मनुष्यको प्राप्त होती है। सुवर्गमें इतनी शक्ति है। क्योंकि "यह देवोंका पहला शत्रु है।" अर्थात् संपूर्ण देवोंकी अनेक शक्तियाँ इतने संघटित हुई हैं। इसलिये द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है कि— "जो यह बल वर्णक सुवर्ग शरीरमें धारण करता है वह सब प्राणियोंमें भी अधिक दीर्घ आयु प्राप्त करता है।" अर्थात् इस सुवर्ग प्रयोगसे शरीरका बल भी बढ जाता है और दीर्घ आयु भी प्राप्त होती है। यह द्वितीय मंत्रका भाव पहिले मंत्रका ही एक प्रकारका स्पष्टीकरण है, इसलिये इसका इतना ही समन पर्याप्त है। यही मंत्र यजुर्वेदमें निम्न लिखित प्रकार है—

न उन्नहामि न पिशाचास्तस्मिन् देवानामोषः प्रथमं ज्ञेयम् ।

यो विमार्ति दाक्षायणं हिरण्यं स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः

स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ यजु० ३५।५।

'यह देवोंसे उन्नत हुआ पहिला मंत्र है, इसलिये राक्षस और पिशाच भी इसके पार नहीं हो सकते। जो दाक्षायण सुवर्ग धारण करता है वह देवोंमें दीर्घ आयु करता है और मनुष्योंमें भी दीर्घ आयु करत है।'

इस मंत्रके द्वितीयार्धमें जोह भेद है और जो अर्धवै पाठमें "जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः" इतनाही था, वहाँ ही इसमें "देवेषु और मनुष्येषु" ये शब्द अधिक हैं। "जीवेषु" शब्दका ही यह "देवेषु, मनुष्येषु" आदि शब्दोंद्वारा अर्थ हुआ है। इस प्रकार अन्य शास्त्राधिकारियोंके पाठभेद देखनेसे अर्थ निश्चय करनेमें बड़ी सहायता होती है।

यहाँ तक दो मंत्रोंका समन हुआ। इन दो मंत्रोंमें शरीर पर सुवर्ग धारण करनेकी बातका उद्देश्य किया है अब अगले दो मंत्रोंमें शल धनस्फुटि तथा शत्रुच्छादनप्राप्त उत्पन्न होनेवाले अन्य बलवर्धक पदार्थोंका अंतर्बोध सेवन करनेकी महत्त्वपूर्ण विधा दी जाती है, उसका पाठक विशेष ध्यानसे समन करें।

द्वितीय मंत्रमें कहा है— "जल और औषधियोंके तेज, कान्ति, शक्ति, बल और दीर्घवर्षक रसोंको हम वैसे धारण करते हैं कि

जैसे आत्मानमें इंदिय शक्तियों धारण हुई हैं। इसी प्रकार बल बढानेकी इच्छा करनेवाला मनुष्य सुवर्गका भी धारण करे।"

जलमें नाना औषधियोंके गुण हैं यह बात इसके पूर्व आये हुये जल सूत्रमें बर्णन हो चुकी है। ये सूत्र पाठक यहाँ देखें। औषधियोंके अंदर दीर्घवर्षक रस हैं, इसलिये वैद्य औषधि प्रयोग करते हैं, अर्धवैवेदमें भी यह बात भागे आजायगी। जिस प्रकार जल अंतर्बोध पावित्रता करके बल आदि गुणोंकी शक्ति करता है, इसी प्रकार नाना प्रकारकी औषधियोंके औषधियोंके ५५५ दिन मिन अन्न भक्षण पूर्वक सेवनसे मनुष्य बल प्राप्त करके दीर्घ जं वन भी प्राप्त करता है। सुवर्ग सेवनसे भी अथवा सुवर्गादि घातुओंके सेवनसे भी इसी प्रकार लाभ होते हैं, इसका वैद्यशास्त्रमें नाम "रस प्रयोग" है। यह रस प्रयोग सुशेन वैद्य हीके उपदेशानुसार करना चाहिये। यहाँ यजुर्वेदका इसी प्रकारका मंत्र देखिये—

सुवर्गके गुण ।

आयुष्यं शर्वस्यं रायस्योपमिन्नितम् ।

इवै हिरण्यं शर्वस्वजैत्रापाविशतातु माम् ॥

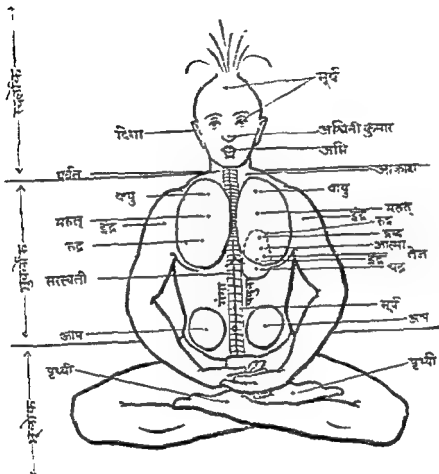
शा. यजु. ३५।५०

"(आयुष्यं) दीर्घ आयु करनेवाला, (शर्वस्यं) कान्ति करनेवाला, (रायस्योर्षं) शीमा भंडर पुष्ट बढानेवाला (औन्नदे) खान्ति उत्पन्न होनेवाला अथवा ऊपर उठानेवाला, (शर्वस्वत्) तेज बढानेवाला (जैत्राय) विजयके लिये (इवै हिरण्यं) यह सुवर्ग (मां उ आविशतातु) मुझे अथवा मेरे शरीरमें प्रविष्ट हो।"

सुवर्गका सेवन ।

यह मंत्र सुवर्गके अनेक गुण बता रहा है। इतने गुणोंकी शक्ति करनेके लिये यह सुवर्ग मनुष्यके शरीरमें प्रविष्ट हो, यह इच्छा इस मंत्रमें स्पष्ट है। अर्थात् परिशुद्ध सुवर्गके सेवनसे इन गुणोंकी शरीरमें शक्ति हो सकता है। इस मंत्रमें "हिरण्यं आविशत" ये शब्द "सुवर्गका शरीरमें घुस जाने" का भाव बताते हैं अर्थात् यह केवल शरीरपर धारण करना ही नहीं। प्रत्युत अन्तर्बोध औषधियोंके रसोंके समान इसका अंदर ही सेवन करना चाहिये। शरीरपर सोनेका धारण करना और सुवर्गका अंदर सेवन करना, इन दोनों रीतियोंसे मनुष्य पूर्वोक्त गुण बढाकर अपना दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सकता है। शल चतुर्थ मंत्र देखिये—

मनुष्यके शरीरमें देवोंके अंश ।



जगत्में जो अग्नि आदि देव हैं उनके अंश शरीर में हैं। इनके स्थान इस चित्रमें बताया है। इसके मननसे हाथ हो सकता है कि बायु जगत् के अग्नि आदि देवोंकी सहचारिताके साथ शरीरके स्वात्मका कितना पवित्र संबंध है।

काली कामधेनुका दूध ।

इस चतुर्थ मंत्रमें कहा है—कालरूपी संवत्सरका (काली काम धेनुका) दूध जो ऋतुओंके द्वारा मिलता है, उससे मनुष्यकी पूर्णता करते हैं। इस कार्यमें इन्द्र अग्नि विधिदेव आदि सब पूर्णतासे अनुकूल रहे।”

संवत्सर—वर्ष अथवा काल—यह एक कामधेनु है। काल संबंधी यह धेनु होनेसे इसका काशी धेनु कहने हैं, यह इसलिये कामधेनु कही गई है कि मनुष्यादिइंके हृरिष्ठत फल घान्य अर्थात् पशुधर्म ऋतुओंके अनुकूल देख यह मनुष्यादि प्राणियों

की पुष्टी करती है। प्रत्येक ऋतुके अनुकूल माना प्रकारके फल और फूल संवत्सर देता है। इसलिये वेदमें संवत्सरकी विधानी कहा है और यहाँ मनुष्य दूध देनेवाली कामधेनु कहा है। हर एक ऋतुमें कुछ नवीन फल, फूल, घान्य आदि मिलता है, यहाँ इन धेनुका दूध है। यह दूध हर एक ऋतु इस संवत्सर रूपी गौसे निचोढ़कर मनुष्यादि प्राणियोंको देते हैं, यह अनुकूल अलंकार इस मंत्रमें बताया है। पाठक इस काव्यपूर्ण अलंकार का अस्वाद यहाँ से।

प्रत्येक मासमें प्रत्येक ऋतुमें तथा प्रत्येक कालमें जो जो

फल फूल उत्पन्न होते हैं उनका योग्य उपयोग करनेसे मनुष्यके बल, तेज, वीर्य, आयुष्य आदि बढ सकते हैं। यह इह संश्रका आद्य हरएक मनुष्यको मनन करने योग्य है। मनुष्य अपने पुस्तार्थ व प्रयत्नसे ऋतुके अनुसार फल फूल धान्य आदिकी अधिक उत्पत्ती करे और उनके उपयोग से मनुष्योंको लाभ पहुंचावे।

पूर्व मंत्रमें " (अथा वनस्पतीनां च वीर्याणि) जल तथा वनस्पतियोंके वीर्य " धारण करनेका जो उपदेश हुआ है उसीका स्पष्टीकरण इस चतुर्थ मंत्रने किया है। जिस ऋतुमें जो जल और जो वनस्पति उत्तम वीर्यवाच प्राप्त होनेकी संभावना हो, उस ऋतुमें उसका संग्रह करके, उसका सेवन करना चाहिये। और इस प्रकार आयु, बल, तेज, कांति, शक्ति वीर्य आदि गुण अपने में बढ़ाने चाहिये।

यह वेदका उपदेश मनन करने और आचरणमें लाने योग्य है। इतना उपदेश करनेपर भी यदि लोग निर्दोष, निःशस्त्र, निस्तेज, निर्बल रहेंगे और वीर्यवान बननेका यत्न नहीं करेंगे तो यह मनुष्योंका ही दोष है। पाठक इस स्थानपर विचार करें और निश्चय करें कि वेदका उपदेश आचरणमें लानेका यत्न वे कितना कर रहे हैं और कितना नहीं। जो वैदिक धर्मों लोग अपने वैदिक धर्मके उपदेशकी आचरणमें नहीं आलते वे क्षीण प्रयत्न करके हृद्य-दिशासे योग्य सुधार अवश्य

करें और अपनी उन्नतिका साधन करें।

इस मंत्रके उत्तरार्थका भाव मनन करने योग्य है। " इन्द्र अग्नि आदि सब देव इसकी अनुकूलतासे सहायता करें " अग्नि आदि देवताओंकी सहायताके बिना कौन मनुष्य कैसे उन्नतिके प्राप्त हो सकता है ? अग्नि ही हमारा भोजन पकाता है, जल ही हमारी तृया शांत करता है, पृथ्वी हमें आधार देती है, बिजली सबको चेतना देती है, वायु सबका प्राण धनकर प्राणियोंका धारण करता है, सूर्यदेव सबको जीवन शक्ति देता है, चंद्रमा अपनी किरणोंद्वारा वनस्पतियोंका पोषण करनेमें हमारा सहायक बनता है, इसी प्रकार अम्यान्व देव हमारे सहायक हो रहे हैं। इनके प्रतिनिधि हमारे शरीरमें रहते हैं और उनके द्वारा ये सब देव अपने अपने जीवनोंका हमतक पहुंचा रहे हैं। इस विषयमें इसके पूर्व बहुत कुछ लिखा गया है, इसलिये यहाँ अधिक विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

इतने विवरणसे यह बात पाठकोंके मनमें आगई होगी कि अग्नि आदि देवताओंकी सहायता किस रीतिसे हमें हो रही है और यदि इनकी सहायता अधिक से अधिक प्राप्त करने और उससे अधिकसे अधिक लाभ उठानेकी विधि ज्ञात हो गई, तो मनुष्योंका बहुत ही लाभ हो सकता है। भाषा है कि पाठक इसका विचार करेंगे और अपना आयु, आरोग्य बल और वीर्य बढ़ाकर जगत् में यशस्वी होंगे।

यहाँ यह अनुवाक और प्रथम काण्ड समाप्त।

प्रथम काण्डका मनन ।

थोडासा मनन ।

इस प्रथम काण्डमें दो प्रपाठक, छः अनुवाक, पैंतीस सूक्त और १५१ मंत्र हैं । इस काण्डके सूक्तोंके ऋषि, देवता, और विषय बतानेवाला कोष्टक यहां देते हैं—प्रो पाठक इस काण्डका विशेष मनन करना चाहते हैं इनको यह कोष्टक बहुत लाभदायक होगा—

अथर्व वेद प्रथम काण्ड के सूक्तों का कोष्टक ।

सूक्त	ऋषि	देवता	राज	विषय
१	अथर्वी	वायस्पति	वर्षस्वराज	वेधावनन
२	"	पर्जन्य	अपराजितराज सौमामिक राज	विजय
३	"	मंत्रोक्त(वृष्णी, मित्र, वरुण, चंद्र, सूर्य)	—	आरोप
४	सिधुद्रोपी	वायुः	—	"
५	"	"	—	"
६	"	"	—	"
(इति प्रथमोऽनुवाकः)				
७	वातनः	इन्द्राग्नी	—	शत्रुनाशन
८	"	अग्निः, वृहस्पतिः	—	"
९	अथर्वी	वस्वादेवः	वर्षस्व राज	तेजको प्राप्ति
१०	"	असुरो वरुणः	—	पापनिघ्ति
११	"	पृथा	—	सुखप्रसृति
(इति द्वितीयोऽनुवाकः)				
१२	श्रुवंगिराः	वश्रनाशन	तकमनाशनराज	रोगनिवारण
१३	"	विशुन्	—	ईशानमन
१४	"	यमो वरुणो वा	—	शुद्धयशुविवाह
१५	अथर्वी	सिन्धु	—	संगठन
१६	वातनः	अग्नि, इन्द्र, वरुणः शत्रुनाशन राज	—	शत्रुनाशन
(इति तृतीयोऽनुवाकः प्रथमः प्रपाठकश्च समाप्तः ।)				
१७	महा	सोषित	—	रक्तप्राव-दूरीकरण
१८	द्विषोदाः	विनावक, सौभाग्यं	—	सौभाग्यवर्धन
१९	महा	ईश्वरः, अथ	सौमामिकराज	शत्रुनाशन
२०	अथर्वी	सोम	—	महान वाचक
२१	"	इन्द्रः	अथर्वराज	प्रभावानन

(इति चतुर्थोऽनुवाकः)

२२	मद्य	सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगः	—	हृद्रोग तथा कामिला रोग नाशन
२३	अथर्वा	कोषधिः	—	कुष्ठनाशन
२४	ब्रह्मा	आसुरी वनस्पतिः	—	"
२५	भृग्वंगिराः	अग्निः, तक्मा	तक्मनाशनगण	अवरनाशन
२६	ब्रह्मा	इन्द्रादयः	स्वस्त्वदनगण	सुखप्राप्ति .
२७	अथर्वा	इन्द्राणी	"	विजयी स्त्री
२८	चातनः	स्वस्त्वयनं	"	कुष्ठनाशन

(इति पंचमोऽनुवाकः)

२९	वसिष्ठः	अमीश्वरमायिः	—	राष्ट्रवर्धन
३०	अथर्वा	विश्वेदेवाः	आयुष्यगण	आयुष्यवर्धन
३१	ब्रह्मा	आशापालाः, वास्तोष्पतिः	वास्तुगण	आशापालन
३२	"	धावाशुपिबो	—	जीवनतत्त्व
३३	शन्ताति	आपः, चन्द्रमाः	शान्तिगण	अक
३४	अथर्वा	मधुवती	—	मीठा जीवन
३५	"	हिरण्यं, इन्द्राग्नी	—	वीर्यं

(इति षष्ठोऽनुवाको द्वितीयः प्रपाठकथ समाप्तः)

इति प्रथमं काण्डम् ।

एत सूक्तोंका मनन करनेके लिये ऋषि और ऋणोंका विभाग जाननेकी भी आवश्यकता है। इसलिये वे कोष्टक नीचे देते हैं—

ऋषि विभाग ।

- १ अथर्वा ऋषिः— १-३; ९-११; १५; २०; २१; २३; २७; ३०; ३४; ३५; इन चौदह सूक्तोंका अथर्वा ऋषि है ।
- २ ब्रह्मा (किंवा ब्रह्म) ऋषिः— १७, १९, २२, २४, २६, २९, ३२, इन सात सूक्तोंका ऋषि ब्रह्मा है ।
- ३ चातन ऋषिः— ७, ८, १६, २८, इन चार सूक्तोंका चातन ऋषि है ।
- ४ भृग्वंगिरा ऋषिः— १२—१४; २५ इन चार सूक्तोंका भृग्वंगिरा ऋषि है ।
- ५ सिंधुद्वीप ऋषिः— ४-६ इन तीन सूक्तोंका सिंधुद्वीप ऋषि है ।
- ६ त्रिविणोरा ऋषिः— १८ वे एक सूक्तका यह ऋषि है ।

७ वसिष्ठ ऋषिः— २९ वे एक सूक्तका यह
८ शन्ताती ऋषिः— ३३ वे एक सूक्तका यह ऋषि
इस प्रकार आठ ऋषियोंके देखे मंत्र इस काण्डमें हैं । यह
जैसा ऋषियोंके नामोंसे सूक्त विभाग हुआ है, वही प्रकार एक
एक ऋषिके मंत्रोंमें किन किन विषयोंका विचार हुआ है यह
अब देखिये—

- १ अथर्वा ऋषि—मैधावनन, विजयप्राप्ति, आरोग्यप्राप्ति,
तेजःप्राप्ति, वापनिवृत्ति, सुखप्रसूति, संप-
ठन, राजशासन, प्रजापालन, कुष्ठरोग-
निवृत्ति, विजयी स्त्री, आयुष्यवर्धन, मीठा
जीवन, आयुष्य बलादिष्ववर्धन ।
- २ ब्रह्माऋषि—रक्तहाव दूरकरना, शत्रुनाशन, संभ्राम, हृदय
तथा कामिला रोग दूरीकरण, कुष्ठनाशन
सुखवर्धन, आशापालन, दीर्घजीवन ।

- ३ चातन ऋषिः—घनुनाशन, बुधनाशन ।
 ४ मृगवांगिरा ऋषिः—दोगदिवारण, उवरनाशन, ईशानमन
 विवाह ।
 ५ सिधुदीप ऋषिः—जलसे आरोग्य ।
 ६ श्विनो दा ऋषिः—सौभाग्यवर्धन ।
 ७ वसिष्ठ ऋषिः—राष्ट्रसंवर्धन ।
 ८ शान्तादी ऋषिः—वृष्टि जलसे स्वास्थ्य ।

इस प्रकार किन ऋषियोंके नामोंसे किन किन विषयोंका संबंध है यह देखना बड़ा बोधप्रद होता है। (१) सिधुदीप ऋषिके नामसे "सिधु" शब्द जल प्रवाह का वाचक है और यही जल देवताके मंत्रोंका ऋषि है। (२) चातन ऋषिके नामसे अर्थात् "चातन" शब्दका अर्थ "पबरादेना भगादेना, घन्नु शो उखाड देना" है और इस ऋषिके सूक्तोंमें भी यही विषय है। इस प्रकार सूक्तोंके अंदर आनेवाला विषय और ऋषिनामोंका अर्थ इसका कई स्थानोंपर पणित संबंध दिखाई देता है। इसका विचार करना योग्य है।

सूक्तों के गण ।

जिन प्राचीन मुनियोंने अर्धवर्ष सूक्तोंपर विचार किया था; उन्होंने इन सूक्तोंके गण बना दिये हैं। एक एक गणके संयुक्त सूक्तोंका विचार एक साथ होना चाहिये। ऐसा विचार करने से अर्थज्ञान भी शीघ्र होता है और शब्दोंके अर्थ निश्चित करना भी सुगम हो जाता है। इस प्रयत्न कांठक वैदीय सूक्तोंमें कई सूक्त कई गणोंके अंदर आये हैं और कई गणोंमें परिगणित नहीं हुए हैं। जो गणोंमें परिगणित नहीं हुए हैं उनकी अर्थकी दृष्टिसे इन अम्यगणोंके साथ पठ सकते हैं। इस प्रकार गणना विचार करनेसे सूक्तोंका शीघ्र शीघ्र हो जाता है, देखिये—

१ स्वस्वयन गण - इसके सूक्त १, ९ ये हैं। तथापि तेज, आरोग्य आदि बटनेका उपदेश करनेवाले सूक्त हम इस गणके साथ पठ सकते हैं, जैसे—सूक्त १—६, १८, २५, २६, ३०, ३१, ३४, ३५ आदि ।

२ अग्निरहित गण, साम्प्रामिकगण-इसके सूक्त २, १९ ये हैं तथापि इसके साथ संबंध रखनेवाले अम्य गणकेसूक्त हैं। तथा राष्ट्रशासन और राज्य पालनके सब सूक्त इनके साथ संबंधित हैं, जैसे—सूक्त ७, ८, १५, १६, १७, २०, २१, २७, २९, ३१ आदि ।

३ उक्मनाशन गण-इस गणके सूक्त १२, २५, ये हैं तथापि सब योग नाशक और आरोग्यवर्धक सूक्त इस गणके सूक्तोंके साथ पठना चाहिये। जैसे सूक्त ३—६; १७, २२, २३, २५, ३३, ३५, आदि—

४ स्वस्वयनगण-इस गणके सूक्त २६, २७ ये हैं।

५ मायुष्यगण-इस गणके सूक्त ३०, ३५ ये हैं, तथापि स्वस्वयन गण, वर्षस्वयन, उक्मनाशन गण तथा दंतियनके सूक्तोंका इसके संबंध है।

६ स्यातिगण-जल देवताके सब सूक्त इस गणमें आते हैं।

७ अम्यगण—इसका सूक्त २१ का है, तथापि इसके साथ संबंध रखनेवाले गण स्वस्वयनगण, अग्निरहितगण, उक्मनाशनगण, चातन-सूक्त ये हैं।

इस प्रकार यह सूक्तोंके गणोंका विचार है और इस पीछे सूक्तोंका विचार होनेसे बहुत ही बोध प्राप्त होता है।

अध्ययन की सुगमता ।

कई पाठक उद्यत करते हैं कि एक विषयके सब सूक्त इकट्ठे क्यों नहीं दिये और सब विषयोंके मिलेजुले सूक्त ही सब कान्ठमें क्यों दिये हैं। इसका उत्तर यह है कि यदि जल आदि विषयोंके संपूर्ण सूक्त इकट्ठे होते, तो अध्ययन करनेवालेको विविधताका अभाव होनेके कारण अध्ययन करनेमें बड़ा कष्ट हो जाता। अध्ययनही सुविधाके लिये ही मिलेजुले सूक्त दिये हैं। अच्छी पाठशालाओंमें पढ़ते ही पढ़तेमें भिन्न भिन्न विषय पढ़ाये जाते हैं, इसका यही कारण है कि पढ़नेवालेके मस्तिष्कको कष्ट न हो। सबेरेसे शान्तक एक ही विषयका अध्ययन करना ही टी पढ़ने पढ़ानेवालोंको अतिकष्ट होते हैं। इस बातका अनुभव हरएकको होगा ।

इससे पाठक जान सकते हैं कि विषयोंकी विभिन्नता रखनेके लिये विभिन्न विषयोंके सूक्त मिलेजुले दिये हैं।

इसमें दूसरा भी एक हेतु प्रतीत होगा, वह यह है कि, पूर्वपर संबंधका अनुमान करने और पूर्वपर संबंधका स्मरण रखनेका अभ्यास हो। यदि जलमय प्रयत्न कांठमें आया हो, तो आगे जहाँ जल सूक्त आया वहाँ वहाँ इसका स्मरण पूर्वक अनुसंधान करना चाहिये। इस प्रकार स्मरणशक्ति भी बढ सकती है। स्मरणशक्ति बढना और पूर्वपर संबंध ओदनका

अभ्यास होना ये दो महत्वपूर्ण अभ्यास इस व्यवस्थासे सम्पन्न होते हैं।

इस प्रथम काण्डके दो प्रपाठक हैं, इस "प्रपाठक" का तात्पर्य ये दो पाठ ही हैं। दो प्र-पाठक" अर्थात् दो विधेय पाठ हैं। प्रथमे एकवार जितना पाठ लिया जाता है उतना एक-प्रपाठक होता है। इस प्रकार यह प्रथमकाण्ड दो पाठोंकी पढाई है। भयवा एक अनुवाकका एक पाठ अल्पबुद्धिवालोंकेलिये माना जाय तो यह प्रथमकाण्ड ही पढाई छः पाठोंकी मानी जा सकती है। एक अनुवाकमें भी विषयोंकी विविधता है और एक प्रपाठकमें भी पाठ्य विषयोंकी विविधता है और इस विविधता के कारण ही पढने पढानेवालोंको बड़ी रोचकता उत्पन्न हो सकती है।

आजकल इतनी पढाई नहीं हो सकती, यह बुद्धि कम होना या प्राकृतिक कम होनेका प्रमाण है। यह अथर्ववेद प्रबुद्ध विद्यार्थीके ही पढनेका विषय है। इसलिये अच्छे प्रबुद्ध तथा अन्य धार्मिकोंमें कृतपरिधान उक्त प्रकार पढाई कर सकते हैं; इसमें कोई संदेह नहीं है।

अथर्ववेदके विषयोंकी उपयुक्तता।

जो पाठक इस प्रथम काण्डके सब संशोधो अच्छी प्रकार पढ़ेंगे और योद्धा मनन भी करेंगे तो उनको उठी समय इस बातका पता लग जायगा कि, इस वेदका उपदेश इस समयमें भी नवीन और अत्यन्त उपयोगी तथा आज ही अपने आचरणमें लाने योग्य है। कुछ पढनेके समय ऐसा प्रतीत होता है कि, यह उपाय आज ही हम आचरण में लायेंगे और अपना लाभ उठावेंगे। उपदेश की जीवितता और जाग्रतता। इन्हीं बातमें पाठकोंके मनमें स्पष्ट रूपसे खाई हो जाती है।

वेद सब प्रयोगोंसे उपरान्त प्रथम होनेपर भी नवीन से नवीन हैं और यही इनकी "सनातन विद्या" है; यह विद्या कभी पुरानी नहीं होती। जो जिस समय और जिस अवस्थामें पढ़ेगा उसको उहाँ अवस्थामें और उठी समय अपनी उन्नतिके उपदेश प्राप्त हो सकता है। इस प्रथम काण्डके सूक्त पढकर पाठक इस बातका अनुभव करें और वेद विद्याका महत्त्व अपने मनमें स्थिर करें।

ये उपदेश जैसे व्यक्ति विषयमें उहाँ प्रकार सामाजिक, राष्ट्रीय और धर्म प्रकारके विषयमें भी सत्य और सनातन प्रतीत होंगे। इस समय जिनका उपयोग नहीं हो सकता ऐसा कोई विधान इसमें नहीं है। परंतु इन उपदेशोंका महत्त्व देखनेके और अनुभव करनेके लिये पाठकोंको इस काण्डका पाठ करने

कम दस पांच बार मनन पूर्वक करना चाहिये।

व्यक्तिके विषयमें उपदेश।

प्रथम काण्डके ३५ सूक्तोंमें करीब १६ सूक्त ऐसे हैं कि जो मनुष्यके स्वास्थ्य, आरोग्य, नीरोगता, बल, आग्रह, बुद्धि आदि विषयोंका उपदेश देनेके कारण मनुष्यके दैनिक व्यवहार के साथ संबंध रखते हैं। हर एक मनुष्य इस समय में भी इनके उपदेशसे लाभ उठा सकता है। आरोग्यवर्धनके वैदिक उपायोंकी और इन पाठकोंका विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। जो हठा गणके सूक्त हैं उनका मनन पाठक सबसे अधिक करें और अपनी परिस्थितिमें उन उपायोंकी कालकेका जितना हो सकता है उतना यत्न करें। आरोग्यवर्धनके उपायोंमें सारांशतः इन उपायोंका वर्धन विशेष बलके साथ इस काण्डमें किया है—

जलसे आरोग्य—जलसे आरोग्य होता है, शरीरमें शक्ति, शुक, नीरोगता आदि प्राप्त होती है यह बातें वैदिक जल देवता के बार सूक्तलिये हैं। अनेक प्रकारके जलोंका जल सूक्तोंमें वर्णन करनेके बाद "दिव्य जल" अर्थात् मेघोंसे प्राप्त होनेवाले जलका महत्त्व बताया है वह कभी मूलना नहीं चाहिये। शृष्टिके दिनोंमें जिन दिनोंमें शुद्ध जलकी श्रुति होती है—उन दिनोंमें इस जलका संग्रह हर एक पुरुषकी कर सकता है। जहाँ श्रुति बहुत थोड़ी होती है वहाँकी बात छोड़ दी जाय तो अन्यत्र यह जल सारभरके पीनेके लिये पर्याप्त प्रमाणमें मिल सकता है। परंतु स्मरण रखना चाहिये कि घरके छप्परपर जमा हुआ जल लेना नहीं चाहिये परंतु छत पर चुने और बड़े मुषकाका बर्तन रखकर उसमें सीधी शृष्टिकाराओं से जल संकृष्टित करना चाहिये। अर्थात् ऐसा ईश्वरपूजा करना चाहिये कि शृष्टिकाल की श्रापण सीधी अपने बर्तनमें आजाय। बीचमें इस, छप्पर आदि कित्तिथ्य स्पर्श न हो। इस प्रकारका इकट्ठा किया हुआ जल स्वच्छ और निमेल शीतलोंमें भरकर रखनेसे घालभर रहता है और शिथिलता नहीं। यह जल यदि अच्छा रंगा हो तो वर्षातक रहता है और इसका यह न विगड़नेका गुण ही मनुष्यका आरोग्य वर्धन करता है।

उपवासके दिन इसका पाल करनेसे शरीरके छम नोच दूर होते हैं। चौबीस घंटोंका उपवास करते उसमें जितना यह दिव्य जल पिया जाय उतना फौजा चाहिये। यह प्रयोग हमने आजमाया है और हर अवस्थामें इससे लाभ हुआ है। इस प्रकारके उपवाससे पथाय योद्धा योद्धा दृष्ट और पी खाता

चाहिये और भोजन अत्यन्त लघु होना चाहिये । इतिहास भी पानके लिये इसका उपयोग करनेवाले बड़ा ही काम प्राप्त कर सकते हैं । इसका नाम 'अमरवाहणी वा पान' है । इनको 'गुरा' भी कहते हैं । युग मन्त्र केवल मद्य अर्धमें व्याकृत प्रयुक्त होता है, परंतु प्राचीन प्रथमि इसका अर्थ 'शुद्ध जल' भी था । वरुण का जल साम्राज्य में प्रवेश करने में है और वहीं इस भारतीय वर्षक शक्ति जल को देता है । इसका वर्णन वेदके अनेक स्थानों में है ।

वेदका यह आरोग्य प्रातिका सीमा, सुगम और स्वयंके विना प्राप्त होनेवाला उपाय यदि पाठक स्वयंकारने लायके तो वे बड़ा ही काम प्राप्त कर सकते हैं । इसलिये इन पाठकरोध पाठकों में निन्दन करते हैं कि वे इस विषयमें दक्षिण हैं और अपना काम उठावें ।

आरोग्य साधनके अन्य उपाय ।

प्रत्येक पथाय आरोग्य साधनके उपाय अथ वेदके पत्रों में देकर देखिये-

(२) वैजस्य सार्वभौमि आरोग्य-अग्नि, विद्युत् और सूर्य विद्युत् से तीन वैजस्य तत्व हैं । इनसे आरोग्य प्राप्त करनेके विषयमें वेदमें अनेक प्रकारके उपाय आगे हैं । इनमें से सूर्य प्रकाशका महत्त्व तो सबके अधिक है, यहां तक इसका महत्त्व वर्णन किया है कि इसकी प्राणदाना, जीवन दाता, इतना ही नहीं परंतु प्रत्यक्ष आत्मा भी कहा है । सूर्य प्रकाशसे आरोग्य और दीर्घ आयु प्राप्त होनेके विषयमें वेदका अतिम और अलं-दिग्ध मत है । संपूर्ण आधुनिक ज्ञान भी आजकल इसकी पुष्टि कर रहे हैं ।

जिध प्रकार शक्तिजल गरीबसे गरीबकी और अमीरके अमीरकी प्राप्त हो सकता है, उसी प्रकार सूर्य प्रकाश भी हर एक को प्राप्त हो सकता है । अथर्व प्राप्त होनेवाले आरोग्य साधक उपाय तो धनी लोग ही प्राप्त कर सकते हैं, गरीबोंको उनमें लाभ नहीं हो सकता । परंतु जो साधन वेद बता रहा है, वे उपाय गरीबकी भी प्राप्त हो सकते हैं । यह इन साधनोंका महत्त्व देखें और इन उपायोंकी सच्चाई अनुभवमें लायिका मत करें ।

आजकल बच्चे बहुत बर्तें जाते हैं इसलिये शरीरकी चमकी ५ मि. क्रोमल हो रही है । इस कारण व्याधियां शरीरमें जीघ २ गयी हैं । जो लोग नंगे शरीर केवल आदिमें काम करते हैं उनको उतनी व्याधियां नहीं होतीं, जिन्हीं कमरमें शक्ति

उंग कपड़े पहननेवाले बच्चे लोकोत्तरी होती है, इसका कारण यही है कि, जिन्हींका शरीर सूर्य किरणोंके साथ संबंध होनेके कारण नंगीय रहता है वे तन्दुरस्त रहते हैं और जो माना बच्चे पहननेके कारण कमरमें चमकी बलि बनते हैं वे अधिक चमकीय हो जाते हैं ।

रामायण महाभारतके समयमें रामकृष्णादि और अतिदीर्घ आयुवाले थे । वे शरीर अंग शरीर पहनते थे और शरीर ही भोजन थे । प्रायः अन्य समय शरीरपर एक शरीर पहनते थे । पाठक इनके वर्णन यदि पढ़ेंगे तो उनके अंगमें यह बात आज्ञायी कि मध्याह्नमें भी वे लोग केवल शरीर पहनकर ही बैठते थे । इसकारण इनके शरीरके साथ साथ और सूर्य प्रकाशका संबंध अच्छी प्रकार होजाता था । अनेक कारणोंमें यह भी एक कारण है कि जिस देश वे अतिदीर्घायुवाले और अति बलवान् थे । वह आर्यी इस समय नहीं रही है और इस समय बड़ी दुर्निवृत्ता हमारे जीवन स्वयंकारने भाग्यही है इसका परिणाम हमारे अस्वास्थ्य दुर्बल और रोगी होनेमें हो रहा है । पाठक वेदके उपदेशके साथ इस ऐतिहासिक वाक्य भी मनन करें ।

सूर्य प्रकाश इतने विद्युत् प्रमाणमें भूमिपर आता है कि वह आवरणकालसे कई गुना अधिक है । इतना हीते हुए भी हमें शक्ति, संतुष्टि, अथर्व अथर्व और अन्य अनेक मनुष्योंकी संख्या होनेके कारण जीवन देनेवाला सूर्यप्रकाश हमारे आरोग्यवर्धनके लिये प्रातिदिन आता है, तथापि हमारे लिये वह इतना काम नहीं पहुंचा सकता जिन्हीं कि वह पशुबलि में समर्थ है । वे सब दोष मनुष्यकृत हैं । अविज्ञानका हमें इस विषयमें बहुत विचार करना चाहिये और महात्तम ही संकेतों तक चल करके वह साधनी हमारे आनन्दान, बकानुपान तथा अन्त्यायन स्वयंकारने आनी चाहिये । वेदके उपदेशानुसार अवि-अपना स्वयंकारने करने से, हमलिये अवि लोकोत्तरी अतिदीर्घ आयु प्राप्त होती थी, और हम उसके बोलबाल उल्टे जा रहे हैं, इसलिये शक्तिके पत्रोंमें हम अधिक हो रहे हैं ।

(३) वायुसे आरोग्य-सूर्य प्रकाशके समान ही वायुका महत्त्व है । शरीर प्राण बनकर मनुष्यादि प्राणियोंके शरीरोंमें रहता है और इसके कारण प्राणी प्राण प्राप्त करते हैं । यदि वायु अशुद्ध हुवा तो मनुष्य रोगी होनेमें विद्युत्काल देरी नहीं लगेगी । यह बात सब लोग जानते हैं, मानते हैं और बोलते भी हैं, परंतु इसका पालन कितने लोग करते हैं, इसका विचार करनेसे पता लग जायगा कि, इस विषयकी मनुष्योंकी उदासीनता किन्हीं

ही है। खूबी बापु और खुला सूर्य प्रकाश मनुष्योंको पूर्ण आयु प्रदान करनेमें समर्थ है, परंतु जो मनुष्य उनसे पूरा भागते हैं उनका लाभ कैसे हो सकता है? वृष्टिजल, सूर्य प्रकाश और शुद्ध वायु ये तीनों वदार्थ वेद मंत्रों द्वारा आरोग्य बढ़ानेवाले बताये हैं और आरकलके शास्त्री उस बातकी पुष्टि कर रहे हैं, इतना ही नहीं परंतु यूरोप अमेरिकामें जहां चाँत अधिक होता है, उन देशोंमें भी ऐसी संस्थाएँ स्थापित हुई हैं कि जहां आरोग्य वर्धनके लिये सूर्य प्रकाशमें कृषि करीब नंगा रहना आवश्यक माना गया है। जिन लोगोंने संग कपड़े पहननेके रिवाज जारी किये, वे ही यूरोप अमेरिकाके खोग इध प्रकार कृषिप्रियन की और छुट रहे हैं यह देखकर हमें वेदकी सच्चाईका जगत में विश्वास हो रहा है यह अनुभव होनेसे अधिक ही आनंद होता है। बिना प्रकार किये हुए ही लोग भूलते और भटकते हुए वैदिक सच्चाईका इस प्रकार प्रदर्शन कर रहे हैं। ऐसी अवस्थामें यदि हम अपने वेदका अध्ययन करेंगे, उन वेद मंत्रोंके उपदेशको अपने आचरणमें लायेंगे, और अनुभव लेनेके पश्चात् अपने धार्मिक जीवनसे उस सच्चाईका जगतमें प्रचार करेंगे तो जगतमें इस सच्चाईका विश्वास होनेमें कोई देरी नहीं लगेगी।

इसलिये हम पाठकोंके निवेदन करना चाहते हैं कि वे वेदका पाठ केवल मनोऽंशकताके लिये न करें, केवल पारलौकिक भावनासे भी न करें, प्रत्युत वह उपदेश हम जगतके व्यवहार में किस प्रकार वाला जा सकता है; इसका विचार करते हुए वेदका अध्ययन करें। तब हमके महारवका पता विशेष रीतियों लग जायगा।

राष्ट्रीय जीवन ।

जिस वैयक्तिक जीवनके लिये वैदिक उपदेशकी उपयोगिता है उसी प्रकार सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनके लिये भी वेदके उपदेशकाति मनन करने योग्य है। यह विषय आभिके कांटोंमें विशेष रीतिते जानेवाला है, और नहीं इसका अधिक निरूपण होगा। इस प्रथम कांडके भी राष्ट्र विषयक मंत्र पढ़े ओजस्वी और अत्यंत बोधप्रद हैं।

उनपीछे संस्कृतमें 'राष्ट्रके लिये मुझे बड़ाया,' तथा 'राष्ट्रकी सेवा करनेके लिये यह आभुषण मेरे शरीरपर बांधा जावे' इत्यादि ओजस्वी उपदेश हरएक समयमें और हरएक राष्ट्रके मनुष्यों और राजपुरुषोंके लिये आदर्श रूप हैं। राष्ट्रीय हृष्टि यह कष्टि स्वतः हरएक मनुष्यकी विचार करने योग्य है।

इस प्रथम कांडमें कई महारवपूर्ण विषय आगये हैं उन सबका यहाँ विचार करनेके लिये स्थान नहीं है। उस उस सूक्तके प्रसंगमें ही विशेष बातका दिग्दर्शन किया है। इसलिये उसके चुराने की यहाँ कोई आवश्यकता ही नहीं है। पाठक इतना बड़का साहस करके अपने मनमें जो मनवसे उनके मनमें ही विशेष बातें स्वयं स्फुरित हो जायेंगी, जो ऊपरके विवरणमें लिखी नहीं हैं। वेदका अर्थ जाननेके लिये मनन ही करना चाहिये।

आया है कि पाठक मनन पूर्वक इस कांडका अभ्यास करेंगे और इस उपदेशसे अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करनेका यत्न करेंगे तथा जो विशेष बात अनुभवमें आ जायगी उसका प्रकाशन जनताकी भलाईके लिये करेंगे। इस प्रकार करनेसे सबका ही मला ही जायगा।





अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

प्रथमकाण्डकी विषय-सूची ।

सूक्त	विषय	पृष्ठ		पृष्ठीमें जीवन ।	
	अथर्ववेदके विषयमें स्मरणीय कथन ।	३		सूत्रदीप निवारण ।	१९
	अथर्ववेदका महत्त्व ।	"		पूर्वापर सम्बन्ध ।	२०
	अथर्वशाखा ।	"		शापीर शास्त्र का ज्ञान ।	"
	अथर्वके कर्म । -	"			"
	मन्त्रका सम्बन्ध ।	४	४ अङ्क सूक्त ।		"
	छान्तिर्कर्म के विभाग ।	"	५ " "		२१
	मन्त्रोंके अनेक उदरेय ।	५	६ " "		२२
	सूक्तोंके गान ।	६		बलही मिश्रता ।	"
	अथर्ववेदका महत्त्व ।	"		जल्मों औषध ।	२३
	अथर्ववेद प्रथम काण्डः ।	८		समता और विषमता ।	"
१	मेधाजनन ।	९		बलही वृद्धि ।	२४
	बुद्धि का संवर्धन करना ।	"		दीर्घ आयुष्मन्त्र साधन ।	"
	मनन ।	११		प्रजनन शक्ति ।	"
	अनुसंधान ।	१२			"
२	विजय-सूक्त ।	"	७ धर्म-प्रचार-सूक्त ।		२५
	वैयक्तिक विजय ।	१३		अग्नि हीन है !	२६
	पिताके गुण-धर्म-कर्म ।	"		ज्ञानी उपदेशक ।	"
	माताके गुण-धर्म-कर्म ।	"		मम हस्त्रिय ।	"
	पुत्रके गुण-धर्म-कर्म ।	"		इन्द्र हीन है !	"
	एक अद्भुत अलंकार ।	१४		धर्मोपदेश का क्षेत्र ।	"
	कुटुम्ब का विजय ।	"		दुष्टोंका सुधार ।	२७
	पूर्वापर सम्बन्ध ।	१५		मित्र भोजन करो	२८
	कुटुम्बका आदर्श ।	"		दुष्ट जीवनका पक्षाघात	"
	औषधि प्रयोग ।	"		धर्मोपदेशक कार्य बन्धने	"
	उष्ट्रका विजय ।	१६		दुष्टोंकी पयातापसे छुट्टि ।	२९
३	आरोग्य सूक्त ।	"		धर्मका दूत ।	"
	आरोग्य का साधन ।	१७		बाहुजोंको दण्ड ।	"
	पर्जन्यसे आरोग्य ।	"		नाहण और क्षत्रियोंके प्रबलका प्रमाण ।	३०
	मित्र (प्राण) बालसे आरोग्य ।	"	८ धर्म-प्रचार-सूक्त-		"
	वरुण (जल) देवसे आरोग्य ।	"		धर्मोपदेशक परिणाम ।	३१
	चन्द्र (घोम) देवसे आरोग्य ।	१८		नवप्रतिष्ठाका आदर ।	"
	सूर्यदेवसे आरोग्य ।	"		दुष्टोंकी सन्तानका सुधार ।	३२
	पशुपाद पिता ।	"		धर्मोंमें प्रचार ।	"

९ वर्षः-प्राप्ति-सूक्त ।	३३	बर्षी परीक्षा ।	"
देवताओंका सम्बन्ध ।	"	पतिके गुणधर्म ।	"
उक्तिका मूलमन्त्र ।	३४	नपू बर्षीका ।	५१
विश्वके लिये संस्कार ।	३५	बन्धाके गुणधर्म ।	"
ज्ञानके ज्ञानिमें अष्टनाकी प्राप्ति ।	"	मंगनीका सपन ।	"
जनताकी मलाई करना ।	"	धिरकी सजावट ।	"
उक्तिकी चार सौंठियां ।	३६	मंगनीके पथाद् विवाह ।	५२
इन सूक्तोंका स्मरणार्थ उपदेश ।	"	१५ संगठन-महायज्ञ-सूक्त	"
१० असव्य भाषणान्दि पाणोमे छुटकारा ।	३७	संगठनसे पत्निकी वृद्धि ।	५३
पापके छुटकारा पत्निका मार्ग ।	३८	बहमें संगठिकरण ।	"
एक नामक ईश्वर ।	"	संगठन का प्रचार ।	५४
ज्ञान और भाषि ।	"	पशुमांस का बह ।	"
प्रदायित ।	"	पशुमांस छोड़नेका व्रत ।	५५
पापी मनुष्य ।	३९	१६ वीर-मासान-सूक्त	५६
११ सुक-प्रसूति-सूक्त ।	"	वींसेथी गोली ।	"
प्रसूति प्रकारण ।	४०	शत्रु ।	"
संघमक्षि ।	"	भापे वीर ।	५६
देवीका गर्भमें विवाह ।	४१	१७ रक्तलाव बन्द करना ।	"
गर्भवती स्त्री ।	"	बाव और रक्तलाव ।	५७
गर्भे ।	"	दुर्भय की स्त्री ।	"
सुख प्रसूतिके लिये आदेश ।	४२	विषवाके बह ।	"
भार्यकी सहायता ।	"	१८ वीमास-वर्षन-सूक्त ।	५८
सूचना ।	४३	मुलक्षण और मुलक्षण ।	५९
१२ श्वामादि-रोग निवारण सूक्त ।	४४	वालीके मुलक्षणोंकी हयना ।	"
महत्त्वपूर्ण रूपक ।	४५	वाणीमें श्रेणा ।	"
आरोमन का दाता ।	"	शायी और पापीका दर्ह ।	६०
सूर्य किरणोंसे चिकित्सा ।	४६	वीश्वामके लिये ।	"
७ वर्ष साधारण उपवास ।	"	कन्तालका कन्दार ।	"
१३ अन्तर्यामी ईश्वरकी नमन ।	४७	सन्तु-मासान-सूक्त ।	"
सूक्त की देवता ।	"	कान्तारिक कन्द ।	६१
तपका महत्त्व ।	४८	इस सूक्तके दो विभाग ।	"
परम धाम ।	४९	वैदिकधर्मका साम्य । प्राणकन्द ।	"
सुद्धमें सहायता ।	"	अन्न कन्द । प्राण कन्द ।	६२
नमन ।	"	वासनावका नाश ।	"
१४ कुलवधू सूक्त ।	"	२- महावृ कल्पक ।	६३
पहिला प्रस्ताव ।	५०	पूर्व सूक्तके सम्बन्ध ।	६३
प्रस्तावका अनुमोदन ।	५०	भाषणकी फूट हटा दो ।	"
		बदा मासक ।	६४

२१ प्रजा-पाठक-सूक्त ।	१०	दुष्टोंका सुधार ।	११
आत्र भर्मे ।	१५	२९ राष्ट्र-संघर्षन-सूक्त ।	७९
२२ बृहस्परोत्तम तथा कामिदारोगकी विक्रिया ।	१५	अनुसन्धान ।	८०
बर्ग विक्रिया ।	१८	अनीवर्त प्राप्ति	११
सूर्यद्विरग विक्रिया ।	११	इस मन्त्रका संवाद ।	११
परिधाय विधि ।	११	राजकी युग ।	१२
रुप और बल ।	११	राजविद्व ।	११
रंगीन गोले ब्रह्मके विक्रिया ।	१७	छत्रके लक्षण ।	८९
-पन्थ ।	११	सबकी सहायता ।	११
२३ श्वेत-कुड-नाशन सूक्त ।	१७	केवल राष्ट्रके लिये ।	११
श्वेतकुड ।	१८	' राष्ट्र ' का अर्थ ।	८३
निदान ।	११	३० आयुष्य-वर्धन-सूक्त ।	११
दो श्वेत और उनका उपवास	११	आयुका संवर्धन ।	८१
रूपका सुचना ।	११	धार्मात्मिक निर्भयता ।	११
औषधियोंका योग ।	११	देवोंके आशीर्ष आयुष्य ।	८५
२४ बृह-नाशन-सूक्त ।	१९	इस क्या करते हैं ?	११
बनस्पतिके माता पिता ।	११	आदित्य देवोंकी आत्मी ।	८६
सकल-करण ।	७०	देवोंके विता और पुत्र ।	११
बनस्पतिपर निजब ।	११	देवोंके स्थान ।	८७
सूर्यका प्रभाव ।	११	देवताओंके चार वर्ग ।	८८
सूर्यके बीज प्राप्ति ।	११	३१ आता-पालक-सूक्त ।	८९
२५ शीत-ज्वर-दूरीकरण सूक्त ।	७०	दिश्याल ।	९०
ज्वरकी उपशान्ति ।	७१	देहमें चर दिश्याल ।	११
ज्वरका परिणाम ।	७१	आशा और दिशा ।	९१
द्विजन्तके नाम ।	७२	सूक्तका अनुसन्धानका भावार्थ ।	११
नयःशाब्द ।	७३	अनुसन्धमें चार द्वारोंकी चार आशाएँ ।	११
२६ सुख-आति-सूक्त ।	७३	विद्यनि-द्वारमें प्रवेश । (चित्र)-	९२
देवोंके मित्रता ।	७०	द्वार, आशा ।	११
शिशु सुखता	७४	आरोग्यका आधार ।	११
२७ विजयी श्री का पराक्रम ।	७५	अस्त्रधर्म विद्यति द्वार । (चित्र)	११
इन्द्रापी ।	११	पूत्र देवता (चित्र)	११
बीर श्रेणी ।	११	विद्यतिद्वार, सहकारक, पृष्ठ-	११
एतुपानक शब्द ।	७६	बंधमें चक्रोंके स्थान । (चित्र)	११
तबिल युगा धान ।	११	आनपान ।	९४
निर्जाल्यु ।	११	कामोपमोष ।	११
२८ बृह-नाशन-सूक्त ।	७७	बंधनका नाश ।	११
सूर्योपर सम्बन्ध ।	११	अमर दिश्याल ।	११
दुर्जनके लक्षण ।	७८		

इवन्ते पूजन ।	१५	प्रतिज्ञा	१०
पापमोचन ।	१५	मीठी बाह	१०
चतुर्थ देव ।	१६	३५ तेजस्विता, बल और दीर्घायुष्मकी प्राप्ति ।	१०४
दीर्घ आयु ।	१६	दासायन हिरण्य	१०५
विशेष दष्टि ।	१७	दासायनी विद्या	१०६
३२ जीवन रसका महासागर	१७	सुवर्ण धारण	१०
स्थूल दष्टि ।	१८	हास्य और विद्यान	१०७
जीवन का रस ।	१८	सुवर्णके गुण	१०
भूतमात्रका आश्रय ।	१८	सुवर्ण का सेवन	१०
छनाएन जीवन	१९	घाटीमें देवोंके अंश (चित्र)	१०८
अमृत के मातापिता	१९	काली कामधेनुका दूध	११
जीवनका एक महासागर	१९	प्रथम कण्डका मनन ।	११०
सबका एक आश्रय	१९	सूक्तोंका कोष्ठक	११
स्थूल सूक्ष्म और कारण	१९	ऋषिबिमान	१११
३३ जल सूक्ष्म ।	१००	सूक्तोंके गण	११२
वृष्टिका जल	१०१	अम्ययन की सुगमता	११
३४ मधु विद्या ।	१०१	अथर्ववेदके विषयोंकी उपयुक्तता	११३
मधु विद्या ।	१०२	ऋषिके विषयमें उपदेश	११
जन्म स्वभाव	१०२	आरोम्य साधनके अन्व उपाय	११४
मौठा जीवन	१०३	राष्ट्रीय जीवन	११५



ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

द्वितीयं काण्डम् ।

सबका पिता ।

स नः पिता जनिता स उख बन्धुर्धामानि वेदु भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥ ३ ॥

अथर्ववेद १।१।३

“बहु ईश्वर हम सबका पिता, बरपादक और बन्धु हैं, वही सब स्थानों और सुदनोंको पधावत् जानता है । उसी अकेले ईश्वरको अन्ध सम्पूर्ण देवोंके नाम रिये जाते हैं और सगुण भुवन उसी प्रसंसनीय ईश्वरको प्राप्त करने के लिये पूज रहे हैं ।”





अथर्ववेद का सुबोधभाष्य ।

द्वितीय काण्ड ।

इस द्वितीय काण्डका आरंभ "वेन" सूक्तसे और "वेन" शब्दसे होता है। यह मंत्र का एक शब्द है। "वेन" शब्दका अर्थ "स्तुति करनेवाला, ईश्वरके शुभ गानेवाला अणु" ऐसा है। परमात्मा पूर्ण रीतिसे स्तुति करने योग्य होनेसे उसीके साक्षात्कारके और वर्धाके शुभ वर्णन के मन्त्रोंका यह सूक्त है। इस परमात्माको विद्याके नाम "गुप्त विद्या, गूढ विद्या, गुह्य विद्या, परा विद्या, आत्मविद्या" आदि अनेक हैं। इस गुप्त विद्यामें परमात्माका साक्षात्कार करनेके उपाय बताये जाते हैं। यह इस विद्याकी विशेषता है। विद्याओंमें अष्ट विद्या वही है जो इस काण्डके प्रारंभमें दी गई है, इसलिये इसका अध्ययन पाठक इस ऋषिसे करें।

त्रिंशत्प्रकार प्रथम काण्ड सुष्यतया चार मंत्रवाले सूक्तोंका है, तृतीय प्रकार यह द्वितीय काण्ड पांच मन्त्रवाले सूक्तोंका है। इस द्वितीय काण्डमें ३९ सूक्त हैं और २०० मन्त्र हैं। अर्थात् प्रथम काण्डकी अपेक्षा इसमें एक सूक्त अधिक है और ५४ मन्त्र अधिक हैं। इस द्वितीय काण्डमें सूक्तोंकी मन्त्र संख्या निम्नलिखित प्रकार है।

५	मंत्रोंके	सूक्त	२२	हैं, इनकी	मंत्र	संख्या	११०	है
६	"	"	५	"	"	"	३०	"
७	"	"	५	"	"	"	३५	"
८	"	"	३	"	"	"	३२	"
		कुल सूक्त संख्या	३९	कुल मंत्र	संख्या		२००	

इस द्वितीय काण्डके ऋषि देवता छंद आदि निम्नलिखित प्रकार हैं—

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद.
प्रथमोऽनुवाकः				
१	५	वेनः	शक्र, आरामा	त्रिष्टुप्; ३ अगती
२	"	मातृनामा	गंधर्व, अप्सराः	१, १ त्रिराहजगती, ३ त्रिपाद्विराणनाम गायत्री ५ भूरिगुणुष्टुप्

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद
३	४	भंगिराः	भैषज्यं, आयुः, धन्वन्तरिः	अनुष्टुप्, १ स्वराडुपरिहा- न्महाबृहती.
४	"	अथर्व	चन्द्रमाः, अग्निः	" १ विराट् प्रस्वारपंक्तिः
५	७	ऋगुः (आथर्वणः)	इन्द्रः	त्रिष्टुप्; १, २ उपरिहाद्बृहती (१ निघृत, २ विराट्, विराट् पप्था बृहती, ४ जगती दुरोविराट्

द्वितीयोऽनुवाकः

१	५	द्यौनकः (संपत्कामः)	अग्निः	" ४ अनुष्टुपाधी पंक्तिः ५ विराट् प्रस्वारपंक्तिः
७	"	अथर्व	भैषज्यं, आयुः, धनस्पतिः	अनुष्टुप्, १ अरिक्, ४ विराडुपरिहाद्बृहती
८	"	ऋगुः (भंगिराः)	धनस्पतिः यक्ष्मन्वासानं,	" ३ पप्थापंक्तिः, ४ विराट् ५ निघृतं पप्थापंक्तिः।
९	"	" "	" "	" ; १ विराट् प्रस्वारपंक्तिः
१०	८	" "	निर्मलि, धावाशुचिबी, नानादेवताः	१ त्रिष्टुप्, २ सप्तपादहिः ३-५, ७, ८ (१) सप्तपदी ऋतिः; १ सप्तपदी भंदाहिः ८ (२, ३) द्वौ पादौ, अग्निर्हौ।

तृतीयोऽनुवाकः

११	५	शुकः	कृत्यावृषणं, कृत्यापरिहरणं	१ अनुष्टुपा विराट्, २-५ त्रिपदा परोष्णिहः, ४ त्रिपीलिकमप्या निघृत
१२	८	भरद्वाजः	नानादेवताः	त्रिष्टुप्; २ जगती, ७, ८ अनुष्टुभा
१३	५	अथर्व	" अग्निः	" ; ४ अनुष्टुप्, विराट् जगती
१४	६	वासनः	शाळा, अग्निः, मेत्रोक्षदेवताः	अनुष्टुप्, २ अरिक्, ४ उपरिहाद्विराद्बृहती, त्रिपादापत्री.
१५	"	महा	प्राणः, अपानः, आयुः	
१६	७	"	"	१, २ एकपदासुती त्रिष्टुप्, २ एकपदासुती अग्निक्, ४, ५ द्विपदासुती गावत्री

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद
१७	"	"	"	१-६ एकपदासुरी त्रिष्टुप्, ७ आसुरी इणिक्.
चतुर्थोऽनुवाकः				
१८	५	चातनः (सपत्य क्षयकामः)	अग्निः	साम्नी शृहती.
१९	"	अथर्वा	"	१-४ निचृद्विचमा गायत्री ५ भूरिग्विहमा.
२०	"	"	वासुः	" "
२१	"	"	सूर्यः	" "
२२	"	"	चंद्रः	" "
२३	"	"	आपः	" "
२४	८	महा	आधुष्यं	पंक्तिः
२५	५	चातनः	वनस्पतिः	अनुष्टुप्, ४ भूरिक्
२६	"	सनिता	पशुः	त्रिष्टुप् ३ उपरिहाद्विराद्शृहती ४, ५ अनुष्टुभौ (४ भूरिक्)
पञ्चमोऽनुवाकः				
२७	७	कपिञ्जलः	वनस्पतिः	अनुष्टुप्
२८	५	छामुः	अग्निः, इन्द्रः	त्रिष्टुप्, १ जगती, ५ भूरिक्
२९	७	अथर्वा	बहुदेवता	" १ अनुष्टुप् उपराद्शृहती निचृत् प्रस्तारपंक्तिः
३०	५	प्रजापतिः	अश्विनौ	अनुष्टुप्, १ पद्यापंक्तिः ३ भूर्ति
३१	"	काश्यः	मही, चन्द्रमाः,	" २ उपरिहाद्विराद्शृहती ३ आपानिष्टुप् ४ प्रागुक्ता शृहती, ५ प्रागुक्ता त्रिष्टुप्.
षष्ठोऽनुवाकः				
३२	६	"	आदित्यः	" ३ त्रिषाद्भूरिगा, यत्री. ६ अनुष्पात्रिचृगुणिक्
३३	७	महा	यक्षमिषर्हणं, चन्द्रमाः, आधुष्यं	" ३ ककुमठी, ४ अत्यापा- द्भूरिगुणिया, ५ उपरि- हाद्विराद्शृहती, ६ इणिकाभां निचृद्भुष्टुप् ७ पद्यापंक्तिः

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद
३४	५	अथर्वी	पशुपतिः	त्रिष्टुप्
३५	,	अंगिराः	विश्वकर्मा	" १ बृहतीगर्मा, ४, ५ मूर्च्छि
३६	८	पत्सिवेदनः	अग्नीषोमी	" १ मूर्च्छि २, ५-७ अतुष्टुप् ८ त्रिष्टुप् उन्मिग्ल

इस प्रकार सूक्तोंके ऋषि देवता और छंद हैं । स्वाभाव्य करनेके समय पाठकों को इनके ज्ञानसे बहुत लाभ हो सकता है ।
अब हम ऋषि मन्त्रोंके सूक्तोंको छोड़के देते हैं—

१ अथर्वी— ४, ७, १३, २१-२३, २५, ३४ ये दस सूक्त ।
२ मन्त्रा— १५-१७, २४, ३३, ये पांच सूक्त ।
३ अंगिरसी भृगुः— ८-१० ये तीन सूक्त ।
४ वातना— १४, १८, २५, " " "
५ अंगिराः— ३, ३५, ये दो सूक्त ।
६ काण्वः ३१, ३२ " " "
७ अथर्वी भृगुः— ५ यह एक सूक्त ।
८ वेनः— १ " "
९ मातृनामा— २ " "
१० शौमिकः— ६ " "
११ छुकः— ११ " "
१२ भरद्वाजः— १२ " "
१३ सार्विषी— २६ " "
१४ कपिश्रुतः— १७ " "
१५ धाम्नु— २८ " "
१६ प्रजापतिः— ३० " "
१७ पत्सिवेदनः— ३६ " "

ये ऋषि— क्रमानुसार सूक्त हैं । अब देवता— क्रमानुसार
सूक्तों की गणना देखिये—

१ मन्त्र, आरामा— १ यह एक सूक्त ।
२ शंभुवैः— २ " "
३ इन्द्रः— ५ " "
४ अग्निः— ६, १३, १४, १८, १९, ये पांच सूक्त ।
५ वसवपतिः— ३, ७-९, २५, २७ ये छः सूक्त ।
६ शीर्षानुम्यं— ३, ७, १५-१७, २४, २८ ये सात सूक्त ।
७ भारोमवं— ८, ९, ११, १५-१७, २८ ये सात सूक्त ।
८ चंद्रमाः— ४, २२, ३१, ३३ ये चार सूक्त ।
९ अंगिरः— ४ यह एक सूक्त
१० निष्कंतिः— १० " "
११ वायुः— २० " "
१२ सूर्यः— २१ " "
१३ आदित्यः— ३२ " "
१४ आर्यः— २३ " "
१५ अश्विनौ— ३० " "
१६ विश्वकर्मा— ३५ " "
१७ अग्नीषोमी— ३६ " "
१८ पशुपतिः— ३४ " "
१९ वसुः— २६ " "

अन्य सूक्तों में अनेक देवताएं हैं, जो प्रत्येक मंत्रके विवरण में पाठक देख सकते हैं । समान देवताके सूक्तोंका अर्थविचार एक साथ करना चाहिए । अर्थविचार करनेके समय वे कोष्टक पाठकोंके लिए बड़े उपयोगी हो सकते हैं । इस कोष्टकमें कितने सूक्तों का विचार साथ साथ करना चाहिए । यह बात पाठक जान सकते हैं और इस प्रकार विचार करके मंत्रों और सूक्तोंका अनुसंधान कर सकते हैं ।

इतनी आवश्यक बात यहाँ कहके अब इस द्वितीय कण्डका अर्थ विचार करते हैं—

अथर्व वेदका सुक्तेषु भाष्य १

द्वितीय काण्ड ।

गुह्य-अध्यात्म-विद्या ।

(१)

[ऋषिः-वेनः । देवता-ब्रह्म, आत्मा]

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् ।

इदं पृथ्विरदुहृज्जायमानाः स्वविदो अम्यन्पुत्राः प्राः ॥ १ ॥

प्र तद्वोचेदमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत् ।

त्रीणि पदानि निहितं गुहांस्य यस्तानि वेद स पितृष्पितासत् ॥ २ ॥

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।

यो देवानां नामघ एक एव तं संप्रभं भुवना यन्ति सर्वा ॥ ३ ॥

अर्थ— (वेनः तत् परमं पश्यत्) अथ ही उस परमश्रेष्ठ परमात्माको देखता है, (यत् गुहा) जो हृदय की गुफामें है और (यत्र विश्वं एकरूपं भवति) जिसमें सम्पूर्ण जगत् एकरूप हो जाता है । (इदं पृथिविः जायमानाः अनुहन्) इसीका प्रकृतिने दोहन करकेही जन्मलेनेवाले पदार्थ बनाये हैं और इसकिए (स्वविदो वाः) प्रजा के जानकर प्रत्येक करनेवाके मनुष्यही इसकी (अम्यन्पुत्र) उत्तम प्रकारसे स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

(यत् गुहा) जो हृदयकी गुफामें है (यत् अमृतस्य परमं धाम) वह अमृतका श्रेष्ठ स्थान (विद्वान् गन्धर्वः-मनोवत्) ज्ञानी बचता कहे । (अथ त्रीणि पदा) इस के तीन पद (गुहा निदिता) हृदय की गुफामें रखे हैं, [यः पानि वेद] जो इनको जानता है (सः पिता पिता असत्) वह पिताका भी पिता जगत् बड़ा समर्थ हो जाता है ॥ २ ॥

[सः नः पिता] वह हम सबका पिता है, (जनिता) जन्म देनेवाला (उत सः बन्धुः) और वह भाई है, वह (विश्वा भुवनानि भानानि वेद) सब भुवनों और स्थानोंको जानता है । (यः एकः एव) वह अकेलाही एक (देवानां नाम—घः) सम्पूर्ण देवोंके नाम धारण करनेवाला है, (तं संप्रभं) उसी उत्तम प्रकारसे पूजने योग्य परमात्माके प्रति (सर्वा भुवनानि यन्ति) सम्पूर्ण भुवन पहुँचते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— सिद्धमें जगत्की विविधता नेदका त्याग कर एकरूपताको प्राप्त होती है और जिसका निवास हृदयमें है, उस परमात्माको मच्छी अपने हृदयमें साक्षात् देखता है । इस प्रकृतिने उसी एक आत्माकी विविध शक्तियोंको निष्काट कर तपस होनेवाले इस विविध जगत् की निर्माण किया है, इसलिये आत्मज्ञानी मनुष्य सदा उसी एक आत्माका गुणगान करते हैं ॥ १ ॥

जो अपने हृदयमें ही है उस अमृतके परम धाम का जगत् आत्मज्ञानी सैयमी बक्ता ही कर सकता है । इसके तीन पाद हृदयमें गुप्त हैं, जो उनको जानता है, वह परम ज्ञानी होता है ॥ २ ॥

वही हम सबका पिता, जन्मदाता और भाई भी है, वही सम्पूर्ण प्रकृतियोंकी सब अवस्थाओंको यथावत् जानता है । वह केवल अकेलाही एक है और अमि आदि सम्पूर्ण अन्य देवोंके नाम उसीको प्राप्त होते हैं क्योंकि उसको ही दिये जाते हैं । जिज्ञासु जन उसीके विषयमें बारंबार प्रश्न पूछते हैं और ज्ञान प्राप्त करते हुए अन्तमें उसीको प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

परि धावांपृथिवीं सद्य आयुमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य ।

वाचमिव वक्तारिं भुवनेष्ठा घास्युरेप नन्वेक्षुषो अग्निः

॥ ४ ॥

परि विश्वा भुवनान्यायामृतस्य तन्तुं वितंतं दृष्टे कम् ।

यत्र देवा अमृतमानशानाः संमाने योनावध्वैरयन्त

॥ ५ ॥

अर्थ— (सद्यः) तोष ही (धावा—पृथिवी परि आयं) युलोक और पृथ्वी लोकमें सर्वत्र मैं घूम जाया हूं और जब (ऋतस्य प्रथमजो उपातिष्ठे) सत्यके पहिले उत्पादक ही उत्पासना करण हूं । (वक्तारि वाचं ह्य) वक्तारिं जैसी वाणी रहती है, उसी प्रकार यह (भुवने—स्थाः) सब भुवनोंमें रहता है, और (प्यः घास्युः) यही सबका धारक और पोषक है, (ननु एयः अग्निः) निम्नपसे यह अग्नि ही है ॥ ४ ॥

(यत्र) जिसमें (अमृतं आमशानाः देवाः) अमृत खानेवाले सब देव (समाने योनीं) समान जाग्रदको (अध्वैर-यन्त) प्राप्त होते हैं, उस (ऋतस्य) सत्यके (वितंतं कं तन्तुं दृष्टो) फैले हुए सुखकारक भागोंको देखनेके लिए मैं [विश्वा भुवनानि परि आयं] सब भुवनोंमें घूम जाया हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— युलोक और पृथ्वी लोकके अंदर जो अनंत पदार्थ हैं, उन सबका निरीक्षण करनेके बाद पता लगता है, कि अमृत सत्य नियमोंका पहिला प्रवर्तक एकही परमात्मा है, इसलिए मैं उसीकी उपासना करता हूं । जिस प्रकार वक्तारिं वाणी रहती है, उसी प्रकार जगत् के सब पदार्थों अथवा सब प्राणियोंमें वह सबका धारण पोषण कर्ता एक आत्मा रहता है, उसको अग्नि भी कह सकते हैं अर्थात् जैसा अग्नि लक्ष्मणोंमें गुप्त रहता है उसी प्रकार वह सब पदार्थोंमें गुप्त रहता है ॥ ४ ॥

जिस एक परमात्मामें अग्नि वायु सूर्योदित देव समान रीतिसे आश्रित हैं और जिसकी अमृत मयी शक्ति संपूर्ण सत्य देवोंमें कार्य कर रही है, वही एक सर्वत्र फैला हुआ व्यापक सत्य है, उसी का साक्षात्कार करनेके लिए सब अस्तुमात्रका निरीक्षण मैंने किया है और पथात् सबके अंदर वही एक सूत्र फैला है वह मैंने अनुभव किया है ॥ ५ ॥

गूढ विद्या ।

गूढ विद्या ॥ अर्थ है गूढ तत्त्वकी जाननेकी विद्या । कई समझते हैं कि, यह विद्या गुप्त रखनी है, इसलिए इसको गूढ अथवा गुप्त विद्या कहते हैं, परंतु यह ठीक नहीं है । इदय संसारके अंदर सबका आधारभूत एक तत्त्व है, संसारके पदार्थ इदय हैं और यह सर्वव्यापक आधारतत्त्व अदृश्य है । इदयक मनुष्य सब पदार्थोंके द्वारा इस आधार तोल आदिकी देख सकता है, परंतु उस पदार्थ के अंदर व्यापनेवाले तत्त्वको, जिससे कि उस पदार्थ का अस्तित्व अनुभव होता है, उस अदृश्य तत्त्वको, यह नहीं जान सकता; बहुत बौद्धे हैं। उसका अनुभव कर सकते हैं । मनुष्य का शूल देह सब देख सकते हैं, परंतु उसी देहमें रहनेवाले गुप्त अथवा गुप्त आत्माका दर्शन कौन करता है! परंतु जितना देहका अस्तित्व सत्य है उससे भी अधिक सत्य देहपारी आत्माके अस्तित्वमें है । इसी प्रकार संपूर्ण जगत् के अंदर व्यापनेवाले गुप्ततत्त्व के विषयमें समझना चाहिए ।

इदय आकारवाला जगत् दिखाई देता है, इसलिए वह गुप्त नहीं है, परंतु इस इदय जगत् को आधार जिस गुप्त तत्त्वने दिया है, वह इस प्रकार स्पष्टतासे नहीं दिखाई देता है, इसको इंद्रना, इसका अनुभव लेना, इसका साक्षात्कार करना, इस 'गुप्त विद्या' का कार्य क्षेत्र है । इसलिए इसको " गुप्तविद्या, गुप्तविद्या, गुप्ताद्गुप्ततर का ज्ञान, आत्मज्ञान, मन्त्रविद्या, परविद्या, विद्या " आदि अनेक नाम हैं । इन सब शब्दोंका तात्पर्य " उस जगदाधार आत्मतत्त्वका ज्ञान " यही है ।

वेदमंत्रोंमें यह विद्या विशेष रीतिसे बताया है । स्थान स्थानमें तथा विविध रीतियोंसे इसका वर्णन किया है । कई मंत्रोंमें स्पष्ट वर्णन है और कईमें गुप्त वर्णन है । यह सूक्ष्म स्पष्ट वर्णन करनेवाला है, इसलिए उपासकोंमें इसके मननसे बड़ा लाभ हो सकता है ।

गूढविद्याका अधिकारी ।

सब विद्याओंमें यह गुप्त विद्या मुख्य है, इसलिए हरएक को इस विद्याकी प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिए। वास्तवमें देखा जाय, तो सभी मनुष्य इसकी प्राप्तिके मार्ग में लगे हैं, कई दूर के मार्गपर हैं और कईगोने समीपका मार्ग पकड़ा है, इन अनेक मार्गोंमेंसे कौनसा मार्ग इस सूक्तकी अभीष्ट है, यह बात यहाँ अब देखेंगे—

वेनः उत्पन्नयत् ॥ १ ॥

‘वेनही उसको देखता है,’ यह प्रथम मंत्रका विधान है। यहाँ प्रत्यक्ष देखता है, जिस प्रकार मनुष्य स्वर्गको आकाशमें प्रत्यक्ष देखता है उस प्रकार यह मन्त्र इस आत्मा को अपने हृदयमें प्रत्यक्ष करता है, यह मार्ग स्पष्ट है। यह अधिकार ‘वेन’ का ही है यह ‘वेन’ कौन है ? ‘वेन’ वातुके अर्थ— ‘मजन पूजन करना, विचार से देखना, भक्ति करना, तथा इसी प्रकार के उपासनाके कार्य करनेके लिये जाना’ ये हैं। ये ही अर्थ यहाँ वेन शब्द में हैं। जो ईश्वर का मजन पूजन करता है, हृदयसे उसकी भक्ति करता है, विचारकी दृष्टिसे उसको जाननेका प्रयत्न करता है। इस प्रकारका जो ज्ञानी मन्त्र है, वह वेन शब्दसे यहाँ अभिप्रेत है। इसलिए केवल “शुद्धिमान” अर्थ ही यहाँ लेना उचित नहीं है। किन्तु भी शुद्धिही विद्यारूपा यकी न हुई हो, जबतक उसके हृदयमें भक्ति की लहरें न उठती हों, तबतक उस प्रकारके शुद्ध ज्ञानसे परमात्माका साक्षात्कार नहीं हो सकता, यह यहाँ इस सूक्त द्वारा विशेष रीतिसे बताया है।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि—

अमृतस्य धाम विद्वाद् गंधर्वः ॥ २ ॥

‘अमृतके धाम की जाननेवाला गंधर्व ही उसका वर्णन कर सकता है।’ इसमें “गंधर्व” शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है। गंधर्व शब्द का अर्थ “संत, पवित्रात्मा” लोगों में प्रसिद्ध है और वह शब्द वेन शब्दके पूर्वोक्त अर्थके साथ मिलता जुलता भी है। तथापि “मां वाणी धारयति” अर्थात् “अपनी वाणीका धारण करनेवाला” वह अर्थ यहाँ विशेष योग्य है। वाणीका धारण तो सब करते ही हैं, परंतु यहाँ वाणीका बहुत प्रयोग न करते हुए अपनी वाक्यशक्तिका संयम करनेवाला, अत्यन्त आवश्यकता होनेपर ही वाणीका उपयोग करनेवाला, यह अर्थ गंधर्व शब्दमें है। विशेष अर्थ से परिपूर्ण परंतु अल्प शब्द बोलनेवाला विद्वान् गंधर्व शब्दसे यहाँ लिया जाता है। प्रायः आत्मज्ञानी ब्रह्मताका वक्तृत्व मूर्कतासे ही होता है, किंवा जोके परंतु अर्थपूर्ण शब्दोंसे ही आत्मज्ञानी पवित्रात्मा आत्म पुरुष जो कुछ कहना है, कह देता है। जबतक लौकिक विद्याका ज्ञान मनुष्यके मनमें छलबली मचारा रहता है, तब तक ही मनुष्य मेघघर्जनके समान वक्तृत्व करता रहता है, परंतु इसका परिणाम श्रोताओंपर विशेष नहीं होता। जब आत्मज्ञान होता है और ईश्वर साक्षात्कार होता है, तब इसका वक्तृत्व अल्प होने लगता है। परंतु प्रभाव बढ़ता जाता है। वाक्यशक्तिपर संयम होने लगता है। यह गंधर्व अवस्था समक्षिये।

यहाँ ‘वेन और गंधर्व’ ये दो शब्द आत्मज्ञानके अधिकारिके वाचक शब्द हैं। उपासक, मन्त्र तथा गंधर्व शब्दोंका प्रयोग संयम के साथ करने वाला जो होता है, वही परमात्माका साक्षात्कार करता है और वही उसका वर्णन भी कर सकता है।

पूर्व तैयारी । (प्रथम अवस्था)

उक्त उपासक आत्मज्ञानी हो सकता है, परंतु इसके बननेके लिये पूर्व तैयारी की आवश्यकता है, यह पूर्व तैयारी निम्न लिखित शब्दों द्वारा उस सूक्तमें बताई है—

सद्यः द्यावापृथिवी परि आयम् ॥ ३ ॥

विधा सुवनानि परि आयम् ॥ ५ ॥

‘एकवार ध्रुवोक्त और पृथ्वीलोकमें पक्षर लगाकर आया हूँ। संपूर्ण सुवनोमें घूमकर आया हूँ।’ अर्थात् ध्रुवोक्त और पृथ्वीलोक तथा अन्धान्य सुवनों और स्थानों में जो जो द्रष्टव्य, प्राप्त्य और भोक्तव्य है, उसको देखा, प्राप्त किया और भोगा है। जगत् में सब भ्रमण किया, कार्य व्यवहार किये, धनदौलत कमायी, राज्यादि भोग प्राप्त किये, विजय कमाये, यथा फैलाया, सब

बुद्ध किया, मनुष्यको जो जो अत्युत्पन्न विषयक करना संभव है, वह सब किया । यह गूढतत्त्वके दर्शनकी प्रथम व्यवस्था है । इस व्यवस्थामें भोगेच्छा प्रघात होती है ।

द्वितीय अवस्था ।

इसके बाद दूसरी अवस्था आती है, जिस समय विचार उत्पन्न होता है, कि ये नाशवान्त भोग किनसे भी प्राप्त किये, मदादि इनसे सबको तृप्ति नहीं होती; इसलिये सन्धी तृप्ति, सच्चा मनका समाधान प्राप्त करनेके लिये कुछ यत्न करना चाहिये । ६७ टीप अवस्थामें भोगीकी ओर प्रवृत्ति कम होनी है और अमौलिक तत्त्व दर्शन की ओर प्रवृत्ति बढ़ती जाती है; इसका निर्देश इस सूत्रमें निम्न लिखित प्रकार किया है—

अदृश्यस्य वितर्कं कं तन्मुं ह्ये विद्या मुवनामि परि भाष्य ॥ ५ ॥

“अदृश्यका कैला हुआ सुखकारक मूल सूत्र देखनेके लिए मैंमें सब मुवनोंमें चकर मारा, ” अर्थात् इस द्वितीय अवस्थामें इसका चकर इसलिये होता है, कि इस विविधतासे परिपूर्ण जगत्के अंदर एकताका मूल स्तोत्र होगा तो उसे देखें; इस दुःख कष्ट भेद सबार्हं सगर्भों से परिपूर्ण जगत्में मुख आराम ऐक्य और अविरोध देनेवाला कुछ तत्त्व होगा तो उसको हूँदेंगे, इस उद्वेगसे इसका भ्रमण होता है । यह मितासूत्री दूसरी अवस्था है । इस अवस्था का मनुष्य तीर्थोक्षेत्रों और पुण्यप्रदेशों में जाता है, वहाँ सज्जनोंसे मिलता है, देशदेशीयोंमें पहुँचता है और वहाँसे ज्ञान प्राप्त करता है इसका इस समय का उद्देश्य यही रहता है, कि इस विभेद पूर्ण दुःखमय अवस्थासे अभेदमय सुखकारक अवस्थाको प्राप्त करें । इतने परिश्रम करनेसे उसको कुछ न कुछ प्राप्त होता रहता है और फिर वह प्राप्त हुए जानकी अपने में स्थिर करनेका यत्न करनेकी तैयारी करता है । इस प्रकार यह दूसरी व्यवस्थाके तीसरी अवस्थामें पहुँचता है । इस तीसरी अवस्थाका वर्णन इससूत्रमें निम्न लिखित शब्दों द्वारा किया है—

तृतीय अवस्था ।

घावाप्रापिणी परि व्यापं सवः श्रतस्य प्रथमजां उपातिष्ठे ॥ ७ ॥

“ मैं सुलोक और पृथ्वीलोक में सब घूम आया हूँ और अब मैं सबके पाँदले प्रवर्तक की उपासना करता हूँ । ” जगत् मरमें घूमकर विचार पूर्वक निरीक्षण करनेसे इसको यथा लगता है कि, इस विभिन्न जगत् में एक अनिष्ट तरंग है और यही (कं) सच्चा सुख देनेवाला है । जब यह ज्ञान इसकी होता है, तब यह उसके पास जानेकी इच्छा करता है । उपासनासे भिन्न कोई अन्य मार्ग उसको प्राप्त करनेका नहीं है, इसलिये इस मार्गमें अब यह उपासक बनता है । ये अवस्थाएँ इस सूत्रके मंत्रों द्वारा व्यक्त होगई हैं, इन मंत्रों के साथ यजुर्वेद वाचस्पयेयी छेहिताके मंत्र देखनेसे यह विषय अधिक स्पष्ट जाता है; इसलिये वे मंत्र अब यहाँ देते हैं—

परीत्य भूतानि परीत्य छोदान्परीत्य सर्वाः प्रदिक्षो दिशश्च ।

उपस्थाप प्रथमजामुत्सवाःश्रतःश्रतानामाभे सं विवेशे ॥ ११ ॥

परि घावाप्रापिणी सद्य इत्या परि लोकान्परि दिशः परि स्वः ।

ऋतस्य तन्मुं वितर्कं त्रिचूत्वं सद्यश्चत्तम्भस्त्दासीत् ॥ १२ ॥

वा. दण्ड . अ. ३२

“ (भूतानि परीत्य) सब भूतोंको जानकर या भूतोंमें घूमकरके (लोकान् परीत्य) सब लोकोंमें भ्रमण करके (सर्वाः दिशः प्रदिशः च परीत्य) सब दिशा और उपदिशाओंमें भ्रमण करके अर्थात् इन सबको यथावत् जानकर (ऋतस्य प्रथमजां उपस्थाप) वैलोक्य पहिले नियमके प्रवर्तक की उपासना करके (आत्मना आत्मानं) केवल आत्मस्वरूपसे परमात्माके प्रति (वामि सं विवेश) सब प्रकारसे प्रवेश होता हूँ ॥ ११ ॥

(सद्यः घावाप्रापिणी परि इत्या) एक समय सुलोक और पृथ्वीलोकके सब पदार्थोंको देखकर, (लोदान् परि) सब लोकोंको देखकर, (दिशः परि) दिशाओंका परीक्षण करके (स्वः परि) आत्म प्रकाशको जानकर (ऋतस्य वितर्कं तन्मुं) अटल मत्वके केंले हुए भागको अलग करके अब (तत् व्यम्बत्) उस भागको देखता है, तब (तत् अभवत्) वह वैष्ट बनता है कि, जैसा (तत् आर्षत्) वह पहिले था ॥ १२ ॥ ”

ये दो मंत्र उपासककी उन्नतिके मार्गका प्रकाश उतम रीतिसे कर रहे हैं । जगत् में घूम आनेकी जो बात अथर्ववेदने कही थी, उसका विरोध ही स्पष्टीकरण इन दो मंत्रोंके प्रथम अक्षोंद्वारा हुआ है : "सब भूत, सब लोकलोकान्तर, सब उपादिगाएँ, य और पृथ्वीके अंतर्गत सब पदार्थ, अथवा अपनी धरा जहाँ तक आसक्तो है, वहाँ तक जाकर, वहाँतक विजय करके, वहाँ-क पुरुषार्थ प्रयत्नसे यश फैलाकर तथा उन सबका परीक्षण निरीक्षण समीक्षण आदि जो कुछ किया जाना संभव है, वह सब करके देख लिया । इतने निरीक्षणसे ज्ञात हुआ कि अटल सत्यनियमोंको चलोनेवाला एकही स्वरूप आत्मा सबके अंदर है, वही सबमें फैला है, उसीके आधारसे सब कुछ है, उसके आधार के बिना कोई ठहर नहीं सकता । जब यह जान लिया तब उसकी ही उपासना की, और केवल अपने आत्मभिहीं उसमें प्रवेश किया । जब वहाँका अनुभव लिया, तब उपासक बैठा बन गया, जैसा पहिले था ।

पाठक इन मंत्रोंके इस आशयको देखेंगे तो उनको पचा लग जायगा, कि जो अथर्ववेदके इस सूक्तके मंत्रों द्वारा आशय व्यक्त हुआ है, वही बड़े विस्तारसे इन मंत्रोंमें बर्णित हुआ है । और ये मंत्र उन्नतिकी अवस्थाएँ भी स्पष्ट शब्दोंद्वारा बतल रहे हैं, देखिये—

- १ प्रथम अवस्था—(अज्ञानावस्था)—अपने या जगत् के विषय का पूर्ण अज्ञान ।
- २ द्वितीय अवस्था—(भोगावस्था)—जगत् अपने भोग के लिये है, ऐसा मानना, और जगत्को अपने स्थापित करनेका यत्न करना । जगत् पर प्रभुत्व स्थापित करना । इसी अवस्थामें राज्यैश्वर्य भोग बढाये जाते हैं ।
- ३ तृतीय अवस्था—(त्यागावस्था)—जगत्के भोगोंसे अग्रमाधान होकर विभक्तियोंमें व्यापक अविभक्त सत्तावाली सद्गुरुको ईदनेका प्रयत्न करना । वह जिज्ञासुकी अवस्था है ।
- ४ चतुर्थ अवस्था (अकृतावस्था)—मनुष्य विभिन्न विश्वमें व्यापक एक आभिन्न आत्मतत्त्वको देखने लगता है और धर्मा भक्तिसे उसकी उपासना करने लगता है ।
- ५ पंचम अवस्था—(स्वरूपावस्था)—उपासना और भक्ति रट और गहन होनेपर वह तद्रूप हो जाता है, भानो उसमें एक रूप होकर प्रविष्ट होता है, या जैसा या वैसा बन जाता है । यही साक्षात्कार की अवस्था है, यहाँ इसके भव ज्ञान प्रत्यक्ष होता है ।

यही मार्ग इस अथर्व सूक्तमें बर्णन किया है । यहाँ पाठकोंको स्पष्ट हुआ होगा कि पूर्व तैयारी कौनसी है और आगेका मार्ग क्या है ।

पूर्णावस्था ।

पूर्वोक्त यजुर्वेदके मंत्रोंमें कहा ही है कि—

उपस्थाय प्रथमज्ञासृतस्य
आत्मनायमानमभि सं विवेश
आसृत्य सन्तु वितर्त विचृत्य ।
सद्पदपत्तद्भवत्तदासीन् ॥१२॥

वा. यजु० अ. ३२

“सत्यके पहिले प्रवर्तक परमात्माकी उपासना करके आत्मसे परमात्मामें प्रविष्ट हुआ । सत्यके फले हुए धर्मोंको अलग देखकर वैसा हुआ जैसा कि पहिले था ।” यह सब वर्णन पूर्ण अवस्थाका है । इसीको निम्नलिखित शब्दोंद्वारा इस अथर्व सूक्तमें कहा है—

स्वर्षिदः माः अभ्यनूयत ॥ १ ॥
अमृतस्य धाम विद्वात् ॥ २ ॥
यस्यानि वेद स पितृष्पिताऽसत् ॥ २ ॥

“ (प्राः) प्रत पालन करनेवाले (स्वर्षिदः) आत्मज्ञानी वही ही स्तुति करते हैं । वे अमृतके घामको जानते हैं । जो ये घाम जानता है वह पिताका पिता अर्थात् सबमें अधिक ज्ञानी अथवा सबमें अधिक समर्थ होता है । ” यह अंतिम छन्द है पूर्ण अक्षर्यामें पहुँचनेका निश्चय इसके हो सकता है ।

प्रथम मंत्रमें “ प्राः ” शब्द बड़ा महत्त्व रखता है । अतो या नियमोंका पालन करनेवाला अपने उद्योगिके लिये जो नियम आवश्यक होंगे उनको अपनी इच्छासे पालन करनेवालेका यह नाम है । नियम स्वयं देखकर स्वयंही उस प्रकटा पालन करना बड़े सुखधर्मसे छाध्य होता है । इसमें मृतमंत्र होनेपर अपने आपको स्वयंही दृष्ट देना होता है, स्वयं ही प्रायश्चित्त करना होता है । महान् आत्माही ऐसा कर सकता है । हर एक मनुष्य दुष्टों पर अधिकार चला सकता है, परंतु स्वयं अपने पर अधिकार चढाना अति कठिन है । अपनी संपूर्ण शक्तियाँ अपने आधीन रखनी और कभी कुविचार आदि शत्रुओंके आशीन न होना इत्यादि महत्त्व पूर्ण बातें इस आत्मशासनमें आती हैं । परंतु जो यह करेगा, वही आत्मज्ञानी और विशेष समर्थ भवेगा और उषीक महत्त्व सब शीघ्र मानेगा ।

सूत्रात्मा ।

मणिषीकी माला बनती है, इस मालामें जितने मणि होते हैं, उन सबमें एक सूत्र होता है, जिसके आधारसे ये मणि रहते हैं । सूत्र दृष्ट गया तो माला वही रहती और मणि भी बिखर जाते हैं । जिस प्रकार अनेक मणिषीके बीचमें यह एक सूत्र या धातु होता है, उषी प्रकार इस जगत्के सूर्यचंद्रादि विभिन्न मणिषीमें परमात्माका व्यापक सूत्र तन्तु या धागा है, जिसके आधारसे यह सब विश्व रहा है, इसीका संरक्षण नहीं होता, सब मानका ही वर्णन करते हैं, परंतु जिस धागेके आधारसे ये सब मणि मालारूपमें रहे हैं, उस सूत्रका महत्त्व सर्वज्ञानी ही जान सकता है और वह सब व्यवसायको प्राप्त कर सकता है ।

वेदमें “ तन्तु, सूत्र ” आदि शब्द इस अर्थमें आये हैं । जगत्के संपूर्ण पदार्थ मानके अंदर यह परमात्माका सूत्र कैला है, को ही यथार्थ इसके आधारके विना नहीं है । यह जानना, इस ज्ञानका प्रत्यक्ष करना और इसका साक्षात्कारसे अनुभव सेनागुप्त विद्याका विषय है, जो इस सूत्र द्वारा बताया है ।

अमृतका घाम ।

यही आत्मा अमृतका घाम है, इसके इंद्रमा हर एकका आवश्यककर्तव्य है । इसको वही इंद्रमा यही मंत्र तथा विचारणीय है, इसकी प्राप्तिके लिये ही संपूर्ण जगत् घूम रहा है, विचारकी दृष्टिसे देखा जाय, तो पता लग जायगा कि, सुख और आनंदके लिये हर एक प्राणी प्रयत्न कर रहा है, और हर एकका ख्याल है कि, क्या पदार्थकी प्राप्तिसे सुख होता है । इसलिये मनुष्य क्या अथवा अन्य कौटुम्बिकदि प्राणी क्या, प्रयत्न कर रहे हैं, एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जा रहे हैं, इस पदार्थ प्राप्त होनेपर सज्जन सुखका अनुभव लेते हैं और पश्चात् दुःख कैसा का वैधा बना रहता है । इसका अवन करके करते मनुष्यके मनमें विचार आजाता है कि, आनंद कैसा को अपने से बाहर इंद्रते रहने की अपेक्षा उसके अपने अंदर तो इंद्रकर देखिये । यही बात “ मैत्रेयाश्रमिणीमें प्रथम क्रिया, मैत्रे संपूर्ण भूतोंमें चक्रार मारा, सब दिशाएँ और निदिशाएँ देखली और अथ मैं सर्वत्र व्यापक एक सूत्रात्माको जानकर उषी संपादना करता हूँ । ” इत्यादि जो भाव चतुर्वर्ग और चंचल मंत्र का है उसमें दर्शा है । गूढविद्याका प्रारंभ इसके पश्चात्के क्षेत्रमें है, यहाँसे ही गूढ तत्त्वकी खोज प्रकृत होती है । जिस प्रकार अन्य संपूर्ण पदार्थोंको देखती है परंतु अंतर्धमें बड़े ऋणको देख नहीं सकती, उषी प्रकार मनुष्य सब जगत् का नियंत्रण करता है, परंतु अपने अंदरका निरीक्षण करना उसकी कठिन होता है । यही गुप्त विद्याका क्षेत्र है । इसलिए इसको वही इंद्रमा है, यह देखना चाहिये । इस सूत्रमें इस विषयका स्पष्टीकरण करनेवाले छन्द ये हैं—

गुहा ।

यत् परमं गुहा ॥ १ ॥ यत् घाम परमं गुहा ॥ २ ॥

‘ यत् परमं घाम गुहाम है । ’ इसलिये इसको गुहा में ही इंद्रमा उचित है । उषी हेतुसे बहुतसे योग परीतोंकी गुहाओंमें जाते हैं, और वहाँ एकांत सेवन करते हैं । योग गुहके शोध रहकर परीत अक्षर्यामें एकांत सेवन करने और अनुष्ठान करनेसे

इस गुण विद्याका अनुभव लेनेके विषयमें बड़ा काम-निःसंदेह होता है; परंतु यह एक बाह्य साधन है । सच्ची गुफा हृदय की गुहा ही है । हृदय की गुफा सब जानते हैं । इसी में इस गुह्यतत्वकी खोज करनी चाहिए ।

सब प्राणी तथा सब मनुष्य बाहर देखते हैं, इस बहिर्दृष्टिसे गुह्यतत्वकी खोज नहीं हो सकती । इस कार्य के लिए दृष्टि अंतर्मुख होनी चाहिए, अपनी इंद्रिय शक्तियों का प्रवाह अंदर की ओर अर्थात् उलटा शुरू होना चाहिए । तभी इस गुह्य तत्व की खोज हो सकती है । अपने हृदयमें ही उस गुह्य आभासों देखना चाहिए । अर्थात् इसकी प्राप्ति के लिए बाह्य दिशाओंमें प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं है, अंतर्मुख होकर अपनी हृदयकी गुफामें देखना चाहिए ।

चार भाग

यह अमृतका घाम हृदयमें है । यदि इस अमृत के चार भाग मान लिए जाय, तो तीन भाग अंदर गुप्त है और केवल एक भाग ही बाहर व्यक्त है । जो बाहर दिखता है, जो स्थूल दृष्टिसे अनुभवमें आना है वह अत्यंत अल्प है, परंतु जो अंदर गुप्त है, वह बहुत विस्तृत ही है । अपने शरीर में भी देखिये आत्मा-बुद्धि, मन, प्राण ये हमारा अंतःशक्तियाँ अहम् हैं और स्थूल शरीर वह हृदय है। यदि शक्तिकी तुलना की जाय तो स्थूलशरीर की शक्ति की अपेक्षा अंतःशक्तियाँ बहुत ही प्रभाव-शाली हैं । अर्थात् स्थूल और व्यक्त की शक्तिकी अपेक्षा सूक्ष्म और अम्यक की शक्ति बहुतही बड़ी है । यही यहाँ मिश्रमित्तित धार्योंद्वारा व्यक्त हुआ है—

श्रीनि पदानि त्रिहिता गुहास्य यस्तानि वेद् स पितृपिताऽसप्त ॥ २५ ॥

“ इसके तीन पाद गुह्यमें गुप्त हैं, जो उनको जानता है वह समर्थसे भी समर्थ होता है । ” अर्थात् स्थूलशरीरकी शक्तिकी स्थापनाता होनेकी अपेक्षा अंतःशक्तियोंपर प्रभुत्व प्राप्त होनेसे अधिक सामर्थ्य प्राप्त होता है । इसी विषयमें ये मंत्र देखिये—

पादोऽस्य त्रिधा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

त्रिपादूर्ध्वं तदैश्वर्यः पादोऽस्येहाऽभवत्पुनः ॥ ४ ॥

त्रिभिः पत्रिर्षामरोहापादोऽस्येहाऽभवत्पुनः ॥

त्रिपाद्वत् पुनरुक्तं त्रिभिरिति त्रिभिः प्रविशामस्तसः ॥

अ० १०१०-वा. य. ३१

अर्थ १९ । ६

अर्थ २० । १०१९

“ उसके एक पादसे सब भूत बने हैं और तीन पाद अमृत पुनोक्त में है । तीन पाद पुनरुक्त का ऊपर उदय हुआ है, और एक पाद पुनरुक्त यहाँ वारंवार प्रकट होता है । तीन पादोंसे स्वर्गपर चढा है और एक पाद यहाँ पुनः पुनः होता है । तीन पाद ब्रह्म बहुत रूप धारण करके उतरा है, जिससे चारों दिशाएं जीवित रहती हैं । ”

इन सब मंत्रोंका तात्पर्य वही है, जो इस एक के ऊपर दिए हुए भागमें बताया है । उस अमृतकी अल्पकी शक्ति स्थूल में प्रकट होती है, शेष अनंत शक्ति अप्रकट स्थितिमें गुप्त रहती है और उस गुप्त शक्तिसे ही इस व्यक्त में कार्य होता रहता है । पाठक मनकी शक्ति की शरीरकी शक्तिके साथ तुलना करिये, तो उक्त बातका पता उनके लग जायगा । मनकी शक्ति-बहुत है उसका योबासा भाग शरीरमें गया है और यहाँ कार्य कर रहा है । यह स्थूलमें कार्य करनेवाला अंशरूप मन वारंवार मूल गुप्तमनकी शक्तिसे प्रभावित होता है, नवजीवन प्राप्त करता है और वारंवार शरीरमें आकर कार्य करता है । यही बात अधिक सत्यतासे अमृततत्वके साथ संगत होती है । उसका केवल एक अंश प्रकट है, शेष अनंत शक्ति गुप्त है, इसके साथ अपना संबंध जोड़ना गूढविद्याका साध्य है ।

एक रूप ।

जगत्में विविधता है और इस आत्मतत्त्वमें एकरूपता है । जगत्में गति है इसमें शक्ति है, जगत्में मिश्रता है इसमें एकता है; इस प्रकार जगत्का और आत्माका वर्णन किया जाता है, सब लोग इस वर्णन के साथ परिचित हैं, इस सूक्तमें भी देखिए—

वेनस्तत्पद्मवत्परमं गुहा यद्यत्र विद्वं भवत्येददृश्यम्
इदं पृथिव्यदुद्गम्यमानाः स्वर्दिदो अन्यन्तुत प्राः ॥ १ ॥

“ज्ञानी भवति ही उरको देखता है, जो हृदयकी गुहामें है और जिसमें सम्पूर्ण विश्व अपनी विविधतासे छोड़कर- एक रूप हो जाता है। इसकी शक्तिको प्रकृति शीघ्रता है और जन्म लेनेवाले पदार्थ पैदा करता है। इसलिये आत्मज्ञानी व्रतपालन करने-वाले भक्त उस आत्माका ही गुण गान करते हैं।”

पाठक अपने अंदर इसका अनुभव देख लें, जाग्रतीमें जगत्की विविधता का अनुभव आता है, स्वप्नमें भी कल्पानिक सृष्टिमें विविधताका अनुभव आता है, परंतु पूर्णो अवस्था गाड निद्रा—सुषुप्ति में मिश्रताका अनुभव नहीं आता और केवल एकतात्वका अनुभव व्यक्त करना असंभव है, इसलिये उस समय किधी प्रकारका मान नहीं होता। सुषुप्ति, समाधि और मुक्तिमें “ब्रह्म रूपता” होती है, तम—रज—सत्व-गुणोंकी मिश्रता छोड़ दी जाय तो उक्त तैमो ह्यार्थमें ब्रह्मरूपता, आत्मरूपता अथवा साधारण भावमें ईश्वररूपता होती है और इस अवस्थामें मिश्रत्वका अनुभव मिट जाता है, इसलिये ब्रह्म अवस्थाकी “एक—त्व” कहते हैं। इसी उद्देश्ये ब्रह्म मंत्रमें कहा है कि—

यत्र विभं एकरूपं भवति ॥ १ ॥

“जहाँ संपूर्ण विश्व एकरूप होता है।” अर्थात् जिसमें जगत् की विविधता अनुभवमें नहीं आती, परंतु उस सब विविधता को एकरूपताका रूप या आभाता है। वृक्ष के जड़, शाखा, पत्तय आदि मिश्र रूपताका अनुभव है, परंतु गुठली में इन विधता की एक रूपता दिखाई देती है। इसी प्रकार इस जगत्की वृक्षकी विविधता मूल शरणाधिकारण में आकर देखनेसे एकरूपता में दिखाई देगी। इसी मुख्य आदि कारणसे विविध शक्तियों प्रकृति अपने अंदर धारण करके उत्पत्ति करते पदार्थ निर्माण करती है। इस रीतिसे न सत्त्व होनेवाले एक तत्वसे उत्पन्न होनेवाले अनेक तत्व बनते हैं। इनका ही नाम उक्त मंत्रमें ‘आयमाना’ कहा है। इनमें मनुष्यभी शामिल है और अन्य प्राणी तथा अश्राणी भी हैं। इनमें मनुष्यकी (भाः) व्रतपालनादि सुनिदर्शने अपनी शक्ति करके आदि मूढको जानता और अनुभव करके (स्वर्दिदः) प्रकाश ज्ञान करके प्रतिदिन अनुष्ठान करता हुआ घमथ बनता जाता है।

अनुभव का स्वरूप ।

आत्मज्ञानी मनुष्य को अमृत धामका अनुभव किस प्रकार होता है, उसके अनुभव का स्वरूप अथ देखना चाहिये—‘आत्मज्ञानी मनुष्य अमृतधाम को अपनी हृदयकी गुहामें अनुभव करता है, अनंत शक्तियों बरी ही हथुंडों हुर हैं, यह उसका अनुभव है।’ (मंत्र २ देखो)

और यह अनुभव करता है कि— ‘वहाँ परमज्जा हम सबका पिता, जलात्क, और माई है, वही सर्वज्ञ है।’ (मंत्र ३) इतनाही नहीं परंतु ‘वही हमारी माता और वही हमारा सबका मित्र है’ यह भी उसका अनुभव है। वहाँ अग्नेद और अर्धमें मंत्रोंकी तुलना कीजिये—

स मः पिता जनिता स उव मधुघोमात्रि वेद भुवनानि विधा ॥

यो देवानां मामथ एव एव सं सं प्रथं भुवना यन्ति सर्वा ॥

अर्ध. २।१।१

यो मः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विधा ॥

यो देवानां मामधु एव एव सं सं प्रथं भुवना यन्त्यन्या ॥

अग्नेद १।१।२।३

स नो मधुर्जनिता ॥ विधाता धामानि वेद भुवनानि विधा ॥

वा. यजु. ३।१।१०

इनमें कुछ पाठभेद है, परंतु सबका तात्पर्य ऊपर बताया ही है। वहाँ ज्ञानी भक्त का अनुभव है और एक अनुभव यजुर्वेदके मंत्रमें दिया है वहाँ भी यह देखिये—

जगत् का ताना और धाना ।

वेनस्तपस्वपरामं गुडा पद्यत्र विचं भवत्येकनीडम् ।

तस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वंरुष ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥ वा. यजु. ३२।८

‘ज्ञानी भक्त उस परमात्माकी जानता है जो हृदय की गुडामें है और जिसमें संपूर्ण विश्व एक घोंघले में रहनेके समान रहता है, तदा जिसमें यह सब विश्व एक समय (सं एनि) मिल जाता है या लीन होता है और दूसरी समय (वि एति) अलग होता है । (संः विभूः) वह सर्वत्र व्यापक तथा वैभवसे युक्त है और (प्रजासु ओतः प्रोतः) प्रजाओं में ताना और धाना किये हुए धारों के समान फैला है ।’

धोती में जैसे ताने और बानेके धागे होते हैं, उस प्रकार परमात्मा इस जगत् में फैला है, यह उस ज्ञानीका अनुभव है ।

बालक पर आपत्ति आती है उस समय वह बालक अपने माता पिता, बड़े भाई, चाचा, दादा, नाना आदिके पास सहायतामें जाता है । वही बालक बड़ा होनेपर आपत्त आगई तो अपने समर्थ मित्रके पास जाता है और उससे सहायता लेता है । इसी प्रकार अन्य प्रसंगों में गुरु, राजा, आदिकों की सहायता लेता है । ये सब संबंध परमात्मामें ज्ञानी अनुभव करता है अर्थात् ज्ञानी भक्तके लिये परमात्माही सभाट, राजा, सरदार, शासक, शिक्षक, गुरु, माता, पिता, मित्र, भाई आदि रूप हो जाता है ।

एकके अनेक नाम

एक ही मनुष्यको उसका पुत्र पिता कहता है, स्त्री पति कहती है, उसका भाई उसको बंधु कहता है, इस प्रकार विविध संबंधी सब एकही पुरुषको विविध संबंधोंके अनुभव होनेके कारण विविध नामोंसे पुकारते हैं । इस रीतिसे एक मनुष्यको विविध नाम मिलने पर भी सबके एकत्वमें कोई भेद नहीं आता है ।

इसी संबंध परमात्मा एक होनेपर भी उसके अनंत गुणोंके कारण और उसके ही अनंत गुण सृष्टिके अनंत पदार्थोंमें आनेके कारण सबको अनंत नाम दिये जाते हैं । जैसे आगमें गरुता गुण है वह परमात्मा से प्राप्त हुआ है, इसलिये अमिच्छा अग्नि नाम वास्तविक गुणकी घाताकी दृष्टिसे परमात्माका ही नाम है, क्योंकि वह अमिकाही अग्नि है । इसी प्रकार अन्यान्य देवोंके नामोंके विषयमें जानना योग्य है ।

शरीरमें भी देखिये—आंख नाक कान आदि इंद्रियों स्वयं अपने अपने कर्म नहीं कर सकतीं, परंतु आत्माकी शक्तिको अपने अंदर लेकर ही अपने कर्म करनेमें समर्थ होती हैं । इसलिये सब इंद्रियोंके नाम आत्मामें सार्य होते हैं, अतः आत्माको आंखनाक आंख, कानका कान कहते हैं । इसी प्रकार परमात्मा सूर्यका सूर्य, विपुलका विपुल है । देवोंके नाम धारण करनेवाला परमात्मा है ऐसा जो मूर्तीय अर्थमें कष्ट है, वह इस प्रकार संस्य है ।

वह एकही है ।

परमात्मा एक ही है, यह बात इस मूर्तीय अर्थमें ‘एक एव’ (यह एक ही है) इन शब्दों द्वारा जोरसे कही है । किसी-की परमात्माके अस्तित्वके विषयमें यत्किंचित् भी शंका न हो, इसलिये ‘एव’ पदकी योजना यहां की है । भक्त को भी ईश्वरके एकत्वका अनुभव होता है, क्योंकि ‘विभक्तोऽभिभक्त’ अर्थात् अनुभव लुप्तको होता है, इत्यादि विषय इसमें पूर्व बताया ही है ।

ज्ञानी भक्तका विशेष अनुभव यह है कि, वह परमात्मा “सं-प्रभ” है अर्थात् प्रभ पृष्ठने योग्य और उससे उत्तर लेने योग्य है । मनुष्य जब भक्त उभे प्रभ पृष्ठता है, तब वह उसका उत्तर साक्षात्कार से देता है । कठिन प्रसंगोंमें उसकी सहायता की दायता की, और एकान्त में अनन्य कारण कृति से उसकी प्रार्थना की, तो वह प्रार्थना निःसंदेह सुनता है, और भक्तके कष्ट दूर करता है । अन्य मित्र सहायतायें समयपर आसकेगे या नहीं इसका नियम नहीं, परंतु यह परमात्मा ऐसा मित्र है, कि वह अनन्य भावसे धारण जानेपर सदा सहायतायें सिद्ध रहता है और कभी ऐसा नहीं होता कि, वह धारणगत की सहायता न करे । इसलिये सहायतायें यदि किसीसे पृष्ठना हो, तो अन्य मित्रोंकी प्रार्थना करनेकी अपेक्षा इसकी ही प्रार्थना करना योग्य है; क्योंकि हर समय वह सुननेके लिये तैयार है और इसका उत्तर दयालय हस्त सदा हम सबपर है ।

यह स्रक्वा (घासुः) धारण पोषण करनेवाला है और (मुक्ने-स्याः) संपूर्ण स्थिरचर जगत्में ठहरा है अर्थात् ह्राएक पदार्थमें अन्त है । कोई स्थान उधड़े खाली नहीं है । वक्षानें जेघा वस्तुत्व है, उस प्रकार जगत्में यह है, सबमुक् यह अग्नि ही है । (मंत्र ५) इसी प्रकार पाठक कह सकते हैं कि, यह सूर्य है और सती विद्युत् है, क्योंकि यद्यपि मात्रही सत्ता है। यह है; फिर अग्नि वायु रश्मि यह है यह कहनेकी आवश्यकता ही क्या है ? परन्तु यहाँ स्रक्की सुबोधताके लिये देखा गया है । मनुष्यद्वा पान्द आत्मरक्षिते तत्प्रप होता है उची प्रकार सूर्य भी परमात्माको रक्षित ही प्रकाशता है ।

देवोंका अमृतपान ।

इस सूक्तके पाँचवें मंत्रमें कहा है, कि उस परमात्मानें देव अमृतपान करते हैं—

यत्र देवा अमृतमानसानाः समाने योनात्प्यैरपन्त ॥ ५ ॥

“उस परमात्मानें देव अमृतपान करते हुए समान अर्थात् एकही आश्रयमें पहुँचते हैं ।”

अर्थात् सब देव उद्यमें समान अधिकार थे, समान रूपसे अपना अपनी विभिन्नताकी छोटकर एक रूप बनकर उद्यमें हीन होते हैं और वहाँ का अनुभवमे अमृत पीते हैं ।

मुक्ति, समाधि और सुशुप्ति में यह बात अनुभवमें आती है मुक्ति और समाधि तो ह्राएक के अनुभवमें नहीं है, परंतु सुशुप्ति ह्राएक के अनुभवमें है । इस अवस्थामें सब जीव प्रज्ञरूप होते हैं । इस समय मानवी शरीरमें रहनेवाले देव- अर्थात् सब इंद्रियाँ-अपना भेदभाव छोड़कर एक आदि कारणमें हीन होते हैं और वहाँ आत्मानें गोता लगाकर अमृतानुभव करती हैं । इस अनुभवपानमें उनकी सब यकषट् दूर होती है और जब सुशुप्ति से हटकर ये इंद्रियाँ जाग्रदावस्थामें पुनः सौट आती हैं, तब पुनः तेजस्वी बनती हैं । यदि चार आठ दिन सुशुप्ति न मिली, तो मनुष्य-शरीर निशाची एक भी देव अपना कार्य करनेके लिये योग्य नहीं रहेगा । बीमारी में भी जबतक सुशुप्ति प्रतिदिन आती रहती है, तबतक बीमार की अवस्था चिंताजनक समझी नहीं आती । परंतु यदि चार पाँच दिन निद्रा बंद हुई तो वैयभी कहते हैं कि, यह रोगी आशाप्य हुआ है । इतना महत्त्व तन्मैशुभमय सुशुप्ति अवस्थामें प्राप्त होनेवाली प्रज्ञरूपताका और उद्यमें प्राप्त होनेवाले अमृतपानका है । इससे पाठक अनुमान कर सकते हैं ॥ समाधि और मुक्ति में मिलनेवाले अमृतपानके कितना काम और कितना आनंद होता होगा ।

यजुर्वेदमें यही मंत्र योके पाठ भेदसे आगया है वह भी यहाँ देखने योग्य है—

यत्र देवा अमृतमानसानास्तृतीये धामहाप्यैरपन्त ॥ वा. यजु. ३२।१० ॥

“यहाँ देव अमृत का भोग करते हुए तीसरे धाम में पहुँचते हैं ।” पूर्वोक्त मंत्र में वहाँ ‘समाने योने’ शब्द है वहाँ इस मंत्रमें “तृतीये धामम्” शब्द है । समान, योनी का ही अर्थ तृतीय धाम है । आश्रय, स्थान, सुशुप्ति यदि ये तीन अवस्थाएँ मिल ली जायँ, तो तीसरी अवस्था सुशुप्ति ही आती है जिसमें सब देव अपना भेद भाव छोड़कर एक रूप होकर प्रज्ञरूप बनकर अमृतपान करते हैं । स्थूल, सूक्ष्म, कारण ये प्रकृतिके रूप यहाँ लिये, बांध, तो सब इन्द्र चन्द्र सूर्यादि देव अपनी निद्रता त्यागकर उद्य प्रज्ञमें हीन होकर अमृत रूप होते हैं । ज्ञानी जन्म महात्मा साशुषंत ये लोग अपने समान मानसे मुक्त अवस्थामें हीन होते हुए अमृत भोगके महाभंदकी प्राप्त होते हैं । ॥ प्रकार ह्राएक स्वानमें इसका अर्थ देखना चाहिये । [पाठक ॥ सूक्तका मनन कां० १। सू० १३ और २० इन दो सूक्तोंके साथ करे]

यहाँ इस प्रथम सूक्तका विचार समाप्त होता है। यदि पाठक इस सूक्तके एक एक मंत्रका तथा मंत्रके एक एक भागका विचार करेंगे, आर उसपर अधिक मनन करेंगे, तो उनके मनमें गूढ़विद्याकी बातें स्वयं स्फुरित होंगी । इस सूक्तमें शब्द पुन पुनके रखे हैं, और ह्राएक शब्द विशेष भाव बता रहा है । विशेष विचार करनेकी सुगमता के लिये श्रवण और यजुर्वेदके पाठ भी यहाँ दिने हैं इससे पाठक इसका अधिक मनन कर सकते हैं । बेदकी यह विशेष विद्या है, इसलिये पाठक इस सूक्तके मननसे कितना अधिक काम उठावेंगे उतना अधिक अच्छा है ।

एक पूजनीय ईश्वर ।

(२)

[ऋषिः-मातृनामा । देवता-गंधर्वाप्सरसः]

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विष्नीह्यः ।
 तं त्वा योमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्यम् ॥ १ ॥

दिवि स्पृष्टो यज्ञतः सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य ।
 मूढार्द्रगन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः ॥ २ ॥

अनवघामिः समु जगम आभिरप्सरास्त्रपि गन्धर्व आसात् ।
 समुद्र आसां सदंनं म आहुर्यतः सध आ च परां च यन्ति ॥ ३ ॥

अर्थ— (य! दिव्यः गन्धर्वः) ओ दिव्य श्रुतिभ्यादिना जारक देव (भुवनस्य एक एव पतिः) भुवनोका एक ही स्वामी (विष्णु नमस्यः ईह्यः य) जगत्में वही एक नमस्कार करने और स्तुति करने योग्य है । हे (दिव्य देव) दिव्य अद्भुत ईश्वर ! (तं त्वा) उस तुझसे (ब्रह्मणा योमि) उपासनाद्वारा मिलवा हूँ । (ये नमः अस्तु) तेरे लिए नमस्कार हो । (ते सध-स्यं दिवि) तेरा स्थान पृथक्में है ॥ १ ॥

(भुवनस्य एकः एव पतिः) भुवनोका एकही स्वामी यह (गन्धर्वः) भूमि आदियोंका, घातण कर्ता (नमस्यः सुशेवाः) नमन करने और सेवा करने योग्य है, वही (मूढाद्) सबको भानंद देने । वही दिव्य देव (दिवि स्पृष्टः) पृथक्में प्राप्त होता है, (यज्ञतः) पूज्य है और (सूर्य-त्वक्) सूर्य ही जिसकी त्वचा है अर्थात् सूर्यके अंदर भी व्यापनेवाला, तथा (दैव्यस्य हरसः) दैवी आपत्तिको (अवयाता) दूर करनेवाला है । इसीलिए सबको वह पूजनीय है ॥ २ ॥

भावार्थ—पृथ्वी सूर्य वन्द्र मङ्गल आदि संपूर्ण जगत् का धारण करनेवाला और संपूर्ण जगत् का एकही अद्वितीय स्वामी परमेश्वर ही है और वहां सब लोगोंको पूजा और उपासना करने योग्य है । स्तुति प्रार्थना उपासनासे अर्थात् मन्त्रिसे सबकी प्राप्ति होती है । यह ईश्वर अपने स्वर्गधाममें है, उसीको सब लोग नमस्कार करें ॥ १ ॥

संपूर्ण जगत् का एक स्वामी और सब जगत् का धारण और पोषण कर्ता परमेश्वर ही सब लोगोंको नमस्कार करने और उपासना करने योग्य है, उसी की मन्त्रि और सेवा सबको करना चाहिए, क्योंकि वही सबको सचा भानंद देनेवाला है । वही दिव्य अद्भुत देव स्वर्गधाममें प्राप्त होता है । सबसे अलग-पूजनीय ऐसा वही एक देव है, यह सबमें रहता है, वही तक कि यह सूर्यके अंदर भी है, जब इसकी प्राप्ति होती है तब सब सांप्रदाय और असाधारण आपत्तियां हटा जाती हैं ॥ २ ॥

३ (अ. सु. भा. अं २)

अग्निंये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वात्रसुं गन्धर्वं सचध्वे ।

ताभ्यो वो देवीर्नम इन्कृणोमि

॥ ४ ॥

याः ह्युन्दास्तमिपीचयोऽक्षर्कामा मनोःसुहः ।

ताभ्यो गन्धर्वपन्तीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः

॥ ५ ॥

अर्थ— (अद्-अध्याभि. आभिः) दोहरद्वित ऐसे इन प्राणशक्तियोंके साथ वह (अ सं जगमे) मिथ्यसे निका रहता है और (अप्सरासु अपि) इन प्राणशक्तियोंमें भी (गन्धर्वः आसीत्) भूमि आदियोंका धारक देव विद्यमान है । (आतां स्थानं समुद्रे) इनका स्थान जन्तोरक्षमें है, (यतः) जहाँसे (सधः) द्यौय ही वे (आ यन्ति) जाती हैं और (परा यन्ति च) परे जाती हैं । यह वास (मे आहुः) सुष्ठे बनायो है ॥ ३ ॥

(अग्निंये दिद्युत्) बादलोंकी विद्युत् में अथवा (नक्षत्रोके प्रकाशमें भी (याः) जो गुप्त (विश्वा— वसुं गन्धर्वं) विश्वके बसानेवाली धारक देव को (सचध्वे) प्राप्त करती हो अथवा उसकी सेवा करती हो, इसलिए वे (देवीः) देवियों । (ताभ्यः वः) उन तुमको (इत् नमः कृणोमि) निजय पूर्वक में नमन करता हूँ ॥ ४ ॥

(याः ह्युन्दाः) जो वृष्टानेवाली या प्रेरणा करनेवाली, (तमिपी—अपः) रत्नानिको हटानेवाली, (अक्ष—कामाः) आँखोंकी कामना नष्ट करनेवाली, (मनो—सुहः) मनको हिलानेवाली हैं (ताभ्यः गन्धर्व—पत्नीभ्यः अप्सराभ्यः) धन संवर्धनरूपीरूप अप्सराओंको—अर्थात् सर्वधारक आत्माकी प्राणशक्तियोंको (नमः अकरम्) मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ५ ॥

भावार्थ— इसके साथ जीवनकी अन्त बलाएँ हैं, इतना ही नहीं परंतु वह उन जीवन शक्तियोंके अंदर भी है। इन सबका निवास मध्यलोक-अंतरिक्ष-है, जहाँसे वे सब शक्तिका प्रवृत्त होती हैं और जहाँ फिर गुप्त हो जाती हैं ॥ ३ ॥

बादलोंके अंदर चमकनेवाली विद्युत्में क्या और नक्षत्रोंके प्रकाशमें क्या यह सब जगत्का पालन कर्ता एक रथ भए है, और इसीको देवा अंगुणी जीवनकी शक्तिरूप देविवा कर रहीं हैं, इसलिए उनको भी नमन करना योग्य है ॥ ४ ॥

वे प्राणशक्तियाँ सबको प्रेरणा करनेवाली, सबको बलानेवाली, यशस्वतको दूर करनेवाली, आँखोंका कामना नष्ट करनेवाली और मनको हिलानेवाली हैं । यही आत्माकी शक्तिमें हैं, इस दृष्टिके में इनको नमस्कार करता हूँ (अर्थात् वह इनकी कृपा हुआ मेरा नमस्कार भी उस अद्वितीय ईश्वरकी ही वस्तुवेगा, क्योंकि वे शक्तियाँ उसीके आधारसे रहती हैं) ॥ ५ ॥

पूर्व सम्बन्ध

प्रथम सूक्तमें “ गुप्त अप्सरामावधा ” का वर्णन किया गया है, उस सूक्तमें त्रिभ परमात्मा देवका वर्णन किया गया है, उसीका वर्णन यहाँ “ गंधर्वं ” शब्द से किया गया है । उस प्रथम सूक्तके द्वितीय मंत्रमें भी “ गंधर्वं ” शब्द है, इससे पूर्व सूक्तका इस सूक्तके साथ संबंध स्पष्ट हो जाता है ।

गन्धर्व और अप्सरा ।

“ गंधर्वं ” शब्दका अर्थ पूर्व सूक्तके स्पष्टीकरणके प्रसंगमें किया ही है । (गान्धर्वः) अर्थात् (गां) भूमि, सूर्य, वाणी, इंद्रियाँ, अंतःकरण—शक्तियाँ आदिकों का (धर्वः) धारण पोषण करनेवाला आत्मा यह इसका अर्थ है । भूमि, सूर्य तथा अन्त्यान्त पराचर स्थूल सूक्ष्म सब पदार्थोंका धारण पोषण करनेके कारण परमात्माका यह नाम है । उसी प्रकार लघु कार्य क्षेत्रमें शरीरके अंदर वाणी प्राणशक्ति इंद्रियशक्ति आदियोंका तदा ह्युत्सृज्यादि देहोंका धारण करनेके कारण जीवात्मा का भी यही नाम है । इस सूक्तमें मुख्यतया परमा-आत्मा वर्णन है, परंतु अन्य अंश से यह वर्णन अर्थका संश्लेष करनेसे जीवात्मामें भी पड़ता जा सकता है । यह गंधर्वका रूप पाठक ठीक प्रकार समझमें रहे । “ गंधर्वं ” शब्द के अन्य अर्थ प्रथम सूक्तमें पाठक देखें ।

गंधर्वपत्नीभ्यः अप्सराम्यः ॥ [मंत्र ५]

गंधर्वकी पत्नी ही अप्सराएँ हैं । गंधर्व एक है परंतु उसकी अप्सराएँ अनेक हैं । (अप्स-रस्) अपत् (अप्) जलके आश्रयसे (सरस्) चलनेवाली, ॥ नाम अलाश्रित प्राणका वाचक है । ' आपोमयः प्राणः '—जलमय अथवा जलके आश्रयसे प्राण रहता है, यह उपनिषदोंका कथन है और वही बात इस शब्दमें है, इसलिये ' अप्सराः ' शब्द प्राण शक्तियोंका वाचक वेदमें है, श्वास और उच्छ्वास अर्थात् प्राण आयुष्यरूपी ब्रह्मके ताने और बानके घागे बुन रहे हैं ऐसा भी वेदमें अन्वय वर्णन है—

यमेन ततं परिधिं वपन्तोऽप्सरस उप सेदुर्वसिष्ठाः ।

ऋग्वेद ७।३।९

' (अप्सरसः वसिष्ठाः) जलाश्रित प्राण (यमेन ततं) यमने फैलाई हुई (परिधिं) तन्की मर्यादा तक (वपन्तः) आयुष्यरूपी कपटा बुनते हैं ।

' यम ' = आयुष्यका ताना फैलानेवाला जुलाहा ।

' ताना ' = आयुष्यकी अवधि, आयुष्यमर्यादा ।

' प्राण ' = कपटा बुननेवाले जुलाहे ।

' कपटा ' = आयुष्य ।

' मनुष्य का आयुष्य एक कपटा है जो मनुष्य देहरूपी खुट्टीपर बुना जाता है, वही बुननेवाले प्राण हैं । यहाँ ' अप्स-रस् ' शब्द और ' वसिष्ठ ' के दो शब्द प्राणवाचक आये हैं । (अप्सरस्) जलाश्रयसे रहनेवाले (वसिष्ठ) निवासके हेतु प्राण हैं ।

इससे भी अन्तमान हो सकता है, कि अस्तित्वके आधार से रहनेवाला प्राण जो कि आत्माकी घर्मपत्नी रूप है ऐसा यहाँ कहा है, यह प्राणशक्ति, जीवन की कला ही निःसंशय है । गंधर्व यदि आत्मा है तो उसकी घर्मपत्नी अप्सरा निःसंशय प्राणशक्ति अथवा जीवन शक्ति ही है । आत्मा और शक्ति ये दो शब्द यहाँके ' गंधर्व और अप्सराः ' के वाचक उत्तम रीतिसे माने जा सकते हैं । धरती में छोटा प्राण और जगत् में विश्वन्वापक प्राण है, इस कारण गंधर्वका अर्थ आत्मा परमात्मा माननेपर दोनों स्थानोंमें अर्थका संगति हो सकती है ।

महान् गंधर्व ।

इस सूत्रमें पहिले दो मंत्र बड़े मंडान् गंधर्वका प्रेमपूर्ण वर्णन कर रहे हैं, यह वर्णन देखने से निश्चय होता है कि, यहाँ गंधर्व शब्द परमात्माका वाचक है । देखिये—

१ भुवन्स्य एक एव पत्सः—भुवन्का एकही स्वामी । इसके सिवाय और कोई भी जगत् का पति नहीं है । यही पर-मेश्वर सबका एक पति है । (मं० १,२)

२ एक एव नमस्यः—गड़ी एक आद्वैतीय परमात्मा सब का नमस्कार करने योग्य है । इसके स्थानपर किसी भी अन्य की उपासना नहीं करनी चाहिये । (मं० १,२)

३ दिव्यः गंधर्वः—यही अदृश्य है, दिव्य वर्याय है, यहाँ मनकी गति कुंठित हो जाती है, और यहाँ (गां) भूमि से लेकर संपूर्ण जगत् का सखा । धर्वः धारक योग्य है । (मं० १)

४ विष्णु हृष्यः—सब जगत् में यही प्रसंसाके योग्य है ।

५ दिवि ते सधर्यं—स्वर्गधाम में, गुप्ताधाममें, अथवा तृतीय धाममें उसका स्थान है (मं० १) । [इस विषयमें प्रथम सूत्रके मंत्र १,२ देखें, जिसमें इसके गुह्यमें निवास होनेका वर्णन है ।]

६ दिवि स्पृष्टः—इसका स्पर्श अर्थात् इसकी प्राप्ति पूर्वोक्त तृतीय गुप्ता स्थानमें ही होती है । यह भी पूर्वोक्त शब्दोंका ही स्पर्शकरण है । (मं० २)

७ सूर्यवक्त्र—महान् सहस्ररश्मी सूर्य भगवान् ही इसका देव है, अर्थात् यह उस में नी है इतनाही नहीं, परंतु उसका बड़ा तेज भी इससे प्राप्त हुआ है। यह इसकी महिमा है (मं० २)। इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थोंमें इसकी सत्ता देखनी चाहिए। यह शब्द एक उपलक्षण मात्र है।

८ विश्वा-वसुः (गंधर्वाः)—विश्वका यही निवासक है। (मं० ४)

ये लक्षण स्पष्ट कर रहे हैं कि यहाँका यह शेषवैद्या वर्णन निःसंदेह परमात्मा का वर्णन है। किसीमें अन्य पदार्थ में ये सब अर्थ पूर्णरूपसे सार्थ नहीं हो सकते। इसलिए पाठक इन लक्षणों का मनन करके अपने मनमें इस परमात्म देव की भक्ति स्थिर करें, क्योंकि यही एक सबके लिए पूत्रर्थाय देव है।

ब्रह्मकी ब्राह्म उपासना।

इस परमात्माकी प्राप्ति इसकी उपासनासे होती है। इस सूक्तमें इसकी ' ब्राह्म उपासना ' करनेका विधान बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

१ सं त्वा यौमि ब्रह्मणा । (मं० १)

२ नमस्याः । (मं० १, २) नमस्ते जस्तु । (मं० १)

३ विश्व ईक्ष्यः । (मं० १)

४ सुबोवाः । (मं० २)

ये चार मंत्र भाग इसकी ब्राह्म उपासना करनेके मार्ग की सूचना दे रहे हैं। ब्राह्म उपासना का अर्थ ' ब्रह्मपक्व ' अथवा मन द्वारा करने की ' मानस उपासना ' ही है। अपना सुक्ति विना मन आवि अंतःसाधनोपे ही यह परमात्म पूजा होती है, इन शक्तियोंका नामही शक्ति ब्रह्म है। ब्रह्म शब्दका अर्थ मंत्र ही है और मंत्रका आशय ' मनन ' है। मननसे यह उपासना करनी होती है, मनके मनन से ही यह हो सकती है, किसी अन्य रीतिसे यह नहीं होती है, यह स्पष्टतया बतानेके लिए यहाँ ' ब्रह्मणा ' शब्द इस मंत्र में प्रयुक्त हुआ है। यह बात ध्यान में धारण करके उक्त चार मंत्रभागोंका, अर्थ ऐसा होता है—

१ सं त्वा यौमि ब्रह्मणा—उस तुम परमात्माकी मननसे प्राप्त होता हूँ। (मनन)

२ नमस्याः [नमस्ते]—तू ही एक नमस्कार करने योग्य है। (नमन)

३ विश्व ईक्ष्यः—मन जगत्में तू ही प्रशंसा करनेके लिए योग्य है। (सर्वत्र दर्शन)

४ सु—बोवाः—तूही उत्तम सेवाके लिए योग्य है। (सेवन)

इन चार मंत्र भागोंके मननसे मानस पूजाका विधि ज्ञात हो जाती है (१) प्रभुके सुबोवाका मननसे मनन करना, (२) उसी की मननसे मनन करना, (३) प्रतिक पदार्थ में तथा प्राणिमात्रमें उसका दर्शन करना और (४) सब धर्म उसकी सेवा करनेके लिए काना, ये चार भाग सब प्रभुकी उपासना के हैं। इन चार मंत्रोंमें ये जन्मने भागोंका अनुष्ठान हुआ होगा, उक्तकी उपासना उतनेही प्रमाण से हुई है, ऐसा मानना चाहिए। पाठक विचार करें और अपनी उपासनाकी परीक्षा इस कसौटीसे करें। हर एक मनुष्य अपने आपकी परमात्माका उपासक मानताही है, परंतु उससे जो उपासना हो रही है, यह इस वैदिक मानस उपासना की उष्ण कसौटीसे विशुद्धीपर गिनी जा सकती है, वह भी देखना चाहिये। इस दृष्टीसे ये चार मंत्र भाग विशेष ही महत्त्व रखते हैं।

' मनन, नमन, सर्वत्र दर्शन और सेवन ' ये चार नाम संक्षेप से मानस उपासना के चार अंगोंके दर्शक माने जा सकते हैं।

१ " मनन " से परमात्माके महत्त्वकी मनमें स्थिरता होती है। इस दृष्टीसे इसकी अत्यंत आवश्यकता है।

२ " नमन " जब मननसे उष्ण महत्त्व ज्ञात हुआ, तब स्वभावतः ही मनुष्य उक्त प्रभुके सामने गीन होता

हे । मननके पश्चात् की यह स्वामाधिक ही अवस्था है ।

३ " दर्शन " मननके ही उसकी सार्वत्रिक सत्ता का भी अनुभव होता है । स्थिर चरमे एक रस व्यपक होनेका साक्षात्कार होनेकी यह तीसरी तत्त्व अवस्था है । अगत्के अंदर प्रभुका ही सर्वत्र साक्षात्कार इस अवस्था में होता है ।

ये तीनों मानसिक क्रियाएं हैं । इसके पश्चात् यह भक्त अपने आपको परमात्माके परम चरणमें समर्पण करता है, वह सेवा-वस्था है ।

४ " सेवन " यह इस अवस्थामें उसका सेवक बनता है । सेवन और 'भजन' ये दोनों शब्द समान अर्थके ही हैं— सेवन और भजन एकही अर्थ बताते हैं । प्रभुके कार्यके लिये अपने आपको समर्पित करना, यही भक्ति या सेवा है ।

'दीनों का उद्धार' करना, साधुओंका परित्राण करना, सज्जनोंको रक्षा करना, दुर्जनोंको दूर करना, ये ही परमात्मा के कर्म हैं । इन कर्मों को परमात्मापण बुद्धिसे करनेका नाम ही उसकी भक्ति या सेवा है ।

नामस्मरण ।

नामस्मरण का भी यही तात्पर्य है, जैसा " हरि " (दुःखोंका हरण करनेहरा) देव है, इसलिये मैं भी दुःखियोंका दुःख मयाशक्ति हरण करूंगा और दुष्टों को सुख देने के कर्म से ईश्वर की सेवा करूंगा । ' राम ' (आनंद देनेवाला) ईश्वर है इसलिये मैं भी धीन दुःखी मनुष्यों या प्राणियोंकी पीड़ा दूर करनेके यत्न द्वारा परमात्माकी भक्ति या सेवा करूंगा । ' नामस्मरण ' का यही अर्थ है । यद्यपि आजकल केवल नामका स्मरणही रहा है और उसके प्राप्त होनेवाले कर्तव्य का पालन नहीं होता है, तथापि मस्तुतः इससे महाद्वैत कर्तव्य सूचित होते हैं; वह पाठक विचारधे जामें और परमेश्वरके इतने नाम कहनेका मुख्य उद्देश्य समझ लें । अनेक ग्रंथ पढ़ने से जो कर्तव्य नहीं समझता, वह एक नाम के मननसे समझमें आता है, इसलिये वेदादि ग्रंथोंमें परमात्माके अनेक नाम दिये होते हैं और वे सब बड़े मार्गदर्शक हैं, पाठक देखनेवाला और कर्म करनेवाला सफ्त्त ब्याहिये ।

अस्तु । ईश्वर उपासना के ये चार अंग हैं, इसका अधिक विचार पाठक करें और इस मार्गसे चलें । यही सीधा, सरल और अतिदृगम मार्ग है ।

ब्राह्म उपासना का फल ।

पूर्वोक्त प्रकार मानस उपासना करनेसे जो फल प्राप्त होता है, उसका वर्णन भी इन मंत्रोंमें पाठक देख सकते हैं—

१ संत्वा यौमि-परमेश्वरके साथ मिलना, अज्ञान अवस्था प्राप्त करना । (मं- १)

२ दैव्यस्य हरसः भवयाता-परमात्मा सब महापीडाओंको दूर करनेवाला है, इसलिये सब पीडा उसकी प्राप्ति से दूर हो जाती है । (मं. २)

३ मृत्वात्-यह आनंद देता है । (मं. २)

इन शब्दोंके मननसे पाठकोंको पता लग जायगा कि, उपासना का फल परमानंद प्राप्ति ही है । वह प्रभु सच्चिदानंद स्वरूप होनेसे उसके साथ मिल जानेसे वही आनंद उपासकमें आ जाता है और जितनी उपासनाकी इदना और पूर्णता होगी, उतना वह आनंद दृढ और पूर्ण होता है । यह फल प्राप्त करनेकाही पूर्वोक्त वैदिक मार्ग है ।

यहां पहिले दो मंत्रोंका विचार हुआ । इसके पश्चात् के तीन मंत्रोंका वर्णन टीका प्रकाश समझमें आनेके लिये उस वर्णनको प्रथम अपने शरीरमें अनुभव करना चाहिये और पश्चात् वहां भाव विशाल जगत्में देखना चाहिये—

अपने अंदरकी जीवन शक्ति ।

इससे पूर्व बताया गया है कि, जलतत्त्वके आश्रयसे कार्य करनेवाली प्रायशक्ति या जीवनशक्ति ही ' अंधराः ' शब्दसे इस रूपमें कहा है, देखिये इसका वर्णन—

१ छन्दः—पुकारनेवाली, बुकानेवाली, प्रेरणा देनेवाली । प्राणशक्ति अथवा जीवनशक्ति प्राणियोंकी शेरित करती है, इस अर्थका वाचक यह नाम है ।

२ तमिधी-चयः—(तमिधी) मन्त्रों अथवा थकावटको (चयः) दूर करनेवाली, थकावट को हटानेवाली प्राणशक्ति है । जो उत्साह प्रणामात्र भी है वह प्राणशक्ति का ही है, प्राणायाम से भी उत्साह बढ़ने और थकावट दूर होनेका अनुभव है ।

३ अक्ष-कामाः—(अक्षि+कामाः) आँखोंको कामना पूर्ण करनेवाली । पाठक देखें कि जबतक शरीरमें प्राण रहता है तभी तक शरीर आँखोंके तृप्त कर सकता है । मुर्दा देखकर किसी मनुष्य के आँख मूढ़ नहीं होती । इससे आँखोंकी तृप्ति प्राण शक्तिसे होती है यह स्पष्ट है ।

४ मनो-मुहः—मनको मोहित करनेवाली । इसका भाव भी उक्त प्रकार ही है ।

ये चार शब्द शरीरमें प्राण शक्तियों अथवा जीवन की शक्तियोंके वाचक हैं । पाठक इन शब्दोंके अर्थोंका अनुभव अपने अंदर करें । इनको (मंत्र ५में) ' गंधर्व-पत्नी अप्सराः ' कहा है। गंधर्व इस शरीरके अंदर जिवितना है और उसकी पत्नियों जीवन शक्तियाँ अथवा प्राण शक्तियाँ हैं, प्राण जलतत्त्वके आश्रयसे रहता है, इसलिये जलाश्रित होनेके कारण (अप्सराः) वह शब्द प्राणमें अत्यंत सार्थ होता है । इन प्राणशक्तियों को मनन पंचम मंत्रमें किया है । प्राणके आधीन सर्व जगत् है यह देखनेसे प्राणका महत्त्व जाना जाता है । पाठक भी अपने शरीरमें प्राण का महत्त्व देखें, प्राण रहने तक शरीर की शोभा कैसी होती है और प्राण जानेके पश्चात् शरीरकी कैसी अवस्था हो जाती है; इसका मनन करनेसे अपने शरीरमें प्राणका महत्त्व जाना जा सकता है । जो नियम एक शरीरमें है वही सब शरीरों के लिये है। इस प्रकार प्राणकी दिव्य शक्तिका अनुभव करके इस मंत्र ५ में उक्त प्राणको मनन किया है ।

प्राण का प्राण ।

यहाँ प्रथम होता है, कि कदा यह पत्नियों स्वर्गमें है या परलोक ? ' पत्नी ' शब्द कहने मात्रसेही यह पतिके आधीन, पतिके साथ रहनेपर शोभा की बढानेवाली, पतिके रहित होनेसे दुःखी, पति ही अिषका उत्पत्ति देवत है, इत्यादि बातें ज्ञात होजाती हैं । वेदके धर्ममें पतिके साथ धर्मोच्चारण करनेवाली सहधर्मचारिणी ही पत्नी होती है । इसलिये गंधर्व (धामा) और अप्सरा (प्राणशक्ति) उन्हीं नातेसे देखने चाहिये । अिष प्रकार पतिसे शोभा प्राप्त करके पत्नी गृहस्थकार्य करती है, उन्हीं प्रकार इस छोटे गंधर्व (जीवात्मा) से उसकी अप्सरा स्त्री (प्राणशक्ति) बन्ध प्राप्त करके अपने गृह (शरीर) के अंदरके सब कामकाज चलाती है । इसलिये जो सौंदर्य-अथवा शोभा धर्मपत्नीकी दिव्य देती है वह वास्तवमें पतिसे ही प्राप्त हुई होती है, इसलिये धर्मपत्नीको किया हुआ नमस्कार धर्मपत्नीके लिये नहीं होता है, परन्तु वह उसके पतिके लिये ही होता है, क्योंकि पति विराहित विधवा स्त्रीको अशुभ समझकर कोई नमस्कार नहीं करते । इसी प्रकार यहाँ बताया यह है कि प्राणशक्ति अथवा जीवनशक्ति जीवात्माके आश्रयसे कार्य करनेवाली है, उसके अभावमें वह कार्य नहीं कर सकती । इसलिये जो वर्णन, प्रशंसन या महत्त्व प्राणशक्तिका बताया जाता है वह प्रायः सही है, परन्तु प्राणके प्राणध-अर्थात् आत्माका-है, यह बात भूलना नहीं चाहिये । इसी कारण यहाँका प्राणशक्तिको किया हुआ नमन शारामाके ही उद्देश्यसे है, न कि केवल प्राणके लिये ।

ऐसा क्यों कहा है ?

इतने लम्बे ढंगसे यह बात क्यों कही है ? यहाँ वेदको यह बताया है, कि संपूर्ण स्थूल विद्युके जो रंग, रूप, रस, आकार आदि हैं, न सब आत्माकी शक्तिके कारण बने हैं, यदि जगत्सब आत्माकी शक्ति हटाई जाय, तो न अकार रहेगा और न उसकी शोभा रहेगी । जिस प्रकार पति रहित स्त्री विधवा होकर शोभा रहित होजाती है, उन्हीं प्रकार आत्मा रहित शरीर मृत, मुर्दा और त्रैलोक्य हो जाता है, देखने लायक नहीं रहता । इसी प्रकार जगत्सभी आत्मासे रहित होनेपर निःशरत्त्व होगा । इसलिये जगत् की ओर देखनेके समय आत्माएँ रखनी चाहिये, न कि स्थूल शक्ति । जिस प्रकार किसी सुवासिनी स्त्री की ओर देखनेसे उद्यम

पतिकी सत्ता देखनी होती है, पतिहीन स्त्री दुर्वासिनी समझी जाती है; इसी प्रकार आत्मारहित शरीर और परमात्मारहित जगत् है।

गुलाब का फूल, आमका पृष्ठ, मूखका प्रकाश, इसी प्रकार प्राणियोंका प्राण आदि सब देखने हुए सर्वत्र आत्माकी शक्ति अनुभव करनी चाहिये। यही सबका धारक " गंधर्व " सर्वत्र उपस्थित है और उहाँके प्रभावसे यह सब प्रभावित हो रहा है, ऐसा भाव मनमें सदा जाग्रत रहना चाहिये। इस विचार से देखनेसे अप्सराओंको किया हुआ नमन गंधर्वके लिये कैसा पटुचता है, यह बात स्पष्ट होगी और यह गंधर्व भुवनोंका एक अद्वितीय पतिही है, यही सब के लिये (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है, यह जो प्रथम और द्वितीय मंत्रमें कहा है उस विधान के साथ भी इसकी सगति रज्य जायगी। नहीं तो पहिले दो मंत्रोंमें यह परमात्मा (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है ऐसा कहा है, परंतु आगे चतुर्थ और पंचम मंत्रमें अप्सराओंको नमस्कार किया है। यह विरोध उत्पन्न होगा। यह विरोध पूर्वोक्त दृष्टिसे विचार करनेसे नहीं रहता है-

विरोधालङ्कार।

ताभ्यो यो देवीर्नम इत्कृणोमि ॥ (मं. ४)

ताभ्यो गंधर्वैरानीभ्यः अप्सराभ्यः जकरं नमः ॥ (मं. ५)

'उन गंधर्व परनी अप्सरा देवियोंको भी नमस्कार करता हूँ।' पहिले दो मंत्रोंमें 'एक ही जगत्पालक गंधर्व नमस्कार करने योग्य है' ऐसा कहकर अंतिम दो मंत्रोंमें उसको नमन न करते हुए 'उसकी धर्मरत्नियोंको ही नमस्कार किया है' यह विरोधा-लङ्कार है। पहिले कथन के बिलकुल विपक्ष दूसरा कथन है। जो (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है उसको तो नमन किया ही नहीं, परंतु जिनके नमस्कार योग्य होनेके विषयमें किसी स्थानपर नहीं कहा, उनको नमस्कार किया है। इस सूक्तमें विरोध भी समभव है। पहिले दोनों मंत्रोंमें गंधर्वके नमस्कार योग्य होने के विषयमें बोधार्थ कहा है, इतनाही नहीं परंतु-

एक एव नमस्यः। (मं. ४, ५)

'यही एक नमस्कार करने योग्य देव है।' ऐसा निश्चयार्थक वाक्यसे कहा है, जिससे किसीको संदेह नहीं होगा। परंतु आश्चर्य की बात यह है, कि जिस समय नमस्कार करनेका समय आया, उस समय उसी प्रकार दो मंत्रोंमें (मं. ४, ५ में) उसकी पत्नियोंको ही नमस्कार किया है और विरोध कर पतिकी नमन नहीं किया। यह धारण विरोध नहीं है। इसका हेतु देवता चाहिए।

व्यवहारकी बात।

जिस समय ज्योप किसी मित्रको नमस्कार करते हैं उस समय आप विचार कीजिये कि क्या आप उसके आत्मा को नमस्कार करते हैं, या उसके शरीरको, अथवा उसके प्राणोंको, या उसकी इन्द्रियोंको करते हैं। आपके सामने तो सचका आत्मा रहता ही नहीं, न आप जलमाको देख सकते न उसको स्पृश कर सकते हैं, जिसको देख भी नहीं सकते उसको आप नमस्कार कैसा कर सकते हैं? विचार कीजिये, तो पता लग जायेगाकि आपका नमस्कार आपके मित्रकी आत्मा के लिए नहीं है।

परंतु यदि 'आत्माके लिए नमन नहीं है,' ऐसा जन्तु स्वीकारा जाय तो कहना पड़ेगा कि, कोई भी मनुष्य अपने मित्रके मूर्दा शरीरको—मृत शरीरको—नमस्कार नहीं करता। तो फिर नमस्कार किस के लिए किया जाता है? यह बात हमारे प्रतिदिनके व्यवहार की है, परंतु इसका उत्तर हरएक मनुष्य नहीं दे सकता। परंतु हरएक मनुष्य दूधरे को नमस्कार तो करता ही है।

जडचेतन का संधि-प्राण।

यहां वास्तविक बात यह है, कि स्थूल शरीर और उसकी इन्द्रियां, प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं, और प्राण यद्यपि अदृश्य है तथापि वासोदवास की गतिसे प्रलक्ष होता है, परंतु मन बुद्धि और आत्मा अदृश्य हैं। इनमें भी मनबुद्धि कर्णके अनुसंधानसे जानी जा सकती है, परंतु आत्मा तो सर्वदा अव्यक्त है। देखिये-

शरीर — इन्द्रियां — ' प्राण ' — मनबुद्धि — आत्मा

दृश्य — X — — — — — X — अदृश्य

प्राण ऐसा स्थान रखता है कि जो एक ओर दृश्य और दूसरी ओर अदृश्य को जोड़नेका बिंदु है । इसी लिए स्थूल दृश्य से सूक्ष्म अदृश्य तक पहुंचनेके लिए योगादि शास्त्रों में प्राणका ही आलंकरण कहा है, क्योंकि यहाँ एक प्राण है कि, जो स्थूल सूक्ष्म, दृश्य अदृश्य, जड़ चेतन, शक्ति पुरुष इवन्नी जोड़ देता है । इस कारण यह भुवनका मध्य कहा जाता है । और आध्यात्मिक उन्नतिके साधन के लिए प्राणकाही आलंचन सबसे मुख्य माना गया है । क्योंकि यह अदृश्य होते हुए अनुभवमें आसकता है और इसीसे सूक्ष्मत्वका अनुसंधान देता है ।

साधारण अज्ञ लोग नमन तो स्थूलशरीर को देखकर ही करते हैं, उससे अधिक ज्ञानी प्राणका अस्तित्व जानकर करते हैं, वसधे भी उच्च कोटीके ज्ञानी इसमें जो व्यधिष्टाता है उसको देखकर उसे नमन करते हैं । दयावि नमन एवही है तथापि करनेवाले के अधिकार भेदके अनुष्ठान नमन विभिन्न वस्तुओंके लिए होता है ।

स्थूलसे सूक्ष्मका ज्ञान ।

इसमें एक बात सत्य है और वह यही है, कि यदि जगत्में स्थूल शरीर-स्थूल पदार्थ-एकही न रहा, तो चेतन आत्मा ही कल्पना होना-असंभव है; इसीलिए चेतन आत्माकी शक्ति जाननेके लिए स्थूल विषयकी रचना अत्यंत आवश्यक है । अतः स्थूल के आलंचन से सूक्ष्मका कल्पना भी जाती है और इसीलिए शरीरमें कार्य करनेवाली प्राणशक्तियोंको (मंत्र ४, ५) में नमन करके शरीरके मुक्त्याधिष्टाता आत्मा तक नमन पहुंचाया है । यहाँ ध्यानमें धरने योग्य बात यह है कि अदृश्य शरीर को नमन नहीं किया; परंतु जड़चेतन की संगति करनेवाली प्राणशक्तियोंको नमन किया है; अर्थात् स्थूलको पति रखकर जहाँ सूक्ष्मकी शक्तियाँ प्रारंभ होती हैं, वहाँ उन सूक्ष्म शक्तियों को नमन किया है । यहाँ बिलजुल स्थूल का आलंचन ठोकरके भी उपरंश मिलता है ।

प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्ष ।

इस विवरणसे पाठक समझेंगे अथे हीगे कि प्रत्यक्ष वस्तुके निमित्तके अनुसंधानसेही अप्रत्यक्षको नमन किया जा सकता है । जो सब जगत्का एक प्रभु है वह सर्वव्यापक और पूर्ण अदृश्य है, वास्तवमें वहाँ सबके लिए नमस्कार करने योग्य है, और कोई दूसरा नमस्कार के लिए योग्य नहीं है; तथापि जगत् के स्थूल-सूक्ष्म वंशदि पदार्थोंके प्रत्यक्ष करनेसे ही उसके सामर्थ्य का कुछ अनुमान हो सकता है, जगत् के कार्य देखने से ही उसके अद्भुत रचना शक्तियों का अनुमान होता है, इसलिए जगत्में—हर एक पदार्थमें—उसकी शक्तिका अनुभव करना चाहिये और प्रत्यक्ष पदार्थों को देखकर अप्रत्यक्ष पदार्थका महत्त्व उसीके कारण है, यह जानकर उसमें उसकी नमन करना चाहिए । तभी तो उसकी नमन हो सकता है । सूक्ष्मोंके देखकर उसके प्रकाश का तेज परमात्मासे प्राप्त है, यह जानकर उसकी अवाद्य सामर्थ्यका उसमें अनुभव करते हुए अंतःकरणसे उसको नमन करना चाहिए । यही बात हर एक वस्तुके विषयमें हो सकती है । यही बात इस सूक्तके ऋग्यजुर्वेदमें कही है—

अग्निं च दिव्युग्रक्षत्रिये वा

विश्वामसुं गन्धर्वं सश्रुवि ॥ (मंत्र. ४)

‘मेषोंकी विपुलमें क्या और नक्षत्रोंके प्रकाशमें क्या तुम विश्वके वशानेवाले सर्वधारक परमात्माके प्राप्त करती है ।’ इस मंत्रमें यही बात कही है कि विपुल की चमकाहट देखनेसे या तेजोगोलों की देखनेसे उस अद्वितीय आत्माकी शक्तिका आश्रय हीना चाहिये, उग्र परमात्माकी सामर्थ्य ध्यानमें आनी चाहिये, उस आदि देवका अद्भुत रचना शक्तियोंमें खडा होना चाहिये । यही प्रभुको सर्वत्र उपरिष्ठत समझना है, यही रीति है कि जिससे ज्ञानी उसका सर्वत्र साक्षात्कार करता है ।

पाठक यहाँ देखें कि, प्रथम और द्वितीय मंत्रमें “वह प्रभु ही अकेला बंदनीय है” ऐसा कहा और नमन करनेके समय जगत्में कार्य करनेवाली प्राण शक्तियोंको (मंत्र ४, ५ में) नमन किया, इसकी संगति पूर्वोक्त प्रकार है । इस दृष्टिसे इसमें कोई विरोध नहीं है और विचार करनेसे यथा उच्यते है कि यही हीया मार्ग है । इसी उपासना मार्गसे-जाना हर एक के लिये सुगम है ।

भेषमें चमकने वाली विपुल्ये तथा तेजो गोलभों के प्रकथमें उग्र प्रभुकी सामर्थ्य देखना ही उसका साक्षात्कार करना है, यदि विपुले अंतर्गत पक्षीको विचार करना ही छोड़ दिया जाय, तो उस प्रभुका सामर्थ्य कैसा समझमें आवेगा ?

यहां चतुर्थ और पंचम मंत्रोंका विचार समाप्त हुआ और इस विचार की प्रत्यक्षता हमने अपने अंदर देखी, क्योंकि यही स्थान है कि, जहां हमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है । अब इसको जगत्में व्यापक दृष्टिसे देखना है, परंतु इसके पूर्व हमें तृतीय मंत्रका विचार करना चाहिये । इस तृतीय मंत्रमें दो कथन बड़े महत्त्व पूर्ण हैं, वे अब देखिये—

प्राणोंका आना और जाना ।

समुद्र आसां स्थानं न आहुपंत सद्य जा च परा च यत्कि ॥ (मं. ३)

‘समुद्र इनका स्थान है, ऐसा मुझे पता चला है, जहांसे बार बार इतर आती हैं और परे चली जाती हैं ।’ इस मंत्रमें प्राणशक्तिका वर्णन उत्तम रीतिसे किया है । (आध्वनि, पराध्वनि) इतर आती हैं और परे जाती हैं, प्राणकी ये दो गतियां हैं, एक ‘आना’ और दूसरी ‘जाना’ है । आना और उच्छ्वास ये दो प्राणकी गतियें प्रसिद्ध हैं । प्राण अपने ये भी दो नाम हैं । एक गति बाहरसे अंदर जानेका मार्ग बताती है और दूसरी अंदरसे बाहर जानेका मार्ग बताती है । ये दो गतियां सबको विदित हैं ।

इन प्राणोंका स्थान हृदयके अंदरका मान्य समुद्र है, हृदय स्थान है, इस सरोवर या समुद्रमें जाकर प्राण दुबकी लगता है और वहां स्नान करके फिर बाहर आता है । वेदोंमें अल्पत्र कहा है कि—

एकं पादं भोत्रिन्द्रसि मलिटादंस उचरत् ।

यद्भृगु ॥ तमुत्सिन्द्रसंवाप न श्वः स्यात्त रात्रीः मातृः स्यात्त शुशुक्लेकदाधन ॥

अथर्व. ११४ (६) २१

‘वह (इंद्रः) प्राण अपना एक पांव सदा वहां रखता है, यदि वह पांव बहासे हटायेगा तो इस जगत्में कोई भी नहीं जीवित रह सकता । न दिन होगा और न रात्री होगी । (अथर्व. ११४ (६) २१)’ प्राण अंदरसे बाहर जाने के समय अपना संबंध नहीं छोड़ता, यदि इसका संबंध बाहर जानेके समय छूट जायगा तो प्राणोंकी सृष्टि होगी । यही बात इस सूत्र के तृतीय मंत्र में कही है । हृदयका अंतरिक्षरूपी समुद्र इस प्राणका स्थान है, वहांसे यह एक बार बाहर आता है और दूसरी बार अंदर आता है, परंतु बाहर आता है उस समय वह सदाके लिये बाहर नहीं रहता, यदि वह बाहर ही रहा और अंदर न गया, तो प्राणी जीवित नहीं रह सकता । यह प्राणका जीवन के साथ संबंध यही देखना आवश्यक है । यह देखनेसे ही प्राणका महत्त्व स्थानमें आसकता है । और प्राणकी शक्ति का महत्त्व जाननेके पश्चात् प्राणका भी जो प्राण है, उस आत्माका भी महत्त्व इसके संतर इसी रीतिसे और इसी मुक्तिसे जाना जा सकता है ।

प्राणोंका पति ।

यह वास्तवमें एकही प्राण है तथापि विविध स्थानोंमें रहने और विविध कार्य करनेसे उसके विविध भेद माने जाते हैं । मुख्य प्राण पांच और उपप्राण पांच मिल कर दस भेद नाम निर्देशसे शाल्यधरोमि गिने हैं, परंतु यह कोई मर्यादा नहीं है, अनेक स्थानोंकी और अनेक कार्योंकी कल्पना करनेसे अनेक भेद माने जा सकते हैं । प्राणको आधराः शब्द ब्रह्म सूत्रमें प्रयुक्त किया है और वह एक गन्धर्वके साथ रहती हैं ऐंशां भी आलंकारिक वर्णन किया है । इसी दृष्टिसे निम्न मंत्र प्राण अब देखिये—

अनवधामिः समु जग्न वामिः

अप्सरास्वपि गंधर्व आसीत् ॥ (मं. ३)

‘इन निर्दोष अनेक अप्सराओंके साथ यह एक गंधर्व संगति करता है और उन अप्सराओंमें वह गंधर्व रहता है ।’

॥ (अ. सु. भा. कां. २)

यदि गंधर्व और आसुराएँ ये शब्द दृष्टादिये और अपने निश्चित क्रिये लक्षोंके अनुसार शब्द रखे, तो लक्ष मैत्र मागका अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है— ' दूग निर्दोष अनेक प्राण प्राणियोंके साथ यह एक अत्मा संगति करता है, धर्मलित होता है और उन प्राणोंके अंदर भी वह सर्वधारक आत्मा रहता है । '

यह अर्थ धर्म सुबोध होनेसे इधरे अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस के हर एक वाक्या विशेष स्पष्टीकरण इसके पूर्व आ चुका है । इधरिये यह स्पष्ट पाठक स्वयं समझ जायेंगे । सब प्राण आत्मासे एकित तेकर शरीरमें कार्य करते हैं, और आत्मा भी प्राणोंके अन्दर रहता है । इस विषयमें द्युजुबंद कहता है—

सो असावद्भम् । यजु० अ० १०।२०

' (सः) वह (असी) अमु अर्थात् प्राणके बीचमें रहनेवाला आत्मा (अई) मैं हूँ । ' अर्थात् प्राणोंके मध्यमें आत्मा रहता है और आत्माके बाहर प्राण या जीवन शक्ति रहती है और ये दोनों अणु का सब व्यवहार कर रहे हैं ।

ब्रह्माण्ड देह ।

पाठक ये सब बातें अपने अंदर देखें । परंतु यहाँ केवल अपने अंदर देखकर और अनुभव कर के ही ठहरना नहीं है, जो बात छोटे क्षेत्रवाले अपने देहमें देखी है वही बड़े ब्रह्माण्ड देहमें देखना है, अथवा विराट पुरुषमें कल्पना करना है । इस सूक्तमें विश्वव्यापक आत्मका वर्णन करना मुख्य उद्देश्य है । तथापि समझमें आनेके लिये हमने ये सब बातें अपने अंदर देखनेका विचार किया, अब इधी वर्णन ब्रह्माण्ड देहकी कल्पना करना चाहिये ।

त्रिष प्रकार प्राणीके देहमें प्राण हैं उसी प्रकार ब्रह्माण्ड देहमें विश्वव्यापक प्राण का महासमुद्र है । इधी महाभाग समुद्रे हम थोड़ासा प्राणका अंश लेते हैं । इस प्रकार अन्यत्र शक्तिवा भी ब्रह्माण्ड देहमें बड़ी विशाल रूपसे हैं । दोनों स्थानोंमें शक्तियाँ एकही प्रकारकी हैं, परंतु अन्यत्र और महान का अंश है । इधीलिये अपने अंदरकी व्यवस्था देखनेसे बाह्य व्यवस्था जानी जा सकती है ।

सारांश

पाठक इस सूक्तमें परमात्माकी सर्व शक्ति तथा देख सकते हैं । वही एक उपास्य देव है, वही सबका आधार है । वह सबके दुःख दूर करता है और सबको सुख देता है ।

इसकी प्रामां मानस उपासनासे करनी चाहिये । इसके सब स्थानमें उपासित मानकर, इसके नमन करना चाहिये । हर एक शक्तिके अंतर्गत परशर्यमें इसका कार्य देनेका अभ्यास करनेसे इसके विषयमें ज्ञान होने लगता है और इसके विषयमें प्रज्ञा बढ़ती जाती है ।

इसके साथ प्राणशक्ति रहती है जो अणुमें किसी समय प्रकट होती है और किसी समय गुप्त छिपी रहती है । वह कदा प्रकट होती है और कदा छिपी रहती है, यह देखनेसे अणुमें कबलेवाले इसके कार्यकी कल्पना हो सकती है ।

मह असा मेघोंकी बिजुलीमें प्रकाश रहता है उसी प्रकार नक्षत्रोंमें भी प्रकाश रहता है । प्रकाशकीका भी वही प्रकाशक है, बलोंमें भी वह बला है, सूक्ष्मोंमें भी वह सूक्ष्म है, इस प्रकार इसके जलकर सब भूतोंमें इसका अनुभव करके इसके नमन करना चाहिये । इसके धामने शिर झुकाया चाहिये ।

सब अणुमें जो प्रेरणा, उत्साह और प्रेम हो रहा है, वह इसकी जीवन शक्तितसे ही है । यह जानकर सर्वत्र इधीकी महिमा देखकर इसकी पूजा करनी चाहिये ।

' ममन, नमन, सर्वत्र दर्शन ' करनेके पश्चात् इधीकी सेवा करनेके लिये उसके कार्यमें अपने आपको धर्मपति करना चाहिये । ' सज्जन पालन, दुर्जन निर्दमन ' रूप परमात्माके कर्ममें पूर्वोक्त रीतिके अनुसार अपने कर्तव्यका भाग आनंदसे करना ही उसकी भांति करना है और यह करनेके लिये ' दुःखितोंके दुःख दूर करनेके कार्य अपने शिर पर आनन्दसे लेने चाहिये । ' दृग्गतिहा यह सीधा उपाय इस सूक्त द्वारा प्रकटित हुआ है । पाठक इसका अधिक विचार करें ।

आरोग्य-सूक्त ।

(३)

[ऋषिः-आङ्गिराः । देवता-भैषज्यं, आयुः, घन्वन्तरिः ।]

अदो यद्वर्षावत्यवत्क्रममि पर्वतात् । तर्चे कृणोमि मेपुञ्जं सुमेपञ्जं यथासांति ॥ १ ॥
 आदुह्ना कुविदुह्ना श्रुतं या मेपुञ्जानि वे । तेषामामि स्वमुत्तममनास्त्रावमरींगणम् ॥ २ ॥
 नीचैः खन्तन्त्यसुरा अरुत्तार्पमिदं महत् । तदास्त्रावस्य मेपुञ्जं तदु रोगमनीनशम् ॥ ३ ॥
 उपजीका उर्ध्वरन्ति समुद्रादार्थं मेपुञ्जम् । तदास्त्रावस्य मेपुञ्जं तदु रोगमशीशमत् ॥ ४ ॥
 अरुत्तार्पमिदं महत्स्पृष्टिष्या अच्युश्रुत्म् । तदास्त्रावस्य मेपुञ्जं तदु रोगमनीनशम् ॥ ५ ॥

भयं-(मद्- यद्) वह जो (अवत्-कं) रक्षक है और जो (पर्वतात् ममि अवचावति) पर्वतके ऊपरसे नीचेकी ओर बीहता है । (तद्-वे) वह ठेरे किये पैदा (मेपुञ्जं एणोमि) औरप करता हूँ (यथा सुमेपञ्जं नसति) जिससे पैदा उचन औरप बन जाये ॥ १ ॥

हे (भंग भंग) निच! (आद् कुविद्) जब बहुत प्रकारसे (या वे) जो ठेरेसे उतरना होनेवाले (शर्त मियमानि) सैकड़ों औरप हैं, (तेषां) उनमेंसे (स्व) (मनास्त्राव) भावको हटानेवाला और (अ-रोग्यं) रोगको दूर करनेवाला; (उचने ममि) उचन औरप है ॥ २ ॥

(अमु-नाः) प्राणोंको बचानेवाले वैद्य (इदं महद् अरु-जानं) इस बड़े मगको पकाकर भर देनेवाले औरपको (नीचैः खन्ति) नीचेसे लोढ़ते हैं । (तद् अस्त्रावस्य मेपुञ्जं) वह भावका औरप है, (तद् उ रोगं मनीनशम्) वह रोग का नाश करता है ॥ ३ ॥

(उपजीकाः) उठने काम करनेवाले (समुद्राद् ममि) समुद्रसे (मेपुञ्जं उर्ध्वरन्ति) औरप ऊपर निकालकर लाये हैं, (तद् अस्त्रावस्य मेपुञ्जं) वह भावका औरप है, (तद् रोगं मनीनशम्) वह रोगका नाश करता है ॥ ४ ॥

(इदं महद्- जानं) वह फोटोको पकाकर भरनेवाला (महद्) बड़ा औरप (शृष्टिष्याः ममि उच्यते) भूमीके ऊपरसे निकालकर लाया है । (तद् अस्त्रावस्य मेपुञ्जं) वह भावका औरप है, (तद् उ) वह (रोगं मनीनशम्) रोगका नाश करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ— एक औरप पर्वतके ऊपरसे नीचे मरना जाता है उससे उठम से उठम औरपकी बनती है ॥ १ ॥ उससे तो अनेकअनेक औरपिधों बनती जाती हैं, परंतु भावको हटाने अर्थात् रक्षणवाको ठीक करनेके काममें वह औरपि बहुत ही उतरोपी है ॥ २ ॥ प्राणको बचाने वाले वैद्य लोग इस औरप को खेद खेद कर लाते हैं, उससे भावको ठीक करने का औरप बनते हैं जिससे रोग दूर हो जाता है ॥ ३ ॥ उचने काम करने वाले भी समुद्रसे एक औरप ऊपर लाते हैं वह भी भावको ठीक कर देता है और रोगको शान्त कर देता है ॥ ४ ॥ वह पृथ्वीपरसे मरना हुआ औरप भी फोटोको ठीक करता है, भावको भर देता है और रोगका नाश करता है ॥ ५ ॥

शं नो भवन्त्वप ओषधयः शिवाः ।

इन्द्रस्य वज्रो अर्प हन्तु रक्षसं आराद्रिसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम्

॥ ६ ॥

अर्थ- (आपः) जल और (ओषधयः) औषधियां (नः) हमारे लिये (शिवाः शं भवन्तु) शुभ और धार्मिक-दायक हों। (इन्द्रस्य वज्रः) इन्द्रका दण्ड (रक्षसः अपहन्तु) राक्षसोंका हनन करे। तथा (रक्षसं विसृष्टाः इषवः) राक्षसोंद्वारा छोड़े हुए बाण हमसे (आरात् पतन्तु) दूर गिरें ॥ ६ ॥

जल और औषधियों हमारे लिये आरोग्य देनेवालीं हों। हमारे छत्रियों के दण्ड शत्रुओंको भगादिवें और शत्रुओंके हमपर फेंके हुए बाण हम सबसे दूर गिरें ॥ ६ ॥

औषधि

इस सूक्तका 'अनु० १' शब्द 'प्राण रक्षक' वेदका वाचक है न कि राक्षस का।

परन्तुके ऊपरसे, समुद्रके अंदरसे, तथा पृथ्वीके ऊपरसे अनेकानेक औषधियां लायीं जाती हैं, और उन से सेकड़ों रोगोंपर दवाःइयां बनायी जाती हैं। इन औषधियोंसे मनुष्योंके पाव, ज्वर तथा अन्वयव रोप दूर होकर उनको आरोग्य प्राप्त होता है। जल और औषधियोंसे इस प्रकार आरोग्य प्राप्त करके मनुष्योंका कल्याण हो सकता है।

इस सूक्तमें यदि किसी विशेष औषधका वर्णन होगा तो वह हमारे ध्यानमें नहीं आया है।

सुविज्ञ वैद्य इस सूक्तका विशेष विचार करे। इस समय इस सूक्तमें साधारण वर्णन ही हमें दिखाई देता है।

शस्त्रोंका उपयोग

क्षत्रियोंके दण्ड शत्रुओंको ही गिरे अर्थात् आपनमें लट्ट है न हो, यह अंतिम मंत्र का उपदेश आपसमें एकता रखनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है, यह ध्यानमें धारण योग्य है।

इस सूक्तके अष्ट मंत्रमें 'हमारे शत्रु' पुरुषका दण्ड शत्रुपर गिरे, परंतु शत्रुके दण्ड हम तक न पहुंच जाय' ऐसा कहा है, हमसे अनुमान होता है कि यह सूक्त विशेष कर उन रक्त स्रवोंके दूरीकरणके लिये है कि जो रक्तस्राव युद्धमें शस्त्रोंके आघातसे होते हैं। युद्ध करनेके समय जा एक दूसरेमें घेरेपे होता है और तबमें शीट आदि लगने तथा शस्त्रोंसे घाव होनेसे जो ज्वर आदि होते हैं, उनसे जंघा रक्त स्राव होता है, उसी प्रकार सूजन होगा और शीके उत्पन्न होना भी संभव है। इस प्रकारके कष्टोंसे बचानेके उपाय बतागैके लिये यह सूक्त है। परंतु ऐसी शीटा दूर करवैके लिये कौनसा उपाय करना अथवा किस युक्तिसे आरोग्य प्राप्त करना इत्यादि बातोंका जना हम सूत्रने नहीं लगता है। इस लिये इस समय इस सूक्तका आधिक विचार करनेमें अक्षम्य है।



जङ्गिड-मणि ।

(४)

[ऋषिः-अथर्वा । देवता-चन्द्रमाः, जङ्गिडः]

दीर्घायुत्वाय वृद्धते रणायारिप्यन्तो दक्षमाणाः सदैव ।

मणि विष्कन्धद्वयं जङ्गिडं विभ्रमो वृयम् ॥ १ ॥

जङ्गिडो जम्भाद्विशराद्विष्कन्धादभिज्ञोर्चनात् ।

मणिः सहस्रवीर्यः परं णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥

अयं विष्कन्धं सहतेऽयं वाधते अस्त्रिणः । अयं नो विभ्रमेषो जङ्गिडः पात्वैसः ॥ ३ ॥

द्वैर्द्वैत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोधवा । विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥ ४ ॥

अर्थ—(दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयुकी प्राप्तिके लिये तथा (वृद्धते रणाय) बड़े आनेव के लिये (वि-रफन्ध-द्वयं) शोषक रोग को दूर करने वाले (जङ्गिडं मणि) जंगिड मणिको (ज-रिप्यन्तः दक्षमाणाः धयं) न सजने वाले परंतु बलवती बढानेवाले हम-सज (विष्कन्धः) धारण करते हैं ॥ १ ॥

यद् (सहस्र-वीर्यः) हजारों सामर्थ्यसे युक्त (जङ्गिडः मणिः) जंगिड मणि (जम्भात्) जम्बुहाई बढानेवाले रोगसे, (वि-शरात्) शरीर क्षीण करनेवाले रोगसे, (वि-स्कन्धात्) शरीरको शुष्क करनेवाले शोषक रोगसे (मणि-शोचनात्) रीनेकी ओर प्रवृत्ति करनेवाले रोगसे (विश्वतः) सब प्रकारसे (नः परं पातु) हम सबका रक्षण करे ॥ २ ॥

(अयं) यह जंगिड मणि (विष्कन्धं सहते) शोषक रोगसे बचाता है, (अयं) यह मणि (अस्त्रिणः वाधते) मझक मरम रोगसे बचाता है । (अयं जंगिडः) यह जंगिड मणि (विष्कन्ध-मेघनः) सर्व औषधियोंका रस ही है, वह (नः सहस्रः पातु) हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

(द्वैः द्वैतेन) दिव्य मनुष्यों द्वारा दिये हुए (मयोधवा) सुख देनेवाले (जंगिडेन मणिना) जंगिड मणिले (विष्कन्धं) शोषक रोगको और (सर्वा रक्षांसि) सब रोगजंतुओंको (व्यायामे) संघर्ष में (सहामहे) दबा सकते हैं ॥ ४ ॥

साधार्थ— दीर्घ आयु प्राप्त करनेके लिये और नीरोगताका बड़ा आनंद अनुभव करनेके लिये जंगिड मणिको शरीर पर हम धारण करते हैं, इससे हमारा क्षीणता नहीं होगी और हमारा बल भी बढेगा, क्योंकि यह मणि शुष्कता अर्थात् शोषक रोगको दूर करता है ॥ १ ॥

यद् मणि साधारणतः हजारों सामर्थ्यसे युक्त है, परंतु विशेष कर जम्बुहाई बढानेवाले, क्षीणता करने वाले, शरीरको सुखानेवाले, निना कारण आंखोंमें रीनेके आंसू खानेवाले रोगोंसे यह मणि बचाता है ॥ २ ॥

यद् मणि शोषक रोगको दूर करता है और जिसमें बहुत अन्न खाया जाता है, परंतु शरीर कृश होता रहता है; इस प्रकार के मरम रोगसे भी बचाता है । इस मणिमें अनेक औषधियोंके गुण हैं, इस लिये यह हमें पापदृष्टिसे बचावे ॥ ३ ॥ यो पुरुषोंसे प्राप्त हुआ और सुख देनेवाला यह जंगिड मणि शोषक रोग और रोग बीज भूत रोगजंतुओंसे हमारा बचाव करे ॥ ४ ॥

शृणथं मा जङ्गिहडश्च विष्कन्धाद्रुमि रक्षताम् । अर्ण्यादुन्य आमृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥५॥
कृत्यादूर्पर्यं मणिरथौ अरातिदूषिः । अथो सहस्वाङ्गिहडः प्र ण आर्युपि तारिषत् ॥ ६ ॥

अर्थ—(शृणः च) सप्त और (जंगिहः च) जंगिह ये दोनों (विष्कन्धात्) तोषक रोगसे (मा मणिरक्षताम्) मेरा रक्षा करे । इन में से (अन्यः) एक (अर्ण्यात् आमृतः) वन से लाया है और (अन्यः) दूसरा (कृष्याः रसेभ्यः) खेतीसे उत्पन्न हुए रसोंसे बनाया है ॥ ५ ॥

[अथ मणिः] यह मणि [कृत्या-दूषिः] हिंससे बचनेवाला है [सयो] और [अ-राति-दूषिः] रात्रुमूल-रोगों को दूर करनेवाला है [अणो] ऐसा यह [सहस्वाङ्ग जंगिहः] बलवान जंगिहमणि [नः आर्युपि तारिषत्] हमारे आयुष्योंको बचावे ॥ ६ ॥

भावार्थ— सप्त और जंगिह ये दोनों तोषक रोगसे हमारा रक्षा करे । इनमेंसे एक वनसे प्राप्त होता है और दूसरा खेतीसे उत्पन्न हुए औषधियोंके रसोंसे बनाया जाता है ॥ ५ ॥

यह मणि नाशसे बचाता है और आरोग्यके शत्रु रूपी रोगोंसे दूर रखता है। यह प्रभावशाली मणि हमारा आयुष्य बचावे ॥ ६ ॥

सण और जंगिह ।

इस सूक्तमें ' सण ' और ' जंगिह ' इन दो वस्तुओंका उल्लेख है (मं० ५) । सण अथवा सण यह प्रसिद्ध पदार्थ है, मायामें भी इसका यही नाम है । सणके विशेषमें राजवधम नामक वैद्यक ग्रंथमें यह बचन है—

१ तस्युत्वं रक्षयिते । हितं मलरोधकं च ।

बीजं क्षोणितमुद्रिकरम् ॥ राजवध. ३ प.

२ मन्त्रः कयामो मलगर्मांसपातनः वान्तिहृत्

घातकफप्रक्ष ॥ राजनिषंदु व. ४.

" (१) सणका मूल रक्षयित रोगमें हितकारक है, मलरोधक है और उसका बीज रक्षयि शक्ति करनेवाला है । (२) सणके ये गुण हैं—सूक्ष्म, कृपाय कधीवाला, मल-गर्म—रक्षक कृपा करनेवाला, वमन करनेवाला, तथा घात रोग और कफ रोगको दूर करनेवाला है । "

यैय लोग इसका अधिक विचार करें । यह सण (कृष्याः रसेभ्यः आमृतः) खेतीसे उत्पन्न होनेवाले रसोंसे बना है (मं. ५) । यह वर्णन सण कौन पदार्थ है, इसका निश्चय करता है । सण करके जो कपडा मिलता है उसीका भागा वा कपडा ॥ रस्सी यही अवस्थित है । रस्सी, घागा, या कपडा हो, हमारे रज्जालमें वही सणका घागा अवस्थित है; जो दिविध औषधियोंके (रत्नेभ्यः ॥ मंत्र ५) रसोंमें मिश्रित बनाया जाता है । इस सण का नाम ' त्वक्शर ' है, इसका अर्थ होता है (त्वक्-शर) त्वक्जने जिसका घत रहता है; इसलिये इसको त्वक्का घागा बनाकर, उसको विविध औषधियोंमें मिश्रित हायपर, कर्ममें अथवा मन्त्रमें यह भागा शोधा जाता है । व्यायाम करनेके समय जब पसीना जाता है, तब उस पसीनेसे त्वक् सणके घागेके औषधिके रस शरीरपर लगते हैं और शरीर पर इस प्रभाव करते हैं ।

॥ सणके घागेपर कौन कौनसे रस लगाये जाते हैं और किस प्रकार यह तैयार किया जाता है, इसका विचार सुदोष वैद्योंके करना उचित है । क्योंकि इस संबंधमें इस सूक्तमें कुछ भी कहा नहीं है ।

शृणः च मा जंगिहश्च कमिरक्षताम् ॥ (मं. ५)

' सण और जंगिहमणि मेरा एकदम रक्षण करे ' यह पंचम मंत्रका बचन है, इस बचनसे स्पष्ट हो जाता है कि, सणके घागेमें जंगिहमणिके प्रथित करके मन्त्रमें वा शरीरपर प्रयोग करनेका अभिप्राय इस सूक्तमें स्पष्ट है । उक्त प्रकार औषधिरसोंसे बनाया सणका घागा भी स्वयं गुणकारी है, और जंगिहमणि भी स्वयं गुणकारी है, तथा दोनों इकट्ठे हो गये, तो भी सण दोनोंका निष्कर विशेष नाम होता संभव है । जबतक विशेष खोज नहीं हुई है, तबतक हम यही दृष्टी समर्थे कि, सणके सूत्रमें जंगिह मणि रक्षक शरीर पर प्रारण करनेसे मंत्रोक्त लाभ प्राप्त हो सकते हैं ।

जंगिड मणिके लाम ।

- १ दीर्घायुत्वं—आयुष्य दीर्घं होता है । (मं. १)
- आयुषि धारिषत्—आयुष्य बढ़ाता है । (मं. ६)
- २ महद् रणं (रमणीयं)—बड़ा आनंद, बड़ा उत्साह रहता है, जो आनंद नीरोगतासे प्राप्त होता है वह इससे मिलता है । (मं. १)
- ३ अरिष्यन्तः—अपमृत्युसे अथवा रोगसे नष्ट न होना । (मं. १)
- ४ दक्षमाणः—(दक्षं) बल बढ़ाना, बलवान् होना । (मं. १)
- ५ विष्यंधूपणः—सोपक रोगको दूर करना । जिस रोगसे मनुष्य प्रतिदिन कृश होता है उस रोगकी निवृत्ति इससे हो जाती है । (मं. १)
- ६ सद्गुणवीर्यः—इस मणिमें सद्गुणों का समर्थन है । (मं. २)
- ७ विश्व-मेघनः—इसमें सब औषधियाँ हैं । (मं. ३)
- ८ मयोमूः—सूत्र देता है । (मं. ४)
- ९ कृत्यादुषिः—अपने नाशसे अथवा अपनी हिंसा होनेसे बचाने वाला यह मणि है । (मं. ६)
- १० वराति-दुषिः—आरोग्यके मनुभूत नितने रोग हैं उनको दूर करनेवाला है । (मं. ६)
- ११ सद्गुणान्—बलवान् है अर्थात् शरीरका बल बढ़ाता है । (मं. ६)
इस जङ्गिड मणिके निम्नलिखित रोग दूर होनेका उल्लेख इस सूत्रमें है वह भी वहाँ इस स्थानपर देखने योग्य है—
- १२ अन्माराद् पातु—जमुहाई जिससे बढती है वह शरीरका दोग इससे दूर होता है । (मं. २)
- १३ नि-अराद् पातु—जिस रोगसे शरीर विशेष क्षीण होता है, उस रोगसे यह मणि बचाता है । (मं. २)
- १४ वि-श्वंशद् पातु—जिससे शरीर सूखता जाता है उस रोगसे यह बचाता है । (मं. २)
- १५ अग्नि-श्लोचनाद्—जिससे रोगकी प्रवृत्ति हो जाती है उस बीमारीसे यह बचाता है । (मं. २)
- १६ अग्निगः वाचते—(अद्-त्रिन्) बहुत अन्न खानेकी आवश्यकता जिस रोग में होती है परंतु बहुत खानेपर भी शरीर कृश होता रहता है, उस अस्य रोगकी निवृत्ति इससे होती है । (मं. ३)
- १७ अंहमः पातु—पापवृत्तिसे बचाता है, अथवा डीन मानव; मनुष्य हटाता है । (मं. ३)
- १८ रक्षासि सहामदे—रोगबीज तथा रोगोत्पादक कृमियोंकी रक्षस् (धरः) कहने हैं क्योंकि इनसे शरीरके पोषक घन धातुओंका (क्षरण) नाश होता रहता है । इन रोगबीजों या रोग जन्युओंका नाश इससे होता है । (मं. ४)
ये सब गुण इस जङ्गिड मणिमें हैं । यहाँ रक्षस् शब्दके विषयमें धीमासा कहना है : [पाठक कृपा करके स्थापय मंत्रक द्वारा प्रकाशित ' वेदमें रोग जन्यु शास्त्र ' नामक पुस्तक देखें, इस पुस्तकमें बताया है कि ये राक्षस अतिवृक्षम कृमि होते हैं, जो धर्मपर विपकृते हैं तथापि आँखसे दिखाई नहीं देते । ये रात्रीमें प्रबल होते हैं । इस वर्गके पटनेसे पाठकोंका शिथल होना कि रोग बीजोंका या रोगजन्युओंका नाम राक्षस है । इसीकी रक्षस् कहते हैं । धर (क्षीण होना) इस धातुसे अक्षरकी उलटपुलट होकर रक्षस् शब्द बनता है, फलनेवाले रोगोंके रोगजन्युओंको यह मणि नाश करता है यह यहाँ मान है, अर्थात् यह (Highly disinfectant) उच्चम प्रकारका रोगकी छूतके दोष को दूर करनेवाला है यह बात इस विवरणसे वाचकोंके मनमें आ चुकी ही होगी ।
यह जंगिड मणि किस वनस्पतिक्रम बनाया जाता है । यह बड़ा प्रयत्न करने पर भी पता नहीं चला । तथापि जो गुण उक्त मंत्रोंमें बताये हैं, उनमें से बहुतसे गुण बचा वनस्पतिके गुण धर्मोंके साथ मिलने लुलने हैं, इस लिये हमारा विचार ऐसा होता है कि यह मणि बचाका होगा बहुत संभवनाय है, देखिये बचाके गुण—

१ वचागुणाः— सीङ्गा कट्टः उण्या ककामप्रंशिकोफो

वातज्वरातिसारही घान्तिरूप उन्नाद्भूमसी च । राजनिषण्ड व. ६

२ वचासुप्त्वा वातकफतृष्णाग्रां स्मृतिवर्षिनी ।

३ वचापर्यायाः ' मद्भव्या । विजया । इक्षोष्नी । मद्रा । '

' (१) वचाके गुण—दोषलता, कटुता, तृष्णता से मुक्त, कफ आम भ्रंश और सूजन का नाश करनेवाली । वात उ्वर क्षतिघार का नाश करनेवाली । वनन करानेवाली । सम्माद और मूत्ररोग का नाश करनेवाली यह वचा है ।

(२) वचापे आसुप्त बहता है, वात-कफ-तृष्णाका नाश करती है । स्पर्ण घातकी कृति करती है ।

(३) वचाके पर्याय शब्दोंका अर्थ—(मंगव्या) मंगल करनेवाली, (विजया) विजय करने वाली, (इक्षोष्नी) राक्षसोंका नाश करनेवाली, पूर्वोक रोगोत्पादक कृमियोंका नाश करनेवाली, (मद्रा) कन्दान करनेवाली । '

यह वचाका वैद्यकप्रयोग करने पर स्पष्ट बता रहा है कि इसके जंगिहसे गुण परमों वननता है । पठक पूर्वोक मंत्रोंके प्रयोगके साथ इसके गुणन करके, तो वचा लय जायगा कि इसके गुणपरम समान हैं । इस लिये हमारा विचार हुआ है, कि जंगिह मणि संभवतः इसका ही बनाया जाता होगा । यह समानता देखिये—

वैद्यक ग्रंथ के शब्द	—[वचाके गुण]—	इस सूत्रके शब्द
१ आसुप्त्वा	—	१ हीर्षायुन्वाप (सं. १)
		आयुर्षि तारिषव (सं. १)
२ इक्षोष्नी । मूत्राग्री	—	२ रक्षांसि सहामहे (सं. ४)
३ वातग्री, वन्मादग्री	—	३ अम्मात् पातु (सं. २)
		आमैदोषनात् पातु । (सं. २)
४ मंगव्या, मद्रा	—	४ अरिधन्वः (सं. २)
स्मृतिवर्षिनी ।	—	५ लमाणाः । सहरवीर्यः (सं. २)
५ विजया	—	५ अराविशुषिः (सं. ६)
६ क्षतिमारग्री	—	६ विशारत् (वि-सात्त)
		पातु (सं. २)
७ हीफग्री, उ्वरग्री	—	७ विश्वमेपजः (सं. १)
कृत्रग्री, भ्रंशिग्री		

इस प्रकार पाठक देखेंगे तो उनके पता लग जायगा, कि वैद्यक ग्रन्थोंके वचाके गुणपरम और जंगिहमणि के गुणपरम प्रायः मिक्रते लुलते हैं । इसके अनुमान होता है, कि संभवतः जंगिह मणि वचा से ही बनाया जाता होगा । केवल गुण सावन्मंसे औषधि प्रचरणमें औषधियां नहीं बली जाती,अथवा नहीं बली जाती चाहिये; यह हमें पूरा पता है,तथापि किछी औषधिके अनापनं सब स्थानपर जो औषधि ली जाती है वह गुणसाधर्म्य देख कर ही ली जाती है ।

परन्तु प्रयोगमें जहाँ बड़े बड़े आयुष्य वर्षक और बलवर्धक रसायन प्रयोग लिखे हैं, वहाँ सोमादि दिव्य औषधियोंके अभावमें इषी प्रकार गुण साधर्म्यसे अन्य औषधि लेने का विधान किया है । इसलिये यदि जंगिह मणिका ठीक पता नहीं चलता, तो इस मणिके गुण धर्मोंके समान गुणधर्मवाली वनस्पतिका मणि बनाना और उसके धारण करना बहुत अनोख नहीं होगा । तथापि हम यह कार्य सुयोग्य वैद्योंपर ही छोड़ देते हैं, तथा इस विषयमें अधिक खोज होनी जयते आवश्यक है यह भी यहाँ स्पष्ट कह देते हैं । सुयोग्य वैद्य इस महत्त्वपूर्ण विषयकी खोज अवश्य करें ।

मणि धारण ।

यहाँ कई पाठक कहेंगे कि यह क्या अंध विश्वासघने बात है, कि केवल मणि धारणसे रोग मुक्त होने का ही विधान किया जा रहा है ? क्या इसके साथी, कवच, धागा, सोप, आदिकी लंघविभाष की बातें सिद्ध नहीं होंगी ? इस प्रकारकी लंघन यहाँ चर्चासिद्ध होना संभव है; इस लिये इस बातका यहाँ विचार करना आवश्यक है—

इस सूक्तमें जो 'जंगिमणि' का वर्णन है वह ताम्रज या धागा दौरा या जादूकी चीज नहीं है। यह वास्तविक औषधि पदार्थ है। इसके पूर्वके तृतीय सूक्त में पर्वत, और पूर्वके ऊपर होने तथा समुद्रके तलमें उत्पन्न होनेवाली औषधि वनस्पतियों-का वर्णन लघुसंक्षिप्त रीतिसे आया है, इस औषधिवनस्पतियोंकी अनुसूति इस सूक्तमें है। ये दोनों सूक्त साथ साथ हैं और दोनोंका रोगनिवारण और आरोग्य साधन यह विषय समान ही है। इसलिये यह औषधीका मणि है यह बात स्पष्ट है।

मणिपर संस्कार ।

स्वयं यह मणि वनस्पतिका है अर्थात् वनस्पतिकी लकड़ीसे यह बनता है तथा यह जिस घागमें बांधाजाता है वह जो विशेष गुणकारी वनस्पतिका घागा होता है, यह बात पूर्व स्थलमें बताया है। विशेष गुणकारी घागा और विशेष गुणकारी मणि इनके मिलानसे शरीरपर विशेष परिणाम होना संभव है। इसके नंतर—

अरण्यान्न्य आभूतः ।

कृत्वा मन्वो रसेभ्यः ॥ (मंत्र. ५)

'एक अरण्यकी वनस्पतिसे बनता है और वृक्षा इत्येसे उत्पन्न हुए वनस्पतियोंके रसोंसे भरा जाता है।' यह पंचम मंत्रका विधान विशेष ही मनन करने योग्य है। इसमें 'आ—सृतः' शब्द है, इसका धारण्य ' (आ) चारों ओर से (सृतः) पूर्ण किया, चारों ओरसे भर दिया है,' ऐसा होता है। अपौरु मणि और घागा अनेक वनस्पतियोंके रसों में भिगोकर घुमानेसे वे सब रस उस घागमें और मणिमें भर जाते हैं अथवा जम आते हैं और इन सब रसोंका परिणाम शरीरपर हो जाता है। इसलिये जंगिम-मणिका धारण्य षडैश साक्षका महत्त्वपूर्ण और सशक्त विषय है इसमें अन्वविश्रासकी बात नहीं है।

शास्त्रका ' त्विज, क्वच, घागा, दौरा, जादूका पदार्थ है पर केवल विश्वास की चीज है अथवा भावनासे उसकी कल्पना है। वैसा जंगिम मणि नहीं है। इसमें औषधियोगका संबन्ध विशेष रीतिसे शरीरके साथ होता है। यद्यपि शरीरके अंदर औषधि नहीं केवल की जाती तथापि शरीरके ऊपरके स्पर्शसे लाभ पहुंचता है।

हमने यह बातें देखी हैं, कि ताम्रजके पत्ते पेंटर बांध देनेसे चमन होता है। [इसी प्रकार हरीतकी (हिरण) की एक तीज जाती होती है, उस को हारमें धरनेसे दस्त होते हैं, ऐसा कहते हैं, परंतु यह बात अभीतक हमने देखी नहीं है।] इसके अतिरिक्त हमने अनुभव की हुई बातें भी वहाँ निर्दिष्ट करना योग्य है, कोटहापुर रियासतके अंदर बावडा (गगन बावडा) नामक एक छोटी रियासत है। वहाँ के श्री० नरेश के पास वनस्पतिकी जड़के मणि मिलते हैं, इस मणिके धारणसे दांतकी पीडा दूर होती है। इस विषयका अनुभव हमने कई बार अपने ऊपर लिया है और अपने परिचितों पर भी लिया है। यह मणि किसी वनस्पतिकी जड़का बनाया जाता है, परंतु उस वनस्पतिका नाम अभीतक हमें पता नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रवाल, सुवर्ण, ताम्र, विविध रत्न आदिके धारणसे बालकोंके शरीरपर विशेष प्रभाव होता है यह भी देखा है। इसलिये यदि रबी और मणि उत्तम वनस्पतियोंसे बनाकर उनको विशेष रसोंसे सुसंस्कृत करके धारण किये जाय तो रोगोंका दूर होना मात्र दृष्टिसे सुसंस्कृत प्रतीत होता है।

बच्चा के विषयमें हमने कई बच्चोंकी संमती ली है, उनका कहना है, कि बच्चाका मणि उक्त प्रकार शरीरपर धारण किया जाय तो वह स्पर्शजन्य रोग (सूत से फैलनेवाले रोग) की बाधा से दूर रह सकता है, अर्थात् जो धारण करेगा उसकी उक्त रोग होनेकी संभावना कम है। ■■■ बातका हमने कई बार प्रयोग भी किया है और लाभ ही प्रतीत हुआ है।

इसी प्रकार प्रथम संक्षिप्त रोगके दिनोंमें ' इम्रोशिया ' नामक वनस्पतिकी बीज धारण करनेसे कुछ लाभ होनेकी बात कई आभेतर कहते हैं, तथापि हमें इसका विशेष अनुभव नहीं है। परंतु सुंभईमें हमने देखा था कि उक्त रोगके प्रादुर्भावमें इसका धारण कई लोग करते थे।

इस गोटसे अनुभवसे हम कह सकते हैं, कि जंगिम मणिके धारण भी एक साम्राज्य महत्त्वका विषय है और इसमें कोई लघुविधासकी बात नहीं है। अब विशेष खोज करनेवालोंका यह विषय है कि वे जंगिममणिकी ठीक छिद्रता करने की रीतिकी

खोज करें और इसका उपयोग करके आरोग्य प्राप्त करनेका निश्चित उपाय सबके लिये सुप्रसन्न करें । वेदशास्त्रोंके अन्वय देखनेसे बहुत कुछ पता लगना संभव है ।

खोजकी दिशा ।

यहाँ खोज करनेकी दिशाका भी थोड़ासा वर्णन करना आवश्यक न होगा । श्री- छायागार्वायणोंने अपने भाष्यमें लिखा है, कि वादां प्रथमं जंगिष वृक्षः ॥ इस वृक्षके विषयमें कालीं प्रांतके लोग खोज करें और जो कुछ अतुल्य हो वह प्रकाशित करें । वचा उम्रगंधां वनस्पति या चीर है । इसको पंचधे अर्थात् षडभाषधे जो इसके परमाप्तु हवामे फल आते हैं, वे रोग-जन्तुओंका नाश करते हैं, तथा रोगके विषको भी दूर कर देते हैं । यहाँ कारण है कि वचा का क्षीरपार धारण करनेसे हृत् से फैलनेवाले रोग दूर होते हैं, या उनका नाश नहीं होती है । प्रायः हृत्से फैलनेवाले रोग सूक्ष्म जंतुओं द्वारा फैलते हैं, वे रोगजंतु वचा की उम्रगंधिके कारण तत्काल मर जाते हैं । ऐसे उम्रगंधी पदार्थ अन्नधान्य, दूदीना, मूत्र, कुर, पेरनीट आदि अनेक हैं । अर्ध वैद्यक शास्त्रमें इन पदार्थोंका परिगणन किया है और इनको हामिनासक भी कहा है । यदि खोज करनेवाले पूर्वोक्त रोगनासक वस्तुपे तक ही जक वा कुछके मगिणर सुयोग्य उम्रगंधीवाले अनेक रसोंसे अथवा संस्कार करेंगे, तो इस प्रदलसे जगिहमणि अथवा सारसह मणि अथ भी प्राप्त होना संभवनीय है । इसलिये हम सुयोग्य वैद्यकोंके ॥ विषयकी खोज करनेके लिये शात्रुः^५ प्रार्थना करते हैं ।

जंगिह मणिसे दीर्घ आयुष्य ।

प्रथम मंत्रके मंत्रमें ही ' जंगिहमणिसे दीर्घायुष्य प्राप्त होनेकी बात ' कही है । यह दीर्घायुष्य प्राप्ति किध प्रकार होती है, यह बात यहाँ विचार करके देखनी आवश्यक है । इस विचारके लिये प्रथम आयुष्य की अल्पता क्यों होती है यह देखिये । रोग—आधि और व्याधि—यह मुख्य कारण है जिसे आयुष्य क्षीण होता है । जंगिहमणि रोगोत्पादक विषों और रोगवर्धक जन्तुओंको दूर करता है अथवा नाश करता है, इससे शरीरगत प्राण होने द्वारा जो स्वास्थ्य प्राप्त होता है वह आयुष्य वर्धन करता है ।

हमें लोग समझते हैं, कि आयुष्यकी वृद्धि नहीं होती है । परंतु वेदमें सेकड़ों स्थानोंपर दीर्घ आयुष्यके उपाय कहे हैं, इसलिये वैदिक दृष्टिकोणसे आयुष्यकी वृद्धि होनेके विषयमें कोई संदेह नहीं है । यदि दीर्घायुष्य होता है वा नहीं, इस विषयमें हम अर्ध वैद्यक की छाती देखेंगे तो हमें वह छाती अनुभूत ही होगी; क्यों कि आयुष्य वर्धन के कई रसायन प्रयोग वैदिकशास्त्रमें कहे हैं । इसलिये अर्ध वैद्यकी संमति आयुष्य की वृद्धि होती है इस विषयमें निश्चित है । इसलिये जो सर्व शाधारण जनताका विचार है, कि आयुष्य वर्धन नहीं होता वह अशुद्ध है और वैसा विचार वैदिक धर्मियोंको मनमें रखनेकी आवश्यकता नहीं है ।

जंगिहमणि (Disinfectant) स्वर्णत्रय्य दोषो हृदयेवात्मा होनेके कारण यदि वह शरीरपर धारण किया जाय, तो उससे रोग दूर होनेमें संका ही नहीं हो सकती और इस प्रकार यदि शरीरगत ही सिद्धता हुई और आयुष्य वर्धक अन्य द्रव्यवर्दी वैदिक उपायोंका अवलंबन किया तो निःसंदेह आयुष्य वर्धन होगा । इसलिये पाठक इस बातका विशेष मनन करें ।

बडा रण ।

प्रथम मंत्रमें ' महते रणाय ' शब्द है । इसमें जो ' रण ' शब्द है उसका वास्तविक अर्थ रमणीयता सोना इत्यादि होता है । यह अर्थ पूर्व स्थानमें दिया ही है । परंतु कईशक्ति मतसे यहकि रण शब्दका अर्थ युद्ध है । इसलिये ' महत् रण ' शब्द का अर्थ ' बडा युद्ध ' है । यह अर्थ लेनेसे प्रथम मंत्रके इस भाग का अर्थ निम्नलिखित होता है ।

महते रणाय जङ्घिहं वचं बिभृमः ॥ (सं १)

' बडे युद्धके लिए हम अङ्घिह मणिका धारण करते हैं ।' अर्थात् बडे युद्धमें हमारा विजय हो इसलिये हम अङ्घिह मणिका धारण करते हैं । अङ्घिह मणिके धारण सेहमारे शरीरमें ऐसा बल बढेगा, कि जिससे हम उस बडे युद्धमें विजयी बनेंगे । यह युद्ध कैलाश है । यह युद्ध अपना जीवनका ही है । मनुष्यका जीवन एक बडा भारी युद्ध है ।

शतान्दीतक चलनेवाला यह युद्ध है। घी बर्षे इस युद्धमें व्यर्तित होंगे। इधरिये यह साधारण युद्ध नहीं है। शरीर क्षेत्रमें जो कार्य आत्मा द्वारा चल रहा है, उधमें विविध रोग विप्र जाते हैं और उनके साथ हमारा युद्ध चल रहा है। अपना आरोग्य स्थापित करनेसे ही इस युद्धमें हमें विजय प्राप्त होना है। जात्रेक मणिसे रोगनिग्रहद्वारा आरोग्य प्राप्त होता है इप हेतु-घे यह मणि हृद्य बडे युद्धमें भी हमें सहायक है, ऐसा इस मंत्रमें जो कडा है वह योग्यही है।

चलवर्धन ।

इस प्रथम मंत्रमें और दो शब्द बडे महत्वपूर्ण हैं। 'अ-रिष्यन्तः। दक्षमाणाः' इन दो शब्दोंका क्रमसाः अर्थ 'अक्षिप्तिते होते हुए, पटिष्ठ होनेवाले' यह है। रोगाधिके ह्रमलोंके कारण अथवा अन्य दुष्ट शत्रुओंके आक्रमण के कारण हम (अरिष्यन्तः) शिथिल न हों अर्थात् हम क्षीण दुःखों अरुण अथवा नष्ट न हों, यह प्रथम पद का अर्थ है। परंतु योडासा विचार करने पर पठकके मनमें यह बात स्पष्टताके साथ आजायगी कि केवल क्षीय न हाने अथवा नष्ट न होनेसे ही अर्थात् केवल जीवन धारण करनेसे ही अग्रत् में कार्य चलना और विजय प्राप्त होना अशक्य है। विजय प्राप्त करने के लिये यह निवेधानेक युग विशेष सहायक नहीं होगा। इस कार्य के लिये विषयगतक युग अवश्य चाहिये। यह युग (दक्षमाणाः) बलवान् इस शब्दद्वारा बताया है। इसका अर्थ बलवान् होना है। पठक योडासा विचार करेंगे तो उनके प्दानमें यह बात आजायगी कि-

बल और विजय ।

इस युगकी बर्षी आवश्यकता है। रोग नहीं हुए, अथवा न हुआ, नष्ट नहीं हुआ तो भी कार्य नहीं चलैगा, विजयकी इच्छा है तो अपना बल सर्व दिशाओंसे बढ़ानेका यत्न होना आवश्यक है। जितना बल बडेगा उतना विजय निश्चयसे प्राप्त होनेकी संभावना अधिक है। पठक इन दो शब्दोंका परस्पर महत्वपूर्ण संबंध देखें और वेदकी शब्द योजनाकी गंभीरता अनुभव करें।

दूषण ।

इस सूत्रमें 'दूषण, दूषि' इन शब्दोंका प्रयोग विलक्षण अर्थमें हुआ है। देखिये-

रिष्कन्ध दूषण -विष्कन्धको विनाशनेवाला
 हृत्वा दूषि -हृत्वाको दोष छगानेवा
 शराति दूषि -शराति को दोष लगानेवाला

पठक सूत्र देखिये देखेंगे तो उनको इस शब्द प्रयोगमें यह बात स्पष्ट दिखाई देगी, कि 'शत्रुमें दोष उत्पन्न करना' यही सूचित किया है। कई करते हैं कि शत्रुको मारो काटो वा शत्रुका नाश करो। वेदमें भी शत्रुका नाश करनेका उपदेश कईबार किया है। परंतु यहाँ दूसरी बातका उपदेश शत्रुको दूर करनेके विषयमें किया है। शत्रुमें दोष उत्पन्न करना, शत्रुमें हीनता उत्पन्न करना, शत्रुकी कार्यवाही में दोष उत्पन्न करना। जिस समय शत्रुका शीघ्र नाश नहीं होना है उस समय अनेक उपायोंसे शत्रुके अंदर दोषोंको बढ़ानेके शत्रुका बल घटता जाता है और अपना बल बढ़ता जाता है। यह जितना व्यक्तिगत रोगोंके विषयमें सत्य है उतनाही सामाजिक और राष्ट्रीय शत्रुओंके विषयमें भी सत्य है, शत्रुमें दोष उत्पन्न करनेसे योडेसे प्रबलतये शत्रुका पराभव होता है और अपने लिये विजय प्राप्त होता है।

यह मणि परास्पर धारण करनेसे शरीरके जो रोगादि शत्रु हैं उनकी शक्तिमें दोष उत्पन्न होता है, इधसे उन शत्रुओंको शक्ति क्षीण होती जाती है और अपना बल बढ़ता जाता है।

यह शरीरके क्षेत्रका उपदेश पठक राष्ट्रके क्षेत्रमें देखिये तो उनकी राजनीतिके शत्रुदमन विषयक एक बडे धिदांत का ज्ञान हो सकता है।

अग्नि ।

वेद मंत्रोंमें ' अग्नि ' शब्द विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। कई स्थान पर इसका अर्थ है ऋषि, कई स्थान पर राक्षस और इस सूक्तमें यह एक रोग विशेषका नाम है । इतने भिन्न अर्थोंमें इसका उपयोग होनेसे इसके विषयमें पाठकोंके मनमें संदेह होना संभव है, इसलिये इस विषयमें थोड़ासा लिखना लावश्यक है ।

' अद् ' (खाना) इस धातुसे यह शब्द बनता है इसलिये इसका अर्थ ' भक्षण ' है । दूसरा ' अत् ' (भ्रमण करना) धातुसे बनता है, इस समय इसका अर्थ भ्रमण करनेवाला होता है । पहिला अर्थ हमने इससे पूर्व दिया है । यहाँ यह अग्नि शब्द रोगवाचक होनेसे भक्षक रोग अथवा भक्ष्य रोग ऐसा किया है, जिसमें रोगी अन्न बहुत खाता है परंतु कृश होता जाता है । दूसरा अग्नि शब्द ' भ्रमण करनेवाला ' यह अर्थ बताता है, यह अर्थ रोगवाचक होनेकी अवस्थामें पागल का वाचक हो सकता है । मूल मनुष्य जो मरिच्छक बिगड जानेसे पागल भोजाता है, कारण के बिना भी वह भटकता रहता है इस लिये इसका वाचक यह शब्द हो सकता है । इससे यह भी सिद्ध होगा कि यह जंगिदमणि मरिच्छक बिगड जानेके रोगमें भी हितकारी होगा । परंतु पाठक यहाँ स्मरण रखें कि यह केवल श्रुत्युपेक्षी बात है, इसलिये वैदिकग्रन्थमें इसका बहुत प्रमाण नहीं हो सकता, जबतक कि मनुष्यके अंगिदमणिना यह उपयोग सिद्ध न हो । तथापि यह अर्थ जंगिदमणिकी खोज करनेमें सहायक होगा इसलिये यहाँ दिया है । बच्चेके गुणधर्मोंमें स्मृतिवर्धनी और सम्मादनाशनी ये दो गुण इस अर्थके वाचक हैं, यह खोजके समय ध्यानमें धारण करने योग्य हैं ।

इस प्रकार यह सूक्त महेश्वर पूर्ण अनेक बातोंका वर्णन कर रहा है । पाठक विचार करते रहेंगे तो उनको इस रीतिसे बड़ा बोध प्राप्त हो सकता है ।



क्षत्रिय का धर्म ।

(५)

(ऋषिः-भृगुः आथर्वणः ; देवता-इन्द्रः)

इन्द्रं जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिभ्याम् ।
पिषां सुतस्य मतेरिह मघोश्चकानश्चारुर्मदाय ॥ १ ॥

इन्द्रं जठरं नृण्यो न पूणस्व मघोर्दिवो न ।
अस्य सुतस्य स्वर्णोपं त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥ २ ॥

इन्द्रं स्तरापाग्मिश्रो वृत्रं यो जघान यतोर्न ।
यिमेदं वलं भृगुर्न संसहे शत्रुन्मडे सोमस्य ॥ ३ ॥

आ त्वा विशन्तु सुतासं इन्द्र पूणस्व कुधी विद्वि शंक्र धियेहा नः
श्रुधी हवं गिरों मे जुषस्वेन्द्रं स्वयुग्भिर्मस्वेह मुहे रणाय ॥ ४ ॥

अर्थ— हे शूर इन्द्र ! (जुषस्व) तू प्रसन्न हो, (प्र वहा) भागे बढ ! (हरिभ्यां भा याहि) बोहोके पाप दू यहाँ भा । (चकानः) तुल होना हुआ दू (मदाय) हर्षके लिए (इह) यहाँ (मतेः) बुद्धिपान् पुरुषका (सुतस्य मघोः चारुः) निचोडा हुआ मधुर सुंदर रस (पिषां पिबो) ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! (नृण्यो न) प्रशंसनीयके समान और (स्वः न) स्वर्गाय आनंद के समान (मघोः जठरं पूणस्व) इस मधुर रससे अपना पेट भर दो । [अस्य सुतस्य] इस निचोड़े रसकी (स्वः न) स्वर्गके आनंदके समान सुखी और (श्रुधाचः मदाः) उतम भाषणोंके साथ आनंद (त्वा इव अगुः) तेरे पास पहुंचते हैं ॥ २ ॥

(पथीः न) बल करनेवाले पुरुषके समान (वः स्तरापाट् मिश्रः इन्द्रः) जिस त्वरासे शत्रुपर हमला करनेवाले मिश्र इन्द्रने [वृत्रं जघान] घेरनेवाले शत्रुका नाश किया था, तथा [भृगुः न] मृतनेवालेके समान जिसने [बलं विमेद] शत्रुके बलका भेद किया था और (सोमस्य मदे) सोमरसके आनंदमें (शत्रुं ससहे) शत्रुओंका पराभव किया था ॥३॥

हे [शक्र इन्द्र इन्द्र] शक्तिमान् प्रभु इन्द्र ! (सुतासः त्वा भा विशन्तु) निचोड़े हुए ये रस-तुलामें प्रविष्ट हों । (कुधी पूणस्व) दोनों कुक्षियोंको दू भर और [विद्वि] धारण कर [धिया नः आ—इहि] अपनी बुद्धिसे दू हमारे पास आ । हमारी (हवं श्रुधि) पुकार सुन, (मे गिरः जुषस्व) मेरा भाषण स्वीकार कर । और [इह] यहाँ [मदे] रणाय) बड़े युद्ध के लिए (स्वयुग्भिः) अपनी शोचनार्थोंके साथ (भा मस्व) हर्षित हो ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे शूर वीर ! तू सदा प्रसन्न और आनंदित रह और उन्नतिके मार्गसे आगे बढ । अपने उत्तम घाहोंसे युक्त रथमें बैठकर शूर उधर जा । और सदा संतुष्ट रहता हुआ अपने हर्षको बढानेके लिये युद्धे वर्षक मधुर रसका पान कर ॥ १ ॥

हे शूरवीर ! प्रशंसा के योग्य और हर्ष बढानेवाले मधुर रससे अपना पेट भर, ऐसा करनेसे ही उत्तम प्रशंसाकी वाणी ही तेरे पास श्रवण और धे पहुंचेगी अर्थात् जब तेरी प्रशंसा करेगी ॥ २ ॥

पुरुषार्थों, उद्योगों पुरुषके समान प्रयत्नशील और शीघ्रनेत्रके साथ शत्रु पर हमला करनेवाला शूरवीर अपने शत्रुका नाश शीघ्र करता है । जिस प्रकार मृतनेवाला मनुष्य धान्योंको भूनता है, उसी प्रकार यह शूरवीर शत्रुकी सेनाको भून देता है और सोमरस का पान करता हुआ हर्षित और उत्साहित होकर शत्रुकी पराजय करता है ॥ ३ ॥

इन्द्रस्य नु प्रा वोचं वीर्याणि यानि चकार प्रथमार्नि वृजी ।

अह्नमहिमन्वपस्तर्दु प्र वृक्षणा अभिनृत्पर्वतानाम्

॥ ५ ॥

अह्नमहि पर्वते शिश्रियाणं त्वर्पादमै वर्जं स्वर्यं तदक्ष ।

वाथा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमवं जग्मुरारपः

॥ ६ ॥

बुपायमाणो अवृणीत सोगं त्रिकद्रुकेभ्वपिबत्सुतर्ष ।

आ सायकं म्घर्वादृच वज्रमर्हभेनं प्रथमजामर्हीनाम्

॥ ७ ॥

मर्ह- (इन्द्रस्य वीर्याणि नु प्रबोधं) इन्द्रके पराक्रम में अचली प्रकार वर्णन करता है । (यानि प्रथमार्नि) जो पहिले ओनीके पराक्रम [वृजी चकार] वृक्षधारी इन्द्रने किये थे । उसने [अहिं अह्न] कम न होनेवाले शत्रुका नाश किया, और [अणः अह्नतर्दु] प्रधाहोरो क्षुद्र किया और [पर्वतानां] पर्वतोंके (वृक्षणाः अ अभिनृत्) अतएव लोह की दिप ॥ ५ ॥ (पर्वते शिश्रियाणं अहिं) पर्वतके आश्रयसे रहनेवाले शत्रुको (अह्न) बध किया । [अर्जने] इसके किये (अर्ज स्वर्यं वर्जं तदक्ष) क्षीरगीरने तेज धारक बना दिया था । (वाथाः धेनवः इव) रंभासी हैं गौरीके समान (स्यन्दमानाः जापः) वेगसे बहनेवाले जलप्रवाह (अञ्जः समुद्रं अवजग्मुः) तीर्थे समुद्रपक जा पहुँचे ॥ ६ ॥

(बुपायमाणः) बलवान् वीर [सोमं अवृणीत्] सोम रसको नाश हुआ । (सुतस्य त्रिकद्रुकेषु अपिबत्) रसका हीन उच्च स्थापोंमें पान किया । (आ सायकं वर्जं आ अर्ज) इन्द्रने बाण रूप वज्र किया और (अर्हीनां प्रथमर्जां पुनं अह्न) शत्रुओंके पहिले इस वीर्यो मात काका ॥ ७ ॥

मावाच- हे शक्तिमान् शूरवीर । अब मयूर उस तुम्हें प्राप्त हो और उससे तु अपना अपना पेट भर दे । उस समय तु अपने मनसे सब अनला की अवार्था विचार कर और उन की पुकार ध्वन कर तथा बड़े बोधनकाल में विजय प्राप्त करनेके लिये अपनी बालक शक्तिवोंके साथ आनंदसे तैयार रह ॥ ४ ॥

शूर पुत्रबके पराक्रमों का मैं वर्णन करता हूँ, जो कि तुम्होंने किये थे । बढनेवाले शत्रुका उसने नाश किया और बड़के प्रवाह बधके लिये छले कर दिये, तथा पर्वतोंके भागोंको टोडकर खंखर भी धाक किया ॥ ५ ॥

पर्वतके भागोंपर छिपकर रहनेवाले शत्रुओंका तुम्होंने बध किया, ऐसे शूरके लिये क्षीरगीरों ने विशेष प्रकारके ताँलन लक्ष तैयार कर दिये थे । मित्र प्रकार गौरी रंभासी हूँ अपने बड़केके पास जाती है उसी प्रकार उस वीरने खुले किये हुए बड़के प्रवाह समुद्रतक जा पहुँचे ॥ ६ ॥

अपना बल बढानेवाला शूरवीर सोमरस का पान तीन समय और तीन स्वाधोंमें करता है । धनी शूरवीर अपने छत्र बजा तैयार रहता है और बढने वाले शत्रुके अभावामा वीरका शीघ्र नाश करता है [और इस रीतिसे अपना विजय प्राप्त करता है ।] ॥ ७ ॥

सात्रधर्म ।

मास्यः इन्द्र एषोमं सात्रियधर्मं नताया होता है । इन्द्र शब्द मुख्यतः शत्रुका नाश करनेवाले शूरवीरका चोतक है और उषस्य धर्मन शूरवीरके सात्रधर्मका प्रकाशक होता है । इस सूक्तमें भी पाठक उक्त बात देख सकते हैं । शत्रु सूक्तमें त्रिन शन्दों द्वारा शूरवीर का वर्णन होकर सात्र धर्मका प्रकाश हुआ है, उन शन्दोंका अर्थ देखिये-

सात्रियके गुण ।

१ इन्द्रः (इन्द्र) = शत्रुका नाश करनेवाला, शत्रु धैर्यका नाश करनेवाला । (सं. १)

२ शूरः = शूरवीर । (सं. १)

३ चक्रानः = लज, संतुष्ट, तेजस्वी, प्रथममान । शत्रुका प्रतिहार करनेमें समर्थ । (सं- १)

- ४ मित्रः = जनताका मित्र, जनताका हित करनेवाला । सर्वप्रथमासमान । (मं. ३)
 ५ पत्नीः = प्रयत्नशैल, पुरुषार्थी । (मं. ३)
 ६ शत्रुः = भूतनेवाला, शत्रुको भूतनेवाला । (मं. ३)
 ७ सुरार्थाद् = स्वराधे शत्रुपर हमला चढानेवाला । (मं. ३)
 ८ शत्रुः = समर्थ, शक्तिशाली, बलवान् । (मं. ४)
 ९ वज्री = वज्र आदि शस्त्रोंसे युक्त । (मं. ५)
 १० वृषापमाणः = अपना बल प्रतिदिन बढ़ानेवाला, अपनी शक्ति सब प्रकारसे बढ़ानेवाला । (मं. ७)
 ११ मयवा (मय-वाद्) = धनवान् (मं. ७)

ये शब्द इत्येव सूत्रमें शूरवीर छत्रियके वाचक हैं। इन शब्दोंसे छत्रियके कर्तव्योंका भी बोध होता है। छत्रियके पाद कौर्ये कौर्ये पराक्रम आदि गुण जैसे चाहियें उसी प्रकार पुनः पुनः प्रयत्न करनेका गुण और बगले शत्रुपर हमला चढानेका भी गुण अवश्य चाहिये। शत्रुसे अपना बल अधिक रखनेकी तैयारी भी छत्रियको करनी चाहिये, और इस सबके लिये उसके पाद विपुल बल भी चाहिये, इत्यादि छत्रियधर्मका ब्यवस्था हमें यहाँ प्राप्त होता है। पाठक इस दृष्टिसे इन पदोंका विशेष मनन करे। जब वाक्यों द्वारा ओ छत्रियके कर्म इन मंत्रोंमें वर्णन हुए हैं उनका विचार देखिये—

छत्रियके कर्तव्य ।

- १ शूर ! हरिभ्यां जापाहि = हे वीर ! घोड़ोंपर सवारी कर। घोड़ोंकी सवारी करनेका अभ्यास छत्रियको करना चाहिये। (मं. १)
 २ प्र बह = भागे बढ। छत्रियकी ऐसी तैयारी चाहिये कि जिससे बह शीघ्रतासे भागे बढ सके। बड़ाई में सिकार न रहे। (मं. २)
 ३ वृष्टं जवान = धरनेवाले जगवा म्यूह वापकर बड़ाई करनेवाले शत्रुका नाश करनेमें समर्थ छत्रिय हो। (मं. ३)
 ४ बलं विभेद् = शत्रुके बलका भेद करे, शत्रुकी सेनामें भेद डालन करे, शत्रुकी सेनाकी संघर्षात्ति नष्ट करे, उस शत्रुसेनाको तितर बितर करे। (मं. ३)
 ५ क्षत्रून् ससहे—शत्रुका पराभव करे। शत्रुके हमलेकी सहे अर्थात् शत्रुके हमलेसे पीछे न हटे। (मं. ३)
 ६ विद्वि (वा विद्वि) = उत्तम राज्य शासन कर। राज्यशासन करना अपना कर्तव्य है ऐसा छत्रिय समझे। (मं. ४)
 ७ महते रणाय स्वयुग्मिः मत्सव = बड़े युद्धके लिए अपनी बोजक शक्तियोंके द्वारा आभंदरे तैयार रहे। शत्रु जगवा करता है, तो उसकी अपनी योजना और सुक्तिबोधि दूर करे। (मं. ४)
 ८ अहि अहम् = शत्रुका नाश करे। (मं. ५)
 ९ पर्वतानां नक्षणाः अभिनत् = पर्वतों के तपरके बने जंगल तोट कर शत्रु छिप कर रहनेके स्थान हटा देवे। जबका बहसे बढनेवाले नदी प्रवाह सुले करे। (मं. ५)
 १० अपः क्षत्रु तटर्षु = जलके प्रवाह शत्रुके अधिकार में हों तो उनको सबके लिए सुले करे। [मं. ५]
 ११ पर्वते शिश्रियाणं अहिं अहन् = पहाड़ियोंका आश्रय करके लहनेवाले शत्रुका नाश करे। [मं. ६]
 १२ अस्मे स्वधा स्वयं वज्रं शस्त्रम् = इसके लिए जहार शीघ्र शस्त्र तैयार करके दे। जबका राजा अपने कारीगरोंको शस्त्र तैयार करनेके काम में नियुक्त करे और आश्रयक शस्त्र तैयार करके लें। [मं. ६]
 १३ तापकं वज्रं वा अक्षय = बाण और वज्र आदि शस्त्र हाथमें लेवे। [मं. ७]
 १४ अहीनां प्रबभवां पृष्टं अहन् = बढनेवाले शत्रुके मुख्य मुख्य वीरोंका अर्थात् सेनानायकोंका नाश करे। [मं. ७]

ये वाक्य क्षत्रियके कर्तव्य बता रहे हैं । इनही विशेष व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये वाक्य स्वयं स्पष्ट हैं और सोचेंगे मननसे इनका आशय च्यानमें जा सकता है ।

अब राज्यशासन विषयक कर्तव्योंकी सूचना करनेवाले वाक्योंको देखिए—

राज्य शासन ।

१ मित्रः—प्रजाओंका मित्र बन कर राजा राज्य करे । कभी शत्रु बनकर राज्य न करे । [मं० ३]

२ हवं धूमि, गिरः उपस्य—सुधार सुन, बाणीका स्थावर कर अर्थात् प्रजाओं आवाज प्रथम कर । प्रजाही इच्छाका आदर कर । [मं० ४]

३ अयः अयः समुद्रं अयजग्मुः—समुद्रतक बढ़ने वाले नहर चलावे और उससे कृषिकी सहायता करे । [मं० ६]

इस प्रकारका राज्यशासन केवल प्रजाके हितकी दृष्टि करनेके लिए जो क्षत्रिय करता है, उसीकी प्रजा प्रशंसा करती है, इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र भाग देखिए—

प्रजासे सन्मान ।

१ त्वा मदाः सुवाचः ऋष अगुः—तेरे पाद हर्षकी उत्तम वाणी पहुँचती है अर्थात् हर्षित और आनंदित हुई प्रजा तबकी उत्तम वाणीसे प्रशंसा करती है । कृतकृतासे संमान करती है । मानवप्र अर्पण करती है । [मं० २]

प्रजा आनंदित होनेके पश्चात् ही उत्तम राजाकी इस प्रकार प्रशंसा कर सकती है । अन्यथा प्रस्त हुई प्रजा राजाकी निंदा या टाकाका द्रोह करती रहेगी । इस प्रकार राजाके अथवा क्षत्रियके राष्ट्रिय कर्तव्य क्या हैं, इस विषयमें इस सूक्तने उपदेश दिया है । यहाँ ऊपर जो वाक्य उद्धृत किए हैं, उनमें अर्थकी सुबोधताके लिए शब्दोंके अर्थोंका पुरुषभूल्यय करके योत्नाया परिवर्तन जानभूत कर दिया है । यह बात संस्कृतशास्त्र पाठक स्वयं जान सकते हैं । इतना परिवर्तन इस प्रकारके स्पष्टीकरणमें आवश्यक ही होता है । इसलिए इस विषयमें कुछ न लिखकर अब क्षत्रियका व्यक्तिगत आचार भोग आदि कैसा रहना चाहिए इस विषयमें इस सूक्तका उपदेश देखते हैं—

भोग ।

१ सुवस्य मघोः मदाय विभ—घोमादि वनस्मृतिसे निचोके मधुर रसय पान हर्षके लिए कर । [मं० १]

इस विधानमें मधुर रसय पान करनेका उपदेश है । यही मधुरके प्राशन है । वनस्पतिमें सोम मुख्य है । इसका प्रहण करनेसे अन्य आरोग्य और हर्षवर्धक वनस्पतियों का प्रहण स्वयं हुआ है । इस सूक्तके छतम मन्त्रमें सोम का नाम है और यहाँ इस मंत्रसे संबंधित है । इस सूक्तमें इसके उल्लेख निम्न लिखित हैं—

२ सुवस्य मघोः नदरं पूणस्व । (मं० २)

३ सुवासः त्वा कुशीः आबिशाम्नु । [मं० ४]

४ सुवस्य सोमं त्रिकदकेषु अविभत् । (मं० ७)

इन मंत्र आयोगोंका भी यही आशय है । [२] सोम रससे पेठ भर दे । [३] सोम रस से दोनों कुक्षियों भर दे, [४] निचोटा सोम रस तीन बर्तनों द्वारा तीन स्थानोंमें बैठ कर दिनमें तीन बार पिओ । यह सोम मधुर रसिवाला, हर्ष और उत्साह वर्धक, मरुत्वको दूर करनेवाला, दीर्घ आयुष्य देनेवाला, सुदि बढानेवाला, और रोग बीजोंको दूरारसे हटाने वाला है ।

सोम और मद्य

वेद प्रणालीके अनभिन्न लीग सोम को शराब मानते हैं, वे इतनी भूल करते हैं, कि उससे अधिक भूल कोई भी कर नहीं सकता । घांभ, सुरा, चाकनी, आशव, अरिष्ट, मद्य और शराब ये शब्द समानार्थक नहीं हैं । मद्य और शराब ये शब्द समानार्थक हों गये हैं और सुरा शब्द भी उनमें संमिलित हुआ है, यह बात हमें पता है । इसलिये हम कहते हैं कि इन शब्दोंका आशय पाठक अवश्य स्मरण रखें -

१ सोम = सोम वन्रीका रस, जो दूध, मधु (चहद), मिश्री, मूले घान्यका आटा, दही आदि अनेक पदार्थोंके मिश्रणके साथ अच्छा स्वादिष्ट पेय बनाकर पीया जाता है और गौ आदि पशुओंको भी खिलाया जाता है। यह वनस्पतियोंका केवल रस होता है। इसके गुण ऊपर दिए हैं।

२ सुरा = किसी रसकी भाँप बना कर फिर उसका सातवां देकर रस बनाया जाय, तो उसका यह नाम है। (Distilled water) पानीकी भाँप बनाकर फिर उस भाँप का पानी बन जानेसे भी उस जलका यह नाम होता है, वृष्टिजल का भी यही नाम उस कारण ही है, क्योंकि भूमि परके जलकी भाँप होकर मेघ बनते हैं और उससे वृष्टि होती है। किसी भी रसकी इस प्रकार शुद्धि होती है। यह शुद्धि रीति है। आजकल इस रीतिसे शराब बनाते हैं, इसलिए इस नामकी खराबी हुई है, यह बात सामयिक है। वास्तव में संस्कृतका केवल सुरा शब्द उचितविधि से बनाये परिशुद्ध जल या रस का वाचक है।

३ बाणनी, अमरवाही = ये भी शब्द उक्त प्रकारके रसोंके या जलके वाचक हैं। इन पेयोंमें मादकता या दुर्गुण वास्तवमें नहीं है। परंतु आजकल इस रीतिसे शराब बनायी है इसलिए ये सब नाम सुरे अर्थमें आजकल प्रयुक्त हुए हैं। प्राचीन समयमें भी क्वचित् सुरे और क्वचित् अण्डे अर्थात् इनका उपयोग दिखाई देता है।

४—५ आसव और अरिष्ट = ये नाम औषधि पेयोंके होते हैं। इनमें कुछ सजावट होनेके कारण मय उत्पन्न होना अवरिहाय है, तथापि इनमें मद्यकी मात्रा प्रति सतक दो भागके शरीर होती है। इसलिए शराबमें इसकी गिनती नहीं होती। अग्नि शरकारने इनकी जांच करके निश्चय किया है, कि यह मद्य नहीं है। इसीलिए देखीवैष ये आसव तथा अरिष्ट तैयार कर सकते हैं, अन्यथा शरकारी प्रतिबंध बनके पीछे लग जाता।

६—७ मय और शराब मादक होनेसे निःशुद्ध सुरे हानिकारक पेय हैं। पाठक इन विवरणसे समझ गये होंगे कि सोममें दोषकी कल्पना अथवा मद्यकी कल्पना अरिष्टविद् भी नहीं हो सकती, दिनमें तीन बार रस निचोटा जाता है और बची समय आहुतियों देकर पीया जाता है। सवेरे, दोपहरकी और सायंकालको, रस निचोटना और पीना होता है, उसका वर्णन इस सूत्रके सप्तम मंत्रमें आनुका है। इसलिए जो लोग सोमरस को सुरा मानते हैं वे हैं। उक्त मत मद्यकी पुंर्दमें कहते हैं, ऐसा यदि किछने कहा तो वह अशुद्ध न होगा।

इस सूत्रमें क्षत्रियका भोजन वनस्पतिका मसुर रस है यह बात स्पष्टतासे कहा है, जो शाकाहारकी पुष्टि करनेवाली है।

जीवन संग्राम ।

वेदमें " महते रणाय " ये शब्द कारंवार आते हैं। " बड़ा युद्ध " चल रहा है, सावध रहकर अरना कर्तव्य करो, यह वेदका उपदेश जीवन संग्राममें बहनेवाले मनुष्य मात्रको मार्गदर्शक है। प्रत्येक मनुष्य सदा युद्धभूमिपर खड़ा है, किसी न किसी प्रकारके युद्धमें संमिलित हुआ है, उसकी इच्छा ही या न हो उसको युद्धमें रहना ही पड़ता है, फिर वह भागकर कहाँ जाय ? इस लिए उसको अपने युद्धका स्वरूप जानना चाहिए और उस संबंधसे उत्पन्न होनेवाला अपना कर्तव्य अवश्य करना चाहिए। अन्यथा उसका जन्म निरर्थक हो जायगा। चाहे वह आदिशाक्तियुद्ध करे या शिक्षावृत्तियुद्ध करे, युद्धके विना उसकी स्थिति नहीं है और इस युद्धमें विजय कमाने के विना उसका उन्नति नहीं है। यह ही सब मनुष्योंकी बात, क्षत्रिय की तो पूछना ही क्या है, उसका जीवन ही युद्ध रूप है उसको युद्ध तो आनिवार्य है।

इस प्रकार यह सूत्र क्षत्र घर्मेका उपदेश करता है। पाठक इसका मनन करनेके समय प्रथम श्लोकके २, १५, १९, २१, २८, २५, इन सूत्रोंकी भी ध्यानमें रखें।

(वहाँ प्रथम अनुवाक समाप्त हुआ)

ब्राह्मण धर्मका आदेश ।

(६)

(ऋषिः-शौनकः सम्पत्कामः । देवता-अग्निः)

(२) समास्त्वाम ऋतवो वर्षयन्तु संवत्सुरा ऋषयो यानि सत्या ।

सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ माहि प्रदिशुश्चतस्रः

॥ १ ॥

सं चेष्यस्वग्निं प्र चं वर्धयेममुच्चं तिष्ठ महते सौमगाय ।

मा ते रिपद्भुपसुत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते युशसः सन्तु मान्ये

॥ २ ॥

त्वामग्ने घृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवर्णने भवा नः ।

सुप्लुहाग्ने अभिमातिजिद्धं स्व गये जागृह्यप्रयुच्छन्

॥ ३ ॥

अर्थ—हे अग्ने ! (समाः ऋतवः संवत्सराः) मास ऋतु और वर्ष, (ऋषयः) ऋषि लोग तथा (यानि सत्या) जो सत्यधर्म हैं वे सब (या वर्षयन्तु) तुझे बढावें । (दिव्येन रोचनेन) दिव्य तेजसे (दीदिहि) उत्तम प्रकार प्रकाशित हो और [विश्वाः चतस्रः प्रादिदाः] सब चारों दिशाओं में [आ माहि] प्रकाशित हो ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (सं चेष्यस्व) उत्तम रीतिसे प्रज्वलित हो [च इमं प्र वर्धय] और इमको बहुत बढावो । (च महते सौमगाय उचिष्ठ) बड़े देवदेके लिये उठकर खडा रह । हे अग्ने ! (ते उपसृणुः) तेरे उपासक [मा रिपद्] नष्ट न हों । और (वे ब्रह्माणः) तेरे पास रहनेवाले ब्राह्मण (यशसः सन्तु) यशसे युक्त हों [मा भन्ये] दूसरे नहीं ॥ २ ॥

हे अग्ने ! [इमे ब्राह्मणाः (वा घृणते)] ये ब्राह्मण तेरा स्वीकार करते हैं । हे अग्ने ! (नः संवर्णने शिवाः भव) हमारे स्वीकार में तू शुभ हो । हे अग्ने ! [सुप्लुहा अभिमातिजित् अथ] वैदियोंका नाश करनेवाला तथा अभिमानीयोंकी जीतनेवाला हो, तथा [न—प्रयुच्छन्] मूल न करता हुआ (स्वे गये जागृह्य) अपने धर्ममें जागता रह ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे तेजस्वी प्रदा कुमार ! यहिने ऋतु और वर्ष अर्थात् काल, ऋषि लोग अर्थात् सत्यदर्शी विद्वान् और जो सब सत्यधर्म नियम हैं वे सब तुझे बढावें, इष्ट प्रकार दिव्य तेजसे युक्त होकर तू सब दिशाओंमें अपना प्रकाश दे ॥ १ ॥

तेजस्वी होकर तू इस सबकी वृद्धिगत कर और बड़ा सोमग्य अर्थात् ऐश्वर्य प्राप्त करनेको तैयारी करके उठकर खडा हो और तेरे कारण तेरे छाया दुर्दशाको कमी प्राप्त न हों, इतनाही नहीं परंतु तेने सम्बन्धमें आनेवाले ज्ञानी लोग यशसे युक्त बनें और ऐसा कमी न हो कि तेरे छाया तो दुर्दशामें जाय और तेरी मन्तीसे दूसरे लोग उत्पत्ति प्राप्त करें ॥ २ ॥

ये ज्ञानी लोग तेरा सम्मानके स्वाधार करते हैं, इसलिये तू शुभ विचारवाला हो । तेरे जो भी वैद हैं और जो तेरे साथ स्पर्धा करनेवाले हों, उनको जीत कर तू अपने बढ और कमी मूल न करते हुए अपने स्थानमें जागता रह ॥ ३ ॥

सूत्रेणाग्निं स्वेन सं रमस्व मित्रेणाग्निं मित्रघा यंतस्व ।

सजातानां मध्यमेष्टा राज्ञामग्ने विद्व्यो दीदिद्दीह

॥ ४ ॥

अति निहो अति सृषोऽत्यर्चिर्त्तारति द्विर्षः ।

विश्वा ह्यग्निं दुरिता तरं स्वमथास्मर्ष्यं सहवीरं रविं दाः

॥ ५ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (स्वेन क्षत्रेण) अपने द्वारा त्रेजसे (सं रमस्व) उराम प्रकारसे उरसाहित हो । हे अग्ने ! (मित्रेण मित्रघा यंतस्व) अपने मित्रके साथ मित्रकी शीतिले व्यवहार कर । हे अग्ने ! (सजातानां मध्यमे-स्थाः) सजातीयोंकी मंडलीमें मध्यस्थानमें बैठनेवाला होकर [राज्ञां वि-द्व्यः] क्षत्रियोंके बीचमें भी विशेष आदरसे बुलाने योग्य होकर [इह दीदिद्दीह] यहाँ प्रकाशित हो ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! [निहः अति] मारपीट करनेके भावका अतिक्रमण कर, [सृषः अति] हिंसक वृत्तियोंका अतिक्रमण कर, (अ-विष्टीः अति) पापी वृत्तियोंका अतिक्रमण कर, (द्विर्षः अति) द्वेष भावोंका अतिक्रमण कर । हे अग्ने ! (विश्वा दुरिता तरं) सब पापवृत्तियोंको पार कर । (अथ त्वं) और तू [अस्मर्ष्यं] हम सबके लिए [सहवीरं रविं दाः] वीर पुरुषोंके साथ रहनेवाला बन दे ॥ ५ ॥

आचार्य—अपना बल बढाकर सदा उत्साह धारण कर, मित्रके साथ मित्रके समान सोचा व्यवहार कर, अपनी जातीमें प्रमुख स्थानमें बैठनेका अधिकार प्राप्त कर, इतनाही नहीं परंतु राजा लोग भी सलाह पढनेके लिये तुम्हें आदर्श हलायें ऐसी तू अपनी योग्यता बढा और यहाँ तेजस्वी बन ॥ ४ ॥

मारपीट अथवा धातपातके भाव दूर कर, भासक या हिंसक वृत्ति हटा दे, पापपासनाओं को अपने मनसे हटा दे, द्वेष भावोंको समाप्त न कर, तारपयें सब हीन वृत्तियोंके परे जाकर अपने आपको पवित्र बनाओ, और हमारे लिये ऐसी वंशति काओ, कि जिसके साथ सदा पीरभाव होते हैं ॥ ५ ॥

अधिका स्वरूप ।

अथर्ववेद काण्ड १ सू० ७ की व्याख्याके प्रसंगमें 'अग्नि कौन है' इस प्रकरणमें अग्नि पद ब्राह्मण अर्थात् ज्ञानी पुरुष का वाचक है यह बात विशेष स्पष्ट की है। पाठक कृपा करके वह प्रकरण यहाँ अवश्य देखें। उस प्रकरणसे अधिका स्वरूप स्पष्ट होगा तत्पश्चात् अधिका वर्णन करते हुए इस सूक्तमें जो शब्द प्रयोग किये हैं उनका विचार देखिये—

हे अग्ने ! त्वं सजातानां मध्यमेष्टाः राज्ञां विद्व्यः इह दीदिद्दीह ॥ (मं० ४)

'हे अग्ने ! तू अपनी जातिमें मध्य स्थानमें बैठनेकी योग्यता धारण करनेवाला और राजा महाराजों द्वारा विशेष आदरसे बुलाने योग्य होकर यहाँ प्रकाशित हो ।'

यह वाक्य इस मंत्रमें या इस सूक्तमें प्रतिपादित अग्नि केवल भाग ही नहीं है, परंतु वह मनुष्यरूप है यह बात सिद्ध करता है। 'क्षत्रातिष्ठी समामें प्रमुख स्थानमें बैठनेवाला (सजातानां मध्यमेष्टाः) ये शब्द तो निःसंदेह उसका मनुष्य होना सिद्ध करते हैं। तथा इसी मंत्रके ' (राज्ञां विद्व्यः) राजाओं या क्षत्रियों द्वारा विशेष प्रकारसे बुलाने योग्य' ये शब्द उसका क्षत्रियजातिसे मित्र जातीय होना भी अंध मात्रसे सूचित करते हैं। क्षत्रिय जातिसे मित्र, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र और निषाद ये चार जातियाँ हैं। क्या कभी क्षत्रिय अपनेसे निचली जातीका सहसा वैधा समादर कर सकते हैं ? इस प्रश्न का मनन करनेसे यहाँ इसका संभव दीखता है, कि यहाँ जिसका वर्णन हुआ है वह ब्राह्मण वर्णका मनुष्य ही होगा। अर्थात् इस सूक्तका अग्नि शब्द ब्राह्मण वाचक है। यह बात अथर्ववेद प्रथम काण्ड सू० ७ की व्याख्याके प्रसंगमें बताया है और उसी बातकी सिद्धि इस सूक्तके इस वाक्य द्वारा होगी है। इस प्रकार यहाँका अग्नि शब्द ब्राह्मण का वाचक है, किंवा यह कहना अधिक संभव होगा, कि 'ब्राह्मण कुमार' का वाचक है। ब्राह्मण कुमार को इस सूक्त द्वारा बोध दिया है। वेदमें अग्नि देवताके सूक्तों द्वारा ब्राह्मणधर्म और इन्द्र देवताके

सूक्तोद्धारो सात्रियधर्म विशेषतया बताया जाता है, यह बात पाठकोंने इस समय तक कई बार देखी है, इधरलिदे अब इस विषयमें अधिक करनेकी आवश्यकता नहीं है। अब आगे शब्दका यह भाव ध्यानमें धारण करके इस सूक्तके वाक्य देखिये-

दीर्घ आयु ।

१ हे अन्न ! त्वांसमाः ऋतवः संवत्सराः च धर्षयन्तु-हे माहाय कुमार ! हे बालकों महिने ऋतु और वर्ष तेरा संवर्धन करे अर्थात् उत्तम दीर्घ आयुस्वये युक्त हो। योगादि साधनोंसे ऐसा यत्न कर कि तेरी आयु दिन के पिछे दिन, मास के पीछे मास, ऋतु के पीछे ऋतु और वर्षके पीछे वर्ष इस प्रकार बढ़ती रहे। (मं० १)

ज्ञान प्राप्ति ।

२ अथवाः त्वा धर्षयन्तु -अभिलोग विद्याके उपदेशसे तुझे बढावे। अर्थात् ऋषि प्रगल्भके अनुष्ठान अथयत्न करता हुआ तू ज्ञानी बन। [मं. १]

सत्यनिष्ठा ।

३ याहि सत्यानि तानि त्वा धर्षयन्तु-जो सब सत्य धर्म नियम हैं, वे सब तुझे बढावे। अर्थात् तू सत्य धर्मनिष्ठाका उत्तम प्रकारसे पालन कर और सत्यके बलसे बलवान् हो। सत्यपालनसे ही आत्मिक बल बढ़ता है। (मं० १)

अपने तेजका वर्धन ।

दिव्येन रोचनेन सद्दीदिदि-दिव्य तेजसे पहिले स्वयं प्रकाशमान हो। पूर्वोक्त तीनों उपदेशों द्वारा तीन बल बढ़ानेकी सूचना मिली है, (१) दीर्घ आयुष्य और निरोग शरीरसे शारीरिक बल, (२) ऋषि प्रगल्भके अथयत्नसे ज्ञानका बल और (३) सत्यपालनसे आत्मिक बलकी प्राप्ति होती है। इन तीनोंका मिल कर जो तेज होता है वह दिव्य तेज कहलाता है। यह दिव्य तेज सबसे प्रथम अपने अंदर बढ़ाना चाहिये, जिससे यह दिव्य तेज दूसरोंको देनेका अधिकार अपने अंदर आ सकता है। (मं० १)

तेजका प्रकार ।

५ विश्वाः सतयः प्रदिवाः आभादि- सब चारों दिशाएँ प्रकाशित करो। उक्त तीन तेजोंसे स्वयं युक्त होकर चारों दिशाओंमें रहनेवाले मनुष्योंको सज तेजसे तेजस्वी करो, अर्थात् ऐसे उपाय करो, कि जिससे चारों दिशाओंमें रहनेवाले मनुष्य सज तीन दिव्य तेजोंसे युक्त बनें। स्वयं तेजस्वी होनेके पश्चात् दूसरोंको प्रज्वलित करना आवश्यक है। अर्थात् स्वयं दीर्घायु और बलवान बनकर उसकी-मिदिके मागे दूसरोंको बताओ, स्वयं ज्ञानी बनकर दूसरोंको ज्ञानी करो और स्वयं सत्यनिष्ठासे आत्मिक शक्ति युक्त होकर दूसरोंमें आत्मिक बल बढ़ाओ। (मं० १)

३ सं इध्यस्व, इमं धर्षयन्तु-स्वयं प्रदीप्त हो और इधको भी बढाओ। पहिले स्वयं प्रदीप्त होते रहो और पश्चात् दूसरोंको प्रदीप्त करो। (मं० २)

ऐश्वर्य प्राप्ति ।

७ महते सौमगाय उवाच-बड़े ऐश्वर्यके लिये उठकर खड़ा रह, अर्थात् बड़े ऐश्वर्य प्राप्त करनेके लिए आवश्यक पुरस्कार प्रयत्न करनेके उद्देश्यसे अपने आपको सदा उत्साहित और सिद्ध रखो। [मं० २]

स्वपक्षियोंकी उन्नति ।

८ ते उपसत्तारः मा मिषन्-तेरा व्याघ्र करनेवाले मूरी अवस्थामें न गिरे। तेरा पक्ष लेनेवालोंकी, तेरे अनुगामी होकर कार्य करनेवालोंकी अवनति न हो। तू ऐसा यत्न कर कि जिससे तेरे अनुगामी दुर्गतिमें न प्राप्त हों। [मं० २]

९ ते ब्रह्माणः बदासः सन्तु, अन्ये मा-तेरे साथ रहनेवाले जानों जन यशस्वी हों, अन्य न हों। अर्थात् तेरे साथ रहनेवाले लोग यज्ञके मागी बनें, परंतु ऐसा कमी न हो कि तेरे साथ वाले लोग तेरी गूटोंके कारण आपत्तिमें पड़ें, और तेरी

गलतीके कारण तेरे प्रतिपत्नी हीं सुख भोगे । तैरी गलतीका नाम शत्रु न चठावै, अतः सावधानीसे अपना कार्य करते हुए स्वप-
सुखियोका दण्ड बडाओ । [मं० ३]

१० इने ब्राह्मणाः स्वां चणुते । नः संवरणे शिवः भव—ये ज्ञानी सुझे चुनते हैं, इन्हें चुनावमें तू सवके लिए कन्यापकारी
हो । तू सदा जनताका हित करनेवाला हो जिससे सब ज्ञानी लोग विद्वान् पूर्वक तेरा ही स्वीकार करें । जनताका हितकारी
होकर जनताका विश्वास संपादन कर । [मं० ३]

११ सपानदा भूमिमातिजित् भव—प्रतिपत्नीका पाराजय कर स्यात् तू जन विरोधियोंको अपने ऊपर आक्रमण करने
से दो । [मं० ३]

अपने धर्ममें जागना ।

१२ अशुभं स्वै गये जायुहि—मलजो न करता हुआ अपने धर्ममें जागना रह । अपना धर्म शरीर, धर्म, समाज,
जाती, राज्य इतनी बर्पादा तक विस्तृत है । हर एक धर्ममें जाग्रत रहना अत्यावश्यक है । धर्मका स्वामी जाग्रत न रहा तो
शत्रु धर्ममें सुखें और स्वामी को ही धर्मसे निकाल देंगे । इसलिए अपने धर्मका रक्षा करने के उद्देश्यसे धर्मके स्वामीको सदा
जाग्रते रहना चाहिए । [मं० ३]

उत्साहसे पुरुषार्थ ।

१३ स्वैन क्षत्रेण संरमस्व—अपने क्षात्र तेजसे उत्साह पूर्वक पुरुषार्थ आरंभ कर । शत्रुका प्रतिहार करनेका बल अपने
में बडाकर सब क्लेश अपने पुरुषार्थका आरंभ कर । [मं० ४]

मित्रभाव ।

१४ मित्रेण मित्रघात वदस्व—मित्रके साथ मित्रके समान व्यवहार कर । मित्रके साथ कपट न कर । [मं० ४]

१५ स्वजातानां मध्यमेष्ठाः भव—स्वजातियों के मध्यमें—अर्थात् प्रमुख स्थानमें बैठनेकी योग्यता प्राप्त कर । अर्थात्
स्वजातीमें तैरी योग्यता हीन समझी जावे । स्वजातीके लोग तेरा नाम आदर पूर्वक लें । [मं० ४]

१६ राज्ञां वि-हृष्यः दीदिदि—अज्ञियों अथवा राजाओंको समामे विशेष आदरसे बुलाने योग्य बन और प्रकाशित हो ।
अर्थात् केवल अपनी ज्ञाती में ही आदर पानेसे पर्याप्त कोन्दना हो तुझी ऐशान न समझ, परंतु राज्यका कार्यव्यवहार करनेवाले
कृत्रिय भी तुझे आदरसे बुलावे, इतनी योग्यता प्राप्त कर । [मं० ४]

चित्तवृत्तियोंका सुधार ।

१७ निहः स्वः अचिन्तीः द्विषः अनि उरु—सगडा करेकी क्रुति, हिंसाका भाव, पाप वासना और द्वेष करनेका स्वभाव
दूर कर । अर्थात् इन दुष्ट मनोमत्तोंको दूर कर और अपने आपसे इनसे दूर रख । [मं० ५]

१८ विद्या दुरिता उरु—स्व पाप भावोंको दूर कर । पाप विचारोंसे अपने आपको दूर रख । [मं० ५]

१९ त्वं सत्वीरं रविं भरमर्म्यं दाः—तू वीरभावोंसे युक्त धन हल सबको दे । अर्थात् हमें धन प्राप्त कर और साथ
साथ धनकी रक्षा करनेकी शक्ति भी उत्पन्न कर । हर एक मनुष्य धन कमाने और धनकी रक्षा करनेका बल भी बडावे,
अन्यथा तब बलके अभावमें प्राप्त किया हुआ धन प्राप्त नहीं रहेगा ।

इस सूक्तमें उर्ध्वोच वाक्य हैं । हर एक वाक्य का भाव ऊपर दिया है । प्रत्येक वाक्य का भाव इतना धरल है कि उर्ध्वोच
अधिक व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है । पाठक सोचाका मनन करेंगे तो उनको इस सूक्त का दिव्य उपदेश सत्काल
आनने आजायगा । इस सूक्त प्रत्येक वाक्य हृदयमें सदा जाग्रत रखने योग्य है ।

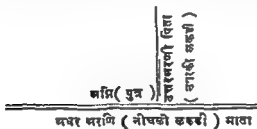
अन्योक्ति अलंकार ।

अग्निदा वर्णन या अग्निर्को प्रायणा करनेके विषये ब्रह्मण कुमारके उक्तिके आदेश किं अपूर्वं दंभये दिष्टं है, यह वेदकी
आलंछरिक्त वर्णन करनेकी शैली यहाँ पाठक आनसेदंभे : यहाँ अन्योक्ति अलंकार है । अग्निके उद्देश्यसे ब्रह्मण कुमारको उक्तिका
उपदेश दिया है ।

ज्ञानी मनुष्यके हृदयकी वेदीमें जो अग्नि जलते रहना चाहिये, वह इस सूक्तमें फटक देखें । यदि इस सूक्तके अग्नि परब्रह्म अन्वेषिका द्वारा बोध होनेवाला अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें न लाया, तो सूक्तका अर्थही ठीक रीतिसे ध्यानमें नहीं आसकता । और जो केवल आग के जलनेका भावही यहां समझेंगे, वे तो इस सूक्तसे योग्य लाभ कभी प्राप्त नहीं कर सकते ।

अराणियोंसे अग्नि ।

दो अराणियों—लकड़ियों—के संघर्षणसे अग्नि उत्पन्न होता है । यज्ञमें इसी प्रकार अग्नि उत्पन्न करते हैं । अलंकारसे [अषर अराणि] नीचे वाली लकड़ी स्त्रीरूप और [उत्तर अराणि] ऊपरवाली लकड़ी पुरुषरूप मानी जाती है और वज्र अराणियोंसे उत्पन्न होनेवाला अग्नि पुत्र रूप माना जाता है । इस अलंकार से देखा जाय तो अग्नि पुत्ररूप है ।



यदि इस सूक्तमें सामान्यतया बालकोंको अग्नि रूप माना जाय और उन सबको इस सूक्तसे वक्तव्य मार्ग बताया है ऐसा माना जाय, तो भी सामान्य रीतिसे चल सकता है । परंतु विशेष कर यहां का उपदेश ब्राह्मण कुमारके लिये है, इसके कारण पढ़ते बताये ही हैं । इस सूक्तके साथ प्रथम काण्डके ७ वें सूक्तका भी मनन कांजिये ।

[सूचना—यजुर्वेद अ० २७ में इस सूक्तके पांनों मंत्र १-३, ५, ६ इस क्रमसे आये हैं । कुछ धर्मशास्त्रोंका पाठ मिल है तथा-पि अर्थमें विशेष भिन्नता नहीं है, इस लिए उनका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है]

शाप को लौटा देना ।

(७)

(ऋषिः—अथर्वा । देवता—मैपज्यं, आयुः, वनस्पतिः)

अथर्वा देवजाता वीरुन्लपययोपनी ।	
आपो मलमिव प्राणैर्धीरसर्वान् मच्छुपयाँ अर्धि	॥ १ ॥
यथं सापत्नः शुपथो जाम्याः शुपर्यश्च यः ।	
ब्रह्मा यन्मन्पुतः शपात् सर्वं तन्नो अघस्पदम्	॥ २ ॥
दिवो मूलमवततं पृथिव्या अघ्युत्ततम् ।	
तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः ।	॥ ३ ॥
परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यदनम् ।	
अरातिनो मा वारीन्मा नस्तारिपुरभिमातयः	॥ ४ ॥

अर्थ—(अथ—द्विधा) पाप का दूष करनेवाली, देव—जाता) देवोंके द्वारा उत्पन्न हुई (शाप—पोपनी बीज्य) शाप को लू करनेवाली औपधि (सर्वां सापयान्) सब पापोंको (मत्) मुझसे (अधि—अ भवैशीत्) धो डालती है [शापः मलं इव] जल जैसा मलको धो डालता है ॥ १ ॥

[यः च सापत्नः शापयः] जो सपरनोका शाप, (यः च जाम्याः शापयः) और जो क्षी का दिया शाप है तथा (यत् ब्रह्मा मन्पुतः शपात्) और जो ब्रह्मज्ञानी क्रोधसे शाप देवे (यत् सर्वं यः अघस्पदं) वह सब हमारे नीचे हो आवे—॥ २ ॥

[दिवः मूलं अवततं] सुलोकसे मूल नीचे आया है और (पृथिव्याः अघ्ये उत्ततं) पृथिवीसे ऊपर को फैला है, (तेन सहस्रकाण्डेन) इस सहस्र काण्डवालेसे (नः विश्वतः परि पाहि) हमारी सब ओर से रक्षा कर ॥ ३ ॥

(मां परि पाहि) मेरी रक्षा कर, [मे प्रजां परि] मेरे सत्त्वानोंकी रक्षा कर, (यत् यनं परि पाहि) हमारा जो धन है उसकी रक्षा कर । (न—रातीः नः मा वारीन्) अनुदार शत्रु हमसे भागे न बडे और (जमिमातयः नः मा परिपुः) कुछ दुर्जन हमको पीछे न रहें ॥ ४ ॥

भाषार्थ—वह वनस्पति-पापवृत्तिको हटाने वाली, दिव्य भावोंको बटानेवाली, क्रोधसे शाप देनेकी प्रवृत्तिको कम करनेवाली है, यह औपधी शाप देनेके मालकी हमसे दूर करे जैसे जल मलको दूर करता है ॥ १ ॥

शापन भाईपैठे, बहिर्गोठे, औपुष्यसे अथवा विद्वान् मनुष्योंके क्रोधसे जो शाप दिया जाता है वह इससे दूर हो ॥ २ ॥ इस वनस्पति का मूल तो सुलोकसे उहाँ आया है जो पृथ्वीके ऊपर गया है; इस सहस्रों काण्डवाली वनस्पतिसे हमारा बचाव सब प्रकारसे होवे ॥ ३ ॥

मेरा, मेरी संतान का; तथा मेरे धन ऐश्वर्य आदिका इससे संरक्षण हो । हमारे शत्रु हम सबके आपे न बडे और हम उनके पीछे न रहें ॥ ४ ॥

शुभ्रारमित्तु श्रप्यो यः सुहार्तं तेन नः सह ।

चर्द्धुमन्त्रस्य दुर्हर्दिः पृथीरपि मृणीमसि

॥ ५ ॥

सर्प- (शपयः शशारं पयु) शपय शप्य देनेवाले के पास ही शपयत चलायावे। (यः सुहार्तं तेन सह नः) जो उत्तम हृदय वाला है उसके साथ हमारी मित्रता हो। (चर्द्धु-मन्त्रस्य दुर्हर्दिः) आंखोंसे बुरे इशारे देनेवाले दुष्ट मनुष्यकी (पृथोः मयि मृणीमसि) पसलियां ही हम लोच देते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ- शप देनेवाले के पास ही उसका शपय चला जाये। जो उत्तम हृदयवाला मनुष्य हो उसके हमारी मित्रता हो। जो आंखों से बुरे इशारे करके छिद्राद मन्त्रानेवाले दुष्ट हृदय के मनुष्य होते हैं वनछे हम दूर करते हैं ॥ ५ ॥

शपयका स्वरूपः। शपको सब जानते ही हैं। गाली देना, आक्रोश करते हुये दूसरेका नाश होनेकी बात कह देना, बुरे चर्चोंका उच्चार करना इत्यादि सब पृथित बातें इस शपमें आती हैं। जिस प्रकार साधारण ली पुत्रय पालियां देते हैं, उसी प्रकार विद्यावान् मनुष्य भी शोधके समय बुरा अन्ध रहते ही हैं। यह सब क्रोधकी लीला है। यदि क्रोध हट गया और उसके स्थानपर विचारी दांत स्वभाव आया तो शप देनेकी शक्ति हट जायगी। इसलिये इस सूत्रमें 'सहस्र काण्ड' नामक वनस्पति की प्रशंसा कहते हुए सूचित किया है कि, इस वनस्पतिके प्रयोगसे शप देनेकी क्रिया शक्ति का दूर किया जाय।

दूर्वाका उपयोग। सहस्रकाण्ड वनस्पति का प्रसिद्ध नाम 'दूर्वा' है। जहां पानी होता है, उस स्थानपर इसकी बहुत उत्पत्ति होती है। सहस्रकाण्डके वर्णाय जोरसे यह बघती रहती है। पित्तारोग, गुल्फरोग, मस्तिष्ककी अशान्ति, मस्तककी गर्मी, उन्मत्तदरोग आदिपर यह उत्तम है। इसके सेवनसे क्रोधकी उच्छल दांत होती है। इसका ॥३॥ जीरा और मिश्रीके साथ पीया जाता है, यदि गान्धे ताजे दूध के साथ पिया जाय। शिर संतप्त होनेके समय इसको पीसकर शिरपर बना लेप देनेसे भी मस्तक की गर्मी हट जाती है। इसलिये ह्येन सूत्रमें कहा है कि यह वनस्पति शप देनेकी शोधशक्तिके कम करती है अथवा इसके सेवन से क्रोध कम होता है।

प्रथम मंत्रमें इसके वर्णन के प्रयोगमें (अण-द्विष्टा) शपयका रूप करनेवाली यह शब्द स्पष्ट बता रहा है, कि यह दूर्वा शपशक्तिके भी रोकती है, अर्थात् अन्याय्य इन्द्रियोंके होनेवाले शप भी इसके सेवनसे कम हो सकने दें। मन ही दांत हो आंखोंसे अन्य इन्द्रियां भी उन्मत्त नहीं होती, यह तात्पर्य यहां लेना है। काम शोध आदि दंष्ट्र इसके सेवनसे कम होते हैं इसलिये संयम करनेकी इच्छा करनेवाले इसका सेवन करें। मन और इन्द्रियोंके मलिन भूतिके ॥३॥ दूर करती है। इसका सेवन करनेकी कई रीतियां हैं। इसका तैल या पून बनाकर शिरपर मला जाता है, रस अंदर पिया जाता है, लेप ऊपर दिया जाता है। इस प्रकार बंध शोध ॥३॥ विषयका अधिक विचार कर सकते हैं।

यह शप विचारके मनसे उठती है, मनकी नांत करती है, मनका मूल दूर कर देती है। पहिले और दूसरे मंत्रोंका यही आशय है। शप देना, गाली देना, आदि जो वाचाशी मलिनताके कारण दोष उत्पन्न होता है, वह इसके प्रयोगसे भेरे पाँवके नाँबे दब जाय, अर्थात् सब शोधका प्रभाव भेरे ऊपर न हो। वह द्वितीय मंत्रका आशय है। दूसरेने गाली दी, या शप दिया, तो भी उसका परिणाम भेरे मन पर न हो; और भेरे मनमें वैसा विचार कर्मी न आवे; वह आशय है पाँवके नाँबे शोधके दृश्यलेका। तीसरे मंत्रमें, यह वनस्पति स्वयंसे यहाँ आगई है और भूमिसे उठी है, वह पूर्योक्त प्रकार मनकी दांतिके स्वापना करने द्वारा भेरे रक्षा करे, यह प्रार्थना है।

चतुर्थ मंत्रमें अपनी, अपनी संतान की और अपने घनादि ऐश्वर्यका रक्षा इसके हो, यह प्रार्थना है। और शत्रु अपनेसे भागे न बडे, तथा हम शत्रुओंके पंथे न पडें, यह इच्छा प्रकट की गई है। इसका योद्धावा स्पष्टीकरण करना चाहिये।

मनोधिकारोंसे हानि।। काम शोध्यादि उल्लेखल होनेवाली मनोवृत्तियों यदि संयमको प्राप्त न हुईं तो वह अस्थिर आशय लाना लगी हैं और मनुष्यका नाश उसके परिवार के साथ करती हैं। एक ही काम के कारण कितने परिवार उत्पन्न हो गये हैं, और समदपर एक शोधके स्थापन न रहने से कितने कुटुंब मिश्रीमि मिले हैं। तथा अन्याय्य हानि मनोवृत्तियोंके कितने मनुष्यका नाश हो चुका है, इसका पाठक मनन करें, और मनमें समझें कि, मनकी अशुभचित शक्तियां मनुष्यका कैसा नाश करती

। यदि एक औपधि मनको शांत कर सकती है, तो उससे परिवार और भवदौलतके धाय मनुष्यकी रक्षा कैपी हो सकती है, यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है ।

इसके प्रयोगसे मन शांत होता है, उछलता नहीं, और मन सुविचार पूर्ण होनेसे मनुष्य आपत्तियोंसे बच जाता है । और उही कारण मनुष्य आपका, अपने संतान का और अपने ऐश्वर्यका बचाव कर सकता है ।

यदि मन पूर्ण सुविचारों हुआ, तो योग्य समयपर योग्य कर्तव्य करता हुआ मनुष्य आगे बढ जाता है और उच्छल होता जाता है । परंतु जो मनुष्य अज्ञात चक्र और प्रसुद्ध मनोवृत्तियोंवाला होता है वह स्थान स्थानपर प्रमाद करता है और विरता जाता है, इस प्रकार यह पीछे रहता है और इसके प्रतिपक्षी उसको पीछे रखते हुए आगे बढते जाते हैं । परंतु जो मनुष्य मनका संयम करता है, मनको उछलने नहीं देता, कामकायादियोंको मर्यादासे अधिक बहने नहीं देता, यह कर्तव्य करनेके समय गलती नहीं करता है; इस कारण सदा प्रतिपक्षियोंको पीछे ढालकर स्वयं उनके आगे बढता जाता है । चतुर्थ मंत्रका यह आशय पाठक देखें और स्व विचार करें ।

शापको वापस करना । पंचम मंत्रमें तीन उपदेश हैं और वेही इस सूक्तमें गहरी दृष्टिसे देखने योग्य हैं । संपूर्ण सूक्त में यही मंत्र अति उत्तम उपदेश दे रहा है । देखिये—

शाययः चासारं पतु ॥ (मं० ५)

‘ शाय शाय वेनेवाले के पास वापस जाये ।’ गाली गाली देनेवालेके पास वापस जाये ॥ यह किस रीतिसे वापस जाती है यह एक मानस शास्त्रके महान् शाक्तिसाली नियमका चमत्कार है । मन एक बड़ी शाक्तिसाली वस्तु है मनके उच्च नीच, भले या बुरे विचार उही वस्तुके न्यूनाधिक आन्दोलन या रूप हैं । ‘ ये कल्प जाहां मनुष्यने के लिए भेजे जाते हैं, वहाँ पहुंचकर यदि लीन न हुए या कृतकारी न हुए; तो उही वेगसे भेजनेवालेके पास वापस आते हैं और उही बलसे उही भेजनेवालेका नाश करते हैं ।’ यह मानस शाक्ति चमत्कार है और गाली या शाय देनेवालेको इस नियमका अवश्य मनन करना चाहिए । इसका विचार ऐसा है—

१ एक ‘ अ ’ मनुष्यने गाली, शाय, या पुष्टभाष ‘ क ’ का प्राथ करनेकी प्रबल इच्छासे ‘ क ’ मनुष्यके पास भेज दिये, २ यदि ‘ क ’ भी साधारण मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो उसके मनपर उनका परिणाम होता है उसका मन उच्छल हो जाता है और वह भी फिर ‘ अ ’ को गाली शाय या नाशक शब्द बोलने लगता है ।

इस प्रकार एक दूसरे के शाय परस्परके ऊपर जाने लगे, तो दोनोंके मन समानतया दूषित होते हैं और समान रीतिसे पतित भी होते हैं, परंतु—

३ यदि ‘ क ’ उस शांत मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो ‘ अ ’ से आये हुए नीच मनोवृत्तिके कंपों को अपने मनमें रहनेके लिए स्थान नहीं देता; इसलिए आचार न मिलनेके कारण वे विकारके माथ लौटकर वापस होते हैं और वे सीधे भेजनेवाले ‘ अ ’ के पास जाते हैं । और उसका मन उही आतिका होनेके कारण वे वहाँ स्थान पाते हैं ।

इस प्रकार कुविचार वापस जानेसे चमत्कार यह हो जाता है कि, प्रथमसे कुविचार भेजनेवाले ‘ अ ’ का दुःख नाश हो जाता है । पहिले जब कुविचार वरपत्र हुए उस समय उसका नाश हुआ ही था, और इस प्रकार उसके ही कुविचार बाहर स्थान न पाते हुए जब वापस होकर उसके पास पहुंचते हैं, तब फिर उसका और नाश होता है । एकही प्रकारके कुविचार दोबारा उसके मनमें आघात करनेके कारण उसका दुःखनाश हो जाता है । परंतु जो सज्जन शांतिसे अपने अंदर समता धारण करता हुआ, बाहरके कुविचार अपने मनमें आये तो भी स्थिर होने नहीं देता और उनके वापस भेजता है, वह अपना मन अधिकाधिक दृढ़ करता है । इसलिए ॥३॥ शांत मनुष्यका कल्याण होता है ।

पाठक इसके जान गये होंगे कि, बुरे विचारकी लहरें वापस भेजनेसे अपना उन्नति कैसी होती है और प्रतिपक्षी की दुःखों से ध्वनति किस कारण होती है । इस पंचम मंत्रमें इहां कारण कहा है कि, यदि किसीको अपनी उन्नति करनेकी अभिलाषा हो, तो उसको ‘ शाय वापस करनेकी विद्या ’ अवश्य जानना चाहिए । अपने मनको पवित्र और सुदृढ़ बनानेका यही उपाय है ।

पाठक इसका स्व विचार करें और शाय वापस करनेका बहुत अभ्यास करें; तथा स्वयं कभी किसी भी कारण किसीको शाय गाली

सदवा सुरे विचार न भवेत् । क्योंकि यदि वे पुत्रविचार वापस आगये तो प्रतिपत्तीकी अपेक्षा ने अपना ही अधिक करित करें। पाठको। मनःशान्तिदा यह नियम ठीक तरह ध्यानमें रक्षित । यह नियम इस पंचम मंत्रके प्रथम चरणसे सूचित हो गया है । जो इसको ठीक तरह समझेंगे, वेही अपने हृदयवाक्य साधन कर सकेंगे ।

योग्य मित्र । मित्रता किससे करनी चाहिये, इस विषयका उपदेश पंचम मंत्रके द्वितीय चरणमें दिया है, देखिये—

‘ यः सुहार्तं तेन नः सह । (मं० ५) ’

‘ जो उत्तम हृदयवाले हो उसके साथ हमारी मित्रता हो, ’ उत्तम हृदयवालेके साथ मित्रता करनेसे, उत्तम हृदय वालोंकी संगतिमें रहनेसे ही मन शान्त गंभीर और प्रत्यक्ष रहता है और पूर्वोक्त प्रकार साथ वापस भेजने से शांतिभी संगतिसे ही प्राप्त होती है। इसलिये अपने लिये ऐसे सुश्रौत मित्र चुनने चाहिये कि, जिनका हृदय मंगल विचारोंसे परिपूर्ण हो ।

दुष्ट हृदय । जो दुष्ट हृदयके मनुष्य होते हैं, उनकी संगतिसे प्रत्यागमन जानिया होना है । दुष्ट मनुष्य किसी किसी समय सुरे शान्त बोलते हैं, साथ देते हैं, गालियां मलोज देते हैं, हीन आत्मवाक्यके शत्रु चरित्र बोलते हैं, हाथसे अपना अंगुलिपुत्र सुरे भावसे इशारे करते हैं, तथा (बधुः संशयः) आसक्ति हालवाक्यसे ऐसे इशारे करते हैं, कि जिनका चरित्र बहुत बुरा होता है। वे आसक्ति इशारे किसी किसी समय इतने बुरे होते हैं, कि उनसे बड़े भयानक परिणाम भी होजाते हैं । इनका परिणाम नीचाप जैसा ही होता है। साथके साथ होनेसे जो परिणाम, होते हैं, वेही हीनके साथ होनेसे परिणाम होते हैं। इसलिये कोई मनुष्य स्वयं ऐसे दुष्ट हृदयके मान अपनेमें करने न दे। किसी दूसरे मनुष्यने ऐसे दुष्ट इशारे किये तो उसको सहायता न करे और हृष्टक प्रकारसे अपने साथको इन दुष्ट प्रतिपत्तियों से बचावे । आसक्ति इशारे भी सुरे भावसे कभी न करे । जो दुष्ट मनुष्य होंगे, उनकी संगतिमें कभी न रहे अच्छी संगतिमें ही रहें । इस विषयमें यह मंत्र मात्र देखिये—

अधुर्मन्मथं सुहार्तः पृथीरवि श्रणीमसि । (मं० ५)

‘ आसक्ति बुरे इशारे करनेवालेकी पीठ तोड़ देते हैं । ’ अर्थात् जो मनुष्य इस प्रकारके बुरे भाव प्रकट करता है उसका पीठा टाक के उसको दूर भगा देना चाहिये, अपने पास उसको रखना नहीं चाहिये, नाही उसकी संगतिमें स्वयं रहना चाहिये। यह बहुमूल्य उपदेश है, पाठक इसका स्मरण रखें । सुधी संगतिसे मनुष्य सुरा होता है और मली संगतिसे मला होता है। इस कारण कभी सुधी संगतिमें न फँसे परंतु मली संगतिमें ही सदा रहे और पूर्वोक्त प्रकार सुरे विचारों को अपने मनमें स्थान न दे और उनको अपने मनसे दूर करता रहे । ऐसा श्रेष्ठ व्यवहार करनेसे मनुष्य सदा सत्तिकाके मार्गसे चलता ही जाता रहेगा ।

सूक्तके दो विभाग । इस सूक्तके दो विभाग हैं। पहिले विभागमें पहिले चार मंत्र हैं, जिनमें औषधि प्रयोगसे मनको शीम रक्षित करनेकी सूचना दी है, यह वाप्य साधन है । दूसरे विभागमें अठेला पंचम मंत्र है । जिसमें सुश्रौतियों व ऊँचने और सुश्रौत धरनेका उपदेश है और साथ ही साथ अपने मनसे पतित्र रखने तथा साथे हुए सुरे विचारोंको उची क्षणमें वापस भेजनेका महत्त्व पूर्ण उपदेश दिया है। साथसे इस उपदेशका स्वरूप यह है । यदि इस सूक्तके उपदेश मन्त्र पूर्णक पाठक अपनादिगे तो उनकी मनः शान्तिका सुधार होगा इसमें कोई संदेहही नहीं है; पाठक इस सूक्तके साथ प्रथम चान्दके १०, ३१ और ३५ ये तीन सूक्त देखें ।

क्षेत्रिय रोग दूर करना ।

(८)

[ऋषिः-भृगुः आंगिरसः । देवता-यक्ष्मनाशुनम्]

उदंगातां भगवती विचृतौ नाम तारके । वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामघ्नं पाशमुत्तमम् ॥ १ ॥

अपेयं राज्यच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः । वीरुक्षेत्रियनाशन्यपं क्षेत्रियमुच्छतु ॥ २ ॥

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाज्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या ।

वीरुक्षेत्रियनाशन्यपं क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ३ ॥

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः । वीरुक्षेत्रियनाशन्यपं क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ४ ॥

नमः सनिस्त्रसाक्षेभ्यो नमः सन्देश्येभ्यः ।

नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुक्षेत्रियनाशन्यपं क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ५ ॥

अर्थ—(भगवती) वैष्णवी औषधि तथा (विचृतौ नाम) वेज बडनेवाली प्रसिद्ध (तारके) तारका नामक बनस्पतियां (उदगाता) उगी हैं । वे दोनों (क्षेत्रियस्य अघ्नं उत्तमं च पाशं) बंधसे चले जानेवाले रोगके उत्तम और अधम पाशको (वि मुञ्चताम्) खोल देंगे ॥ १ ॥

(इयं रात्री अथ उच्छतु) यह रात्री चली जावे और उसके साथ (जमि कुरवरीः अपोच्छन्तु) हिंसा करनेवाले दूर हों तथा [क्षेत्रियनाशनी वीरु] बंधसे चले जानेवाले रोगका नाश करनेवाली औषधी [क्षेत्रियं अथ उच्छतु] आनुवंशिक रोगको दूर करे ॥ २ ॥

(बभ्रोः कर्जुनकाण्डस्य ते यवस्य) भूरे और सेत रंगवाले यवके अन्नकी [पलाज्या] रक्षक शक्तिसे तथा (तिलस्य तिलपिञ्ज्या) तिलकी पिंडमन्त्रीसे आनुवंशिकरोग दूर करनेवाली यह बनस्पति क्षेत्रियरोगसे मुक्त करे ॥३॥

(वे लाङ्गलेभ्यः नमः) तेरे हलोकें छिपे सत्कार है, (ईषायुगेभ्यः नमः) हलकी लकड़ीके छिपे सत्कार है ॥ ४ ॥

(सनिस्त्रसाक्षेभ्यः नमः) जल प्रवाह चकाने वाले अन्नका सत्कार, (सन्देश्येभ्यः नमः) संदेश देनेवाले का सत्कार, (क्षेत्रस्य पतये नमः) क्षेत्रके स्वामीका सत्कार हो । (क्षेत्रियनाशनी क्षेत्रियं अथ उच्छतु) आनुवंशिक रोगको हटानेवाली औषधि आनुवंशिक रोगको हटा देवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—दो प्रकारकी वैष्णवी और दो प्रकारकी तारका ये चारों औषधियां काष्ठिको बडनेवाली हैं, जो भूमिपर उगती हैं । ये चारों आनुवंशिक रोगको दूर करें ॥ १ ॥

रात्री चली जाती है, तो उसके साथ हिंसक प्राणी भी चले जाते हैं, इसी प्रकार यह औषधी आनुवंशिक रोगको उसके मूल कारणोंके साथ दूर करे ॥ २ ॥

भूरे और सेत रंगवाले जौ के अन्नके साथ तिलोंकी मंत्रियोंके तिलोंके सेवनसे यह औषधि आनुवंशिक रोगको हटा देती है ॥३॥

हल और लकड़ीके अन्नमें जिससे मूँढीक की जाती है, उसके पूर्वक बनस्पतियां तैयार होती हैं, इध लिप उनका प्रयोग करना योग्य है ॥ ४ ॥

जिसके खेतमें पूर्वक बनस्पतियां उगाई जाती हैं, जो उनको जल देना है, अथवा जिस वंत्रसे पानी दिया जाता है, तथा जो इस बनस्पतिका यह संदेश जानता तक पहुँचता है, उन सबकी प्रशंसा करना योग्य है । यह बनस्पति आनुवंशिक रोगसे मनुष्यको बचावे ॥ ५ ॥

क्षेत्रिय रोग ।

जो रोग मातापिताके शरीरसे अथवा इनके भी पूर्वजोंके शरीरसे चला जाता है, उस आनुवंशिक रोगको क्षेत्रिय कहते हैं। वैद्यशास्त्रमें क्षेत्रिय रोगको प्रायः असाध्य कहा जाता है। क्षेत्रिय रोग प्रायः सुसाध्य नहीं होता; इसलिए रोगी माता पिताओंको सन्तानोत्पत्ति का कर्म करना उचित नहीं है। प्रथमतः ऐसे व्यवहार करना चाहिये कि, जिनसे रोग उत्पन्न हो, खानपान आदि आरोग्य साधक हो होना चाहिए। जो नीरोग होंगे उनको ही संगानोत्पत्ति करनेका अधिकार है। रोगी मातापिता संतान उत्पन्न करते हैं और अपने वंशजोंको क्षेत्रियरोगके वशमें बाल देते हैं। ऐसे असाध्य आनुवंशिक रोगोंको विधिवत् विधि इस सूत्रमें बताई है, इसलिए यह सूत्र विशेष उपयोगी है।

दो औषधियां ।

‘ भगवती और तारका ’ ये दो औषधियां हैं जो शरीरकी कण्ठि बढाती हैं और क्षेत्रिय रोगको दूर करती हैं, इन दो औषधियोंकी खोज वैद्योंको करना चाहिए—

१ भगवती—इसको वैष्णवी, लघु सातावरी, तुलसी, अथरगिता, विष्णुकान्ता कहा जाता है, तमर—

२ तारका—इस औषधिको देवठाकवृक्ष, और इन्द्रवारुणों, कहा जाता है। इसका अर्थ पत्रझार और मोठी भी है।

शब्दोंके अर्थ जानने मात्रसे इस औषधकी छिद्रि नहीं हो सकती और बौद्धों द्वारा शब्दार्थ करने मात्रसे ही औषध नहीं बन सकता। यह विशेष महत्वका विषय है और ये किंचि वनस्पतिके वाचक नाम नहीं हैं, इत्यत्र निश्चय बुद्धिपूर्वक वैद्योंकी करना चाहिए और इनके उपयोग की रीति भी निश्चित रूपसे करना उनके ही अधिकारमें है। “ भगवती और तारके ” ये औषधी वाचक दोनों शब्द यहाँ द्विवचनी हैं, इससे बोध होता है कि, इस एक एक नामसे दो दो वनस्पतियां लेना है, इस प्रकार इन दो नामोंसे चार वनस्पतियां होती हैं, जो क्षेत्रियरोगको दूर करती हैं और शरीरकी कण्ठि उत्पन्न करती हैं अर्थात् क्षेत्रिय रोगको जड़से उखाड़ देती हैं। यह प्रथम मंत्रका स्पष्ट तात्पर्य है। (मं० १)

दूसरे मंत्रमें कहा है कि, जिस प्रकार रामी जाने और दिन शुक्र होनेसे हिंसक प्राणी स्वयं कम होते हैं उसी प्रकार इस औषधीके प्रयोगसे क्षेत्रिय रोग जड़से उखाड़ जाता है। (मं० २)

तीसरे मंत्रमें इस औषधिके प्रयोग दिनोंमें करने योग्य पद्य भोजन का उपदेश दिया है। जिस जीके शब्द मूरे और श्वेत वर्णवाले होते हैं उस जौड़ा पेष बनाना और उसमें तिलोंकी मंत्ररीसे प्रक्षिप्त किये ताजे तिल भी डालना। अर्थात् उक्त प्रकार के जौड़ा पेष उक्त तिलोंके साथ बनाना। यही भोजन इस चिकित्साके प्रसंग में विहित है। इस पद्यके साथ सेवन किया हुआ पूर्वोक्त औषध क्षेत्रिय रोगसे मुक्त करता है यह सूत्रका तात्पर्य है। (मंत्र ३)

चतुर्थ और पंचम मंत्रमें इन पूर्वोक्त औषधियोंको तथा इस पद्य अथवा उत्पन्न करनेवाले, किद्यान, इस श्वेतका चतुर्थ पद्यपत्तिका पानी देनेवाले, इस श्वेतके लिये हस्त चालनेवाले, हस्त के समान ठीक करनेवाले तथा इस औषध और पद्यका संश्लेष क्षेत्रिय रोगसे रोगी हुए मनुष्यों तक पहुँचाने वालोंका आचार दिया है। यदि इस पद्यसे और इन औषधियोंसे आनुवंशिक रोग सबमुच दूर होते हों, तो इन सबका योग्य आदर करना अत्यंत आवश्यक है। आज कल तो ये लोग विशेषही आदर करने योग्य हैं। (मं० ४-५)

शामी वेष इन औषधियोंका और इस पद्यका निश्चय करें और इसकी योग्य विधि निश्चित करके आनुवंशिक अटपट आस्थाप समझें हुए बीमारोंको रोम मुक्त करें।

सन्धिवातको दूर करना ।

(९)

[ऋषिः-भृगुः अक्षिराः । देवता-वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम् ।]

दर्शयुक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैर्न जग्राह पर्वसु ।

अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुक्षय

॥ १ ॥

आगादुदंगादुयं जीवानां व्रातमपर्यगात् । अभूद् पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः ॥ २ ॥

अर्धावीरर्भ्यगादुयमधि जीवपुरा अंगत् । शतं ह्यस्य भिपर्जः सुहस्रमुत वीरुषः ॥ ३ ॥

देवास्ते चीतिर्मविदन्ब्रह्माणं उत वीरुषः । चीतिं ते विषे देवा अविदन्भूम्यामधि ॥ ४ ॥

पर्य-हे (दवा—दुध) दस वृक्ष ! (रक्षसः ग्राह्याः) राक्षसी बकहनेवाली गठिमारोग की पीडासे (इमं मुञ्च) मुझे मुक्त करे, (एष एनं पर्वसु जग्राह) जिस रोगने इसको लोहोंमें पकट रखा है । हे (वनस्पते) भौवधि ! (एनं जीवानां लोकं मुक्षय) इसको जीवित लोगोंके स्थानमें जानेयोग्य ऊपर उठा ॥ १ ॥

(अर्थ) यह मनुष्य (जीवानां व्रातं) जीवित लोगों के समूहमें (अगात्, आगात्, उदगात्) आया, आग्रहंवा, बढ़कर आया है । अब यह (पुत्राणां पिता) पुत्रोंका पिता और (नृणां भगवत्तमः) मनुष्योंमें अत्यंत भाग्यवान् (अभूत् च) बना है ॥ २ ॥

(अर्थ) इतने (मधीतिः अर्भ्यगात्) प्राप्त करने योग्य पदार्थ प्राप्त किए हैं । और (जीवपुराः अधि अंगत्) धीबोंकी संपूर्ण आवश्यकतामें भी प्राप्त की हैं । [हि] क्योंकि (अत्य शतं विषयः) इसके सेकड़ों विष हैं और (उत सहस्रं वीरुषः) हजारों भौवध हैं ॥ ३ ॥

[देवाः ब्रह्म णः उत वीरुषः] देव ब्राह्मण और वनस्पतियां [ते चीतिं अविदन्] तेरे आदान संदान आदिको जानती हैं; [विषे देवाः] सब देव (भूम्यां अधि) भूमिरीके ऊपर (ते चीतिं अविदन्) तेरे आदान संदान को जानते हैं ॥ ४ ॥

आधायं—दर्शयुक्ष नामक वनस्पति गठिवा रोगको दूर करती है । यह गठिवा रोग संघियोंको जकट रक्ता है जिसे मनुष्य चलाकर नहीं सकता । इसकी चिकित्सा दधनुषसे की जाय तो वह रोगी शीघ्र आरोग्य प्राप्त करके अन्य जीवित मनुष्योंकी तरह अपने व्यवहार कर सकता है ॥ १ ॥

यह आरोग्य प्राप्त करके लोकसमाजोंमें जाकर सार्वजनिक कार्य व्यवहार करता है, घरमें अपने बालबच्चोंके संबंधके कर्तव्य करता है और मनुष्योंमें अत्यंत भाग्यशाली भी बन सकता है ॥ २ ॥

यह नीरोग बनकर सब प्राप्यव्य पदार्थ प्राप्त कर सकता है, बाँवोंकी जो जो आवश्यकताएं होती हैं उनको प्राप्त कर सकता है । यह रोग कोई अघाय्य नहीं है क्योंकि इसके चिकित्सक सेकड़ों हैं और हजारों औषधियां भी हैं ॥ ३ ॥

इसके अनेक औषधियां तो पुष्पीपर ही हैं, उनको कैसे लेना और उनका प्रयोग कैसे करना यह सब दिग्मगुणधर्मोधि युक्त ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण बंध जानते हैं ॥ ४ ॥

यश्चकार स निष्कारत् स एव सुभिपक्तमः ।

स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवांश्चिपजा शुचिः

॥ ५ ॥

अर्थ— [यः चकार स निष्कारत्] जो करता रहता है वही निःशेष करता है और वही (सु-भिपक्-तमः) सब से उत्तम भेष होता है । (स एव शुचिः) वही शुद्ध वैद्य (भिपजा) अन्य वैद्यसे विचारणा करके [ते भिपजानि कृणवत्] तेरे छिद्र औषधों से कराया ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो यह चिकित्साका कार्य करता रहता है वही इसको प्रवीणतासे निभा सकता है। बारंबार चिकित्सा करते रहनेसे ही जो प्रारंभमें साधारणसा वैद्य होता है, वही श्रेष्ठ पुनवन्तरी बन सकता है। ऐसा श्रेष्ठ पुनवन्तरी अन्य वैद्योंकी सम्मतिसे रोगीकी चिकित्सा उत्तम प्रकारसे कर सकता है ॥ ५ ॥

संधिवात ।

वेदमें संधिवात रोगका नाम " प्राही " है क्योंकि यह (पंचसु जग्राह) पशुमें किया संधिस्थानोंमें जकड़ कर रहता है, हिलने डुलने नहीं देता। संधिवातकी हलचल बंद होजाती है। " रक्षसू " अथवा पिताचये भी इसके नाम हैं। ५ नाम रखके साथ इस रोगका संबंध बताते हैं क्योंकि ये नाम रुधिरमिश्र अर्थात् जिनसे रखके साथ प्रेम है, ऐसीके वाचक हैं। इत्येव ' रक्षः प्राही ' का अर्थ रक्षका भिगाव होनेवाला संधिवात है।

दशवृक्ष ।

उक्त संधिवातकी चिकित्सा दशवृक्षसे की जाती है। ' दशवृक्ष ' नामके वैद्य प्रथममें दश औषधियां प्रसिद्ध हैं। वातरोग मायाक होनेके विषयमें उनको बड़ी प्रसिद्धि है। संभव है कि ये ही दशवृक्ष यहाँ अपेक्षित हैं। इन दशवृक्षोंका तैल, घृत, कषाय, आसव, अरिष्ट आदि भी बनाया जाता है जो वातरोगको दूर करनेमें प्रसिद्ध है।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें " मुख " किया है, इस " मुख " भावसे एक ' मोच ' शब्द बनता है जो ' सोहिष्यना ' या सुहेना नामक औषध रोगान्जन वृक्षका वाचक है। यह वृक्षभी वात दोष दूर करनेवाला है। इस वृक्षको लंबी छेग आती है जो साग आदिमें उपयोगी होती है। इस सोहिष्यना वृक्षकी अंतस्त्वचा यदि जकड़े हुए संधिपर बांधी जाय तो दोषाचार घंटोंके अंदर जकड़े हुए संधि छुल जाते हैं, यह अनुभवकी बात है। अन्य औषधियों से जो संधिरोग महिनौतक दूर नहीं होता वह इस अंतस्त्वचासे कई घंटोंमें दूर होता है। रोगीको घण्टा दोपण्टे यां बार घण्टेतक कष्ट सहन करने पड़ते हैं, क्योंकि यह अंतस्त्वचा जोड़ोपर बांधनेसे कुछ समयके बाद उस स्थानपर बड़ी गर्मी या जलन पैदा होती है। दोषाचार पण्टे यह कष्ट सहनेपर संधिस्थानके सब दोष दूर होते हैं। यही मंत्रमें " मुख " शब्द है और वृक्षका नाम संशुद्धमें ' मोच ' है, इत्येविये यह बात यहाँ कही है। जो पाठक स्वयं वैद्य हों वे इस बातका अधिक विचार करें। हमने केवल दशवृक्ष अनुभवही देला है, इसका छात्रिय तथैव हमें ज्ञात नहीं है।

इस प्रथम मंत्रके उत्तरार्थमें आगे जाकर कहा है कि ' इस वनस्पतिले सन्धिवातसे जकड़ा हुआ रोगी नीरोगी लोगोंके समूहमें आता है और नीरोगी लोगोंके समान अपने कर्तव्य करने लगता है । (मं १)

मंत्र दो और तीन में कहा है कि इस औषधिते मनुष्य नीरोगी होकर लोकसाममें आता है और परके कार्य में लगे रहता है। अर्थात् वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्य कर सकता है। सब मानवों कर्तव्य करनेमें योग्य होता है। इन मंत्रोंकी भाषा देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह चिकित्सा अति शीघ्र गुणकारी है। जो अभी बिस्तरपर जकड़कर पड़ा है वही रोगी कुछ घण्टोंके बाद मनुष्यसमामाजमें जाकर कार्य करने लगता है। पहिले तीन मंत्रोंका सूक्ष्म रीतिसे विचार करने पर ऐसा आशय प्रकट होता है, इस शीघ्रताके दर्शक शब्द प्रयोग दिव्योय मंत्रमें पाठक अवश्य देखें—

अथं संधिवातं प्रावं अप्यवात् ।

भागात्, बदगात्, ४ (मं २)

“ यह जानोके समूहमें गया, पहुँचा, सठकर खडा होकर गया ! ” अपने पाँवसे गया अर्थात् जो वडा बिस्तरपर अकड़ा पडा या बडी इतनी खीझतासे मनुष्य समूहमें घूम रहा है ! ! यह आश्वयै व्यक्त करनेके लिये एकही व्याख्यकी तीन क्रियाएँ (आगाव, अप्यगाव, उदगाव) प्रयुक्त की हैं । इससे यह चिकित्सा औद्योगिकारी है ऐसा स्पष्ट व्यक्त होता है ।

इस चिकित्साधी औषधियें सहस्रो हैं और इसके चिकित्सेक भी सैकड़ों हैं (मं० ३) यह मूर्तीय मंत्रका कथन बता रहा है कि यह सुघ्राय चिकित्सा है । असाध्य नहीं है । ऊपर ओ ‘ मोच ’ वृक्षसे चिकित्सा बताया है वह प्रायः वहकि प्राणीय भी जानते हैं और करते हैं इससे कुछ घण्टीमें आरोग्य होता है ।

ये वृक्ष पृथ्वीपर बहुत हैं और उनको लाना और उनका प्रयोग करना (विधेदेवाः देवाः ब्राह्मणाः) सब भूदेव ब्राह्मण जानते हैं । अथवा ब्राह्मण तथा अन्य लोग भी जानते हैं । इसमें ‘ चीति ’ शब्द (आदान संवाज) लेना और प्रयोग करना यह भाव बता रहा है किंवा (आदान—संवरण) अर्थात् औषधका उपयोग करना और औषधके दुपरिणामोंको दूर करना, यह सब वैद्य जानते हैं । (मं० ४)

उत्तम वैद्य ।

पंचम मंत्रमें उत्तम वैद्य कैसे बनते हैं इस विषयमें कहा है वह बहुत मनन करने योग्य है ।—

यः चकार, सः निष्कारत्, स एव सुमिदक्वमः ॥ (मं० ५)

‘ ओ करता रहता है वही निःशेष कार्य करता है और वही सबसे श्रेष्ठ चिकित्सक होता है ॥ ’

जो कार्य करता रहता है वही भागे आकर उत्तम प्रवीण बनता है । इस प्रकार अनुभव सेनेवाला ही भागे उत्तमोत्तम वैद्य बन जाता है ।

प्रवीणताकी प्राप्ति ।

प्रवीणता की प्राप्ति करनेका साधन इस मंत्रमें वेदने बताया है । किसी भी बातमें प्रवीणता संपादन करना हो तो उसका सपाय यही है कि—

यः चकार, सः निष्कारत् । (मं० ५)

‘ ओ सदा कार्य करता रहता है वही परिश्रमी पुरुष उस कार्यको निःशेष करनेकी योग्यता अपनेमें ला सकता है । ’ हम भी अनुभवमें यही देखते हैं, जो गानविद्यामें परिश्रम करते हैं वे मयइन्दा बन जाते हैं, जो चित्रकारीमें दक्षिण होकर परिश्रम करते हैं वे कुशलचित्रकार होते हैं, इसी प्रकार अन्यत्र कारीगरोंमें प्रवीण बनेनेकी बात हो । एकत्रय्य नामक एक मील जातिका कुमार या उसकी इच्छा क्षात्रविद्या प्राप्त करनेकी थी, औरव पाण्डवोंकी पाठशालामें उसको विद्या सिखाई नहीं गई, परंतु उसने प्रतिदिन आविर्भात रीतिसे अम्बिका काके सख्यी अपने दृढ निश्चय पूर्वक किये हुए परिश्रमसे ही क्षात्र विद्या प्राप्त की । यह बात भी इस नियमके अनुकूल ही सिद्ध हुई है । यह कथा महाभारतमें आदिपर्वमें पाठक देख सकते हैं ।

इसी नियमका जो उदाहण पालन करेंगे वेही हरएक विद्यामें प्रवीण बन सकने हैं । वहां चिकित्साका विषय है इसलिये इसकी प्रवीणता भी इसीमें कार्य करनेसे ॥ प्राप्ति होती है । बहुत अनुभवसे ज्ञानी बना हुआ वैद्यकी विशेष श्रेष्ठ समझा जाता है, अन्य अनुभवही वैद्य रतना श्रेष्ठ समझा नहीं जाता, इसका कारण भी यही है ।

कर्म करनेसे ही सबको श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होती है यह नियम सर्वत्र एकछा लगता है ।

इस सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें ‘ ब्राह्मणः ’ पद है । यह ब्राह्मणोंका वाचक है । इससे पता लगता है कि चिकित्साका यह व्यवसाय ब्राह्मणोंके व्यवसायोंमें संमिलित है । वेदमें अन्यत्र ‘ विप्रः स उच्यते मिषकू (वा० यजु० अ० १२।८०) ’ कहा है, इसमें भी ‘ वह विप्र वैद्य कहल्यता है, ’ यह भाव है । वहकि ‘ विप्र ’ शब्दके साथ इस मंत्रके ‘ ब्राह्मणः ’ शब्दकी संगति लगा-नेसे स्पष्ट हो जाता है, कि ब्राह्मणोंके व्यवसायोंमें वैद्यकिया संमिलित है । आंगिरसोंके वैद्य विद्यामें प्रवीणताके चमत्कार प्रसिद्ध ही हैं । इन सबको देखनेसे इस विषयमें संदेह नहीं हो सकता ।

यह सूक्त ‘ तनम-नाशन-यग ’ का सूक्त है । इस लिये रोगनिवारक अन्य सूक्तोंके साथ इसका अध्ययन पाठक करें ।

दुर्गतिसे वचनेका उपाय ।

(१०)

(ऋषिः-भृगुः अङ्गिराः । देवतः-निर्ऋतिः, धावापृथिवी, नानादेवताः)

क्षेत्रियाञ्च निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वर्कणस्य पाशात् ।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते धावापृथिवी तुभे स्ताम् ॥ १ ॥

शं ते अग्निः सुहाङ्गिरस्तु शं सोमः सहौषधीभिः ।

एवाहं त्वां क्षेत्रियाञ्चिर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चा० ॥ २ ॥

शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धान्छं तं भवन्तु प्रदिश्यतस्तः । एवाहं० ॥ ३ ॥

इमा या देवीः प्रदिस्यतस्तो वार्तपत्नीरमि स्यो विचष्टे । एवाहं० ॥ ४ ॥

तास्तु त्वान्तर्भूरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः । एवाहं० ॥ ५ ॥

अर्थ— (त्वा) तुझको (क्षेत्रियात्) आनुवंशिक रोगसे, (निर्ऋत्याः) कष्टोंसे, (जामि—शंसाद्) संबंधियोंके कारण उत्पन्न होनेवाले कष्टोंसे, (द्रुहः) मोहसे, (वर्कणस्य पाशात्) बरकके पाशसे छुड़ाता हूँ । [त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि] तुझे ब्रह्मसे निर्दोष करता हूँ, (तुभे धावा—पृथिवी ते शिवे स्ताम्) दोनों सुकीक और पृथ्वी कोक तेरे लिए कल्याणकारी हों ॥ १ ॥

(ते अग्निः सह अग्निः शं भवतु) तेरे लिए सह जलके साथ अग्नि कल्याणकारी हो । तथा (औषधीभिः सह सोमः शं) औषधियोंके साथ सोम तेरे लिए सुखदायी हो, (एव अहं त्वा क्षेत्रियात्...मुञ्चामि) इस प्रकार ही मैं तुझको क्षेत्रिय रोगसे..... छुड़ाता हूँ । ० ॥ २ ॥

(अन्तरिक्षे वाताः) अन्तरिक्षमें संचार करनेवाला वायु (ते वयः धां धातु) तेरेलिए बहुतकुल कल्याण देवे । तथा [अन्तरिक्षे वाताः ते धां क्वचस्यु] चारों दिशाओंमें तेरे लिए कल्याणकारी हों । (एव अहं.....) इस प्रकार मैं तुझको बचाता हूँ । ० ॥ ३ ॥

(इमाः या देवीः अतस्तः प्रदिशाः) ये दिव्य चारों उपदिशाएँ जो (वात-परमोः) वायुकी रक्षा करती हैं, वे तथा (स्योः अग्निविचष्टे) जो स्यं चारों ओर देसता है वह तुझको कल्याणकारी होवे (एव अहं.....) इस रीतिसे मैं..... बचाता हूँ । ० ॥ ४ ॥

(तास्तु त्वा) उनमें तुझको (अन्तरिक्षे अन्तः दधामि) मैं पृथ्वावस्थाके अंदर धारण करता हूँ । तेरे पास से (यक्ष्मः निर्ऋतिः पराचैः प्र यक्षु) अश्वरोग तथा सच कष्ट जोधे मुंह करके दूर चले जाय (एव अहं....) इस प्रकार मैं..... तुम्हरे बचाता हूँ । ० ॥ ५ ॥

भावार्थ— आनुवंशिक रोग, क्षयपति, कष्ट, फैलनेवाले रोग, मोहसे होनेवाले कष्ट, ईश्वरीय नियम तोड़नेसे होनेवाले बंधन आदि सब दुर्गतिरोगोंसे निर्दोष होकर अश्वर बनेका एकमात्र उपाय ज्ञान ही है, दूसरा उपाय नहीं है ॥ १ ॥

इस शाल से ही सुलाक, अन्तरिक्षलोक और पृथ्वी लोक के अंतर्गत चंपूले पदार्थ अनार्य जल, अग्नि, औषधीय, सोम, वायु, सब दिशाओंमें रहने वाले सब पदार्थ, स्यं आदि सब देव दितकारक और सुखवर्धक होते हैं, आरोग्य बढाकर व्याधियोंसे होनेवाले कष्टोंको दूर करते हैं ॥ २-४ ॥

अमुं कथा यस्माद् दुरितादवघाद् द्रुहः पाशाद् ब्राह्मणोर्देमुकथाः। एवाहं०।०॥ ६ ॥

अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूमिद्दे सुकृतस्य लोके । एवाहं०।० ॥ ७ ॥

स्यंमृतं तमसो ब्राह्मण आर्षिं देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः ।

एवाहं त्वां क्षेत्रियाभिर्श्रित्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।

अनागमं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते धावांपृथिवी त्मे स्ताम् ॥ ८ ॥

अर्थ—(यस्माद्) क्षय रोगसे, (दुरिताद्) पापसे, (अवघाद्) निन्दनीय कर्मसे, (द्रुहः पाशाद्) मोहके बंधनसे (ब्राह्मणः) जड़हने वाले भ्रांतिरोगसे (अमुकथाः) सुकृत हुआ है, (उद् अमुकथाः) ए छूट चुका है । [एव अहं...] ऐसे ही मैंतुम्हें छुड़ाता हूँ । ० ६ ॥

[अ-राति अहाः] कृपणताको तुने छोडा है, [स्योनं भविदः] सुकृतको तुने पाया है । (अपि सुकृतस्य मग्ने लोके अद्देः) और भी पुण्यकारक कामेन्द्रादी लोके तू आया है । [एव अहं.....] ऐसे ही मैं.....तुम्हें बचाता हूँ । ० ७ ॥

(देवाः) देवोंने [तमसः ब्राह्मणः] भ्रंशकारकी पकड़से तथा [एतसः अपि मुच्यन्तः] पापसे मुक्त करते हुए (अर्धं स्यं निः असृजन्) सब स्वरूपी सूर्यको प्रकट किया है, (एव अहं...) इसी प्रकार मैं.....तुम्हें बचाता हूँ ० ८ ॥

भावार्थ— इसी ज्ञानसे मैं तुम्हें बुद्धावस्थाकी पूर्ण दीर्घ आयु तक से जाता हूँ । इसी ज्ञानसे तेरे पापसे सब रोग दूर भाग जायेंगे ॥ ५ ॥

इसरीय, पाप, बियकर्म, मोहके पाप, भ्रंशित आदि सब आपतियोंसे तू इसी ज्ञानसे मुक्त हो सकता है और मैं भी इसी ज्ञानसे तुम्हें छुड़ाता हूँ ॥ ६ ॥

इस ज्ञानसे ही तू अपने अंधरकी कृपणता छोड और सुकृतसे प्राप्त होनेवाले सुखपूर्ण भद्रलोक को प्राप्त कर । मैं भी इस ज्ञानसे ही तुम्हें आपत्तिये बचाता हूँ ॥ ७ ॥

जिसे प्रकार सूर्य अंधकारको हटाकर स्वयं बनना उदय करता है, इसी रीतिसे चन्द्रगिद अन्य देव भी इन अंधकारकी पकड़से दूर करते हुए स्वयं अपने उदयसे प्रकाशित होते हैं, इसी तरह स्वयं अपने पुण्यकार्यसे अपने पाप दूर करके ज्ञानकी सहायतासे अपना बन्धन करके क्योंकि यही एक उपायिना सबसे सुख प्राप्त है ॥ ८ ॥

दुर्गतिका स्वरूप ।

इस सूक्तमें दुर्गतिका वर्णन विस्तारसे किया है और उससे बचनेका निश्चित उपाय भी संक्षेपसे परंतु विधीय और देकर कहा है । अनेक आपतियोंसे अपना बचाव करने और अपना अभ्युदय करनेका निश्चित उपाय योके संप्रदायमें कहनेके कारण यह सूक्त बड़ा महत्वपूर्ण सूक्त है । और यह हर एक को विशेष मनन करने योग्य है । इस सूक्तमें जो दुर्गतिका वर्णन किया है वह सबसे पहिले देखिये—

१ क्षोभियः—जातपितृगणे प्राप होनेवाले रोग, असज्जता, अवधने की कमजोरी आदि आपतियों । ये जन्मसे ही सूतके साथ ही शरीरमें आती हैं । (मं० १)

२ विक्रमिः—सज्जवट, विनाश, अनौचित्य, अपमर्क फूट, सत्यनिवर्तनका पालन न होना, दुरवस्था, विरह परिस्थिति, शय, गाली, हीन विचार आदिके कारण होनेवाली हीन स्थिति । (मं० १)

३ जामिंशंसः—इसमें दो शब्द हैं, जामिः+शंस । इनके अर्थ ये हैं 'जामि' = बंध, नाश, संबंध । जल । संगुली । समान्य स्त्री । पुत्री, बहिन, बहू । ये जामि शब्दके अर्थ कोशियों दिए हैं । अब 'शंस' शब्दके अर्थ देखिए प्रसंघ, प्रार्थना, पाठ, सदिग्ध, शय, उद्वेग, आपत्ति, कलंक, सौजन्य, क्षयशील, इन दोनों अर्थोंका मेल करनेमें 'जामिशंस'का अर्थ निम्न लिखित

प्रकार बन सकता है 'नातेके कारण आनिवाली आघाति या दुर्कर्मित, ज्ञी विषयसे होनेवाला लांछन या कलंक' इत्यादि । इसी प्रकार अन्यत्र अर्थ भी पाठक विचार करके देख सकते हैं परंतु अर्थों आघाति या कष्ट का संबंध अत्रय चाहिए, क्योंकि निर्रति श्रेष्ठ आदिके गणने यह 'जामिंसस' शब्द आया है, इसलिए इसका आपत्ति दर्शक अर्थही यहाँ अवस्थित है । (मं० १)

४ दुष्टः = दोह, घात पात, विश्वास देकर घात करना । (मं० १)

५ वरुणस्य पापः = वरुण नाम श्रेष्ठ परमेश्वरका है । सबसे जो 'वर' है उसको वरुण कहते हैं । उस जगदीशके पाप सब जगत्में फैले हैं और उनसे दुर्कर्मों पुरुष बांधे जाते हैं । जगत्में सब परमात्मामें ऐसी व्यवस्था है, कि तुरे कर्म स्वयं पाप रूप होकर दुराचारीको बांध देते हैं और उनसे बंधा हुआ वह मनुष्य आपत्तिमें पड़ता है । (मं० १)

६ यक्ष्मः = क्षय रोग, क्षीण करनेवाला रोग । (मं० ५)

७ दुरितं = (दुःखरत) जो दुष्टता भेदर सुखों होता है । मन बुद्धि इन्द्रिय और शरीरमें जो बिजातीमें दुष्ट भाव या पदार्थ पुसे होते हैं जिनसे उक्त स्थानोंमें विगाह होकर कष्ट होते हैं उनका नाम दुरित है । यही पाप है । (मं० ६)

८ अघ्यं = मित्र करने योग्य । जिनसे अधोपति होती है आपत्ति आती है, और कष्ट होते हैं उनका यह नाम है । (मं० ६)

९ प्राही = जो जकड़ कर रखता है, छोटता नहीं, जिसे मुक्त होना कठीन है । शरीरमें संविधात आदि रोग जो जोड़ों को जकड़ रखते हैं । मनमें विषयवासना आदि और बुद्धिमें आरिभक्त निर्वलता आदि हैं । (मं० ६)

१० वराति = (वररातिः) अनुदारता, हृमणता, कंजूशी । (मं० ७)

११ समः = अज्ञान, अंधकार, अज्ञानत्व । (मं० ८)

ये शब्द मनुष्यकी दुर्गतिका स्वरूप बता रहे हैं । इन शब्दोंका शारीरिक, इन्द्रियविषयक, मानसिक, बौद्धिक और आरिभक्त भवनतिके साथ संबंध यदि पाठक विचार पूर्वक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इस दुर्गतिकी कितना बड़ा कार्य इस मानव समाजमें है । रहा है और इस अधोगतिसे बचनेके लिये कितनी दृढताके साथ कसर कसके तथा दक्षतासे कार्य करना चाहिये । मनुष्योंके मन बुद्धि चित्त अहंकार इन्द्रियगण तथा शारीरिक अवधारणमें इस दुर्गतिके नाना रूपोंका संचार देखकर विचारी मनुष्यका मन अक्षरमें आता है और वह अपने कर्तव्यके विषयमें मोहित या हो जाता है, उसकी इस दुर्गतिके साम्राज्यसे बचनेका उपाय नहीं सूझता, ऐसी अवस्थामें यह सूत्र उस मूढ़ बने मनुष्यसे कहता है कि ' हे मनुष्य ! क्यों मूढ़ बना है, मैं इस मार्गसे दुर्गं बचाता हूँ और तुम्हें निर्दोष अर्थात् पवित्र भी बनाता हूँ । ' (मं० १)

एकमात्र उपाय ।

आपत्तिगं अनंत है । यद्यपि पूर्वोक्त ग्यारह शब्दों द्वारा इस सूत्रमें आपत्तिगोंका वर्णन किया गया है तथापि ग्यारह शब्दों द्वारा, मानो, अनन्त आपत्तिगोंका वर्णन होचुका है । इन अनन्त श्रेणियोंसे बचनेका एकमात्र उपाय है और वह इस सूत्र के हर एक मंत्रमें ' ब्रह्म ' शब्दसे बताया है । प्रत्येक मंत्रमें—

सुश्रामि वा ब्रह्मणा जनागसं कृणोमि ।

' ... तुम्हें छुड़ाता हूँ ... और तुम्हें शान्ति निर्दोष करता हूँ । ' यह वाक्य पुनः पुनः करा है । पारंपार कहनेके कारण इस बातपर विशेष बल दिया है यह स्वयं स्पष्ट है । दुर्गतिसे मनुष्यका बचान करनेवाला एक मात्र उपाय ' ब्रह्म ' अर्थात् ' सत्यज्ञान ' ही है । ज्ञानसे ही मनुष्य बच सकता है और अज्ञानसे विरता आता है । जो अक्षति, जो प्रगति, जो बंधनसे मुक्ति होनी है वह ज्ञानसे ही होनी है । परम पुरुषार्थ द्वारा अपना अकर्षण साधन करना भी ज्ञानसे ही प्राप्त हो सकता है । ज्ञानहीन मनुष्य किसी भी प्रकार सशक्ति नहीं कर सकता ।

ज्ञानका फल ।

ज्ञानसे क्या क्या हो सकता है इसका वर्णन करना कठिन है, क्योंकि ज्ञानसे ही सब कुछ उत्पत्ति होती है । कोई उच्च श्रेण्य ऐसा नहीं है कि जो बिना ज्ञानके सिद्ध हो सकता है । तथापि इस सूत्रमें ज्ञानसे जो कुछ सिद्ध किया जा सकता है उसका

संज्ञनसे वर्णन किया है । अब इहाँ बात का विचार करेंगे । सत्यज्ञानका पहिना फल यह है—

(१) बन्ने चावादापिबी ते त्रिवे स्वाम् । (मं० १)

‘सुलोक और पृथ्वी लोक ये तेरे लिये कल्याणकारी शुभ हों’ अर्थात् जो सत्यज्ञानसे युक्त है उसके लिये पृथ्वीसे लेकर सुलोक पर्यन्तके सब पदार्थ शुभकारी होंगे । पृथ्वीसे लेकर सुलोक पर्यन्तके सम्पूर्ण पदार्थ अपने लिये कल्याणकारी बनानेकी विद्या अपनेले ज्ञानी मनुष्यको ही प्राप्त होगी है । पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि यह क्यों मारी प्रबलशक्ति है कि जो ज्ञानीको प्राप्त होती है । तृणसे लेकर मूर्ख पर्यन्तके सब पदार्थ उसके वचनता होकर उसका हित करने में तत्पर रहते हैं । यह अद्भुत सामर्थ्य ज्ञानीही प्राप्त करता है ।

(२) अग्निः सह अग्निः शम् ॥ (मं० २)

‘अग्निके साथ अग्नि कल्याणकारी होता है’ ज्ञानी मनुष्य ही जलसे तथा अग्नि से—दोनोंके संगोगसे वा विवोगसे—अपना काम कर सकता है, जनताका भला कर सकता है ।

(३) औषधिविः सह सोमः शम् । (मं० २)

‘औषधिविँके साथ सोम सुखकारी होता है ।’ सोम एक क्यों मारी प्रमादशाली औषधि है, यह बनसति सब औषधिविँको राजा कहालाती है । सोम और औषधिविँके प्राणिमात्र का हित साधन करनेका ज्ञान वैद्यशास्त्र में कहा है । ज्ञानाप्रकार के रोग दूर करनेके विविध औषधिविँग सब शास्त्र में कहे हैं और यह विद्या आजकल प्रचलित भी है । इसलिये इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । पूर्वोक्त कहानों में जो रोगविषयक कथन होते हैं, वे सब इस विषयसे दूर होते हैं । अलविदित्या और अमिचिकित्सा भी इसी में संमिलित है ।

(३) अन्तरिक्षे वातः नमः सं चात् । (मं० ३)

‘अंतरिक्षमें वातार करनेका वायु आरोग्य पूर्ण सुख देनेका होता है ।’ विद्यासे ही वायु लाभकारी हो सकता है । योगसाधनका प्राप्तापान इस विद्याका चोटक है । प्राप्तापान करनेवाले योगी वायुसे अत्यधिक बल प्राप्त करते हैं और दीर्घजीवी होते हैं । आरोग्य शास्त्रके सब नियम इस ज्ञानमें संमिलित हैं । वायुशुद्धि द्वारा आरोग्य साधन करने का विषय इसमें आता है । रोगनिवारक तथा रोग प्रतिबंधक होम हवन यज्ञ वाग इस विद्याके प्रकाशक हैं ।

(४) देवीः चतस्रः प्रदिशः वातपत्नीः ते शम् । (मं० ३, ४)

‘दिव्य चारों दिशाएँ, जिनमें वायुका प्रलयन होता है, तीरे लिये सुखकारक होंगे ।’ चार दिशाएँ और चार उपदिशाएँ अर्थात् उनके अंदर रहनेवाले सब पदार्थ ज्ञानसे ही मनुष्यके लिये लाभकारी होते हैं । इसका साथ पूर्ववत् ही समझना योग्य है ।

(५) सूर्यः अग्निविद्यते । (मं० ४)

‘सूर्य जो चारों ओर प्रकाशता है’ वह भी ज्ञानसे तेरे लिये अनुकूल हो सकता है । सूर्य प्रकाशसे मनुष्य मात्रको अनंत काम होते हैं । इस विद्याकी भी जानेंत हैं वे इससे अपना काम कर सकते हैं ।

(६) त्वा जासि अन्तः आद्यामि । (मं० ५)

‘तुझे अतिवृद्ध आयुके अंदर धारण करता हूँ’ अर्थात् ज्ञानसे तेरी आयु अति दीर्घ हो सकती है । ज्ञानसे जीवनके सुनियम प्राप्त होते हैं और उनके फलनसे मनुष्य दीर्घायु हो जाता है ।

(७) वदन्तः निर्कृतिः पराचैः पृथु । (मं० ५)

‘वदन्ता आदि रोग तथा अन्त्याय अर्थात् प्राणसे सन्तुष्ट हो जायेंगे ।’ ज्ञानसे आरोग्य संग्रहण के सब नियम ज्ञान होने हैं और उनके फलन से मनुष्य नीरोग्य होकर सुखी होता है ।

(८) वदन्तः दुर्गिषात्, भवयान्, दुष्टः, पाशात्, प्रासात् च अमुस्याः, वदसुरयाः । (मं० ६)

‘ज्ञानसे वदन्, रोग, पाप, निय कर्म, होड, बंधन, अकहना आदिसे मुक्ति होती है ।’ अर्थात् इनके कष्ट दूर होते हैं । यह बात पाठकोके ध्यानमें पूर्ववत् आजायगी ।

(९) स्योनें ऋविदुः (मं० ७)

'सुख प्राप्त होगा।' ज्ञानघे.हीं उत्तम और सत्य सुख प्राप्त होगा। पृथ्वीसे उठकर सुलोक पर्यन्तके संपूर्ण पदार्थ ज्ञानसे वरवर्षा होते हैं और उस कारण सुख प्राप्त होता है। यह मानवी अभ्युदय की परम सीमा है। इसीसे कहते हैं—

(१०) सुकृतस्य भद्रे लोके भ्रमूः । (मं० ७)

'सुकृतके कृत्याण पूर्ण स्थानमें निवास होगा।' ज्ञान से ही सुकृत क्रिये जायगे और तब सुकृतके कारण मनुष्यकी उत्तम गति होगी, उसकी श्रेष्ठसे श्रेष्ठ स्वस्थता प्राप्त होगी। ज्ञानसे ही सब जनताकी इतनी उन्नति होगी कि यहाँ भूलोक स्वर्गपाम बन जायगा। सत्य ज्ञानके प्रकारसे इतना ज्ञान है इसलिये हरएक वैदिकधर्मो आरंभकी सत्यज्ञान प्राप्त करके उसका प्रकार करना चाहिये।

सत्य ज्ञानके ये दस फल दस सूक्तमें कहे हैं। सब उन्नतिका यह मुख्य साधन है। इसके बिना अन्य साधन रहे ही भी उनसे कोई लाभ नहीं होगा। इसलिये गाठक ज्ञानको उन्नति का मुख्य साधन मानकर ज्ञानार्जन और ज्ञानदान के विषयमें परिश्रम करें। अब इस सूक्तमें जो उन्नतिकी मार्ग बताया है वह यहाँ देखिये—

उन्नतिकी मार्ग ।

अष्टम मंत्रमें एक बिलक्षण अपूर्व अलंकार के द्वारा उन्नतिकी मार्ग दर्शाया है वह भी यहाँ अब देखना चाहिये—

तमसो माग्ना ऋषिसुहृताः देवाः ऋतं सूर्यं

दमसाः भन्वन्वृ ॥ (मं० ८)

' जिस प्रकार अंधकारकी पकड़से मुक्त हो कर सब देव स्वर्ग उठनेवाले सूर्यकी अयोभयस्थासे ऊपर प्रकट करते हैं । '

अलंकार की भाषा ।

इस अष्टम मंत्रमें एक अलंकार है। सूर्य और अन्य देवोंका अनोपि अलंकार से रूपक बनाकर यहाँ वर्णन किया है। वेदमें सूर्य और चन्द्र विषयक कई रूपक आते हैं उनमें यह विशेष महत्त्व का रूपक है। यह रूपक इस प्रकार देखना चाहिये—

' चन्द्र रूपी पुत्रका पालन रात्री नन्ही माता करता है और सूर्य रूपी शालक का पालन दिनप्रमा नान्नी माता करती है। प्रारंभमें सूर्य अंधेरेमें दबा रहता है, उसी प्रकार चंद्र भी गाठ अंधकार में दबा रहता है। मानो इसकी मार्ग दिखानेका कार्य अन्य देव अर्थात् सब नक्षत्र, पुषिता, वायु, आदि संपूर्ण देवताएं करती हैं। सूर्य स्वर्ग ऊपर उठनेका यत्न करता ही रहता है, अंतमें वह ऊपर आता है, वदय को प्राप्त होता है, प्रतिक्षण आधिकाधिक बसकने लगता है और मध्याह्नमें देखा बमकटा है। उस समय उसके अप्रतिम तेजकी कोई घटन कर नहीं सकता। इसी प्रकार चन्द्र भी अपनी क्षीरी अवस्थासे प्रगति करता हुआ पूर्वदिशामें अपना पूर्ण विकाश करता है । '

अपने प्रदलसे उन्नति करनेवाले की इस संज्ञासे उन्नति होती है, यह दर्शाना इस रूपक का प्रयोजन है। जो स्वर्ग दल नहीं करेगे उनकी उन्नति हीना कठिन है। दूसरोंकी सहायता भी तब तक सहायक नहीं होती जब तक कि अपना प्रदल उन्नत संमिलित नहीं होता। यह उन्नतिकी मूल मंत्र है।

स्वकीय प्रयत्न ।

इस मंत्रमें ' ऋतं सूर्यं देवाः तमसः मुञ्चतः ' अर्थात् ' स्वर्ग चलेनेवाले सूर्य को ही देव अंधकारसे छुड़ा सकते हैं ' देश कहा है। यदि सूर्यमें स्वर्ग अपना प्रयत्न न होता तो वे सबको अंधकारसे मुक्त कर नहीं सकते। इसी प्रकार मनुष्य भी जो स्वर्ग अपने उदारका यान रात्रीदिन करता रहता है, उसीकी अन्य मुञ्चन सहायकारों होने हैं।

इस दृष्टिसे विचार करनेपर पता लग सकता है कि इस मंत्रमें ' ऋत ' चन्द्र बहुत महत्त्वका भाव बता रहा है, देखिये इसका आशय। ऋत= " योग्य, ठीक, सत्य, हलचल करनेवाला, धार्तमान्, प्रत्यावर्तक, दस, सत्य विषय, ईशरीर निदम, सुक्ति, बंधननिहात, कर्मफल, अदक विश्वास, दिव्य सत्यविषय । '

जो (ऋतं) सत्य नियम पालन करता है, वही अंधकारके परे जा सकता है और जो स्वयं प्रयत्न करता है उसीको दूसरी सहायता कर सकते हैं । सूर्य स्वयं प्रकाशमान है, उदय होना चाहता है, नियम पूर्वक प्रयत्नशील है, इसलिये उदयको प्राप्त होकर ऐसा तेजस्वी बनता है, कि सब अन्य तेज उसके सामने फँके हो जाते हैं । जो मनुष्य ऐसा प्रयत्न करेगा वह भी वैसा-
॥ प्रभावशाली बनेगा ।

वायु जल मनुष्य आदि जगत्के देव, विद्वान् शूर आदि मानवोंके अंदरके देव, तथा इंद्रियगण वे शरीरस्थानीय देव सभी पुण्य की सहायता करते हैं कि जो स्वयं सत्सामयिक पालनमें सदा दक्ष रहता है और स्वयं अपने पुण्यार्थसे अपनी सहायता करनेका प्रयत्न करता रहता है । पापसे मुक्त होकर निर्दोष बनना, पारतन्त्र्यके बंधसे मुक्त होकर स्वयं शासित होना, रोगमुक्त होकर भीरोग होना, अघमृत्युके बंधसे छूटकर दीर्घायु होना आदि सबके लिये स्वयं ' ऋत-गामी ' होना अत्यंत आवश्यक है । यही उपरके मंत्रमें ' ऋतं ' शब्द द्वारा बताया है । जो ऋत-गामी होता है वही बंधनोंको निवृत्त कर सकता है, पापोंको दूर कर सकता है और सूर्यके समान अपने तेजसे प्रकट हो सकता है । इस प्रकार यह मंत्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है, इसलिये इस दृष्टिसे पाठक इसका अधिक विचार करें ।

प्रार्थना का चल ।

वेदमें ' ब्रह्म ' शब्दका दूसरा अर्थ ' स्तोत्र, स्तुति, प्रार्थना ' भी है । जो प्रार्थना वाचक वैदिक सूक्त हैं उनके मुख्य म्यत्ययसे दूसरे भी अर्थ होते हैं, पारन्तु उनका स्तुत्यर्थ या प्रार्थना-रूप अर्थ हटाया नहीं जा सकता । ' ईश प्रार्थना ' से बल प्राप्त करना या अपने बलका विकास करना, प्रार्थनासे आत्मिक बल प्राप्त करना, वैदिक धर्मका प्रचार अंग है । इसीलिये प्रारंभ से अंत तक वेदके सूक्तोंमें सहस्रां सूक्त प्रार्थना के हैं । जो लोग एकाग्रतमें जाकर दिल खोलकर ईश प्रार्थना करना जानते हैं वेही प्रार्थना का महत्त्व समझ सकते हैं, अन्य लोग उसकी शक्ति नहीं जान सकते । इस लिये यहां कहना इतना ही है कि रोमादि आर्यातियोंकी निवृत्तिके लिये अजितना उपयोग औषधादि प्रयोगों का हो सकता है, उससे कई गुणा अधिक लाभ ' ईश प्रार्थना ' से हो सकता है । यह मनो एक ' प्रार्थना-योग ' ही है । ' औषधि योग ' से ' प्रार्थना योग ' अधिक बलवान् है । दुःखकी बात आजकल यही हो रही है कि, लोग प्रार्थना का महत्त्व नहीं समझते और उस से होने वाले लाभसे वंचित ही रहते हैं । यह बर्षा मारी हानि है ।

इस सूक्तमें ' ब्रह्म ' शब्द विशेष कर स्तोत्र वाचक ही है । ईश गुणवर्गन, ईश गुणवान् करते करते जिसका मन प्रभुके गुणोंमें लहलहा हो जाता है वह संपूर्ण अपातियोंसे दूर हो जाता है, क्योंकि वह उस समय अद्भुत अद्भुत रस का आस्वाद लेता हुआ दुःख मुक्त हो जाता है । पाठक इस दृष्टिसे इस वाक्य विचार करें और अनुभव भी लें ।

मनको धीरज देना ।

वेदमें ' मै बुद्धाता हूं ' इत्यादि प्रकार कई वाक्य हैं ' वे वाक्य मानस चिकित्सा ' या ' वाचिक चिकित्सा ' के सूक्त हैं । अपने अंदरके आरोग्य पूर्ण विचार अपनी मानस शक्तिकी प्रेरणासे अपने धर्मों द्वारा रोगिके निर्बल मनमें प्रविष्ट करनेसे यह चिकित्सा साध्य होती है । इसमें रोगिके निर्बल मनको धीरज देना होता है । इस समय—

- १ त्वा श्रेत्रियात्...सुंषामि । (मं० १)
- २ त्वा ब्रह्ममा अनामसं कृणोमि । (मं० १)
- ३ त्वा अरसि अन्तः आदधामि । (मं० ५)
- ४ यद्मात् अमुक्याः (मं० ६)
- ५ प्राज्ञाः उदमुत्रयाः । (मं० ६)

ऐसे वाक्य बोलके रोगिको धीरज देना होता है जैसा — (१) तुझको श्रेत्रिय रोगसे मुक्त करता हूं । (२) तुझे ईश प्रार्थना-द्वारा निर्दोष करता हूं । (३) तुझको प्रति दीर्घ आयुवाला करता हूं । (४) तू अब दक्ष रोगसे मुक्त हुआ है । (५) जड़जनेवाले रोगसे तू अब दूर हो गया है । इत्यादि प्रकारके वाक्योंसे रोगिको धीरज देकर उसके मनका आत्मिक बल बढ़ाकर और उसमें दृढ़ विश्वास पैदा करके आरोग्य उत्पन्न करना होता है । यह बर्षा मारी महान् विषय है । जो पाठक ईश प्रार्थना का बल जानते हैं, वेही इस बातको समझ सकते हैं ।

परमेश्वर पर जो दृढ विश्वास रखते हैं, उसकी उपासना करते हैं, उसकी भक्ति करने में जिनको प्रेम आता है, उनके पास बीमारियाँ कम आती हैं । पाठक देखेंगे तो उनको यवा लग जायगा कि परमेश्वर के विश्वासी प्रायः आनन्द में मस्त रहते हैं और अविश्वासी ही रोगी होते हैं ।

पाठक यह विश्वास का बल अपने में बढ़ावें और अपना अत्यधिक त्याग करें ।

यह सूक्त भी तक्षमनाशन यण का है और वह दृष्ट गणके अन्य सूक्तों के साथ पठने योग्य है ।

—:—

आत्माके गुण

(११)

(ऋषिः-शुक्रः। देवता-कृत्यादपणम्)

दृष्या दूर्ध्वरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि । आम्नुहि श्रेयांसमतिं सुमं क्राम ॥ १ ॥

स्रक्स्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यामिचरणोऽसि । आम्नुहि० ॥ २ ॥

प्रति तन्मि चरं योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । आम्नुहि० ॥ ३ ॥

सूरिरसि वचोषा असि तनूपानोऽसि । आम्नुहि० ॥ ४ ॥

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरासि न्योतिरसि । आम्नुहि श्रेयांसमतिं सुमं क्राम ॥ ५ ॥

अर्थ— (दृष्याः दृषिः असि) दोष को दूषित करनेवाला अर्थात् दोषका दोषीपन इतनेवाला दृ है । (हेत्याः हेतिः असि) हथियारका हथियार दृ है । (मेन्याः मेनिः असि) वज्र का वज्र दृ है । इसलिये (श्रेयांसं जाम्नुहि) परम कल्याणको प्राप्त कर और (सुमं आश्रयाम्) अपने समानसे अधिक भागे बढ़ ॥ १ ॥

(स्रक्स्यः असि) तु गाँवठीक है, (प्रतिसरः असि) दू भागे बढ़नेवाला है, (प्रत्यामिचरणः असि) दू दुष्टनगर हमला करनेवाला है । ० ॥ २ ॥

(सं प्रति अमिचर) उसपर चढाईकर कि (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो अकेला हम सबका द्वेष करता है तथा (वयं द्विष्मः) जिस अकेलेका हम सब द्वेष करते हैं । ० ॥ ३ ॥

(सूरिः असि) दू शानी है, (वचोषाः असि) दू तेजका धारण करनेवाला है तथा (तनूपानः असि) धारीका रक्षक दूरी है । ० ॥ ४ ॥

(शुक्रः असि) दू वीर्यवान् जयवा सुद है, (भ्राजः असि) दू तेजस्वी है, (स्वः असि) दू आत्मिक छाकि से सुद है, (न्योतिः असि) दू तेज स्वरूपी है इसलिये दू धेय प्राप्त कर और समानोंके भागे बढ़ ॥ ५ ॥

भावार्थ—आत्मा दोषोंका दोष इतनेवाला है, वही शत्रुओंका महापन्न और अज्ञोंका महा अज्ञ है ॥ १ ॥ आत्मा प्रगति करनेवाला है, भागे बढ़नेका उसका स्वभाव है, और दुष्टताका दूर करनेवाला है ॥ २ ॥

जो अकेला दुष्ट सब शत्रुओंको घृणता है, और जिस अकेले दुष्टका सब शत्रुजन विरोध करते हैं । उसको हटा दे ॥ ३ ॥ दू शानी है, तेजका धारक है, शरीरका सचा रक्षक दूरी है ॥ ४ ॥

दूरी बलवान् है, दूरी तेज है तथा आत्मिक बलसे युक्त है, दू स्वयं प्रकाशरूप है, इसलिये दू समान लोगोंके भागे बढ़ और निःश्रेयस अर्थात् सुक्ति प्राप्त कर ॥ ५ ॥

शरीरमें आत्माका कार्य ।

सगुणसाकार शरीरमें निर्गुण निराकार आत्माके गुण प्रत्यक्ष करनेका उपदेश इस सूक्तमें किया है । ये गुण अब देखिये—

(१) दृष्याः दृषिः अस्ति—दोषमय को दोष देनेवाला अर्थात् दोषका दूर करनेवाला है । देखिये, अपने शरीरमें ही इस बातका अनुभव कीजिये । अपना शरीर मलयुग्ण होता हुआ भी उसको जीवित रखता है और इसीका नन्दनवन इसने बनाया है । छन्दवाने शरीरके न घटानेवाला, मरनेवाले शरीरको जीवित रखनेवाला, दोषमय शरीरके निर्दोष आनन्दधाम प्राप्त करनेवाला यह आत्मा है । (सं० १)

(२) हेत्याः हेतिः, भ्रम्याः भेतिः अस्ति = शल्लोका शल और वज्रका वज्र यह आत्मा है । शत्रुका नाश शान करता है परंतु शत्रुको बलानेवाला अर्थात् शत्रुका भी शत्रुरूप यह आत्मा शत्रुके पीछे न होगा, तो शत्रु कैसे शत्रुका नाश करेगा ? इससे आत्माकी श्रेष्ठ शक्तिका महत्त्व ज्ञात हो सकता है । (सं० १)

(३) स्रक्त्वः अस्ति = आत्मा गतिमान है । 'अत-घातल्यगमने' (सतत गति करना) इस शत्रुसे यह आत्मा शब्द बनता है । सतत प्रदानशीलताका यह द्योतक है । यही मात्र इस शब्दमें है । छोटे बालकमें क्या अथवा बड़े मनुष्यमें क्या सतत प्रयत्न शीलता है । कोई भी चुपचाप बैठना नहीं चाहता, उद्योगसे अपनी उन्नति करनेकी इच्छा हरएक प्राणीमें स्पष्ट है । (सं० २)

(४) प्रतिस्तरः अस्ति = भागे बढ़नेवाला, शत्रुपर हमला करके उसको दूर करनेवाला, अपना अन्वयुद्ध करनेवाला है । आत्मा 'इन्द्र' है और वह सदा अपने शत्रुका पराभव करता ही है । (सं० २)

(५) प्रत्यभिचरणः अस्ति = बुद्ध शत्रुको पराभूत करनेवाला । (यह शब्द भी पूर्व शब्दके समान भाववाला ही है ।) (सं० २)

यहांतक इन दो मंत्रोंके इन पांच शब्दों द्वारा आत्माके उन गुणोंका वर्णन हुआ है कि जिनका बाहरके शत्रुओंसे संबंध है । अब आत्माके आन्तरिक स्वकीय निज गुणोंका वर्णन चतुर्थ और पंचम मंत्रके द्वारा करते हैं—

(६) द्युरिः अस्ति = दृश्यानी है । आत्मा विश्वरूप होनेसे ज्ञानवान है, अत एव उसे यह शब्द प्रयुक्त हुआ है । (सं० ४)

(७) वषो-वाः अस्ति = तेज बल शोच आदिका धारण करनेवाला है । शरीर में जब तक आत्मा रहता है तब तक ही इस शरीर में तेज बल शोच आदि रहता है, वह हरएक ज्ञान सक्त है । (सं० ४)

(८) तनु-पानः अस्ति = शरीरका रक्षक है । जबतक आत्माका निवास इस शरीरमें रहता है तबतक ही शरीरके रक्षा सतत प्रकार होती है । जब यह आत्मा इस शरीरसे चले जाता है तब शरीर उल्टे लगता है । इससे स्पष्ट होता है कि शरीरका रक्षा रक्षक यह आत्मा है । (सं० ४)

(९) शुकः अस्ति = शीर्षवायु, बलवायु तथा शुद्ध है । आत्माको ही 'शुक' (यजु० ४।८ में) कहा है । इसलिये इसका अधिक विवरण करना आवश्यक नहीं है । (सं० ५)

(१०) आजः अस्ति = तेजस्वी है अर्थात् दृश्योंको प्रकाश देनेवाला है । आत्मा ही सबका प्रकाशक है, यह मध्यमें रहता हुआ सबको तेजस्वी बनाता है । (सं० ५)

(११) स्वः अस्ति = धार्मिक बलसे युक्त है (स्व+र)—अपने निज बलसे युक्त है । अर्थात् यह स्वयं प्रकाश है । (सं० ५)

(१२) ज्योतिः अस्ति = रश्मि ज्योति है । प्रकाश स्वस्व-है । (सं० ५)

ये सब शब्द आत्माका स्वभाव धर्म बता रहे हैं । मनुष्य स्वयं अपने आपको अत्यंत निर्बल, कमजोर और पूर्ण परावर्तनी मानता है और अज्ञानसे वैसा अनुभव भी करता रहता है । इस सूक्तमें आत्माके स्वभावगुणधर्म बताये हैं । जिनके विचारसे पाठकोंका निश्चय होगा कि यह आत्मा निर्बल नहीं है । इसमें भी वैसेही प्रभावशाली गुणधर्म हैं कि जैसे परमात्मामें हैं । यह आत्मा ज्ञानी, पुद्गलार्थ, प्रयत्नशील, स्वयंज्योति, प्रभावशाली, बलवान्, तथा शरीर रक्षक है । इसलिये अपने आपको सदा सर्वदा कमजोर मानना और समझना योग्य नहीं । यद्यपि यह छोटा है तथापि इसकी शक्ति विकास की अर्थात् बहुत ही बड़ी है ।

जिस समय अपने अंदर निर्बलताको लहर आती है, उस समय यदि पाठक इस सूक्तका मनन करेगा और इन मंत्रोंके भावोंसे अपने आत्मामें प्रत्यक्ष देखेगा, तो तनेके मनकी कम्बोजी हूर हो जायगी और वे इस सूक्तके बलसे निःसंदेह ही अम्यु-
द्य निःशेष प्राप्त करने योग्य बलवान् बन जायेंगे । आत्मशक्तिका वर्णन करनेवाले को अनेक सूक्त हैं तनमें यह विशेष महत्त्वका सूक्त है । यह अत्यंत सरल और बड़ा भावपूर्ण होनेसे बहुत मनन करने योग्य है । यह सूक्त निर्बलताकी भी बलवान् बना सकता है ।

अतुष्यं मंत्रमें कहा है कि ' उस शत्रुकी दूर कर, जो अनेकों को सताता है । ' इस मंत्रमें यह बातविचार करने योग्य है, कि शत्रुता करनेवाला एक है, सतनिवाला एक है और सनाये जानेवाले अनेक हैं । अल्प संख्यावालों के द्वारा बहु संख्यावालों को कष्ट होनेकी कल्पना इसमें है । ऐसे प्रसंगमें शत्रुकी दूर करना ही योग्य है । जो दुर्जन अनेक सज्जनों को सताता है वह निःसंदेह दण्डनीय है ।

श्रेयः प्राप्ति ।

सूक्तके प्रत्येक मंत्रका द्वितीय अरण एकधा ही है । वह यह है—

आप्नुहि देवासं समं अतिक्राम ॥ [मं. १-५]

' समान लोगोंके आगे बढ़ और परम कल्याण प्राप्त कर ' यह इस वाक्यका अर्थ है । ' अथ प्राप्त कर ' यह तो वैदिक धर्म का ध्येय है, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, श्रेय, निःश्रेयस आदि शब्द एक ही भाव बता रहे हैं । वैदिक धर्ममें यही ध्येय सबके सामने रखा है । इस ध्येय की सिद्धि प्राप्त करनेके लिए ही इस सूक्तमें अरमाके गुण उपासकोंको निवेदन दिए हैं । उन गुणोंका मनन करता हुआ आत्मा उन्नतिके पथसे आगे बढ़ता हुआ निःश्रेयस तक पहुँच जाय । इसका मार्ग यह है—

उन्नतिका मार्ग

इसकी उन्नतिका मार्ग एक ही वाक्यसे बताया है वह चिरश्मरणीय वाक्य यह है—

समं अतिक्राम । [मं १—५]

' अपने समान योग्यता वाले लोगोंके आगे बढ़ । ' यह मार्ग है । जब यह प्रथम श्रेणीमें पहुँचा हो तो यह विचार मनमें रखे कि प्रथम श्रेणीमें रहनेवालोंके आगे बढ़ूँ, जब द्वितीय श्रेणीमें पहुँचे तब यही विचार मनमें धारण करे कि मैं द्वितीय श्रेणीवालोंके आगे बढ़ूँ । इस प्रकार अथवा श्रेणीवालोंसे आगे बढ़ता हुआ यह अपनी उन्नतिका साधन करे ।

अपनी उन्नतिका तो साधन हर एक को करना ही है, परंतु उस उन्नतिके साधन के लिये अपनी श्रेणीवालोंसे आगे बढ़नेका ध्येय सामने रखना ही उचित है । प्रथम श्रेणीमें पहुँचनेवाला प्रथम श्रेणीवालोंसे आगे बढ़नेकी महत्त्वपूर्णता मनमें रखे, परंतु उस समय दूसरे श्रेणीसे आगे बढ़नेके विचार से अपना प्रथम श्रेणीसे कर्तव्य न भूले । प्रायः लोक अंधेभव ध्येय सामने रखकर अपने कर्तव्यसे धाँधल रहते हैं । ऐसा कोई न करे, इस उद्देश्यसे यह मंत्र कहा गया है, कि अंतिम ध्येय जो भी हो; उन्नतिका विचार न करते हुए, इस समय तुम जिस श्रेणीमें हो उस श्रेणीमें प्रथम स्थानमें स्थित रहकर, उस समय के अपने कर्तव्य परम दक्षतासे करो । इस प्रकार करते रहनेसे सबकी दयायोग्य उन्नति होती रहेगी और दया समय सबकी उन्नतिके परम साधनपर पहुँच जायेंगे ।

परंतु अपनी श्रेणीसे निम्न श्रेणीवालोंसे स्वर्था करते रहनेसे मनुष्यको सिद्धि मिलना कठिन होगा इतनाही नहीं परंतु अवयव होना ही अधिक संभव है । यदि छोटाछा पुत्रपर अपनी आशुवाले अन्य कुमारोंसे मत्स्युद्ध न करता हुआ यदि बड़े पहिलवानोंसे मत्स्य युद्ध करनेका साहस करेगा, तो न तो उसमें उसको सिद्धि मिल सकती है और नाही उसकी उन्नति हो सकती है । परंतु कमपूर्वक अपनी श्रेणीवालोंसे कुर्ता करता हुआ वह स्वयं आगे जाकर बड़ा मत्स्य हो सकता है; इसी प्रकार अल्पान्य अम्युदोंके विषयमें समझना चाहिए । मुक्तिके पथके विषयमें भी यही मार्ग अधिक सुरक्षित है ।

पाठक इसका अधिक विचार करे । हमारे विचार में यह उन्नतिके मार्गका उपदेश सबके लिये सर्वदा मनन करने योग्य है । अपनी व्यथोगति न होते हुए कथसे निःसंदेह उन्नतिकी प्राप्ति होना इसी मार्गसे साध्य है ।

मनका बल बढ़ाना ।

(१२)

(ऋषिः-भरद्वाजः । देवता-द्यावापृथिव्यादिनानादैवतम् ।)

द्यावापृथिवी उर्वेऽन्तरेक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः ।
 उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ॥ १ ॥
 इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्य भरद्वाजो मर्षमुक्थानि शंसति ।
 पाशे स बद्धो हरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ २ ॥
 इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्त्वा हृदा शोचता जाह्वीमि ।
 वृश्चामि सं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ ३ ॥
 अशीतिमिस्त्विसृभिः सामगेमिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिराभिः ।
 इष्टापूर्तमवतु नः पितृणामाशुं देदे हरसा दैव्येन ॥ ४ ॥

अर्थ—[द्यावापृथिवी] पृथोक, और पृथिवी लोक, [उर्वे अंतरिक्षं] विस्तीर्ण आकाश, (क्षेत्रस्य पानी) क्षेत्रका पालन करनेवाली वृष्टि [अद्भुतः उरगायः] अद्भुतः और अद्भुत यज्ञोत्तमीच सूर्ये [उव] और [वातगोपं उर अन्तरिक्षं] वायुको स्थान देनेवाला अन्तरिक्ष आदि सब [मयि तप्यमाने] मैं गल होने पर [इह ते तप्यन्तां] यहाँ वे सब सन्तप्त होते ॥ १ ॥
 हे [देवाः] देवो ! (ये यज्ञियाः स्य) जो तुम सत्कार करने योग्य हो, वे सब [इदं शृणुत] यह सुनो, कि [भरद्वाजः मर्षं मुक्थानि शंसति] बल बढ़ाने वाला मुझको बचम उपदेश देता है । परंतु [यो अस्माकं इदं मनः हिनस्ति] जो हमारे इस मनको बिगाड़ता है, [सः हरिते पाशे बद्धः नि युज्यताम्] वह पापके पाशमें बंधा लाकर नियतमें रखा जावे ॥ २ ॥

हे [सोम-प इन्द्र] सोमपान करनेवाले इन्द्र ! [शृणुहि] सुन कि [यद शोचता हृदा जोह्वीमि] जो शोकपूर्ण हृदयसे मैं पुकारता हूँ । [यो अस्माकं इदं मनः हिनस्ति] जो हमारा यह मन बिगाड़ता है, [सं] उसको [वृक्षं कुलिशेन इव] वृक्षको कुशारीसे काटनेके समान [वृश्चामि] काट दारो ॥ ३ ॥

[विसृभिः अशीतिभिः सामगेभिः] तीन छत्रोंसे अस्वी मंत्रोंद्वारा सामगान करनेवालोंके साथ तथा [आदित्येभिः वसुभिः अङ्गिराभिः] आदित्य वसु और अङ्गिराके साथ [पितृणां इष्टापूर्त नः अवतु] पितरों द्वारा किया हुआ यज्ञयागादि शुभ कर्म हमारी रक्षा करे । मैं [दैव्येन हरसा आशुं आददे] दिव्य शोध या बलसे इस को पचोड़ता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ— पृथोक, पृथक्लोक, अंतरिक्ष लोक तथा इष्ट अथवाश में रहनेवाले सब लोक लोकान्तर मर अतुकून हो अर्थात् मेरे संतप्त होनेसे वे संतप्त हों और मेरे शांत होने पर वे भी शांत हों ॥ १ ॥

हे शत्कार करने योग्य देवो ! सुनो । नियम यह है कि बल बढ़ानेवाला हो दूसरों को उत्तम उपदेश करता है, परंतु बल बढ़ानेवाला भुरे विचारों की प्रेरणसे मनको दूषित करता है, उस पापीको पकड़ कर बंधनमें रखना उचित है ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! सुन कि जो मनको बिगाड़ता है उसका नाश करना योग्य है यह बात मैं हृदयके जोशके साथ कहता हूँ ॥ ३ ॥

द्यावापृथिवीं अनु मा दीधीयां विश्वे देवास्तो अनु मा रमध्वम् ।

आङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्जित्वपक्वामस्य कृता

॥ ५ ॥

अर्वाच यो मरुतो मन्यन्ते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत्क्रियमाणम् ।

उर्वृषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं घौरिमिसंतंपाति

॥ ६ ॥

सप्त प्राणान्घौ मन्यस्तांस्त्वं वृश्यामि ब्रह्मणा ।

अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः

॥ ७ ॥

आ दधामि ते पदं समिद्धे ज्ञातव्रदेसि ।

अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागर्षिं गच्छतु

॥ ८ ॥

अर्थ- [द्यावापृथिवी मा अनुमादीधीयां] एलोक और पृथ्वीलोक मेरे अनुकूल होकर प्रकाशित हों । हे [विश्वे- देवास्तः] सब देवो ! [मा अनु मा रमध्वं] मेरे अनुकूल होकर कार्यरत करो । हे [आङ्गिरसः सोम्यासः पितरः] अङ्गिरस मोक्ष विधरो ! [अपक्वामस्य कृता पावं वा ऋष्यन्तु] अनिष्ट कार्यका करनेवाला पापको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

हे [मरुतः] मरुतो ! [यः अर्वाच मन्यन्ते] जो अपने आपको ही सबसे बड़ा समझता रहे, [यः वानः क्रियमाणं ब्रह्म निन्दिषत्] अथवा जो हमारे क्रिये जानेवाले ज्ञान को निंदा करे । [वृजिनानि तस्मै उर्वृषि तन्तु] सब कार्य इसके लिये तैयार हो जायें । तथा [यौः ब्रह्मद्विषं संतंपाति] एलोक उस ज्ञानविरोधीको बहुत तप देवे ॥ ६ ॥

[ते तान् सप्त प्राणान्] तैरे उन सात प्राणों को और [अघौ मन्यः] जाठ मज्जाप्राणियों को मैं [वृश्यामि] ब्रह्मणा वृश्यामि] ज्ञानके दाबसे छेड़ता हूँ या खोलता हूँ । वृ [अग्निदूतः अरंकृतः यमस्य सादनं अया] अग्निदूत दूत बनकर सिद्ध होकर यमके परमे जा ॥ ७ ॥

[समिद्धे ज्ञातव्रदेसि] प्रदीप्त अग्निमें [ते पदं आदधामि] तेरा स्थान रखता हूँ । [अग्निः शरीरं वेवेष्टु] यह अग्नि शरीर में प्रवेश करे [वाक् अपि असुं गच्छतु] वाणी भी प्राण को प्राप्त हो ॥ ८ ॥

भाषार्थ- जिसमें तीन छन्दों के अरधी मंत्रों द्वारा सायणान करते हैं, उस दशमे वसु रुद्र आदिशंके सायण विद्वान् द्वारा क्रिया-बुधा यश वागादि सुभ कर्म हमारा रक्षक होवे । उस सत्कर्मसे हमारा मन शुद्ध रहे । जो पापी हमारा मन निर्वैक करनेका यत्न करता है उसको मैं दिव्य बलके साथ पकड़ता हूँ ॥ ५ ॥

एलोक और भूलोक के अंतर्गत सब वस्तुमान मेरे अनुकूल हों, सब मन्व्यादि देव मेरे अनुकूल कार्य करें । हे विधरो ! अनिष्ट कार्य करनेवाला पापी बनकर फिँत होवे ॥ ५ ॥

हे मरुतो ! जो कर्मही मनुष्य अपने आपको ही सबसे बड़ा समझता है, इतना ही नहीं परंतु हम जो ज्ञान समझ करते हैं उसकी भी जो निंदा करता है, उसको सब कर्म कष्टप्रद हों, क्योंकि जो सत्यज्ञानका विरोध करता है उसको एलोक बहुत तप देगा ॥ ६ ॥

तेरे सातों प्राणोंको और आठों मज्जास्थानोंको मैं ज्ञानसे खोलता हूँ, वृ अग्निदूत बनकर यमके परमे जा ॥ ७ ॥
 यह प्रदीप्त ज्ञानाग्निमें मैं तेरा स्थान रखता हूँ । यह अग्नि तेरे अंदर प्रविष्ट होवे और तेरा वाणी भी प्राण को प्राप्त होवे ॥ ८ ॥

मानस शक्तिका विकास ।

मनही शक्तिये मनुष्य की योग्यता नियत होती है । जिसका मन शुद्ध और पवित्र उद् महात्मा होता है और जिसका मन अशुद्ध और मलिन विचारोंवाला वह दुष्ट बदलाता है । इसके पूर्व सूक्ष्म आत्माके शुष्क वर्धन करने द्वारा आरंभिक दल बाने

का उपाय कदा, नशी की पूर्ति करने के लिये इस सूक्ष्म मानसिक शक्ति विकास का उपाय बताया है, क्योंकि आत्मिक शक्ति विकास के लिये मानसिक शुद्धताकी भी अत्यंत आवश्यकता है । मन मलिन रहा तो आत्मिक बल बढ़ ही नहीं सकता ।

मानस शक्ति विकासके साधन ।

त्यागभाव ।

मानसिक बल बढ़ानेवालेका नाम इस सूक्ष्म ' मरदाज, ' अर्थात् ' (भरत + वाजः ' = वाजः + भरत) बल भरनेवाला कहा है । ' वाजः ' का अर्थ घो, अज, जल, प्रार्थना, अर्पण, यज्ञ, शक्ति, बल, धन, वेग, गति, युद्ध, शब्द ' यह है । इसमें घो, अज, जल ये तदायै शारीरिक बलकी पुष्टि करनेवाले हैं, परंतु यहीं युद्ध सात्विक सेवन किये जाय तो मनको भी सात्विक बनाते हैं । जल प्राणों के बलके साथ संशयित है । धन आर्थिक बलका योतक है । अर्पण, आत्मसमर्पण, यज्ञ जिसमें आत्मसर्वस्वकी आहुति देना प्रचल अंग होता है, ये यज्ञरूप कर्म आत्मिक बल बढ़ाते हैं । युद्ध क्षात्र बल बढ़ाता है । परमेश्वरकी प्रार्थना मानसिक बलकी वृद्धि करती है । वाज शब्दके जितने अर्थ हैं इनकी संयति इस प्रकार है । यहाँ बल बढ़ाने वाले साधनोंका भी ज्ञान हुआ । पाठक यदि इस बातका विचार करेंगे, तो उनको इससे अपना बल बढ़ानेके उपाय ज्ञात हो सकते हैं । यह बल जो मर देता है, उसका नाम ' मरद् - वाजः ' होता है । यह मरदाज आत्मिक बल बढ़ाने का साधन इस प्रकार सब को कथन करता है-

शुभवचन ।

मरदाजः मङ्गं उक्तयानि संसति ॥ (मं० २)

' बल बढ़ानेवाला मुझे सूख कहता है ' अर्थात् उत्तम वचन अथवा ईश गुणवानके स्तोत्र कहता है । ये शुभवचन कहनेसे, इनका मनन करनेसे, इनको अपने मनमें स्थिर करने से ही मनकी शक्ति बढ सकती है । परमेश्वर मणि, सपासना, सद्भावनाका मनन यही सूक्ष्मधर्म है । इससे मनकी पवित्रता होने द्वारा मानसिक शक्ति विकसित होती है ।

ज्ञान ।

इस ' ज्ञानामि ' को ही ' ज्ञात-वेद जमि ' कहते हैं, जिससे वेद प्रकट हुआ है वही ज्ञानि ज्ञातवेद है । जिससे ज्ञान प्रकाशित हुआ है वही यह ज्ञानि है । इसीको ज्ञानामि, मद्गामि, आत्मानामि, ज्ञातवेद, ज्ञादि अनेक नाम हैं । मानसिक शक्ति विकास, या आत्मिक बल वृद्धि करनेकी जिसको इच्छा है, उसको इस ज्ञानिकी शरण लेना योग्य है । इस विषयमें अष्टम मंत्रमें कहा है-

ना ह्यजामि से पदं समिद्धे ज्ञातवेदसि ।

जामिः शरीरं वेदेष्टुं वागवि यच्छतु ॥ (मं० ८)

' हृष प्रदीत ज्ञातवेद नामक ज्ञानमिने तेरा पांव में रखता हूँ । यह ज्ञानामि तेरे शरीरके रोम रोम में प्रविष्ट होने और तेरी वाणी भी प्राणमि के पास जावे ' जो मनुष्य अपने आत्मिक बल तथा मानसिक बल बढ़ानेका इच्छुक है उसको अपने ज्ञानकी प्राप्तिसे संयुक्त होना चाहिये । जिस प्रकार वेदा ज्ञानमिने पदनेसे वह योके समनमें आभिरूप होजाता है, उसी प्रकार ज्ञानामिमें पडा हुआ वह मनुष्य योके ही समनमें अपने ज्ञानको ज्ञानामिमें-ज्ञातवेद ज्ञामिमें-प्रदीत हुआ देखता है । यह ज्ञाना-बसा है ।

जीवित वाणि ।-इस समय इसके वाणीमें एक प्रकारकी प्राणशक्ति प्रकाशित होती है, मानो इसकी वाणी जीवित की हो जाती है । (वाक् अक्षं गच्छति) वाणी प्राणको प्राप्त करती है । सामान्य मनुष्योंकी वाणी मुर्दा होती है, परंतु इस ज्ञानिकी वाणी जीवित होती है । यह सिद्ध पुरुष जो कहता है वह बन जाता है वह जीवित वाणीका आशात्कार है ।

शाखा छेदन ।-तेरी मंडी काशाएँ काट कर वृक्षको सुंदर बनाया जाता है । वृक्षपर बलियोंका भार बढ गया, तो इसको बढनेके लिए उस भार से मुक्त करना आवश्यक होता है । अर्थात् उद्यानके वृक्षोंको जैसे चाहिये जैसे बढने देना उचित नहीं है । इसीप्रकार इस अष्टम टिप्पणके विषयमें जानना चाहिये । इस विषयमें श्री मगवद्गीतामें कहा है-

ऊर्ध्वमूलमघः शाखमक्षर्यं प्राहुरभ्यवम् ।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

अथब्रौर्ध्वं प्रस्तुतास्तस्य शाखा गुणमवुच्चा विषयमवाळाः ।

अथश्च मूळान्यनुसन्ततानि कर्षानुबन्धोति मनुष्यलोके ॥ २ ॥

न रूपमस्यैह तयोपलभ्यते नाऽन्तो न चाऽऽदिनं च संप्रतिष्ठा ।

अथत्थमेनं सुविरुद्धमूलमसंख्यदक्षेण दर्शनं शिखा ॥ ३ ॥ गीता ल० १५

‘ऊपर मूल और नीचे शाखा विस्तार फैला है ऐसा यह अथर्व वृक्ष है । ऊपर नीचे इसकी शाखाएं बहुत फैली हैं । इन शाखाओंको अंशंग पत्रपत्र छेद करके यहां इसको ठीक करना चाहिए’ तत्प्रथात् उच्चतिष्ठ मार्गं विहितं हो सकता है । इस विषयमें सप्तम मंत्रमें कहा है, यह अथर्व देखिये—

सप्त प्राणान्तौ मय्यस्तांस्ते वृक्षानि मद्गता ।

अथा यमस्य साद्वनमामिद्वुतो भरंक्षुता ॥ (मं० ७)

‘सात प्राणोंकी लीज आठ अर्थियोंको मैं ज्ञानसे काटता हूँ या छेदता हूँ अथवा खीलता हूँ । वृक्ष जमिना सिद्ध वृक्ष बनकर यम के घरको जा ।’ इस सप्तम मंत्रमें सात प्राणोंको और आठ मंत्रप्रार्थियोंको (वृक्षानि) काटनेका उल्लेख है । और यहां काटनेका शब्द ‘मद्ग’ अर्थात् ‘ज्ञान, मफि, प्रार्थना, उपासना, स्तोत्र’ इत्यादि प्रकार का है । मंत्र छन्दका ज्ञान आदि अर्थें प्रसिद्ध हैं । पाठक नहीं विचार करें कि क्या कर्मों ‘ज्ञान अथवा ईश उपासना’ (मद्गता वृक्षानि) छान बनकर किसीको काट सकता है ? यदि ये शत्रु बन कर किसीको काटने होंगे तो किसको काटते हैं ? यह विचार करना चाहिए ।

असंगशाख और द्रव्याख ।—गीतामें ‘असंगशाख’ से वृक्ष काटनेका उल्लेख है, यहां शान्ता वाचनाओंको असंग शाखें काटनेका भाव है । वाचनाएं भी मोग की इच्छासे ही फैलती हैं और मोग भी इंदियोंके विषयों के ही होते हैं । अर्थात् असंग पत्रपत्र जिन शाखाओंको काटना है, वे शाखाएं इन्द्रियमोग की वृत्तिस्वरूप ही हैं । अथर्वशाखाका यह आधुन मर्ममें लेकर यदि हम इस मंत्रके सप्त प्राणोंको मद्ग करके काटनेका वर्णन देखेंगे तो स्पष्ट होगा कि यहां भी एक विशेष अलंकार ही है, दोनों स्थानोंमें क्रियाश्च अर्थ एक ही है—

अथर्व.....असंगदक्षेण शिखा ॥ (मं० गीता १५ । ३)

सप्त प्राणान्मद्गता वृक्षानि ॥ [अथर्व० २ । १२ । ७]

‘वृक्षानि’ का अर्थ भी ‘उद्दन’ ही है । दोनों स्थानोंके शत्रु भी अमैतिलक हैं । (असंग) वैराग्य, लीज (मद्ग) ज्ञान उपासना; यद्यपि वैराग्य और ज्ञान ये दो शब्द भिन्न हैं, तथापि एकही बातमें सार्व होनेवाले हैं, अतमघ-शाखाकारों से दोनों परस्पर उपकारक ही होते हैं । वैराग्य के बिना आत्मज्ञान हीना कठिन है या अर्थात् है । इस प्रकार विचार करनेसे पता लगता है कि जिस साक्षात्विस्तार को अथर्वशाखा काटना चाहते हैं उसी शाखाविस्तारको यह वेदमंत्र काटना चाहता है । इसकी शिखा करनेके लिये हमें ‘सप्त प्राण’ धीन हैं इसकी खोज करना आवश्यक है—

सप्त प्राण—

१ प्राणा इंद्रियगणे ॥ तापहयमा० २ । १४२; २२ । ७ । ३

२ सप्त विरसि प्राणाः ॥ वाचस्पत मा० २ । १४२; २२ । ७ । ३

३ सप्त शीर्षन् प्राणाः । ताप० मा० २ । १४२ । ८

४ सप्त वै शीर्षन् प्राणाः । वे. मा. १ । १७; वे. मा० १ । २ । ३ । ३

‘(१) प्राण ये इन्द्रियों ही हैं । (२-४) सिरमें सात प्राण अर्थात् इन्द्रियों हैं ।’ इस प्रकार यह स्पष्टीकरण सप्तप्राणोंके वैदिक सारस्वतमें किया गया है । इससे सप्त प्राण ये शत्रु इन्द्रिय हैं इस विषयमें किसीको संदेह नहीं हो सकता । कईको मतलब ये इन्द्रिय दो आँसू, दो कान, दो नाक और एक मुख मिलकर सात हैं और कईको मतलब ये ज्ञान, तपसा, नेत्र, मिथा, नाक,

पिछ और मुच है, इन घातोंके क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, काम और भाषण ये घात श्लोण हैं । इनके कारण उत्तम मध्यम-अथवा निम्न गति इस मनुष्यकी होती है । दोनों मतीका तात्पर्य इतनाही है, कि चिन् इन्द्रियोंके साधनसे यह मनुष्य बाधनाओंके जालमें फँसता है और ओष गोमयेकी इच्छासे रोगके बधमें प्रस्त होता है, ये घात इन्द्रियोंकी शाखाएँ ज्ञानके शस्त्रसे काटना चाहिये । जिन प्रकार माली अपने उद्यान के वृक्षोंको तेज भेडा बढने नहीं देता, उसी प्रकार इस शरीर के क्षेत्रमें कार्य करनेवाला यह जीवात्मा रूपी माली है, उसको अपने उद्यान के इन घात वृक्षोंको तेजे मंडे बढने देना उचित नहीं है, जैसे बढने लगे तो ज्ञानकी केंचीसे मर्मांशसे बाहर बढनेवाली शाखाओंको काटकर उनको अपनी मर्मांशमें ही रखना उचित है ।

इसका स्पष्ट ध्याय यह है कि ये ही इन्द्रिय यदि बुरे व्यवहार करने लगे तो उनको अलङ्कारके नियमसे नियम बद्ध करके संयमपूर्णशरीरसे दमन करना चाहिये । इन्द्रिय दमन से ही आप्त्यात्मिक शाक्ति विकसित हो सकती है । शांसा छेदन का तात्पर्य यही है ।

आठ प्रंथी— इस छतम मन्त्रमें (अष्टौ मन्थाः) आठ प्रंथि, या घननियाँ हैं, उनको भी छेदन करने का विधान किया है । ये आठ मन्त्रा प्रंथियाँ हैं जिनके विलक्षण जीवन रस शरीरमें प्रवाहित होते हैं । गुदा, नाभि, पेट, हृदय, कण्ठ, तालु, अग्रमध्य, मस्तिष्क इन स्थानोंमें ये प्रधान आठ मन्त्रा-प्रंथियाँ हैं और इनके जो जीवन रस आता है उससे उक्त स्थानमें जीवन प्राप्त होता है । इससे प्राप्त होने वाला जीवन रस तो आवश्यकही है, परंतु यदि इधरसे हीन प्रश्रुति होने लगी तो उस हीन बाधना का नाश करना चाहिये । देखिये गुदाके पास की मन्त्रा प्रंथिसे शीर्षके साथ जीवन रस प्राप्त होता है । इधरसे जी-पुरुष विषयक काम होता है और इसके अतिरिक्त मनुष्य मिरता भी है; तथापि धर्मवर्षादिके अंदर काम रहा और शेष मन्त्रावर्षा पाकन हुआ तो यहाँ की ही दिव्य शक्ति ईशमक्ति में परिणत होती है । इसी प्रकार अग्रमध्य प्रंथियोंके विषयमें समस्तना चाहिये । इससे पाठक समझ लये होंगे कि जिस प्रकार बाहर दिखनेवाला इन्द्रियोंका संयम आवश्यक है; उसी तरह इन प्रंथियोंकी स्वाधीनता भी अत्यंत आवश्यक ही है । योगमें इसको ' प्रंथिभेद, चक्रमेद ' आदि संज्ञाएँ हैं । इसका अर्थ इतना ही है कि जिस प्रकार अपनी मनकी प्रेरणासे हाथ पाँवका हिलना या न हिलना होता है; उसी रीतिसे इन आठ प्रंथियोंका कार्य भी अपनी इच्छानुसार हो । इन्द्रियोंकी और इन केन्द्रोंकी पूर्णतया अपने आधीन रखनेका नाम यहाँ शाखा छेदन है । यह छेद संयम है । और यही शाखाछेदन (मन्त्राणां वृध्.मि) ज्ञानरूपी शस्त्रसे होना संभव है । अब यहाँ मंत्रोंकी संयति देखिये—

संयमका मार्ग— १ समिद्धे जातवेदसि पदं = जिधने प्रदीप्त जातवेद अर्थात् ज्ञान अग्निमें अपना स्थान स्थिर किया है (मं० ८) । २ अग्निः शरीरं वेवेष्टु = जिसके शरीरके रोमरोममें यह ज्ञानाग्नि भरक उठा है (मं० ८) । ३ वायु अपि अमुं गच्छतु = जिसकी वाणी भी प्राणमयताको अर्थात् जीवित दशाको प्राप्त हुई है । (मं० ८) । ४ सप्त प्राणाद् वृध्वासि = सप्त प्राणोंका अर्थात् सप्त इन्द्रियोंका शाखा छेदन जिसने किया है अर्थात् इन्द्रियों को बधमें किया है (मंत्र ७) । ५ बहौ मन्थान्मूध्वासि = आठ मन्त्रा केन्द्रोंका भी छेदन किया है अर्थात् आठ चक्रमेद द्वारा उनको वधवर्ती किया है ।

मरनेकी विद्या— वही आत्मिक बल से बलवान् होगा और वही मृत्युका भय दूर करेगा अथवा निबर होकर उसके घर जायगा । सब प्राणी मरते ही हैं, परंतु निबर होकर मरना और बात है और दर दर के मरना और घात है । सब श्लोण मृत्युसे बरते रहते हैं, मृत्युका डर हटानेकी विद्या इस सूक्तने कही है । देखिये मंत्र के शब्द—

अरंकृतः अग्निदूतः यमस्य सादनं भवाः (मं० ७)

' (अरंकृत) अलंकृत (अग्नि—) ज्ञानाग्नि (दूतः) नेवक बनकर यमके घर जा । ' क्योंकि अब तुम्हें यमका वह घर नहीं है जो अज्ञानवस्थामें था । यह मृत्युका दर हटानेकी विद्या है । मानो यह मरनेकी विद्या है । जीवित दशामें यह विद्या प्राप्त करना चाहिये । जिधने इन्द्रियोंका संयम किया है, निम्ने अपनी जीवन शक्तियोंको अपने आधीन किया है, जिसका जीवन ज्ञानसे परिशुद्ध प्रशस्ततम कर्ममय हुआ है, और जो सत्यज्ञानके प्रचारके लिये अपने आपको समर्पित करता हुआ अपना जीवनही ज्ञानाग्नि में समर्पण करता है, क्या कभी यह मृत्युसे डर सकता है ? वह तो निबर होकर ही मृत्युके पास पहुँचेगा । इसी प्रकार देखिये—

निर्मेय ऋषिकुमार — ऊठे पचेरतमें कथा है कि, नचिकेता ऋषिकुमार यम के पास गया था । वह तीन रात्री यमके घर रहा, उसको देखकर यमकी माँ मय मादम हुआ । उसकी प्रसन्न करनेके लिये यमने तीन वर दिये । ये तीन वर मानों तीन प्रबन्ध शक्तियों थीं, परंतु इस ऋषिकुमारने इन तीन शक्तियोंमें अपने मोग नहीं बढाये; परंतु ज्ञान प्राप्तिमें ही इन शक्तियों का व्यव उसने किया । यमने = ना मोग उसके सम्मुख रखे, परंतु ऋषिकुमारने अपने ज्ञानाक्षर वासना रूपी शालाओंका छेदन किया था, इसलिये भोगोंको स्वीकारनेकी रुची नहीं थी, भोगोंको छोड़कर ज्ञान प्राप्ति ही उसने इच्छा की और इस स्वाभाविकी अन्त में अपने ज्ञान प्राप्त किया । यमके साथ बराबरीके नातेसे यह ऋषि कुमार रहा, बराबरीके नातेसे बोला और बराबरीके साथ दक्षि वापस आया । ऐसा क्यों हुआ ? पठओ । विचार तो कीजिये । नचिकेता ऋषिकुमार अभिधा दत्त बनकर, ज्ञानका सेवक बन कर, भोगेच्छाका त्याग करके यमके पास गया था; इसलिये वह निडर था । जो लोग भोगेच्छासे यम के पास जायेंगे वे डरते हुए जायेंगे, इसलिये पकड़े जायेंगे । यही भेद है साधारण मृत्युमें और ज्ञानीकी मृत्युमें । यही वेदकी मृत्युविधा है ।

आत्मवद्भाव । एकके दुःखसे दूसरा दुःखी ।

यहां तक जो आत्मोच्छांतका वर्णन किया है उसका विचार करनेसे ज्ञानीका उच्चारणकी करना पाठकोंको ही पकड़ती है । उस ज्ञानीके मनमें ' आत्मवद्भाव ' इस समय जागृत और जगत् होता है, सब भूतोंको वह आत्मसमान मानने लगेगा है । जो जिसका दुःख दुःख हीका होता है, वैसा ही मुझ दुःख दूसरोंको होता है ऐसा इसका भाव इस समय बन गया है । वह अपनेमें और दूसरोंमें भेद नहीं देखता; दूसरोंके दुःखों से अपनेको दुःखी और दूसरोंके सुखसे अपनेको सुखी मानने तक उसकी उच्च मनोऽवस्था इस समय बन चुकी होती है । इसलिए जिस समय वह सम्मुख घटता होता है, उस समय सब अन्य प्राणीमात्र घटता ही जाते हैं । जब दूसरोंका दुःख ज्ञानी अनुभव करनेपर लेने लगता है, और सब जगत् के दुःखका मात्र भाव-दक्षि लींजाता है, उस समय इसके दुःखमें भी सब जगत् हिस्सेदार होता है । यह नियम ही है । यह परस्पर संबेदनाका सार्वभौमिक नियम है । जिस प्रकार एक स्वरमें मिनानो हुई तन्नुबायकी सारे एक बसाई जानेपर अन्य सब स्वर बनने लगता है, वही प्रकार यह ज्ञानीके ' सर्वात्मभावे जीवन् ' से सब जगत्के साथ समान संबेदना उत्पन्न होती है । यह ' आत्मवद्भाव ' की परम उच्च अवस्था है । यही इस सूक्तके प्रथम मंत्रने बताया है—

मयि तप्यमाने से इह तादन्ती [मं १]

' मेरे घटता ही जाते पर ये यही संगत हों । ' पूर्वा, अंतरेख, पुलोक, बाँचका अवकाश, मेघमंडल, सूर्य अग्नि मितना भी कुछ स्थान है और उस संपूर्ण स्थानमें जो भी भूमात्र है उनके लक्ष्योंको मैं अपने ऊपर लेना हूँ, जगत् की धृष्टि करनेके लिये मैं अपने आपकी समर्पित करता हूँ, मैं जगत् की दुःखी नहीं देख सकता, जगत् सुखी ही और उसका दुःख मुझपर आजाय, इस प्रकार की भावना जिसके रोम रोममें मरी है, जिसके दैनिक जीवन में टाली गई है; वह करने आपकी जगत् के साथ एकत्व देखता है, जगत् को अपने आत्मके समान समझता है, या यों कहो कि वह आत्मे के दुःखसे दुःखी होता है । ऐसा महात्मा जिस समय संतप्त होता है उस समय सब भूत भी संतप्त ही जाते हैं । यह अवस्था प्रथम मंत्रद्वारा बतायी है । यह मृत्यु की तत्कालिकी परम उच्च अवस्था है, इस अवस्थामें मनुष्या हुआ ज्ञानी दूसरोंके दुःखोंसे दुखी होता है और दूसरे दुःखोंसे भी सब दूसरे दुखी होते हैं । इस पूर्ण अवस्था में जगत् के साथ इसकी समान संबेदना होता है । मनका बल बढ़ते बढ़ते और ज्ञानीकी शक्ति बढ़ते बढ़ते मनुष्य मनुष्य तक केबा हो सकता है । अब जो लोग इस ज्ञानमार्ग के विप्रेषी होते हैं उनकी भी यही अवस्था होती है, वह देखना है—

ज्ञानके विरोधी । जो ज्ञानके विरोधी होते हैं, जो अपने मनको गिराने योग्य कार्य करते हैं, जो दूसरोंके मनोंको निर्बल करनेके उद्योगमें रतने हैं उनकी दशा क्या होती है, वह इस सूक्तके मंत्रोंके अन्वेषण ही देखिये—

१ या अतीव मन्थे = जो अपने आपको ही परमंथे केबा समझता है, अपने से और अधिक अग्र कोई नहीं है ऐशानी मानता है, (मं ६)

२ द्विषमाणं नः ब्रह्म षः निन्दिषत् = किया जानेवाला हमारा जनघनेन्द्र जो निंदा दे, हमारे ज्ञानघंणादन, ज्ञानरक्षण और ज्ञानबर्धनके प्रदल्लोको जो निंदा करता है, (मं ६)

३ धृतिनाति धर्मैः तर्प्य सन्नु = सब कर्म उसके लिए तृपदायक हों, उसको हरएक कर्मसे बडे कष्ट होंगे, किधीमी कर्म से उसके कर्मों शान्ति नहीं मिलेगी, (मं ७)

४ धौः प्रज्ञाद्विषं अभि से तपति = प्रज्ञासमान सुलोक ज्ञानके विद्वेषोंको चारों ओरसे संतप्त करता है, ज्ञानके विद्वेषोंकी द्विषी ओरसे भी शान्ति नहीं मिल सकती (मं ८)

ज्ञान के विरोधी (प्रज्ञाद्विष) का उत्तम वर्धन इस मंत्रमें हुआ है वह इतना स्पष्ट है कि इसका अधिक दृष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । असाधिक घमंड करना भी अज्ञान या निप्या ज्ञानका ही घोटक है, और यह अत्यंत घातक है । यदि स्वयं ज्ञान बर्धन का प्रदल्ल कर नहीं सकते तो न सही, परंतु दूसरे कर रहें हों उनका तो विरोध करना नहीं चाहिये । परंतु यदि स्वयं मिथ्याज्ञानसे मलिन हुआ मनुष्य दूसरे ज्ञानियोंको छताने लगे, तो वह अधिक ही भिर जाता है । इस प्रकारके निरनेवाले अज्ञानी मनुष्यका हरएक प्रदल्ल कष्टवर्धक ही होता है, उसके कर्मसे जैसे उसके फल बडते हैं वैसे जनटाके भी कष्ट बडते हैं, क्योंकि उसके अज्ञान और निप्याज्ञानके कारण वह ओ करता है वह झोट चिचसेही करता है, इस कारण जैसा उसका नाश होता है वैसा उसके साथ संबंध रखनेवालेका भी नाश हो जाता है । यह बात इस छंदे मंत्रने बतार् है । अब इस घुरे कर्मके कर्ताकी अवस्था बाँचके चार मंत्रने बतार् है, यह देखिए—

१ अदकामस्य कर्ता पापं वा अष्टुनु । (मं ५)

२ नः अस्माकं इदं मनः दिनदि स दुरिते पाते नरः नियुषवाम् । (मं २)

३ अमुं दैभ्येन हरसा आदे [मं ३]

४ नः अस्माकं इदं मनः दिनदि स कुलिषेन वृषामि । (मं ३)

“ (१) इस कुकर्मके करनेवालेको पाप लगे । [२] जो हमारा मन बिगाडता है उसको पापके पाठमें बाँधकर नियममें रखा जावे । (३) उसको दिव्य शोष या बलसे पकड़ रखा हूँ । [४] जो हमारा इस मनको बिगाडता है उसको शस्त्रसे काटता हूँ । ”

ये चार मंत्रोंके चार अंतिम वाक्य हे वे एकसे एक अधिक दृढ़ बतार रहे हैं । प्रथम वाक्यमें कहा है कि उसको पाप लगे । दूसरे वाक्यमें कहा है कि उसको बाँध कर नियममें रखा जावे वहा नियममें रखनेकी आशय काराग्रहमें रखनेका है । तीसरे वाक्यमें देवताओंका कोस उसपर हो ऐसा कहा है और चतुर्थ वाक्यमें शस्त्रमें उसका घिर काटने की बात कही है । यह एकसे एक कभी समा शिष्यकी ही जान इस विषयका बोझाका विचार यहाँ करना चाहिये । मनको बिगाडनेका पापं बडा करी है, परंतु जो एक बार ही इस पापकी करता है और एक मनुष्यके संबंधमें करता है उसका अपराध न्यून है और जो मनुष्य अपने विषय संघट्टार दूसरी जातिके मन बिगाडनेका प्रदल्ल करता है, या जातिकी ज्ञान प्राप्तिमें बाधा डालता है उसका पाप बड कर होता है । इस प्रकार दुल्लभये पापकी न्यूनभिकता समझनी योग्य है और अपराधके अनुकूल दण्ड देना चाहिये । यह दण्ड भी व्यक्तिने देना नहीं होता प्रत्युत राजघमा द्वारा देना होता है ।

दूसरे का ज्ञानवृद्धिमें बाधा डालना बडामारी पाप है, इससे जैसी दूसरेकी वैसी स्वयं अपनी भी अपायगति होती है । इसलिये कोई मनुष्य इस प्रकारका पापकर्म न करे ।

आनुवंशिक संस्कार— सबसे पहिली बात आनुवंशिक संस्कार की है । जिसका वंश शुद्ध होता है, जिसके वंशमें सरपु-रप हुए हैं, जिसके मातापिता शुद्ध अंतःकरणके होते हैं; अर्थात् बचपन से जिसके घरमें शुद्ध धार्मिक वायु संभल होता है वह अज्ञानमें फंस जानेका संभव कम है, इस विषयमें मैं बतलता हूँ—

उत्तमिः असीतिभिः सामगेभिः वसुभिः अहिगरोभिः आदित्येभिः

पितृणां ह्यष्टापूर्व नः अवनु ॥ (मं ४)

‘वसु, रुद्र, आदित्य देवोंका सामगान पूर्वक हमारे पितरों द्वारा किया हुआ यज्ञ याग आदि शुभ कर्म हमें बचावे ।’ परिवारमें जो जो प्रसारित कर्म होता है वह निःसंदेह परिचारिक जन्योंके गुरे संस्कारोंसे बचाता है । मातापिताओंका किया हुआ शुभ कर्म इसी प्रकार बालबच्चोंके शुभ कर्मपर सुरक्षित रखता है । येही आनुवंशिक शुभसंस्कार हैं । हम यह नहीं कहते कि जिनके ऐसे शुभ संस्कार नहीं होंगे वे अधम मायैव ही जाते रहेंगे, परंतु हम यही कहते हैं कि ये शुभ कर्म अवश्य सहायक होते हैं । इसलिये पितरोंके मुख्य पुत्रोंके उचित है कि वे स्वयं ऐसे कर्म करें कि जिनसे उनके परिचारिक जनोपर शुभ संस्कार ही होते रहें, यह उनका आनन्दक कर्तव्य है ।

ईश प्रार्थना ।

आनुवंशिक संस्कार अपने आधीन नहीं होते क्योंकि उन कर्मोंको करनेवाले दूसरे होते हैं । इसलिये यदि वे अच्छे हुए तो अच्छा ही है, परंतु यदि वे गुरे संस्कार हुए तो भी कोई खरनेकी बात नहीं है । स्वयं अपनी श्राद्धिका प्रयत्न करनेपर निःसंदेह शिद्धि मिलेगी । इस दिशासे आत्मश्राद्धिक प्रयत्न करनेके लिये ईशप्रार्थना मुख्य साधन है, परन्तु यह प्रार्थना दिलके जलमैत्रे ही होनी चाहिये इस विषयमें, इस एकके शब्द बड़े मनन करने योग्य हैं—

हे सोमव इन्द्र ! शृणुहि । यथा शोचता हृदां ओहवीमि ॥ (मं० ३)

‘हे शानियोंके रक्षक प्रभु ! सुनो, जो मैं जलते हुए हृदय से तुमसे कह रहा हूँ ।’ हृदयके अंदरसे आवाज आना चाहिये, अपनी पूर्ण भावनासे प्रार्थना होनी चाहिये, हृदयकी उन्नतासे तपे हुए शब्द होने चाहिये, चौकपूर्ण हृदयसे प्रार्थना निकलनी चाहिये । ऐसी प्रार्थना अवश्य सुनी जाती है । तथा—

ये यज्ञिमाः स्व से देवा दृष्टं शृणुत । (मं० २)

‘जिनका यजन किया जाता है वे देव गेरी प्रार्थना सुनें !’ इस प्रकार देवोंके विषयमें श्रद्धामयिके साथ दिलके शब्द निकलेंगे, तो वे सुने जाते हैं, तथा—

याथापुयिषी मा अनु दीधीपाम् । विवेदेवातो मा अन्वामभवम् ॥ (मं० ५)

‘याथापुयिषीं सुने अनुकूल होकर प्रकाशित हों और सब देव सुने अनुकूल होकर कार्यरत करें ।’ अर्थात् देवोंकी कृपासे मेरा मार्ग प्रकाशित हो और देवोंकी अनुकूलता के साथ मेरा कार्य चलता रहे । कोई भी ऐसा कार्य सुसिद्धे न होंगे, कि जो देवताओंके प्रतिभूत या विरोधी हो । मेरे अंतःकरणमें देवताओं की कृपासे शुद्ध स्फूर्ति होती रहे, उस स्फूर्तिके अनुकूल ही सुसिद्धे उत्तम कर्म होते रहें । देवोंके साथ अपने आपकी एकलक्षण करना चाहिये और इस प्रकार अपने अपने देवतामय अनुभव करना चाहिये ।

अपने धारोंको देवोंका मन्दिर करना चाहिये, तभी वहाँ अनुभव विचार नहीं आवेंगे और सदा वहाँ वैसी शुभ विचार ही कायै करेंगे । इस प्रकार देवोंका ज्ञात निवास अपने विचारोंके अंदर भावकपणसे होंगे तथा तो फिर अपने मानसिक बलकी वृद्धि होनेमें देरी नहीं लगेगी और जो जो फल मानसोन्नति और आत्मोन्नतिके इस सूक्तके प्रारंभिक विवरणमें कहे हैं वे सब उस उपासक को अवश्य प्राप्त होंगे ।

प्रथम वस्त्र-परिधान ।

[१३]

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-अग्निः, नानादेवताः ।)

आयुर्दा अग्ने ज्वरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने ।	
घृतं पीत्वा मधु चारु गन्धं पितेव पुत्रानामि रक्षतादिमम्	॥ १ ॥
परिं घत्त घत्त नो वर्चसिमं ज्वरामृत्युं कृणुत दीर्घमार्युः ।	
बृहस्पतिः प्रार्यच्छ्वास एतस्तोमायु राज्ञे परिधातवा उं	॥ २ ॥
परीदं वासो अधिधाः स्वस्तयेऽभूर्गृहीनार्मभियस्तिपा उं ।	
श्वतं च जीवं श्वरदः पुरुची रायश्च पोषंमुपसंन्ययस्व	॥ ३ ॥

अर्थ-हे [अग्ने जग्ने] तेजस्वी जग्ने ! तू [आयुः-दा] जीवनका दाता, [ज्वरसं वृणान] स्तुतिकार स्वीकार करनेवाला, [घृत-प्रतीकः] घृतके समान तेजस्वी और [घृध-पृष्ठः] घोडा सेवन करनेवाला है । अतः [मधु चारु गन्धं घृतं पीत्वा] मीठा-सुंदर गाय का घी पीकर [पिता पुत्रान् इव] पिता पुत्रोंकी रक्षा करनेके समान तू [इमं अभिरक्षतात्] इसकी सब ओरसे रक्षा कर ॥ १ ॥

[नः हर्म] हमारे इस पुरुषको [परिघत्त] चारों ओरसे धारण कराओ, [वर्चसा अत] तेजसे युक्त करो, इनका [दीर्घ आयुः जराहस्त्यं कृणुत] दीर्घ आयु तथा वृद्धापस्थाके पश्चात् मृत्यु करो ॥ [बृहस्पतिः एतत् वासः] बृहस्पतिने यह कपडा [सोमाय राज्ञे परिधातवै] सोम राजाको पहननेके लिये [उ प्रायच्छत] निश्चयसे दिया है ॥ २ ॥

[इदं वासः स्वस्तये परि अधिधाः] यह वस्त्र अपने कल्याणके लिये धारण करो, [गृहीतान् अभिस्तित्वाः उ जभूः] तू मनुष्योंको विनाशसे बचानेवाला निश्चयसे हुआ है । इस प्रकार [पुरुचीः श्वरदः श्वतं च जीव] परिपूर्ण सौ वर्षतक भीओ । और [रायः पोषं च घप सं न्ययस्व] धन और पोषणका कपडा सुनो ॥ ३ ॥

भावार्थ- हे तेजस्वी देव ! तू जीवन देनेवाला, स्तुतिको सुननेवाला, तेजस्वी और देवनादिवे घी का सेवन करनेवाला है; अतः मधुर सुंदर गायका घी पीकर इस बालक की ऐसी उत्तम रक्षा कर कि जैसी पिता अपने पुत्रोंकी उत्तम रक्षा करता है ॥ १ ॥

॥ उ बालक को चारों ओरसे वस्त्र धारण कराओ, इसका तेज बढ़ाओ, और इसकी आयु अतिदीर्घ करो, अर्थात् अति-वृद्धापस्थाके पश्चात् ही इसका मृत्यु हो । यह वस्त्र सबसे प्रथम कुलपुरुष बृहस्पतिने सोम राजाके पहननेके लिये बनाया था, जो इस बालकको पहनाया जाता है ॥ २ ॥

यह वस्त्र अपने कल्याणको वृद्धि करनेके लिये धारण करो, मनुष्योंको विनाशसे बचानेका यही उत्तम साधन है । दृष्टः पत्वार सौ वर्षका दीर्घ आयुध्य प्राप्त करो और धनका ताना और पोषणका बाना रूप यह वस्त्र उत्तम प्रकारसे सुनो ॥ ३ ॥

एह्यर्मान्मा तिष्ठाग्मां भवतु ते त्वन्ः ।

कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः श्रवम् ॥ ४ ॥

यस्य ते वासः प्रथमवास्व्यं ह्यर्मान्स्तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः ।

तं त्वा आतरः सुवृष्टा वर्षमानुभन्तु जायन्तां बहवः सुजावम्

॥ ५ ॥

नयं—[पृथि, अर्मानं आदिष्ट] मा, शिला पर चय, [ते त्वन्ः अर्मा अवन्तु] तेरा शरीर पत्थर जैसा छट बने । [विश्वे देवाः] सब देव [ते आयुः शरदः शरदं कृण्वन्तु] तेरी आयु सौ वर्षकी करी ४ ॥

[यत्प ते प्रथमवास्व्यं वासः इरामः] जिस तेरे लिये पहले प्रथम पहनने योग्य ऐसा यह सब हम छाते हैं [तं त्वा विश्वे देवाः अवन्तु] उस तेरी सब देव उचम रक्षा करें । [तं त्वा सुजावम्] उस तुझ उचम चम्मे हुए नौर [वर्षमानं] बड़ते हुए बालकके [बहवः सुवृष्टाः भातरः अनु जायन्तां] पीछेसे बहुतसे उचम बड़नेवाले माई उत्पन्न हों ॥ ५ ॥

भाषार्थ— यहां मा, इष्ट शिलापर खड़ा रह, तेरा शरीर पत्थरजैसा छुट्ट बने, और इष्टसे सब देव तेरी आयु सौ वर्षकी बनानें ॥५॥

हे बालक ! तेरे लिये यह पहिले पहिलेके के लिये सब हमने लाया है, सब देव तेरी पूर्ण रक्षा करें, २ इष्ट उचम कुन्ने बनना है और यहाँ से उचम प्रकार से बड़ रहा है, इसी प्रकार तेरे पीछे बहुतसे हटपुष्ट और बलवान् माई उत्पन्न हों, और तेरे कुन्नी बृद्धि हो ॥ ५ ॥

प्रथम वस्त्र परिधान ।

बालक के शरीर पर प्रथम वस्त्र परिधान करनेका समारंभ इस सूक्तद्वारा बताया है । इस सूक्तका प्रथम मंत्र पृथक्का हवन आग्निमें हो जानेका विधान करता है, अर्थात् हवनके पूर्वका सब विधान इसके पूर्व हो चुका है, ऐसा अनुष्ठान उचित है । आग्निके अंदर परमात्माकी शक्ति है, इस आग्निमें जो आदिष्ट मंत्रों किया जाता है, और उसकी शक्तियों वस्त्र परिधान आदि विधि किया जाता है । सभी संस्कार अग्निमें हवन करनेके साथ होते हैं । परमेश्वर स्तुति, प्रार्थना, उपासना, शंति, अक्षयदानादि पूर्वक हवन होकर प्रथम मंत्रमें प्रभुकी धारणाकी गई है कि यह परमपिता हम सब पुत्रोंकी रक्षा करें। इस प्रकार वस्त्र परिधानकी पूर्व तैयारी होनेके पश्चात् वस्त्र लाया जाता है—

पुत्रके लिये वस्त्र ।

यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि ॥ वस्त्र मूल्य देकर दुकानसे लाया नहीं रहता । परंतु अपने पुत्रके लिये माताही कपड़ा बुनती है, इस विषयमें वेदमें अत्यन्त कड़ा है वह यहाँ देखिये—

वितन्वते धियो मत्स्य अर्वांसि वस्त्रा

पुत्राय मातरो वयन्ति ॥ अथर्ववेद ५।१०।६

इस मंत्रमें दो वाक्य हैं और वे विचार करने योग्य हैं । देखिये इनका अर्थ—

(१) मातरः पुत्राय वस्त्रानि वदन्ति = माताएं अपने पुत्रके लिये कपड़े बुनती हैं । और—

(२) अस्मै धियः अर्वांसि वितन्वते = इस बच्चेके लिये सुविचारों और धर्कमौका उपदेश देती हैं ।

यह मंत्र पुत्रविषयक माताओंका कर्तव्य बता रहा है । माताएं अपने पुत्रके लिये कपड़ा बुनती हैं इसमें प्रत्येक धर्मके साथ कितना प्रेम उस कपड़ेके तन्तुओंमें बुना जाता है इसका विचार पण्डित अवश्य करें । यह कपड़ा केवल बरपा नहीं है परंतु इसी सूक्तके तृतीय मंत्रमें कड़ा है, कि—

रायः च पोषं उपसंययस्व । (अं० ३)

“ यहाँ कपड़ेका ताना ऐश्वर्य है और बाना पुष्टि है । इस प्रकार यह कपड़ा बुना जाता है । ” सबसुख ऐश्वरी होगा, यहाँ माता अपने पुत्रप्रति अपने छोटे बालकके लिये कपड़ा बुनती होगी । धन्य है वह माता और यह बालक जो हट

प्रकार परस्पर प्रेमसे अपने कुटुंबके भूषणभूत होते हैं । इस प्रकार का कपडा उस छोटे बालक को पहनाया जाता है, उस समय का मंत्र यह है—

परिधत्त, घत्त, नो वर्धमा इमम् ।

वामान्युं कृत्युत, दीर्घमायुः ॥ (मं० २)

“ पहनाओ, पहनाओ इस हमारे बाउकके यह वस्त्र, नेत्रके साथ यह दीर्घ आयु प्राप्त करे और इसकी वृद्धावस्थामें पश्चात् ही मृत्यु ही अर्थात् अकाल मृत्युमें यह कदापि न मरे । ” जब माता अपने पुत्रके लिये प्रेमसे कपडे चुनकर तैयार करती है, तब वह प्रेमही उस बच्चेकी रक्षा करनेमें समर्थ होता है, इसलिये ऐसी प्रेमपूर्ण मानाके पुत्र दीर्घायु ही होते हैं ।

आगे इसी द्वितीय मंत्रमें कहा है कि “ देवोंके कुलपुरुष बृहस्पतिने सोमरऋषिको भी इसी प्रकार वस्त्र पहनाया था । ” अर्थात् यह प्रथा अनादिन है । कुलका पुरोहित माता का बनाया हुआ कपडा अपने आधीर्षादे पूर्वक बच्चेको पहनावे और मन्त्र उच्चारित करके बालक का शुभ चिन्तन करे । यह इस वैदिक रीतिका आराधना स्वरूप है । पाठक इसका विचार करके यह शुभ संस्कार अपने घरमें कर सकते हैं ।

वस्त्र धरमें चुननेका प्रयोजन

वस्त्र धरमें क्यों चुना जावे और बाजारसे क्यों खरीदा न जावे, इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन मनन करने योग्य है, इसमें इस बरेल्लु कवचप्रयोगे चार लाम होनेका वर्णन है ।

१ स्वस्ति ।

इदं वासः स्वस्तये अग्नि याः । (मं० ३)

“ यह कपडा अपनी स्वस्तिके लिये धारण करो । ” स्वस्ति का अर्थ है ‘ सु+अस्ति ’ अर्थात् उत्तम अस्तित्व, उत्तम इति । अपनी स्थिति उत्तम होनेके लिये अपना सुभाहुभा कपडा पहनना चाहिए । दूसरेका चुना हुआ कपडा पहननेसे अपने स्थिति खुरी होती है, बिगड़ जाती है । अपना चुना कपडा पहननेसे अपना ‘ स्वस्ति ’ अर्थात् कल्याण होता है, इस लिये अपना चुना हुआ कपडा ही पहनना चाहिये ।

२ विनाशसे बचाव ।

मृदुनीनां अग्निदास्ति—वा उ अमृतः । (मं० ३)

‘ मनुष्य मात्रका नाशसे बचाव करनेवाला है । ’ अपना कपडा स्वयं बनाकर पहनना केवल अपनाही लाभ नहीं करत । हे परम शक्ति मनुष्योंका विनाशसे बचाव करता है । इससे हरएक लक्ष्मी होनेके कारण उस समयसे ही उन ‘ मनुष्योंका बचाव हो जाता है । दुःस्थिति, हीन अवस्था, नाश आदिसे बचानेवाला यह वस्त्र चुननेका व्यवस्थाप है ।

३ धन और पुष्टि ।

यद् परका चुना कपडा केवल कपडा नहीं है, इसका ताना और बाना मानो केवल सूतका बना नहीं होता है, प्रत्युत—
रायः च पोषं उपमन्व्ययस्व । (मं० ३)

“ उसमें तानेके धागे ऐश्वर्य के सूचक और बानेके धागे पोषणके सूचक हैं । ” ऐश्वर्य मानकर ही तुम कपडा चुनो अपना कपडा स्वयं चुननेसे ऐश्वर्य और पोषण स्वयं हो जाता है और जिस कुटुंबमें और जिस परिवार में माता अपने बच्चोंके लिये कपडा चुनती है वहां तो उस परिवारका ऐश्वर्य और पोषण होनेमें कोई संकाही नहीं है । अर्थात् इस प्रकार सुख और गोपनी रहनेगी नहीं ही—

४ दीर्घ आयु ।

शतं च शीव दारदः पुरुषीः । (मं० ३)

“ सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त होगी ” यह बात सहज ही से ध्यानमें ला सकते हैं । यह तृतीय मंत्र वास्तव में बाल

के लिये आशीर्वाद परक है, तथापि उसमें अपने मुने ब्रह्मका महत्त्व इस प्रकार सूदन रीतिसे दर्शाया है । पठक इसका विचार करे और इससे बोध प्राप्त करे, तथा अपने घरमें इस महत्त्व पूर्ण वाक्य प्रचार करे । विशेषतः जो वैदिक धर्मा हैं उनको इसका सचरण अवश्य करना चाहिये ।

सुदृढ शरीर ।

हाथसे कौते हुए सूतका कपडा पहननेसे शरीरमें कोमलता नहीं आती, जैसे अन्य नरम कपडे पहननेसे आती है । वह कोमलता बहुत सुरी है, इससे जो वर्षाधी दौर्घमायु प्राप्त नहीं होती । अतः नरमा शरीर सुदृढ बनानेकी बहुत आवश्यकता है, बलकामनें जो यह उपदेश इस सूत्र द्वारा सुनना है, इस " प्रथमवज्र परिधाय " के समय ही एक विधि बनाया जाता है जिसेमें वज्र पहनते ही उस बालकको वन्द्यपर रखा जाता है और वह मंत्र बोला जाता है—

एहि, अर्दानं आतिष्ठ, ते तनुः अदमा भवतु ।

ते ह्यार्यः शतं आयुः विधे देवाः कृण्वन्तु ॥ (मं० ४)

" यहाँ आ, इस पत्थरपर चढ़, तेरा शरीर परत मज्जा सुदृढ हो, तेरी सौ वर्षकी आयु सब देह करे । "

बालक सुदृढांग हो इस विषयका उत्तम उपदेश इस मंत्रमें है । छोटपनमें मलानिवा अन्ने बालक और शालिकाकोडो सुदृढांग बनानेका यत्न करे और कभी ऐसा प्रयत्न न करे कि जिसेसे बालक नरम शरीरवाले हो । बर्षी आयु में कुम्हार और कुम्हारिका भी अपना शरीर सुदृढांग बनानेके प्रयत्नमें दक्षिण हों । इस प्रकार किया जाय तो जाती वज्रदेही बन आदमी । योगशास्त्र द्वारा भी ब्रह्मधाया बनायी जाती है, इस विषयके प्रयोग योगशास्त्रमें पठक देखें । उक्त उक्त आदि ईद्वीकी चह्न करनेके अन्वयाद्यो भी मनुष्यवश यह सुदृढ हो जाता है ।

आगे पंचम मंत्रके पूर्वार्धमें कहा है कि " हे बालक ! तूरे जिसे जो यह यह प्रथम परिधान करने योग्य वज्र (प्रथम-वास्यं वाद्यः) आते हैं, उस सुसज्जो सब देव सहायकारी हों । " इस मंत्रमें " प्रथम परिधान करने योग्य वज्र " का उल्लेख है । इससे बालककी आयुका अनुमान हो सकता है । अन्वये कुछ मात्र तक विशेष वज्र पहिनाया ही नहीं जाता । चतुर्थे मंत्रमें " पत्थर पर खड़ा करने " का उल्लेख है । अपने पाँवसे न भी खड़ा हो सके तो भी दूसरीकी सहायतासे खड़ा होने योग्य बालक चाहिये । इस मंत्रसे इतनी बात निश्चित है कि यह बालक कभीसे कम दो तीन वर्षकी आयुवाला हो, जिसे समस्त देह " प्रथम वज्रपरिधायन " किया जाता है । इसी आयुमें बालक क्षणभर दूसरीकी सहायतासे कबों न सही पत्थर पर खड़ा हो सकता है । कभीसे कम हम इसका यह समझते हैं, कि इससे कम आयु इस अर्थके लिये योग्य नहीं है । 'अर्दानं आतिष्ठ' के शब्द प्रयोग करने पाँवसे पायपर चढ़नेका माध्व बघाते हैं । इसलिये तीन वर्षकी आयु कभीसे कम मानना अनुचित नहीं है । पार या पाँच वर्षकी आयु मानना भी कदाचित् योग्य होगा । इस आयुमें यह वज्र धारण करना ही किया जाता है । इस समय जो आशीर्वाद दिया जाता है वह भी देखिये, वह बड़ा बोधदा है—

सं त्वा सुवृषासं वर्धमानम्

बहवः सुवृषाः अतारः अनुवायन्तान् ४ (मं० ५)

" उत्तम अन्ने और उत्तम प्रकार बहने वाले तुम्हें बालक के वीर्य बहुतसे बहनेवाले माई सुम्पारी माताकीके उत्पन्न हों " कई माता पिता मतिवर्षे सन्तान उत्पन्न करते हैं यह उचित है या नहीं इसको विचार इस आशीर्वाद बचनसे किया जा सकता है । तीन चार वर्ष की बालक की आयुमें यह " प्रथम-वज्र-धारण-विधि " किया जाता है, इस विषयमें पहले पूर्ण बलाव ही है । इसी समय यह आशीर्वाद दिया जाता है, कि " जैसा यह बालक हनुपट और तेनस्थो बना हुआ बट रहा है, जैसे और भी बचे इससे पंक्ति उत्पन्न हों । " मानते कि यह आशीर्वाद प्रथम बालकको चतुर्वर्षको आयुके समय मिला है तो पंचम वर्षमें द्वितीय बालक के अन्वयों समय आता है । इस प्रकार प्रत्येक दो बालकोके अन्वयेको बीचमें पाँच वर्षोंका अंतर होता है । देखिये—

(१) प्रथम बालकका अन्व । (२) उसके चतुर्थे वर्षमें यह " प्रथम वज्र धारण विधि " करना है । (३) इतने बालक को परत पर चढाकर खड़ा करना है और पत्थर जैसा सुदृढांग बन आनेका उपदेश सुनाना है । (४) इसी समय आशीर्वाद देना है कि सुम्हें हनुपट माई जो पाँवसे हों । -

यदि इसी प्रकार दूध बालक हो गया तो पहिले के पांचवें वर्ष दूधरे बालक का जन्म होना संभव है । अर्थात् पहिले बालककी माताका दूध अच्छीतरह मिलेगा जिससे पुत्रकी पुष्टि भी अच्छी प्रकार होगी, माताके अवयव भी द्वितीय गर्भ धारण के लिये योग्य होंगे और सब कुछ ठीक होगा । जहाँ प्रतिवर्ष गर्भ धारणा होती है, वहाँ दूध न मिलनेके कारण बच्चे कमजोर होते हैं बीचमें पूर्ण विश्राम न मिलनेके कारण माता में कमजोर होती है और सब प्रकार भय ही भय होता है । इसलिये पाठक इसका योग्य विचार करे और यदि यह प्रथा अपने परिवारमें साने योग्य प्रतीत हो, तो लानेका दमन करे ।

हमने प्रतिवर्ष, प्रति तीन वर्ष, प्राये पांच वर्ष और प्रति साल वर्ष संतानोत्पत्तिका कर्म करनेवाले कुटुंब देखे हैं । पहिले ही अनेका दूधरेकी और दूधरेकी अनेका तीसरेकी धार्मिक निरोधता हमने अविक्र देखी है । यह विचार विशेष महत्त्व पूर्ण है इसलिये कुछ विस्तारसे यहाँ किया है । पाठक इसे अलौल न समझे क्योंकि इनके साथ परिवारके स्वास्थ्यका विचार संबंधित है ।

आशा है कि पाठक इस सूक्ष्म योग्य विचार करेंगे और लाभ उठावेंगे ।

—:—

विपत्तियोंको हटानेका उपाय ।

(१४)

[ऋषिः-चातनः । देवता-शालाग्रिदैवत्यं ।]

निःशालां धृष्युं धिषणमेकवाद्यां जिघ्रस्वमि । सर्वाथिर्ष्यस्य नृप्स्योनाशयामः सदान्वाः ॥ १ ॥

निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षाभिरुपापानुसात् । निर्वो मगुन्धा दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे ॥ २ ॥

असौ यो अघराद् गृहस्त्रयं सन्वराद्युः । तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाथ यातुधान्यः ॥ ३ ॥

अर्थ—[निःशालां] परदार न होना, [धृष्युं] भयभीत रहना, अथवा दूश्योंको चराना, [एकवाद्यां धिषणं जिघ्रस्वं] निबध्नन् एव साधन करनेवाली विषयपरमक बुद्धिका वाक्य कानेवाली, तथा [नृप्स्यस्य सर्वां नृप्यः] कोचकी सब की सब सन्तानें और [स—दान्वाः] दानश्योंकी राक्षस वृत्तियोंका हनन [मादायामः] नाश करते हैं ॥ १ ॥

[षः गोष्ठद् मिः अजामसि] तुमको हमारी गोष्ठाकासे हम निकाल देते हैं, [अक्षाद् निः] हमारी दृष्टिके बाहर तुमको करते हैं, [उपानसाद् मिः] अन्नपानके गङ्गके स्थानसे तुमको हटाते हैं, [मगुन्धाः वः निः] मनके मोह से तुमको हटाते हैं । हे [दुहितरः] दूर रहने योग्य ! तुम्हें [गृहेभ्यः चातयामहे] घरोंसे हटाते हैं ॥ २ ॥

[असौ यः अघराद् गृहः] यह जो नाश घराना है [तत्र अराद्यः सन्तु] वहा विपत्तियां रहें [तत्र सेदिः] वहा ही छेद [नि सन्तु] निवास करे [सर्वाः यातुधान्यः] सब कुछ वहाँ ही जायें ॥ ३ ॥

भावार्थ— आचार्य साधनाओंसे प्राप्त होनेवाली कई विपत्तियां हैं तनमें कुछ ये हैं—

(१) परदार कुछ भी न होना,

(२) सदा औरोंका भय प्रतीत होना वा दूश्योंको चराना,

भूतपतिर्निरञ्जित्विन्द्रंश्चेतः सुदान्वाः ।

गृहस्य बुधा आसीन्निस्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु

॥४॥

यदि स्थ क्षेत्रियाणां यदि वा पुरुषेपिताः । यदि स्थ दस्युभ्यो ज्ञाता नश्यतेतः सुदान्वाः ॥५॥

परि धामान्यासामाशुर्गोष्ठाभिसारन् । अजैपं सर्वानाजीन्वो नश्यतेतः सुदान्वाः ॥६॥

अर्थ—[भूतपतिः इन्द्रः] प्रजापालक राजा [सदान्वाः इतः निरञ्जतु] राजसी वृत्तियोंको यहाँसे दूर करे । [गृहस्य बुधा आसीनाः] घरकी जड़में निवास करनेवाली दुष्टताएं [इन्द्रः वज्रेण अधितिष्ठतु] इन्द्र अपने वज्रसे इटादेवे ॥ ४ ॥

हे [सदान्वाः] आसुरी वृत्तसे होनेवाली पीढाओ । [यदि क्षेत्रियाणां स्थ] यदि तुम वंश संबंधी रोगसे उरबद्ध हुई हो, [यदि वा पुरुषेपिताः] यदि मनुष्य की प्रेरणासे उत्पन्न हुई हो [यदि दस्युभ्यः जाताः] यदि तुम डाकुओंसे हुई हो, तुम सब [इतः नश्यत] यहाँसे हट जाओ ॥ ५ ॥

[आशुः गाम्ना इव] जैसे घोडा अपने स्थान को पहुँचता है उसी प्रकार [आसा धामानि परि सारन्] इन विपत्तियोंके मूल कारणको हट कर निकाल दो । [वः सर्वान् आजीन् ज्ञैव] तुम्हारे सब संघर्षों को जीत लिया है जितने है [सदान्वाः] पीढाओ ! [इतः नश्यत] यहाँ से हट जाओ ॥ ६ ॥

(३) निष्कामक एक बुद्धि कमी न होना अर्थात् सदा संवेद रहना,

(४) मन सदा प्रोषवृत्तिसे युक्त होना, ये सब विपत्तियाँ हैं, इनको पुरुषार्थसे हटाना चाहिये ॥ १ ॥

जिसप्रकार बुज्रियोंको विवाहादि करके परछे दूर करते हैं उसी प्रकार इन विपत्तियोंको भी अपने पादसे दूर इटाला चाहिये । गोशालाके, परोंके, अपनी शक्तिसे, अन्नपान वा गाड़ी रथ आदिके स्थानसे तथा मनकी वृत्ति से विपत्तियोंको हटानेका पुरुषार्थ करना चाहिये ॥ २ ॥

जो नाच वृत्तियाँके पर हैं वही विपत्ति, नाच तथा दुष्ट हुराचारीभी रहते हैं ॥ ३ ॥

प्रजापालक राजाको चाहिये कि ऐसे दुष्टोंको अपने सुयोग्य शासनद्वारा दूर करे । किसी भी परछे अंदर दुष्टभाव आसन्न होने न पावे ॥ ४ ॥

इन पाँचोंमें कई तो आनुवंशिक रोगसे होनेवाली पीढाएं होती हैं, कई तो मनुष्यके अपने दबवहारसे उत्पन्न होती हैं, कई तो डाकुओंसे होती हैं इन सबको दूर करना चाहिये ॥ ५ ॥

जिसप्रकार घोडा अपना पाँव ठठा कर प्रसक्त स्थानपर पहुँचता है वहीप्रकार इन सब विपत्तियोंके मूल कारण देखकर, उन मूल कारणोंको अपनेमैले हटाना चाहिये । सब जीवनकालमें अपना विजय निःसन्देह हो जावे, ऐसी अपनी पैदाई करने से और हरएक जीवनयुद्धमें आमत रहते हुए विजय प्राप्त करनेसे ही ये सब पीढाएं हट सकती हैं ॥ ६ ॥

विपत्तियोंका स्वरूप ।

इस सूक्तमें अनेक विपत्तियोंका वर्णन किया है वह क्रमशः देखिये—

१ निः साला = शाला अर्थात् घर दार न होना, निवास स्थान न होना, विधामके लिये कोई स्थान न होना ।

(मं १)

२ घृण्यु = सदा भयभीत रहना, दूसरोंसे डरते रहना, अधिकारियोंसे या धर्मोत्साओंसे डरना, ऐसे कुछ कृत्य करना कि जिससे मनमें सदा डर रहे कि कोई आकर मुझे पकड़े । इधका दूसरा प्रसिद्ध अर्थ दूसरोंको डराना भी है । दूसरोंको भय दिखाना, घबराना, दूसरोंको भयभीत करके अपना स्वार्थ साधन करना ६० (मं १)

३ एकवाद्यां धिपयं जिघत्स्वै = एक निश्चय करनेवाली वृद्धिका नाश करनेवाला घातपातका स्वभाव । बुद्धिसे कार्य-कार्यका निश्चय होता है, हाँ निश्चयवात्मक बुद्धिका नाश करनेवाला स्वभाव । जिसकी निश्चयवात्मक बुद्धिही नहीं होती, सदा संदेहमें जो रहता है । (मं १)

४ चन्द्रस्य सर्वा नश्यः = कोषकी सब संतान । अर्थात् कोषमें जो जो आप्तियां आना संभव है वे सब आप्तियां । (मं० १)

५ स-दान्वाः (स-दानवाः) = अमुकोका नाम दानव है । दानवका अर्थ है घात पात करनेवाले; गांतामें आसुरी संगतिका बनने विस्तार पूर्वक है, उस प्रकारके लोक जो घात पात करते हैं उनका यह नाम है । दानव भावसे युक्त होना यह भी बड़ी भारी आपत्ति ही है । (मं० १)

६ अ-रह्यः = केंद्रमीका भाव, निर्धनता, ऐश्वर्यका अभाव । (मं० ३)

७ केदिः = क्लेश, महक्लेश । शारीरिक क्लेशता, दुर्बलता । क्लेश भी कार्य करनेकी सम्मर्पन होगा । (मं० ३)

८ यानुषान्यः = धनता न होना । और सकृति करनेवाले लोग और उनके बड़े दुःखित भाव । (मं० ३)

ये सब आप्तियां हैं। इनका विशेष विचार करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रायः सबका परिचय इनके साथ है, अंगतः सब इनके क्षेत्रोंसे परिचित हैं । इच्छित्ये सर्वा चाहते होंगे कि ये सब क्लेश दूर हों। इनके तीन भेद होते हैं-

तीन भेद ।

१ क्षेत्रियाः = अर्थात् कई आप्तियां ऐसी होंगी हैं कि जो मनुष्य के स्वभावमें सेत्रसे आयी होती हैं, बंधपरंपरासे प्राप्त होती हैं, जन्म स्वभावसे होती हैं । (मं० ५)

२ पुत्रोपरिता = दूसरी आप्तियां ऐसी होती हैं कि जो (पुत्र-सन्निः) अन्य मनुष्योंकी कुटिल प्रेरणामुक्ति कारण होती हैं । (मं० ५)

३ दस्युभ्यः आत्ताः = तीसरी आप्तियां ऐसी हैं कि जो दस्यु और डाकू आदि दुष्टोंसे उत्पन्न होती हैं । (मं० ५) आप्तियोंके तीन भेद हैं (१) अपने जन्म स्वभावसे होनेवाली, (२) दूसरे पुत्रोंकी कुटिल प्रेरणासे होनेवाली और (३) दुष्टोंके साथ होनेवाली । इन सब आप्तियोंको अवश्य दूर करना चाहिये ।

कई आप्तियां क्षान्दान आदिसे स्थानसे ही उत्पन्न होती हैं जैसे रोगादि आप्तियां हैं, उनको दूर करनेके लिये उनके वृद्धन स्थानमें ही प्रतिबंध करना चाहिये, इस विषयमें द्वितीय मंत्रका कथन देखिये-

आत्मशुद्धि और गृहशुद्धि ।

१ गोहाद निः क्षामामि— गोहालासे इटाया हूँ अर्थात् गोहाला के कुप्रबंध में जिन रोगादि आप्तियोंकी उत्पत्ति हुई सकती है उसको दूर करना हूँ । गोहालाकी पवित्रता करनेसे इन आप्तियोंका नाश हो सकता है । (मं० २)

२ ब्रह्मनाद निः क्षामामि— ब्रह्मपानके गुरु, अथवा बह्वन् आदिके स्थानमें जो कुछ दोष होनेसे आप्तियां उत्पन्न होती हैं उनकी शुद्धतासे इन आप्तियोंको मैं हटाया हूँ । (मं० २)

३ अज्ञानाद निः क्षामामि— अज्ञान, दृष्टिके दोषसे जो जो बुरे भाव पैदा होते हैं, उनकी शुद्धि करने द्वारा मैं अपने अंदरके दोषोंको दूर करता हूँ । इस प्रकार संपूर्ण इंद्रियोंके शुद्धिकरण द्वारा बहुतायी आप्तियोंको दूर किया जा सकता है । आत्मशुद्धि की रचना यहाँ मिलती है । (मं० २)

४ मनुष्याः निः क्षामामि = (म-मुन्दाः = मन ऋगुन्दावाः) मनको मोहित करनेवाली वृत्तिये लुप्तको हटाया हूँ । मनको मोहनिद्रा दूर करता हूँ । यह मनकी शुद्धि है । (मं० २)

इस द्वितीय मंत्रमें अपने नेत्र आदि इंद्रियोंकी शुद्धि, मनकी शुद्धि, गोहालाका शुद्धि, घरके शुद्धि, यात्री आदि बह्वन् यहाँ रखे जाते हैं उन स्थानोंकी शुद्धि करने द्वारा आप्तियोंका दूर करनेका उपदेश है । इस मंत्रके अंदर जिन बातोंका उल्लेख है उनसे जो जो शुद्धि स्थान अवशिष्ट रहे होंगे; उन सबका प्रक्षण यहाँ करना उचित है । इसका तात्पर्य यही है कि जहाँसे आप्तियां उठती हैं और मनुष्योंको सताती हैं, उन स्थानोंकी शुद्धता करना चाहिये । पवित्रता करनेसे ही सब स्थानोंसे आप्तियां दूर जाती हैं । मत्तबला आप्तियोंको उत्पन्न करनेवाली और पवित्रता आप्तियोंको दूर करनेवाली है । यह नियम पाठक प्रायः सर्वत्र लम्ब सकते और आप्तियोंको हटा सकते हैं, तथा सम्पत्तियां प्राप्त भी कर सकते हैं ।

नीचतामें विपातिका उगम ।

विपत्तियों का उगम नीचतामें है इस बातको अधिक स्पष्ट करनेके लिये तृतीय मंत्रका उल्लेख है । इसमें कहा है कि— 'जो वह (अधर्वात् युद्धः) नीच पराजय है वहाँ ॥ सब क्लेशियों, विपत्तियों, नाश, अंध, कृपणा और चोरी आदि दुष्ट भाव रहते हैं ।' नीच परमें इनकी उत्पत्ति है । 'अधर्वात्' शब्द वहाँ नीचताका द्योतक है । जो ऊपरवाला नहीं वह नीचेवाला है । जहाँ हीनता होगी वही अधर्वात्तया उगम होगा, इनमें कोई संदेह ही नहीं है ।

राजाका कर्तव्य ।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि ' (मृतयतिः इन्द्रः) प्राणिमात्रोंका पावन कर्ता राजा अपने वज्रसे (स्रग्दत्ताः) सब जानुओंको और (दृश्ये जुष्ट आशानाः) परके अंदर लिये हुए सब दुष्टोंको हटा देवे ।' अर्थात् राजा अपने सुधरवाहित राजमण्डले दुष्टोंको दूर करे और अरना राज्य सज्जनोंका घर बँटा बनवै । इस प्रकार हर म राज्यपुत्र द्वारा दुष्टोंको प्रतिकर्ष होनेसे सज्जनोंका मार्ग खुल जाता है । सुराज्य होना भी एक बड़ा कष्ट है कि जिससे अराजिकता कम होती है, वा दूर जाती है ।

जीवनका युद्ध ।

आपत्तियोंके साथ लड़ाई करना, विपत्तियोंसे लड़ना और उनका पराभव करके अरना विजय संवादन करना, वह एक मानव उपाय है, जिससे आपत्तियाँ दूर हो सकती हैं । पठक विचार करेंगे, तो उनके पता लग जायगा कि वह युद्ध इत्येक स्थानपर करना पड़ता है । सारीमें व्याधियोंसे उपटना है, समाजमें आक्रुतया दुष्टोंसे लड़ना होता है, राष्ट्रमें विदेशी शत्रुओंसे युद्ध करना होता है और विश्वमें अनिष्टोंसे लड़ना ही अन्ततः लड़ना पड़ता है । इस छोटे नीचे ब्याधियोंसे छोटे नीचे युद्ध करने ही होते हैं । इन युद्धोंको बिना और वही अपना विजय प्राप्त किये बिना सुखमय जीवन होना असंभव है । वही बात इस सूक्तके पद्य मंत्रमें कही है—

यः सर्वान् जामीन् अजैपन् । (मं० ६)

'सब दुष्टोंमें मैं विजय पाता हूँ ।' इस प्रकार सब दुष्टोंमें विजय पानेसे ही मनुष्यके पापसे सब विपत्तियाँ दूर हो जाती हैं और मनुष्य ऐश्वर्य संपन्न हो जाता है । प्रत्येक युद्धमें अपना विजय होने के लिये शक्ति अपने अंदर बढानी चाहिये । अथवा विजय होना अशक्य है । मनुष्यके अन्दर शक्ति बढी रहनी ही विजय हो सकती है । अथवा पराभव होगा । पराभव होनेसे विपत्तियाँ बढेंगी । इस लिये शत्रुशक्तियोंसे अपना अन्ततः शक्ति बढानी चाहिये और अपना विजय संवादन करना चाहिये । विपत्तियों को दूर करनेका यह मुख्य उपाय है, इसका विचार पठक करें और अपनी विपत्तियोंके हटानेके प्रयत्नमें लगे रहें ।

पहिले जिनकी भी आपत्तियाँ मिली हैं उन सबके विचारण करनेके लिये वही एक मानव उपाय है । इससे पहिले कई उपाय बताये हैं । राज शासन सुवर्धन, आमनगुण्डि, नाय शक्ति, आदि सभी उपाय उदात्त ही हैं, परंतु सर्वथा इस अन्ततः शक्ति के उपाय की विरोधता है, वह बात भूलना नहीं चाहिये ।

जिस प्रकार घोडा चतकर अपने प्राणव्य स्थानपर पहुँचता है, उसी प्रकार मनुष्य भी प्रयत्न करके ही प्रत्येक दुःख स्थानपर पहुँचता है । इसलिये मनुष्य प्रयत्न करके ही प्रकृतिको प्राप्त करे । प्रत्येक सुखस्थान मनुष्यको प्रवर्धन ही प्राप्त हो सकता है । प्रवर्धन प्रयत्नके बिना विपत्तियाँ दूर होना असंभव है ।

विपत्तियोंको हटानेके विषयमें वह सूक्त बड़े महत्त्व पूर्ण आदेश दे रहा है । पठक यदि इसका उदात्त विचार करेंगे तो उनको अपनी विपत्तियाँ हटानेका और संपत्तियों प्राप्त करनेका मार्ग अवश्य दिखाई देगा । अर्थात् है कि पठक इस सूक्तसे लाभ प्राप्त करेंगे ।

निर्भय जीवन ।

(१५)

[ऋषिः-ऋद्धा । देवता-प्राणः, अपानः, आयुः]

यथा घोर्षं पृथिवी च न विभीतो न रिष्यतः । एवा मे प्राण मा विभेः ॥ १ ॥
 यथाहंश्च रात्री च न विभीतो न रिष्यतः । एवा० ॥ २ ॥
 यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न विभीतो न रिष्यतः । एवा० ॥ ३ ॥
 यथा ब्रह्म च ध्रुवं च न विभीतो न रिष्यतः । एवा० ॥ ४ ॥
 यथा सस्यं चानृतं च न विभीतो न रिष्यतः । एवा० ॥ ५ ॥
 यथा भूतं च मन्यं च न विभीतो न रिष्यतः । एवा मे प्राण मा विभेः ॥ ६ ॥

अर्थ—(यथा घोः च पृथिवी च । जिस प्रकार घोः और पृथिवी (न विभीतः) नहीं करते इसलिये (न रिष्यतः) नहीं मट होते, (एवा) ऐसे ही (मे प्राण) हे मेरे प्राण ! (मा विभेः) तू मत डर ॥ १ ॥

जिस प्रकार (अहः च रात्री च) दिन और रात्री नहीं करते इसलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते ॥ २ ॥

जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र ॥ ३ ॥

ब्रह्म और ध्रुव ॥ ४ ॥

सस्य और अनृत ॥ ५ ॥

भूत और मन्य नहीं करते इसलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते, इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू मत डर ॥ ६ ॥

भावार्थ— दुष्टोक पूर्व), दिन रात्रि, सूर्य चन्द्र, ब्रह्म ध्रुव, ज्ञानी शूर, सत्य अनृत, भूत भविष्य आदि सब किछीसे भी कभी डरते नहीं, इसलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते । इस से बोध मिलता है, कि निर्भय वृत्ति से रहनेसे विनाशसे बचनेकी संभावना है, अतः हे प्राण ! तू इस शरीरमें निर्भय वृत्तिके साथ रह और अपमृत्युके भय को दूर कर ॥ १-६ ॥

निर्भयतासे अमरण ।

इस सूक्तका मुख्य उपदेश यह है कि ' जो नहीं करते वो निर्भयतासे अपना कार्य करते हैं वे नाशको प्राप्त नहीं होते । ' उदाहरणके लिये घोः, पृथ्वी, दिन रात, सूर्यचन्द्र, इनका नाम इस सूक्तमें लिखा है । दिन रात या सूर्यचन्द्र किछीका भय न करते हुए निःशयतासे अपना कार्य करते हैं । समथ होते ही उदय होना या अस्तसे जाना आदि इनके सब कार्य यथाक्रम चलते रहते हैं । किछीको पता नहीं करते, किछीको विचारस नहीं सुनते, किछीपर दया नहीं करते अथवा किछीपर शोच भी नहीं करते । अपना निश्चित कार्य करते जाते हैं इसलिये वे किछीसे डरते नहीं; अतः वे विनाशको भी प्राप्त नहीं होते । इसलिये जो मनुष्य निडर होकर अपना कर्तव्यकर्म करेगा, वह भी विनाश को प्राप्त नहीं होगा । (मं० १-३)

ब्रह्म-ध्रुव ।

जगत् चतुर्ध्रुव मंत्रमें ' ब्रह्म और ध्रुव ' का उल्लेख है । इनका अर्थ ' ज्ञान और शौर्य ' है किन्ता ज्ञानी और शूर अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय भी है । सूर्यचन्द्रादिकोंका उदाहरण समुच्च रखकर ब्राह्मण और क्षत्रियोंको चाहेये कि वे किछी मनुष्यसे न डरते ११ (म. सु. भा. कं० २)

हुए अपना कर्तव्यकर्म योग्य रीतिसे करते जाय । जिन ब्राह्मण क्षत्रियोंने ऐसे विद्वत् भावसे अपने कर्तव्य कर्म किये हैं वे अपने यश से इस समय तक अंबित रहें हैं । और भावेषो वे मार्गदर्शक बनये । ऐसे आदर्श ब्राह्मणों और आर्दय क्षत्रियोंका उदाहरण मनुस्य रखकर अन्य लोग भी अथ छोटकर अभ्यवृत्तिये अपने कर्तव्य कर्म करते रहेंगे तो वे भी अमर बनैंगे ।

सत्य और अनृत ।

सत्य और अनृत भी इसी प्रकार किञ्चिन्ही अपेक्षा नहीं करते । जो सत्य होता है वही असत्य होता है और जो असत्य होता है वही असत्य होता है । कई पद्योंमें सचापारी मनुष्य अपने अधिकारके बलसे सत्यको असत्य और असत्य सच कर देते हैं; परंतु वह बात थोड़े समयके बाद प्रकट होजाती है और अधिकारियोंकी पोल भी उसके प्राय सुल जाती है । इस लिये सच मात्र किछीके दबावसे कुछ न कुछ बन जाय वह बात भ्रम्य है; परंतु अंतमें जाकर सत्य और अनृत अपने असलान्तरमें प्रकट होने विना नहीं रहते । इसलिये सदा सत्य पसंदा ही अस्लैव करना चाहिये, जिससे मनुष्य निर्भय बनकर सत्य परस्य अधिकारी होता है ।

भूत और भविष्य ।

पद्य मंत्रमें भूत और भविष्य इन दो शक्तिके विषयमें कहा है कि, वे किछीसे करते नहीं । यह विलक्षण सत्य है । सबका कर वर्तमान कालमें ही होता है । जो करानेवाले बादशाह थे, जिन्होंने अपनी सत्कारके कारणसे लोगोंको सत्ताया, वे अब भूत-कालमें हीगये हैं । उनका कर अब नहीं रहा है और वे अपने असली रूपमें जनताके सम्मुख खड़े होगये हैं । ! साधारणसे साधारण इतिहास तथ्यका विचार करनेवाला भी उनको अपने मतसे दोषो ठहराता है और वे अब उसका कुछ भी विपाद नहीं कर सकते । क्योंकि वे भूत कालमें दूब गये हैं । इसलिये कबे प्रतापी राजा भी भूत कालमें दूब आनेके पश्चात् एक साधारण मनुष्य के सदृश अचहाय हो जाते हैं । इसका भूतकालय प्रभाव है । पाठक इस कालके प्रभाव को देखें । समर्थसे समर्थ भी इस भूत-कालमें दूब दूब जाता है, सब उसका सामर्थ्य कुछ भी नहीं रहता । परंतु जो धर्मोत्सा सत्यनिष्ठ सत्पुरुष होते हैं, उनकी उक्ति इसी भूतकालसे बढती जाती है । शिवराजपट्टकल उषी समय हरएकको भी दबा सकता था, परंतु महाबाहू रामचंद्रजीका आत्मिक बल उस समयही विजयी हुआ, इसनाही नहीं प्राप्ति आज भी जनत लोगोंको मार्गदर्शक होरहा है । यह भूत कालमें महिमा देखिये । भूतकाल निदर है किछीकी पंवाह नहीं करता और सबको असली रूपमें सबके सामने कर देता है ।

भारतीय काल भी इसी प्रकार है । अशक्तोंको भविष्य कालमें भी अपने सत्पुरुष विजय होनेकी आशा रहती है । अपनेके शासनके अंदर दूबे लोग भविष्य कालमें और देखकर ही अंबित रहते हैं । क्योंकि वर्तमान कालका कर भविष्यमें नहीं रहता जैसा भूत कालका कर आज नहीं रहा है ।

पाठक इससे जान गये होंगे कि, भूत और भविष्य इन दो शक्तिके निदर होनेका तात्पर्य क्या है । इस बातको देखकर मनुष्य भाव यह बात समझे कि सत्पुरुष ही अथ होता है, इसलिये सत्पुरुष आचारसे ही मनुष्य अपना नद्वहार करें और निदर होकर अपना कर्तव्य पालन करें ।

अमय वृत्तिये ही अमरपन प्राप्त हो सकता है ।

विश्वंभर की भक्ति ।

(१६)

(ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-प्राणः, अपानः, आयुः)

प्राणापानौ मृत्योर्मौ पातुं स्वाहा	॥ १ ॥
घावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातुं स्वाहा	॥ २ ॥
सूर्यं चक्षुषा मा पाहि स्वाहा	॥ ३ ॥
अग्नें वैश्वानरं विश्वैर्मा देवैः पाहि स्वाहा	॥ ४ ॥
विश्वंभरं विश्वेन मा मरसा पाहि स्वाहा	॥ ५ ॥

अर्थ-हे प्राण और अपान !-तुम दोनों (मृत्योः मा पातुं) मृत्युसे मुझे बचाओ (स्वा-हा) मैं आत्म समर्पण करता हूँ ॥ १ ॥

हे तुल्लोक और पृथ्वी लोक ! (उपश्रुत्या मा पातुं) श्रवण शक्तिले मेरी रक्षा करो ॥ २ ॥

हे सूर्य ! (चक्षुषा मा पाहि) दर्शन शक्तिले मेरी रक्षा कर ॥ ३ ॥

हे वैश्वानर भग्ने ! (विश्वैः देवैः मा पाहि) संपूर्ण देवोंके साथ मेरी रक्षा कर ॥ ४ ॥

हे विश्वंभर ! (विश्वेन मरसा मा पाहि) संपूर्ण पोषण शक्तिले मेरी रक्षा कर, (स्वा-हा) मैं आत्मसमर्पण करता हूँ ॥ ५ ॥

सावार्थ-प्राण और अपान मृत्युसे बचावें ॥ १ ॥

घावापृथिवी श्रवण शक्तिकी सहायतासे, सूर्य दर्शन शक्तिले मेरा बचाव करे ॥ २-३ ॥

विश्वव्यापक पुरुष सब दिव्य शक्तियों द्वारा तथा विश्वंभर ईश्वर अपनी पोषण शक्ति द्वारा मेरी रक्षा करें। मैं अपने आपको सभीकी रक्षामें समर्पित करता हूँ ॥ ४-५ ॥

विश्वंभर देव ।

इस सूक्तके अंतिम पंचम मंत्रमें ' विश्वं-भर ' शब्द है, विश्वका भरण और पोषण करनेवाला देव वह इसका अर्थ है। सम्पूर्ण जगत्का भरण पोषण करनेवाला एक देव यहाँ ' विश्वंभर ' शब्दसे कहा है। यह विश्वंभर शब्द परमात्मविषयक होनेवाला नहीं है। और इस शब्द द्वारा यहाँ जगत् के एक देव की उगम कल्पना व्यक्त की गई है। मं० ५

इस जगत् के भरण पोषण करनेवाले इस देवके पास (विश्वेन मरसा) विश्वव्यापक पोषक रस है जिससे यह देव सब जगत् का पोषण करता है।

वैश्वानर ।

चतुर्थ मंत्रमें इसीका नाम ' वैश्वानर ' है इसका अर्थ है विश्वका नेता, विश्वका चालक, संपूर्ण जगत् का भरण, सब जगत् पुरुष, सब जगत् में मुख्य पुरुष। यहाँ विश्वंभर नामसे अग्रे वर्णन किया गया है। जिस प्रकार आग्नि सर्वत्र व्यापता है इसी प्रकार

यह जगत्कारक मुख्य सुदोष भी सर्व जगत् में व्यापक हो रहा है। सर्व चंद्रादि सब (विश्वैः देवैः) अन्य देव इष्टीके वशमें रहते हैं और अपनी अपनी कार्य करते हैं। इष्टीकी आज्ञा पालन करनेवाले सब अन्य देव हैं। ये अन्य देव इष्टीके सहचारी देव हैं।

एक उपास्य ।

पाठक इस सूक्तके ये दो शब्द "विश्वेश्वर और विश्वानर" देखें और इनके अन्वयसे अद्वितीय उपास्य परमात्म देवकी मक्ति करना सीखें। यह सब जगत्का मरण पोषण करनेवाला है इस लिये यह इन्द्रा भी मरण पोषण करेगा ही इसमें कदा संदेह है। विश्व ने जन्म देनेके पूर्व ही माताके स्नानमें बालकके लिये दूध तैयार रखा होता है, उसकी-सार्वत्रिक मरण पोषण शक्ति कितनी विशाल है, इसकी कल्पना हो सकती है। ऐसे अनन्त सामर्थ्यवाली विश्वेश्वरकी मक्ति करना ही अनुभूय मात्रक कर्तव्य है।

देवोंद्वारा रक्षा ।

सूर्य नैत्र इन्द्रियमें दर्शन शक्ति रख कर मनुष्य को रक्षा कर रहा है, पाषाण युगमें चारों ओर फैला हुआ दिग्दारुण दुर्ग इन्द्र-की भवण शक्तिद्वारा मनुष्यकी रक्षा कर रही हैं। इसी प्रकार ज्ञान और अज्ञान शरीरमें रक्षा कर रहे हैं यह बात हरएककी धर्मात्म्य ही सकती है। इसी तरह अन्वय देव अन्वय स्वानोंमें रहते हुए हमारी रक्षा कर रहे हैं।

यह सब उषी विश्वेश्वर की कृपासे हो रहा है इस का अनुभव करके उषी एक अद्वितीय प्रभुका मक्ति करना हरएक मनुष्यके लिये कर्तव्य है। भाषा है कि इस शीतसे विश्वेश्वरकी आज्ञा करके पाठक शाश्वत कल्याणके मार्गों होंगे।

आत्मसंरक्षण का बल ।

(१७)

(ऋषिः-भस्मा । देवता-प्राणः, अपानः, आयुः)

ओजोऽस्योर्जो मे	दाः	स्वाहा	॥ १ ॥
सहोऽसि सहो मे	दाः	स्वाहा	॥ २ ॥
बलमसि बल मे	दाः	स्वाहा	॥ ३ ॥
आयुस्त्यायुर्मे	दाः	स्वाहा	॥ ४ ॥
श्रोत्रमसि श्रोत्र मे	दाः	स्वाहा	॥ ५ ॥

अर्थ-(ओजः शक्ति) तू शारीरिक सामर्थ्य है, (मे ओजः दाः) मुझे शरीर सामर्थ्य दे ॥ १ ॥

२ (सहः शक्ति) सहज शक्तिसे युक्त है (मे सहः दाः) मुझे सहजशक्ति दे ॥ २ ॥

तू बल स्वरूप है मुझे बल दे ॥ ३ ॥

४ (आयुः शक्ति) आयु शरीर जीवनशक्ति है मुझे वह जीवनशक्ति दे ॥ ४ ॥

५ (श्रोत्रं) श्रवणशक्ति है मुझे वह श्रवणशक्ति दे ॥ ५ ॥

चक्षुरसि चक्षुर्मै द्वाः स्वाहा ॥ ६ ॥
 परिपारणमसि परिपाणं मे द्वाः स्वाहा ॥ ७ ॥
 (इति तृतीयोऽनुवाकः ।)

अर्थ-द्वं (चक्षुः) दर्शन शक्ति है मुझे दर्शन शक्ति दे ॥ ६ ॥

द्वं (परिपाणं असि) सब प्रकारसे आत्मरक्षा करनेकी शक्ति है मुझे आत्मसंरक्षण करनेकी शक्ति दे । (स्वा-हा) मैं आत्मसमर्पण करता हूँ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—हे ईश्वर ! तू सामर्थ्य, पराक्रम, बल, जीवन, भ्रवण, दर्शन और परिपालन इन शक्तियों से युक्त है, इसलिये मुझे इन शक्तियोंका प्रदान कर ॥ (१-७)

(१८)

(ऋषिः-चातनः । देवता-अग्निः)

आतुव्यक्षर्यणमसि आतुव्यचार्तनं मे द्वाः स्वाहा ॥ १ ॥
 सपत्नक्षर्यणमसि सपत्नचार्तनं मे द्वाः स्वाहा ॥ २ ॥
 अराय-क्षर्यणमस्यराय-चार्तनं मे द्वाः स्वाहा ॥ ३ ॥
 पिशाचक्षर्यणमसि पिशाचचार्तनं मे द्वाः स्वाहा ॥ ४ ॥
 सदान्वाक्षर्यणमसि सदान्वाचार्तनं मे द्वाः स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ-द्वं (आतुव्य-चातनं) बैरियोंका नाश करनेको शक्तिसे युक्त है मुझे वह बल दे ॥ १ ॥

द्वं सपत्नोंका नाश करनेकी शक्तिसे युक्त है, मुझे वह बल दे ॥ २ ॥

द्वं (अ-राय-क्षरणं) निर्धनताका नाश करनेका बल रखता है, मुझे वह बल दे ॥ ३ ॥

द्वं (पिशाच-क्षरणं) मांस खसनेवालोंका नाश करनेकी शक्ति रखता है, मुझे वह बल दे ॥ ४ ॥

द्वं (स-दान्वाक्षरणं) आसुरी वृत्तियों को दूर करनेकी शक्ति रखता है, मुझे वह बल दे, मैं (स्वा-हा) आत्मसमर्पण करता हूँ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—बैरी, शत्रु, कंजुश, खनखन और आसुरीवृत्तियाँ इनसे बचनेकी शक्ति तेरे अंदर है, वह शक्ति मुझमें स्थिर कर, मैं अपने आप को तेरे लिये अर्पण करता हूँ ॥ १-५ ॥

बलकी गणना ।

इन दो सूक्तोंमें आत्म संरक्षणके लिये आवश्यक बलोंकी गणना की है, वह बल ये हैं—

१ बीजः—शूल शरीरकी शक्ति, पुष्टीका बल,

२ सहः—शीत उष्ण अथवा अन्यथा द्बन्द्वं सहन करनेकी शक्ति । अपना कर्तव्य करनेके समय जो भी कष्ट सहन करनेकी आवश्यकता हो, वे कष्ट आनन्दसे सहन करनेकी सदा तैयारी रखनेका नाम सह है । शत्रुघ्न हमला आगया तो उससे न डरना तथा अपना स्थान न छोड़ना, अर्थात् शत्रुघ्न हमला आगया तो भी अपने स्थानमें ठहरना । तब भी एक सहन शक्ति ही है । सहन ही में शत्रुसे पराभूत न होना, इतना ही नहीं परंतु शत्रुसे कभी पराश्रित ही न होना । शत्रुके हमले सहन करके स्वस्थानमें स्थिर रहना और शत्रुको परास्त करना या शत्रुके ऊपर आक्रमण करना ।

३ बलं—सब प्रकारके बल । आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक, इंद्रिय विषयक आदि बलितने भी बल मनुष्यकी उन्नतिके लिये आवश्यक होते हैं वे सब बल ।

४ आयुः—दाँच आयु, आरोग्य पूर्ण दीर्घायु ।

५ ओषधे—कण आदि इंद्रियोक्तो शक्तिदा । अरण्ये प्रातः होनेवाले अमृतस्य चन्दनित्वा ।

६ चक्षुः—चक्षु आदि इंद्रियोक्तो शक्तिदा । प्रत्यक्ष प्रयोगजन्य विज्ञान ।

७ परिपालं—परित्राण की शक्ति । अग्नी (पूर्ण) संरक्षण करनेकी शक्ति । (परि) सब प्रकृष्टे करना

(पालं) संरक्षण करनेकी शक्ति ।

८ आतृष्य—अवर्ण—आतृष्य चान्दक्य वर्षे दहां विदोष मनसो देहना चाहिये । दो माईविके पुत्र आतृष्ये अतृष्य कृत्वाते हैं । यह घरमें अतृष्यवचन है । इसी प्रकार दो राजा आतृष्ये माई होते हैं और उनकी प्रजा आतृष्ये " आतृष्य " कहलाती है । इनमें बारंबार युद्ध प्रसंग होते हैं । ऐसे राष्ट्रीय युद्धोंमें सत्रु पक्षका निराकरण करनेकी शक्ति करनेमें दहानी चाहिए ०.री विजय होगा । अन्यथा पराभव होगा । राष्ट्रीय चतुरंग बलकी सिद्धता करनेकी बात इस चान्दक्य बात है । यह राष्ट्रके बाहरके सत्रुके युद्ध है ।

९ सवभक्षवर्ण—युद्ध राज्यके अंदर पक्ष प्रतिपक्ष हुआ करते हैं । इन पक्ष भेदों का नाम " सवभ " है क्योंकि ये एकही पक्षके अंदर हुआ करते हैं । इनमें विविध प्रकारकी स्वर्णा होना स्वाभाविक है । इस स्वर्णमें विजय प्राप्त करने का अन्य सवर्णकी हटाकर अपना विजय सिद्ध करनेका यह नाम है । यह राष्ट्रके अंतर्गत युद्ध है ।

१० नरायदपणं—राज चान्दक्य वाचक है और नराय चान्दक्य निर्धनताका वाचक है । यह निर्धनता सब प्रकारके दूर करना आवश्यक है । वैश्यों और शरीरोंके लक्ष्णसे यह बात साफ हो सकती है ।

११ विशाखक्षयणं—रक्तमांस चूसनेवालोंका नाम विशाख है । (विरिताच्- विशाख) रक्त पीनेवाले रोम भी हैं इनमें रक्त की क्षीणता होती है । मनुष्योंमें वे लोग कि जो रक्त मांस भीजी होते हैं । इनमें भी कष्टना मांस कादेवाते विशेषकर विशाख कहालाते हैं । समाज से इनकी दूर रक्षण योग्य है ।

१२ स-दान्वाक्षयणं—(स—दानव—क्षयणं) अक्षुरा राजसौंध्य नाश करना, या उनकी दूर करना । यह शुरुआतमें " देवा-क्षुर युद्ध " नामसे प्रसिद्ध है । आज भी अपने समाजमें क्या तथा अन्य समाजोंमें क्या देवाक्षुरोंके लयके बलही रहे हैं और जिनमें अक्षुरोंका पराभव होना ही आवश्यक है यह सब बात रण होनेके कारण इसका अर्थिक विचार नहीं करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

स्वाहा विधि ।

ये बारह बल अपने अंदर लाने चाहिये । इन बलोंका उपयोग करनेकी रीति भी विभिन्न हो सकती है । पाठक प्रत्येक बलके और उसके प्रयोग क्षेपका अच्छी प्रकार मनन करे तो इनको इस बातका पता लग सकता है । दूसरोंका ध्यानगत करनेके कार्य में अपने बलका उपयोग करना तो सब जानतेही हैं, परंतु इन दो सूक्तोंमें इन बातों का उपयोग " स्वाहा " विधिसे करनेकी कहा है । " स्वाहा " विधिको उपयोग " आत्मसर्वस्वका समर्पण " करना है । पूर्णकी बलईके लिये अंधका दण्ड करना स्वाहाका तात्पर्य है ।

इस स्वाहा दण्ड द्वारा तक शक्तियों अपने अंदर बढजाय और इसी स्वाहा विधि द्वारा उनका उपयोग किया जाय, यह उपदेश इन सूक्तोंमें विंशथ महत्त्व रखता है ।

स्व = अपना

हा = त्याग

— आत्म—सर्वस्व—समर्पण ।

यह विधि आत्मयज्ञका ही दूसरा नाम है । यह विधि शक्तियोंका उपयोग करनेकी माध्यमद्वारिता बता रहा है । सामाजिक चरित्तमें तो दूसरोंका विनाश मुख्य बात है और माध्यमद्वारिता स्वाहा अर्थात् आत्मसमर्पण मुख्य बात है । सब शत्रुनाश या शत्रुसंहार इसी विधिसे कैसा करना यह एक बड़ी समस्या है । परंतु पाठक इसका बहुत विचार करे तो इस समस्याका एक स्वयं ही बलता है । क्योंकि यह स्वाहाविधि यज्ञका मुख्य अंगही है ।

दोनों सूक्तोंमें बारह मंत्र हैं । प्रत्येक मंत्र में जो शक्ति मांगी है, उसके साथ " स्वाहा " का उल्लेख हुआ है । पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है कि वह एक प्रचंड शक्ति है । यदि ये शक्तियाँ मनुष्यमें विकसित हो गईं और साथ साथ उसमें स्वार्थ भी बढ़ता गया तो कितनी हानी की संभावना है । एकही शारीरिक शक्तिकी बात देखिए । कोई बड़ा मज्ज है, बड़ा बलवान् है, यदि वह स्वार्थी खुदगर्ज हुआ तो वह बहुत कुछ हानि कर सकता है । परंतु यदि वह मज्ज अपनी विशाल शक्तिका उपयोग परोपकारके बर्तनमें करेगा, अथवा अपने शारीरिक बलको परमात्मसमर्पणमें लगावेगा । तो कितना लाभ ही सकता है । इसी प्रकार अन्यान्य शक्तियोंके विषयमें जानना चाहिए । आत्म समर्पणवेदी शक्तिका सच्चा उपयोग हो सकता है । और सच्चाहित भी हो सकता है ।

इस लिए इन दो सूक्तोंमें बारह बार " स्वाहा " का उच्चारण करके आत्मसमर्पण का सबसे अधिक उपदेश दिया है । जो जो शक्ति अपनेमें बढेगा, उस उस शक्तिका उपयोग में आत्मसमर्पण ही विधिले ही कहेना ऐसा निश्चय मनुष्य को करना चाहिए तभी उसकी उन्नति होगी और उसके प्रयत्नसे जनताकी भी उन्नति हो सकती है ।

शुद्धि की विधि ।

(१९-२३)

(ऋषिः-अथर्व । देवता १९ अग्निः, २० वायुः, २१ सूर्यः २२ चन्द्र, २३ आपः)

- (१९) अग्ने॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो॒ऽस्मान्द्रे॒ष्टी॒ यं वृ॒षं द्वि॒ष्मः ॥ १ ॥
 अग्ने॒ यत्ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ यो॒ऽस्मान्द्रे॒ष्टि॒ ० ॥ २ ॥
 अग्ने॒ यत्ते॒ऽर्चि॒स्तेन॒ तं प्र॒त्यर्च॑ यो॒ ० ॥ ३ ॥
 अग्ने॒ यत्ते॒ श्रोचि॒स्तेन॒ तं प्रति॑ श्रोच॒ यो॒ ० ॥ ४ ॥
 अग्ने॒ यत्ते॒ तेज॒स्तेन॒ तर्मे॒तेजसै॑ कृणु॒ यो॒ ० ॥ ५ ॥
- (२०) वायो॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो॒ ० ॥ १ ॥
 वायो॒ यत्ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ यो॒ ० ॥ २ ॥
 वायो॒ यत्ते॒ऽर्चि॒स्तेन॒ तं प्र॒त्यर्च॑ यो॒ ० ॥ ३ ॥
 वायो॒ यत्ते॒ श्रोचि॒स्तेन॒ तं प्रति॑ श्रोच॒ यो॒ ० ॥ ४ ॥
 वायो॒ यत्ते॒ तेज॒स्तेन॒ तर्मे॒तेजसै॑ कृणु॒ यो॒ ० ॥ ५ ॥
- (२१) सूर्य॑ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो॒ ० ॥ १ ॥
 सूर्य॑ यत्ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ यो॒ ० ॥ २ ॥

सूर्य यत्तञ्चिस्तेन तं प्रत्यर्च्य यो०	॥ ३ ॥
सूर्य यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच्य यो०	॥ ४ ॥
सूर्य यत्ते तेजस्तेन तर्मतेजसं कृणु यो०	॥ ५ ॥
(२२) चन्द्र यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप्य यो०	॥ १ ॥
चन्द्र यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर्य यो०	॥ २ ॥
चन्द्र यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च्य यो०	॥ ३ ॥
चन्द्र यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच्य यो०	॥ ४ ॥
चन्द्र यत्ते तेजस्तेन तर्मतेजसं कृणु यो०	॥ ५ ॥
(२३) आपो यद्द्वस्तेन तं प्रति तप्य यो०	॥ १ ॥
आपो यद्दो हरस्तेन तं प्रति हर्य यो०	॥ २ ॥
आपो यद्दोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च्य यो०	॥ ३ ॥
आपो यद्दोः शोचिस्तेन तं प्रति शोच्य यो०	॥ ४ ॥
आपो यद्दो यद्द्वस्तेन तर्मतेजसं कृणुत योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥	

अर्थ-दे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, और आप देवता ! आपके अंदर जो (तपः) तपानेकी शक्ति है उससे (तं प्रति तप्य) उसको तप करो (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो अनेका हम सबका द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिसका हम सब द्वेष करते हैं ॥ १ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर (हरः) हरण करनेकी शक्ति है उससे उसका (प्रतिहर) दीपन करना जो हमारा द्वेष करता और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ २ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर (अर्चिः) दीपन शक्ति है उससे उसका (प्रत्यर्च्य) संदीपन करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ ३ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर (शोचिः) शुद्ध करनेकी शक्ति है उससे उसको (प्रति शोच्य) शुद्ध करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ ४ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर (तेजः) तेज है उससे उसको (तर्मतेजसं) अनेजसनी करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ-दे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आप देवो ! आपके प्रत्येक अंदर तप, हर, अर्चि, शोचि, और तेज ये पांच शक्तियाँ हैं, इसलिये कृपा करके हमारे देवोंकी इन शक्तियोंसे परिशुद्ध करो; अर्थात् उनको तपाकर, उनके दोषोंको हटाकर, उनमें आंतरिक प्रकाश उत्पन्न करके, उनकी शुद्धि करके और उनकी आपके दिव्य तेज से प्रभावित करके शुद्धि करो। जिससे वे हमी कियोका द्वेष न करेंगे और मित्रतुल्य कर आनंदसे रहेंगे ॥

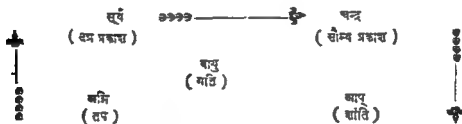
पांच देव

इन पांच देवोंमें पांच देवताओंकी प्रार्थना की गई है अथवा दुष्टोंके मुघारके कार्य में उनसे शक्तियोंकी याचना की गई है । ये पांच देवतारूपे हैं—

“ अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, आपः ”

अग्निमें तपानेकी शक्ति, वायुमें द्विजानेकी शक्ति, सूर्यमें प्रकाश शक्ति, चन्द्रमें सौम्यता, और आप (जल) में पूर्ण शांति है । अर्थात् ये देवताएँ इस व्यवस्थाके एकके पश्चात् दूसरी आगई हैं कि पहिले तपानेमें प्रारंभ होकर सबको अन्तमें शांति भिन्न आवे । अंतिम दो देव चंद्र और आप पूर्ण शांति देनेवाले हैं । अग्नि और सूर्य तपाने वाले हैं और वायु प्राणगति वा जीवन पटिका वाता है । यदि पाठक यह व्यवस्था देखेंगे तो उनकी दुष्टोंका मुघार करनेकी विधि निश्चयसे ज्ञात होगी ।

पंचायतन ।



पहिले अग्नि तपता है, वायु तपमें मग्न करता है और ये दोनों सूर्यके तप प्रकाशमें लगे रह देते हैं । उसके पश्चात् चंद्रमाका सौम्य प्रकाश आता है और पश्चात् जल तरंगकी पूर्ण शांति वा शांतिमय जीवन लगे प्राप्त होता है । शुद्ध होनेका यह मार्ग है । यह क्रम विधिसे महत्त्वपूर्ण है । और इसी लिए इन पांचों सुक्तोंका निवार यहाँ इकट्ठा किया है ।

पांच देवोंकी पांच शक्तियाँ ।

पांच देवोंकी पांच शक्तियाँ इन सुक्तोंमें वर्णन की हैं । उनके नाम ये हैं ।

“ तपः, हरः, अग्निः, शोचिः, तेजः ” ये पांच शक्तियाँ हैं । ये पांचों शक्तियाँ प्रत्येक देवके पास हैं । इसके पाठक जान सकते हैं कि हर एक की ये शक्तियाँ भिन्न हैं । अग्निका तेज, सूर्यका तेज और जलका तेज भिन्न होनेमें किशोंकी भी शक्ति नहीं हो सकती । इसलिए प्रत्येक देवताके पास ये पांच शक्तियाँ हैं, परंतु उनका स्वरूप और कार्य भिन्न भिन्न ही है । जैसा ‘हरः’ नामक शक्तिके विवरणमें देखिये । हरः का अर्थ है “ हरण करना ” हरणेना । यहाँ इस एकही शक्तिका उपयोग पांच देव किस प्रकार करते हैं, देखिये—

- १ अग्नि—शक्तिका हरण करता है, तपता है ।
- २ वायु—अग्नि का हरण करता है, हटाता है ।
- ३ सूर्य—तप का हरण करता है, वायु घटाता है ।
- ४ चन्द्र—तपका हरण करता है, मनकी प्रश्रिता देता है ।
- ५ जल—शारीरिक मलका हरण करता है, शुद्धता करता है ।

प्रत्येक देव हरण करता है, परंतु उसके हरण करनेके पक्षमें भिन्न हैं, इसी प्रकार “ तपः, हरण, अचंन, शोचन और तेजः ” के द्वारा इन देवोंसे मनुष्यका मुघार होता है । प्रत्येक देवताके ये पांच गुण हैं और पांच देवता हैं, इसलिए मुघार होनेके

लिए पचीस छ'नवियोंसे धाना जानकी आवश्यकता है, यह बात पाठक विचार करनेमें सहज हीमें जान जावेगे ;

यह शुद्धि की विधि देखनेके लिए हमें यहां इन पांच गुण राक्षसोंका अवश्य विचार करना चाहिये—

१ तपः तपना, तपना । इसका महत्त्व बड़ा भारी है । सुवर्णादि धातु अग्निमें तपनेसे ही शुद्ध होते हैं । अधिक वाचिक मानसिक तपसे ही मनुष्यकी शुद्धि होती है । तपना अनेक प्रकारसे होता है । तप बहुत प्रकारके हैं उन सब का उद्देश्य शुद्धि करना ही है ।

२ हरः—हरण करना, हरलेना । दोषोंको हरण करना, दोषोंको दूर करना । सुवर्णादि धातुओंको अग्निमें तपनेसे दोष दूर होते हैं और उनमें शुद्धता होती है ; इसी प्रकार अन्यत्र तप करनेसे दोष दूर होते हैं और शुद्धि होती है ।

३ अर्चिः—अर्चुं धातुका अर्थ 'पूजा और प्रकाश' है । पूर्वोंको दो विधियों द्वारा शुद्धता होनेके पश्चात् यह पूजा या तपना का प्रकाश तप मनुष्यके अंदर बसा जाता है । दोष दूर होनेके पश्चात् ही यह होना है इसके पूर्व नहीं ।

४ योषिः—युच् धातुका अर्थ योषन करना है । शुद्धता करना । तप, दोषहरण और अर्चनके पश्चात् योषन हुआ करता है । योषन का अर्थ बारीकसे बारीक दोषोंको हटाना । हरण और योषन में जो भेद है वह पाठक अवश्य देखें । स्पष्ट योषिःका हरण होता है और सूक्ष्म योषिःका योषन हुआ करता है इस प्रकार योषन होनेके पश्चात्—

५ तेजः—तेजन करना है । तिज् धातुका अर्थ तेजकरना और पालन करना है । रात्र की घारा तेज की जाती है इस प्रकारका तेजन यहाँ समीप है । तीलाः करना, तेज करना, बुद्धिकी तीव्रता संपादन करना ।

वडाहरण के लिये मोहाः लीजिये । पहिले (तपः) तपान्तर उसको गर्म किया जाता है, पश्चात् उसके दोष (हरः) दूर किये जाते हैं, पश्चात् उसको किसी आकारमें ढाला (अर्चिः) जाता है, अंतर (योषिः) पालनेमें बुझाकर जल पिलाया जाता है और तपश्चात् (तेजः) तप रात्रकी तेज किया जाता है ; यह एक चक्रकूट्टरी आदि बतानेकी साधारण बात है, इसमें भी मनुष्यके प्रमाणसे इन विधियोंका उपयोगिता होती है । फिर मनुष्य जैसे भेष्ट जीवकी शुद्धताके लिये इनकी उपयोगिता अन्यत्र रीतिरिवाजे होगी इसमें कहेनेकी बस आवश्यकता है ! तात्पर्य " तपन, हरण, अर्चन, योषन, और तेजन " यह पांच प्रकारके शुद्धिका विधि हैं, जिससे दोषी मनुष्यकी शुद्धता हो सकती है । शुभ मनुष्य का सुधार करके उसको पवित्र महात्मा बनानेकी यह वैदिक रीति है । पाठक इसका बहुत मनन करें ।

मनुष्यकी शुद्धि ।

अब यह विधि मनुष्यमें किस प्रकार प्रयुक्त होती है इसका विचार करना चाहिए । इस कार्य के लिए पूर्वोंके देव मनुष्यमें बड़ा और विश्व रूपमें रहते हैं इसका विचार करना चाहिए । इसका निश्चय होनेसे इस शुद्धीकरण विधिकी वटा स्पष्ट बन सकती है । इस लिये पूर्वोंके पांच देव मनुष्यके अंदर बड़ा और विश्व रूपमें तपःमान हैं यह देखिये—

देवतामंचायतन ।

मनुष्यमें अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र, और आप ये पांच देवताएं निरालिखित रूपसे रहती हैं—

१ अग्निः [अग्निर्वाक् मूला मुखं प्राविशत्] = अग्नि बान्धोद्य रूप धारण करके मनुष्यके मुखमें प्रविष्ट हुआ है । अर्थात् मनुष्यके अंदर अग्नि का रूप वाक् है ।

२ वायुः (वायुः प्राणो मूला नासिकं प्राविशत्) = वायु प्राण का रूप धारण करके नासिका द्वारा अंदर प्रविष्ट हुआ है । और यह प्राण एकादश विष हीकर सब शरीरमें व्यापता है ।

३ सूर्यः (सूर्यः अक्षुर्मूला अक्षिणी प्राविशत्) = सूर्य नेत्रेन्द्रिय बनकर आंखोंमें प्रविष्ट हुआ है ।

४ चन्द्रः (चन्द्रमा मनो मूला हृदयं प्राविशत्) = चंद्र देव मनका रूप धारण करके हृदयमें आ बसा है ।

५ आपः (आपो रेतो मूला शिरसं प्राविशत्) = जल रेत बन कर शिरसके स्थानपर बसा है ।

ये पांच देव इन पांच रूपोंमें अपने आपको ढाक कर मनुष्यके देहमें आकर इन स्थानोंमें बसे हैं । यह बात विशेष विस्तार पूर्वक ऐतरेय उपनिषद्में लिखी है, वहां जो षष्ठ देह है, वहां जो व-क्य ऊपर लिए हैं वे ऐतरेय उपनिषद् (ए० उ०-१।२) में देई लिए हैं । इन वाक्योंके मननसे वता लगेगा कि इन देवोंका शरीरमें निवास कहा है । अब ये अर्घ्य लेकर पूर्वोक्त मंत्रोंसे अर्घ्य देखिए—

सूक्त १९ = [अग्नि-वाणी] = हे वाणी ! जो तेरे अंदर तप है उस तपसे उससे तप्त कर जो हमारा देव करता है । तथा जो तेरे अंदर हरण शक्ति है, उससे उसीके दोष हरण कर, जो तेरे अंदर दीपन शक्ति है उससे उसीका अंतःकरण प्रकाशित कर, जो तेरे अंदर घोषक गुण है उससे उसकी शुद्धी कर और जो तेरे अंदर तेज है उससे उसीकी तेजस्वी बना ॥ १—५ ॥

सूक्त २० = [बायु = प्राण] = हे प्राण ! जो तेरे अंदर तप, दोष-हरण-शक्ति, दीपन शक्ति, घोषन शक्ति और तेजनशक्ति है, उन शक्तियोंसे उसके दोष हर कर कि जो हम सबका द्वेष करता है ॥ १—५ ॥

इसी प्रकार अन्यत्र सूक्तोंके विषयमें जानना योग्य है । प्रत्येक की पांच शक्तियाँ हैं और उनसे जो शुद्धता होती है, उसका मार्ग निश्चित है, वह इस अर्थसे अब स्पष्ट हो चुका है । जो वाङ्मा देवताएँ हैं उनके अंग हमारे अंदर विद्यमान हैं; उन अंगोंकी अनुकूलता प्रातिकूलतासे ही मनुष्यका सुधार वा अभुषार होता है । यह जानकर इस रीतिसे अपनी शुद्धता करनेका दान करना चाहिये, तथा जो द्वेष करनेवाले दुर्जन होंगे उनके सुधारका भी इसी रीतिसे दान करना योग्य है ।

शुद्धिकी रीति ।

शुद्धिकी रीति पंचविध है अर्थात् पांच स्थानोंमें शुद्ध होनी चाहिये तब दोषयुक्त मनुष्यकी शुद्धता हो सकती है । इसका संक्षेपसे वर्णन देखिए—

१ वाणीका तप—सबसे पहिले वाणीका तप करना चाहिये । जो शुद्ध होना चाहता है या जिसके दोष दूर करने हैं, उसकी सबसे प्रथम वाणीका तप करना चाहिये । सत्य भाषण, मौन आदि वाणीका तप प्रसिद्ध है । वाणीके अंदर जो दोष होंगे उनको भी दूर करना चाहिये । वाणीमें प्रकाश या प्रसन्नता लानी चाहिये, जो बोलना है वह सात्वतरीति परेशुद्ध विचारों से युक्त ही बोलना चाहिये । इस प्रकार वाणीकी शुद्धता करनेका यत्न करनेसे वाणीका तेज अर्थात् प्रभाव बहुत बढ जाता है और हरएक मनुष्य उसके शब्द सुननेके लिए उत्सुक हो जाता है । (सू० १९)

२ प्राणका तप—प्राणवायुसे प्राणका तप होता है जिस प्रकार धौंकनसे वायु देवेसे अग्नीका शीतन होता है उसी प्रकार प्राणवायुसे शरीरके नम्रतावीर्यकी शुद्धता होकर तेज बढ जाता है, शरीरके दोष दूर हो जाते हैं, प्रकाश बढता है, घोषन होता है और तेजस्विता भी बढजाती है । इस अनुष्ठानसे मनुष्य निर्दोष होता है । (सू० २०)

३ आँखका तप—आँख द्वारा कुछ भावसे किसी ओर न देखना और भयलभावनासे ही अपनी दृष्टिका वपयोग करना नेत्रका तप है । पाठक वहाँ विचार करें कि अपने आँखसे किस प्रकार पार होते रहते हैं और किस प्रकार पतन होता है । इससे बचनेका यत्न हरएक को करना चाहिये । इसी तरह अग्न्याग्नि इंद्रियोंका संयम करना भी तप है जो मनुष्यकी शुद्धता कर सकता है । अपने इंद्रियोंको बुरेपथसे हटाना और अच्छे पथ पर चलना वहा महात्त्व पूर्ण तप है । इसीसे दोष हटते हैं, घोषन होता है और तेज भी बढता है । (सू० २१)

४ मनका तप—सत्य मानन करना मनका तप है । बुरे विचारोंको मनसे हटाना भी तप है । इस प्रकारके मनके तप कर जैसे मनके दोष दूर हो जाते हैं, मन पवित्र होता है और शुद्ध होकर तेजस्वी होता है । (सू० २२)

५ वीर्यका तप—(ब्रह्मचर्य) सिद्ध इंद्रियका, वीर्यका अथवा कामका तप ब्रह्मचर्य नामसे प्रसिद्ध है । ब्रह्मचर्यसे सब अपमृत्यु दूर होते हैं और अनन्त प्रकारके काम हटते हैं रोमादि भय दूर होते हैं और निषर्गका आरोम मिलता है । ब्रह्मचर्यके विषयमें सर्वांग आनते ही हैं इस लिए इनके संरक्षमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । ब्रह्मचर्य सब प्रकारसे मनुष्यमात्र के उद्धार का हेतु है । (सू० २३)

अग्नि (मार्ग), वायु (प्राण), सूर्य (नेत्र आदि इंद्रिय), चन्द्रमा (मन), आपः (वीर्य) इतः देवोंके आश्रयके मनुष्य की शुद्धि होनेका मार्ग यह है। प्रत्येक देवता की पांच शक्तियोंसे मनुष्यके दोष हटजाते और उसमें गुण बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य मनुष्य शुद्ध होता हुआ उन्नत होता जाता है।

द्वेष करना।

इन सूक्तोंके प्रत्येक मंत्रमें कहा है कि, जो (द्वेष) द्वेष करता दे, उसकी शुद्धता तप आदि द्वारा करना चाहिए। दूसरोंका द्वेष करना इतना बुरा है ? इससे अधिक बुरा और कोई कार्य नहीं है। यह सबसे बड़ा मारी पतन का कारण है।

आज कल अस्वपरो और मणिकोमें देखिए दूसरों का द्वेष व्यक्तित्व लिखा जाता है और उपासिका सत्त्वा मार्ग कम लिखा जाता है। दो पार भिन्न इच्छे बैठे या मिले तो उनकी जो बातचित, गुरु होती है, वह भी किसी कारणवश विषयपर नहीं होती, परंतु किसी न किसीकी निन्दा ही होती है। पाठक अपने अनुभव का भी विचार करेंगे तो उनकी पता लग जायगा कि मनुष्य जितना कुछ बोलता है उनमेंसे बहुतसा भाग दूसरोंकी निन्दा या दूसरोंका द्वेष होता है। मनुष्योंके अवनतिका यह प्रधान कारण है। यदि मनुष्य यह द्वेष करना छोड़ दे, तो उसका कितना कल्याण हो सकता है। परंतु दूसरोंका द्वेष करना बड़ा प्रिय और रोचक लभता है, इसलिए मनुष्य द्वेषही करता जाता है और गिरता जाता है।

इसलिये इन पांच सूक्तों के प्रत्येक मंत्र द्वारा उपदेश दिया है कि " जो (द्वेष) द्वेष करता है, उसकी शुद्धि तप आदिसे होनी चाहिए। " क्योंकि सबसे अशुद्ध यदि कोई मनुष्य होगा तो दूसरोंका द्वेष करनेवाला ही है। यह स्वयंभी गिरता है और दूसरोंको भी गिराता है।

मन जिसका चिंतन करता है वैसा बनता है। यह मनका धर्म है। पाठक इसका स्मरण करें। जो लोग दूसरोंका द्वेष करते हैं वे दूसरोंके दुर्गुणोंका निरंतर मनन करते हैं, इस कारण प्रतिदिन इनके मनमें दुर्गुणों की संख्या बढ़ती रहती है, किसी कारण भी यह कम नहीं होती। पाठक विचार करें कि मनही मनुष्यकी अवस्था निश्चित करता है। जैसा मन वैसा मानव वह नियम अटल है। अब देखिए, जो मनुष्य दूसरोंके दुर्गुणोंका निरंतर मनन करता है उसका मन दुर्गुणमय बनता जाता है। अतः मित्रद्वय मनुष्य दिन ५ दिन गिरता जाता है।

इसी लिए द्वेष करनेवालोंको पश्चात्ताप आदि तप अवश्य करना चाहिए। और अपनी शुद्धि करना चाहिए। तथा जागेके लिए निन्दाशक्ति छोड़ना भी चाहिए। अन्यथा धोवे हुए कपड़ोंकी फिर कीचड़में फेंकनेके समान बुराईका सुधार हो ही नहीं सकता।

पाठक इन सब बातोंका विचार करके अपनी परीक्षा करें और अपनी पवित्रता करने द्वारा अपने सुधारका मार्ग आक्रमण करें। जो धर्ममें नव प्रविष्ट या शुद्ध हुए मनुष्य होंगे उनकी सबभूत शुद्धि करनेका अनुष्ठान भी इन सूक्तोंके मननसे प्राप्त हो सकता है। नव ब्रह्मोंकी इस प्रकार अनुष्ठान द्वारा सभी शुद्धि करनेका मार्ग उनके लिए खुला होनेसेही उनके सच्ची उन्नति हो सकती है और वैदिक धर्मकी विरोधता भी उनके मनमें स्थिर हो सकती है। पाठक इन सब बातोंका विशेष विचार करें और इन वैदिक आदेशोंसे लाभ उठावें।

डाकुओंकी असफलता ।

(२४)

(ऋषिः-ऋषा । देवता-आयुष्यम्)

शेरमकु शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।	
यस्य स्य तर्मत्त यो वः प्राहृत्तर्मत्त स्वा मांसान्यत्त	॥ १ ॥
शेष्वृषक शेष्वृष पुनर्वो यन्तु ०।०	॥ २ ॥
श्रीकानुश्रीक पुनर्वो यन्तु ०।०	॥ ३ ॥
सर्पानुसर्प पुनर्वो यन्तु ०।०	॥ ४ ॥
जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।०	॥ ५ ॥
उपन्द्रे पुनर्वो यन्तु ०।०	॥ ६ ॥
अर्जुनि पुनर्वो यन्तु ०।०	॥ ७ ॥
मर्तुजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।	
यस्य स्य तर्मत्त यो वः प्राहृत्तर्मत्त स्वा मांसान्यत्त	॥ ८ ॥

अर्थ-हे (शेरमक शेरभ) वध करनेवाले ! हे (किमीदिनः) लुटेरे लोगो ! (यः यातवः) तुम्हारे अनुयायी और तुम्हारे (हेतिः) शत्रु (पुनः पुनः यन्तु) लौटकर वापस जाय । (यस्य स्य) शिकने लगी तु हो (तं जत्त) बसको खाओ । (यः वः प्राहृत्तं जत्त) जो तुम्हें लुटके लिये भेजता है उसीको खाओ अथवा (स्वा मांसानि जत्त) अपनाही मांस खाओ ॥ १ ॥

हे (शेष्वृषक शेष्वृष) घातपात करनेवाले ०।० ॥ २ ॥

(हे श्रीक अनुश्रीक) हे शेर और शेरोंके साथी ! ०।० ॥ ३ ॥

हे (सर्प अनुसर्प) हे साँपके समान छिपके हमला करनेवाले ! ०।० ॥ ४ ॥

हे (जूर्णि) विनाशक ! ०।० ॥ ५ ॥

हे (उपन्द्रे) विह्वलनेवाले ! ०।० ॥ ६ ॥

हे (अर्जुनि) दुष्ट मनवाले ! ०।० ॥ ७ ॥

हे (मर्तुजि) नीच कृत्तिवाले ! तुम सबके (यातवः , अनुयायी और (हेतिः) शत्रु तथा (किमीदिनीः) लुट करनेवाले जो हों सब तुम्हारे पास ही (पुनः यन्तु) वापस चले जाय । जिसके अनुयायी तुम हो (तं जत्त) उसीको खाओ जो तुम्हें भेजता है उसीको खाओ, अथवा अपना ही मांस खाओ ॥ ८ ॥ (परंतु किसी लुटेरेको कष्ट न दो ।)

भावार्थ-जो दुष्ट मनुष्य अथवा घातपात करनेवाले मनुष्य होते हैं वे शत्रुओंके धर्म छोड़कर अपने अनुयायियोंके साथ दूसरोंपर हमला करके लुटमार करते हैं और धर्मजनोंको सताने हैं । राजाकी सुन्वबन्धसे ऐसा प्रबंध किया जावे कि इन

दुष्टोंमें से कोई भी किसी दूसरे सज्जनोंको छूट न सके । इनके अनुयायी कृतकारी न होते हुए वापस लौट जाय, इनके शत्रु व्यर्थ ही, ये बाकूबंध भूले मरने लगे । ये लोग कहीं भी सफलता को प्राप्त न कर सकें । विफल मनोरथ होते हुए ये बाकू आपसमें मार पीट करके एक दूसरेको खाकर स्वयं ही नष्ट हो जाय ॥ १-८ ॥

दुष्ट लोग ।

नगरमें सज्जन नागरिक रहते हैं और जङ्गलोंमें बाकू चोर लुटेरे रहते हैं । ये बाकू रात्रीके या दिन के समय नगरों पर हमला करते हैं और लूटमार करके भाग जाते हैं । इस प्रकार लूट मार पर ये अपना निर्वाह करते हैं ।

राजाका सुराज्यका प्रबंध ऐसा हो कि ये किसी भी समय सफल मनोरथ न हो सकें । सर्वदा इनका हमला निवृत्त होवे । प्रतिघमय इनका हमला निष्फल होनेसे ये भोग भूले मरने लगेंगे । पचाह् आपसमें लड़ेंगे और आपसमें लड़ कर मर जायेंगे । इनके शत्रुज जो दूसरोंके लिये ये बेहो इन पर गिरेंगे, ये जो दूसरोंके मांस खाते ये बेहो अपने मांस खायेंगे, क्योंकि दूसरोंके मांस इनको मिलेगा नहीं और दूसरोंकी संघतियां इनको लूटमारके लिये प्राप्त नहीं होगी ।

राज प्रबंध द्वारा ऐसी व्यवस्था होना और चोर लुटेरे भूले मरने लगना ही उन दुष्टोंके सुधारका मार्ग है । ऐसा सुप्रबंध होनेसे बाकू लोग नागरिक बनने लगते हैं और उनको बाकूके व्यवहार से हानि और उतम नागरिक बननेसे लाभ प्रतीत होता है । पठक विचार करें और देखें कि यह भी एक दुष्टोंके सुधारनेका मार्ग है और जो विचार पूर्वक अमलमें लाया जाय तो निःसंदेह लाभकारी होगा ।



पृश्निपर्णी ।

[२५]

(ऋषिः चातनः । देवता—वनस्पतिः)

शं नो देवी पृश्निपर्ण्यं निर्व्रंत्वा अकः । उग्रा हि कण्वजर्मनी वाममक्षि सहस्वतांम् ॥ १ ॥
सहमानेर्यं प्रथमा पृश्निपर्ण्यजायत । तयाहं दुर्णांश्रां शिरों वृक्षामि शुकुनेरिव ॥ २ ॥

अर्थ—[देवी पृश्निपर्णी नः शं] देवी पृश्निपर्णी, औषधी हमारे लिये सुख और [निर्व्रंत्वा अकः] व्याधियंके लिये दुःख [अकः] करती है । [हि उग्रा कण्व-जर्मनी] क्योंकि यह मखंड रोग बीज-नाशक है । [सहस्वतीं ॥ वाममक्षि] कक्षती उस औषधिका मैं सेवन करता हूँ ॥ १ ॥

[इयं प्रथमा सहमाना पृश्निपर्णी] यद्यपि देवी विजयी पृश्निपर्णी प्रकट हुई है । [तया दुर्णांश्रां शिरः वृक्षामि] उस वनस्पतिसे तुरे नामवाले रोगोंका शिर मैं कुचकता हूँ [शुकुनेः इव] जिस प्रकार छोटे पक्षीका शिर जोड़ते हैं ॥ २ ॥

भाषार्थ—पृश्निपर्णी औषधी मनुष्योंके सुख देती है और रोगोंको ही मराना है; यह रोगबीजोंको दूर करती है, रोगोंको मगाती है, इसलिये इसका सेवन करना योग्य है ॥ १ ॥

इस कार्यके लिये यही मुख्य औषधी है, इससे मानो दुष्ट रोगोंका शिरही टूट जाता है ॥ २ ॥

अरायमसुकपावानं यश्च स्फाति जिहीर्षति । गर्भदं कर्ष्वं नाशय पृश्निपर्णि सहैस्व च ॥३॥
गिरिमेना आ देऽय कर्ष्वाञ्जीवितयोपनान् । तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यगिरिवानुदहंश्चिहि ॥४॥
पराच एनान्प्रणुद कर्ष्वाञ्जीवितयोपनान् । तमांसि यत्र गच्छन्ति तत्कृष्यादौ अजीगमम् ॥५॥

अर्थ— हे पृश्निपर्णि ! [अ-रायं] शोभा हटानेवाले, [असूक्-पावानं] रक्त पीनेवाले [यः च स्फाति जिहीर्षति] जो पुष्टिको रोकठा है, उसको तथा [गर्भ-भदं] गर्भ खानेवाले, [कर्ष्वं नाशय] रोगबीजका नाश कर और [सहैस्व] उसको जीत लो ॥३॥
हे [देवि पृश्निपर्णि] देवी पृश्निपर्णी औषधी ! तू [एनान् जीवितयोपनान्] इन जीवित का नाश करनेवाले [कर्ष्वान्] रोगबीजोंको [गिरि श्वेत्वाय] पहाडपर ले जाओ और [त्वं तां अग्निः इव जनुदहन्] तू उनको अग्निके समान जलाती हुई [इति] प्राप्त हो ॥ ४ ॥

[एनान् जीवित-योपनान्] इन जीवितका नाश करने वाले [कर्ष्वान् पराचः प्रणुद] रोगबीजोंको भक्षोमुखसे दकेल दे । [यत्र तमांसि गच्छन्ति] जहाँ भंघकार होता है [तत्] वहाँ [कृष्यादः अजीगमं] मांस भक्षण रोगोंको प्राप्त किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो रोग शरीरकी शोभा हटाते हैं, खून कम करते हैं, पुष्टिका नाश करते हैं, गर्भको छुसाते हैं, उन रोगोंका नाश पृश्निपर्णी करती है ॥ ३ ॥

जिनको ये रोगबीज छताते हैं उनको पहाडपर बसाओ और पृश्निपर्णी का खेवन उनसे कराओ जिससे वह पृश्निपर्णी सबके रोग बीजोंको जला देगी ॥ ४ ॥

प्राण नाश करनेवाले इन रोग बीजोंको जीविके मार्गसे दूर करो । जहाँ भंघेरा रहता है वहाँ ही रक्त और मांसका नाश करनेवाले ये रोगबीज रहते हैं ॥ ५ ॥

पृश्निपर्णी ।

इस पृश्निपर्णी को विप्रपर्णी कहते हैं । आषाढे इसके ' पीठवन, पीतवन, पठौनी ' कहते हैं । इसके गुण ये हैं—

त्रिदोषघ्नी वृष्योष्णा मधुरा स्या ।

हृत्वि दाहज्वरश्वसराकृतिसारतृट्त्वमीः ॥

आय. पू. १ भाग. ५६० वर्ग.

' यह पीठवन औषधी त्रिदोषनाशक बलवर्धक, उष्ण, मधुर और सारक है, इससे दाह, ज्वर, श्वस, रक्तातिसार, तृष्णा और वमन दूर होता है । ' इस वनस्पतिको वर्णन इस सूक्ने किया है । इस सूक्तमें जिन रोगोंके नाश करने के लिये इस औषधी का उपयोग लिखा है उनका वर्णन अब देखिये—

रक्त दोष

इस सूक्तमें यद्यपि अनेक रोगमूलाका वर्णन किया है तथापि प्रायः सभी रोगोंका मूल कारण रक्त दोष प्रतीत होता है । इस विषयमें देखिए—

१ असूक्-पावानं— (असूक्) रक्तको (पावानं) जो पीते हैं । अर्थात् जो रक्तको खाजते हैं । जो रोग रक्तको शरीरमें कम करते हैं, रक्तकी शुद्धता हटाते हैं और रक्तका प्रमाण कम करते हैं (Anemia) पांडुरोग जैसे रोग, जिनमें रक्तकी मात्रा कम होती है । (मं० ३)

२ अ-रायं— (राय, रै) का अर्थ श्री, शोभा, कवि, ऐश्वर्य है । शरीरकी शोभा, शरीरका शौण्डर्य यहाँ राय शब्दसे अभीष्ट है । वह इस रोगसे हटाता है । शरीरका खून कम और अनुबद्ध होनेसे इस पांडु रोग आदिमें शरीरकी शोभा हटजाती है और शरीर मरियलसा होजाता है । (मं० ३)

३ ह्वाति जिहोर्बन्ति—पुष्टि इत्यत्रा हे । शरीरका मांस कम्पे करता हे, शरीरको सुखाठा हे । शरीर रुच होता जाता हे । शरीर का सुशौचपन कम होता हे । अर्थात् शरीर सौग होता हे । (सं० ३)

४ गर्भदिं (गर्भं—अर्द्धं)—गर्भको खानेवाला रोग । गर्भाके गर्भमें ही गर्भको बढने न देनेवाला, सुखानेवाला, अर्थात् करनेवाला अथवा गर्भको मृत करनेवाला रोग । (सं० ३)

५ कण्डः—विष रोगमें रोगों अचकतताका (कण्ठि) शब्द करते हैं, आहो मारते हैं, हाथ हाथ करते हैं अथवा कठिनी प्रकार अपनी अक्षयता ब्यक्त करनेवाला शब्द करते हैं । यह नाम रोग बीजघ्न है जिसे पूर्वाक्ष रोग कहाते हैं । (सं० १, ३—५)

६ निर्कृतिः—(कृति) सल स्वयहार, मोक्ष सल रक्षाका मार्ग । (निः—कृतिः) ठेका बाल बलन, अदोय अक्षय स्वयका मार्ग । इस प्रकारके व्यवहारसे उक्त रोग होते हैं । (सं० १)

७ दुर्गमा—(दुः—नामा) दुष्ट व्यवस्था रोग । अर्थात् बी रोग दुष्ट व्यवहार से उत्पन्न होता है । (सं० २)
ये सप्त शब्द रोगोंके लक्षण बता रहे हैं अंशित (३ निर्कृति, ४ दुर्गमा) ये दो शब्द रोगोत्पत्तिका कारण बता रहे हैं । अर्थात् मन्त्रधर्मादि दुनियमोंका पाठन न करने आदि तथा दुष्ट दुर्गचारके व्यवहार करनेसे उक्त रोग हुआ करता है और पाण्डु रोग, क्षय रोग आदि होते हैं । ये दो कारण बता कर इस सूक्तमें पाठकोंको सतर्क किया है कि वे इन पाठक रोगोंसे अपना बचाव करें । अर्थात् बी रोग मन्त्रधर्मादि दुनियम पाठन करेंगे और धर्माचार से रहेंगे वे इन रोगोंसे बच सकते हैं ।

रोगका परिणाम ।

इन रोगोंका परिणाम कितना अमानक होता है यह बात यहां बतायी है देखिए—

जीवित-जीवन्तः ॥ (सं. ४—५)

" जीवित का नाश करनेवाला यह रोग है । " मृत बिगड़कर पांडुरोग क्षयरोग उत्पन्न आदि रोग हुए तो वही जीवित नष्ट होने की ही संभावना रहती है । ये रोग बड़े कष्ट वाच्य होते हैं । इत्यदिच अपने आपको बचाना हीं योग्य है ।

उत्पत्तिस्थान ।

इन रोग बीजोंका उत्पत्तिस्थान भी इस सूक्तमें स्पष्ट शब्दों द्वारा कहा है, देखिए—

उत्पत्ति यत्र गच्छन्ति

सत्कारादो अजीगमन् ॥ (सं. ५)

" जहाँ अंगकार रहता है, ऐसे स्थानोंमें उत्पन्न मांस खाने वाले वे रोग बीज प्राप्त होते हैं । " जहाँ सदा अंधकार रहता है । जहाँ वायु नहीं पहुँचता, जहाँ सूर्य प्रकाश नहीं जा सकता, ऐसे अंधेरे स्थानोंमें इन रोग बीजोंकी उत्पत्ति होती है अथवा ऐसे स्थानोंमें वे रोग बीज होते हैं । अर्थात् जो लोग सदा अंधेरे कमरोंमें निवास करते हैं, स्वच्छ वायु वाले कमरोंमें नहीं रहते सूर्य प्रकाश न पहुँचनेवाले कमरोंमें रहते हैं । अथवा जिनके निवास गृह ऐसे हैं .जन्धेरे रोग होते हैं । परंतु जो लोग स्वच्छ वायुवाले स्थानोंमें तथा सूर्य प्रकाश प्रतिदिन अपनेवाले स्थानोंमें निवास करते हैं उनही वे रोग कष्ट नहीं पहुँचा सकते इत्यदिच पाण्डुरोग क्षय आदि सप्त तथा मांस वम करनेवाले रोगोंसे बचाव करनेके लिए सूर्य प्रकाश और शुद्ध वायु यहाँ परिणाम हो ऐसे परिशुद्ध स्थानोंमें निवास करना चाहिए ।

बचावका उपाय ?

रोग होने के पश्चात् बचावका उपाय इस सूक्तमें कहा है यह अब देखिए—

जीवितपोषणान् पणान् काण्वान् ।

गिरिं आवेशय ॥ (सं० ४)

“ जोवितका नाश करनेवाले ये रोषबीज जिनके अंदर प्रविष्ट हुए हैं अर्थात् जिन को वे रोग हो गये हैं, उनको पहाड़ पर लेजाओ । ” पहिली बात यह है कि ऐसे रोगियों को उत्तम वायु के पर्यंतके उत्तम स्थान पर ले जाओ । यह सबसे उत्तम उपाय है । इन रोगियोंको नगरोंमें मत रखो, अब शमूहोंमें मत रखो, परंतु पहाड़पर ले जाओ । क्योंकि रोगबीज अंधेरे सुदबबुझीन और सूर्य प्रकाशहीन स्थानोंमें उत्पन्न होते हैं, इसलिए इन रोगबीजोंका नाश भा ऐसे स्थानोंमें होना संभव है कि जहां विपुल प्रकाश सुदबायु और अंधेरा न हो । नगरोंमें मकान पास पास होनेके कारण वहां भा वायु योग्य नहीं होता, अतः रोगीको पहाड़पर ले जाना ही योग्य है । इस मंत्रमें प्राणनाशक रोगबीज (जीवितयोग्य कण) को पहाड़ पर लेजाने की कक्षा है, उसका अर्थ उक्त रोग बीजवाले रोगियोंको पहाड़पर ले जाना है । क्योंकि आगे दूधी मंत्रमें रोगीके लिए औषधि प्रयोग भी लिखा है, देखिए—

देवि पुष्पिपर्णि ! त्वं तान् जग्निः ह्य

अजुदहन इदि ॥ (मं० ४)

“ यह दिव्य औषधि पिठवन उन रोगबीजोंको जिनके समान जलठी हुई प्राप्त होगी । ” अर्थात् पहाड़पर गये वध रोगियोंको इस औषधिसे सेवन करावेसे उनके अंदर प्रविष्ट हुए सब रोगबीज जल जायेंगे और रोगबीज दूर होनेसे रोग आरोग्य पूर्ण होगा । क्योंकि—

इयं प्रथमा पुष्पिपर्णा सहमाना जगामयत् । (मं० २)

“ यह पहली पिठवन विजयी होती है । ” किंवा रोगपर विजय प्राप्त करनेके लिए यह सबसे (प्रथमा) मुख्य औषधि है । इसके सेवनसे निःसंदेह विजय प्राप्त होगा और रोगबीज दूर होंगे ।

कण्यजग्मनी जगाम हि

तां सहस्वतीं जगामि ॥ (मं० १)

यह एक सुखानेवाले रोगका नाश करनेवाली अज्ञेय प्रचण्ड औषधि है । इसका सेवन (चक्षुष्मनी) कीर्षवती वा बलवती हीनेत्री अथवापि ही करना चाहिए । ” इस कारण भी रोगीका पर्यंत पर होना आवश्यक है, क्योंकि योग्य समयमें ताजी वनस्पति पर्यंत परसे ही निश्चलकर तत्काल उषासे सेवन कराया जा सकता है । वहांसे वनस्पति उखाड़कर नगरमें आनेपर यह रसहीन होना संभव है ।

द्वेष्टी पुष्पिपर्णा जः शो

निक्रम्या ज—शं अकः ॥ (मं० १)

“ यह दिव्य औषधी पीठवन मनुष्यको मुक्त देती है और रोगियोंकी ही दुःख देती है । ” अर्थात् रोगीको जहसे हटाती है तथा—

तथा अहं दुर्भाग्या शिरः वृक्षामि । (मं० ०)

“ इस औषधिके मैं इन दुष्ट रोगियोंका नाश करता हूं । ” अर्थात् इनका शिर ही तोड़ देता हूं, ताकि वे रोग अपना शिर फिर ऊपर न उठा सकें ।

जीवित—योग्यान् कण्वान्

पुनान् पराचः प्रपुद् ॥ (मं० ५)

“ जीवित का नाश करनेवाले इन रोग बीजोंको नीचेके द्वारसे ढकेल दो । ” नीचे मुक्त करके दूर करनेका अर्थ शीघ्र शक्ति द्वारा दूर करनेका है । पिठवनमें मल शुद्धि करनेका गुण है । उक्त रोग बीज नष्ट करके उनके मलद्वारसे दूर कर देती है । यह इस वनस्पतिकी गुण है ।

पृथिव्यधिक सेवनसे रक्त दोष दूर होगा, शरीरमें रक्त बढ़ने लगेगा, शरीर पुष्ट होने लगेगा, शरीर पर तेज आवेगा, गर्मकी कृपता दूर होकर गर्म बढ़ने लगेगा, और अस्थ्यान्व ज्ञान भी बढ़नेसे होंगे । इसके सेवनका विधि ज्ञानी वैद्योंकी निश्चित करना चाहिए ।

वेदमें जहाँतक हमने देखा है एक औषधि प्रयोग (singledrug systym) ही लिखा है । अर्थात् एवही औषधि का सेवन करना । साथ साथ अनेक औषधियाँ मिलाकर सेवन करनेका उल्लेख कम है । सेवन के लिए पानीमें पोखना या कदाचित् साथ मिश्रणमें मिलाना यह बात और है, परन्तु एक समय रोगीको एकही औषधि सेवनके लिए देना तथा शुद्ध जल वायु, शुद्ध स्थान, सूर्य प्रकाश आदि निर्गम देवताओंसे ही सहायता प्राप्त करना यह वैदिक चिकित्साकी पद्धति प्रतीत होती है । इसलिए जो पाठक उक्त रोगोंमें इस पीठवनका उपयोग करके लाभ उठाना चाहते हैं वे ज्ञानी वैद्यके निरीक्षणमें इसका प्रयोग करें और लाभ उठावें ।

गो-रस ।

(२६)

[ऋषिः-सविता । देवता-पशवः ।]

एह यन्तु पशवो ये परियुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष ।

त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान्गोष्ठे संविता नि यच्छतु ॥ १ ॥

इमं गोष्ठं पशवः सं संवन्तु बृहस्पतिरानयतु प्रजानन् ।

सिनीवाली नयत्वाग्रमिषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ ॥ २ ॥

सं संवन्तु पशवः समश्वाः सनु पूरुषाः ।

सं धान्यस्य या स्फातिः संस्त्राव्येणि हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

अर्थ- [पशवः पशु जायन्तु] पशु यहाँ आजायें । [ये परा-इयुः] जो परे गये हैं । [येषां सहचारं वायुः जुजोष] जिनका साथचर्य वायु करता है । [येषां रूपधेयानि त्वष्टा वेद] जिनके रूप त्वष्टा जानता है । [अस्मिन् गोष्ठे तान् सविता नि यच्छतु] इस गोशालामें उनको सविता बांधकर रखे ॥ १ ॥

[पशवः इमं गोष्ठं संवन्तु] पशु इस गोशालामें मिलकर जा जायें । [बृहस्पतिः प्रजानन् आनयतु] बृहस्पति जानता था उनको ले लावे । [सिनीवाली येषां अर्थ जायन्तु] सिनीवाली इनके अग्रभागको ले लावे । हे [अनुमते] अनुमते ! जा जानुपः नियच्छ] जानेवालोंको नियममें रखे ॥ २ ॥

[पशवः समश्वाः सनु पूरुषाः] सं सं सं खरन्तु] पशु, घोड़े और मनुष्यभी मिल जुलकर चलें । [या धान्यस्य स्फातिः सं] जो धान्य की बढती है वह भी मिलकर बढ़े । मैं [सं स्त्राव्येणि हविषा जुहोमि] मिलानेवाले हविसे हवन करता हूँ ॥ ३ ॥

आचार्य- जो पशु शुद्ध जलवायुमें झपणके लिये गये हैं वे मिलकर पुनः गोशालामें आजायें । इनके बिन्होंको त्वष्टा जानता है । सविता उनको गोशालामें बांधकर रखे ॥ १ ॥

सब पशु मिलकर गोशालामें आजायें, आनेवाला बृहस्पति उनको ले लावे । सिनीवाली अग्रभागको ले चले और अनुमति दीय जानेवालोंको नियममें रखें ॥ २ ॥

घोड़े आदि सब पशु तथा मनुष्यभी मिल जुलकर चलें और रहें । धान्यभी मिलकर बढ़े । सबको मिलानेवाले हवनसे मैं यज्ञ करता हूँ ॥ ३ ॥

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्यैन् वलं रसम् ।
 संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ
 आ हंरामि गवां क्षीरमाहार्यं धान्यं १ रसम् ।
 आहंता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम्
 (इति चतुर्थोऽनुवाकः ।)

॥ ४ ॥

॥ ५ ॥

अर्थ— [गवां क्षीरं सं सिञ्चामि] गोओंका दूध सींचता हूँ । [वलं रसं आज्येन सं] बलवर्धक रसको घीके साथ मिलाता हूँ । [अस्माकं वीराः संसिक्ताः] हमारे वीर सींचे गये हैं । [मयि गोपतौ गावः ध्रुवाः] सुप्त गोपतिमें गोबे स्थिर हों ॥ ४ ॥
 [गवां क्षीरं आ हंरामि] गोओंका दूध मैं खाता हूँ । [धान्यं रसं आहार्यं] धान्य और रस मैं खाता हूँ । [अस्माकं वीरा आहंताः] हमारे वीर खाये गये हैं । और [पत्नीः इदं अस्तकं आ] पत्निवां भी इस घरमें काटी गई हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ— मैं गोओंसे दूध लेता हूँ तथा बलवर्धक रसके साथ घीको मिलाकर सेवन करता हूँ । हमारे वीरों और बालकोंको यही पेय दिया जाता है । इस कार्यके लिये हमारे घरमें गौबे स्थिर रहें ॥ ४ ॥
 मैं गोओंसे दूध लेता हूँ, और वनस्पतिवैद्यसे रस तथा धान्य लेता हूँ । हमारे वीरों और बालकोंको इकट्ठा करता हूँ, घरमें पत्निवां भी काटै आती हैं और सब मिलकर उन्नत पौष्टिक रसका सेवन करते हैं ॥ ५ ॥

पशुपालना ।

घरमें बहुत पशु अर्थात् गौबे, बोट्टे, बैल आदि बहुत पाले जाय । यह एक प्रकारका धन ही है । आज कल उपवनोंको ही धन माना जाता है, परंतु उपयोगकी दृष्टिसे देखा जाय तो गाय आदि पशु ॥ सच्चा धन है । इनकी पालना योग्य रीतिसे करने के विषय में बहुतसे आदेश इस सूक्तके पदले दो मंत्रोंमें दिये हैं । आजकल प्रायः घरमें गौ आदि पशुओंकी पालना नहीं होती है, कृषिद किर्षिके घरमें एक दो गौएँ होंगी तो बहुत हुआ, नहीं तो प्रायः कोई नागरिक लोग पशु पालते ही नहीं । नगरके लोग प्रायः दूध आदि मोंक ॥ भेते हैं । इतना रिवाज बदल जानेके कारण इस सूक्तके आदेश व्यर्थ के प्रतीत होंगे । परंतु पठक-जग अपनी दृष्टि वैदिक कालमें के जाय और वह देखें कि ऋषिकालमें ऋषिवेदोंके पास हजारहा गौबे होती थीं और उसी प्रमाणसे अन्यान्य पशुमी बहुतसे होते थे । ऐसे घरोंके लिये ये आदेश फलीभूत हो सकते हैं ।

अ्रमण और वापस आना ।

गाय आदि पशुओंको शुद्ध वायुमें अ्रमण के लिये लेजाना आवश्यक है, उनका संचार शुद्ध वायुमें होनेके बिना तथा सूर्य प्रकाशमें उनका अ्रमण होनेके बिना न तो उनका स्वास्थ्य ठाँक रह सकता है । और न उनका दूध गुणकारी ही सकता है । इत्यलिये—
 येषां सहचारं वायुः शुक्रोष । (मं० १)

" जिनका साहचर्य वायु करता है " यह प्रथममंत्रका वाक्य गौओंके आरोग्यके लिए उनका शुद्ध वायुमें अ्रमण अर्थात् आवश्यक है यह बात ब । रहा है तथा—

ये पशवः परा इयुः से इह आपन्तु ० (मं १)

" जो पशु अ्रमणके लिए बाहर गये हैं वे मिलकर वापस आजायें " इस मंत्रमागमें भी यही बात स्पष्टतासे है । पशु अपने स्थानसे मिलकर बाहर जाय और मिलकर वापस आजायें । आगे पीछे रहनेसे उनको पुनः हूँटना होगा । इस कष्टसे बचा-
 नके लिए सब पशु कमपूर्वक जायें और सब इच्छेन वापस आजायें ऐसा जो इस मंत्रमें कहा है वह बहुत उपयोगी आदेश है ।

जहाँ हजारों पशु होंगे वहाँ एक गोपालके काम नहीं चल सकता । इस कार्य के लिए अपने अपने कार्यमें प्रबोध बहुतसे गोपाल होने चाहिये । उनका सर्वान सचिता आदि नामोंसे इस सूक्तमें किया है—

- १ खट्टा देवां रूपानि वेद । (मं० १)
- २ सविता अस्मिन् गोष्ठे तान् नियच्छतु । (मं० १)
- ३ बृहस्पतिः प्रजापन् आनवतु ॥ (मं० २)
- ४ मित्रीवाही पूर्वा अग्र आनवतु । (मं० २]
- ५ अनुमते । आजगमुषः विषच्छ । (मं० २)

इन मंत्रोंमें देवताओंके नाम अत्येक कार्यके लिए आये हैं । इन शब्दोंके देवता वाचक अर्थ प्राप्ति ही हैं, परंतु इनके मूल-आवर्ष भी यहाँ देखिए-

- १ खट्टा - सुहृन् करनेवाला, कुशल करीवर । (खल-तनुकरणे)
- २ सविता—प्रेरक । (सु-प्रेरणे) । चत्स्येवासा ।
- ३ बृहस्पतिः—ज्ञानवान्, (बृहत्) बड़ेका (पति) स्वामी । इतिदिश, निरीक्षक ।
- ४ मित्रीवाही—(मित्री) अर्घके (वाही) बलसे युक्त । अग्रवाही स्त्री ।
- ५ अनु-मतिः—अनुकूल्य मति रखनेवाली स्त्री ।

इन पांच देवता वाचक शब्दोंके ये मूल-आवर्ष हैं और इन अर्थोंके साथ ही ये शब्द यहाँ प्रयुक्त हुए हैं । ये मूल अर्थ लेकर इन मंत्र भागोंका अर्थ देखिए-

‘ कुशल करीवर साथ आदि पशुओंके आकारोंको जानता है । २ प्रेरक उनको गौघाना में कमपूर्वक नियममें रखे । ३ उनको जाननेवाला पशुओंको लावे । ४ अग्रवाली स्त्री पशुओंके आगे चले । और ५ अनुकूल्य कार्य करनेवाली आनेवाले पशुओंके साथ चले ।

यहाँ पशु पालनेके आदेश मिलते हैं । इनका विचार यह है- “ (१) पशुओंके पालन कर्ममें एक ऐसा अविद्यारी होवे, कि जो पशुओंके सब लक्षण जानता हो, (२) दूसरा कार्यकर्ता ऐसा हो कि जो निरीक्षण करके देखे कि सब पशु यथा स्थान-पर आये हैं वा नहीं, तथा उनका अन्व खानपानका प्रबंध ठीक हुआ है वा नहीं, (३) तीसरा निरीक्षक ऐसा होवे कि जो पशुव्यस्त्य विधाको अच्छी प्रकार जाननेवाला हो, यही पशुओंको सजे सेजानेका प्रबंध देखे, (४) जब पशु घरमें आजाय तो उसको खान पान देनेवाली स्त्री ही जो सबसे आगे चले, उनके साथ पशुओंको देने योग्य अन्न हो, (५) तथा सबसे पीछे चलने-वाली पशुओंके अनुकूल कार्य करनेवाली पीछे पीछे चले । ” इस रीतिसे सब पशुओंका योग्य प्रबंध किया जावे । पुरवोंकी अपेक्षा शिशु मंत्र पूर्वक उत्तम प्रबंध कातो है इच्छते अतिम दो चर्योंमें शिष्यो से नियुक्त करनेकी सूचना देने की है वह योग्य ही है ।

जहाँ संघका और हजारों गँवें पसी जाती हो ऐसे स्थानोंमें ऐसा सुयोग्य प्रबंध अत्यंत आवश्यक ही है । आजकल जहाँ गौघाना अमात्र सा हो गया है वहाँ ऐसे बड़े प्रबंध की आवश्यकता नहीं है, यह स्पष्ट ही है । यह आजकलकी प्रगति है जो हमें पुष्टिसे दूर रखती है, इसका पाठक अवश्य विचार करें । शिशु घरमें दस पांच नीर-कमसे कम हों उस घरके मनुष्य गोरस खा पीकर कैसे हुए पुष्ट होते हैं और शिशु घरमें गौमें नहीं होती, उस घरके मनुष्य कैसे मरियच्छे होते हैं इसका विचार करनेसे गो पालनेके साथ तन्दुरुस्ती का संबंध बितना चमत्त है इसका पता लग सकता है । यहाँ तक पहिले दो मंत्रोंका विचार हुआ । तृतीय मंत्रमें सबसे मि-जुलकर रहनेका नाम हुआ यह बात कही है । पशु क्या और मनुष्य क्या सब मिलजुलकर परस्पर उपयोगी होकर अपनी शक्ति करें, सब मिलकर चान्य प्राप्त करें अर्थात् चंठी करके चान्य की तराश करें । इस प्रकार चान्य, वनस्पतिरस और गोरस विपुल प्रमाण में प्राप्त करके उस के द्वारा अपनी पुष्टिको बढ़ाते हुए अपनी उन्नति करें । (मं० ३)

दूध और पोषक रस ।

दूध, दही मक्खन, घी, छाछ आदि सब प्रकारके गोरस तथा अन्योन्य पोषक रस विपुल प्रमाणमें प्राप्त करने चाहियें, और इनका देवन भी पर्याप्त प्रमाणमें करना चाहिये, इस विषयमें मंत्र ४ और ५ स्पष्ट शब्दोंद्वारा आदेश दे रहे हैं । इत मंत्रमें

'वीराः' उन्मत्त है, इस उन्मत्त प्रसिद्ध अर्थ शूरवीर है, परंतु वेदमें इसका अर्थ, 'पुत्र, बालकको संतान' भी है। यहाँ इन दोनोंमें 'पलाय' के दाह्यवर्षके कारण यही अर्थ विशेषतः लामोह है।

'मै' यौगंधे दूध लाता हूँ, वनस्पतियोंका बतवर्षकर रस और भान्ज लाता हूँ, यो भी काम-है। घरमें धर्मपरिनिवा है और बालकको भी हूँकड़े हुए है अथवा इह मित्र वीर पुरुष भी जमा हुए हैं, इन सबको हृच्छाके अनुसार यह सब साधारण विद्या जाता है। (मं० ४—५)

इन दो मंत्रोंका यह आशय है। ' संशिक्षता अस्माकं वीराः ' हमारे वीर वा बालबच्चोंके ऊपर यह रस सींचा गया, जिस प्रकार वृष्टिमें आनेसे सब मींग जाता है उस प्रकार बालबच्चोंपर दूध भी आदि सब रसोंकी वृष्टि की गई है। ' संशिक्ष' पाठका अर्थ बतान प्रकारसे संशिक्षण करना, भिगोना है। बालबच्चे दूध पढ़ी अन्वेषण थी, रस आदिसे पूरे पूरे भंगि, अर्थात् इतना गोरस घरमें पारिष्ठे। इहपुत्रता तो सब आ सकनी है। वैदिक धर्म वैदिक धर्मोंको यह उपदेश दे रहा है कि अपनी पूरा व्यवस्था ऐसी करो कि जिससे धर्म इतना विपुल गोरस प्राप्त हो और उसका सेवन करके सब बालक इहपुत्र हों। मात्रकल नामा प्रकारकी बीमारियाँ बहनेका कारण ही यह है कि गोरस न्यून होनेके कारण मनुष्यमें जीवन शक्ति ही कम होगई है। पाठक इसका विचार करें और इह विषयमें जो हो सकता है करके अपनी जीवन शक्ति बढ़ावें। सब अन्न आरोग्य जीवन शक्तिकी वृद्धि होनेसे ही प्राप्त होगी। गोरसका, गोरसके तथा गोसंशोधन करनेकी कितनी आवश्यकता है और राष्ट्रीय किंवा जातीय जीवन की दृष्टिसे भी इह विषयकी कितनी आवश्यकता है इसका पाठक विचार करें।

वैदिक अग्नेय-मन्त्रधारणमें आनेका विचार जो लोग कर रहे हैं-उनको इस सूक्तका बहुत मनन करना योग्य है, क्योंकि यह आरोग्य ऐसा है कि इसके व्यवहारमें काठे ही काम होने का प्रत्यक्ष अनुभव लायेगा।

विजय-प्राप्ति ।

(२७)

(प्रायिः-कपिल्ललः । देवता-१-५ वनस्पतिः, ६ रुद्रः, ७ इन्द्रः ।)

नेच्छन्तुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि ।

प्राशं प्रतिप्राशो जक्षरसान्कृण्वोपधे

॥ १ ॥

सुपर्णस्त्वान्विन्दत्सकुरस्त्वांसनस्रसा । प्राशं०

॥ २ ॥

अर्थ—[सन्तुः प्राशं न इह जयाति] प्रतिपक्षी मेरे प्रथम नहीं निक्षयसे विजय प्राप्त कर सकता। क्योंकि तू [सह-माना अभिभूः अभि] अक्षीक और प्रमादवाली है। [प्राशं प्रतिप्राशः वहि] प्रत्येक प्रथम प्रतिपक्षीको जीत को।

[अपधे । असात् कृणु] हे अपधे ! तू प्रतिपक्षियोंको मारस कर ॥ १ ॥

[सुपर्णः त्वा अन्व विन्दत्] गरुडने तुझे प्राप्त किया है और [सकुरः त्वा असा अक्षनत्] सुमरने तुझे मारके छोड़ा है ॥ २ ॥

भावार्थ—मेरे प्रथमे प्रतिपक्षी का पराजय होगा। क्योंकि मेरी यह शक्ति जब शक्तिनी और प्रमादपुत्र है। इधनिये प्रत्येक प्रथमे प्रतिपक्षीका पराजय होगा। अपधे भी प्रतिपक्षियोंको शुष्क बनावे ॥ १ ॥

इह वनस्पतिको गरुडपक्षी प्राप्त करता है और सुमर खोपटा है ॥ २ ॥

इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्य स्तरीतिवे । प्राशुं०	॥ ३ ॥
पाटामिन्द्रो न्याम्रादसुरेभ्य स्तरीतिवे । प्राशुं	॥ ४ ॥
उपाहं अश्रुन्त्सासु इन्द्रः सालावुकां इव । प्राशुं०	॥ ५ ॥
रुद्र जलापमेपञ्च नीलाश्रिखण्ड कर्मकृत् ।	
प्राशुं प्रतिप्राशो जस्रसान्कृण्वोपधे	॥ ६ ॥
तस्य प्राशुं त्वं जहि यो न इन्द्रामिदासति ।	
अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि माहृचरं कृषि	॥ ७ ॥

अर्थ— [इन्द्रः असुरेभ्यः स्तरीतिवे स्वा बाहौ ह चक्रे] इन्द्रने असुरोंसे अपनी रक्षा करनेके लिये पुष्ते बाहुर पराज किया था ॥ ३ ॥

[असुरेभ्यः स्तरीतिवे] असुरोंसे बधाव करनेके लिये [इन्द्रः पाटां प्यासात्] इन्द्रने इस पाटा बलसत्तिको खाया था । ॥ ४ ॥

[अहं उपा अश्रुन्त्सासु] मैं इस बलसत्तिके मनुजोंको पराजत करवा हूँ [इन्द्रः सालावुकां इव] जैसे इन्द्र ने पारिषीको दूर करा है ॥ ५ ॥

हे [जलाप-मेपञ्च] जलसे विक्रिया करनेवाले [नील-श्रिखण्ड] नील श्रिखावाले [कर्मकृत्] दुस्वार्थी कृत् । [प्राशं प्रतिप्राशः] प्रत्येक प्रश्नके प्रति प्रतिवादीको [बहि] और लो । [अपेधे जस्रान् कृणु] हे औरने ! दं पारिषीको मुष्क कर ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! [यः नः अमिदासति] जो हमें दास बनाया थाहवा है [तस्य प्राशुं त्वं जहि] उसके प्रश्नको दं जीत लो [शक्तिभिः नः अधिब्रूहि] शक्तियों के साथ हमें कह और [प्राशि मा अहृचरं कृषि] प्रश्नप्रतिपश्नमें मुझे अधिक रूपन कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— इन्द्रने यह औषधि असुरोंके पराज करनेके लिये अपने शरीरपर चारण थी थी ॥ ३ ॥

तथा अधीन इच्छा धेवन भी किया था ॥ ४ ॥

अधीन मनुजोंको भगा देता हूँ ॥ ५ ॥

हे जल विक्रियक नील श्रिखावादी जलन पुरुषार्थी दरद्वेष ! प्रति प्रश्नके प्रतिवादीको पराजत कर और हे औरने ! पारिषीको मुष्क बना दे ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! जो हमें दास बनायेगी बेठा करता है सबको प्रतिपश्न में जीत लो, प्रतिपश्नमें मेरा विजय कर और शक्तियोंके साथ हमें रूपन कर ॥ ७ ॥

विजय के क्षेत्र ।

एक विजय वाद विषयमें होता है, दूसरा युद्धमें होता है । इन दोनों चीजोंको प्राप्ति करनेके लिये विभिन्न शक्तियों की आवश्यकता रहती है ।

वादी और प्रतिवादी ।

प्रश्न करनेवाला 'प्राश' अर्थात् वादी होता है और उसके प्रतिपक्षीको 'प्रतिपान्' कहते हैं । 'वादी और प्रतिवादी' इन दो शब्दोंके समानही वे 'प्राश और प्रतिप्राश' शब्द हैं । पठक इनमें समानता देखें । पहिला शब्द तथा आगेगी कई मंत्रोंमें कहा है कि प्रश्नकर्त्ता को समझिये कि कतार दाया भी अपने पक्षका झण इतना रहे, और दक्ष प्रकार कुण्डलापे प्रश्न करे कि एक को वा

योद्धे प्रशंसते ही। प्रतिपक्षीका मुक्त फाँका पकजाय । कई चतुर लोग ऐसे होते हैं कि वे शान्तिसे एक दो प्रश्न ऐसे ढंगसे पूछते हैं कि उन प्रश्नोंको उत्तर देते देते प्रतिपक्षी स्वयं परास्त हो जाते हैं । अपने विषयका ज्ञान इतना प्राप्त करना और प्रश्न पूछनेका कौशल्य अपनेमें देना बढाना कि जिससे सहज ही में वाद विवादमें विजय प्राप्त हो सके । इस सूक्तके मंत्र मार्गमें देवी तैयारी करनेकी सूचना-कई बार दो है । वाद विवादमें विजय प्राप्त करनेके आत्म विश्वास अपने अंदर हो और किसी प्रकारका संदेह न हो । यह वाद विवादके विजय के विषयमें हुआ ।

युद्धमें विजय ।

अब दूसरा विजय युद्धमें अनुभोपर प्राप्त करनेका है इधमें भी अपनी आवश्यक पूर्व तैयारी करना योग्य ही है । जिस तैयारी से अपने विजय का निश्चय हो सके और कदापि संदेह न रहे ।

दोनों युद्धोंमें पूर्व तैयारी अत्यंत आवश्यक है और जितनी पूर्व तैयारी अधिक होगी उतनी ही विजयकी संभावना अधिक होगी ।

पाटा औपची ।

इस सूक्तमें उक्त विजयके लिये एक औपचि प्रयोग लिखा है । इस औपचिका नाम 'पाटा या पाठा' (मं० ४) है इस औपचिके गुण ये हैं—

विषया गुरुध्याना वातपित्तज्वरघ्नी ।

भ्रमसंचानकरी पित्तदाहातीसारगुल्मघ्नी च । राज नि० व. १

श्लेष्मी मुखवायिका । कफकण्ठहृत्जावहा । भावप्र० ।

'यह पाटा या पाठा वनस्पति तिकत, गुरु, उष्ण है, वात पित्त ज्वर नाचक, दूधेहुएको ओदनवाली, पित्त दाह अतिघार का नाश करनेवाली है। यह श्लेष्कारिणी, सुखमें काशीके शोष दूर करनेवाली, तथा कण्ठी पीडाको हटानेवाली है ।' भाषामें इस पाठा वनस्पतिको ' शकपाठा, आकनाली, निमुखा' कहते हैं ।

वाङ्मिवाद के समय यह वस्त्र मुखमें धरनेसे या कण्ठपर बाँधनेसे शोकनेके समय कण्ठ उलम रहता है और बन्धनसे होने-वाले कष्ट नहीं होते । यह वात भ्रमप्रकाशादि भ्रमोंमें भी कही है । कण्ठमें रुद्ध होने या अन्य प्रकार शब्द स्फुट न होने आदिके भी रुद्ध होते हैं वे इसके प्रयोगसे नहीं होते । इसलिये इस औपचिके वाङ्मिवादमें विजय प्राप्त होनेका वर्णन इस सूक्तमें किया है । इसके अतिरिक्त यह और उपजक होनेसे शकपाठनी नहीं होती । इससे भी विजय होनेमें सहायता होती है ।

युद्धमें भी यह वनस्पति इसलिये उपयोगी है कि इससे दूधे हुए अवश्य जोके जाते हैं, भाव शीघ्र भर जाते हैं । महाभारतमें भी देखते हैं कि वहाके वीर युद्धसमाप्तिके नंतर कुछ वनस्पति सेवन करते थे तथा शरीरपर लेपन भी करते थे । जिससे रात्री श्पयतां होते ही शीर पुनः युद्ध करनेके लिए शिद्ध हो जाते थे । नहीं तो पहिले दिनके युद्धमें थकल हुए वीर दूसरे दिन फिर किस प्रकार युद्ध कर सकते थे, इस संकाश उत्तर इस वेद मंत्रने बताया है । महाभारतमें कहीं औपचिका नाम नहीं दिया, केवल औपचिके पत्ती बूटी सेवन की जाती थी इतनाही लिखा है । इस सूक्तने " पाठा " नाम दिया है । ज्ञानी वैद्य इसका अन्वेषण करे कि यह वनस्पति कौनकी है और उसका उपयोग कैसा किया जाता था ।

यह औपचिक अपने पास रखना, बाहुपर या गलेमें लटधाना, मुखमें धारण करना अथवा पेटमें सेवन करना उक्त रीतिसे लाभकारी है, देखिये—

१ इन्द्रः बाहौ चक्रे । (मं० ३)

२ इन्द्रः पाटां व्यासात् । (मं० ४)

इन मंत्र मार्गमें शरीरपर धारण करने और पेटमें सेवन करनेकी बात लिखी है । यदि ज्ञानी वैद्य इस वनस्पतिकी योग्य शोध करे, और सेवनविधिका नियम करे तो बड़े उपकार हो सकते हैं । भारतीय युद्धके समय वीर लोग इसका उपयोग,

करते थे और लाभ उठाते थे । बालोंसे रक्त पूरित हुए बौर तथा चांटे सार्वकाल इसके घेरन करनेसे पुनः दूसरे दिन द्रुद करने-में समर्थ हो जाते थे । यदि यह केवल कविध्वस्तना न होगो और यदि इस मंत्रमें भी बड़ी बात हम देखते हैं तो इसका अन्वयन होना संभव है ।

शक्तिके साथ वक्तृत्व ।

सप्तम मंत्रमें एक बात विशेष महत्त्वकी कही है देखिए—

शाक्तिभिः भविमहि । (मं० ७)

“ अनेक शक्तियोंको अपने साथ रखकर ही जो बोलना हो सो बोल दो । ” अपने पास शक्ति न रहते हुए बोलना और बड़ा बक्तृत्व करना कुछ प्रयोजन नहीं रखता, जब शक्तिहीन बक्तृत्वसे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, इस लिए अपने पास और अपने पीछे कार्यकारी शक्ति कितनी है, इसका विचार करके ही जो कुछ वक्तृत्व करना हो सो वह उस शक्तिके प्रमाणसे ही करना शोभ्य है । अपनी शक्तिसे अत्यधिक किया हुआ वक्तृत्व न शत्रुवर प्रभाव उत्पन्न कर सकता है और नहीं अपना बल बढा सकता है । इसलिए वेदकी यह महत्त्व पूर्ण सूचना पाठक अवश्य स्मरण रखें । तथा—

यः नः अभिदासति सं जहि । (मं० ७)

“ जो हमें दास बनाना चाहता है उसे जित लो । ” यह उपदेश भी पूर्वोक्त आदेशके अनुसंधानसे कार्यमें लाया जाय तो बड़ा लाभकारी हो सकता है । अपना बल बढाना, उठाना ही बोलना कि जितना करके दिलावा जा सकता है, इतना हीमेंके पश्चात् अपने को दास बनानेवालेका पराभव करना । यह अपनी शक्ति बढाकर अपने कार्यक्षेत्रका विस्तार करनेका योग्य मार्ग है ।

अभिदासन का निषेध ।

वेद न हम देखते हैं कि अभिदासन का पूर्ण और तीव्र निषेध स्वान स्यात्पर किया है । वहाँ तक यह निषेध है कि “ अभिदास ” का अर्थ “ विनाश ” ही माना है । पूर्ण नाश होना और दास बनाना यह वेदके दृष्टिसे एकही बात है । किसी भी अवस्थामें वेद दास श्लाम- बनना पसंद नहीं करता । पठक इस बातका यहाँ मनन करें और धर्ममयी वीररूपि अपने अंदर बढानेका यत्न करें ।

जलचिकित्सक ।

यह मंत्रमें जलचिकित्सक, नीलशिक्षाबाले, पुरवाधा यदका वर्णन है । “ जलाश मेपत्र ” शब्द जलचिकित्साका भाव बता रहा है । जलाश का अर्थ जलही है । नील शिक्षाबाले का अर्थ नील शिक्षाबाले हैं, यह तटया जवान आरोग्य पूर्ण मनुष्य का शेष करता है । वृद्धों शिक्षा श्रेष्ठ होती है, तटपत्नी ही नीलों का काली होती है । “ कर्म—इत् ” शब्द पुरवाधा का भावक है । अपने चिकित्सा कर्म में कुशल । “ यद ” शब्द का अर्थही (यद्भ्यः) कलनेकाभे रोगीको दृढनेवाला है । ये सब शब्द वरम चिकित्सकका भाव बताते हैं । यह चिकित्सक का नाम यहाँ इसलिये आया है कि यहाँ युद्धमें प्रयत्नियों बौरोंको आरोग्य प्राप्त करना नैका संबंध है । तथा पाठा औषधिका प्रयोग आकरना है । इसलिए सुविज्ञ वैद्यकी आवश्यकता है ।

यह सूक्त जिस विषयका प्रदीपान कर रहा है यह प्रत्यक्ष अनुभवका विषय है, इसलिए ज्ञानी वैद्योंकी ही इसकी प्रत्यक्ष करनेका यत्न करना चाहिये, अन्यथा यह विद्या केवल शब्दों में ही रहेंगी ।

दीर्घायुष्य प्राप्ति ।

(२८)

[ऋषिः-शुभ्रः । देवता-जरिमा, आयुः]

तुम्भ्वेव जरिमन्वर्धतामयं मेममुन्ये मृत्यवो हिंसिपुः श्रुतं ये ।

मातेव पुत्रं प्रमना उपस्ये मित्र एनं पित्रियांत्यावर्हसः ॥ १ ॥

मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ ।

तद्यज्ञिहोता वपुनानि विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्षित ॥ २ ॥

त्वमीशिपे पशूनां पार्थिवानां ये ज्ञाता उत वा ये जनित्राः ।

मेमं प्राणो हांसिन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिपुनो अमित्राः ॥ ३ ॥

अर्थ-हे (जरिमन्) वृद्धावस्था । (तुम्भ्वं एव अयं वर्धताम्) तेरे किये ही यह मनुष्य बडे । (हम ये अन्ये शर्त मृत्यवः) इसको जो ये सौ अपमृत्यु है (मा हिंसिपुः) मग हिसित करे । (प्र-प्रनाः माता पुत्रं इपस्य ह्य) प्रसङ्गमन वाली माता पुत्रको जैसे गोदमें लेती है उसी प्रकार (मित्रः मित्रियात् एनसः एनं वातु) मित्र मित्रसंबंधी पापसे इसको बचावे ॥ १ ॥

(मित्रः रिशादसः वरुणः वा) मित्र और शत्रुनाशक वरुण (संविदानौ एनं जरामृत्युं कृणुतां) दोनों मिनकर इसको वृद्धावस्थाके पश्चात् मरनेवाला करे । (होवा वपुनानि विद्वान् अमिः) दाना शीर सब कर्मोंको गयावत् जाननेवाला अमि (अत् विश्वा देवानां जनिमा विवक्षित) उसको सब देवोंके जन्मों को कहता है ॥ २ ॥

(ये ज्ञाताः उत वा ये जनित्राः) जो जन्मे हैं और जो जन्मनेवाके है उन (पार्थिवानां पशूनां एवं हांसिपे) पृथ्वी के ऊपर के प्राणिपक्षि एवं स्तामी है । / इमं प्राणः मा, अपानः च मा हासीत्) इसको प्राण और अपान न छोड्डे । तथा (मित्राः इमं मा वधिपुः) मित्र इसे न मारे और (मा अमित्राः) शत्रु भी न मारे ॥ ३ ॥

भावार्थ- मनुष्य पूर्ण वृद्धावस्थातक दीर्घायुषी होवे । बीचमें सेकड़ों अपमृत्यु प्रवृत्त कानेपर भी इसे न मार सके । जिस प्रकार अपने मित्रपुत्र की माता गोदमें लेकर प्रेमके साथ पालती है, उसी प्रकार सबका मित्र देव इस पुरुषको मित्र संबंधी पापसे बचावे ॥ १ ॥

शत्रुनाशक मित्र और वरुण ये मिलकर इसको अनिदीर्घ आयुवाला करे । सब चारिडव जाननेवाला तेजस्वी देव इसके सब देवताओंके जीवन चरित्र कहे ॥ २ ॥

हे ईश्वर ! तू पृथ्वीपर के संपूर्ण जन्मे हुए और जन्मनेवाके सब प्राणियोंका स्वामी है, तैरों कृपासे प्राण और अग्न इमे बीचमें ही न छोडे तथा मित्रोंसे वा शत्रुओंसे इसका वध न होवे ॥ ३ ॥

१४ (अ. सु. भा. की० २)

घौर्षा पिता पृथिवी माता ज़रामृत्युं कृणुतां संविदाने ।

यया जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥ ४ ॥

इममंभ आयुषि वर्षसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्रराजन् ।

मातेर्वास्मा अदिते शर्मं यच्छु विश्वे देवा ज़रदष्टिर्यथास्त ॥ ५ ॥

अर्थ— (घौः पिता पृथिवी माता संविदाने) घौर्षिका और पृथ्वी माता मिलकर (या ज़रामृत्युं कृणुतां) इसको वृद्धावस्थाके पश्चात् मरनेवाया करें । (यया अदितेः उपस्थे) जिससे मातृभूमिकी गोदमें (प्राणापानाभ्यां गुपितः) प्राण और अपानसे सुरक्षित होकर (शतं हिमाः जीवाः) सौ वर्षतक जीवित रहे ॥ ४ ॥

हे (अमे मित्र वरुण राजन्) अमे और मित्र तथा वरुण राजा । (शतं रेतः) मिय भोग और वीर्य का एक देकर (इमे आयुषे वर्षसे नय) इसको वीर्य आयुष्य और तेज प्राणिके लिये के जा । हे (अदिते) आदिशक्ति । तू (माता एव अस्मै रामं वच्छ) माता के समान इसे सुख दे । हे विश्वे देवो ! (यया अदितिः अस्त) यह मनुष्य जिससे वृद्धावस्था तक जीवित रहे वैसी सहायता करो ॥ ५ ॥

भावार्थ— गुपिता सूर्य और मातृभूमि ये दोनों मिलकर इसको अति दीर्घ आयुष्यतक जीवित रखें और यह मनुष्य अपनी मातृभूमिकी गोदमें प्राण और अपानोंसे सुरक्षित होता हुआ सौ वर्षकी दीर्घ आयुष्यतक जीवित रहे ॥ ४ ॥

हे अमे वरुण मित्र राजन् ! इसको मिय भोग और वीर्य का एक देकर दीर्घमायुसे सुख तेजस्वी जीवन प्राप्त कराने । आदिशक्ति माता के समान ॥ सुख देवे । और अन्यन्व सब देव इसको वीर्य सहायता करें कि यह सुख से अतिदीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सके ॥ ५ ॥

दीर्घ आयुष्यकी मर्यादा ।

" शतायु " शब्द दीर्घ आयुष्यकी मर्यादा बता रहा है । इस सूक्तके (सं० ४) में भी (शतं हिमाः जीवाः) " सौ वर्षतक जीवो " कहा है इससे ही वर्षका दीर्घायु प्राप्त करना, इस सूक्तका उद्देश्य है । छोटी आयुके बालक को वह आशीर्वाद दिया जाता है, और सब दिलसे चाहते हैं कि वह सौ वर्षतक जीवित रहे । तथा—

ये अग्ये शतं वृद्धवः से इमं मा हिसियुः । (सं० १)

" जो बच्चों अपमृत्यु हैं वे इसका वीर्य ही न मार सके । " अर्थात् सौ वर्षके पूर्व कोई अपमृत्यु हलका नाश न कर सके । वीर्यमें किसी किसी समय कोई अपमृत्यु इसके पास आ भी गया, तो वह इसके पास सफल मनोरथ न हो सके, यह बात कहना है । लोग अपनी दीर्घ आयु करवैके लिए ऐसे रत्नरत्नी हैं, और खान पान भोग व्यवहारार्थिके नियम ऐसे रक्षायें पालन करें कि वे वीर्य हीमें मृत्युके बधमें कमी न पले जाय ।

साधन ।

दीर्घजीवन प्राप्त करनेका साधन चतुर्थे मंत्रमें छेपिये से कहा है, देखिए—

प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमां जीवाः । (सं० ४)

" प्राण और अपानसे रक्षित होता हुआ सौ वर्ष जीवो । " इस मंत्र भागमें दीर्घ जीवन का साधन कहा है । यदि इसका विचार मनुष्य करेगा, तो प्रायः वह दीर्घायु प्राप्त कर सकेगा । प्राण और अपानसे अपनी सुरक्षितता प्राप्त करना चाहिए । अर्थात् प्राणका और अपान का बल अपनेमें बढाना चाहिए । नाभिके ऊपर प्राणका राज्य है और नीचे अपानका राज्य है । ये ही शरीरमें मित्र और वरुण हैं । इनका लक्ष्य इधी सूक्तमें अन्यत्र (सं० २, ५ में) पाठक देख सकते हैं । इसी एक साधनासे मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त कर सकता है ।

इनका कार्य क्षेत्र ।

प्राण और तन्त्रवाच रूप प्राणका कार्य हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है । प्राणायामसे इस प्राणका बल बढ़ता है और इनकी सब क्रियाएँ जो ठीक प्रकार चल सकती हैं । सकारण मरणा और उच्चजीवी प्राणायाम इस अनुष्ठानके लिए पर्याप्त हैं । मरणा प्राणायाम कोइतनी गतिसे समान वेगसे प्राण तन्त्रवाच करनेसे होता है । यह छोटे समय तक ही होता है । अधिक होनेवाला सुगम प्राणायाम उच्चजीवी है । जो स्वरसुख और शांत वेगसे श्लाघीच्छवाच नाकसे करनेसे होता है । श्वासा भी शान्त हो और उच्छ्वास का भी हो । इच्छानुसार कुंठन किया जाये वा न किया जाये । यह अतिसुगम और सुसाध्य प्राणायाम है और विना आवाज शिष्ट समय वाहे हो सकता है । यह सौम्य होता हुआ भी इस कार्यके लिए श्रांत उपयोगी है ।

इस प्रकार प्राणका बल बढ़ानेका अनुष्ठान होनेसे इसी का परिणाम अपना क्षेत्र पर भी होता है । और अगानके कार्य भी चतन रीतिसे होने लग जाते हैं । अगानके कार्य मलमूत्रोत्सर्ग और कोष्ठगत शालुका नीचे भागसे गमन आदि हैं, वे इससे होते हैं । अन्यान्य योगसाधन भी सुविज्ञ साधकसे आगे जा सकते हैं ।

इस योगसाधने प्राण और अगानका बल बढ़ानेसे दीर्घायु प्राप्त करनेका हेतु सिद्ध हो सकता है । हितमिथ पच्य भोजन, शैवमहिनि, मन्त्रनय आदि जो धर्ममार्गके साधन हैं, वे इत्येक अवस्थामें आवश्यक हैं वे भर्ग्य साधारण होनेसे उनका विचार बर्हा करनेकी आवश्यकता नहीं है । प्राण अगानके बलसे अपने आपसे सुरक्षित करना यह एक मात्र अनुष्ठान यहाँ इस कार्यके लिए इस सूत्रसे बताया है और यह योगी है ।

ये दोनों कार्य ठीक प्रकार होने लगे, तो शौचानुष्ठिके संबंधमें कोई ज्ञेय नहीं होगे, मूत्र उत्पन्न लगेगी, छातीमें भी कोई कडाकिया भावा नहीं होगी । इस प्रकार शरीरके सब अवयवों विना कष्ट होने लगेगे, तो समझना कि दीर्घायुकी प्राप्ति के मार्ग पर अपना पग है । परंतु यदि इनके कष्ट होने लगे तो समझना भ्रम है, कि अगानः पग दूरे मार्गपर पया है । वही तृतीय मंत्रमें कहा है ।

इमें प्राणः सा हासीत्, आ अगानः [मंत्र ३]

“ प्राण अथवा अगाना इसे बीचमें ही न छोड़ दें । ” अर्थात् यह अनुभूति जो वर्षों पूर्ण शालुतक उत्तम प्रकार अधित रहे और इसके शरीरमें अन्ततक प्राण और अगान अपना अपना कार्य ठीक रीतिसे करते रहें । जो पाठक अपने स्वास्थ्यके संबंधमें विचार करते हैं उनको अपने अंदरके प्राण और अगानके कार्यका विचार करना चाहिये, क्योंकि ये कार्य ठीक चलते रहे ही शरीरका स्वास्थ्य ठीक रहेगा ।

स्वास्थ्य भी तथा दीर्घ आयु प्राप्त होने की यह कुंजी है । (प्राण.पानावर्थां शुचितः) प्राण और अगान द्वाप जो सुरक्षित होता है, वह निश्चयसे ही कर्ष अर्जित रहेगा । इच्छालिद दीर्घायुके इच्छुक लोग अपने शरीरके अंदर इन दोनों बलोंकी रक्षा करें ।

वृद्ध ।

प्राण अगान भी बलवान् हुए और शरीर स्वास्थ्य भी उत्तम रहा तो भी वय, कठक, अथवात आदि आपत्तियाँ हैं जिनसे मनुष्यकी मृत्यु हो सकती है । धर्मयुद्धादि प्रबंध छोड़ दिए जाय, क्योंकि वहाँ आकर मरना तो धर्म ही होता है, अन्य बंधभी कर्म नहीं है । परंतु इनको इत्यान मनुष्य के स्वाधीन नहीं होता है । कई प्रबंधोंमें अपने अंदर अर्द्धा साव बराने और सांस्कृतिक प्रेरणाशक्ति इच्छा करनेसे शक्त लोगों के मन का भी सुधार होता है, परंतु वह सिद्धि योग्यानुष्ठानसे और दीर्घ अरमभंगसे साध्य है । इच्छालिद सबको यह प्राप्त होना कठिन है । अतः सर्वसाधारणके लानार्थ इच्छाप्रधान है । एक सुगम साधन है, इच्छालिद मंत्र में कहा है कि—

ईशप्रार्थना ।

इमं मित्राः मा वधिषुः मा भमिषाः (मं० ३)

“ हे ईश्वर ! तैरों कृपासे मित्र इच्छा वध न करे और भमिषा भी न करे ।” तृतीयमंत्र परमेश्वर प्रार्थना विषयकी है, “ भूत मानविय कालके सब प्राणियों का एक ईश्वर है, सबका पालन वही करता है, उधरी की कृपासे इस मनुष्यका वध न होवे और इच्छा स्वार्थ भी उत्पन्न रहे ।” यह तृतीय मंत्रका मान ईश प्रार्थनाका बल प्राप्त करनेकी सूचना देता है । सब वराचर जगत् का पालनद्वारा परमेश्वर है, उसकी मांग करनेसे जो श्रद्धाका बल बढ़ता है, वह अपूर्व है । ध्यानवान् लोग ही यह बलकी अनुभव करते हैं । और प्रायः यह अनुभव है कि श्रद्धा मन्त्रिय परमेश्वर मांग करनेवाले उपासक उपास स्वार्थसे संगत होते हैं । इस लिये इस धीर्बोधुष्य प्राणिके सूक्तमें (एवं ईशिये) इस तृतीय मंत्रद्वारा जो ईश मांगका पाठ दिया है वह धीर्बोधुष्य प्राप्त करनेके लिए अत्यन्त आवश्यक है । पाठक इस बलसे संवित न रहें । इस बलके प्राप्त होने पर अन्य साधन लाभकारी हो सकते, ई परन्तु इस बलके न होने की अवस्थामें अन्य साधन कितने भी पाठ हुए तो भी वे इतना लाभ नहीं पहुंचा सकते । पाठक इसका विचार काके ईशमणिका बल अपने शरीर बढावे जिससे सब मित्र पर ही सकते हैं ।

देवचरित्र श्रवण ।

दीर्घ आयु प्राप्त करनेके लिए श्रवण अथवा पठन देवताओंके चरित्रोंका ही करना चाहिए । देवों अर्थात् देवताके समान सारुष्ट्योंके जीवन चरित्र श्रवण करने चाहिए, उन्हीं संयोग, पठन करना चाहिए और उनके चरित्रोंकाही पठन करना चाहिए । आज कल उद्वेग आदि पुरस्कृत ऐसे छुगित क्या कतापेंसे युक्त प्रकाशित हो रही हैं कि जिन के पठन पाठनसे पढ़ने व लोभें रागद्वेष बढ़ते हैं, दीर्घ भ्रष्ट होता है, ब्रह्मचर्य टूट जाता है, और नाना प्रकारकी अपविधायी बढ जाती हैं । परन्तु वे पुरस्कृत आज कल बढ रहे हैं, अपने देशमें क्या और इतर देशोंमें क्या ईान दर्जे के लोग लेखन व्यवसाय में लानेके कारण हीन चारित्र्य प्रकलित हुआ है, इससे सब प्रकारकी हानि ही हानि हो रही है, इस से बचने के उद्देश्यसे इस सूक्तें साधना की सूचना द्वितीय मंत्रमें दी है, देखिए—

अमुनानि विद्वान् होता अग्निः

एत् विश्वा देवानां अग्निमा विश्वकि ॥ (मं० २)

“ सब कर्मोंकी समाप्त जाननेवाला दाता अग्निके समान तेजस्वी उपदेशक सब देवोंके जीवन चरित्र उच्च सुनने ।” यह मंत्र यह दृष्टिसे मनन करने योग्य है । इस में सबसे पहिले उपदेशक के गुण कहे हैं, उपदेशक दाता उदार मनवान् होने, अपने उपदेश (होता) हवन करनेवाला हो, (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी हो और (अमुनानि विद्वान्) कर्तव्य-कर्तव्य की यथावत् जाननेवाला हो । इसी प्रकारका प्रबुद्ध उपदेशक लोगोंका मार्गदर्शक बने, लोगोंको धर्म मार्गका उपदेश करे और लोगोंको (देवानां अग्निमानि देवताओंके जीवनचरित्र सुनने । देवोंने अपने जीवन में कैसे शुभ कर्म किये हैं, रीतिसे परोपकार किया, जनताका उदार सेवा किया, इत्यादि सभी बातें लोगोंको समझा देवे । राक्षसों और पिशाचोंके जीवन चरित्र पढ़ने नहीं चाहिए अपितु देवोंके विषय चरित्र ही अपने सामने रखने चाहिए । आदर्श जीवन देवोंका हुआ करता है । राक्षस और पिशाचों, घृत्नों और काष्ठमोका जीवन तो ॥ सुनने योग्य होता है । यही उच्च जीवन मनुष्य अपने सामने आदर्शके लिए रखने तो उनके जन्मोंका भी प्रयास होगा और उनके आयु भी बढ़ेगी । आयु बढ़ानेके लिए भी यह एक उपास साधन है जिसे लोग भीरुमन्त्रका जीवन अपने आदर्शके लिए लें और राक्षसका जीवन न लें । आजकल की उद्वेगआदि पुस्तकें जो मानवी अंतःकरण का ही विनाश कर रही हैं, उनसे बचने की सूचना यहाँ वेदने दी है । इसका पठन जितना हो सकता है उतना लाभकारी होगा ।

आज कल जो चरित्र मिलते हैं वे मनके विकार बढानेवाले मिलते हैं । संशय घटितता बढानेवाले चरित्र कम हैं । इस लिए अद्ययुग पठन यह एक आजकल दुःसाध्य बात हो रही है । तपसि श्रवणोंकी कृपासे रामायण महाभारत मंत्र तपः

अन्यान्य अविषयीत चरित्र है, उनका मनन करनेसे बहुत लाभ हो सकता है । जो लोग इस बातको आवश्यक समझते हैं उनको उचित है कि वे ऐसे सचरित्र अथवा श्रेष्ठ श्रेय निर्माण करें और करवें कि जिनके पठन पाठन से आगामी संतान सुचारके पथपर सुगमतासे चल सके । परन्तु । इस मंत्र भागने " दिव्यचरित्रोद्यम श्रवण और मनन " यह एक साधन दीर्घायुष्य प्राप्तिके लिए कहा है वह अत्यंत आवश्यक है, इसलिए जो दीर्घायु प्राप्त करना चाहते हैं वे ऐसे चरित्रोंकाही मनन करें ।

पापसे बचाव । दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके लिए पापसे अपना बचाव करनेको आवश्यकता है । पापसे पतन होता है । और रोगादि बड़ जानके कारण आयुष्य हीन ही होती है, इसलिए इस सूक्तके पहिले ही मंत्रने पापसे बचनेको सूचना दी है, देखिए—

मित्र एवं मित्रियात् बहस. पानु । (मं० १)

" मित्र इस मनुष्यको मित्रधर्मोंकी पापसे बचावे । " शत्रु संबंधसे होनेवाले पापसे तो बचना ही चाहिए । कई लोग मनसे ऐसा मानते हैं कि मित्र के लिए मित्रके हित साधनेके लिए, कुछ भी उद्यमना किया जाय तो वह हानिकारक नहीं है । परंतु पाप जो है वह हमेशा ही पाप होता है वह किसीके लिए किया जावे, जब पापाचरण होगा तब उदक गिरावटका परिणाम अवश्य ही भोगना होगा । इसलिए जो मनुष्य दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके इच्छुक हैं उनको अपने आपको पापसे बचाना चाहिए । मित्र अपने मित्रको पापकर्म करनेसे रोकें और उसको धीरे धीरे मार्गपर चलाने की सलाह देवे । मनुष्य स्वयं भी विचार करके जाने कि पाप कर्मसे पतन अवश्य होगा, इसलिए हरएक मनुष्य अपना मित्र बने और अपने आपको श्रेष्ठ मार्गसे बचावे । मनुष्य स्वयंही अपना मित्र और अपना शत्रु होता है इसलिए कभी ऐसा कार्य न करें कि जिससे स्वयं अपना शत्रु समान बन जाय तात्पर्य यह है कि दीर्घ आयुष्य प्राप्त करना हो तो अपने आपको पापसे बचाना चाहिए । पाप कर्म करते हुए दीर्घ आयुष्य प्राप्त करना असंभव है ।

भोग और पराक्रम ।

मनुष्यको भोग भी चाहिए और पराक्रम भी करना चाहिए । परंतु भोग बहुत भोगनेसे रोग बढ़ते हैं और दीर्घका संवम करनेसे ही आरोग्य पूर्व दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है । मनुष्यको भोग शिव समते हैं । और जोगियों अपने शीर्षका नाश करना साधारण मनुष्यके लिए एक शूदन ही ही बात है, इसलिए इसका योग्य प्रमाण होना चाहिए यह बात पंचम मंत्रमें स्पष्ट की गई है, देखिए—

इयं शिर्व रेतः आयुषे कथंसे नव । (मं० ५)

" इस मनुष्यको शिव भोग देकर, तथा शीर्ष पराक्रम भी देकर शीर्ष आयुष्यके साथ प्राप्त होनेवाले तेजके सिद्ध के चको । " अर्थात् यह मनुष्य अपने लिए शिव भोग भी योग्य प्रमाणमें भोगे और शीर्ष रक्षण द्वारा पराक्रम भी करे, परंतु यह सब ऐसे सुयोग्य प्रमाणमें हो कि जिससे उदक आयुष्य और तेज बढ़ता जाय । परंतु भोग भोगने-और शीर्षके कार्यमें प्रमत्तता अतिरिक्त कभी न हो, जिससे शीर्ष हीमें अकाल मृत्यु इसके प्राणियोंके ले चले । अपना समय भोग और पराक्रमके कालोंके लिए ऐसा बांटना चाहिए कि भोग भी प्राप्त हो और शीर्षके सब कार्य भी बन जाय, और यह सब दीर्घायु और तेजकी प्राप्तिमें बाधा न डाल सके । अपने कार्य इस सूचनाके अनुसार करने चाहिए । रेतके योग्य उपयोगसे संतानोत्पात्ति भी होनी है, बच्चा भी बढ़ता है, परंतु उसके अतिरिक्त से प्रकृतवर्षे नाश द्वारा नाना प्रकारके कष्ट उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार अन्यान्य भोग की कठोरके विषयमें समझना योग्य है । इस आशय को ध्यान में धारण करके यदि मनुष्य अपना व्यवहार करेंगे तो उनको भोगभी प्राप्त होगे और दीर्घ आयु भी मिलेगा ।

देवोंकी सहायता ।

१ मित्रः रिशादसो! बरुनाः संविदानो जराभृषुं कृणुतां । (मं० २)

२ शोभिता वृषिदी मावा संविदाने स्वा जराभृषुं कृणुतां ॥ (मं० ३)

३ अदिदे ! भता इव धर्मं बन्ध । (मं० ५)

४ विधे देवाः । वरदृष्टिः यथा असत् । [सं० ५]

‘१ मिय और मनुनासक ब्रह्म ये दोनों मिलकर इसकी दीर्घ आयु करें— सुलोक और मातृममि मिलकर इसकी दीर्घायु करें ॥ हे अविनायां आदि शक्ति ! तुं माता के समान सुख दे ॥ हे सब देवों ! इसकी पूर्ण आयुवाला अठिवृद्ध करो ॥’

इहां मित्र, बह्य, सूर्य, श्रियेवी, आदिति और सब अन्य देव इसकी दीर्घ आयु करने में सहायक हों, यह प्रार्थना की है। इसके स्पष्ट होता है कि दीर्घ आयु चाहने वाले मनुष्य को इन देवोंके साथ अविरोधी बर्ताव करना चाहिए। यदि इनकी अनुकूलतासे आयुधर्ष्य कृष्टि होनी है तो उनके साथ बिरोध करना योग्य नहीं यह स्पष्ट हुआ। सूर्य देव अपने प्रकाशसे प्रमत्त सुदृढता करता है और हमें दीर्घ आयु देता है, परंतु सूर्य प्रकाशसे बांभित नहीं रहना चाहिए, अन्यथा यह हमें सहायता कैसी पहुंचावेगा ! वरुणदेव समुद्रका देव है, समुद्रजल, वृष्टिजल, सामान्य जल उसके बाँधबन्ध सागर हैं। यदि मनुष्य हम जलोंके अपनी निर्मलता करे अथवा अन्य रीतिसे जल उठावे तब ही जलदेव वरुणसे काम प्राप्त हो सकता है। मातृममि की योग्य सहायता करनेसे जो राष्ट्रीय स्वातंत्र्य प्राप्त होता है, उससे मनुष्य कार्यक्षम और दीर्घायु हो सकता है, इसी प्रकार अन्यदेव देवोंका संबंध है जिसका विचार पाठक करें और उनसे काम प्राप्त करके दीर्घायु बनें ।

दीर्घायु, पुष्टि और सुप्रजा ।

(२९)

(ऋषिः—अथर्वा । देवता—नाना देवताः ।)

पार्थिवस्य रते देवा मर्गस्य तन्वोऽर्द्धे बलै ।

आयुष्यमिस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ घ्रादृहस्पतिः

॥ १ ॥

आर्युरस्मै वैहि जातवेदः प्रजा त्वष्टरपिनिर्घोषस्मै ।

रायस्पोष सवितरा मुवास्मै श्रुतं जीवाति श्रुदस्तवायम्

॥ २ ॥

अर्थ—हे (देवाः) देवो ! अग्नि सूर्य और वृहस्पति (अस्मै) इस मनुष्य के लिये (पार्थिवस्य रतः अगस्त्य) पार्थिव शरीरके ऐश्वर्य संशयो (रते बले) रत्न और बलके अंशसे प्राप्त होनेवाला (आयुष्यं वर्चः) दीर्घ आयुष्य और तेज (आ घ्रात्) देवे ॥ १ ॥

हे (जातवेदः) ज्ञान देनेवाले देव ! (अस्मै आयुः वैहि) इसके लिये दीर्घ आयु दे । हे (त्वष्टरः) रचना करनेवाले देव ! (अस्मै प्रजां अवि निघेहि) इसके लिये प्रजा दे । हे (सवितः) प्रेरक देव ! (अस्मै रायः पोषं आ सुभ) इसके लिये धन और पुष्टि दे । (राय अर्थ धर्म वारदः जीवाति) तेरा यह बनकर सौ वर्ष जीवित रहे ॥ २ ॥

मार्थार्थ— हे देवो ! इस मनुष्यके अग्नि सूर्य वृहस्पति आदि देवताओंकी कृपासे ऐसा दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो, कि जिसके साथमें पार्थिव ऐश्वर्य सुख अन्न ॥ १ ॥ बल तेज और नीरोग जीवन होते हैं ॥ १ ॥

हे देवो ! इसकी उत्तम छान्दान, ऐश्वर्य सुख उत्तम, पुष्टि, और दीर्घ आयुष्य हो ॥ २ ॥

आशीर्षि ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दसं घत्तं द्रविणं सचैतसी ।
 जयं धेव्याणि सहस्रायमिन्द्र कृष्णानो अन्यानर्षरान्त्सप्तान् । ॥ ३ ॥
 इन्द्रेण चो बरुणेन शिष्टो मुरुद्विरुग्रः प्रहितो न आगन् ।
 एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुषन्मा तृषन् ॥ ४ ॥
 ऊर्ममस्मा ऊर्जस्वती घत्तं पयो अस्मै पयस्वती घत्तम् ।
 ऊर्ममस्मै द्यावापृथिवी अंधातां विषे देवा मरुत ऊर्जमार्पः ॥ ५ ॥
 त्रिवाणिष्ट हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिपोष्ठाः सुवर्चाः ।
 स्रवासिनो पित्रतां मन्थमेतमग्निनां रूपं परिधाय मायाम् ॥ ६ ॥
 इन्द्र एतां संसृजे विद्वो अग्रं ऊर्वा स्वधाम्जरां सा त एषा ।
 तया त्वं जीव शरदः सुवर्चा मा तु आ सुभोद्भिपजस्ते अक्रन् ॥ ७ ॥

कार्य—(ना आशीः) हमारे लिये आशीर्वाद निकले तथा हे (सचैतसी) उच्यते मनवाको! (ऊर्म उत सौप्रजास्त्वं) बरु तथा उच्यते अन्यानो (१९० द्रविणं) दक्षता और वन हने (घत्तं) दो । हे इन्द्र ! (जयं सहस्रा) यह अपने बरुले (क्षेत्राणि जयं) विविध क्षेत्रों और विजयको प्राप्त (कृष्णानः) करण हुआ (अन्यान् सरानान् अपरान्) अन्य उद्युक्तोंको नीचे दबाया है ॥ ३ ॥

यह (इन्द्रेण दक्षः) मनुने दिया है, (बरुणेन शिष्टः) धामरुके द्वारा धारित हुआ है, (महत्रिः प्रहितः) बरुवाही धीरो हुता प्रेरित हुआ है और इल काम (कामः नः आगन्) उग्र बनकर हमारे पास आया है । हे (द्यावापृथिवी) पृथोक और पृथिवी ! (वां वनस्ये) आनके पास रहने बाका (पयः) यह (मा क्षुषन्, मा तृषन्) क्षुषां और तृषाके परिचित न हो ॥ ४ ॥

हे (ऊर्जस्वती) हे अन्नवाही ! (अस्मै ऊर्मं घत्तं) इसके लिये अन्न दो, (पयस्वती अस्मै पयः घत्तं) हे दूध वाही ! हमके लिये दूध दो पृथोक और पृथिवीको (अस्मै ऊर्मं अपघत्तां) इसके लिये बरु देते हैं । तथा (पिने देवाः मरुतः आरः) सब देव, बरु, आर से सब इसके लिये (ऊर्मं) धक्ति प्रदान करते हैं ॥ ५ ॥

(त्रिवाणिः से इदयं तर्पयति) कश्यपामयी विद्याओंद्वारा ठेरे इदयको मैं तृप्त करा हूँ । द् (अनमीधः) विरोध और (सुवर्चाः) उच्यते वेजस्वी होकर (मोदिपोष्ठाः) आनन्दित्र दो । (सवासिनो) मित्रघर निवास करनेवाले तुम दोनों (अग्निनाः रूपं) अग्निदेवोंके रूपको और (मायां परिधाय) बुद्धि तथा कार्य वाकिको प्राप्त होकर (एवं मन्वं निररुं) इस रसका पान करो ॥ ६ ॥

(निद्रा इन्द्रः) मर्कट किया हुआ मनु (एतां अघातां ऊर्वा स्वधां अग्ने सत्तुके) इस अग्नीन अन्नमुक्त सुधा को डालकर चरता है, देता है । (सा एषा ते) यह यह सब ठेरे लियेही है । (तया त्वं सुवर्चाः शरदः जीव) उसके द्वारा तू उच्यते वेजस्वी बनकर बहुत वर्ष जीवित रह। (ते मा आसुजोत्) ठेरे लिये देवर्ष व घटे (वे निजमः अक्रन्) ठेरे लिये मर्कटोने उच्यते रसयोग बनाये हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—हे देव ! हमें अशीर्वाद दे, हमें बरु, सुप्रजा, दक्षता और वन प्राप्त हो। मनुष्य अपने विजयलये विविध कार्य-क्षेत्रोंमें विजय प्राप्त करें, और उद्युक्तोंको नीचे मुक्त किए हुए मगा देने ॥ ३ ॥

यह मनुष्य परमात्मा द्वारा बनया, शुक्रके द्वारा निश्चित बना, धीरो द्वारा उत्प्रादित हुआ है, इसलिए यह शरवीर बनकर हमारे अन्दर आया है, और कार्य करता है। मानुष्यको उपासना करनेवाला यह धीर मूल और प्यासे कामें कष्ट को प्राप्त न हो ॥ ४ ॥

सर्व पिता और भूमि माता इसकी अन्न, रस, बल और ओज देवे । जल आदि सब देव इसकी सहायता करें ॥ ५ ॥

शुभ विद्याओं द्वारा तेरे हृदय को सुख करता हूँ । तू नीरोग और तेजस्वी बनकर सदा आनन्दित हो जाओ । मितर रहो और अपना सौंदर्य, अपनी सुधि और कर्मोंकी शक्ति बढ़ाकर इस रसकी पोषो ॥ ६ ॥

प्रभुने ही यह बलवर्धक अमृतारस प्रारम्भमें उत्पन्न किया है, इसका सेवन करके तेजस्वी और बलिष्ठ बनकर तू दीर्घ आयु की समाहितक जीवित रह । तेरी आयु में ऐश्वर्य की न्यूनता कर्मा न हो । और तेरे लिए ब्रह्म योग उत्तम योग तैयार करे, जिससे तू नीरोग और स्वस्थ रहकर उत्पत्तिके प्राप्त हो ॥ ७ ॥

रस और बल ।

हमारा स्थूल शरीर पार्थिव शरीर कहलाता है, क्योंकि यह पार्थिव परमाणुओंका बना है । वृष्टीके उत्पन्न होनेवाले विविध रसोंके सेवनसे इसकी शुद्धि होती है और उक्त रस न मिलनेसे इसकी क्षीणता होती है । अर्थात् शरीर का बल बढ़ाना हो तो पार्थिव रसोंका सेवन करना अत्यंत आवश्यक है । शरीरका ऐश्वर्य, बल, आद्युक्त और तेज इस रससेनवर निर्भर है ।

पार्थिव रसका पार्थिव शरीरके संवर्धनमें वह संबंध है इतना माननेसे अग्नि, सूर्य आदि देवताओंका संबंध इसके बिल्कुल नहीं है ऐसा नहीं सिद्ध होसकता; क्योंकि अग्निही उत्पत्ता; सूर्य चिरणोका सत्त्वगुण और प्रलम्ब रस इन सबका संमिश्रण होकर ही वृष्टीके रस उत्पन्न होता है । इन सम्पूर्ण देवताओंके अंग इस रसमें होनेसे ही वह रस मानो देवताओंका ही रस है । इसलिए उसके सेवनसे देवताओंके संपर्का ॥ ही सेवन होता है । जिस प्रकार गी चास खाकर दूध रूपी जीवन रस देती है, इसी प्रकार यह भूमि अपने योग्य पदार्थ सेवन करके घान्य, फल, द्राक, कंद, मूल आदि रूपसे रस देती है । पाठक विचार करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि कथन यह रस भूमिसे उत्पन्न होता है, तथापि उसके साथ आप, अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र आदि सब देवोंका वनित संबंध है । यदि कोई बनस्पति सूर्य प्रकाशसे वंचित रही जाय अर्थात् ऐसे स्थानपर रही जाय कि जहाँ सूर्य प्रकाश नहीं है, तो वह सुबल हो जाती है । यह बात देखनेसे पाठक रसमें आन सक्तते हैं कि वृष्टीके रस उत्पन्न होनेमें सूर्यादि देवोंका भी भारी संबंध है । पाठक यहाँ अनुभव करें कि, ये सब देव मनुष्य मात्रके लिए अखादि भोग देना करनेमें कैसे वंचित होकर कार्य कर रहे हैं ! यही इन देवोंकी पालक शक्ति है, जो प्राणीमात्रका पालन कर रही है ।

“ अग्नि सूर्य बृहस्पति आदि सब देव पार्थिव ऐश्वर्यके रससे और शारीरिक बलसे उक्त आयुष्य और तेज देते हैं । ” यह अथर्व मंत्रका कथन उक्त तात्पर्य बताता है । इसलिए दीर्घायु आरोग्य और बलवृद्धि के लिये सूर्यादि देवोंके मिलनेवाले लाभ प्राप्त करें और उक्त गुणोंसे युक्त अखादि रस लेकर अपना बल बढ़ावें । यह प्रथम मंत्रका बोध है । (मं० १)

श्रुतायु वनो ।

द्वितीय मंत्र कहता है कि “ जानवेदसे आयु, लडासे सुप्रथा, धरितासे शुद्धि और धन प्राप्त करके यह मनुष्य सौ बर्ष जीवित रहता है । ” (मं० २) इस मंत्रमें दीर्घायु प्राप्त करनेकी युक्ति बताई है । आतवेद, नखा और धरिता ये तीन देव हैं कि जिनकी कृपासे दीर्घायु प्राप्त होती है । इसलिए इनका विशेष विचार करना आवश्यक है—

१ आतवेदः— (आत-वेदस्) जिससे वेद अर्थात् ज्ञान बना है; जिससे ज्ञान का प्रवाह बला है । जिसके पाप ज्ञान है और जिससे वह ज्ञान चारों ओर फैला है । (आत वेत्ति) जो बने हुए पदार्थ मात्रको आवरता है अर्थात् पदार्थ मात्रके गुणधर्मोंको जाननेवाला ज्ञानी । (आतस्य वेदः) उत्पन्न हुए वस्तु मात्र का ज्ञान । इस अर्थमें यह शब्द पदार्थविद्याका वाचक है । जिसीमा प्रकार विचार किया जाय तो यह शब्द ज्ञानवाचक स्पष्ट है, मंत्रमें कहा है कि यह आयु देता है, इसके स्पष्ट सिद्ध होता है कि “ ज्ञानी अथवा ज्ञानकी सहायतासे आयु बढ़ाई जा सकती है । ” यदि आयु बढ़ाना अर्थात् हो तो वस्तुमात्रका ज्ञान अर्थात् पदार्थ विद्या प्राप्त करना चाहिए और उस विद्यासे अक्षरसादिकोंका योग्य सेवन करके अपनी आयु बढ़ानी चाहिए ।

२ लपटा-बारीक करना, बारीकईसि कार्य करना, कुशलता से कार्य करना, कारीगरीके कार्य करना, इत्यादि कार्य करनेवा-
लेका लपटा नाम है । परमेश्वर सब जगत् का बड़ा भारी कारीगर है, इसलिए उसको लपटा कहते हैं । अन्य कारीगर भी छोटे
लपटा हैं । " लपटा इस मनुष्यके लिए प्रजा देवे " यह इस मन्त्रमायका कथन है । योग्य सन्तति बनाना इमांके आधीन है,
परमात्माकी कृपासे इसको योग्य और उत्तम सन्तति प्राप्त हो । जो मनुष्य कारीगरीके कार्योंमें कुशल होता है, उसमें सुन्दरताका
ज्ञान अनौचित्य अधिक होता है, इसलिए ऐसे मनुष्यको अनौचित्य अपेक्षा अधिक सुंदरता सन्तान होना सम्भव है । मातापिताके
अन्दर सुन्दरताकी कल्पना अतिनी अधिक होगी उतनी सुन्दरता अथवा सुंदरत्व सन्ततियों आना सम्भव है । लपटासे प्रजा
का सम्बन्ध यह है ।

३ सविता—प्रेरणा करनेवाला और स्वयं प्रदान करनेवाला । सूर्य सबको जगता है और वनस्पतियोंमें रसक, घास
करना है इसलिए उसका नाम सविता होता है । यह भूमिक ऊपर वनस्पति आदिकोमें रस उत्पन्न करके प्राणियोंको (पौध
पुष्टि करता है और उनकी (रासः) पोषा वा पेषण भ्रं बढाता है ।

॥ गीतियों से देव मनुष्यकी सहायता करते हैं और इनको दीर्घजीवन देते हैं । मनुष्योंको चाहिए कि वह इनसे यह
ज्ञान प्राप्त करें ।

अन्न, बल, धन, सुसन्तान और जय ।

अग्रे तृतीय मन्त्रमें मनुष्यकी सम्पूर्ण आकांक्षाओंका वर्णन संक्षेपसे किया है । ' हमें अन्न, बल, धन, सुसन्तान और जय
प्राप्त हो और शत्रु नीचे हथ जाय । ' यही सब मनुष्योंकी मनकामना होना स्वाभाविक है । अन्नके शरीर की मूल
शान्त होती है, उससे बल बढ़ता है; धन हर एक व्यवहार का साधक होनेसे सब चाहते ही हैं, इसके पश्चात् संविस्तार के
लिए सुसन्तानकी आवश्यकता मनुष्य करता है । इसके अनन्तर अपने विश्वका इच्छुक होता है । यह प्रायः हर एक मनुष्यकी
इच्छा है, परन्तु यह विद्व कैसे हो, इसका उपाय पूर्व दो मन्त्रोंमें कहा है; ' अन्न-बल-धन-सुसन्तान-जय-प्राप्त-हो-सकता-है । इसके साथ
साथ धन रखने योग्य विशेष महारथकी बात इस मन्त्रमें कही है; उसकी बन्धुबन्धना मन्त्रमाय यह है—

अन्नं सहसा अन्नं कृण्वानः क्षेमिणि । (मंत्र ३)

' यह अपने बलसे विजय करता हुआ तेजोंको प्राप्त करे । ' इस मंत्र भागमें (अन्नः) अपने अंदर के बलका संलक्ष
है । ' अन्नः ' नाम है ' निरवक ' का । त्रिष बलसे शत्रु का हतना संशयित है, त्रिष बलसे शत्रु का हतना अपने, पर भी
अपना लुप्तमान कुछ भी नहीं होता है, उसका नाम अन्न है । मनुष्यकी यह ' यह ' संलक्ष बल अपने अंदर प्रदाना चाहिए । यह
बल जिनका बड़ेका उतना ही विजय प्राप्त होगा और विजय कार्य क्षेमिणि उन्नति हो सकेगी । और इसीके प्रमाणसे
शत्रु पराप्त होने । इसके न होनेकी अवस्थामें अन्य साधनोंपस्थापन कितने भी पस हुए तो उनका कोई प्रभाव नहीं होगा ।
इसलिए इस मंत्र भागमें जो ' यह ' संलक्ष बल अपने अंदर बढ़ानेकी सूचना दी है, उसकी धनसे धारण करके, यह बल
अपने अंदर बढ़ाने और उसके आधारसे अन्न, बल, धन, सुसन्तान आदिके साथ विजय प्राप्त करें ।

शत्रुयं मंत्रमें कहा है कि यह मनुष्य साक्षात्पिशाच के अंदर जो जाग है यह ' यह ' इन्होंने आत्मा दिया हुआ, बहस द्वारा
प्राप्त बना हुआ, और मन्त्रों द्वारा चलाया हुआ आत्मा है, इसलिए यह वहाँ आकर मूल और प्वाससे दुर्गा न बने । (मंत्र-
४) प्रत्येक मनुष्य अपने आपको दन देवों द्वारा प्रेरित हुआ समझे । अपने पीछे इतने देव प्रेषा करने और रक्षा करनेवाले
हैं, यह जान मनमें लानेसे मनकी शक्ति बड़ी प्रभावशाली बन जाती है । भेरे कृपाशरीर इतने देव हैं यह विश्वास बड़ा बल
बढ़ाने वाला है । त्रिष मनुष्य की उन्नति करने के लिए इतने देव कार्य करते हैं, भूमि आप आदि सूर्य आदि देव इसके
लिए अन्न तैयार करते हैं, नृदक्षिणी इसे ज्ञान देता है, जलदेवा इससे विद्या देता है, सूर्य तेज देता है, अन्त्यापदेन इसकी
अन्नप्रकार की सहायता करते हैं और रक्षा भी करते हैं, क्या ऐसा मनुष्य अपनी शक्तियों चरणों और विजय प्राप्त करके अपने
शत्रुओंको दूर नहीं कर सकता ? कर सकता है, परन्तु इसके कठिण होकर अपने पाँवर बचा होना चाहिए ।

“असवालो भूमि इषे अथ अर्षणं वरती दे, दूधवालो गोवै इसके लिए दूध देती है, याचा धूमिषी इसके लिए बत बताती है और आप देवता इषे गोवै प्रदान करती है । (मं० ५)

पाठक इसका अनुभव करें । इतनी देवताएं मनुष्यको सहायता कर रही हैं, कुछ न मांगती हुई सहायता देती हैं । तबो सहायता परमात्माकी मंगलमयी योजनासे हो रही है । इसके बाद भी यदि मनुष्य अपना बल न बढ़ावे और विजय न पादन करे; तो फिर दोष किसका हो सकता है ? कृपया सब पाठक इसका उत्तर दें और अपना उत्तरदातृत्व जानकर पश्चात् पुनर्प्राय करनेके लिए कटिबद्ध हों । मनुष्य अपनी उन्नतिके लिए कटिबद्ध हुआ तो ये सब देव उसके सहायक होते हैं और सबको अखंड उन्नति रो सकती है ।

हृदयकी तृप्ति ।

अब प्राप्त हुआ, शरीरका बल भी बढ़ा, धैर्यता भी बहुत हुई, तथा अन्यान्य भोग और देवर्ष भी मिले, तो भी हृदयकी तृप्ति नहीं हो सकती । जबतक हृदयकी तृप्ति नहीं होती, तबतक ध्याति भी नहीं मिल सकती । इसलिए पूर्वोक्त मार्गों द्वारा अभ्युदयका मार्ग बताकर वरु मंत्रमें निःशेषसका मार्ग बताया जाया है । हृदयकी तृप्तिका मार्ग यह है—

ते हृदयं शिवाभिः सर्वयामि । (मं० ६)

“वेरा हृदय मंगल शान्तिसे तृप्त करता हूँ ।” शिवा शान्त श्रमता का वाचक है । जो मंगलमय-ही वह शिव है, फिर वह भावना हो सकती है, कामना हो सकती है और शिवा भी हो सकती है । कुछभी हो जो शिव है उसीसे हृदयकी तृप्ति होती है, किछो अन्य बातसे नहीं । पाठक यहाँ अनुभव करले कि जब कभी बुरा विचार उनके मनमें जाता है, तब मन कैसा धरांत होता है और जब कभी श्रमभावना आती है तब मन कैसा प्रवृत्त हो जाता है । श्रम विचार, श्रम उत्पन्न और श्रम, भावना हैं । मनुष्यके हृदयका संशोधन कर सकता है । इनके मनमें स्थिर होनेसे मनुष्यका हृदय तुल्य शान्त और मंगलमय हो जाता है । इस हृदयकी शोभन अवस्थासे मनुष्य दीर्घायु, नीरोग, तेजस्वी, वैश्वस्वी, तथा बलवान् होता है और ऐसे शान्तिपूर्ण मनुष्यको ही सुखदान होती है । पाठक यहाँ देखें कि हृदयकी ध्यातिका महत्त्व कितना है और हृदयकी अशांतिसे हानि कितनी है । यही उक्त आगेके मंत्र भागमें कही है—

अनमीषाः सुवर्षाः मोदिषीष्टाः (मं० ६)

“मीषेय और उत्तम तेजस्वी होकर आनन्दित हो ।” अर्थात् पूर्वोक्त रीतिसे हृदयकी ध्याति स्थिर होनेसे मनुष्य मीषेय और उत्तम तेजस्वी होकर आनन्दित हो सकता है, इसलिए मनुष्यको उचित है कि वह अपने अंतःकरणसे ध्याति और मन्त्र-यज्ञ दोनों और अद्यान्तसे दूर रहे । इतनाही नहीं परन्तु अद्यान्त अवस्था जाये और खरी होने पर भी अपना अंतःकरण शान्त और श्रम मंगल कामनाओंसे परिपूर्ण रखे । यह जो अंतःकरण के निश्चलन के विषयमें उपदेश हुआ । बाहरका व्यवहार सा करना चाहिए इस विषयमें इसी मन्त्रका उत्तरार्थ देखिए—

सवासिनी मायां परिषाय अन्व्यं शिवतम् । (मं० ६)

“सब मिलकर एक स्थानपर रहते हुए शैशत्वकी धारण करके रस का पान करें” इसमें मिश्रलिखित उपदेशबोधक उद्भव महत्व पूर्ण है—

१ स—वासिनी—एकत्र निवास करनेवाले, समान अधिचारसे एक स्थानपर रहनेवाले । उदनीच मेदको न बढ़ाते हुए समान विचारसे इकट्ठे रहने वाले । एक प्रकारके आचार व्यवहारसे रहनेवाले ।

यह शब्द एकताका बल करने समान्य में बदानिका उपदेश दे रहा है । परस्पर विद्वेष न बढ़े, परन्तु एकताका बल बढ़े; यह मात्र यहाँ स्मरण रखने योग्य है ।

२ मायां परिषाय—माया का अर्थ कुशलता, सुख, कर्म करनेकी प्रवृत्तता, शौचल आदि प्रकार का है । यह शब्द कुशलिके और कर्मशक्तिके समानतया प्रयुक्त होता है । कुशलतासे कार्य करनेकी बुद्धि और शक्ति धारण करनेकी एवना इस

शब्दद्वारा मिलती है । अगत् का व्यवहार करनेके लिए यह कुशलता अत्यन्त आवश्यक है । कुशलताके विना कार्य करनेवाले यथाकाम भागी नहीं हो सकता ।

एकता के साथ, समताभावके साथ रहनेवाले और कुशलतासे कार्य व्यवहार करनेवाले लोग ही मोगक्षी रस पान कर आनन्द प्राप्त कर सकते हैं । पाठक हृद्य आशय को मनमें रखकर इस मंत्रका विचार करें और बोध प्राप्त करें ।

स्वधा ।

मंत्र ७ में ' स्वधा अन्न और बलवती है, यह इन्द्रकी बनावी है, इसका सेवन करके तेजस्वी बनकर छो बवं जोभी यह उपदेश है । यह स्वधा क्या चीज है, इसका विचार करना चाहिए—

' स्वधा ' अपनी धारण शक्तिका नाम स्वधा है । अन्न शक्तिसे अपने शरीरके विविध अणु इकट्ठे रहते हैं उसव स्वधा शक्ति कहते हैं । यह स्वधा शक्ति जितनी मनुष्यमें होती है उतनी ही उसकी आयु होती है । शरीरकी स्वधाशक्ति कम होनेपर कोई औषधि सहायक नहीं होती । जबतक वह स्वधाशक्ति शरीरमें कार्य करती है तबतक ही मनुष्य जीवित रह सकता है वह सकता और विजय पा सकता है । यह स्वधा शक्तिका महारस है । इसके बिना मृत्यु निश्चित है । इसीलिए सप्तम मन्त्र कहा है कि " यह स्वधाशक्ति अन्न है " अर्थात् यह जरा वाली नहीं है, इसके (जरा) बुझाया जलदी नहीं आता, वह आयुमें भी जवानी रहती है । यह स्वधा (ऊर्जा) बल बढ़ानेवाली है, इसीकी सहायतासे मनुष्य (सुवर्षी) उत्कृष्टताका तेजस्वी और प्रभावशाली होता है और (सतं जीव) छो बवंकी पूर्ण निरोग आयु प्राप्त व सकता है ।

इसलिए मद्रवर्षादि सुनियमोंका पालन करके तथा आयुष्यगणके सूत्रोंमें कहे उपदेशोंके अनुकूल आचरण करके मनुष्य अपनी स्वधाशक्तिको बढ़ावे और मनुष्यको प्राप्त होनेवाले अनेक कार्यक्षेत्रोंमें विजय कमावे तथा इस सूत्रके यह मन्त्रमें उपदेशानुसार अपने अन्तःकरणको शुभ भावोंसे शान्त और धर्मीय बनावे और इह पर लोकोमें कृतकृत्य बने । यही—

“ वाः आसीः ”

“ हमार लिए आशीर्वाद मिले ” और सर्वत्र निर्द्वैता और शान्तिका बड़ा आभास हो ।

पति और पत्नीका मेल ।

(३०)

(ऋषिः-प्रजापतिः । देवता-अश्विनौ)

यपेदे भूम्या अशि तृणं चार्तो मधायति ।
 एवा मध्यामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यया मन्वापगा असः ॥ १ ॥
 सं चेन्नर्यापो अश्विना कामिना सं च चर्षयः ।
 सं वां मगांसो अगमत् सं चित्तानि सभ्रुं व्रता ॥ २ ॥
 यत्सुपूर्णा विवृक्ष्वो अनमीवा विवृक्ष्वः ।
 तत्र मे गच्छताद्वै श्रुत्य ईव कुल्महं यया ॥ ३ ॥
 पदन्तरं तद्वाह्यं पद्वाह्यं तदन्तरम् । कन्यानां विश्वरूराणां मनो गृमायीपदे ॥ ४ ॥

अर्थ—(यया वातः) जैसा वातु (भूम्याः अशिः) मृत्तिल (इदं तुम मधायति) यह धान हिलता है, (पर ते मनः मध्यामि) मैसा ही तारा मन में हिलता हू जितले हू (मां कामिना असः) मेरी इच्छा करनेवाली होके बी। यया मय कव-गाः न असः) सुससे दूर जानेवाली न होवे ॥ १ ॥

(ई कामिनी अश्विनौ) परस्पर क मना करनेवाले दो बहवानी (च इत् सं मयाया) मिलकर बने, (च सं रक्षयः) और मिलकर जमी बढे । (वां मगांसः सं अगमत्) तुम दोनों को देखते हकट्टे प्राप्त हो, (चित्तानि सं) तुम दोनोंके चित्त परस्पर मिले और (मगांसि सं) तुम्हारे कर्म भी परस्पर मिल जुल कर हों ॥ २ ॥

(यत्) यहाँ (विवृक्ष्वः सुवर्णाः) सोहनेवाले सुंदर वंजवाले पक्षी जाते हैं और (विवृक्ष्वः अनमीवाः) बीहनेवाले बीरोग मनुष्य जाते हैं, (वयं) यहाँ (मे इवं गच्छताव) मरी प्रेम्णानुसार जाओ, (यया शम्भः कुल्महं इव) जैसा धान की नोक निशानेपर जाती है ॥ ३ ॥

(यत् कन्तरं तत् पद्वाह्यं) जो अंदर है वही बाहर है और (यत् बाह्यं तत् कन्तरं) जो बाहर है वही अंदर है । ई औषधं । (विश्वरूराणां कन्यानां) विविध रूपवाली कन्याओंका (मनः गृमाय) मन प्ररण कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—चित्त विविध ऋषु प्राप्त मिल ता है उस शक्ति में तेरा मन हिलता हूँ, विश्वे तु मेरे कर शक्ति करनेवाली होकर धरा मेरे माप रहनेवाली गया मेरेसे दूर न होनेवाली हो ॥ १ ॥

हे परस्पर प्रेम करनेवाले श्री पुरुषो ! तुम दोनों मिलकर बने, मिलकर जागे बढो, मिलकर देखने प्राप्त करो, तुम दोनोंके चित्त परस्पर मिले रहें और तुम्हारे कर्म भी मिल जुल कर हांति रहें ॥ २ ॥

जहाँ सुन्दर पक्षीवाले पक्षी शब्द करते हैं और जहाँ बीरोग मनुष्य अमन करते जाते हैं ऐसे सुंदर स्थानपर तु मेरी प्रे-
 मासे चल ॥ ३ ॥

जो हमारे अंदर है वही बाहर है और जो बाहर है वही अंदर है। मैं निष्कण्ट मासके बर्तान करता हूँ और तब निष्कण्ट भाचरणसे मैं विविध रूपवाली कन्याओंका मन आकर्षित करता हूँ ॥ ४ ॥

एयमग्न्यातिकामा जनिकामोऽहमागमम् ।

अश्वः कनिकद्वयथा भगेनाहं सहागमम्

॥ ५ ॥

अर्थ—(इस पति-कामा या अगम्) यह कन्या पतिकी इच्छा करती हुई आयी है और (जनि-कामः महं या अगम्) स्त्री की इच्छा करनेवाला मैं आया हूँ । (महं भगेन सह या अगम्) मैं धनके साथ आया हूँ, (यथा कनिकद्वय अश्वः) वैसा दिनदिनाता हुआ घोडा आया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—पतिकी इच्छा करनेवाली यह स्त्री प्राप्त हुई है और स्त्री की इच्छा करनेवाला घोडेके समान दिनदिनाता हुआ मैं धनके साथ आया हूँ । हम दोनोंका इस रीतिसे मेल अर्थात् विवाह हुआ है ॥ ५ ॥

अश्विनी देव ।

यह सूक्त विवाह के विषयमें बड़े महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है । इस सूक्त की देवता 'अश्विनी' है । ये देव सदा सुमर्म रहते हैं, कभी एक दूसरेसे पूषक नहीं होते । विताहमें भी स्त्रीपुरुष एकवार विवाह हो जानेपर कभी पूषक न हों, आगमन विवाह बंधन से बंधे रहें, इस उद्देश्यसे इस सूक्तकी यह देवता रची है । जिस प्रकार अश्विनी देव सदा इच्छे रहते हैं कभी विपुक्त नहीं होते, वही प्रकार विवाहित स्त्रीपुरुष गृहस्थाश्रम में इच्छे रहें और परस्परसे विपुक्त न हों अर्थात् विवाह बंधन टोड़कर स्वरि वर्तन कभी करनेवाले कभी न बनें ।

द्वितीय मंत्रमें "कामिनौ अश्विनौ" कहा है, अर्थात् परस्पर की कामना करनेवाले अश्विनी देव जिस प्रकार एक कार्यमें इच्छे रहते हैं; उसी प्रकार विवाहित स्त्री पुरुष गृहस्थाश्रममें मिल जुलकर रहें और एक दूसरे से विभक्त न हों । यहाँ "अश्विनी" शब्द 'अश्वशानितसे युक्त' होनेका भाव बता रहा है । पुरुष गर्भधान करनेमें समर्थ होनेके लिये वैद्य शास्त्रमें "बाजीकरण" के प्रयोग लिखे हैं । बाजीकरण, अश्वीकरण ये शब्द समानार्थक ही हैं । स्त्रीपुरुष अश्विनी हों, इच्छा अर्थ बाजीकरणसे प्राप्त होनेवाली शक्ति से युक्त हों, अर्थात् गर्भधान करनेकी शक्तिसे युक्त पुरुष ही, और गर्भधारण करनेकी शक्तिसे युक्त स्त्री हो । "अश्वि" शब्दका यह उपाय यहाँ पाठक अवश्य देखें । स्त्री पुरुष परस्पर "कामिनौ" अर्थात् परस्परकी इच्छा करनेवाले हों, स्त्री पुरुष की प्राप्तिकी इच्छा करे और पुरुष स्त्रीकी प्राप्तिकी इच्छा करे । इस शब्दसे विवाहका समय भी निश्चित हो सकता है । देखिए—

विवाह का समय ।

मंत्र पांचमें निम्नलिखित मंत्र माया आता है, उससे विवाहका काल निश्चित हो सकता है—

इय पतिकामा या अगम् ॥

अहं जनिकामः या अगमम् (मं० ५)

"यह स्त्री पतिकी इच्छा करती हुई आगई है और मैं स्त्रीकी इच्छा करता हुआ आया हूँ ।" यह समय है जो विवाहके लिए योग्य है । स्त्रीके अंदर पतिकी प्राप्तिकी इच्छा और पतिके अंदर स्त्री की प्राप्तिकी इच्छा प्रबल होनी चाहिए । इस समय विवाह करना चाहिए । परंतु यहाँ यह भी संभव माना जा सकता है कि यह गर्भधानका समय हो । भिर समावृत्त करनेके पूर्व विवाह करनेकी बात प्रथम काण्ड सूक्त १४ में लिखी है । यदि विवाह पहिले हुआ तो यह समय गर्भधान का मानना पड़ेगा । तथापि निश्चय यही प्रतीत होता है कि महाचर्य समाप्तिके पश्चात् शोध और गृहस्थाश्रम योग्य स्त्री पुरुष होनेके पश्चात् ही विवाह करना चाहिये । इस विषयमें इहाँ मंत्रमें आगे देखिए—

यथा कनिकद्वय अश्वः ।

अहं भगेन सह आगमम् ॥ (मं० ५)

'जैसा दिनदिनाता हुआ घोडा आता है वैसा मैं धनके साथ आया हूँ ।' यहाँ उत्तम ताप्य और गर्भधान की अशुभता शक्ति इसके शरिरमें है ऐसे तपकका वर्णन है; वही विवाह के लिए योग्य है । विवाह के लिए न केवल ताप्य और

कीर्ति की आवश्यकता है, प्रत्युत (मर्ग) धनकी भी आवश्यकता है । कुटुंब का पालन पोषण करनेके लिए आवश्यक धन कमानेकी योग्यता पुरुष प्राप्त करे, धन कमाने लगे और उत्पत्त्या विवह करे; यह शोध यहाँ मिलता है । पहले मद्राचर्यं पालन करे, तरुण बने, वीरवान और बलवान् हो, धन कमजि लगे और पत्न्यात् सुयोग्य क्रीड विवाह करे । यह पंचम मंत्रका आद्यर सप्त ष्वात्मने धारण करने योग्य है ।

द्वितीय मंत्रमें " कामिनौ अश्विनौ " शब्द है, इनका आशय इससे पूर्व बतायाही है । ' कामिनौ ' ऋग्वेदका विशेष स्तुतीकरण पंचम मंत्रके प्रारंभमें किया है और ' अश्विनौ ' का स्तुतीकरण पंचम मंत्रके तृतीय चरण द्वारा हुआ है । यह बात पाठक मनमें पूर्वक देखेंगे, तो ' अश्विनौ ' शब्द यहाँ उत्तम गारभ्यके युक्त पतिपत्नीका वाचक है और ' अश्व ' शब्द बाजीकरण विद्व वीरवान् पुंस्य का विशेषण वाचक है, यह बात स्वयं स्पष्ट हो जायगी ।

पंचम मंत्रमें धन कमजिनेके पत्न्यात् विवाह करनेका उपदेश तो विशेष ही मनन करने योग्य है । ' वीः, धीः, क्रीः ' यह वैदिक ऋम प्रसिद्ध है ।

निष्कपट वर्ताव ।

जी पुत्रकोष परस्पर वर्ताव, पतिपत्नीका परस्पर व्यवहार निष्कपट भावसे और हृदय की एकता से ही होना चाहिए । तभी गृहस्थाश्रमी पुरुषों की सुख प्राप्त हो सकता है । इस विषयमें ऋग्वेद मंत्रका उपदेश विशेष महत्त्वपूर्ण है—

यदन्तरं सहास्यं सहास्यं उदन्तरम् । (मं० ४)

' जो अंदर है वही बाहर, जो बाहर है वही अंदर है । ' यह निष्कपट व्यवहारका परम उचित आदर्श है । पति पत्नीके विश्वमें तथा पत्नी पतिके विश्वमें अंतर्बाह्य एक जैसा व्यवहार करें, अंदर एक भाव रखते हुए बाहर दूसरा भाव न रखें । गृहस्थियोंके लिए व्यवहारका आदर्श यहाँ देनेके लिये मुकोम शब्दोंद्वारा बताया है । वैदिक धर्मका पालन करनेवाले गृहस्थी इसका अवश्य आचरण करें और अपना गृहस्थपनका सुख बढ़ावें ।

विश्वरूपानो कन्यानां मनः गुमाय ॥ (मं० ४)

' विश्व रूपवाली कन्याओंका मन इसी प्रकार आकर्षित किया जावे । ' कोई तरुण किसी कन्याके साथ बातचीत करने तथा अन्य व्यवहार करनेके समय अपना अंदर बाहरका वर्ताव सीमा और कपट रहित रखे । कपट भावसे कन्याओं को बाध देकर लक्ष्मी खूँछानेका यत्न कोई न करे । सरल निष्कपट भावसे ही अपनी धर्मपत्नी बननेके लिए किसी कन्याका मन आकर्षित किया जाय । कभी कोई छल या कपट न किया जाय । जी पुत्रव्य व्यवहारके विश्वमें ही मंत्रका यह उपदेश अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेवाले और प्रविष्ट हुए पाठक इस मंत्रका धारणा मनन करें ।

आदर्श पतिपत्नी ।

ऋग्वेद मंत्रमें परस्पर निष्कपट व्यवहार करनेका उपदेश दिया है, उस उपदेशके पालन करनेसे आदर्श कुटुंब बन सकता है इसमें कोई संदेहही नहीं है, इसका योनासा नमूना द्वितीय मंत्रमें बताया है, इसमें पांच उपदेश हैं, देखिए—

१ संवपयः—छन्मार्गसे चलो और चलाओ । एक मत से चलो । एक मतसे संसार चलाओ । जी और पुत्रव्य एक दिग्ध चले और परिवारको चलावें ।

२ संवपुष्यः—मिलकर भाग्य बढ़ो । जी और पुत्रव्य एक विचारसे भाग्य बढ़ने तथा उन्नति संवादन करनेका प्रयत्न करें ।

३ भगासः सं भगमठ—सब मिलकर ऐश्वर्य प्राप्त करें । मिलकर ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे विपुल धन प्राप्त हो जावे ।

४ चित्तानि सं—आपके चित्त मिले हुए हों ।

५ व्रतानि सं—आपके कर्म भी निष्कपट कर किए जावें ।

अर्थात् पतिपत्नीमें वैर भाव, द्वेष भाव या कठोर भाव न हो । यद्वातक एकता का भाव हो कि ये दोनों मिलकर एकही शरीरके अवयव हैं ऐसा माना जाये । यहकि ये शब्द यद्यपि सामान्यतः पतिपत्नीके कर्तव्य बतानेके लिए प्रयुक्त हुए हैं, तथापि सामान्यतः ऐक्य प्रतिपादन परक भी इस मंत्रका भाव लिया जा सकता है और इस दृष्टिसे यह मंत्र सामाजिक ऐक्य भावका उत्तम उपदेश दे रहा है । पाठक इस दृष्टिसे भी इस मंत्रका विचार करें और आदर्श पतिपत्नीके विषयमें इसका उज्ज्वल उपदेश स्मरण रहें ।

भ्रमण का स्थान ।

पतिपत्नीको मिलकर भ्रमण के लिए जाना हो, तो किस प्रकारके स्थानमें जाय, इस बातका उपदेश तृतीय मंत्रमें किया गया है उसको भी यहाँ देखिये—

यत् सुपर्णा विषक्षयः ॥

अममीवा विषक्षयः ॥

तत्र मे ह्यं गच्छताम् ॥ (मं० ३)

“जहाँ सुंदर पंखवाले पक्षी शब्द करते हैं और जहाँ नीरोग पुरुष वार्तालाप करते हुए जाते हैं, वहाँ प्रेरणानुसार जाय ।” ऐसे स्थानमें पतिपत्नी परस्परकी इच्छानुसार अथवा प्रेरणानुसार, परस्परकी रुचीके अनुकूल भ्रमण के लिये जाय । जहाँ सुंदर सुंदर पक्षी मंजुल शब्द कर रहे हैं और जहाँ नीरोग मनुष्य जानेके इच्छुक होते हैं वहाँ जाय । यह स्थानका वर्णन कितना मनोरम है ! पाठक ही इसका अनुभव अपने मनमें कर लें । उत्तम भाग्यसे ही ऐसे वन अथवा उद्यान जहाँ पुरुषोंको भ्रमण के लिए प्राप्त हो सकते हैं । यहाँ वेदने आदर्श स्थानही भ्रमण के लिए बताया है, यदि ऐसा स्थान हर एक परिवारके लिए न मिले, तो इसी प्रकारका कोई अन्य स्थान भ्रमण के लिए पसंद करें और निष्कण्ठ भावसे उत्तम वार्तालाप करते हुए गमन करें ।

स्त्रीके साथ बर्ताव ।

पुरुष स्त्रीके साथ केसा बर्ताव करे और स्त्री भी पुरुषके साथ केसा बर्ताव करे, इस विषयमें एक उत्तम उपमा प्रथम मंत्रमें की है और इस विषयका उपदेश किया है । “जिस प्रकार वायुसे घास हिलाया जाता है उस प्रकार स्त्रीका मन हिलाता है ।” (मं० १) यह कथन बड़ा बोधप्रद है । वायुके अंदर प्रचण्ड शक्ति है, वायु वेगसे चलने लगा, तो बड़े बड़े वृक्ष भी टूट जाते हैं; परंतु वही वायु कोमल घासको नहीं तोड़ता, परंतु केवल हिलाता है । इसी प्रकार वीर पुरुषका कोप प्रबल शत्रुको छिन्न-भिन्न कर सकता है, परंतु वही वीर पुरुष स्त्रियोंसे वैसा क्रूरताका बर्ताव न करे । जिस प्रकार वृक्षोंको तोड़नेवाला वायु घासको केवल हिलाता है, उसी प्रकार शत्रुको नष्टभ्रष्ट करनेवाला पुरुष भी स्त्रियोंसे कोमल सीतिथे ही बर्ताव करे । कठोर व्यवहार कभी न करे ।

स्त्रियाँ भी अपने अंदर घासके समान कोमलता धारण करें और प्रचण्ड वायु चलने पर भी जैसा घास टूटता नहीं, उसी प्रकार अपने कुटुंबके स्थानसे कभी विचलित न हों ।

यहाँ इस उपमासे स्त्रीके उत्तम कर्तव्य बताया है । इस उपमाका विचार कितना अधिक किया जाय उत्तम अधिक बोध मिल सकता है । यह पूर्ण उपमा है, इतनी योग्य उपमा अन्यत्र नहीं मिल सकती । पाठक इसका विचार करें और बोध लें और वह बोध अपने परिवारमें डाल दें ।

यह सूक्त पतिपत्नीके सहस्यमैत्र्या आदर्श बता रहा है, यदि पाठक इसका अधिक विचार करेंगे, तो उनके बहुत उत्तम उपदेश मिल सकता है । विवाह विषयक अन्यान्य सूक्तोंके साथ पाठक इस सूक्तका विचार करें ।

रोगोत्पादक क्रिमि ।

(३१)

(ऋषिः-काण्वः । देवता-मही)

इन्द्रस्य या मही द्रुपत्किमेर्विशस्य तर्हीणी ।	
तयां पिनप्पि सं क्रिमीन्दुषदा खल्वीं इव	॥ १ ॥
दुष्टमदृष्टमतृहमयीं कुरुर्ममतृहम् ।	
अलग्णदून्सर्वाञ्छुतुनाङ्क्रिमीन्वर्चसा जम्मयामसि	॥ २ ॥
अलग्णदून्हन्मि महता वधेन दूना अर्दना अरसा अर्धवन् ।	
शिष्टानर्षिष्ठाभि रिरामि वाचा यया क्रिमीणां नकिंश्छिषातै	॥ ३ ॥
अन्वाल्प्यं शीर्षण्यमथो पार्ष्ट्यं क्रिमीन् ।	
अवस्कृषं व्यध्वरं क्रिमीन्वर्चसा जम्मयामसि	॥ ४ ॥

अर्थ— [इन्द्रस्य वा मही इत्यम्] इन्द्रकी जो बड़ी शिखा है जो [विशस्य क्रियेः तर्हीणी] सब क्रिमियोंका नाश करनेवाली है [यया क्रिमीन् सं विगप्पि] इससे मैं क्रिमियोंको वीस खाऊँ [इत्यदा अद्वान् इव] जैसे पत्थरसे बनोंको पीसते हैं ॥ १ ॥

[रष्टं अदृष्टं अतृहम्] बीजने वाले और न दिखाई देनेवाले द्रुप दोनों प्रकारके क्रिमियोंका मैं नाश करता हूँ । [अयो कुरुर्मम तृहम्] और भूमिपर रहनेवाले क्रिमियोंको भी मैं नष्ट करता हूँ । [सवांश् अलग्णदून्] सब बिस्तेरे जादि मैं रहनेवाले तथा [शालुणां] वेगसे दूधर बघर चटनेवाले सब [क्रिमीन्] क्रिमियोंको [वचसा जम्मयामसि] बचाके द्वारा हटाता हूँ ॥ २ ॥

[अलग्णदून् महता वधेन हन्मि] विशिष स्वानोंमें रहनेवाले क्रिमियोंको बड़े आघातसे मैं मारता हूँ । [दूनाः अर्दनाः अरसाः अर्धवन्] चटनेवाले और न चटनेवाले सब क्रिमीं रसहीन होगये । [शिष्टान् अर्षिष्ठां वाचां नि रिरामि] बचे हुए और न बचे हुए भी सब क्रिमियोंको बचाके मैं नाश करता हूँ । [यया क्रिमीणां नकिंश्छिषातै] जिससे क्रिमियोंसे कोई भी न बचे ॥ ३ ॥

[अन्वाल्प्यं शीर्षण्यं] आलोंमें होनेवाले, [शीर्षण्यं] सिरमें होनेवाले [अथो-पार्ष्ट्यं क्रिमीन्] और पसलियोंमें होनेवाले क्रिमियोंको तथा [व्यध्वरं] रंगनेवाले और [व्यध्वरं] गुरे माँसपर होनेवाले सब क्रिमियोंको मैं [वचसा जम्मयामसि] बचा औपधिये हटाता हूँ ॥ ४ ॥

भाष्यार्थ—सब प्रकारके क्रिमियोंका नाश करनेमें समर्थ इन्द्र अर्थात् आरामाकी हृदयक्रि है उससे मैं रोगोत्पादक क्रिमियोंका नाश करता हूँ ॥ १ ॥

अससे दिखाई देनेवाले और न दिखाई देनेवाले तथा भूमिपर रहनेवाले अनेक प्रकारके क्रिमियोंको वचा औपधिये हटाता हूँ ॥ २ ॥

वचा औपधिये मैं सब क्रिमियोंको हटाता हूँ जिससे एक भी न बच सके ॥ ३ ॥

आलोंमें, सिरमें, पसलियों जो टूटि कुमार्य के आचरणसे होते हैं उन सबको मैं बचा कर हटाता हूँ ॥ ४ ॥

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोर्षीषु पशुष्वुत्पन्तः ।

ये अस्माकं तन्वमाविषिद्युः सर्वं तद्वन्मि जनिमः क्रमीणाम्

॥ ५ ॥

(इति पञ्चमोऽनुवाकः ।)

अर्थ—[ये पर्वतेषु क्रिमयः] जो पहाड़ियोंपर क्रिमि होते हैं, (वनेषु, ओषधीषु, पशुषु, जन्तुः) वन, औषधि, पशु, जन्तु आदिमें होते हैं, और (ये अस्माकं तन्वं आविषिद्युः) जो हमारे शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं [त्व क्रमीणां सर्वं जनिमः इन्मि] यह क्रिमियोंका सम्पूर्ण जन्म मैं नष्ट करता हूँ ॥ ५ ॥

आचार्य—जो पर्वतोंमें, वनोंमें, औषधियोंमें, पशुओंमें तथा जन्तुओंमें क्रिमि होते हैं तथा जो हमारे शरीरोंमें प्रविष्ट हैं उन सब क्रिमियोंका मैं नाश करता हूँ ॥ ५ ॥

क्रि. योंकी उत्पत्ति ।

रोगोत्पादक क्रिमियोंकी उत्पत्ति 'पर्वत, वन, ओषधि, पशु, और जन्तु इनके बीच में होती है' (मं० ५) तथा ये क्रिमि—
अस्माकं तन्वं आविषिद्युः । (मं० ५)

'हमारे शरीरमें प्रविष्ट हैं' और पीछा करते हैं, इसलिये इन क्रिमियोंको हटाकर आरोग्य कायव कस्मा चाहिये । यह पंचम मंत्रका कथन विशेष विचार करने योग्य है । जलमें सहायत होनेसे विविध प्रकारके क्रिमि होते हैं, पशुके शरीर में अनेक जंतु होते हैं, हरी वनस्पतियोंपर अनेक क्रिमि होते हैं, वनों में जहाँ दृशकके स्थान रहते हैं वहाँ भी विविध जाति के क्रिमि होते हैं और इनका संबंध मनुष्य शरीरके साथ होनेसे विविध रोग उत्पन्न होते हैं । सर्पमें ये कहाँ जाते हैं इसका वर्णन मंत्र ४ कर रहा है—
आभ्यान्वर्षं शीर्षेषु अथो पादेषु क्रिमीषु । (मं० ४)

"आंतोंमें, शिरमें, पदमियोंमें ये क्रिमि जाते हैं और वहाँ बहने हैं ।" हस्त आर्य वहाँ वाया प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं । इसलिये आरोग्य चाहनेवालों को इनको दूर करना चाहिये । इनकी उत्पत्ति के विषयमें मंत्र ४ में जो उल्लेख बड़े महत्त्व के हैं ।—

“ अक्षरहृदं, वयस्पर ” (मं० ४)

१ अक्षरहृदं—(अक्ष+हृद) नीचे गमन । नीचे स्थानमें गमन करनेसे इनकी उत्पत्ति होती है । वहाँ आचरनकी नीवता समझना योग्य है ।

२ वयस्पर—(वि+अप्+र) विरह मार्ग पर रचना । चर्म विरह व्यवहारके जो जो मार्ग हैं उनपर रमनेसे रोगके बीज उत्पन्न होते हैं । अन्नवर्षादि निषेधोंका म पालन करना आदि बहुतसे चर्म विरह व्यवहार हैं जो रोगतत्पन्न करनेमें हेतु होते हैं । इस दृष्टिसे ये दोनों शब्द बड़े महत्त्वके हैं ।

दूर करनेका उपाय ।

इन क्रिमियोंको दूर करनेका उपाय दो प्रकारका इस सूक्तमें कहा है—

१ बाधा—बवा नामक वनस्पतिक उपाय करना । भाषामें इसकी वच कहते हैं । क्रिमि नाशक औषधियोंमें इसका महत्त्व सबसे अधिक है । इसका चूर्ण शरीरपर लगावेसे क्रिमि बाधा नहीं होती, बवाका मणि गलेमें या शरीरपर चारण करनेसे भी क्रिमियोंका दूर होता है और जलमें फोड़कर भी इसका सेवन करनेसे पेटके अंदरके क्रिमियोंको दूर जाते हैं । औषधि जन्म उपायोंमें यह सुलभ और निःशुद्ध उपाय है ।

२ इन्द्रव मही इन्द्र—इन्द्रका बवा पत्थर । इस नामका कोई पदार्थ है वा वह आभ्यास्तिक लक्षिका नाम है, इस विषय में अमीतक कोई निश्चय नहीं है। सदा । इन्द्र शब्दका अर्थ आर्या है, उच्छका बवा पत्थर अर्थात् जिधर टकर साकार ये रोग जन्तु मर जाते हैं वह उच्छकी पत्थर जोवन शक्ति है । आर्य लक्षिके मुझबलमें इन रोगक्रिमियोंकी श्रुतक शक्ति उद्धर नहीं सकता । यह सब ठीक है, परंतु इस विषयमें अधिक जोन होनेको अवश्यकता है । ये क्रिमि इतने सूक्ष्म होते हैं, कि आँखसे दिखाई नहीं देते ।

(अष्ट), दूबरे ऐसे होते हैं कि जो आँखों से दिखाई देते हैं । कई चरों पर होते हैं, कर्मों पर बिचले हैं शिलों में होते हैं, इस प्रकार विविध स्थानों में इनकी उत्पत्ति होती है । इनका नाम उक्त प्रकार करनेसे इनकी पीडा दूर होती है और आरोग्य मिलता है ।

क्रिमि-नाशन ।

[३२]

(प्राणि-काण्डः । देवता-आदित्यः)

उद्यत्तादित्यः क्रिमीन् दन्तु निम्रोचन्दन्तु राक्षसिभिः । ये अन्तः क्रिम्यो गवि ॥१॥

विश्वरूपं चतुरस्रं क्रिमि सारङ्गमर्जुनम् । ब्रह्माम्पस्य पृथ्वीरपि वृक्षामि पच्छिरः ॥२॥

अग्निवहः क्रिमयो हन्मि कण्ठवृज्जमदाग्निवत् ।

अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिन्ध्म्यहं कुमीन् ॥३॥

इतो राजा क्रिमीणांमृतैषां स्वपतिर्हृतः । इतो हवताता क्रिमिर्हितभ्राता हवस्वसा ॥४॥

अर्थ—[उद्यत् आदित्यः क्रिमीन् दन्तु] उद्यत् होता हुआ सूर्य क्रिमियोंका नाश करे । [निम्रोचन् राक्षसिभिः दन्तु] अस्तको जाया हुआ सूर्य भी अपने किरणोंसे क्रिमियोंका नाश करे । [ये क्रिमयः गवि अन्तः] जो क्रिमि भूमीपर हैं ॥१॥ [विश्वरूपं चतुरस्रं] अनेक रूपवाले [चतुरस्रं] चार आँखवाले, [सारंगं मर्जुनं क्रिमि] रीतवेवाले अरण्यके क्रिमि होते हैं । [अस्त्य पृथ्वीः अग्निमि] इनकी हाँठोंको मैं तोड़ता हूँ । [अग्नि वत् पितरः ब्रह्मामि] इनका जो सिर है वह भी तोड़ता हूँ ॥ २ ॥

हे [क्रिमयः] क्रिमियो ! [मन्त्रवत्, कण्ठवत्, जमदाग्निवत्] जगि, कण्ठ और जमदाग्नि के समान [वः हन्मि] तुमको मार डालता हूँ । [अहं अगस्त्यस्य ब्रह्मणा] मैं अगस्त्यकी विद्यासे [क्रिमीन् सं पिन्धि] क्रिमियोंको पीछे बालता हूँ ॥ ३ ॥

[क्रिमीणां राजा इतः] क्रिमियोंका राजा मारा गया । [इतो एषां स्वपतिः हृतः] और इनका स्वपति भी मारा गया । [इतो-भ्राता, हवताता, हव-स्वसा क्रिमिः हवतः] क्रिमियोंकी माता, मर्दा, बहीन तथा वह क्रिमि भी मारा गया है ॥४॥

भावार्थ—सूर्य उद्यत् होनेके पश्चात् अस्त होने तक अपने किरणोंसे रोमोत्पादक क्रिमियोंका नाश करता है । ये क्रिमि भूमिपर रहते हैं ॥ १ ॥

ये क्रिमि बहुत प्रकारके विभिन्न रूपवाले होते हैं, कई घेत होते हैं और कई अन्य रंगोंके होते हैं । इनमेंसे कईको चार अथवा अनेक आँख होते हैं ॥ २ ॥

अग्नि, कण्ठ, जमदाग्नि और अगस्त्य इन नामों द्वारा सूचित होनेवाले उपाय हैं कि जिनसे इन रोग रोकथाम काट हो जाता है ॥ ३ ॥

इन उपायोंसे-इन क्रिमियोंके मूल बीज ही नष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

हृतासो अस्य वेशसो हृतासुः परिविशसः ।

अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते किमयो हृताः

॥ ५ ॥

प्र ते शृणामि शूक्रे याम्यां वितुदायसि । भिनर्धिं ते कुपुम्भं यस्ते विपधानः ॥ ६ ॥

अर्थ— [अस्य वेशसः हृतासः] इसके परिचारक मार गये । [परिवेशसः हृतासः] इसके सेवक पीसे गये । [अथो ये क्षुल्लकाः इव] सब जो क्षुल्लक किमी हैं [ते सर्वे किमयो हृताः] वे सब किमी मारे गये ॥ ५ ॥

[ते शृणो म शृणामि] तेरे दोनों सींग लोठ ढालवा हूँ [याम्यां वितुदायसि] जिनसे तू काटता है । [ते कुपुम्भं विपधि] तेरे विपके आशयको मैं घोडवा हूँ [यः ते विपधानः] जो तेरा विपका स्थान है ॥ ६ ॥

भावार्थ—इन्के सब परिवार पूर्णतः दूर हो जाते हैं ॥ ५ ॥

इनमें जो विपका स्थान होता है उसका भी पूर्णतः उधारीसे ही नाश हो जाता है ॥ ६ ॥

सूर्यकिरण का प्रभाव ।

सूर्य किरणोंमें ऐसी जीवन शक्ति है कि जिससे संपूर्ण प्रकारके रोगबीज दूर होते हैं । इसलिए जिस स्थानपर रोग जन्मने लगे हैं वही रोग उत्पन्न हुए हों, उस स्थानमें सूर्य किरण पहुंचानेसे वे सब रोग दूर हो जाते हैं । जिस घरमें रोग उत्पन्न हुए हों, उस घरके छप्परमें से सूर्य किरण निपुत्र प्रमाणमें उस घरमें प्रविष्ट करनेसे वहाके रोग दूर हो जाते हैं । क्योंकि रोगबीजों को हटानेवाला सूर्यके समान प्रभावशाली दूसरा कोई भी नहीं है ।

किमियोंके लक्षण ।

एक सूक्तके द्वितीय मंत्रमें इन किमियोंके कुछ लक्षण बड़े हैं, देखिए (मं० २)—

१ अर्जुमः—श्वेत रंगवाला,

२ सारंगः—विविध रंगवाला, भिन्नभिन्न रंगों वाला, यन्ने जिसके शरीरपर है ।

३ चतुरस्राः—चार भेज वाला, चारों तरफ़ें जिसके शरीरमें भेज हैं ।

४ विषकृपः—विविध रंगरूप वाला ।

इन लक्षणोंसे ये किमि पहचाने जा सकते हैं ।

रोग बीजोंके नाशकी विद्या ।

इन रोग बीजोंका नाश करनेकी विद्या सृतीय मंत्रमें कही है । इस मंत्रमें इस विद्याके चार नाम आये हैं, देखिए— (१) अग्नि, (२) कष्य, (३) जमदग्नि और (४) अगस्त्य के (ब्रह्मणा) ब्रह्मसे अर्पित इनकी विद्यासे रोग बीजमूल किमियोंका नाश करता है । रोगबीजों का नाश करनेकी विद्याके ये चार नाम हैं । प्राचीन विद्याकी खोज करनेवालोंको शकित है कि ये इन विद्याओंकी खोज करें । इस समय तक हमने जो खोज की उससे कुछभी परिणाम नहीं निकला है ।

विपस्थान ।

इन किमियोंके शरीरमें एक स्थान ऐसा होता है कि जहाँ विष रहता है, (मं० ६) यद् विष ही मनुष्य के शरीरमें पहुंचा है और वहाँ विविध रोग उत्पन्न करता है । इसलिए इनसे बचने के उपाय की शक्ति ऐसी चाहिए कि जिससे वह विष दूर हो जाय और मनुष्य के शरीर पर वह विष अनिष्ट परिणाम न कर सके ।

यक्ष्म नाशन ।

(३३)

(ऋषिः-महा । देवता-यक्ष्मविवर्धनं, चन्द्रमाः, आयुष्यम् ।)

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुचुकादधि ।	
यक्ष्मं शीर्षपुंभिस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते	॥ १-॥
प्रीधाम्यस्त उष्णिहाभ्युः कीर्कसाभ्यो अनुक्यात् ।	
यक्ष्मं दोषुष्यभूमसाभ्यां चाहुभ्यां वि वृहामि ते	॥ २ ॥
हृदयात्ते परिं क्लोमो हलीक्ष्णात्पार्श्वभ्याम् ।	
यक्ष्मं मत्सनाभ्यां ह्रीहो यक्ष्मस्ते वि वृहामि ते	॥ ३ ॥
अन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुद्रादधि ।	
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्यां वि वृहामि ते	॥ ४ ॥
ऊरुभ्यां ते अष्टीवद्भ्यां पाणिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।	
यक्ष्मं मसृद्यं भ्रोगिभ्यां मासदं मंससो वि वृहामि ते	॥ ५ ॥
अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः ।	
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते	॥ ६ ॥

अर्थ-(ते मक्षीभ्यां नासिकाभ्यां) तेरे नासिके और दोनों मधुमेसे (कर्णाभ्यां छुचुकात् अदि) कर्णोंसे, और दोहीमेसे, (ते मस्तिष्कात् जिह्वाया) तेरे मस्तिष्कसे तथा जिह्वसे (दीर्घपुं यक्ष्मं वि वृहामि) तिर संघर्षी रोग को दटाता हूँ ॥ १ ॥

(ते शीर्षाभ्यः अष्णिहाभ्यः) तेरे गले से और गुरी की माथीसे (कीर्कसाभ्यः अनुक्यात्) हंसकी की हृष्टीरोसे और शीर्षसे और (ते मत्सनाभ्यां, ते चाहुभ्यां) तेरे कंधोंसे और गुनासोंसे (दोषुष्यं यक्ष्मं वि वृहामि) सुद्धेके रोगको दटाता हूँ ॥ २ ॥

(ते हृदयात्, क्लोमः, हलीक्ष्णात्) तेरे हृदयसे केफडेसे और पिच्छाशयसे, (पार्श्वभ्यां परि) दोनों कंधोंसे (ते मत्सनाभ्यां) तेरे गुठोंसे (ह्रीहो यक्ष्मः) तिष्ठो और जगिरसे (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग को दटाता हूँ ॥ ३ ॥

(ते अन्त्रेभ्यः गुदाभ्यः) तेरी नासिके और गुदासे (वनिष्ठोः रुद्रात् अदि) मलत्यागसे और रुद्रसे (ते कुक्षिभ्यां प्लाशेः नाभ्याः) तेरी कोंसोंसे अंदर की औंठीसे और नाभसे (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग दटाता हूँ ॥ ४ ॥

(ते ऊरुभ्यां अष्टीवद्भ्यां) तेरी अंजाकोंसे और घुटनोंसे (पाणिभ्यां प्रपदाभ्यां) पादोंसे और पैरोंसे, (ते शीर्षाभ्यां) तेरे कुशोंसे (मंससः मसृद्यं मासदं) गुहास्थानसे कटिके संबंधके गुहा (यक्ष्मं वि वृहामि) रोगको ते दटाता हूँ ॥ ५ ॥

(ते अस्थिभ्यः मज्जभ्यः) तेरी हड्डियोंसे और मज्जासे (स्नावभ्यः धमनिभ्यः) घुट्टोंसे और मांसियोंसे (ते पाणिभ्यां अङ्गुलिभ्यः नखेभ्यः) तेरे हाथ, अंगुठि और नाखोंसे (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग को दटाता हूँ ॥ ६ ॥

घञ्जोऽङ्गे लोमिलोऽङ्गि यस्ते षर्षविवर्षणि ।

यक्ष्मं त्वच्चस्मृते वृष्यं कृष्यपस्य वीवृहोण विष्वञ्चं वि वृहामसि ॥ ७ ॥

पद- (वः ते) जो ते (घञ्जे षञ्जे लोमिलोऽङ्गि षर्षणि पर्वणि) प्रत्येक अंग प्रत्येक रोम और प्रत्येक गाँठमें (ते एष्वर्षर्ष विष्वञ्चं वृह्यं) तेरी एषवा संबंधी केशवेषाके सब रोगको (कृष्यपस्य विवृहोण) कृष्यपके उपाचारे (वष्यं विवृहामसि) हम हटा देते हैं ॥ ७ ॥

आचार्य-शब्द नाक खान बाहु आदि स्थान परीरके होते अथवाते, हृदय रोहा बहुत आदि आंतरिक अथवाते, आदि अन्त आदि आनुओंके अथवा जहाँ कहीं रोग हो वहाँसे कृष्यप की वियासे हम रोगको हटा देते हैं १-७-१

कृष्यप-विवृहण ।

पूर्व सूक्तमें अग्नि, अन्न, अमरुति और अमरुत नामकी रोगहरीकरण की विद्या आगई है । उसी प्रकारकी कृष्यप विवृहण नामक विद्याका उल्लेख इस सूक्तमें आया है । खीम करनेवालोंको उन विद्याओंके साथ इस विद्याकी भी खीम करनी चाहिये । इस अन्त ही यह विद्या अज्ञात है ।

[यह सूक्त कुछ पाठ भेदके अ० १०१११३ में आया है]

मुक्ति का सीधा मार्ग ।

(३४)

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-पशुपतिः ।)

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ।

निष्कीर्तुः स यस्मिन् भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम् ॥ १ ॥

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः ।

उपाकृतं यद्यमानं यदस्पाल्त्रियं देवानामभ्येतु पाथः ॥ २ ॥

अर्थ- [यः पशुपतिः] जो पशुपति [यः द्विपदा उत चतुष्पदा ईशे] द्विपद और चतुष्पदाईका स्वामी है [सः निष्कीर्तः] वह पूर्ण रीतिसे प्राप्त हुआ हुआ [यस्मिन् भागं पतु] यजनोप विभागकी प्राप्त होने । [रायः पोषाः सचमानं सचन्ताम्] धन और पुष्टियाँ यत्न करनेवालेकी प्राप्त हों ॥ १ ॥

हे [देवाः] देवो ! [मुञ्चन्तो रेतः प्र मुञ्चन्तोः] भुवन के वीर्यका दान करते हुए [यजमानाय गातुं धत्त] यज्ञ करनेवाले के लिये सन्मार्ग प्रदान करो । [यत् सचमानं उपाकृतं देवानां भियं पाथः अस्पालु] जो सोमरूप सुसंस्कृत देवोंका प्रिय अन्न है वह हमें [पतु] प्राप्त हो ॥ २ ॥

आचार्य-जो द्विपद और चतुष्पद आदि सब प्राणियोंका स्वामी एक ईश्वर है, वह विशेष रीतिसे प्राप्त होनेके पश्चात् पूर के स्वानमें पूरित होता है और उसकी कृपासे सब प्रकारके धन और पुष्टियाँ उपासक को प्राप्त होती हैं ॥ १ ॥

सब देव हुए उपासक को संसारका वीर्य प्रदान करते हुए सन्मार्ग बताते हैं और मनरहित संबंधी सुसंस्कृत देवोंके लिये प्रिय अन्न को अन्न होता है वह इसको देते हैं ॥ २ ॥

यं ब्रह्मर्मानमनु दीर्घ्याना अन्वैक्षन्तु मनसा चक्षुषा च ।

अभिष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥ ३ ॥

ये प्राण्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैरुकरूपाः ।

वायुष्टानग्रे प्रमुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥ ४ ॥

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गम्यः पर्याचरन्त्वम् ।

दिवं गच्छु प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पृथिभिर्देवुपानैः ॥ ५ ॥

अर्थ- [ये दीर्घ्यानाः] जो प्रकाशमान [ब्रह्मर्मानं अनु] बंधे हुए जो अनुकृष्टा के साथ [मनसा च चक्षुषा अन्वैक्षन्तु] मनसे और आंखसे देखते हैं, [विश्वकर्मा प्रजया संरराणः देवः ऋषिः] विश्वकर्मा प्रजासे रमनेवाला प्रकाशमान देव [उक्तु] कर्म प्रमुमोक्तु] इनको सबसे पहले मुक्त करे ।

[ये प्राण्याः विश्वरूपाः पशवः] जो प्राणी विविधरंग रूपवाले पशु [बहुधा विरूपाः संतः एकस्याः] बहुत करके अनेक रूपवाले होनेपर भी एक रूप होनेके समान ही हैं (प्रजया संरराणः प्रजापतिः वायुः देवः) प्रजाके साथ रमने वाला प्रजापालक प्राण देव [उक्तु] कर्म प्रमुमोक्तु] इनको पहले मुक्त करे ॥ ४ ॥

['पूर्वे प्रजानन्तः'] पहले विशेष जाननेवाले प्राणी [पर्याचरन्तं प्राणं] चारों दिशाओंमें भ्रमण करनेवाले प्राणको [अङ्गम्यः प्रतिगृह्णन्तु] सब जगोसे ग्रहण करें । [शरीरैः प्रतिवृत्तं] सब शरीरोंमेंसे प्रतिष्ठित रह, पश्चात् [देवपानैः पृथिभिः स्वर्गं याहि, दिवं गच्छु] देवोंके जाने योग्य जगोसे स्वर्गको जा, प्रकाशमय स्थानको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भाष्य- जो तेजस्वी प्राणी पुरुष अपने मनसे और आंखसे बहू स्थितिमें रहे हुए प्राणोंको अनुकम्पा की दृष्टिसे देखते हैं, उनको- ही विश्वका निर्माण करनेवाला और प्रजाओंमें रमनेवाला प्रकाशमय देव सबसे पहले मुक्त करता है ॥ ३ ॥

प्राण्य पशु जो वास्तवमें विविध रंगरूपवाले होते हुए भी एक रूपवाले जैसे होते हैं, उनको भी सब प्रजाओंके साथ रहनेवाला प्राणोंका प्राणदेव पहले मुक्त करता है ॥ ४ ॥

जो प्राणी शीघ्र सब शरीरोंमें संचार करनेवाले प्राणकी सब जगो और अवयवोंसे इच्छा करके अपने अधिकारमें लाते हैं, वे शरीरोंसे मुक्त होते हुए दिव्य मार्गसे जोसे स्वर्गको जाते हैं और पश्चात् का स्थान प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

प्राणका आयाम ।

शरीरमें प्राण एक अद्भुत शक्ति है । वास्तवमें यह एकही प्राण शरीरके विभिन्न अवयवों और जगोमें कार्य करनेके कारण अनेक प्रकारका माना जाता है और इसी एकको अनेक नाम भी दिए जाते हैं । ईश्वरी नियमसे एक प्राण अनेक अवयवोंमें जाता है और वहवै स्वेच्छासे निरूप होता है । यदि इस प्राणपर अनुपपत्ती इच्छाका स्वाभाविक होगा अर्थात् अनुपपत्ती इच्छाके अनुसार प्राणका जगो और अवयवोंमें भ्रमण होगा, और इच्छानुसार इसको शरीरमें स्थिति हो सकेगी, तो शरीरका कोई भी अवयव कभी रोगी न होगा और इच्छा मरण की सिद्धि भी प्राप्त होगी । यह सब बात प्राणपर प्रभुत्व प्राप्त होने पर ही निर्भर है । इसी लिए पशु मंत्रमें कहा है—

प्रजानन्तः पूर्वे पर्याचरन्तं प्राणं अङ्गम्यः प्रतिगृह्णन्तु । (मं० ५)

" जाननेवाले बड़े लोग संचार करनेवाले प्राणको सब जगोसे इच्छा करके अपने स्वाधीन कर लेंगे । " इस मंत्रमें इस कर्मके अधिकारी कौन है यह भी कहा है, प्राणका कार्य बताया है और प्राणको स्वाधीन करनेका भी उपाय दिया है; इसका अनुसंधान देखिए—

१ प्र—जानन्तः पूर्वे = (प्र—जानन्तः) विशेष जाननेवाले अर्थात् शरीर शास्त्र और योगशास्त्रके विशेष ज्ञाता । प्राणायामके शास्त्रको उचित प्रकारसे जाननेवाले योगी (पूर्वे) पहले, अर्थात् नवीन छाँखनेवाले नहीं, जो पुराने अनुभवों हैं) से भोग अपने अंगों और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करके अपने आधीन करे ।

२ पर्याचारणं प्राणं—(परि+आचरन्) चारों ओर संचार करनेवाले प्राणको स्वाधीन करे । प्राण संपूर्ण शरीरमें संचार कर रहा है, स्वेच्छासे संचार कर रहा है, उच्छेद अपनी इच्छासे कार्य करनेमें लगाने । प्राणका संचार जहाँ योग्य स्थिति नहीं होता है वहाँ रोग होते हैं; इसलिए प्राणको अपनी इच्छासे प्रेरित करनेकी शक्ति प्राप्त होगई तो सब शरीर नीरोगी रचना और दीर्घ आयु प्राप्त करना भी संभवनीय है ।

३ अङ्गेषु प्राणं प्रतिगृह्णन्—शरीरके अंगों और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करना और अपनी इच्छानुसार उसे शरीरमें प्रेरित करना यहाँ सूचित किया है ।

योग शास्त्रमें प्राणायाम विधि कही है । इसके अनुष्ठान से यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है । जो पाठक इस विषयमें अधिक परिश्रम करना चाहते हैं, वे अच्छे योगीके पास रहकर महावैद्य आदि क्षुण्णियोंका अनुष्ठान करनेके अपनी इस सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं । अपने शरीरके सब अंगों और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करना और पुनः प्रत्येक अवयवमें उसको भेजना यह सब किया अपने आधीन होनेवादिष्ट, इसके हीनकी सिद्धि हो सकती है इसका अर्थ इसी मंत्रमें देखिए—

शरीरः प्रतिष्ठितः । (मं० ५)

“अपने शरीरोंके साथ स्थिर हो” यह पहिली सिद्धि है । स्थूल सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर हैं, इसी प्रकार सात शरीर भी गिने जा सकते हैं, अंगों और अवयवोंको गिनती करनेसे बहुत सूक्ष्म विचारमें जाना पड़ेगा, इसलिये यह विचार हम छोड़ देते हैं । इन शरीरोंके साथ मनुष्य सुबुद्ध और सुप्रतिष्ठित हो सकता है । जो पूर्वोक्त साधन करेगा और प्राणको अपने आधीन बनायेगा, वह शरीरके नीरोग, सुदृढ़ तथा दीर्घायु भी सकता है । यह तो प्रत्यक्ष लाभ हुआ, परंतु प्राणायाम साधन करनेसे अत्यल्प भी बहुत से लाभ होते हैं । इस अत्यल्प कामके विषयमें यही मंत्र इस प्रकार कहता है—

दिवं गच्छ । देवयानैः पयिभिः स्वर्गं वाह । (मं० ५)

“प्रकृत्युपम स्थान प्राप्त कर । देवोंके मार्गसे स्वर्गमें जा ” यह है अन्तिम सिद्धि, जो ह्य प्रवाहके मार्गसे और प्राणके बशीकरणसे प्राप्त हो सकती है । योग साधनके द्वारा प्राप्त होनेवाली यह अन्तिम सिद्धि है, जो प्रायः सब धर्म श्रमोंमें वर्णित हो चुकी है ।

पञ्चपति रुद्रः ।

पूर्वोक्त पंचम मंत्रमें प्राण का वर्णन किया है, उसके बशीकरणसे काम बताये और उसके विधि भी कही है । इसी प्राणको वेदमें “रुद्र, पञ्चपति” आदि नाम आये हैं । प्राण शब्द परमात्माका वाचक हो, या शरीरस्थ प्राणका वाचक हो, दोनों अर्थोंमें ये शब्द उसके वाचक होते हैं । यजुर्वेदके इन्द्रायाममें ये रुद्रके वाचक कहे हैं और प्राण रुद्र हैं, यह बात उपनिषदोंके प्राणार्णवमें अनेक-बार कही जा चुकी है । इसलिये पञ्चपति शब्द रुद्र और प्राण एकही अर्थमें प्रयुक्त होनेसे किसीको संदेह नहीं हो सकता ।

शरीरमें “पञ्चमात्र” है, स्थूलशरीरमें पाचवी बल रहता है, इन्द्रियोंमें ओषेच्छा, काम क्रोध आदि पञ्चभाव हैं, मनमें क्रियाश्रमा आदि पञ्चभाव हैं, इस प्रकार स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरोंके क्षेत्रोंमें बहुतसे पञ्च विद्यमान हैं, उनको पचासे रकनेवाला, उनका स्वामी यह प्राणही है । प्राणके वर्णन होनेसे ये सब पञ्च वर्णन हो जाते हैं और कोई, कष्ट नहीं देते । पञ्चपति होने पर ही एक बड़ी भारी सिद्धि है, जो प्राणको बश करनेसे प्राप्त हो सकती है । प्राणका वर्णन अन्वय इसी प्रकार हुआ है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वसो ।

यो मृतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम् । अथर्व. १११ (६)। ५१

“प्राणके लिये प्रणाम है जिसके वशमें यह सब है, जो सबका स्वामी है और जिसमें सब ठहरा है ।” यह प्राणका वर्णन देखिये और इस सूक्तका प्रथम मंत्र देखिये—“आिदा और चतुष्पाद पञ्चओंका जो पञ्चपति स्वामी है वह अपना बचनेके पथाय वह पूज्य स्थानमें जाता है और मन तथा पुष्टिवां उपासकको मिलती है ॥ ” (मं० १)

हिवाद् और चतुष्पदीके शरीरीका चक्रविनाश प्राणही है, इसके होनेसे सब इन्द्रिय कार्य करते हैं और इसके बने जानेसे यह शरीर मुदा हो जाता है, इसके लिए हिवाद् चतुष्पदीका स्वामी प्राण है। यह प्राण(निः-कीर्तः)पूर्ण रीतिसे खरीदा जाय, तर्मा वह स्थायी हो जाता है। कोई पदार्थ खरीदा जाने परही अपने स्वामीत्व में आ जाता है। वह प्राण किस रीतिसे खरीदा जा सकता है, इसका विचार करना चाहिए।

इसके देकर अन्य पदार्थ खरीदे जाते हैं, वैसा वह प्राण बनसे खरीदा नहीं आ सकता। इसके योगानुष्ठानस्वी तपके द्वारा खरीदनेकी आवश्यकता है। वैशाम्य और अन्याय द्वारा यह खरीदा जाता है अर्थात् वह पूर्ण स्थायी हो जाता है। स्थायी होनेके पश्चात् " यह (यज्ञिये भागं) पूजाके स्थानमें प्राप्त होता है, " यह स्वयम् नष्ट प्राप्त होता है, योगी जन इसके माया-वाम द्वारा उपसना करते हैं, जिनसे—

श्वशपोषाः दत्तमानं अचन्वाम् । (मं० २)

" शोभा और पुष्टिओ यत्रमानको मिलती हैं। " अन्नमें " रास " शब्द है जो " चक्र, शोभा " आदिवा शब्द है। गोग-मार्गसे प्राणकी उपसना करनेसे नष्ट प्रत्यक्ष फल प्राप्त होता है। इसके साथ " शरीर—प्रतिष्ठा " अर्थात् शरीर स्थापन कर फल जो कि मंत्र ५ में कहा है, वह भी यही देखने योग्य है, क्योंकि " शरीरकी प्रतिष्ठा " भी शरीरकी शोभा और पुष्टि होने से ही हो सकती है।

बीजशक्ति ।

इस भागके अनुष्ठानसे और एक महत्त्वपूर्ण शक्ति प्राप्त होती है, उसका वर्णन द्वितीय मंत्र द्वारा हुआ है—

शुक्लस्य रतः प्रसुप्स्यः देवाः गानुं पच । (मं० २)

" त्रिभुवनका बीज फैलनेवाले देव इसके योग्य मार्ग देते हैं। " त्रिभुवनके अंदर अर्धत पदार्थ हैं और उन पदार्थके अनंत स्रस्र बीज हैं, यही त्रिभुवनका ' रत ' अथवा बीज है। यह बीज सूर्यादि देवोंके पास है। यह बीज शक्ति इन देवोंसे सब उपसकी प्राप्त होती है जो प्राणकी पूर्णतः प्रचर करवा करता है। मनुष्यमें प्रतिष्ठासे जो बीज काम होनेका वर्णन योगसूत्रमें है वह बीज यही है। पाठक विचार करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि बीजमें केन्द्रीभूत शक्ति होती है और वह बीज शरीर शक्ति है, उसका विस्तार अपरिमित हो सकता है। यह बीजशक्ति यदि अपने अंदर आगई, बची या घुटिगत हुई, तो अपनी शक्ति बहुत ही बर्ध सकती है। योगिके अंदर जो विकसल शक्ति आती है उसका कारण यही है कि, वह सूर्यादि देवोंसे बीजशक्ति प्राप्त करता है और उसका उपयोग करता है।

योगीका अन्न ।

द्वितीय मंत्रके उपारंभमें योगिके सेवन करने योग्य सात्विक अन्नका वर्णन हुआ है—

यत् दशमानं उपाकृतं देवानां मियं पायः अस्यात्

स्य अपि पदु ॥ (मं० २)

" जो दशरति संघर्षी उसका संस्कार किया हुआ देवोंके प्रिय अन्न होता है वह अन्न हमें प्राप्त हो। " इसमें दिव्य अन्नका योकाया वर्णन है। अन्न नरम अर्थात् सुपच हो, हाजमा बिगाड़नेवाला न हो। "दशमानं" शब्द चन्द्र या शोम औषधि का शब्द है। यह देवोंका अन्न है। शोम मनस्पतिका रस ही है। इस रसमें गोधा ताजा दूध मिलाया जाता है और सगुं भी मिला होता है। यह रस पुष्टि कान्ति और बल बढ़ानेवाला है। अन्न (देवानां मियं) देवताओंके लिए प्रिय हो, देव शब्दका अर्थ इन्द्रिय भी है। यह अर्थ लेनेसे अन्न ऐसा हो कि जो इन्द्रियोंका हित करनेवाला, अर्थात् इन्द्रियोंके लिए हितकारी हो, यह अर्थ इसी वाक्यसे मिलता है। कोई पदार्थ ऐसा नहीं लेना चाहिए कि जो शरीरकी हानि करनेवाला हो और इन्द्रियोंके निर्बल करने-वाला हो। इस मंत्रका " पायः " शब्द भी पीने योग्य अन्नका बोध करता है। यह सब मनस्पतिअन्न रसकर बलवर्धक और पुष्टिकारक अन्नका बोध करनेवाला वर्णन है। हृष के साथ सोमरस या अन्न, अथवा औषधिरस आदि सेवन करना बन्ध है। सोमरस पायकी विधि यज्ञप्रकरणमें प्रसिद्ध है।

मुक्तिका मार्ग ।

दुःख मंत्रमें मुक्ति का बीजा मार्ग बनाया है, जो हर एक को मनमें धारण करना चाहिए—

ये दीप्यानाः मनसा चक्षुषा च बध्यमानं यतु नन्वेकन्त । (मं० ३)

“ जो तेजस्वी लोग बद्ध हुए को मनसे और आँखसे अनुकम्पाकी दृष्टि देखते हैं, ” वे मुक्तिके अधिकारी हैं। वेही बंधनसे छूट सकते हैं और केवल धाम में पहुँच कर विराजमान हो सकते हैं ।

स्वयं (दीप्यानाः) तेजस्वी होते हुए, पूर्वोक्त उपेनुग्रहसे अपना तेज त्रिन महात्माओंसे बढाया है, उनकी चाहिए, कि वे अपने (मनसा) मनसे, अपने अन्तःकरण के गहरे मन्थने तथा अपने (चक्षुषा) आँखसे बंधनमें फँसे, गुलामोंमें खरनेवाले, परतंत्र जीवोंपर दयाही दृष्टिसे देखें अर्थात् यहाँ केवल आँखसेही देखना नहीं है अपितु अन्तःकरणसे—उनकी हीन अवस्थाको धोखता है, उस अवस्थाका दिक्रमे मनन करना है और उनकी सहायता करनेके लिए अपनी ओरसे जहाँ तक हो सकता है वहाँ तक दान भी करना है । उनकी सहायताके लिए आत्मघमर्षण करना है । जो महात्मा दीनोंके उदारके लिए आत्म घमर्षण करते हैं वेही मुक्तिके अधिकारी हैं । परमात्माको दीनोंके अन्तःकरणमें अनुभव करके उनकी सेवा करना, अपना दीनोंके उदारके प्रयत्नसे परमात्माकी उपासना करना, अर्थात् कार्य जो करते हैं वे मुक्तिके अधिकारी हैं । इनकी मूर्त के वैश्व होती है वह भी देखिये-

प्रथमः संश्रयः विचकमां अग्निः देवः

अग्ने तान् वमुमोक्नु । [मं० ३]

“ प्रभाके छाप रहनेवाला विचका कना तेजस्वी देव पहले उनकी मुक्त करे । ” इस मंत्रमें स्पष्ट शब्दों द्वारा कहा है कि ईश्वर प्रजाके-धाय रहता है, अर्थात् प्रजाओंके अन्तःकरण में रहता है । तीन प्रजाओंमें उसको जो बद्ध होते हैं, वे कष्ट हीन प्रजाकी सेवा करनेसे ही दूर होनेके कारण तीन प्रजाओंकी सेवा करना ही परमात्माकी शक्ति करना है। इधीलिये इस मंत्रके पूर्वमें कहा है कि “ बद्ध स्थितियों में दैन और दुःखी बने हुए जनोंको अनुकम्पा की दृष्टिसे मनसे और आँखसे देखनेवाले पहले पहले मुक्त होते हैं । ” पठक यहाँ परमात्मोपासना का सच्चा मार्ग देखें और उस मार्गसे चलकर मुक्तिके अधिकारी बनें ।

विश्वरूपमें एकरूपता ।

विश्वका रूप अनेक प्रकारका है, विविधता इस विश्वमें स्थान स्थानपर दिखाई देती है, एकसे दूसरा भिन्न और दूसरे से तीसरा भिन्न, वह भेदकी प्रतीति इस जगत्में सर्वत्र है । विचार होता है कि क्या वह भेद सदा रहना है अथवा इसका अन्त होनेकी कोई सुविधा है । चतुर्थ मंत्र कहता है कि भेदमें अभेद देखनेका अन्तःकरण करो, जैसा—

विश्वरूपा विरूपाः सत्यः बहुधा एकरूपाः । (मं० ४)

‘ विश्वमें दिखाई देनेवाले रूप विविध प्रकारके रूप होनेपर भी वे बहुत प्रकारसे एकरूप ही हैं । ’ उदाहरण मध्य पञ्चमों लीजिये— गौरी रूप रंग और आकारसे भिन्न हैं; वह भेद दृष्टि है । इस दृष्टिसे देखनेसे भिन्नता अनुभवमें आती है । अथ वह दृष्टि छेद है और “ वीर्यन ” (गंत) की सामान्य दृष्टिसे सब दौआँको देखिये, इस दृष्टिसे सब विविध गौरी एक योजातिमें मिल जाती हैं । अति दृष्टिसे अमिच्छता और अन्तिक दृष्टिसे मिच्छता का इस प्रकार अनुभव आता है । अथ ग्रामीण पशुओं में गौ, बैल, घोड़ा, भेडा, बकरी, मेंका, पधा, यधी आदि अनेक पशु आते हैं, ये परस्पर भिन्न हैं इंसमें किसी को भी संघा नहीं हो सकती । परंतु वह सब जाति भेदका भिन्नता ‘पशुत्व’ सामान्य में अर्थात् ये सब ‘पशु’ हैं, इस दृष्टिसे देखनेसे छुट्ट हो जाती है और पशुभाव में सब एक दिखाई देते हैं । पशु और मनुष्य निःसंदेह भिन्न हैं, परंतु ‘प्राणी’ होनेके कारण दोनोंकी एकता ‘प्राणी’ भावमें होती है । इसी प्रकार भिन्नता और अमिच्छता का विचार करना उचित है और किछ दृष्टिसे मिच्छता अनुभवमें आती है और किछ दृष्टिसे अमिच्छता दिखाई देती है, इसका निश्चय करना चाहिये । चतुर्थ मंत्र कहता है कि “ विविध रूप होनेपर भी बहुत प्रकार से एक रूपता है ” और इस एकरूपताका विचार करना चाहिये । अपने छरीरमें ही देखिये, प्रायः दस स्थानोंमें विभक्त होनेके कारण उसको दस नाम प्राप्त होते हैं, परंतु वह दस प्रसरका नहीं है, विभिन्न दस कार्य करने पर भी वह सब भिन्नकर एक ही है ।

विभिन्न प्राणोंमें अभिन्न प्राणके कार्यकी देखना ही शक्य ही होत है । इसी प्रकार विभिन्न इंद्रियोंमें अभिन्न इन्द्री (अग्रमात्रा) शक्ति कार्य कर रही है, यह अनुभव करना आजकी दृष्टिसे देखना होता है । इंद्रियोंकी मिलता बना भी जान सकता है, परंतु उनमें एक शक्तिकी शक्ति समान नियमसे कार्य कर रही है, यह देखना विशेष अग्रमात्रा से ही साध्य हो सकता है । इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु, सूर्य आदि विभिन्न पौष्टीय देवताओंमें एक अभिन्न अग्रमात्रा परम शक्ति कार्य कर रही है, विभिन्न प्रकारके विभिन्न जगत्में अभिन्न रीतिसे वह शक्तिप्रसृत हुई है, इस दृष्टिसे जगत् की ओर देखना यह एक उच्च दृष्टिकी आवश्यकता है, इस सब दृष्टिसे जगत्की ओर देखना यह एक उच्च दृष्टिकी आवश्यकता है, इस उच्च दृष्टिसे देखनेवाले महत्त्वा मुक्तिके अधिकारी है । इस विषयमें अतुल्य मंत्रका उल्लेख देखिये-

प्रजया संश्रालः प्रजापतिः वायुः देवः
 तान् अग्ने अनुमीरुतु ॥ (मं० ४)

"प्रजाके साथ रहनेवाला प्रजापति पालक पाग देव उन महानामाओंको पहले मुक्ति को" जो विभिन्न प्रकारके विभिन्न जगत् में अभिन्न एक शक्तिके कार्यका अनुभव करते हैं । पूर्वोक्त मुक्तिके अधिकारोद्योग यह भी एक संभव है । इस रीतिसे इस सूक्तमें मनुष्यकी आदिनक उच्चतिका मार्ग क्रमशः बताया है । यदि पाठक इस दृष्टिसे इन सूक्तों में बार बार करते तो उनको बड़ा बोध प्राप्त हो सकता है । मन्त्र-के लिये वही संक्षेपसे फिर सारांश यह देते हैं-



१ ज्ञानी योगी अपने सब शरीरमें संभार करनेवाले प्राणको अपने सब अवयवों और इंद्रियोंसे इच्छा करके अपने आसन को । इससे शरीरकी रज्जा होगी और प्रजापतिके दिव्य मार्गसे स्वर्गकी प्राप्ति भी होगी । (मं० ५)
 २ प्राण सब द्विपाद चतुष्पादोंका संचालक है, वह स्वाधीन होनेपर पुष्टी और शान्ति बढ़ाता है । (मं० १)
 ३ प्राणको वक्षमें धरनेसे विश्वपालक हृदयमें रहनेसे वही शक्ति प्राप्त होती है, इसके लिये दिव्य सुसंस्कार किया हुआ भोजन करना योग्य है । (मं० २)

४ जो अपने मनसे और आँखसे दानोंको अनुकंपा की दृष्टिसे देखता है और उनके सद्वार करनेके लिये आत्मसमर्पण करता है, उसको विध्वरता देव सबसे पहले मुक्त करता है (मं० ३)

५ जगत् की विविधतामें जो एक शक्तिकी अभिन्न एकताका अनुभव करता है, उसको प्रजापालक त्रिव सभसे पहले मुक्त करता है । (मं० ४)

यह सारांश इस सूक्तका तात्पर्य है । पाठक यदि इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको इस दिव्य मार्ग संबंधी अनेक बोध प्राप्त हो सकने हैं ।

पशु ।

पशु वाचक शब्दके प्रयोग द्वारा इस सूक्तमें ब्रह्मही महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया है । यहाँ पशु शब्दसे गाय घोड़े आदि पशु ऐसा कार्य समझने की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि मनुष्य भी एक पशुही है । जब तक इसके पशु भावका पूर्णतया भाव नहीं होता है तब तक यह पशुही रहता है । जितने प्रमाण से इसका पशु भाव दूर होगा, उतने ही प्रमाणसे इसके मनुष्यत्व का विकास होगा । मनुष्य शरीरके अंदर सब इंद्रियाँ पशुरूप ही हैं ; इस शरीररूपी रथको ये इंद्रिये पशु जोते हैं । इन पशुओंके सम्मत् होनेसे इसका सर्वश्व नाश हो सकता है । इसलिये इन पशुओंको दशाधीन करनेका प्रयत्न मनुष्यवैा करना चाहिये । मनके अंदर भी काम क्रोधदि पशुभाव हैं । इन सब पशुओंको सुशिक्षासे बंध करना चाहिये और मनुष्यत्व (मननशास्त्र) का विकास करना चाहिये । मनुष्यत्व ब्रह्मके आरंभ होनेके पश्चात् ही इन सूक्तके उपदेशका अनुष्ठान करनेका अधिकार मनुष्यको प्राप्त हो सकता है । इत्यादि विषय पाठक करें और इस सूक्तमें अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करनेकी प्रार्थना करें ।



यज्ञमें आत्मसमर्पण ।

(३५)

(ऋषिः-अंगिराः । देवता-विश्वकर्मा)

ये भक्षयन्तो न वसून्पानुषुर्धानुभयो अन्वर्तयन्तु विश्वर्याः ।

या तेषामव्या दुरिष्टिः स्विष्टिं नुस्तां कृणवद्विश्वकर्मा

॥ १ ॥

यज्ञपतिमूर्पय एनंसाहुर्निर्मक्तं प्रजा अनुत्पद्यमानम् ।

मथ्यव्यान्तिस्तोकानप यान्प्राघ सं नृष्टोभिः सृजतु विश्वकर्मा

॥ २ ॥

अर्थ—(ये भक्षयन्तः) जो मनुष्य अन्न सेवन करते हुए भी (वसूनि न आनुषुः) अच्छी बातोंकी दृष्टि नहीं करते, तथा (यान् विश्वर्याः) जिनके संबंधमें बुद्धिके अग्नि (अन्वर्तयन्तः) प्रख्यापण करते हैं, (तेषां या अव्या दुरिष्टिः) उनकी जो अव्यवहारिक सदेव दृष्टिको पदलि है, (विश्वकर्मा तां नः सुनृष्टिं कृणवत्) विश्वका रचयिता देव इसको हमारे लिये उत्तम दृष्टि बनावे ॥ १ ॥

(प्रजाः अनुत्पद्यमानं) प्रजाओंके संबंधमें अनुत्पाप करनेवाले (यज्ञपतिं मूर्पयः एनसा निर्भक्तं आहुः) यज्ञके पति को ऋषि पापसे मुक्त कइते हैं । (यान् मथ्यव्यान् रतोकाप य राघ) जिन मथने योग्य रसभागोंको समर्पित करता रहा (विश्वकर्मा तेषां नः सं सृजतु) विश्व की रचना करनेवाला उनके साथ हमें संयुक्त करे ॥ २ ॥

भावार्थ—जो अन्न खाते हुए भी भोग कर्तव्योंको नहीं करते, जिसके कारण उनको बुद्धियोंके अंदर रहनेवाले अग्नि भ्रष्टा प्रख्यापण करते हैं, उनसे जो दोष होते हैं वे सुधर जाय और विश्वकर्ताकी कृपासे वे हमारे सत्कर्ममें संमिलित हों ॥ १ ॥

अदान्वान्तसोमपान्मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्तस्ये न धीरः
यदेनंश्चकृचान्यद् एष तं विश्वकर्मन्प्र मुञ्चा स्वस्तये ॥ ३ ॥
घोरा प्रार्थयो नमो अस्त्वैभ्यश्चक्षुर्यदेषां मर्नसश्च सत्यम् ।
बृहस्पतये महिष द्युमन्मो विश्वकर्मन् नमस्ते पादांस्मान् ॥ ४ ॥
यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मर्नसा जुहोमि ।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥ ५ ॥

अर्थ- (सोमपानं नपान्मानः सःसमानः) सोमपान-पण करनेवालों को दान देने अथवा समझनेवाला (न यज्ञस्य विद्वान्) न तो यज्ञ का ज्ञाता होता है और (न समये धीरः) न समयपर धैर्य धरनेवाला होता है । (पदः बद्धा षट् पदाः चकृचान्) यह बद्ध हुआ मनुष्य जो पाप करता है, हे (विश्वकर्मन्) विश्वके रक्षयिता ! (सं स्वस्तये प्रमुञ्च) उसको कष्टभाणके लिये सुखा कर दो ॥ ३ ॥

(ऋषयः घोराः) ऋषि लोग बड़े तेजस्वी होते हैं, (पृथ्वः नमः यस्तु) इनके लिये नमस्कार होवे । (यद् एषां चक्षुः मर्नः च सत्यं) क्योंकि इनका आंख और मन सत्यभावसे पूर्ण होता है । हे (महिष विश्वकर्मन्) विश्वके बळवान् रक्षयिता । (बृहस्पतये द्युमन् नमः) ज्ञान पाठके लिये श्वक नमस्कार हो, (नपान् पाहि) हमारी रक्षा कर, (ते नमः) तेरे लिये नमस्कार हो ॥ ४ ॥

(यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिः मुखं च) जो यज्ञका आंख, जगणकर्ता और मुखके समान है उनको (वाचा श्रोत्रेण मर्नसा जुहोमि) वाणी कान और मनसे मैं अर्पण करता हूँ । (सुमनस्यमानाः देवाः) बख्त मनवाले देव (विश्वकर्मणा विततं इमं यज्ञं आपस्तु) विश्वके कर्तृद्वारा कैसावे हुए इस यज्ञके प्रति आशावे ॥ ५ ॥

भाषार्थ- बुद्धी प्रजाजनों के संवेध में हृदयसे तपनेवाले यज्ञकर्ता पुरुषको विधाप समझते हैं, जो धीम का मन्थन करते पाण करता है उनके पाव विश्वकर्माकी कृपासे हमारा संबंध जुट जावे ॥ २ ॥

जो यज्ञ करनेवाले प्राणियोंकी दान देनेके लिए अथवा समझता है, न उसको यज्ञ ही तत्त्व समझता होता है और न वह समझपर धैर्य दिखानेमें समर्थ होता है । यह अज्ञानी मनुष्य इस बद्ध अवस्थामें जो पाप करता है, उससे विश्वकर्ता ही उसे सुखावे और उसका कष्टभाण करे ॥ ३ ॥

ऋषि बड़े तेजस्वी और प्रभावशाली होते हैं क्योंकि उनके मनमें और आँखमें सत्य चमकता रहता है । उष हानी के सिद्ध हम प्रणाम करते हैं, हे सर्वशक्तिमान विश्वके कर्ता ! हमारी सब प्रकारसे रक्षा कर, तेरे लिए हम नमन करते हैं ॥ ४ ॥

मैं अपनी वाणी कान और मनसे यज्ञ के चक्षु पेट और मुखमें आभारार्पण करता हूँ क्योंकि विश्वदत्तनि यह यज्ञ फैलावा है, जिसमें सब देव आकर कार्य करते हैं ॥ ५ ॥

अयाजकोंकी निन्दा ।

प्रथम और तृतीय मंत्रमें अयाजकोंकी निन्दा की है । कहा है कि—“ जो अन्न खाते हुए भी यज्ञ जैसे कर्तव्योंको करनेकी रक्षा नहीं रखते, अन्य कर्तव्यों भी नहीं करने, छद्मावनाओं नहीं फैलाते ” (मं० १) उनकी छद्मता कैसी होगी ! मनुष्यकी बुद्धिमें कई प्रकारके अंधि हैं, वे सत्कर्म, छद्मावना और छद्मिधारेके अभाव के कारण, इसकी बुद्धिमें अज्ञानके कारण पक्षात्पात करते हैं । क्योंकि कुछ मार्गमें यह मनुष्य सदा रत होनेके कारण उन बुद्धि क्षतिकोंका विकास नहीं होता । “ पिप्ला ” शब्द बुद्धिका वाचक है उसमें रहनेवाला “ पिप्लवः अंधिः ” है । हरएक मनुष्यकी बुद्धिमें यह रहता ही है । ऐसा मनुष्य जो बुद्धिमें करता है, उससे उसको परमात्मा ही बचावे और तब सुखकर प्रयास्ततम यज्ञकर्ममें रत हो जावे (मं० १) । यज्ञ करनेवाले

ब्रह्मण्य श्रेष्ठ होते हैं, इस विषयमें किसीको भी संदेह नहीं हो सकता। परंतु “ जो मनुष्य ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको भी दानके लिए पात्र नहीं समझता, न तो उसको यज्ञका तप और न उसको समय का महत्त्व समझता होता है। यह उसकी बद्ध स्थिति है, ह्यस्य स्थितिमें जो वह पुत्र कर्म करता है वह तो पापमय होनेमें संदेह ही नहीं है, परमात्माही उसे इस पापसे बचावे और सन्मार्गपर चलावे। (मंत्र० ३) ”

इस रीतिसे इन दो मंत्रोंमें अयाजकोंकी निन्दा की है।

याजकोंकी प्रशंसा ।

द्वितीय मंत्रमें याजकोंकी प्रशंसा की है। “ जो दान और दुखी प्रजाकी ओर अनुतापकी भावनासे देखता है और उनके कल्याणका चिंतन करता है वह याजक निष्पाप है, ऐसे याजकोंके साथ परमात्माकी कृपासे हमारा स्थिर संबंध होने। ” (मं० २) यज्ञसे ही पाप दूर होता है और दूसरोंकी भलाईके लिए आत्मसमर्पण करना यज्ञ है जो पाप दूर करनेमें समर्थ है।

ऋषियोंकी प्रशंसा ।

चतुर्थ मंत्रमें ऋषियोंकी प्रशंसा इस प्रकार की है— “ ऋषि बड़े तेजस्वी हैं और उनके मनमें तथा आत्ममें सत्य रहता है, इन ऋषियोंके लिए नमस्कार है। ” (मं० ४)

इस वर्णनमें (चौरा ऋषयः) ऋषियोंके लिए “ चौर ” वह विशेषण आया है। इसका अर्थ “ उच्च ” श्रेष्ठ उन्नत एवम् होता है। ऋषि उन्नत होनासे हेतु इस मंत्रमें यह दिवा है कि “ उनके मनमें और आत्ममें सदा सत्य रहता है। ” वे असाध्य विचार कभी मनमें नहीं लाते और उनकी दृष्टि सत्यसे उज्वल हुई होती है। यह बात तो ऋषियोंके विषयमें हुई। परंतु यहां हमें बोध मिलता है कि अशुभके मनमें और आत्ममें ओतप्रोत सत्य ब्रह्मणा, वह पुरुष भी ऋषियोंके समान उच्च बनेगा, तब होनेका यह उपाय है। सत्यकी पालना करनेसे मनुष्य उच्च होता है।

विश्वकर्ता की पूजा ।

इस सूक्तकी देवता “ विश्वकर्मा ” है। विश्वका कर्ता एक प्रभु है, उसकी उपासना करना मनुष्य मात्रका कर्तव्य है। “ इसी प्रभुने यज्ञरूपी प्रकृततम सारकर्मका प्रारंभ किया है। ” (मं० ५) इस प्रभुने, आत्मसमर्पण करके संपूर्ण जीवोंकी भलाईके लिए विश्वरूपी महात्मा यज्ञकी रचना सबसे प्रथम की है, इसको देखकर अन्धान्य महात्माभोंने भी विविध यज्ञ करना प्रारंभ किया। इस लिए ऐसे “ विश्वकर्ताको हम नमन करते हैं, यह हम सबकी रक्षा करे। ” (मं० ४) इस रीतिसे उस प्रभुकी उपासना और पूजा करना मनुष्य मात्रके लिए योग्य है।

इस प्रकार यह सूक्त ब्रह्ममें आत्मसमर्पण करनेका उपदेश दे रहा है। यह सूक्त प्रत्येक मनुष्यकी कृष्ता है कि—

वाचा श्रोत्रेण मनसा च तुरोमि। (मं० ५)

“ वाणी, कान और मनसे अर्पण करता हूँ। ” यज्ञमें आत्मसमर्पण करनेकी तैयारी हरएक मनुष्य करे, समर्पण करने के समय पीछे न हटे। क्योंकि इस प्रकारके समर्पणसे ही उच्च अवस्था प्राप्त होती है।

विवाहका मंगल कार्य ।

(३६)

(ऋषिः-पतिवेदनः । देवता-अधीषोमी)

आ नो अग्ने सुमतिं सँभ्रलो गमेद्विभां कुमारीं सह नो भर्गेन ।

जुष्टा वरेषु समनेषु वरुगुरोषं पत्या सौमगमस्त्वस्यै ॥१॥

सौमजुष्टं ब्रह्मजुष्टमयं ग्णा संभृतं मगं । धातुद्वेवस्यं सत्येनं कुजोमिं पतिवेदनम् ॥२॥

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्टु सोमो हि राजा सुमगां कुजोतिं ।

सुशाना पुत्रान्महिषी भवाति गत्वा पतिं सुमगा वि राजतु ॥३॥

यथासुरो मघध्वंशार्केश प्रियो मुगाणां सुषदां वृभूवं ।

एवा मगस्य जुष्टेयमस्तु नारी सम्प्रिया पत्याविराधयन्ती ॥४॥

अर्थ— हे जने ! (अग्ने सह) धनके साथ (सं-मङ्गः) उत्तम वक्ता पति (इमां नः नः सुमतिं कुमारीं) इस हमारी उत्तम बुद्धिवाली कुमारी कन्याको (वा गमेत्) प्राप्त होवे । (अस्वै परवा सौमगं अस्तु) इसको पतिके साथ सौभाग्य प्राप्त होवे । क्योंकि यह कन्या (वरेषु जुष्टा, समनेषु वरुगु) जेहोमिं प्रिय और उत्तम मनवालोंमिं मनोरम है ॥ १ ॥

(सोमजुष्टं) सोम द्वारा सेवित, (ब्रह्मजुष्टं) ब्राह्मणों द्वारा सेवित, (अर्वस्या संभृतं मगं) जेह मनवालोंसे इकट्ठा किया हुआ धन (धातुः देवस्य सत्येनं) धारक देवके सत्य निश्चयने (पति-वेदनं कुजोमिं) पतिकी प्राप्ति के लिये योग्य करता है ॥ २ ॥

हे जने ! (इयं नारी पतिं विदेष्टु) यह स्त्री पतिको प्राप्त करे । (हि सोमः राजा सुमगां कुजोतिं) क्योंकि सोम राजा इसको सौभाग्यवती करता है । यह (पुशान् सुशाना महिषी भवाति) पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई घरकी रानी होवे । यह (सुमगा पतिं गत्वा विराजतु) सौभाग्यवती पतिको प्राप्त करके शोभित हो ॥ ३ ॥

हे (मघध्वं) दग्ध ! (यथा एव आखरः) जैसा यह गुराका स्थान (शृगानां प्रियः सुषदाः वृभूवं) पशुओंके लिये प्रिय और बँटने योग्य स्थान होता है (एवा) ऐसी ही (एवा अ-विराधयन्ती) पतिसे विशेष न करती हुई और (मगस्य जुष्टा इयं नारी) ऐश्वर्यसे सेवित हुई यह स्त्री पतिके लिये (सं प्रिया) उत्तम प्रिय (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

आचार्य-जिधने धन प्राप्त किया है, ऐसा उत्तम विद्वान् वक्ता पति इस हमारी बुद्धिमती कुमारीको प्राप्त होवे । यह हमारी कन्या धैर्यको प्रिय और उत्तम मनवालोंमें सुंदर है, इस लिए इस कन्याके दृढ पतिके साथ उत्तम सुख प्राप्त होवे ॥१॥ सौम्यता, ज्ञान और श्रेष्ठ मन द्वारा संभूत और सत्यमार्गसे प्राप्त किया हुआ यह धन केवल पतिके लिये है ॥२॥ यह स्त्री पतिके प्राप्त करे, परमेश्वर इसे सुखी बनावे; यह स्त्री परमेश्वरकी समान बनकर पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई सुखी होकर शोभित होवे ॥ ३ ॥

भगस्य नात्रमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम् । तयोपप्रतारस्य यो वरः प्रतिकाम्यः ॥५॥
 आ क्रन्दय घनपते वरमामनसं कृणु। सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः ॥६॥
 इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अयो भगः ।
 एते पारिभ्यस्त्वामेदुः प्रतिकामाय वेचंचे ॥ ७ ॥
 आ तं नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः । त्वमस्यै श्रेयोषधे ॥ ८ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

(इति द्वितीयं काण्डम् ।)

अर्थ— हे की ! (पूर्ण अनुपदस्वती) पूर्ण और अदृष्ट (भगस्य नावं आरोह) देवर्ष की इस मौकार पर वह और (तथा उपप्रतारस्य) उसके उसके पास तैरकर जा कि (यः वरः प्रतिकाम्यः) जो वर तेरी कामना के योग्य है ॥५॥
 हे घनपते ! (वरं आक्रन्दय) अपने वर को बुझा और (आ मनसं कृणु) अपने मनके अनुकूल कार्याकारण कर ।
 (सर्वं प्रदक्षिणं कृणु) सब उसके दहिनी ओर कर कि (यः वरः प्रतिकाम्यः) जो वर तेरी कामना के योग्य है ॥६॥
 (इदं गुल्गुल हिरण्यं) यह उत्तम सुवर्ण है, (अयं औक्षः) यह बैल है और (अयो भगः) यह धन है ।
 (एते त्वां पतिकामाय वेचंचे) ये तुझे पतिकी कामना के लिये और तेरे काम के लिये (पतिभ्यः अदुः) पतिको देते हैं ॥ ७ ॥

(सविता ते आ नयतु) सविता तुझे लाने । (यः प्रतिकाम्यः पतिः) जो कामना करने योग्य पति है वह (नयतु) तुझे ले आने । हे औपते ! (त्वं अस्यै श्रेयो) तू इसके लिये धारण कर ॥ ८ ॥

आचार्य—यह श्री-पतिसे कमी विरोधन करे और ऐश्वर्यसे चोभित होती हुई सबकी शिप होवे ॥ ४ ॥
 स्त्री इस पुरुशाभन करी पूर्ण और सुहृद मोक्ष पर चढ़े और अपने शिव पतिके साथ संसार का समुद्र पार करे ॥ ५ ॥
 जो वर अपने मनके अनुकूल हो उस वरको बुझाकर उसके लय आने मनके अनुकूल कार्याकारण करके उसके साथ सम्मान पूर्वक व्यवहार करे ॥ ६ ॥

यह उत्तम सुवर्ण है, यह गाय और बैल है, और यह धन है । यह सब पतिको देते हैं इसलिये कि तुझे पति प्राप्त होवे ॥ ७ ॥

सविता तुझे मार्ग बतावे, तेरा पति तेरी कामनाके अनुकूल चलता हुआ तुझे उत्तम मार्गसे ले चले । औपधियोंने तुझको सुष्टि प्राप्त हो ॥ ८ ॥

वरकी योग्यता ।

विवाहका कार्य अर्थात् मंगलमय है। इसलिये उसके संबंधके जो जो कर्तव्य हैं, वे भी मंगल मानना से करना उचित है । विवाहके मंगल कार्यमें वर और नशु का सबसे प्रधान स्थान होता है । इसलिये इनके विषयमें इस सूक्तके आदेश प्रथम देखेंगे । वरके विषय में इस सूक्तमें निम्नलिखित बातें कही हैं—

१ संमलः = (सं + मलः) उत्तम प्रकार व्याख्यान करनेवाला । (मं० १) जो किसी विषयका उत्तम प्रतिपादन करता है । विशेष विद्वान् ।

यह शब्द वरकी विद्वता बताने रहा है । वर विद्वान् हो, साम्राज्य ज्ञाता हो, चतुर और सम्मान्य विद्वान् हो, केवल विद्वता होनेसे पत्नी नहीं है, कुटुंब पोषणके लिये आवश्यक धन कमानेवाला भी चाहिये, इस विषयमें कहा है—

२ भगन सह कुमारीं आगमेत्—धनके साथ आकर कन्याको प्राप्त करे (मं० १) । अर्थात् पहले धन कमावे और पश्चात्

वन्दनाको प्राप्त परे, विवाह करे । धन प्रप्त न होने की अवस्था में विवाह न करे, क्योंकि विवाह होनेके पश्चात् कुटुंबका परिवार बढ़ेगा, इसलिये तक्षक षोडश करनेकी योग्यता इसमें अवश्य होनी चाहिये ।

३ पतिः नयतु— पति अपनी धर्मपत्नीकी सम्मार्गसे चलाने । धर्मनैतिक मार्गसे चलाने, परंतु साथ साथ वह (प्रति-वाम्यः) पत्नीकी मन कामनाके अनुकूल भी चले । इसका तत्पर्य यह है कि पति अपनी धर्मपत्नीके साथ अन्य कारणसे कर्मा लगाना न करे, धर्मपत्नीपर प्रेम करे, परंतु तक्षकें सचे धर्म मार्गपर चलानेका यत्न करे । (मं० ८)

इह—सूक्तमें इतने आदेश पतिके लिये दिये हैं । इसमें ' १ ' विवाह विषयक कई सूक्त आसुके हैं, उनमें पतिके गुण धर्म और कर्म बताये हैं; उनके साथ इस सूक्तके आदेशोंका प्रचार करना चाहिये ।

बधूकी योग्यता ।

बधूके विषयमें बहुत्रसे उपदेश इस सूक्तमें कहे हैं जो पारिवारिक जयत्नमें रहनेवालोंके महत्त्व मनन करना सीख है । देखिये—

१ कुमारी— कुमार और कुमारी ये शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं । पूर्ण ब्रह्मचर्य स्थिर होनेका भाव सूचित करनेवाले वे शब्द हैं । तक्षक जो पुरोधोंमें जो विकारी भाव मनके अंदर उत्पन्न होता है, वह जिनके मनमें उत्पन्न नहीं हुआ, उनको " कुमार " कहते हैं । यह शब्द अक्षर स्थिर ब्रह्मचर्य धारण करनेवाले का शीतलक है । जब तक मनमें कुमार भाव रहता है, तबतक वीर्यशेष उत्पन्न होता ही नहीं । इस अथम अंशमें " कुमारी " शब्द आया है, जो कन्याका बोध कराता है । कन्या ऐसी हो कि जो कुमारी हो अर्थात् पुष्ट विषयक काम विचार संबंधों अंचलभाव जिसके मनमें किरिचि भी उत्पन्न न हुए हो । यहाँ विवाह के लिये योग्य कुमारी का वर्णन किया है । जिससे तात्पर्यके कारण उत्पन्न होनेवाले दोष जिस कन्यामें उत्पन्न न हुए हो उसका बोध होता है । इसके छोटी आगुमें विवाह करने की पद्धति बताई जाती है ऐसा मनना अनुकूल है, क्योंकि इससे पूर्व बताया ही है कि " पतिकी इच्छा करनेवाली झींका विवाह है । " [देखीं कां० २ सू० ३०] इसलिये इस सूक्तमें छोटी आगुमें विवाह करने की संभावना नहीं है । इस कारण यहाँका " कुमारी " शब्द ऐसी कन्याका बोध कराता है कि जो शीतल तो हो, पतिकी इच्छा तो करती हो, परंतु मनके अंचल विकारोंसे पूर्णतया अलिप्त हो । पाठक इससे समझें कि वेदकी दृष्टिसे कन्याओंकी शिक्षा कभी होनी चाहिये और विवाहके पूर्व उनके मन केसे पवित्र रहने चाहिये । (मं० १)

२ सुमतिः— कन्या उत्तम मतिवाली हो, उत्तम बुद्धिवाली हो । जिसके मनपर सुखरकार हुए हैं ऐसी पवित्र मति धारण करनेवाली कन्या हो । (मं० १)

३ सुमनेषु वीषु लुष्टा वस्तु— उत्तम मनवाले अथ पुढेवाले सेवा करने योग्य और सुंदर कन्या हो । समताके विचार मनमें रखनेवाले, विषम भावना मनमें न रखनेवाले जो अथ लोच होते हैं उनमें आकर विद्याका मनन करनेवाली और अपने राजात्वंके कारण मनोहर ऐसी परिशुद्ध दिनारवाली कन्या हो । ' येशोमें जाने योग्य ' (वेषु लुष्टा) इतना कहने मार्गसे कन्याका धार्मिक दृष्टिसे पवित्र बोधित होता है । कन्या ऐसी हो कि जिसका आचरण काया वाचा मनसे कभी बुरा नहीं हुआ है । शुद्ध आचारसे संपन्न हो और साथ साथ मनोरम तथा दर्शनीय भी हो । कन्यएँ ऐसी बनें, इस प्रकारकी शिक्षा उनके मिलनी चाहिये । (मं० १)

इस रीतिसे कन्याके शुद्धाचारके विषयमें वेदका आदेश है । यह हरएक वैदिक धर्माद्यो सदा मनमें धारण करने योग्य है । कुमार और कुमारीकाओंकी पवित्रता रखकर उनको विवाह संबंधसे जोड़ना वेदको अमार्ष्ट है । इसलिये विवाह के पूर्व कुमार और कुमारीकाओंका इस प्रकारका खेल वेदको अमार्ष्ट नहीं है कि जो अनैतिकी मार्गमें उनको ले आनेकी संभावना रख सकता हो । पाठक इससे सब कुल समझ लें ।

विवाहके पश्चात् ।

विवाह होनेके पश्चात् स्त्रीपुरोधोका परस्पर बर्तान केसा हो इस विषयमें इस सूक्तले अत्यंत उत्तम उपदेश दिये हैं—

मगस्य लुष्टा ह्ये नारी, पत्या भविशाष्यन्ती,

समिया अस्तु ॥ (मं० ४)

“ ऐश्वर्य को प्राप्त हुई यह स्त्री, पतिसे विरोधम करती हुई, पतिको अत्यंत प्रिय हो ” विवाह होनेके पश्चात् स्त्री अधिक ऐश्वर्य में जाती है, इसलिये वह मंत्र सूचित करता है, कि विशेष माग्य और ऐश्वर्य में पहुँचने के कारण वह स्त्री उन्नत न हो, परन्तु पतिके साथ प्रेमसे रहे और पतिमें कभी विरोध न करे । धर्मद्वय आकर पतिका अपमान कभी न करे, परन्तु ऐसा आचरण करे कि जिससे दोनोंका प्रेम दिन प्रतिदिन बढ़जाय । तथा—

सर्वे प्रदासिणं हृणु यो वरः प्रतिकाम्यः । (मं० ६)

“ जो करना है वह पतिको प्रदक्षिणा करके कर जो वर तेरी कामना रूप है । ” प्रदक्षिण करनेका आशय है सम्मान करना आदर प्रदासित करना, सरकार करना । पतिको सरकार करने हुए जो करना है करना चाहिये । पत्नी का “ प्रति-काम ” पति ही होता है । अपने मनके अंदर जो (काम) इच्छा होता है उसका जो वाद्य स्वरूप होता है, उसको “ प्रति काम ” कहते हैं । अपना रूप होता है और शरीरों जो दिखाई देता है उसको “ प्रतिक्रम ” कहते हैं, लेखकी दूसरी प्रति करने का नाम “ प्रति लेख ” है । इसी प्रकार स्त्रीके मनके अंदर के कामका “ प्रति काम ” पति है । पत्नी अपने पतिको अपना “ प्रतिकाम ” समझ और उसका सरकार करके हरएक कर्तव्य करे । तथा—

पत्या ब्रह्मै सौमार्थ्यं ब्रह्मु । (मं० ३)

“ पतिसे इसकी शोभा प्राप्त हो । ” स्त्रीको शोभा पति ही है । पतिविरहित स्त्री शोभा रहित होती है । यह भाव मनमें रखकर धर्मपत्नी मनमें समझे कि अपनी संपूर्ण शोभा पतिके कारण ही, है और उस कारण मनसे पतिका सदा सरकार करे । तथा—

पतिं गत्वा सुभगा विराजतु ॥

पुत्रान् सुखात्मा मेदिषी भवति । (मं० ३)

“ यह स्त्री पतिको प्राप्त करके ऐश्वर्यसे विराजती रहे और उत्तम पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई घरकी रानी बने । ” यही पतिको प्राप्त करके पतिके साथ रहना, पतिके ऐश्वर्यसे अपने आपको ऐश्वर्यवती समझना, पुत्रोंको उत्पन्न करना और घरकी स्वामिनी बनना स्त्रीका कर्तव्य बताया है । कई सिद्धि श्रियाँ संतान उत्पन्न करनेके अपने कर्तव्यसे परावृत्त होती हैं । यह योग्य नहीं है । स्त्रीकी शरीर रचना ही इस कर्तव्यकी सूचना देती है और वही बात इस मंत्र द्वारा बताई है । सुश्रुतति, सुदृढ संतान उत्पन्न करना विवाहित स्त्रीका कर्तव्य ही है । यह बात ध्यानमें रखकर उत्तम सतति निर्माण करने योग्य अपना शरीरस्वास्थ्य रखनेमें श्रियाँ प्रयत्नसे ही दत्तचित्त हो । जो श्रियाँ पहलेसे अपने स्वास्थ्यका विचार नहीं करती, वे आग, संतानोत्पत्ति करनेमें असमर्थ हो जाती हैं । इसलिये श्रियोंके स्वास्थ्यका विचार प्रारंभसे ही करना योग्य है ।

ऐश्वर्य की नौका ।

‘ पद्मम मन्त्रमें गृहस्थाश्रमको ऐश्वर्यकी नौका की उपमा दी है । यह उपमा बड़ी बोधप्रद है । देखिये

पूर्णा अनुप-द्वस्वती भगव्य भावं आरोह ।

यः प्रतिकाम्यः वरः, तथा वप प्रतारथ ॥ (मं० ५)

“ सब प्रकारसे परिपूर्ण और कभी न टूटनेवाली ऐश्वर्यकी नौका यह है, उसपर चढ़ और जो तेरा पति है उसको इस नौका के आश्रय परतार पर ले जा । ” यह गृहस्थाश्रम रूपी नौका है, जिसपर पति पत्नी बहनुतः इकट्ठी ही सवार होती हैं; परन्तु स्त्री घरकी सम्पत्ती होनेके कारण इस स्त्रीको ही नौका चलानेवाली इस मंत्रमें कहा है । वह स्त्रीका बड़ा भारी सम्मान वेदने किया है और साथ साथ स्त्रीके हार्थमें बड़ा भारी आधिकार भी दिया है । वास्तविक घर गृहिणी ही है, इंटोका घर घर नहीं है । इसी प्रकार स्त्रीके होनेसे ही गृहस्थाश्रम होता है और स्त्रीके न होनेसे गृहस्थाश्रम नहीं रहता । इसलिए गृहस्थाश्रममें स्त्रीका महत्त्व विशेष ही है । इस हेतुसे इस मंत्रमें स्त्रीके उद्देश्यसे कहा है कि इस गृहस्थाश्रम रूपी नौकापर स्त्री चढ़े और इस नौका को ऐसे ढंगसे चलावे कि यह सब नौका अपने पहुँचनेके स्थानपर सीधी पहुँचे और मार्गमें कोई कष्ट न हो । इसी प्रकार स्त्रीके अधिकार के विषयमें निम्न लिखित मंत्र भाग देखने योग्य है—

१८ (अ. सु. मा. कां० २)

धमपते । धरं आक्रम्य । आभयसं कृणु । (मं० ६)

“ हे गृहस्थाश्रमके संपूर्ण धनके रक्षामिनि । अपने पतिको नुस्तार उसको अपने धनके अनुकूल कर । ” यह अधिकार है गृहस्थाश्रममें प्रतिष्ठ स्त्रीका । यह स्त्री गृहस्थाश्रम के संपूर्ण ऐश्वर्य का रक्षामिनी है और यदि पति हीन मार्गपर चलने लगे, तो उसको सम्मार्गपर लानेका उसका अधिकार ही है । त्रिविको यह अपना अधिकार जानना चाहिए और इस अधिकारके चलनेकी शोरशता अपने लक्ष्मण लानेका प्रयत्न भी उनको करना चाहिए ।

पुरुषका स्थान ।

जब स्त्रीको गृहस्थाश्रम में इतना अधिकार प्राप्त हुआ है, तब पुरुषका स्थान गृहस्थाश्रममें कहां है, इसका भी विचार करना यहाँ प्राप्त है, देखिए यह स्थान—

धः प्रतिशान्त्यः पतिः नपतु । (मं० ८)

“ कामनाके अनुकूल पति है वह चलाये ” अर्थात् गृहस्थाश्रम का रथ चलाये । स्त्रीको सम्मार्गपर बढाये, गृहस्थाश्रममें यदि कुछ मुठियाँ रही, तो उनको ठीक करे, गृहभ्यवस्थाको दोषयुक्त रहने न दे । यह पुरुष गृहस्थाश्रममें रहता हुआ—

सनिता ये आ नपतु । (मं० ८)

“ यह पति सुर्वके समान स्त्रीको के आवे । ” यह पति घर में सुर्वके समान है । जिस प्रकार सुर्व अपनी मह माताका संभालक है, उसी प्रकार यह गृहस्थाश्रमका सुर्वपति संपूर्ण गृहस्थाश्रमका भालक है । यह पत्नीको धाय लेकर संपूर्ण गृहस्थाश्रम को चलाये । यहाँ पाठक स्मरण रखें कि गृहस्थाश्रम का चलाना तो केवल पतिवै नहीं हो सकता और ना ही केवल स्त्री ही सकता है, दोनोंके द्वारा वस्तुतः यह गृहस्थाश्रम चलाना जाना है । इसीलिए इस सुर्वमें स्त्रीको भी कहा है कि यह गृहस्थाश्रम चलाये और पुरुषको भी मैत्री ही कहा है । इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि, दोनों मिलकर परस्परों के विचार से गृहस्थाश्रम चलायें । दोनोंका समान अधिकार होनेसे दोनोंको समान भासा द्वारा कहा है । यह देखकर गृहस्थाश्रममें स्त्री पुरुष अपने धम अधिकारों को जानकर मिलजुलकर समानतया अपना कार्यका बोझ उठावें और आर्तव्य इस संसार भाग्य को पूर्ण करें । तथा—

सोमो हि राजा सुभगां कृणोति । (मं० ३)

“ सोम राजा इस स्त्री को ऐश्वर्य युक्त करता है । ” यह पति घरमें राजाके समान है । पत्नीको महारानी इससे पूर्व कहा भी है । जब पत्नी दली है, तब पति राजा होनेमें कोई संशय नहीं है । महाराजा रानी एक मत्तसे इस गृहस्थाश्रमका राज्य चलावें । परस्पर में विरोध न होने दें । एक दूसरेके सहायक बनकर उन्नति करते जाव ।

इस अर्थसे वेदने पतिको स्थान गृहस्थाश्रममें निश्चित किया है । दोनोंको उचित स्थान दिया गया है । इसका विचार करके दोनों अपने स्थानके योग्य व्यवहार करके आदर्श गृहस्थी बनें ।

पतिके लिए धन ।

पत्नीकी ओरसे अथवा नष्टके परसे कुछ धन वरको दिया जाता है । देवके रूपमें यह धन नष्टके घरके धरके पास जाता है, इस विषयमें धर्म मंत्र बड़ा स्पष्ट है—

इदं गुप्त्युल्ल हिरण्यं, अयं मौसः, अयो अयः,

पृथे त्वा पवित्र्यः अदुः ॥ (मं० ७)

“ यह सुंदर सुवर्ण है, ये मौस और बैल हैं, यह धन है, यह धन पतिको दिया है । ” यहाँ सम्मान के लिए पति अन्वेष अनुबन्धन हुआ है । धिवाहके मंगल कार्योंमें पतिका ही विशेष सम्मान होना उचित है । यहाँ स्मरण रहे कि यद्यपि यह देव शक्ति परसे पतिके घर आनी है, तथापि यह धन कुमार्गसे कमाया नहीं होना चाहिए । इस विषयमें द्वितीय मंत्र देखिए—

सोमजुष्टं, ब्रह्मजुष्टं, अर्ष्यमा संभृतं मगम् ।

भातुर्वैवहा सत्येन पतिवेदनं कृणोमि ॥ (मं० २)

“ सोम्यवृत्तिसे, ज्ञानसे और श्रेष्ठ मनोवृत्तिसे प्राप्त और इच्छा किया हुआ धन विधाता ईश्वरकी सत्यनिष्ठासे पतिको प्राप्त होने योग्य करता हूँ । ”

“ सोम, ब्रह्म और अर्ष्यमा ” ये तीन शब्द क्रमशः ‘ सोम्य वृत्ति, विद्या—ज्ञान और श्रेष्ठ मन ’ के बोधक हैं । ‘ अर्ष्य-मन ’ का अर्थमन् बनना है, जो श्रेष्ठ मनवालेका योक्तक है । त्रिषका उच्य मन है वह अर्ष्यमा कहलगत है । ब्रह्म शब्द ज्ञान और विद्याका वाचक प्रसिद्ध है, सोम शब्द सोम्यता का केन्द्र होनेमें संका नहीं है । ये तीन शब्द शक्ति और श्रेष्ठ विद्यासे सुसंस्कृत मनोवृत्तिके वाचक हैं । इस मनोवृत्तिसे कमाया हुआ, संग्रहित किया हुआ और बचाया हुआ धन परमेश्वर विषयक सत्यनिष्ठके साथ पतिको समर्पित किया जाना चाहिए । अथवा इस प्रकार प्राप्त किया हुआ धन पतिको समर्पित करना चाहिए । हीन वृत्तिसे इच्छा किया हुआ धन पतिको नहीं देना चाहिए । यहां कन्या विचार करे कि जो धन पतिको दहेजके रूपमें दिया जाता है, वह किस रीतिसे कमाया हुआ है । हीन वृत्तिसे कमाया धन पतिके घरमें इनिता उत्पन्न करेगा । इसलिए सार्वधानीसे और विचारसे दहेजका धन पतिको देना चाहिए । जो दिया जाय वह पवित्र विचारसे कमाया हुआ हो और पवित्र विचार के साथ दिया जाय ।

इस प्रकार इस विवाहके मंगल कार्यका विचार इस सूक्तमें दर्शाया है । इस सूक्तका विचार विवाह विषयक अन्य सूक्तोंके साथ पाठक करेंगे, तो उनको बहुत बोध प्राप्त हो सकता है और ऐसे तुलनात्मक विचारसे वैदिक विवाहकी पद्धति भी ज्ञात हो सकती है ।

यहां कुछ अनुवाक और
द्वितीय काण्ड समाप्त ।





अथर्ववेद द्वितीय काण्ड का ।

थोडासा मनन ।

गणविभाग ।

अथर्ववेदके इस द्वितीय काण्डमें ३६ सूक्त, ६ अनुवाक और २०७ मंत्र हैं । प्रथम काण्डमें ३५ सूक्त, ६ अनुवाक और १५३ मंत्र थे । अर्थात् प्रथम काण्डकी अपेक्षा इस द्वितीय काण्डमें ५४ मंत्र अधिक हैं । इसमें गणोंके विचारसे सूक्तोंके ऐसे विभाग होते हैं—

१ शांतिगण— इस द्वितीय काण्डमें शांतिगणके निम्न लिखित सूक्त हैं,— २, ५-७, ११, १४, ये छः सूक्त शांति गणके हैं । इनमें ७ वीं सूक्त आर्षवी शांति, ११ वीं सूक्त बार्हस्पत्या महाशांति और १४ वीं सूक्त बृहस्पति के प्रकरण रता रहे हैं । अन्य सूक्त सामान्यतया " महाशांति " का विषय बताते हैं ।

२ अन्वनाशन गण— सूक्त ८—१० ये तीन सूक्त अन्व गणके हैं ।

३ आयुष्यगण— सूक्त १५, १७, २८, ३३ ये सूक्त आयुष्य गणके हैं । इनमें ३३ वीं सूक्त आयुष्यगणका होते हुए भी " पुरुषमेघ " प्रकरणमें समाविष्ट है । पाठक यहाँ इस सूक्तका विषय देखकर पुरुषमेघके वास्तविक स्वरूपका भी विचार कर सकते हैं । ३३ वीं सूक्त " यदम नाशन " अर्थात् रोगको दूर करनेका विषय बताता है । मनुष्यके संपूर्ण शरीरके अथवा उससे सब प्रकारके रोग दूर करनेका विषय इस सूक्तमें है और इस कारण यह सूक्त " पुरुषमेघ " प्रकरण के अन्दर आया है । जो लोग समझते हैं कि पुरुषमेघ, नरमेघ, आदि मेंसे मनुष्यादि प्राणियोंका बंध होता है, वे इस सूक्तके विचारसे जान सकते हैं कि मेघमें मनुष्यादि प्राणियोंके बन्धकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत पुरुषमेघ प्रकरणमें मनुष्य के संपूर्ण रोग दूर करके उसको उत्तम आरोग्य देनेका विचार प्रमुख स्थान रखता है । यदि पाठक यह बात इस सूक्तके विचारसे जानेंगे तो; उनको न केवल पुरुषमेघ प्रकरण प्रत्युत योमेघ आदि प्रकरण भी इसी प्रकार गौ भद्रिकोंके ह्यारथ्य साधनके प्रकरण होनेके विषयमें सन्देह नहीं रहेगा । पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करें ।

४ अपराशित गण— २७ वीं सूक्त अपराशित गणका है ।

पाठक इन गणोंके इन सूक्तोंका विचार प्रथम काण्डके इन गणोंके सूक्तोंके साथ करें और एक विषयके सूक्तोंका साथ साथ विचार करके अधिकसे अधिक बाध प्राप्त करें ।

विषय—विभाग ।

द्वितीय काण्डमें प्रथम काण्डके समान ही यह महत्त्वपूर्ण विषय है । इनके विभाग निम्न लिखित प्रकार हैं—

१ आध्यात्मविद्या— इस द्वितीय काण्डमें आध्यात्मविद्याके साथ संबंध रखनेवाले आठ सूक्त हैं । प्रथम सूक्त में " गुप्त आध्यात्मविद्या " का अत्यंत उत्तम वर्णन है । द्वितीय काण्डके प्रारंभमें ही यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण सूक्त आया है । पहले पहले मन आध्यात्मधर्ममें मग्न होता है और इसके मनसे जो आनंद होता है, उसका वर्णन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता । यदि पाठक इसको धृष्ट करके प्रतिदिन ईश्वर उपासनाके समय इस का मननपूर्वक पाठ करेंगे, तो पाठक भी इससे वैधाही आनंद प्राप्त कर सकते हैं । द्वितीय सूक्तमें " एक पूजनीय ईश्वर " का गुणवान है । यह विषय भी आत्माके साथ ही सम्बन्ध रखनेवाला है । १६ वें सूक्तमें " विश्वम्भरकी आत्मा " करनेकी सूचना है । इस अर्थसे ही आध्यात्मिक उन्नति होती है । इसके अतिरिक्त अमरुः निम्नलिखित सूक्त इस आध्यात्मप्रकरण के साथ सम्बन्ध रखते हैं ।

सूक्त	विषय
११ सो सूक्त ...	आत्माके शुभ,
१२ " ...	मन का बल बढ़ाना,
१०, १८ " ...	आत्मसंरक्षण का बल,
३४ " ...	सुखिका सीमा मार्ग,
१५ " ...	निर्भव जीवन,
३५ " ...	यज्ञमें आत्मसमर्पण।

ये सात सूक्त और पूर्वोक्त तीन सूक्त मिलकर दस सूक्त अथवा विषयक दस द्वितीय काण्ड में आगये हैं। प्रथम काण्डकी अवेद्या यह विषय का कण्डमें मुख्यतया विशेष प्रतिपादन दिया है। पाठक इसलिये इन दस सूक्तों का ध्यान ध्यान कर और उचित बोध प्राप्त करें। अधर्षवेदका यही मुख्य विषय है, इसलिये पाठक इस विषयकी और उदासीनतासे न देखें।

सू० २२ "मानसिक बल बढ़ाना," और सू० १५ "निर्भव जीवन" ये दो सूक्त अथवा विषयके अतिरिक्त स्वतंत्र महत्त्व रखते हैं और आरोग्य विषयके साथ भी संबंध रखते हैं, तथापि इनका विशेष संबंध अथवा अतिरिक्तके साथ होनेसे वे यहाँ दिये हैं।

२ आरोग्य और स्वास्थ्य— द्वितीय काण्डका तीसरा सूक्त "आरोग्य" विषय का प्रतिपादन करता है। इसके साथ—

सूक्त ४ ...	अशुभ मणि से आरोग्य,
" ८ ...	क्षेत्रिययोग दूर करना,
" ९ ...	सन्धिवात " "
" २५ ...	पृथिवीसे आरोग्य,
" ३३ ...	यज्ञ माधन,
" ३१, ३२ ...	रोगोत्पादक क्रियाओंका दूर करना।

आरोग्य और स्वास्थ्य से संबंध रखनेवाले इतने सूक्त इस द्वितीय काण्डमें हैं। पाठक इन सूक्तोंका इच्छा विचार करेंगे, तो उनको आरोग्य और स्वास्थ्यके साथ साथ वेदकी भेषज्य विद्या का भी पता लग सकता है। बहुतों सूक्तमें "अशुभ मणि" धारणसे आरोग्य प्राप्त होनेका अद्भुत उदाहरण कहा है। यह अधर्ष वेदकी विशेष विद्या है। जो वेद इस विषयकी खोज करना चाहें वे अधर्षवेदमें इसी प्रकारके कई विषय देखेंगे। कई जगह "मणि" सम्बन्ध अर्थ बदल कर इन सूक्तोंके अन्व अर्थ करना चाहते हैं। यह प्रयत्न उनके अज्ञानका प्रकाशक है। वेदके विषयका ऐसा विवरण करना किशोरी भी उचित नहीं है। "मणि धारण विधि" यह शास्त्रीय उपाय है इसलिये पाठक इसकी खोज प्रेमके साथ करें। विशेष कर सुविज्ञ वैद्य यदि इसकी खोज करेंगे तो चिकित्साका एक नया मार्ग निश्चय सकते हैं।

३ दीर्घायुष्य मासि— पूर्वोक्त विषयके साथ ही यह विषय संबंधित है। चिकित्साका अथवा वैद्यशास्त्रका नाम "आयुर्वेद" है। इसमें भी वैद्य शास्त्र का संबंध "दीर्घ आयुष्य" के साथ कितना है यह बात पाठक जान सकते हैं। इस विषयके सूक्त का कण्डमें निम्न लिखित है—

सूक्त २८ ...	दीर्घायुष्य,
" २९ ...	दीर्घायु, सुष्टि और सुप्रजा।

ये दो सूक्त इस विषयमें इच्छा रखने योग्य हैं।

४ पुष्टि— पूर्वोक्त २९ वें सूक्तमें पुष्टिका संबंध है । इस पुष्टिके साथ २६ वाँ “ गोरस ” का वर्णन करनेवाला सूक्त बड़ा संबंध रखता है । गोरससे ही मनुष्योंकी पुष्टि होती है ।

५ विवाह— पूर्वोक्त २० वें सूक्तमें सुप्रजाका वर्णन है, विवाहसे ही सुप्रजा निर्माण होना संभव है । इस विवाह विषयका उपदेश देनेवाले तीन सूक्त इस काण्डमें हैं—

सूक्त	३०	...	पति और पत्नीका मेल,
”	३६	...	विवाहका मंगल कर्म,
”	३३	...	प्रथम वस्त्र परिधान ।

इनमें सू० १३ “ प्रथम वस्त्र परिधान ” का वर्णन करनेवाला सूक्त विशिष्ट स्त्री पुरुषोंका कर्तव्य बताता है । इसलिये इस तीन सूक्तोंका विचार इच्छा करना योग्य है ।

६ वर्णवर्म— वर्णवर्म का वर्णन करनेवाले निम्न लिखित दो सूक्त इस काण्डमें हैं—

सूक्त	६	...	ब्राह्मण वर्णका वर्णन
”	५	...	क्षत्रिय वर्णका वर्णन,

इसके साथ संबंध रखनेवाले निम्नलिखित चार सूक्त हैं, इस कारण इनका विचार इच्छा ही होना योग्य है—

सूक्त	२०	...	विश्व की प्राप्ति,
”	२४	...	बाहुओंकी अवकलता,
”	१४	...	विपत्तियोंका हटाना,
”	१७	...	दुर्गतिसे बचना ।

वे चार सूक्त क्षत्रिय वर्णके साथ संबंध रखनेवाले हैं और ब्राह्मण वर्णके संबंध रखनेवाले सूक्त निम्नलिखित छः हैं—

सूक्त	७	...	शापको झूठा देना
”	१९-२३	...	शुद्धि की विधि

इस प्रकार इन सूक्तोंका विषयानुसार विभाग है । जो पाठक वेदका अध्ययन मननपूर्वक करनेके इच्छुक हैं, वे इस प्रकार सूक्तोंका विषयानुसार विभाग देखकर एक एक विषयके सूक्त साथ साथ मनन करते जायेंगे, तो वेदके मर्मोंकी अधिक चांग्र जानकारीमें समर्थ होंगे ।

विशेष द्रष्टव्य ।

निर्मय जीवन ।

विषयके महत्त्व की दृष्टिसे इस द्वितीय काण्डमें कई ऐसे विषय हैं, कि भिन्नकी और पाठकोंका ध्यान विशेष रीतिसे खींचना अत्यंत आवश्यक है । इस प्रकारका विषय सूक्त १५ में “ निर्मय जीवन ” नामसे जाया है, यह पाठक अवश्य धारण करना पूर्वक देखें ।

मयही मृत्यु है, जिसके मनमें मय है, जो सदा बरता रहता है, सब बरलोक मनुष्यको आनंद कदापि प्राप्त ही सकता है ! अर्थात् मय और आनंद कदापि इच्छे नहीं रह सकते । मनुष्य तो आनंद प्राप्तिके लिए यत्न करनेवाला प्राणी है, इसलिए उसके अपने अंदरकी मयकी भावना दूर करना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा वह आनंद का भागी नही हो सकता । इस पंद्रहवें सूक्तमें कहा है कि “ निर्मय होनेके कारण सूर्य क्षीय नहीं होता ” इसका अर्थ यह है कि जो कोई निर्मय होकर अपना कर्तव्य पालन करेगा वह भी कदापि क्षीय, अक्षय अथवा दुर्बल नहीं होगा इतना ही नहीं, बल्कि बढ़ता जायगा । शरीरको पुष्टि, मन की बलिष्ठता, आत्माकी शक्ति सब प्रकारसे निर्मयतापर अवलंबित है । निर्मयता के बिना मनुष्यकी उन्नति किसी रीतिसे भी नहीं हो सकती । चार वर्णोंके कर्तव्य, चार आश्रमोंके अथवा अन्य जो भी कर्तव्य मनुष्यको करने होते हैं वे ठीक प्रकार करनेके लिए सबसे प्रथम निर्मयता की आवश्यकता है । पाठक इस गुण का इतना महत्त्व जानकर इस गुणको अपने अंदर बढ़ावें और अपनी उन्नतिका साधन करें ।

जो पाठक निर्भेदता का संबंध मानवी उन्नतिके साप देखते अथवा अनुभव कर सकते हैं, वेही इस गृह्य का गंभीर संदेश जान सकते हैं ।

शुद्धि करण ।

इसी प्रकार ' शुद्धिकरण विधि ' का अर्थ महत्त्व है । सूक्त १९ से २३ तक के पांच सूक्त इस एष्टकी विधयका प्रकाश कर रहे हैं । इनमें उपदेश देनेका ढंगही और है, अन्शोक्त अलंकार भी अपूर्व शिल्प यहाँ पाठक देख सकते हैं । वैदिक उपदेश में ' अग्नि, मातृ, सूर्य, चन्द्र और आप ' ये पाँच देवताएँ कृतात्म महत्त्व रखती हैं, इसी साक्षी इन सूक्तोंके मननसे मिल सकते हैं । वेदका उपदेश जिस समय होता है उस समय सूर्य, चन्द्र आदि देव जल नहीं रहते, वे जाँचित और जामत रूपमें उपदेशका अन्त देते हैं ।

बाह्य देवताओंके अंश बनार अपने शरीरमें वहाँ और बैठे हैं और उनका बाध जगत् से तथा अपनी उन्नतिसे क्या संबंध है, इस बातका ज्ञान जिनको हुआ है, वेही इन पाँच सूक्तोंको ठीक प्रकार समझ सकते हैं । अन्य लोग उतना काम प्राप्त नहीं कर सकते । क्योंकि वेदका शाश्वत पाल करनेके पूर्व उक्त बात ठीक प्रकार समझमें आना अत्यंत आवश्यक है । इन सूक्तोंके स्पष्टीकरणमें इस अपूर्व वैदिक पद्धतिको थोड़ासा आधिकार दिया है । जो पाठक मननपूर्वक इन सूक्तोंका अभ्यास करेंगे वे इस पद्धतिसे समझ सकते हैं ।

मुक्तिका सीधा मार्ग ।

द्वितीय काण्डके ३४ वें सूक्तमें इस मुक्तिके विधि और सरल मार्गका उपदेश हुआ है । मुक्तिका मार्ग बतानेवाले ग्रंथ आर्य शास्त्रों में अनंत हैं, परंतु जो बात अन्य ग्रंथों में वही भी नहीं कही है, वह अपूर्व बात इस सूक्तमें वही है और इस दृष्टिसे इस सूक्त का महत्त्व अत्यंत है ।

' दीन और दुःखी जनोंकी सेवा करके उनके कष्टोंको दूर करना ' यह एक मात्र अर्थवा मार्ग है जो सीधा अनुभव को मुक्ति प्राप्त कर ले जाता है । परमेश्वर जैसा ज्ञानी शूर और धनी मनुष्यों के अंतःकरणों में रहता है, उसी प्रकार दीन, दुःखी और अनाथ जनोंके हृदयों में भी रहता है । परंतु पूर्वोक्त तीनों लोग समर्थ होनेके कारण वे दूरोंसे सेवा अपने अधिकारसे ही ले सकते हैं । परंतु जो दीन और अनाथ रहते हैं, उनके कष्ट दूर कर सकता है ? वे तो दुःखमें सड़ते ही रहते हैं । दीन जनोंकी जो अपने परिवारमें देखता है, वही नहीं, जो दीन जनोंकी अपना ही संरक्षता है, और अपना सुख देखनेके समान मातृसे जो दीनोंकी सुखी करनेका विचार करता है और तदनुकूल आचरण करता है वही मुक्तिके सीधे मार्ग पर है । जो दीन और दुःखी मनुष्योंकी अपना कहता है, वही महारामा है और परमारया वही रहता है । किसी दीन मनुष्यको दुःखी देखकर जो सुखका अनुभव कर-नहीं सकता, परंतु जिसका आरामा सदृशता रहना है वही मुक्तिका अधिकारी है । निर्भयत, दीन और दुःखी मनुष्योंकी रक्षा करनेके लिए ही श्रेष्ठ उपदेशोंमें आरमार्यण किया और उसी कारण वे पूज्य बने हैं ।

इस प्रकार स्पष्ट शब्दोंद्वारा मुक्तिका सीधा मार्ग बतानेका वेद का ही अधिकार है । पाठक वहाँ नेदही अर्थात् देखें और इस सीधे मार्ग पर चलते हुए मुक्तिका परम आनंद प्राप्त करें ।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।



अथर्ववेद का सुबोध भाष्य ।

द्वितीय काण्ड की विषय सूची ।

सबका पिता	२	मात्र उपासना का फल	२१
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य		अपने अंदरकी जीवनशक्ति	"
द्वितीय काण्ड	३	प्राण का प्राण	२२
ऋषि-देवता-छन्द-सूची	"	ऐसा क्यों कहा है ?	"
ऋषिक्रमसे सूक्त	६	विरोधाडम्कार	२३
देवताक्रमसे सूक्त	"	अध्वहारकी बात	"
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य		अध्वेदन का सन्धि-प्राण	"
द्वितीय काण्ड		स्थूलसे सूक्ष्मका ज्ञान	२४
१ गृह्य-अध्यात्म-विद्या	७	प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्ष	"
गृहविद्या	८	प्राणों का आना और जाना	२५
गृहविद्याका अधिकारी	९	प्राणों का पति	"
पूर्व तपारी (प्रथम अधरथा)	"	महापुरु देव	२६
द्वितीय अधरथा	१०	सारांश—	"
तृतीय अधरथा	"	३ आरोग्यसूक्त	२७
पूर्वाधरथा	११	औपधि	२८
सूत्रात्मा	१२	वाहों का उपयोग	"
अमृतका पाम	"	४ अङ्गिह मणि	२९
गुरा	"	तण और जङ्गिह	३०
आरभाग	१३	अङ्गिह मणि के काम	३१
एकरूप	"	मणिपारण	३२
अनुभवका स्वरूप	१४	मणिपर संस्कार	३३
अमृतका ताना और बाना	१५	खोजकी दिशा—	३४
एकके अनेक नाम	"	अङ्गिह मणिसे दीर्घायुष्य	"
बह एकही है	"	बडा रण	"
देवोंका अमृतपान	१६	बलवर्धन	३५
२ एक पूजनीय ईश्वर	१७	बके और विजय	"
गंधर्व और अप्सरा	१८	सृष्टण	"
महान् गन्धर्व	१९	अग्नि	३६
ब्रह्मकी आज्ञा उपासना	२०	५ क्षत्रिय का धर्म	३७
नामस्मरण	२१	क्षत्रिय के गुण	३८

क्षत्रिय के कर्तव्य—	३९	मनको धीरध देना	६१
राज्यशासन	४०	११ आत्माके गुण	६२
प्रजासे सम्मान, भोग	४१	शरीरमें आरमाका कार्य	६३
सोम और मद्य	४१	श्रेयः प्राप्ति, उच्चतिका मार्ग	६४
जीवन संप्राप्त	४१	१२ मनका बल बढ़ाना	६५
६ ब्राह्मणधर्म का आदेश	४२	मानस शक्तिका विकास	६६
अग्नि का स्वरूप	४३	त्यागभाव, शुभवचन, ज्ञान	६७
दीर्घायुष्य, ज्ञान, सत्य	४४	जीवितव्याणी, शाखाछेदन	६८
वेतिका वर्धन	४४	नसंगाख और मझाख	६९
तेजका प्रकार, ऐश्वर्य	४५	सप्तप्राण	७०
स्ववर्षियों की बहवि	४५	नाड ग्रंथी, संवमका मार्ग	७१
भवने घरमें जागना, उरसाह पुरुशार्थ	४५	मरनेकी विद्या,	७२
मित्रभाव, वित्तवृत्तियोंका सुधार	४६	निर्मयभद्रपिकुमार	७३
अभ्योक्तिमसंकार—	४६	आत्मबद्राव, एहके दुःखसे दृमटा दुःखी	७४
भरनिर्घोसे अग्नि	४६	ज्ञानके विरोधी	७५
७ शापको लौटा देना	४७	आनुवंशिक संस्कार	७६
शापका स्वरूप	४७	ईश्वरार्थना	७७
दूतोंका उपयोग	४७	१३ प्रथम वस्त्र परिधान	७८
मनोविकारोंसे हानि	४८	पुत्रके लिये वस्त्र	७९
शापको वापस करना	४८	घरमें वस्त्र जुननेका प्रयोजन	८०
योग मित्र	४९	स्वस्ति, विनाशसे बचाव	८१
हुष्ट हृदय	४९	घन, पुष्टि, दीर्घायु	८२
८ क्षेत्रिय रोग दूर करना	५०	सुख शरीर	८३
क्षेत्रिय रोग, दो औषधियाँ	५०	१४ विपत्तियोंको हटानेका उपाय	८४
९ सन्धिघातकी दूर करना	५१	विपत्तियोंका स्वरूप	८५
संविवाह	५१	तीनभेद, अतमशुद्धि और शृष्ट्युद्धि	८६
ब्रह्मवृद्ध	५२	नीचतामें विपत्तिका उगम	८७
उत्तम वैश	५२	राजा का कर्तव्य, जीवनपुद्	८८
प्रवीणताकी प्राप्ति	५३	१५ निर्मय जीवन	८९
१० दुर्गातिसें यज्ञकेका उपाय	५३	निर्मयतासे अमरण	९०
दुर्गातिका स्वरूप	५४	मझ-झम,	९१
एक मात्र उपाय, शानका फल	५४	सत्य और अनृत मूल और मध्य	९२
उच्चतिका मार्ग	५५	१६ विश्वंमदकी भक्ति	९३
अलंकारकी भाषा—	५५	सैधानर,	९४
स्वकीय मथरन	५६	एक उपाय्य देवों द्वारा रक्षा	९५
प्रार्थनाका बल	५६	१७, १८ आत्मसंरक्षण का बल	९६

बलकी गणना	८५	२९ दीर्घायु, पुष्टि और सुप्रजा	११०
स्वाहा विधि	८६	रस और बल	११२
२२-२३ शुद्धिकी विधि	८७	शतायु	"
पांच देव, पंचायतन	८९	भद्र, बल, धन, सुसन्तान और अ	
पांच देवोंकी ' पांच शक्तियां '	"	हृदयकी कृति	११४
मनुष्यकी शुद्धि, पंचायतन		स्वधा	११५
शुद्धिकी रीति	९१	३० पति और पत्नीका मेल	११ ६
होम करना	९२	अग्निनी देव	११७
२४ डाकूनोंकी असफलता	९३	विवाहका समय	"
दुष्ट लोग	९४	निष्कपट बर्ताव	११८
२५ वृश्चिपर्णी	"	आदर्श पतिपत्नी,	"
रक्त दोष	९५	अभयका स्थान	११९
रोगका परिणाम, उत्पत्तिस्थान बचावका उपाय	९६	खोके व्याप बर्ताव	"
२६ गोरस्त	९८	३१ रोगोत्पादक क्रिमि	१२०
पशुपाकना	९९	क्रिमियोंकी उत्पत्ति	१२१
अभय और वायस आना	"	क्रिमियोंको दूर करनेका उपाय	"
दूध और पोषक रस	१००	३२ क्रिमिनाशन	१२२
२७ विजय—प्राप्ति	१०१	सूर्य किरणका प्रभाव	१२३
विजय के क्षेत्र, वादी और प्रतिवादी	१०२	क्रिमियों के लक्षण	"
युद्धमें विजय	१०३	रोगबीजनाश की विद्या, विवस्थान	"
पाटा औपधी	"	३३ यक्षमनाशन	१२४
शक्ति के साथ बक्तृत्व	१०४	कश्यप—विचक्षण	१२५
अभिदासन का नियम	"	३४ मुक्तिका सीधा मार्ग	"
जलचिह्निलक	"	प्राणका आयाम	१२६
२८ दीर्घायुष्य प्राप्ति	१०५	पशुपति उद्	१२७
दीर्घ आयुष्य की मर्यादा साधन,	१०६	बीजशाक्ति	१२८
कार्यक्षेत्र, वध	१०७	योगीका भद्र	"
ईशपर्यायना	१०८	मुक्तिका मार्ग	१२९
देवचरित्रअवण	"	विश्वरूपमें एकरूपता	"
पाखले बचाव, भोग और पराक्रम	१०९	पशु	१३१
देवोंकी सहायता	"		

३५ यज्ञमें आत्मसमर्पण	१३१	ऐश्वर्यकी नौका	१३०
अथात्रकोकी विन्दा	१३२	पुरपुरका स्थान	१३८
यात्रकोकी प्रसांसा	१३३	पतिके द्विगु घन	"
ऋषियोंकी प्रसांसा	"	अथर्ववेद द्वितीय काण्डका थोडासा मन्त्र	१४१
विश्वकर्ता की पूजा	"	गन्धिमन्त्र	"
३६ विवाह का मंगलकार्य	१३४	विशेष इष्टक	१४३
वरकी योग्यता	१३५	निर्भय जीवक	"
वधुकी योग्यता	१३६	शुद्धिकाम	१४४
विवाहके पश्चात्	"	सुच्छिन्ना साधा मार्ग	"

अथर्ववेदका
द्वितीय काण्ड समाप्त



अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य

तृतीयं काण्डम्

अपने राष्ट्रका विजय !

*

* *

समहमेपां राष्ट्रं स्पामि समोजै वीर्यै षलम् ।
वृश्चामि शत्रूणां चाहननेन हविषाहम् ॥ २ ॥
नीचैः पंचन्तामघरे भवन्तु ये नः सुरिं मषवानं पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणाभिन्नानुर्भयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥
एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्षपामि ।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वैष्टुपां चित्तं विसेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥

अध्या० का० ३११९

“ मैं इन अपने लोगोंके राष्ट्रको बल, वीर्य और प्रभावसे युक्त करता हूँ, तथा मैं शत्रुओंके बाहुओंको इस आह्वानके साथ काटता हूँ ॥ २ ॥

हमारे शत्रु नीचे गिर जाय, जो हमारे ज्ञानियों और धनिकोंपर सेनासे हमला चढाते हैं ये नीचे गिर जाय ॥ ३ ॥

मैं इनके आयुधोंको तीक्ष्ण बनाता हूँ, मैं इनका राष्ट्र उत्तम वीरतासे युक्त कराके बढ़ाता हूँ, इनका क्षत्रतेज अजर और विजयी हों, इनके चित्तको सब देव सचेत करें ॥ ५ ॥ ”



अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

तृतीय काण्ड ।

इस तृतीय काण्डका प्रारंभ 'अग्नि' शब्दसे हुआ है। यह अग्नि देवता प्रकाशकी देवता है। अंधेरका नाश करना और प्रकाशको फैलाना इस देवताका काम है। प्रकाश मनुष्यका सहायक और मित्र है और अंधेरा मनुष्यका घातक और शत्रु है। प्रकाशमें मनुष्य बड़ता है और अंधेरेमें घटता है। इस लिये प्रकाशके देवताका महत्त्व अधिक है और इसलिये इसका नाम मंगल-कारक समझा जाता है। ऐसे मंगल वाचक अग्नि शब्दसे इस काण्डका प्रारंभ हुआ है।

त्रिंश प्रकार प्रथम कांडमें चार मंत्रवाले सूक्त और द्वितीय काण्डमें पांच मंत्रवाले सूक्त अधिक थे, इसी प्रकार इस तृतीय काण्डमें छः मंत्रवाले सूक्त विशेष हैं, देखिये—

६ मंत्रवाले	१३ सूक्त हैं,	इनकी मंत्रसंख्या ७८ है,
७ मंत्रवाले	६ सूक्त हैं,	इनकी मंत्रसंख्या ४२ है,
८ मंत्रवाले	६ सूक्त हैं,	इनकी मंत्रसंख्या ४८ है,
९ मंत्रवाले	२ सूक्त हैं,	इनकी मंत्रसंख्या १८ है,
१० मंत्रवाले	२ सूक्त हैं,	इनकी मंत्रसंख्या २० है,
११ मंत्रवाला	१ सूक्त है,	इसकी मंत्रसंख्या ११ है,
१३ मंत्रवाला	१ सूक्त है,	इसकी मंत्रसंख्या १३ है।

कुल सूक्तसंख्या ३६

कुल मंत्रसंख्या ३३०

प्रथम, द्वितीय और तृतीय इन तीन काण्डोंकी तुलना मंत्रसंख्याकी दृष्टिसे अब देखिये—

काण्ड	प्रकारक	अनुवाक	सूक्त	काण्डप्रकृति	मंत्रसंख्या
१	३	६	३५	सूक्तमें ४ मंत्र	१५३
२	२	६	३६	सूक्तमें ५ मंत्र	२०७
३	२	६	३१	सूक्तमें ६ मंत्र	२३०

सूक्तोंमें मंत्रोंकी जो संख्या होती है वह उसकी प्रकृति होती है, जैसा प्रथम काण्डके सूक्तोंकी प्रकृति 'मंत्र चार' है अर्थात् इस काण्डके सूक्तोंमें चार मंत्रवाले सूक्त अधिक हैं और जो अधिक मंत्रवाले सूक्त हैं वे भी कई सूक्तोंमें चार मंत्रवाले बनाये जा सकते हैं, इसी प्रकार द्वितीय कांडकी प्रकृति पांच मंत्रकी है और तृतीय काण्डकी छः मंत्रकी है, इस विषयमें अथर्व सप्तविंशकमगीषा कथन यह है—

वेनस्तादिति प्रभृतिराकाण्डपरिसमातेः

पूर्वकाण्डस्य सनुर्नचप्रकृतिरित्येवमुत्तरोत्तर काण्डेषु षष्ठं याषदेकैका तावत्सूक्तेष्वुगिति विज्ञानीयात् । (अथर्व० सू० सर्वांतु. १।१।११)

अग्निर्नः इति ... पशुत्वं प्रकृतिरग्न्या विकृतिरिति विज्ञानीयात् । (अथर्व० सू० सर्वांतु. २।१।११)

'पहिले काण्डकी चार ऋचाओंकी प्रकृति, द्वितीय काण्डकी पांच ऋचाओंकी प्रकृति, इस प्रकार छठे काण्डतक एक एक ऋचा सूक्तमें बढ़ती है। तृतीय काण्डकी छः ऋचाओंकी प्रकृति है, अन्य विज्ञति है।'

यद्यपि प्रथम, द्वितीय और तृतीय काण्डकी प्रकृति क्रमशः चार, पांच और छः ऋचाओंकी है, तथापि इन काण्डोंमें कई सूक्त ऐसे हैं कि जो इस प्रकृतिसे अधिक मंत्रसंख्यावाले हैं, इसको अथर्व-सूक्तसंवर्णनकमणिकारने विज्ञति नाम दिया है। विज्ञतिको अर्थ प्रकृतिमें कुछ विशेषता (विशेष कृति) है। यह विशेषता कई प्रकारकी होती है और विशेष रीतिसे मंत्रोंका निरीक्षण करनेसे इसका पता भी लग सकता है, जैसा द्वितीय काण्डके दशम सूक्तको देखिये। द्वितीय काण्डकी प्रकृति पांच मंत्रोंके सूक्तोंकी है, परंतु इस दशम सूक्तमें आठ मंत्र हैं,

अर्थात् यह विकृति है । यह विकृति इस कारण हुई है कि 'यवाहं स्वा ०-० स्तःम् ।' यह मंत्रभाग इस सूक्तमें चारवार आगया है । यदि यह चारवार आया हुआ मंत्रभाग अलग किया जाय और एक मंत्रके साथ ही रखा जाय और दोग मंत्रभागोंके दो दो चरणोंके मंत्र माने जाय तो केवल पाँच मंत्रोंका ही यह सूक्त हो सकता है । इसी प्रकार कई अन्य

रीतियाँ हैं जिसे अन्य सूक्तोंकी लग सकती हैं और विकृतियों प्रकृति बनाई जा सकती है । इससे पाठक जान सकते हैं कि यह विकृति भी सुद्धिपूर्वक ही हुई है और इसके होनेसे सूक्तकी प्रकृतिमें कोई दोष नहीं आता है । इस प्रकार इस काण्डकी प्रकृतिका विचार करनेके पश्चात् भय हृत् तृतीय काण्डके सूक्तोंके क्रमशः ऋषि, देवता और छन्द देखते हैं—

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
प्रथमोऽनुवाकः । प्रथमः प्रपाठकः ।				
१	६	अथर्वा	सेनामोहनं, बहुदेवस्य	त्रिष्टुप्; २ विराहगर्मा भूरिक्; ३, ६ अनुष्टुप् ५ विराट्पुररणिम् ।
२	६	अथर्वा	बहुदेवस्य	त्रिष्टुप्; २-४ अनुष्टुप् ।
३	६	अथर्वा	अग्निः, नाभदेवताः	त्रिष्टुप्; ३ च. भूरिक् पंक्ति, ५, ९ अनुष्टुप् ।
४	७	अथर्वा	इन्द्रः	त्रिष्टुप्; १ जगती; ४, ५ भूरिक्
५	८	अथर्वा	सोमः	अनुष्टुप्; १ पुरोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्, ८ विराट्पुरीषहती ।
द्वितीयोऽनुवाकः ।				
६	८	जगद् भीर्जं पुरयः	वावस्पत्याभर- देवस्यं	अनुष्टुप् ।
७	७	सृष्टु-भंगिराः	यक्ष्मनाशनं बहुदेवता	अनुष्टुप्; ६ भूरिक् ।
८	६	अथर्वा	मित्राः, विश्वेदेवाः	त्रिष्टुप्; २, ६ जगती; ४ च. विराट्बृहतीगर्मा, ५ अनुष्टुप् ।
९	६	वाभदेवः	यावाभृयिबी, विश्वेदेवाः	अनुष्टुप्; ४ च. त्रिष्टुप् बृहती; ६ भूरिक् ।
१०	१३	अथर्वा	अष्टवा	अनुष्टुप्; ४, ६, १२ त्रिष्टुप् ७ च. ८. विराहगर्मातिजगती ।
तृतीयोऽनुवाकः ।				
११	८	महा-सृष्टु-भंगिराः	इन्द्रः, अग्निः, आशुष्यं, यक्ष्मनाशनं	त्रिष्टुप्; ४ शक्वरीगर्मा जगती; ८ च. ५. बृहतीगर्मा जगती; ५, ६ अनुष्टुप्; ७ रणिम्बृ- हतीगर्मा पथ्यापंक्तिः ।
१२	९	महा	वास्तोष्पतिः, शाला	त्रिष्टुप्; ३ बृहती; ६ शक्वरीगर्मा जगती; ७ आर्षोऽनुष्टुप्; ८ भूरिक्; ९ अनुष्टुप्

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१३	७	भृगुः	वदणः, सिन्धुः	अनुष्टुप्; १ निचृत्; ५ विराट्-जगती; ६ निचृदनुष्टुप्
१४	६	ब्रह्मा	नारदिवताः गोष्ठदेवता	अनुष्टुप्; ६ आर्षोऽनुष्टुप्
१५	८	अथर्वा (पथ्यशामः)	विश्वेदेवाः इन्द्राभी	त्रिष्टुप्; १ भूरिक्; ४ व्य. ष. वृहतीगर्भा विराट्छष्टि; ५ विराट्जगती; ७ अट्टुष्टुप्; ८ निचृत् ।
अनुष्टुप्-छन्दः । द्वितीयः प्रपाठकः ।				
१६	७	अथर्वा	बृहस्पतिः बहुदेवत्यं	त्रिष्टुप् । १ आर्षोऽजगती; ४ भूरिक्पंक्तिः ।
१७	९	विश्वामित्रः	सीता	अनुष्टुप् । १ आर्षोऽगयत्री; २, ५, ९ त्रिष्टुभः; ३ पथ्यार्पंक्ति; ७ विराट्पुरवर्णिक् ८ निचृत् ।
१८	६	अथर्वा	वनस्पतिः	अनुष्टुप्; ४ अनुष्टुभगर्भा चतु० वर्णिक्; ६ वर्णिगर्भा पथ्या पंक्तिः ।
१९	८	वसिष्ठः	विश्वेदेवाः, चंद्रमाः, इन्द्रः	अनुष्टुप्; १ पथ्यावृहती; ३ भूरि-वृहती; ६ व्य. ष. त्रि. क. गर्भोत्तिजगती; ७ विराट्छार-पंक्ति; ८ पथ्यार्पंक्तिः ।
२०	१०	वसिष्ठः	अग्निः मंत्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्; ६ पथ्यार्पंक्तिः; ८ विराट्जगती ।
पञ्चमोऽनुष्टुप्-छन्दः ।				
२१	१०	वसिष्ठः	अग्निः	त्रिष्टुप् । १ पुरोऽनुष्टुप्; २, ३, ८ भूरिक्; ५ जगती; ६ उषरि-छाद्विराट्बृहती; ७ विराट्गर्भा; ९ निचृदनुष्टुप्; १० अनुष्टुप् ।
२२	६	वसिष्ठः	बृहस्पतिः, विश्वेदेवाः	अनुष्टुप्; १ विराट्त्रिष्टुप्; ३ पंचपदा परानुष्टुविराट्तिजगती; ४ व्य. ष. नानापदपदाजगती
२३	६	ब्रह्मा	चन्द्रमाः, योनिः	अनुष्टुप्; ५ उषरिष्टाद्भूरिवृहती; ६ रंघोऽर्षोऽवृहती ।
२४	७	भृगुः	वनस्पतिः प्रजापतिः	अनुष्टुप्; २ निचृत्-पथ्यार्पंक्तिः ।
२५	९	भृगुः (जायाशामः)	मित्रावरुणौ क्रमेणुदेवता	अनुष्टुप्

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
पद्योऽनुवाकः ।				
२६	६	अथर्वा	रुद्रः अग्न्यादिबहुदेवत्वं	त्रिष्टुप्; २ त्रिष्टुप्; २, ५, ६ जगती; ३, ४ मुरिह् ।
२७	६	अथर्वा	रुद्रः	अष्टिः; २ अलाष्टिः; ५ मुरिह् ।
२८	६	ब्रह्मा	यामिनी	अनुष्टुप्; १ अतिघस्वरीगर्मा व. अ. जगती; ४ दबनम्भा विरह् कडुन्; ५ त्रिष्टुप्; ६ विराह्-गर्मा प्रस्तारपंक्तिः ।
२९	८	उद्दालकः	धितिपादविः ७ कामः; ८ भूमिः	अनुष्टुप् । १, ३ पथ्यापंक्तिः; ७ इ. व. उगरीशारैवीबृहती कडु० ग० विराह्जगती; ८ अपरिशारैवीबृहती ।
३०	७	अथर्वा	चन्द्रमाः साननरवं	अनुष्टुप्; ५ विण्डवजगती; ६ प्रस्तारपंक्तिः ७ त्रिष्टुप् ।
३१	११	ब्रह्मा	याभ्ये-हा	अनुष्टुप्; ४ मुरिह्; ५ विराह्-प्रस्तारपंक्तिः ।

द्वितीय काण्डके सूक्तके ये ऋषि देवता और छन्द हैं । अथ इनका विभाग ऋषिक्रमानुसार देखिये—

१ अथर्वा- १-५, ८, १०, १५, १६, १८, २६, २७, ३० ये तेरह सूक्त ।

२ ब्रह्मा- ११, १२, १४, २३, २८, ३१ ये छः सूक्त ।

३ वसिष्ठः- १९, २०, २१, २२ ये चार सूक्त ।

४ भृगुः- १३, २४, २५ ये तीन सूक्त ।

भृगु-उंगिराः- ७, ११ ये दो सूक्त ।

५ जगद्धीजं पुरुषः- ६ वाँ एक सूक्त ।

६ वामदेवः- ९ वाँ एक सूक्त ।

७ विश्वामित्रः- १७ वाँ एक सूक्त ।

८ उद्दालकः- २९ वाँ एक सूक्त ।

ये ऋषिक्रमानुसार सूक्त हैं । अथ देवताक्रमानुसार सूक्त देखिये—

१ यह्युदेवत्यं, नाना देवताः- १, २, ३, ७, १४, १६, २६, २७ ये आठ सूक्त ।

२ विश्वेदेवा- ८, ९, १५, १९, २२ ये पाँच सूक्त ।

३ अग्निः- ३, ११, २०, २१ ये चार सूक्त ।

४ इन्द्रः- ४, ११, १९ ये तीन सूक्त ।

५ चन्द्रमा- १९, २३, ३० ये तीन सूक्त ।

६ बृहस्पतिः- १६, २२ ये दो सूक्त ।

७ रुद्रः- २६, २७ ये दो सूक्त ।

८ यमस्पतिः- १८, २४ ये दो सूक्त ।

९ यक्ष्म नाशनं- ७, ११ ये दो सूक्त ।

१० खेना मोहनं- १, २ ये दो सूक्त ।

११ इन्द्राग्नी- १५ यह एक सूक्त ।

१२ सोमः- ५ यह एक सूक्त ।

१३ वनस्पत्यश्वत्थः- ६ यह एक सूक्त ।

१४ मित्रः- ८ यह एक सूक्त ।

१५ धावापृथिवी- ९ यह एक सूक्त ।

१६ वरुणः- १३ यह एक सूक्त ।

१७ प्रजापतिः- २४ यह एक सूक्त ।

१८ मित्रावरुणौ- २५ यह एक सूक्त ।

१९ भूमिः- २९ यह एक सूक्त ।

- २० अष्टका- १० यह एक सूक्त ।
 २१ सिंधुः- १२ यह एक सूक्त ।
 २२ आयुष्यं- ११ यह एक सूक्त ।
 २३ वास्तोष्पतिः- १२ यह एक सूक्त ।
 २४ शाला- १२ यह एक सूक्त ।
 २५ गोष्ठः- १४ यह एक सूक्त ।
 २६ सीता- १७ यह एक सूक्त ।
 २७ योनिः- २३ यह एक सूक्त ।
 २८ कामेयुः- २५ यह एक सूक्त ।
 २९ यामिनी- २० यह एक सूक्त ।
 ३० कामः- १९ यह एक सूक्त ।
 ३१ सामनस्यं- २० यह एक सूक्त ।
 ३२ पाप्म-द्वा- ३१ यह एक सूक्त ।
 ३३ चित्तिपाद्विः- ३९ यह एक सूक्त ।
 ३४ मंत्रोक्ताः- २० यह एक सूक्त ।

इस प्रकार इन सूक्तोंके मंत्रोंकी देवताएँ हैं । इनसे और भी देवताएँ हैं जिनका संबंध पाठक विवरणके समय स्वयं धमस आयगे । अब इन सूक्तोंके गणोंका विचार देखिये—

सूक्तोंके गण ।

इस तृतीय काण्डके सूक्तोंके गण इस प्रकार लिखे हैं—

- १ अपराक्षितगण- १९ वॉ सूक्त ।
 २ तक्षमनाद्यानगण- ७, ११ ये दो सूक्त ।
 ३ चर्चस्यगण- १६, २२ ये दो सूक्त ।
 ४ आयुष्यगण- ८, ११ ये दो सूक्त ।
 ५ दौद्रगण- २६, २७ ये दो सूक्त ।
 ६ अंहोदिगण- ११ वॉ एक सूक्त ।

७ पाप्म-द्वा-गण- ३१ वॉ एक सूक्त ।

८ बृहच्छान्तिगण- २१ वॉ एक सूक्त ।

इस प्रकार ये सूक्त इन गणोंके साथ संबंध रखते हैं । इस काण्डके अन्य सूक्तोंके गणोंका पता नहीं चलता । इस काण्डके सूक्तों द्वारा कुछ शान्तियाँ सूचित होती हैं उनके नाम ये हैं—

१ आंगिरसी महाशान्ति- ५, ६ ये दो सूक्त ।

२ कौमारी महाशान्ति- ७ वॉ एक सूक्त ।

३ ब्राह्मी महाशान्ति- २२ वॉ एक सूक्त ।

इन सूक्तोंका संबंध इन शान्तियोंके साथ है । इस लिये अध्ययन करनेके समय, पाठक इन बातका विचार करें । खोज करनेवालोंको उचित है कि वे इस शांति प्रकरणकी खोज करें अर्थात् इन शान्तियोंका तात्पर्य क्या है और इनकी विधि भी कैसी होती है इत्यादि खोजका विषय है । संभव है कि इस खोजसे अर्ध ज्ञान प्राप्त होगा । इस काण्डमें शत्रुसेनाके संयोगका विषय पहले दो सूक्तोंमें आया है और सामनस्य अर्थात् एकताका विषय तीसरे सूक्तमें आया है—

शत्रुसेनासंमोहनं- १, २ ये दो सूक्त ।

सामनस्यं- २० वॉ एक सूक्त ।

ये सूक्त विशेष विचारपूर्वक इस दृष्टिसे पढ़ने योग्य हैं । इसके अतिरिक्त इस तृतीय काण्डका १५ वा ' इन्द्र महोत्सव ' के विषयका सूक्त है, ऐसा कौशिकी सूत्रमें कहा है । इसलिये इस इन्द्र महोत्सवके विषयमें भी विचार होना चाहिये ।

ये सब विषय बड़े गंभीर हैं इसलिये आशा है कि पाठक भी इसका विचार गंभीरताके साथ करेंगे । इतनी भूमिकाके साथ अब तृतीय काण्ड शुरू किया जाता है ।





अथर्ववेद का सुदोष माण्ड ।

तृतीय काण्ड ।

शत्रुसेना का संमोहन ।

(१)

(कविः— अथर्वा । देशता — सेनामोहनं, बहुवैवाच्यम् ।)

अग्निर्नः शत्रुप्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहंभमिश्रिस्तिमरातिम् ।	
स सेनां मोहयतु परेषां निर्हेस्तांश्च कृणवन्नातर्वेदाः	॥ १ ॥
युयमुग्रा मरुत ईदृशं स्यामि प्रेतं मृणतु सहंश्वम् ।	
अग्निर्मृणन्वसवो नायिता इमे अग्निर्घोषो दूतः प्रत्येतु विद्वान्	॥ २ ॥

अर्थ— (विद्वान् अग्निः) विद्वान् अग्निसमान तेजस्वी वीर (अग्निश्चस्ति अरातिं) घातपात करनेवाले शत्रुको (प्रति दहन्) जलाता हुआ (नः शत्रुन् प्रत्येतु) हमारे शत्रुओंपर चढ़ाई करे । (सः ज्ञातर्वेदाः) वह ज्ञानी (परेषां सेनां) शत्रुओंकी सेनाको (मोहयतु) मोहित करे (च निर्हेस्तांश्च कृणवत्) और उनको हस्तगोहित करे ॥ १ ॥

हे (मरु-उतः) मरुतके लिये तैयार वीरो ! (ईदृशो यूयं उग्राः स्वः) ऐसे समयमें तुम बड़े वीर हो, इस लिये (अग्नि-प्र-इत, मृणत, सहंश्वम्) आगे बढ़ो, काटो, और जीत लो । (इमे नायिताः वसवः) ये वलवान् बचनेवाले वीर (अग्निर्मृणन्) काटते रहे हैं । (अयां दूतः विद्वान् अग्निः) इनका दाहकर्ता ज्ञानी अग्निके समान तेजस्वी वीर (प्रत्येतु) विशेष चढ़ाई करे ॥ २ ॥

भाषार्थ— राजनीतिको जाननेवाले विद्वान् और तेजस्वी पुत्र घातपात करनेवाली शत्रुसेनाको जलाते हुए शत्रुओंपर चढ़ाई करें । सेनासंमोहनकी विद्याको जाननेवाले ज्ञानी शत्रुसेनाको मोहित करें और उनको हस्तगोहित जैसे बना दें ॥ १ ॥

हे मरुतके लिये सिद्ध हुए शूर वीरो ! ऐसे युद्ध समयमें तुम बड़े वीर हो, इस लिये आगे बढ़ो, शत्रुको काटो और उनको जीत लो । ये बलवान् अपने देशनिवासी वीर शत्रुको काटते हैं; इनका साथी ज्ञानी तेजस्वी वीर भी शत्रुको जलाता हुआ शत्रु-पर चढ़ाई करे ॥ २ ॥

अभिज्ञसेनां मधवश्रस्त्राञ्छत्रयतीमभि ।

युवं तानिन्द्र वृत्रहन्निश्च दहतं प्रति

॥ ३ ॥

प्रसृत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्तु शत्रून् ।

जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक्सत्यं कृणुहि चित्रमेपाम्

॥ ४ ॥

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।

अग्नेर्वारस्य ध्राज्या तान्विपूचो वि नाशय

॥ ५ ॥

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो ध्रन्त्वोर्जसा ।

चक्षुष्यमिरा दक्षां पुनरेतु पराजिता

॥ ६ ॥

अर्थ— हे (मधवन् वृत्रहन् इन्द्र) धनवान् शत्रुनाशक सनाद् तथा (च अभिः) हे ज्ञानी ! (युवं) तुम दोनों मिलकर (श्रस्त्रान् शत्रुपतीं अभिज्ञ-सेनां) हमारी शत्रुता करनेवाली शत्रुसेनाको (अभि) पराभूत करके (तान् प्रति दहतं) उनको जला दो ॥ ३ ॥

हे (इन्द्र) नरेन्द्र ! (प्रवता ते हरिभ्यां) वेगसे तेरे हरणशील वेगों द्वारा (प्रसृतः वज्रः) चलाया हुआ वज्र (शत्रून् प्रमृणन् प्र+एतु) शत्रुओंको काटता हुआ आगे बढे । (प्रतीचः, अनूचः, पराचः) अन्यत्र, पीछे और परे भागनेवाले शत्रुओंकी (जहि) हनन कर दे और (परां चित्रं) इन शत्रुओंके चित्तको (सत्यं विष्वक् कृणुहि) ठीक प्रकार चारों ओर भटका दे ॥ ४ ॥

हे (इन्द्र) नरेश ! (अभिज्ज्ञाणां सेनां मोहय) शत्रुओंकी सेनाको धराओ । (अग्नेः धातस्य ध्राज्या) अग्निके और वायुके प्रबंध वेगसे (तान्) उन शत्रुसैनिकोंकी (विपूचः विनाशय) चारों ओर भटकाकर नाश करे ॥ ५ ॥

(इन्द्रः सेनां मोहयतु) नरेश शत्रुसेनाको मोहित कर, (मरु-उतः) मरुतोंके सिधे छिद्र हुए वीर (ओजसा प्रन्तु) वेगसे हनन करें । (अभिः चक्षुषि आदृक्षां) अभि अर्थात् प्रकाश उनके आँखोंसे ले लेवे । इस प्रकार शत्रुकां (पराजिता) पराभूत हुई सेना (पुनः एतु) फिर भी पीछे हटे ॥ ६ ॥

भाषार्थ— हे धनवान् शत्रुनाशक नरेश ! तथा हे तेजस्वी ज्ञानी वीर ! तुम दोनों मिलकर हमारी शत्रुता करनेवाली शत्रुसेनाको पराभूत करो और उनको जला दो ॥ ३ ॥

हे नरेश ! वेगसे चलाया हुआ वृत्रहारा शस्त्रका समुदाय शत्रुओंको काटता हुआ आगे बढे । संमुखसे, पीछेसे और चारों ओरसे भागनेवाली शत्रुसेनाका हनन करके उनके चित्तमें ऐसी धराहट उत्पन्न करो कि जिससे वे चारों दिशाओंमें भाग जाय ॥ ४ ॥

हे नरेश ! अन्यत्रके दाहसे और वायुभ्यासके वेगसे शत्रुसेनाको ऐसा धराओ कि वे चारों दिशाओंमें भाग जाय और कुछ शीघ्रसे उनका नाश कर ॥ ५ ॥

नरेश शत्रुके सैन्यको धराओ, और वीर वेगसे शत्रुसेनाका हनन करें और शत्रुसेनाको ऐसी धराहट करें कि जिससे उनको कुछ भी न शेष पड़े और इस प्रकार शत्रुका पूर्ण पराजय होकर उनका पूर्ण नाश हो जावे ॥ ६ ॥

इसी विषयका द्वितीय सूक्त है इसलिये उस सूक्तका भी अर्थ हम यहाँ पहले देखते हैं, और पश्चात् दोनों सूक्तोंका मिलकर विचार करेंगे । द्वितीय सूक्त यह है—

(२)

(ऋषिः— अथर्षा । देवता — सेनामोहनं, बहुदेवत्वम् ।)

अग्निर्नो द्रुतः प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्मिश्रस्तिमरातिम् ।

स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्ताश्च कृणवज्जातवेदाः

॥ १ ॥

अयमग्निर्ममूहघानि चित्तानि वो हृदि ।

धि वो धमत्वोक्तसुः प्र वो धमतु सर्वतः

॥ २ ॥

इन्द्रं चित्तानि मोहयन्नुवाङ्माहूत्या चर ।

अग्नेर्वारिस्य धाज्या तान्निर्घृचो वि नाशय

॥ ३ ॥

व्याकृतय एपामिताथो चित्तानि मुहयत ।

अथो यदघेषां हृदि तदैषां परि निर्जेहि

॥ ४ ॥

अर्थ— (ऋः द्रुतः विद्वान् अग्निः) हमारा द्रुत ज्ञानी तेजस्वी वीर (अभिशस्ति मराति प्रतिदहन्) पात-पात करनेवाले शत्रुको जलाता हुआ (प्रत्येतु , चगाई करे । (सः जातवेदाः परेषां चित्तानि मोहयतु) वह ज्ञानी शत्रुओंके चित्तोंको मोहित करे और उनको (निर्हस्ताश्च कृणवन्) हस्तहीन जैस करे ॥ १ ॥

(यानि घः हृदि) ओ तुम्हारे हृदयमें संरक्षित हैं वे (चित्तानि) चित्त (अयं अग्निः अमूमुहन्) यह तेजस्वी वीर पचराहटमें डालता है । वह (घः ओक्तसुः विघमतु) तुमको-शत्रुको-परधे निकाल देवे और (यः सर्वतः प्रघमतु) तुमको-शत्रुको-सर्व प्रदेशमें हटा देने ॥ २ ॥

हे (इन्द्र) नरेण ! शत्रुके (चित्तानि मोहयन्) चित्तोंको मोहयुक्त करता हुआ तू (आकृत्या अर्थात् चर) शून्यसंकल्पसे हमारे पास आ । (अग्नेः वातस्य धाज्या) अग्नि और वायुके वेगसे (तान् विघृचः विनाशय) उनको चारों ओरसे नष्ट भ्रष्ट कर दे ॥ ३ ॥

हे (एषां) इन शत्रुओंके (व्याकृतयः) संकल्पों ! (धि) तुम परस्पर विफट हो जाओ, पचान् तुम (इत) हट जाओ (अथो चित्तानि) और इनके चित्तों ! (मुहयत) मोहित होओ । (अथो अथ) और आत्र (यत् एषां हृदि) ओ इनके हृदयमें संकल्प है (एषां यत् परि निर्जेहि) इनका वह संकल्प पूर्णतासे नाश कर ॥ ४ ॥

भावार्थ— हमारे ज्ञानी स्वयंसेवक वीर पातपात करनेवाले शत्रुसेना पर चगाई करें, शत्रुओंको पचराहटमें डालें और उनको हस्तहीन जैस बना देवे ॥ १ ॥

शत्रुके चित्तोंको मोहित करे, उनको चारोंसे निकाल देवे और सब देशसे उनको हटा देवे ॥ २ ॥

हे राजन् ! तू शत्रुसेनाके चित्तोंको मोहित कर, अन्धकार और वायुव्याजके वेगसे उनको चारों दिशाओंमें मगा दे और पचान् विघटपूर्ण शून्य संकल्पसे हमारे पास आ ॥ ३ ॥

शत्रुओंके संकल्प आपसमें एक दूसरेके विरोधी हों, उनके दिलोंमें पचराहट पैदा हो, और उनके दिलोंमें जो संकल्प आत्र हों वे संकल्प कल तक भी स्थिर न रहें ॥ ४ ॥

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्ये परेहि ।

अभि प्रेहि निर्देह हृत्सु श्लोकैर्प्राग्भाभिन्नास्तमसा विध्य शत्रून् ॥ ५ ॥

असौ या सेना मरुतः परंपामसानैत्यभ्योर्जसा स्पर्धमाना ।

तां विध्यत् तमसापव्रतेन यथैपामन्यो अन्यं न जानात् ॥ ६ ॥

॥ ६ ॥

अर्थ— हे (अप्ये) व्याधि । (अमीषां चित्तं प्रतिमोहयन्ती) इनके चित्तमें मोहमें डालती हुई शत्रुसेनाके (अंगानि गृहाण) अंगोंको पकड़े रखो और (परा इहि) प्रेत तक चली जा : (अभि प्र इहि) सब प्रकारसे व्याधि बढ । (हृत्सु श्लोकैः निर्देह) हृदयके श्लोकोंके साथ शत्रुको जला दे । तथा (प्राग्भा तमसा) जहकनेवाले रोगके और मूर्च्छा रोगके (अभिन्नां शत्रून् विध्य) दुष्ट शत्रुओंको प्रस्त कर दे ॥ ५ ॥

हे (मरु-उता) मरुतके लिये लिख बरौ । (परेषां अस्त्री या सेना) शत्रुओंकी यह जो सेना (स्पर्धमाना अस्मान् लोभसा अभि-भा-पति) स्पर्धा करता हुई हमपर वेगसे चढाई करके आती है, (तां अपव्रतेन तमसा विध्यत्) उसकी कर्मक्षीन करनेवाले अंधकारसे मोहित कर डालो, (यथा) मिसधे (परां अन्यः अयं न जानात्) इनमेंसे एक दूसरेको भी न जान सके ॥ ६ ॥

भाष्यार्थ— व्याधियों तथा अन्य भय भी शत्रुके दिलको भयभीत कर दे, शत्रुसेनियोंके अंगप्रसंग व्याधियोंसे जहक जाय, शत्रुसेन्ये रोगोंसे और नाना प्रकारके भयोंसे प्रलत हो जाय । अंधियारा और मूर्च्छा रोग शत्रुको चबरा देवे ऐसे कठिन समयमें समयपर हमला कर और शत्रुके हृदयोंको शोकसे जला दे ॥ ५ ॥

हे और पुत्रवो ! जो सेना हमारे साथ स्पर्धा करती हुई हमपर चढाई करके आ रही है उसकी ऐसा मोहित करो कि वे पुत्रवर्षाईन होकर मूर्च्छितहो ही जाय और उनमेंसे एक मनुष्य दूसरेको जान भी न सके ॥ ६ ॥

सेनाका संमोहन ।

ये दो सूक्त शत्रुसेनाके संमोहनका विषय बता रहे हैं । जो शत्रुकी सेना मारती और काटती हुई अपने राष्ट्रपर अथवा अपने वैमिकोंपर चढाई करके आ रही है, वह मोहित करके, चबराकर पराभूत करनी चाहिये और उसको भगा देना चाहिये । इसका नाम है 'सेना-संमोहन' ।

हई लोग कल्पना करते हैं कि यह शत्रुकी सेनाका संमोहन मंत्रसामर्थ्यसे होता है, परंतु वास्तविक बात ऐसी नहीं है । यह संमोहन केवल चबराहट ही है अर्थात् शत्रुसेना पर ऐसे हमले करने कि शत्रुसैनिकोंको कर्तव्यमूढ बन कर भाग जाना ही एक मार्ग और बचानेके लिये अवशिष्ट रहे ।

ये दोनों सूक्त स्पष्ट हैं और इतने ही विषयका यहाँ अधिक विवरण करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है । तथापि इन सूक्तोंमें हई शब्दप्रयोग ऐसे किये गये हैं, कि त्रिनका विशेष स्पष्टीकरण करना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा संदेह उत्पन्न होना संभव है । इन सूक्तोंमें 'अभि, इन्द्र, मरुत' आदि शब्द हैं, त्रिनके अर्थ देवता प्रसंगमें अभि, विद्युत्, वायु आदि लिये

जाते हैं, तथा अथवा प्रसंगमें वाणी, मन और प्राण लिये जाते हैं; इस विषयका स्पष्टीकरण पूर्व काण्डोंमें आ चुका है । ये दोनों प्रसंग इन दोनों सूक्तोंमें नहीं हैं । इन सूक्तोंका विषय युद्ध है, शत्रुसेना मोहनका संबंध है, अपनी सेना और शत्रु सेनाका झगडा होनेका अंशरह है, इत् लिये यह न अप्यारमर्ष विषय है और ना ही आर्षदेवतका विषय है । प्राणियोंके परस्परके संबंधका बर्षन आधिभौतिक प्रकरणमें हुआ करता है । इस कारण आधिभौतिक प्रकरणको प्राणि समीष्ट विषयका प्रकरण कहा जाता है और इस प्रकरणमें तत्क शब्दोंके अर्थ प्राणि-विषयक होते हैं अर्थात् वहाँ मनुष्यप्राणि विषयक भाव समझना उचित है । अब उक्त शब्दोंके अर्थ देखिये—

१ इन्द्र ।

(इन्द्र) शत्रुसेनाका भेदन करनेवाला, यह इसका धारण है परंतु मुखिया इस अर्थमें इस शब्दका प्रयोग होता है, जैसा-भृगुन्द्र = भृगोका मुखिया, सिद्ध, खगेन्द्र = पक्षियोंका मुखिया, यन्द्र, नरेन्द्र = मनुष्योंमें मुख्य राजा अथवा सम्राट् इ० । इन्द्र शब्दके ये अर्थ प्रसिद्ध हैं, परंतु प्रायः लोग केवल 'इन्द्र'

शब्दका अर्थ 'राजा' करनेके समय बरते हैं। उनको इन दो सूक्तोंका अच्छा मनन करना उचित है। इध मनवसेउनको पता लग जायगा कि ऐसे प्रसंगोंमें मनुष्य विषयक ही इन्द्रादि शब्दोंका अर्थसेना योग्य है। इध विषयको अच्छी प्रकार समझमें आनेके लिये इन दो सूक्तोंके कई वाक्य उदाहरणके लिये लेते हैं—

३ वृत्रहन् ।

' (वृत्र) धेनुवाले शत्रुको (हन्) हनन' करनेवाला । अर्थात् जो शत्रु धेरकर हमला करता है अथवा मार्ग रोकता है उसको अपने शस्त्रोंके प्रभावसे मारता है, उसका यह नाम है ।

इध प्रकार इन्द्रवाचक शब्द और उसके वर्णनपरक मंत्र वीर राजाके कर्तव्य बता रहे हैं। पाठक यह वैदिक शैली जानेंगे तो उनको बहुत मंत्रोंका गभीर आशय इध रीतिसे स्पष्टतया प्थानमें आ सकता है। इन्द्रके साथ ' मरुत् ' रहते ही हैं, इनके विषयमें अब देखिये—

४ मरुतः ।

(मरुत्+वत्) मरनेके लिये जो उठकर खड़े हुए हैं, मरनेके लिये जो तैयार हुए हैं, शत्रुका पराभव करनेके लिये अपने प्राणोंकी आहुती देनेके लिये जो कटिबद्ध हुए हैं, उन वीरोंका यह नाम है। इन्द्रकी सेनाके मरुत् नामक जो वीर हैं उनका अर्थ वर्णन भी इध अर्थको सार्थकता बता रहा है। यह शब्द सैनिकोंका उदाहण बता रहा है। इस प्रकारके उदाहरण वीर जिस सेनामें होंगे उनका विशय निसंदेह हो सकता है। इध शब्दका प्रयोग जिन मंत्रोंमें है उनके उदाहरण यहा देखिये—

१ हे मरुतः ! ईदृशो यूयं उग्रः स्य । अभिप्रेत,
मृणत, सहस्रवम् । (सू. १, मं. २)

२ मरुतः ओजसा मृणु । (सू. १, मं. ६)

३ हे मरुतः ! या अली परेषां सेना स्वर्घमाना
अस्मान् अभ्येति, तां अपम्रतेन तमसा
विष्यत, यथा एषां अभ्यः अभ्यं न जानात् ॥
(सू. २, मं. ६)

' (१) हे मरनेके लिये तैयार वीरों ! ऐसे प्रसंगमें तुम सब बड़े उग्र हो । इस लिये आगे बढ़ो, बाटो और वीरोंको पराभूत करो ॥ (२) वीर लेप बलके साथ वीरोंको काटें ॥ (३) हे वीरों ! यह जो वैरीकी सेना हमारे साथ स्पर्धा करती हुई हमपर घाता कर रही है, उसको कर्मरौन मोहमय तमसे विद्ध करो, जिससे उनका एक मनुष्य दूसरेको पहचान न सके ॥ '

ये मरुतोंके मंत्र स्पष्टतया सैनिक धारोंके कर्तव्य बता रहे हैं। युद्धमें सेनाके वीर केषा उपर कर्म करें, उसका उपदेश यदा इस प्रकार मिल रहा है। इसका मनन करके क्षान्तिजेव युक्त वीर पुष्टोंको बड़ा उदाहण आ सकता है। इसके अन्तर ' वसवः ' शब्द देखिये—

१ इन्द्र ! ते प्रसूतः वज्रः शशून् प्रमृणन् पतु ।

प्रतीचः अनूचः जहि ।

एषां विश्वं विष्यक् कृणुहि ॥ (सू. १, मं. ४)

२ इन्द्र ! अग्निप्राणां सेनां मोहय ।

अग्नेः वातस्य ध्राज्या विषुवः तान् विनाशय ॥
(सू. १, मं. ५)

३ इन्द्र ! सेनां मोहयतु ॥ (सू. १, मं. ६)

४ इन्द्र ! विस्रानि मोहयन् आकृत्या अर्षाह चर ॥
(सू. २, मं. ३)

' (१) हे राजन् ! तेरे द्वारा चलाया हुआ वज्र शत्रुओंको काटता हुआ आगे चले। सब ओरके शत्रुओंका हनन कर । सब शत्रुओंके विश्वको चारों ओर भटकनेवाला कर ॥ (२) हे राजन् ! शत्रुकी सेनाको मोहित कर । अग्नि और वायुके प्रभावसे शत्रुसेनाको चारों ओर भग दे ॥ (३) राजा शत्रुसेनाको धक्का देने ॥ (४) हे राजन् ! शत्रुसेनाको मोहित करके अपने शत्रु संकरवसे हमारे पास चला आ ॥ '

इस प्रकारके ये मंत्र इन्द्र शब्द द्वारा राजाका कर्तव्य बता रहे हैं। यहाँ ' राजा, मरुत्, सम्राट् ' आदि प्रकारका ही इध शब्दका अर्थ है। यहाँ इन्द्र शब्द क्षात्रशिरामणी वीर राजाका वर्णन कर रहा है, जो स्वयं युद्ध भूमिमें उपरिधत रहकर अपनी सेनाको चलाता है, और केवल सेनापति पर ही निर्भर नहीं रहता है। इसी इन्द्रके अन्य पर्याय भी इन सूक्तोंमें आ गये हैं वे अब देखिये—

२ मघवन् ।

' (मघ) धन (वन्) वाला । जिसके पास धन है। जो राजा अपने पास बहुत धनसंप्रद रहता है वही युद्धमें विजय आ सकता है। युद्धमें विजय प्राप्त करनेका यह एक बड़ा मारी साधन है, धनहीन राजा यदि युद्धका प्रारंभ करेगा तो उसके पराभूत होनेमें कोई संदेह ही नहीं है। इस शब्दसे बोध होने वाला यह अर्थ पाठक देखें और राजाका बल धनकोरामें होता है यह बात जान लें । '

५ वसवः ।

वसनेवालोंका नाम ' वसु ' है । जो अपने राष्ट्रमें अपने अधिकारसे बसना चाहते हैं, राष्ट्रके हमले होनेपर भी खरब अपने स्थानसे हिलना नहीं चाहते वे ' वसु ' होते हैं । इन वसुओंके विषयमें अथर्ववेदमें ही अन्य स्थानमें कहा है—

संवसव इति सो नामधेयं उग्रपदया राष्ट्रभृतो
ह्यष्टाः ॥ (अथर्व. ७।१-१।६)

' आपका नाम संवसु (संवसवः) है, आप देखनेके लिये अति उग्र हैं और राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाले हैं और आप राष्ट्रके (अष्टाः) भाग ही हैं । ' इस मंत्रमें वसु उग्र राष्ट्रभृत हैं ऐसा कहा है । इसलिये हम यहाँ इस सूक्तके प्रसंगमें ' वसु ' पदका अर्थ ' उग्र राष्ट्रभृत ' अर्थात् ' खरबोर राष्ट्रीय स्वयंसेवक ' करते हैं । यह अर्थ लेनेसे प्रचलित सूक्तके मंत्रभागका अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है देखिये—

इमे नाथिता वसवः अर्नीमृणान् ।

एषां दूतः अग्निः विद्वान् मध्येतु ॥ (सू. १, मं. २)

' ये प्रभावशाली राष्ट्रभृत वैरी सेनाको कटते हैं । इनका विद्वान् दूत अग्नि वैरीपर बर्बाद करे । ' इस मंत्रमें हमें पता लगता है कि यहाँका अग्नि शब्द वसुओंमेंसे एक वसुका वाचक है अर्थात् यदि उक्त प्रकार ' वसु ' राष्ट्रभृत हैं, तो ' अग्नि ' भी वसुओंमेंसे एक राष्ट्रभृत अथवा राष्ट्रका दूत ' है जो समग्र है और बड़ा बहुर भी है । इन्द्र और अग्निमें यह भेद है, पाठक इसका मनन करें । इन्द्र स्वयं सम्राट् अथवा राजा है, यह स्वयंसेवक या राष्ट्रभृत नहीं है, और अग्नि राजा नहीं है परंतु राष्ट्रभृत है । अग्नि विद्वान् है और इन्द्र धनवान् है । ये विशेषणों द्वारा बताया भेद पाठक मननपूर्वक देखें और सोचें । ये भेद ही वैदिक राज्यव्यवस्था स्वरूप स्पष्ट कर देते हैं । इस प्रकार वसु शब्दका अर्थ देखनेके पश्चात्, और अग्निको उनमेंसे एक जाननेके पश्चात् अब अग्निका अर्थ देखते हैं—

६ अग्निः ।

वसु शब्दके जो लक्षण पूर्व शब्दके वर्णनके प्रसंगमें बताये हैं वे इसके साथ भी संगत होते हैं । यह प्रकाशका देव है, राष्ट्रको जलाता है और उपासकको तेजप्रदान करता है । यह (विद्वान्) ज्ञानी है, समग्र है, कर्तव्य व्यक्तियोंको ठीक प्रकार समझता है । यह (जात-वेदाः = जातं वेदि) बने हुए वस्तु-स्थितियोंको स्यावत् जाननेवाला है । पाठक देखें कि ऐसा योग्य राष्ट्रभृत (दूतः) राष्ट्रका दूत, कितना उपयोगी होगा, और

ऐसे युद्धके प्रसंगमें इस प्रकारके राष्ट्रदूतकी सेवाका कितना लाभ राष्ट्रको हो सकता है ।

अग्नि प्राज्ञ तेज और इन्द्र क्षात्रतेज व्यक्त करता है, जिस समय राष्ट्रपर आपत्ति आती है उस समय वे दोनों मिलजुलकर राष्ट्रधर्म करें, इस विषयकी सूचना इन सूक्तोंमें निकली है । इस विषयका मंत्र देखिये—

हे धृष्टदन् इन्द्र ! अग्निः स यूयं तान् प्रतिददत्तम् ।
(सू. १, मं. १)

' हे वीर राजन् ! तू और ज्ञानी राष्ट्रभृत दोनों मिलकर राष्ट्रको जला दो । ' यहाँ मिलकर कार्य करनेका उपदेश है । क्षात्रतेज और क्षात्रतेज इच्छा होकर वैरीका नाश करें । ऐसा कभी न हो कि वैरी राष्ट्रके दायमें उपस्थित होने और राष्ट्रके वे दोनों भाग आपसमें झगड़ते रहें । यह तो राष्ट्रघातकी अवस्था होगी, इसलिये प्राज्ञान क्षत्रियोंका अपना अभेद देख्य रखना चाहिये और अपने राष्ट्रकी रक्षामें ही अपनी उन्नति देखनी चाहिये ।

ज्ञानुको चवरानेकी रीति ।

वैरीको बरबाना, उसको मोहित करना, उसको अमित करना और उसको परास्त करना, इत्यादिके उपाय हम दो सूक्तोंमें करते हैं । जिनमेंसे हमले करनेकी कई विधियाँ इससे पूर्वके स्थष्टीकरणमें आ चुकी हैं । अब कुछ विशेष ध्यानसे ध्यान करना है जो यहाँ करिये—

१ अग्न्यन्त्र और वायव्यान्त्र के प्रयोगसे वैरीका नाश करनेकी पहिली रीति इन सूक्तोंमें कही है—

अग्नेः पातस्थ भ्राज्या तान् विनाशय ॥

(सू. १, मं. ५। सू. २, मं. १)

' अग्निके वेगसे और वायुके वेगसे उन राष्ट्रभृत्का नाश कर । यहाँ भ्राज्य शब्द है, अग्निधा (प्राज्ञी) महावेग और वायुधा महत्वेग, इनके धकेले राष्ट्रका नाश करना लिखा है । प्राज्ञी शब्दका अर्थ केवल वेग, गति इतना ही नहीं है, जिस वेगके धकेले मनुष्य नष्टप्रथ होते हैं, मनुष्य अपने स्थानपर ठहर नहीं सकते, उस महावेगके प्रबल धकेला आशय इस ' प्राज्ञी ' शब्दमें है । इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँके ' अग्नेः प्राज्ञी, वातस्थ प्राज्ञी ' ये दो शब्द क्रमशः अग्न्यन्त्र और वायव्यान्त्र अथवा इसी प्रकारके शस्त्रान्त्र विधियोंके वाचक होंगे । इसी स्थष्टीकरणमें इससे पूर्व अग्नि शब्दका अर्थ मनुष्य वाचक बताया है, परंतु यह अर्थ यहाँ नहीं है । एक ही सूक्तमें एक ही अग्नि शब्दके दो परस्पर भिन्न अर्थ हैं यह बात यहाँ स्पष्ट

इक्ष्वा वाहिये, अन्यथा अर्थका विपर्यास होनेमें देरी नहीं होगी ।

२ तमसास्त्र— तमसास्त्रका प्रयोग भी इषमें है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है—

तां विध्यत तमसापमतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् । (सू. २, मं. ६)

‘ उस शत्रुसेनाको पुरुषार्थहीन करनेवाले तमसास्त्रके प्रयोगसे विद्वद् बरो जिससे उनका एक सैनिक दूसरे सैनिकको न पहचान सके । ’ इस मंत्रमें ‘ अपमते तमः ’ शब्दका प्रयोग है । तम शब्दका अर्थ ‘ अन्धकार ’ है । अपमतेका अर्थ ‘ कर्महीन ’ है । दोनोंका तात्पर्य ‘ कर्महीन करनेवाला अंधेरा ’ है । इससे शत्रुसेनाको बेध करना है । बेध करनेके लिये शास्त्रका ही वाहिये, अन्यथा बेध नहीं हो सकता । इसलिये इस मंत्रमें तमसास्त्रका उल्लेख है ऐसा स्पष्ट दृष्ट रहता है । अन्धकारास्त्रके प्रयोगसे ही सैनिक एक दूसरेको पहचाननेमें असमर्थ होंगे । इसी अर्थका एक मंत्रभाग प्रथम सूक्तमें है—

अग्निः अक्षुर्यि माद्व्याम् । (सू. १, मं. ६)

‘ अग्नि शत्रुकी आँके के बेधे ’ इस वाक्यका भी आशय तमसास्त्र प्रयोगका ही है क्योंकि यहाँ इन्द्रका ही आँके निकाल देनेका आशय नहीं है, परंतु उनको कुछ भी न देख सके यही आशय है । तथा और देखिये—

अभिमान् सञ्चून् तमसा विध्य । (सू. २, मं. ५)

‘ शत्रुओंको अन्धकारास्त्रसे विद्वद् कर । ’ यहाँका ‘ विध्य ’ शब्द भी अस्त्ररूप तमको सूचित करता है । यह मंत्र अन्यत्र आगया है वह भी यहाँ देखिये—

अग्येन तमसा अभिमान् सञ्चन्ताम् ।

(ऋ० १०।१०।३।१२; यजु० १०।४४;

साम ऋ० १।३।५।१६० १।३।३)

तां गृह्यत तमसापमतेन यथाभी अन्यो अन्यं न जानात् । (यजु० १०।४४)

‘ शत्रुओंको अन्धकारसे ढाँप दो ’ इत्यादि मंत्रभागोंमें भी किसी प्रकारके अस्त्रका ही उल्लेख है अन्यथा बेध करना असंभव है ।

३ अप्वा, प्राही— सूक्त २, मं. ५ में ‘ अप्वा और प्राही ’ इन दो रोगोंके द्वारा शत्रुके चित्तोंको मोहित करने

अथवा उनको त्रस्त करनेका उल्लेख है । ‘ प्राही ’ शब्दका अर्थ संधिवात इसी अर्थमें वेदमें इससे पूर्व अनेक बार आया है । यह अर्थ यदि यहाँ लिया तो संधिवात जैसे जकड़नेवाले रोगद्वारा शत्रुको त्रस्त करनेकी बात व्यक्त हो सकती है । अप्वा शब्दका अर्थ रोग, व्याधि अथवा मय है । परंतु यह सुद प्रसंग है इस लिये इन शब्दोंके कोई दूसरे अर्थ भी होना संभव है । यद्यपि ठीक पता नहीं है तथापि ‘ प्राही ’ शब्दका अर्थ ‘ पाश ’ होना संभव है, जिससे शत्रुको पकड़ा जाय और जकड़कर बांधा जाय । ‘ अप-वे ’ धातुसे यदि ‘ अप्वा ’ शब्द बनाया जाय तो ‘ वे ’ धातुका अर्थ ‘ लग्नु-संतान ’ होनेके कारण अप्वा शब्दका अर्थ ‘ जल अथवा जाला ’ होना संभव है । मंत्रमें—

अप्वे ! परेहि; अमोषां चिन्तानि प्रतिमोहयन्ती अज्ञानि गृहाण ॥ (सू. २, मं. ५)

‘ हे अप्वे ! आगे बढ़, इनके चित्तोंको मोहित करके उनके अंगोंको पकड़ रख । ’ यह अप्वा शब्दका वर्णन स्पष्ट बता रहा है कि इस नामका किसी प्रकारका जाला शत्रुपर फेंका जाता है, जिसमें पकड़े जानेके कारण शत्रु मोहित हो जाते हैं और पश्चात् उनके शरीर परकड़ या जकड़कर बांधे जाते हैं । इस मंत्रमें ‘ परेहि, अंगानि गृहाण ’ आदि वर्णन यह ‘ अप्वा ’ कोई शत्रुपर फेंकने योग्य जालेका अस्त्र है ऐसा विश्व करता है । अर्थात् ‘ प्राही और अप्वा ’ ये दोनों जालेके समान शत्रुको पकड़नेके कुछ साधन विशेष होंगे ऐसा हमारा तर्क है, इस विषयके अर्थके लिये इस समयतक कोई प्रमाण हमें मिला नहीं है । खोज करनेवाले पाठक इस विषयकी विशेष खोज करके अर्थनिश्चय करनेमें सहायता दें ।

मंत्रोंकी समानता ।

इन दोनों सूक्तोंमें मंत्रोंकी समानता है । दोनों सूक्तोंका पहला मंत्र कुछ थोके पाठभेदसे करीब एक जैसा ही है । प्रथम सूक्तका ५ वाँ मंत्र और द्वितीय सूक्तका ३ वाँ मंत्र करीब एक जैसा ही है । प्रथमार्धमें योद्धा पाठभेद है । यह समानता पाठक अवश्य देखें ।

इन दोनों सूक्तोंके मननसे सुद विषयक बहुत ही बोध प्राप्त हो सकता है । आशा है कि इस दृष्टिसे पाठक इन सूक्तोंका अध्ययन करके लाभ उठावेंगे ।

राजाकी स्वराज्यपर पुनः स्थापना ।

(३)

(ऋषिः- अथर्षा । देवता- अग्निः, नानादेवताः)

अचिक्रदत्स्वपा इह भुवदमे ऋषिस्तु रोदसी उरुची ।
 युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदसु आमुं नय नमसा रातहव्यम् ॥ १ ॥
 दूरे चित्सन्तमरुपासु इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम् ।
 पद्मायत्री बृहतीमर्कमंसै सौत्रामण्या दधुपन्त देवाः ॥ २ ॥
 अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्ययतु सोमस्त्वा ह्ययतु पर्वतेभ्यः ।
 इन्द्रस्त्वा ह्ययतु विद्म्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश्व आ पतेमाः ॥ ३ ॥
 श्येनो हव्यं नयत्वा परसादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम् ।
 अभिना पन्यां कणुतां सुगं त इमं सजाता अभिसंविद्वध्वम् ॥ ४ ॥

अर्घ- (इह स्व-पाः भुवत्) यहाँ अपना रक्षण करनेवाला मनुष्य होने ऐसा (अचिक्रदत्) पुकारकर आ गया है । हे (अग्ने) अग्नि ! (उरुची रोदसी व्यसस्व) विश्वतः याकापृथिव्यां अपना तेज फैलाओ । (विश्ववेदसु मरुताः त्वा युञ्जन्तु) सब जाननेवाले मरुत तुझे योग्य बनायें । (रात-हव्यं अमुं) हवनीय पदार्थोंका देनेवाले यह पुष्यको (नमसा आनय) नमस्कारपूर्वक यहाँ का ॥ १ ॥

(दूरे चित् सन्तं विप्रं इन्द्रं) दूर रहनेवाले प्राज्ञ इन्द्रको भी (अरुपासः सख्याय आन्वाद्ययन्तु) तेजसी लोक मित्रताके लिये यहाँ ले आवे । (यत् देवाः) क्योंकि सब देव (सौ-त्रामण्या) सौत्रामणीके द्वारा (गायत्री बृहतीं अर्कं अस्मै दधुयत) गायत्री बृहती रूप अर्चन इसके लिये धारण करते हैं ॥ २ ॥

(अरुणः राजा) राजा अरुण (अद्भ्यः त्वा ह्ययतु) जलके लिये तुझे बुलावे, (सोमः त्वा पर्वतेभ्यः ह्ययतु) नीम तुझे पर्वतोंके लिये बुलावे (इन्द्रः त्वा आभ्यः विद्म्यः ह्ययतु) इन्द्र तुझे इन प्रजाओंके लिये बुलावे । (श्येनः भूत्वा इमाः विशाः आपत) तू श्येन वहाँके समान देव धारण करके इन प्रजाओंमें आ जा ॥ ३ ॥

(अन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तं हव्यं) अन्य देशमें छिपकर घूमनेवाले बुलाने योग्य राजाओं (श्येनः परसाद आनयतु) श्येनवत् शांभ्रगामी दूसरे देशमें ले आवे । (अभिनां सुगं ते पन्यां कणुतां) दोनों अभिनां बुद्धि देने योग्य तेरा मार्ग बनावे । (सजाताः इमं अभि सं विद्वध्वे) सजातीय लोग इसके प्रविष्ट करायें ॥ ४ ॥

भाषार्थ- इस अगतमें मनुष्यको अपना संरक्षण स्वयं करना चाहिये, यह बात पुकार पुकारकर सब आत्पुखोंने कही है । मनुष्य अभिवत् तेजसी बने और अपना प्रकाश अगतमें फैलावे । ऐसे अपने राजाओं सब जाननेवाले वीर धर्मिणन करें और उसको नमनपूर्वक अपने राज्यसर्वोपर स्थापित करें ॥ १ ॥

राजा दूर भी क्यों न गया हो उसको अपने राज्यके दितके लिये तेजस्वी वीर पुनः ले आवें, उतम रक्षण करनेके योग्य प्रबंधसे उसका उत्तम सरकार करें ॥ २ ॥

अलस्थानकी रक्षाके लिये अलाभिते, पर्वतोंकी रक्षाके लिये पर्वतोंका अधिकारी, जनोंकी रक्षाके लिये मनुष्योंका अभिनति किना मुखिया सम्राट्की बुलावे, तब सम्राट् अपने प्रजाओंमें शोभतासे जाकर विराजे ॥ ३ ॥

हृयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत ।

इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विश्वि क्षेममदीधरन्

॥ ५ ॥

यस्ते हवँ विवर्दत्सजातो यश्च निष्टयः ।

अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वायेममिहावँ गमय

॥ ६ ॥

अर्थ— (प्रतिजनाः त्वा हृयन्तु) प्रत्येक प्रकारके लोग तुझे बुलवें। (मित्राः प्रति अवृषत) मित्र तेरा बल बढ़ावें। (इन्द्राग्नी विश्वेदेवाः) इन्द्राग्नी और सब देव (विश्वि ते क्षेमं अदीधरन्) प्रजाजनोमें तेरे लिये क्षेम पारण करें ॥ ५ ॥

हे (इन्द्र) नरेन्द्र ! (यः सजातः) जो सजातीय है (स या निष्टयः) और जो विजातीय है (ते हवँ विश्व-वृत्) तेरे आदरपयिताके नियमों विचार करे, (तं अपाञ्चं कृत्वा) उसको बहिष्कृत करके (यश्च इमं इह अव गमय) पश्चात् इसकी यहाँ लाओ ॥ ६ ॥

भाषार्थ— राजा संकट समयमें अन्य देशमें छिप छिपकर भी क्यों न रहता हों, उसकी पुनः अपनी राजगद्दीपर लाकर बिठाना उचित है, ज्ञानी उसका मार्ग सुगम करें और सजातीय लोग उसको अपने राज्यमें प्रविष्ट करावें ॥ ५ ॥

मित्रजन उस राजाका बल बढ़ावें और उसकी सहायता करें, सब देव प्रजाके समेत उस राजाका कल्याण करें ॥ ५ ॥ यदि सजातीय अथवा विजातीय कोई मनुष्य इस योग्य राजाका विरोध करनेवाला हो तो उसको राज्यसे बाहर करके बड़े आदर उत्कारसे राजाका प्रवेश अपने राज्यमें कराना चाहिये ॥ ६ ॥

यहाँ द्वितीय सूक्तका अर्थ और भाषार्थ हुआ। इसीके साथ चतुर्थ सूक्तका अर्थतः प्रति संबंध है इसलिये उसका अर्थ और भाषार्थ पहले देखकर पश्चात् दोनों सूक्तोंका मिलकर विचार करेंगे—

राजा का चुनाव ।

(४)

(ऋषिः— अथर्वा । देवता— इन्द्रः, नानादेवताः)

आ त्वा गन्तुं सह वर्चसोर्दिहि प्राह विशां पतिरेकराद् त्वं वि राज ।

सर्वांस्त्वा राजन्प्रदिशो ह्ययन्तुपसद्यो नमस्यो मवेह

॥ १ ॥

अर्थ— हे राजन् ! (राष्ट्रं त्वा आगन्) यह राष्ट्र तुझको प्राप्त हुआ है, अब (वर्चसा सह उद्+इहि) तेरके साथ उदयको प्राप्त हो । (विशांपतिः प्राह एकराद् त्वं विराज) प्रजाओंका स्वामी प्रसन्न एक सम्राट् होकर तू विराजमान हो । (सर्वाः प्रदिशः ह्ययन्तु) सब दिशा और उपदिशाएं तुझे पुकारें और (इह उपसद्यः नमस्यः मय) यहाँ पाठ पहुंचने योग्य और नमस्कारके लिये योग्य हो ॥ १ ॥

भाषार्थ— हे राजन् ! यह राष्ट्र अब तुझको प्राप्त हुआ है अब अपने तेजको प्रकाशित कर, सब प्रजाओंका एक सम्राट् होकर विराजमान हो । सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाले सब लोग तुझे ही पाहें और तू सबके लिये प्राप्त होनेवाला बनकर सबके सुपूजित हो ॥ १ ॥

३ (अथर्व. भाष्य. काण्ड ३)

त्वां विशो वृणतां राज्यायि त्वामिमाः प्रदिशुः पञ्च देवीः ।
 वर्ष्मन्राष्ट्रस्य ककुदिं श्रयस्व ततो न उग्रो वि भञ्जा वसनि ॥ २ ॥
 अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाता अग्निर्दुतो अञ्जिरः सं चराते ।
 जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं वृलिं प्रति पश्यासा उग्रः ॥ ३ ॥
 अश्विन! स्वाग्ने मित्रावरुणोमा विश्वं देवा मरुतंस्त्वा ह्यन्तु ।
 अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भञ्जा वसनि ॥ ४ ॥
 आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते चावापृथिवी उमे स्ताम् ।
 तदयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमहत्स उपेदमेहि ॥ ५ ॥

अर्थ— (विशः त्वां राज्याय वृणतां) प्रजायें तुमको राज्यके लिये स्वीकार करें (इमाः देवीः पञ्च प्रदिशाः)
 ये दिग्ग्य पांच दिशाये (त्वां वृणतां) तुमको राज्यके लिये स्वीकार करें । त् (राष्ट्रस्य वर्ष्मन् ककुदि श्रयस्व) राष्ट्रके
 ऐश्वर्यमें उक्त स्थानपर आश्रय कर (ततः उग्रः) पश्चात् उग्र और बनकर (नः वसनि वि भञ्ज) हम सबके लिये धनको
 विभाग कर ॥ २ ॥

(हविनः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु) बुलानेवाले सजातीय लोग तुमको सम्मानपूर्वक मिलें (अग्निः अञ्जिरः
 दूतः संचराते) अग्नि वेगवान् दूत संचार करे । (जायाः पुत्राः सुमनसः भवन्तु) त्रिवा और पुत्र उत्तम मनवाले
 हों । (उग्रः बहुं वृलिं प्रति पश्यासै) उग्र होकर तू बहुत भेटको देख ॥ ३ ॥

(अग्ने) आगे (अश्विनो, मित्रावरुणौ, विश्वेदेवाः, मरुतः) अश्विनो, मित्रावरुण, सब देव और मरुत् (त्वा
 त्वा ह्यन्तु) तुमको बुलावे । (अधा वसु-देयाय मनः कृणुष्व) पश्चात् तू धनका दान करनेके लिये अपना मन कर
 (ततः उग्रः नः वसनि वि भञ्ज) पश्चात् उग्र होकर हम सबको धनका भाग दे ॥ ४ ॥

(परमस्याः परावतः आ प्रद्रव) अति दूर देशसे यहाँ आ । (उमे चावापृथिवी ते शिवे स्तां) दोनों
 चावापृथिवी तेरे लिये वरदानकारी हों । (तथा अयं राजा वरुणः) वैसा ही यह वरुण राजा (तत् आह) यह कहता
 है (सः अयं त्वा अहत्) यह यह तुमको बुलावे (सः इदं उप-आ-शहि) यह तू हम राष्ट्रको प्राप्त कर ॥ ५ ॥

भाषार्थ— सब प्रजाएं राज्य बलानेके लिये तेरा ही स्वीकार करें। सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाले प्रजाजन
 तुझे ही पर्वण करे । तू राष्ट्रके परम उच्च ऐश्वर्यवान् राजपदपर आकूट होकर, और बनकर, हम सबके लिये धनको योग्य विभागेसे
 बांट दे ॥ २ ॥

तेरी इच्छा करनेवाले सजातीय लोग सम्मानपूर्वक तेरे पक्षमें रहें, अग्निके समान तेरे तोत्रवाली दूत चारों दिशोंमें संचार
 करें । तेरे राष्ट्रमें धर्मपरिनिर्मा और बालबच्चे उत्तम मनवाले हों । तू शीघ्रता होकर बहुत भेट प्राप्त कर ॥ ३ ॥

सब देवताएं तेरी सहायता करें । तू धनका दान करनेमें अपना मन स्थिर कर और शीघ्रता होकर हम सबमें योग्य
 विभागेसे धन बांट दे ॥ ४ ॥

यदि तू दूर देशमें भी गया तो भी अपने राष्ट्रमें शीघ्र ही वापस आ । सब देव तेरी सहायता करें । तू सदा अपने राष्ट्रमें
 ही रह ॥ ५ ॥

इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि सं सज्ञास्था वरुणैः संविदानः ।

स त्वायमहस्वे सधस्ये स देवान्यक्षत्स उं कल्पयाद्विशः

॥ ६ ॥

पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः सुद्वन्त्य वरीयस्ते अक्रन् ।

तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्यन्तु दशमीभुगः सुमना वशेह

॥ ७ ॥

अर्थ— हे (इन्द्र-इन्द्र) राजाओंके महाराजा ! (मनुष्याः परेहि) मनुष्योंके समान परे जा और (विवरुणैः संविदानः) बरिष्ठोंसे मिलकर तू (सं सज्ञास्थाः) ठीक प्रकार जान सकता है । (सः अयं स्वे सधस्ये त्वा अहत्) वह यह अपने पर तुझे सुलावे (सः देवान् यक्षत्) वह देवोंका यज्ञ करे, और (स उ विशः कल्पयतात्) वह निश्चयसे प्रजाओंको समर्थ करे ॥ ६ ॥

(पथ्याः रेवतीः) सन्मार्गसे चलनेवाली धनवाली (बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य) बहुत प्रकारसे विविध रूपवाली सब प्रजाएं मिलकर (ते वरीयः अक्रन्) तेरे लिये श्रेष्ठ स्थान बनाती हैं । (ताः सर्वाः संविदानाः त्वा ह्यन्तु) वे सब एकमत होकर तुझे सुलावे पथात् तू (इह उग्रः सुमनाः दशमीं वश) यहाँ उग्र और उगत मनवाला होकर दसवीं दशकतक राज्यको वशवर्ती कर ॥ ७ ॥

भाषार्थ— तू साधारण मनुष्योंके समान ही अपने आपको मानकर देशमें सर्वत्र भ्रमण कर और राष्ट्रके बरिष्ठ मनुष्योंमें मिलकर सब बातें ठीक प्रकार समझ लो । ऐसा करनेसे लोग अपने परमें तुझे आदरसे सुलावेंगे और वे यशवाग भी करेंगे । इस प्रकार प्रजाओंके साथ मिलजुलकर सब प्रजाको सब प्रकारसे समर्थ कर ॥ ६ ॥

प्रजा सन्मार्गसे चलनेवाली हो, और धनवान् हो । बहुत प्रकारके रंगरूपोंसे विभिन्न रहनेपर भी सब प्रजा मिलकर एक भावसे तुझे श्रेष्ठ माने और सब एकमतसे तेरी प्रशंसा करे । इस प्रकार बरिस्तासे और शुभ मनोभावसे राज्य करता हुआ तू ही सर्वतक राज्य अपने वशमें रख ॥ ७ ॥

पूर्व सम्बन्ध ।

इस तृतीय काण्डके प्रारम्भके दो सूक्तोंमें युद्ध विषय है । शत्रुघेनाके साथ युद्ध करके उसका पूर्ण पराभव करनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश इन दो सूक्तोंमें है । इस प्रकार विजय प्राप्त होनेके पथात् अपने राजाका राजधानीमें प्रवेश होता है, सब सबके उत्सवके ये मंत्र हैं, अथवा इस विजयको प्राप्त करके राजा क्षापल आगया तो उस समय उसे करने योग्य उपदेश इन दो सूक्तोंमें है । तृतीय और चतुर्थ सूक्त विशेष सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेसे और एक बात प्रतीत होती है, वह यह है कि— ' किसी समय शत्रुघेन्य द्वारा परास्त हुआ राजा किसी दुखरे देशमें या जंगलोंमें छिपकर रहता है और उसके राज्यपर दुखे विदेशी राजाका अधिकार होता है । ऐसे समयमें राज्यमें रहनेवाले लोग तथा पुराने समयके अधिकारसंपन्न वीर राजशकान्ति करनेका यत्न करें, पुरुषार्थ प्रयत्नसे शत्रुका पराभव करें और अग्ने पुराने राजाको कष्टरहित बडे सन्मानके साथ पुनः राजगद्दीपर स्थापित करें । ' यह भी उपदेश यहाँ दिखाई देता है ।

पुराणोंमें इन्द्रकी एक कथा भी इस प्रकारकी लची हुई है, कि अशुरोंके द्वारा इन्द्रका पराभव हुआ, वह भाग गया और छिपकर किञ्चि प्रदेशमें रहा, देवोंने अपने पुरुषार्थ प्रयत्नसे अशुरोंका पराभव करके इन्द्रको ढूँढा और पुनः इन्द्रपदपर स्थापित किया । यह कथा महाभारत उद्योगपर्व अ० १० से १५ तक पाठक देख सकते हैं । पाठक इन सब राजकीय घटनाओंको मनमें रखते हुए इन दो सूक्तोंका अभ्यास करें और मनन करें । ऐसा करनेसे ही इन सूक्तों द्वारा राजनीतिका बहुतसा उपदेश मिल सकता है ।

आत्मरक्षा ।

तृतीय सूक्तने सबसे प्रथम आत्मरक्षाका उपाय महत्त्वपूर्ण संदेश प्रारंभमें ही कहा है । यह संदेश हरएक वैदिकधर्मियोंके ध्यानमें धारण करना चाहिये—

इह स्व-पा भुवत् (इति) भच्चिक्रदत् ॥

(सू. ३, मं. १)

' यहाँ आत्मरक्षा करनेवाला मनुष्य बने, ऐसा प्रकार प्रकार

कर कहा गया है । ' इष जगत्तमं यदि मनुष्यो समानये जीवित इदना है तो (स्वपाः) आत्मरक्षा करना उसके लिये अत्यावश्यक है । यह बात जैसी एक मनुष्यके लिये सत्य है वैसी ही एक समाज और एक राष्ट्रके लिये भी सत्य है । जिस समय एक समाज आत्मरक्षा करनेमें दक्ष नहीं रहता उस समय दूसरा समाज उसपर हमला चढ़ानेमें प्रवृत्त होता है । इषी प्रकार जिस समय एक राष्ट्र आत्मरक्षा करनेमें समर्थ नहीं होता है, उषी समय दूसरा राष्ट्र उसपर आक्रमण करता है और उसको परतंत्र बनाकर उसपर अधिकार चलाने लगता है । आत्मरक्षा करनेकी असमर्थता बड़ा भारी अपराध है, जो राष्ट्र परतंत्र हुए है वे स्वानुभवसे इस वैदिक उपदेशका महत्त्व जान सकते हैं । आत्मरक्षाका अर्थात् महत्त्व है इषीलिये इष मंत्रने कहा है कि यह बात वारंवार पुकार पुकार कर कही है । जो बात अर्थात् महत्त्वकी होती है वही वारंवार पुकार पुकार कर कही जाती है । इस कारण जो बात वेदने अनेक बार पुकार पुकार कर कही है वह मनुष्यमात्रकी लक्षतिकी दृष्टिसे अर्थात् महत्त्वपूर्ण है इसमें कोई संदेह ही नहीं है । पाठक इष दृष्टिसे इस आत्मरक्षाके वैदिक उपदेशका स्मरण रखें ।

आत्मरक्षाका सामर्थ्य न रखनेवाला राष्ट्र और उसका राजा ही परास्त होता है और आपत्तिमें गिरता है । आत्मरक्षा करनेवालेकी सेनाहृदि होती है इस विषयमें इषी मंत्रका अगला भाग देखिये

भ्यो ! उक्थी रोदसी व्यसस्व ॥ (घृ. २, मे. १)

' भूमिके समान तेजस्वी ! तू इस विद्यालय छावाश्रमिकीके अंदर कैद जाओ । ' आत्मरक्षा करनेवालेका आदर्श भूमि है, यह भूमि सदा सर्व गतिसे अलसता और प्रसन्नता है । ' भूमिः ऊर्ध्वज्वलनं ' भूमिकी ज्वलनकी गति उच्चगति है । उच्चगतिवाले सदा उन्नत ही होते रहेंगे और अपना तेज फैलानेमें और संपूर्ण अमलकी प्रकाशमान करेंगे । आत्मरक्षा करनेवालेकर यथा जगत्तमं चारों दिशाओंमें फैलता है । आत्मरक्षा करनेवालेकी गति तो भूमिके प्रथम प्रकाशसे बतार्हा है । जिसको नित्य देखकर वैदिकधर्मी आत्मरक्षा करनेके अपने कर्तव्यको कभी न भूलें । अब देखिये कि आत्मरक्षा न करनेवालेकी अवस्था क्या होती है—

अन्यक्षत्रे अपरुद्धं चरन्तं ॥ (घृ. १, मं. ४)

' दूसरेके देशमें प्रतिबंधमें भरकटा है । ' जो आत्मरक्षा नहीं करता वह दूसरेके अधिकारमें प्रतिबंधमें पड़ता है, दूसरे देशमें छिपछिपकर रहता है, किसी न किसी प्रकार बंदखानेमें

सदता रहता है । यह आत्मरक्षा न करनेका परिणाम है । यह परवशताका मयानक परिणाम आत्मरक्षा न करनेसे प्राप्त होता है यह जानकर मनुष्य, समाज, राष्ट्र तथा राजा आत्मरक्षाका अपना परमधेय कर्तव्य कभी न भूलें; यह आदेश वेद इस सूक्तद्वारा देता है और वारंवार उद्धृष्ट करता है कि मनुष्य इष आत्मरक्षाकी बातको कभी न भूलें ।

सौत्रामणी याग ।

' सौत्रामणी ' नामक एक बड़ा भारी यज्ञ है । इसमें मुख्य ध्येय अथवा साम्य क्या है वह तैत्तिरीय संहिताके बचनसे स्पष्ट होता है—

**इन्द्रस्य सुसुवाणस्य दशद्येन्द्रियं धीर्यं परापतत् ।
सदेवाः सौत्रामण्या समभरन् ॥**

(ते. सं. ५.१.११४)

' इन्द्रका धीर्य दश दिशाओंमें विभिन्न मार्गोंसे विभक्त हो गया था, वह देवोंने सौत्रामणी यागसे एकत्रित किया । ' अर्थात् इस सौत्रामणी यागका साम्य विचरी हुई शक्तिकी इच्छा करना है । ' सुसुवाणम् ' शब्दका अर्थ है (सु) उत्तम (त्रामन्) रक्षा करनेकी बुद्धिपूर्वक शक्ति । यह शक्ति प्राप्त होती है उसको ' सौ-त्रा-मणी याग ' कहते हैं । पूर्वोक्त तैत्तिरीय संहिताके बचनमें भी विचरी हुई इन्द्रकी शक्ति इच्छा करनेके लिये ही सौत्रामणी याग बनाया गया और उस यागसे वह शक्ति केन्द्रीभूत होयर्ह इत्यादि बात स्पष्ट है । अर्थात् सौत्रामणी यागसे संगठन होता है और राष्ट्रीय शक्ति बढती है । इषीलिये इष सूतीय सूक्तके द्वितीय मंत्रमें सौत्रामणी यज्ञके द्वारा राज्यप्राप्त राजाको फिर राज गद्दीपर लाने-दे, ऐसा कहा है—

**दूरे सन्तं विप्रं इन्द्रं स्वकपाय भरुपासः
आकथ्याच्यन्तु । (घृ. १, मं. २)**

' राज्यसे दूर हुए ज्ञानी नरेन्द्रकी सक्षयके लिये तेजस्वी लोग उस युत स्थानसे यहाँ लावें । ' राज्यप्राप्त राजा अंगलीमें या (अन्य-क्षेत्रों अरुद्धं चरन्तं । मं. ४) दूरी देशमें छिप छिपकर रहता है उसको पुनः राज्यपर स्थापित करनेके लिये ज्ञानी लोग अपने राज्यमें ले आवें; उसका सत्य पुनः जनताके साथ पूर्ववत् हो; और ज्ञानी इन्द्र ही राज्यहीवर बैठ जावे; इसलिये वह सब प्रयत्न है । ज्ञान सब प्रयत्न करनेके लिये सौत्रामणी याग किया जाता है ऐसा इसी द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है—

**देवाः अस्मै नायत्रो वृहर्ता अर्कं सौत्रामण्या
दृष्टुपन्त । (घृ. १, मं. १)**

‘ देव इस राजाके लिये गायत्री, ब्रह्मती आदि रूप अर्चन सत्स्य सौत्रागणी यागके द्वारा करते हैं । ’ राजगृहीपर राजाको विठलनेका प्रबंध करनेके लिये सौत्रागणी याग करते हैं; इस यागमें अपनी बिकरी हुई शक्तिको इकट्ठी करते हैं और उस शक्ति द्वारा उस राजाको अपने राज्यमें लाकर उसका बग सत्कार करते हैं । इस सत्कारका स्वरूप देखिये—

घरुणो राजा त्वा अद्भ्यः ह्ययतु ।

स्तोत्रः त्वा पर्वतेभ्यः ह्ययतु ।

इन्द्रः त्वा आभ्यः चिद्भ्यः ह्ययतु ॥

(सू. ३, मं. ३)

अश्विना ते सुगं पन्यां कृणुताम् ॥

(सू. ३, मं. ३)

प्रतिजनाः त्वा ह्ययन्तु, मित्राः प्राति अयुयत ॥

(सू. ३, मं. ५)

‘ वरुण राजा बलस्यलोकिके संरक्षणके लिये तुझे बुलावे, सोम राजा पर्वतोंकी रक्षाके लिये तुझे बुलावे, इन्द्र तुझे इन प्रजाजनोंकी सुखवश्याके लिये बुलावे । अग्निदेव यहाँ आनेका तेरा मार्ग सुगम करें । प्रत्येक प्रजाजन आदरते तुझे बुलावे और मित्र यदा तेरा बल-बढ़ावे । ’

राज्य प्रबंधमें समुद्र किनारेका प्रबंध, पर्वत स्थानोंका प्रबंध ये दो प्रबंध अन्तर्राष्ट्रीय महारथके हैं और प्रजाजनोंके सुखवश्या कार्य राष्ट्रके अंतर्गत व्यवहारका है । समुद्रमें नौका, जलकुण्ड आदिकी रक्षाका प्रबंध करना होता है और पर्वतोंपर भी कीचि आदिका प्रबंध आवश्यक होता है । प्रजाकी सुखवश्याका प्रबंध तो राज्यशासनका मुख्य भाग है ही, इसमें कोई संदेह नहीं है । इन प्रबंधोंकी करनेके लिये राजाको पुनः राजगृहीपर स्थापित किया जाय, यह ताल्यय यहाँ है । राजाके कर्तव्योंकी भी सूचना यहाँ मिलती है । सब देवताओंकी सहायता भी इस राजाको प्राप्त हो और इस प्रकार देवताओंकी सहायतासे बलवान बना हुआ अपने देशका राजा शत्रुके लिये असशय हो, यह इच्छा प्रजाजनोंके नेताओंके अन्तःकरणमें रहना चाहिये । देखिये इस विषयमें आगला मंत्र ही कइता है—

इन्द्राग्नी विश्वे देवाः विशि ते क्षेमं अद्रीघरन् ।

(सू. ३, मं. ५)

‘ इन्द्र, अग्नि और संपूर्ण अन्य देव प्रजामें तेरा कल्याण दर्शयित करें । ’ अर्थात् इन देवोंकी कृपासे तेरी प्रजाका भी कल्याण होवे और प्रजाके आनेदेके साथ तेरा भी कल्याण होवे । यहाँ—

ते क्षेमं विशि ।

(सू. ३, मं. ५)

‘ तेरा (राजाका) कल्याण प्रजामें वसता है । ’ अर्थात् प्रजाजनोंके कल्याण होनेसे ही राजाका कल्याण होना संभव है अन्यथा नहीं । जो राजा प्रजाके कल्याणके साथ अपने कल्याणका संबंध नहीं जानता वह सचा राजा ही नहीं है । यजुर्वेदमें भी कहा है कि—

विशि राजा प्रतिष्ठितः । (यजु. २०।५)

‘ प्रजाके आश्रयसे राजा सुप्रतिष्ठित होता है । ’ प्रजा न हो तो राजा कहां रहेगा ? परन्तु राजा न होनेकी अवस्थामें प्रजा रह सकती है, इस कारण कहने हैं कि राजा प्रजाके आश्रयमें रहता है, परन्तु प्रजा राजाके आश्रयके बिना भी रह सकती है । अतएव राजाका कल्याण प्रजाके कल्याणमें है । ‘ ते क्षेमं विशि ’ इस अर्थमें मंत्रका इस दृष्टिके पाठक मंगल करें । ऐसे राजाको सम्रातीय लोग अपने राज्यमें पुनः स्थापन करें, इस विषयमें यह सूचना चतुर्थ मंत्र देखिये—

सजाताः इमं (राजानं) अग्नि-सं-विश्राधम् ॥

(सू. ३, मं. ५)

‘ सम्रातीय लोग इस राजाको (अग्नि) चारों ओरसे (सं) ठीक प्रकार (विश्रान्त) प्रवेश करावें । ’ राजा अपने राष्ट्रमें आवे तो सम्रातीयोंके साथ ही आवे । वे उसकी सुरक्षितताका प्रबंध करें और चारों ओर उद्यम प्रबंध रहें, राजाकी सुरक्षितताके लिये उद्यम यत्न किया जाय और स्वराष्ट्रमें ऐसे सुप्रबंधके साथ उसका प्रवेश कराया जाय । सम्रातीय (सजाताः) लोग ही राजाके रक्षक हो सकते हैं, परस्रातीय लोग किंच समय खोसा देने इस्का कोई नियम नहीं है, इसलिये राजा भी स्वस्रातीय लोगोंके ऊपर अधिक विश्वास रखे और उनका योग्य सम्मान करता रहे । नहीं तो कई राजा ऐसे होते हैं कि जो विदेशियों और परकीयोंपर तो अधिक विश्वास रखते हैं और स्वदेशीयों तथा स्वस्रातीयोंपर अविश्वास करते हैं । इस आत्मघातके बर्तावका परिणाम उसको अंशमें बुरी तरह भोगना पड़ता है । इसलिये इस मंत्रमापने स्वस्रातीय लोगोंको विश्वासमें लेनेकी सूचना की है जो राजनीतिमें विशेष महत्त्वकी है । जहाँ स्वस्रातीय लोग सहायताके लिये तैयार हैं वहाँ राजा विश्वाससे वेगपूर्वक जावें और अपना कार्य प्रारंभ करें; इस विषयमें यह मंत्र देखिये—

इयेनः मृत्वा इमाः विशाः आयात ॥ (सू. ३, मं. २)

‘ इयेन पड़की समान वेषसे इस प्रजामें आ पड ’ अर्थात् यहाँ प्रजाजनोंके मद्द पुरुष सहायता करनेको तैयार हैं वहाँ राजाको स्वराके साथ पहुँचकर अपना प्रजापालनका कार्य करना चाहिये ।

विरोधी मनुष्य ।

सम्राट्तीय लोग प्रायः सदा राजाकी सहायताके लिये तैयार ही रहेंगे, क्योंकि राजाका गौरव बढ़नेसे उनका भी यश बढ़ता ही है, तथापि कई लोग शत्रुपक्षको मिलकर उत्तम राजाको राष्ट्रमें पुनः स्थापित करनेके विरोधी भी होना संभव है, उनका क्या किया जाय, यह संघा यहाँ ही संकतो है; इस संघाका उत्तर इस सूक्तके षष्ठ मंत्रने दिया है, देखिये—

यः सजातः, यः च निष्टयः, ते हवं विचदत्,
तं अपाञ्चं कृत्वा, अथ इमं इह अवगमय ॥

(सू. ३, मं. ६)

‘ कोई सम्राट्तीय अथवा कोई विजातीय या विदेशीय मनुष्य तेरे राजद्वारोहणके द्युम प्रसंगके विरुद्ध विवाद खडा करनेवाला हो तो उसको बहिष्कृत करके, पश्चात् इस राजाको यहाँ ले आओ । ’

सर्व संमतिसे जिस राजाको राज्यकी गद्दी दी जाती है, उसके विरुद्ध कार्यवाही करनेवाला यदि कोई मनुष्य हो तो (अपाञ्चं तं कृत्वा) उसको अलग करके ही अन्य श्रेष्ठ लोगोंको अपना प्रशास्य कर्तव्य करना चाहिये। राज्यकी अंतर्गत व्यवस्था करनेके प्रसंगमें इस प्रकारके कई झगडे होते ही रहते हैं, इस लिये उसको दूर करनेका एक उपाय यहाँ बताया है, इसके अन्वेषणावधे पाठक अन्य उपपद दूर कर सकते हैं ।

चतुर्थ सूक्त ।

यहाँ तृतीय सूक्तका विचार समाप्त हुआ और अब इसी विषयसे संबंध रखनेवाले चतुर्थ सूक्तका विचार करते हैं । तृतीय सूक्तका संबंध बाहर रहनेवाले राजाकी पुनः स्वराज्यमें लौकर राज्यपर स्थापित करनेके महत्त्वपूर्ण कार्यके साथ है और इस चतुर्थ सूक्तका संबंध सर्वशम्भारण राजाको और शिष्यवतः प्रजाके पुनः हुए राजाको राजगद्दीपर बैठानेके कार्यके साथ है, इसलिये इस चतुर्थ सूक्तका संबंध एक रीतिसे तृतीय सूक्तके साथ है और दूसरे विचारसे देखा जाय तो यह चतुर्थ सूक्त स्वतंत्र भी है । राजाका राज्याधिकार इस चतुर्थ सूक्तका मुख्य विषय है । इस सूक्तमें प्रजाद्वारा राजाका चुनाव होनेका वर्णन मुख्य स्थान रखता है, वही पहले देखेंगे—

राजाका चुनाव ।

राजाका पुत्र ही अथवा नया ही योग्य वरिष्ठ हो, उसको प्रजाकी संमतिले ही राज्य प्राप्त होता था । भीरुमन्त्र देखे सर्वमान्य पुरुषोंको भी राज्य प्राप्त होनेके लिये प्रजाकी अनुमति लेनी पड़ी थी, इस बातको देखनेसे प्रजाकी संमति प्रबल शक्ति

रखती थी ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है, इस सूक्तने इस वैदिक रीतिपर बहुत ही उत्तम प्रकाश डाला है, देखिये—

प्रदिशाः देवाः इमाः पञ्च विशाः त्वां राज्याय
वृणताम् । (सू. ४, मं. २)

‘ दिशा उपदिशाओंमें रहनेवाली यह दिव्य पांच प्रकारकी प्रजा तुझको राज्यके अधिकारके लिये चुनें । ’ प्रजा राज्यप्राप्तन चलानेके लिये तेरा स्वीकार करे, ऐसा कहने मात्रसे राजगद्दीपर राजाको रखने या न रखनेका अधिकार प्रजाके आधीन है यह बात स्वयं सिद्ध होती है । अथर्ववेदमें इस बातको बतानेवाले कई सूक्त हैं, उनका विचार उनके स्थानपर यथावत् ही होगा, पाठक भी ऐसे स्थान स्थानपर आनेवाले उल्लेखोंको इकट्ठा करके सबका मिलकर इकट्ठा विचार करेंगे तो उनको वैदिक राजनीति का एक ज्ञान होगा । अस्तु । इस प्रकार राजाका चुनाव करके उनकी राज्यपदके लिये स्वीकार करनेवाला अधिकार प्रजाका है यह बात इस मंत्रभाग द्वारा सिद्ध होगई, अब इस सूक्तके इसी भावके शेष मंत्रभाग यहाँ देखिये—

हे राजन् ! सर्वाः प्रदिशाः (प्रजाः) त्वा ह्यनुत् ।
(सू. ४, मं. १)

हविनः सजाताः त्वा अकृत् यन्तु । (सू. ४, मं. २)
बहुधा विरूपाः सर्वाः (प्रजाः) संगत्य ते
घरीयः अकन् । (सू. ४, मं. ७)

ताः संविदानाः सर्वाः (प्रजाः) त्वा ह्यनुत् ।
(सू. ४, मं. ७)

‘ हे राजन् ! सब दिशाओंमें रहनेवाली सब प्रजा तुझे पुकारें । मंत्र रखनेवाले स्वराज्यीय लोग तेरे संमुख आ जायें । बहुत करके विभिन्न रूपवाली सब प्रजा एकत्र घमा करके तुझे श्रेष्ठ बनायें । वह जाननेवाली सब प्रजा तुझे ही चुनवें । ’ इत्यादि मंत्रभाग प्रजाकी अनुमति, राजाके लिये अत्यंत आवश्यक है यही बात बता रहे हैं । इसलिये इस सूक्तका स्पष्ट भावय वही है कि प्रजाद्वारा स्वीकृत होकर ही राजा राजगद्दीपर आ जाये । किसी पुरुषको अन्त्यतः राजगद्दीका अधिकार नहीं हो सकता, परंतु जिसको प्रजा स्वीकृत करे वही राजपदके लिये योग्य हो सकता है । इस सूक्तके उपदेशमें यह महत्त्वपूर्ण बात पाठक अवश्य देखें और वैदिक धर्मके अनुकूल प्रबलितकृत तथा प्रबलनत दो राजा हे यह स्मरण रने ।

प्रजाका पालन ।

राज्याधिकारके समय ही प्रजाके पुनः और पसंद लिये राजाको राजगद्दीपर आधिकार होनेके समय बताया जाता है कि अब तेरा प्रजापालन कर्तव्य है । देखिये—

- १ राष्ट्रं त्वा आगन्,
- २ सर्वसा सह उद्विदि,
- ३ विशां पतिः प्राह् एकराट् त्वं विराज,
- ४ उपसद्यः नमस्यः च इह भव ॥ (सू. ४, मं. १)

‘ हे राजन् ! (१) अब तेरे पास यह राष्ट्र आगया है, (२) अपने प्रजापते को साथ उदयको प्राप्त हो, (३) प्रजाका पालक मुख्य एक राजा होकर तू विशेष प्रकाशमान हो, (४) तथा सब प्रजाओंको पास जाने योग्य और नमस्कार करने योग्य बन । ’ इस प्रथम मंत्रमें ‘ प्रजा-पति ’ बन, यह आदेश है । पति शब्दका यद्यपि प्रविद्ध अर्थ स्वामी या मालिक है तथापि यह शब्द ‘ पा ’ धातुसे बननेके कारण (पति रक्षति) पालन करनेवालेका वाचक ही मुख्यतया यह शब्द है । जो पालन करता है वही पति कहलाने योग्य है, इसलिये प्रजापति (विशां पतिः) ये शब्द प्रजापालन रूप राजाका कर्तव्य बताते हैं । राजा शब्द भी वस्तुतः अनियंत्रित राजाका वाचक नहीं है, प्रसूत (रंजयति) प्रजाका रंजन करनेवाले समस्त राजाका वाचक है । इस प्रकार यहाँ प्रजापालन रूप राजाका मुख्य कर्तव्य बताया है । ऐसे राजाको ही प्रजा प्रेमसे (नमस्यः) नमन करती है अर्थात् उचीका उत्कार करती है । राजा ऐसा ही जो आवश्यकता पड़नेपर प्रजाको (उपसद्यः) मिल सके । त्रिषका दर्शन प्रजा कर सके ऐसा राजा हो । जो राजा सदा मंत्रियोंसे घिरा रहता है और त्रस्त प्रजाका दर्शन भी नहीं कर सकता वह प्रजासे नमस्कार कैसे प्राप्त कर सकता है ? इससे स्पष्ट ही सकता है कि प्रजाका नमस्कार प्राप्त करनेके लिये प्रजाको मिलना आवश्यक ही है ।

इस मंत्रके (राष्ट्रं त्वा आगन्) राष्ट्र तेरे पास आगया है इस वाक्यसे स्पष्ट ही रहा है कि राष्ट्र अपनी संमतिसे तेरे समीप आया है, अर्थात् राष्ट्रके पाँच प्रकारके प्रजाप्रणैनि राजगणोंके लिये तुझे पुना है इसलिये उनकी निज संमतिसे ही यह राष्ट्र तुझे प्राप्त हुआ है, इस कारण तुझे उचित है कि तू राष्ट्रका पालन ऐसा कर कि सदा सर्वदा मन्विष्य कालमें राष्ट्रकी संमति तेरे अनुकूल ही रहे और कभी प्रतिकूल न बने । इस मंत्रका विचार करके पाठक जानें कि राजाको प्रजाकी अनुकूल संमतिकी कितनी आवश्यकता है । प्रजाकी अनुमतिके बिना राजा राजगणोंपर रह ही नहीं सकता, यह स्पष्ट आशय यहाँ प्रतीत होता है ।

घनोंका विभाग ।

प्रजाओंमें घनका विषय विभाग हुआ तो अति घनी बने हुए लोग निर्धनोपर बड़ा दबाव डालते हैं और उस कारण

निर्धन लोग पीछे जाते हैं । इसलिये राजाके आवश्यक कर्तव्योंमेंसे एक यह कर्तव्य वेदने बताया है कि वह प्रजाओंमें योग्य प्रमाणसे वधुविभाग करे । घनकी विषयता प्रजामें न हो इस विषयमें वेदमें स्थान स्थानपर आदेश है—

- १ राष्ट्रस्य धर्मन् ककुदि अयस्व
ततः उग्रः (भूत्वा) नः वसूनि वि भज ॥
(सू. ४, मं. २)
- २ अघ मनः यमुदेयाय कृणुष्व
ततः उग्रः (भूत्वा) नः वसूनि वि भज ॥
(सू. ४, मं. ४)

‘ (१) राष्ट्रके ऐश्वर्यमय उच्च स्थानपर बैठकर, उग्र बनकर हमारे लिये धनको विभक्त कर । (२) पथात् अपना मन घनके दानके लिये अनुकूल कर, उग्र बनकर हमारे लिये घनका विभाग करके बाँट दे । ’ इन दो मंत्रभागोंमें पहले कहा है कि ‘ हे राजन् ! तू सबसे पहले राष्ट्रके अर्थात् उच्च स्थानपर अर्थात् राजगणोंपर आरुढ़ हो, पथात् उग्र बन अर्थात् नरम दिलवाला न बन और प्रजामें घनका विभाग कर । ’

यद्यपि राजा प्रजाकी अनुमतिसे ही राजगणोंपर बैठता है तथापि उसको यहीर बैठनेके पथात् उग्र बनना चाहिये । यदि वह नरम दिलवाला बनेगा तो उसके राजाके कर्तव्य ठीक प्रकार विभागे जाना अशक्य है । धर्मार्थका निर्णय करके अथवाचरण करनेवालेको योग्य शासन करनेका कार्य उग्र बननेके बिना नहीं हो सकता । इसलिये राजाको उग्र बनना अर्थात् आवश्यक है । उग्र बनकर और पशुपात छोड़कर अपना कर्तव्य राजाको करना चाहिये ।

घनविभागे ठीक प्रकार करनेके लिये राजाको न तो बलि-कीका पशुपात करना योग्य है और ना ही निर्बन्धोका पशु लेना चाहिये । राष्ट्रमें घन विषय प्रमाणमें न बँट जाय यह देखते हुए अपना वधुविभागक कर्तव्य पूर्ण करना चाहिये । यह बड़ा कठिन है, परंतु राजकी सुस्थितिके लिये अर्थात् आवश्यक है । घनकी विषयता, अथिभारकी विषयता, शानकी विषयता और जातीका उच्चनीचताकी विषयता आदि अनेक विषयताएँ होती हैं, उनमें घन और अथिभारकी विषयता बर्षों पाठक होती है, इस विषयताके कारण दूरे हुए मनुष्य उठना कठिन हो जाता है और जो दली जातीकी भयानक स्थिति होती है वह सब आनते हैं । इसलिये वसुविभाग नामक राजाके कर्तव्यमें घनविषयक विषयता दूर करनेका उपदेश किया है । इसका महत्त्व पाठक समझे ।

शुभसंकल्प ।

प्रजाजनोंको शुभसंकल्पवाले बनाना भी राजाका एक मुख्य कर्तव्य है, इसका प्रारंभ राष्ट्रकी माताओं और राष्ट्रके सुनुनोंसे होना योग्य है इस विषयमें देखिये—

जायाः पुत्राः सुमनसाः भवन्तु । (सू. ४, मं. ३)

हे राजन् । तू अपने राज्यमें शिक्षाध्य प्रबंध ऐसा कर कि जिससे ' शिष्या और बालबच्चे उत्तम विचारवाले बनें । ' जिस राष्ट्रकी माताएं और बालबच्चे सब उत्तम विचारवाले बने हों उस राष्ट्रकी गणना स्वर्गमें ही हो सकती है । सुविचारवाली कन्याएं और शुभसंकल्पवाले कुमार राष्ट्रमें बढनेसे ही प्रजा-कल्याणका वायुमंडल बन सकता है, अन्यथा जो होना संभव है वह आशंकित प्रलय ही दिखाई दे रहा है । राष्ट्रमें विपत्तिका अधिकारी, शिक्षक तथा अन्य प्रबंधके शासनोपधिकारी जिस समय उत्तम प्रज्ञावाले हो सकते हैं उस समय ही राष्ट्रकी सब कन्याएं और सब कुमार उत्तम संकल्पवाले हो सकते हैं । पाठक इस बातका स्व विचार करें । यह एक अत्यंत उपदेश देनेवाला बताया है जो प्राचीन समय व्यवहारमें आया था, परन्तु अब यह फिर योग्य व्यवहारमें आना ऐसा दिखाई नहीं देता । क्योंकि आधुनिक वायुमंडल बह रहा है । इसलिये वैदिकधर्मों ज्योंकी संचित है कि वे कुमारी और कुमारोंके अन्दर पवित्र विचारका वायुमंडल उत्पन्न करनेका प्रयत्न करें और यह आदर्श अपने मनमें सदा जाग्रत रखें ।

राजाका रहना सहना ।

राजाका व्यवहार सौभाग्यदा हो, राजा साम्राज्य मनुष्य जैसा बनकर किसी किसी समय राष्ट्रमें भ्रमण भी करे और प्रत्यक्ष जनताका सुख-दुःख अवलोकन करे । इस विषयमें आदेश देखिये—

इन्द्रोद्गः । मनुष्याः (वत्) परेहि,
धरणीः संविदानः सं महास्थाः ॥
स अपे त्वा स्वे सधत्ये महत्,
स ल देवान् परतः, विशाः कल्पयात् ॥

(सू. ४, मं. ६)

' हे राजन् । साम्राज्य लोगोंके समान बनकर दूर दूर तक जनतामें भ्रमण कर, वहाँके श्रेष्ठ मनुष्योंके साथ मिलजुलकर उनकी अपनी अवस्थाको जान । वे तुझे अपने पर हुलास और यत्न करें; इस प्रकार प्रजाओंकी रक्षति कर । '

यह मंत्र बहुत दृष्टियोगि मनपूर्वक देखने योग्य है । सबसे पहिले इसमें यह कहा है कि राजा किसी किसी समय अपने

दरबारों यादके अन्तर्ग करके स्वयं साम्राज्य मनुष्योंके देशमें होकर साम्राज्य मनुष्योंके समान बनकर नगरोंमें भ्रमण करे और अपने आँखोंसे देखे कि अपने प्रजाकी आस्था कैसी है, क्या प्रजा किसी प्रकार कष्टमें है या सुखमें है । अपने धर्मवर्ती प्रजाके साथ कैसा व्यवहार करते हैं । वहाँके जो (बहनेः = नरैः) प्रमुख लोग हों जो विशेष समझदार हों उनसे मिलकर सब अवसरको जान लो कि किस बातमें सुधार करके प्रजाका सुख बढ़ाना चाहिये । ऐसा स्वयं देखनेसे तुम्हें पता लग जायगा कि राज्यप्रबंधमें दोष क्या है और सुग क्या है ।

दूरतों बात इसी मंत्रमें जो कही है वह यह है कि प्रजाके लोग राजाको विशेष समय अपने पर हुलास, राजा वहाँ जावे, उनके साथ मिलजुलकर बातचीत करे, सब मिलकर दख, साथ आदि करें; इस रीतिसे राजा प्रजाको धर्मय बनाने और प्रजाकी रक्षति करे ।

ये सभी उपदेश उत्तम हैं और जैसे राजाकी रीति ही राज-पुराणोंकी भी सदा मनन करने योग्य हैं ।

दूतका संचार ।

राजा स्वयं अपने राज्यमें भ्रमण करे और सब व्यवस्था स्वयं अपने आँखसे देखे, इस विषयमें ऊपर कहा ही है; परंतु अकेला राजा कहांतक भ्रमण कर सकता है और कहांतक देख सकता है, राजा लोग दूतोंके आँखोंसे ही देख सकते हैं, इस-लिये दूतोंका संचार करानेके विषयमें तृतीय मंत्रमें कहा है—

अजितः दूतः संचरते । (सू. ४, मं. ३)

' शुभा दूत संचार करे । ' राष्ट्रमें दूतोंका संचार करके राजा सब जानने योग्य बातें जान लेवे । और ॥॥ ज्ञानसे अपने शासन प्रबंधमें जो कुछ न्यूनताधिक करना ही यह करता रहे । अर्थात् दूत संचार यह शासनका एक आवश्यक अंग है क्योंकि इससे राजाको शासन विषयक प्रजाके सुख-दुःखोंका पता लगता है । इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करके अपना शासन चलानेवाला राजा प्रजाके अत्यंत प्रिय होता है, इसलिये प्रजा भी उस राजाका सत्कार विशेष प्रकारसे भेंट देकर करती है । इस विषयमें देखिये—

(१) हविनः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु ॥

(सू. ४, मं. १)

(२) उग्रः बहुं बलिं प्रति पद्याते ॥ (सू. ४, मं. २)

(१) ' हवि लेकर सजातीके जोग ठेरे चन्नुस उपतिपव हो । (२) उग्र बनकर बहुत भेंट तू देखेगा । ' इत्यादि प्रकार प्रकृति बहा सरकार राजा प्राप्त कर सक्य है । तदा—

(१) ते चावापृथिवी शिथे स्ताम् । (सू. ४, मं. ५)

(२) उमः सुमनाः इह दशर्मा चया ।

(सू. ४, मं. ७)

(१) ' हे राजन् ! तेरे लिये चावापृथिवी कल्याणपूर्ण हो, और (२) तू उम तथा उमम बनवाला बनकर यहां सौ वर्ष-एक शतकको अपने बशमें कर । ' इसी प्रकार ' सब देवोंकी सहायता इस राजाको मिले ' (मं. ४) इत्यादि प्रकारकी इच्छा लोग सही समय करेंगे कि जिस समय राजा भी प्रजाकु सुख बढानेमें दक्षचित्त होता हो । जो राजा प्रजाके सुखकी पर्याप्त न करता हो उसके हितार्थकी छिद्र प्रजा भी नहीं करती । इसलिये इच्छा राजाको सदा ध्यानमें यह बात रखना चाहिये कि ' मेरे पास जो राजपद आया है वह प्रजापालन करनेके लिये आया है, न कि अपने सुखमोग मोगनेके लिये । ' यह भाव मनमें रखता हुआ राजा अपना कर्तव्य योग्य रीतिसे पालन करे ।

वरुण ।

यहां एक वैदिक वर्णन शैलीकी विशेषता आ गई है वह अवश्य देखने योग्य है । इन्द्र, वरुण आदि शब्द देवतोंके वाचक ही होते हैं अन्य किसीके वाचक नहीं हो सकते । ऐसा सामान्य-तया साधारण लोग समझते हैं । परंतु ये शब्द कभी कभी विशेषण रूप होकर किसी अन्यके गुणबोधक होते हैं और कभी स्वयं किसी अन्य पदार्थके वाचक भी होते हैं । यहां वरुण शब्द बहुवचनमें आया है इसलिये यह वरुण देवता वाचक निःसंदेह नहीं है, क्योंकि जिस समय वरुण देवताका वाचक यह शब्द होता है उस समय यह सदा एकवचनमें ही होता है । यह बहुवचनमें होनेके कारण यह यहां प्रजाजनोंका वाचक है । ' वरुण, वरण, वर्ष ' इस प्रकार यह ' बार वर्षोंके लोगों ' का वाचक हो सकता है किंवा वर अर्थात् भेरीका भी वाचक हो सकता है । यहां हमारे मतसे ' वर्ष ' अर्थ लेना अधिक योग्य है, तथापि इसका अधिक विचार पाठक करें ।

राजा और राजाके बनानेवाले ।

(५)

(श्लोचः — अथर्वा । देवता — सोमः)

आयमंगन्पर्णमणिर्वली बलेन प्रमृणन्सुपत्नान् ।

ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्षेसा मा जिन्वत्त्वप्रयावन् ॥ १ ॥

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद्रथिम् ।

अहं राष्ट्रस्यामीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥

अर्थ— (मयि बली पर्णमणिः) वह बलवान् पर्णमणि (यलेन सुपत्नान् प्रमृणन्) बलसे शत्रुओंका नाश करता हुआ (या अगन्) आया है । यह (देवानां ओजः) देवोंका बल और (ओषधीनां पयः) औषधियोंका रस है । यह (अप्रयावन् चत्वेसा मा जिन्वत्तु) विजित न करता हुआ तेजसे मुझे संयुक्त करे ॥ १ ॥

हे पर्णमणे ! (मयि क्षत्रं) मुझमें क्षात्रबल और (मयि रथि धारयतात्) मुझमें धन धारण कर । (अहं राष्ट्रस्य अमीवर्गे) मैं राष्ट्रके आत्मारक्षकोंमें (उत्तमः निजः भूयासं) उत्तम निज बनकर रहूँ ॥ २ ॥

भाषार्थ— यह पर्णमणि बड़ बडानेवाला, अपने बलसे शत्रुओंका नाश करनेवाला, देवोंका राक्षिरूप और औषधियोंके रससे बननेवाला है, यह मुझे अपने तेजसे युक्त करे ॥ १ ॥

इसके मुझमें क्षात्रबल और ऐश्वर्य बडे और मैं राष्ट्रका हितसाधन करनेवाला, अर्थात् राष्ट्रका निजधर्मकी बनकर रहूँगा ॥ २ ॥

४ (अथर्व. भाष्य, काण्ड ३)

यं निदुधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम् ।

तमस्मभ्यं सुहायुंषा देवा ददतु भर्तवे

॥ ३ ॥

सोमस्य पर्णः सह इन्द्रमागन्निन्द्रेण द्रुचो वरुणेन शिष्टः ।

तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वायं श्रतशारदाय

॥ ४ ॥

आ मारुक्षत्पर्णमणिर्घृहा अरिष्टतातये ।

यथाहृष्टचरोऽसान्यर्यम्ण उव संविदः

॥ ५ ॥

ये धीवानो रथकाराः कर्मारो ये मनीषिणः ।

उपस्तीन्पर्णं मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वमितो जनान्

॥ ६ ॥

ये राजानो राजकृतः सुता प्रामप्यश्च ये ।

उपस्तीन्पर्णं मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वमितो जनान्

॥ ७ ॥

अर्थ— (यं गुह्यं प्रियं मणिं देवाः वनस्पतौ निदुधुः) जिस गुण और प्रिय मणिको देवोंने वनस्पतिमें चारण किया था, (तं देवाः अस्मभ्यं आयुषा सह भर्तवे ददतु) उस मणिको देव हमें आयुके साथ पीतलके लिये देवें ॥ ३ ॥

(इन्द्रेण दत्तः) इन्द्रने दिया हुआ, (वरुणेन शिष्टः) वरुण द्वारा संस्कृत बना (सोमस्य पर्णः) सोम देवताका यह पर्णमणि (इन्द्रं सहः आ अगन्) वरुण बरुणे युक्त होकर प्राप्त हुआ है । (तं) उस मणिके लिये (बहु रोचमानः) बहुत देखली मैं (दीर्घायुत्वायं श्रतशारदाय) दीर्घ आयुके लिये और सौ वर्षके जीवनके लिये (प्रियासं) प्रिय करके ॥ ४ ॥

(पर्णमणिः मह्यं अरिष्टतातये) यह पर्णमणि बड़े कल्याणके फैलानेके लिये (मा आ अरुक्षत्) मुझपर आरुद्ध हुआ है । (यथा अहं अर्यम्णः) जिससे मैं भेष्ट मनवाले (उव संविदः) और ज्ञानीसे भी (उचरतः अस्मानि) अधिक भेष्ट हो जाऊं ॥ ५ ॥

(ये धीवानः रथकाराः) जो बुद्धिमान और जो रथ करनेवाले हैं तथा (ये मनीषिणः कर्मारो) जो बुद्धिमान हठार हैं, हे (पर्णं) पर्णमणि । (त्वं सर्वान् जनान् अभितः मह्यं उपस्तीन् कृणु) तू सब जनोको मेरे चारों ओर उपस्थित कर ॥ ६ ॥

(ये राजानः राजकृतः) जो राजा और जो राजाओंको बनानेवाले हैं, (ये सुताः प्रामप्यः च) और जो सुत और प्रामके नेता हैं, हे पर्णमणि । तू सब जनोको मेरे चारों ओर उपस्थित कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— जिस मणिको देवोंने वनस्पतिसे बनाकर चारण किया था, उस-मणिको देव हमें आयु और पुष्टिको दृष्टिके लिये देवें ॥ ३ ॥

यह वनस्पतिसे बना हुआ, वरुणने हृष्टस्कारयुक्त किया हुआ और इन्द्रने हमें पहले दिया हुआ, दीर्घ और बलकी दृष्टि करनेवाला मणि है । उस मणिको मैं सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये प्रेमपूर्वक चारण करता हूँ ॥ ४ ॥

यह मणि मेरे दारीपर चारण करनेसे मेरा सुख बढावे और इससे मैं भेष्ट मनवाले और ज्ञानी पुरुषसे भी अधिक भेष्ट होऊँगा ॥ ५ ॥

जो बुद्धिमान रथकार और कुशल हठार हैं वे सब मेरे पास उपस्थित हों ॥ ६ ॥

जो सरदार और राजाका चुनाव करके राजाको बनानेवाले हैं और जो सुत और प्रामके नेता हैं वे सब मेरे चारों ओर उपस्थित हों ॥ ७ ॥

पुणोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरि वीरेण मया ।

संवत्सरस्य तेजसा तेन वभ्रामि त्वा भूणे

॥ ८ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (भूणे) पर्णमणे ! तू (पर्णः तनूपानः असि) पर्णरूप और शरीररक्षक है, (मया वीरेण सयोनिः वीरः असि) मुझ वीरके साथ समान उत्पत्तिवाला वीर है, इसलिये मैं (त्वा संवत्सरस्य तेन तेजसा वभ्रामि) तुझको संवत्सरके उस तेजके साथ बांधता हूँ ॥ ८ ॥

भावावार्थ— यह मणो उत्तम शरीररक्षक है और वीरताका उत्साह बढानेवाला है, इसको मैं एक वर्षपर्यंत स्थिर रहनेवाले तेजके साथ धारण करता हूँ ॥ ८ ॥

पर्ण मणि ।

इस सूक्तमें पर्णमणिके धारणका उल्लेख है । अथर्ववेद काण्ड २, सू. ४ में ऋत्विज मणिका वर्णन है, उस प्रसंगमें मणिधारणके विषयमें जो लेख लिखा है वह पाठक यहाँ भी देखें । यह पर्णमणि इसलिये ब्रह्मा जाता है कि यह औषधियोंके खरखसे बनाया होता है, देखिये—

१ पर्णमणिः औषधीनां पयः । (सू. ५, मं. १)

२ पर्णः (पर्णमणिः) सोमस्य उर्मं सहः ।
(सू. ५, मं. ४)

३ देवाः (पर्ण-) मणि वनस्पती निदधुः ।
(सू. ५, मं. ३)

(१) ' पर्णमणि औषधियोंका दूध ही है । (२) यह पर्णमणि सोमवज्राका उर्म इल है । (३) देवोंने पर्णमणिको वनस्पतिमें रखा है । ' ये इसके वर्णन स्पष्टतासे बता रहे हैं कि यह मणि वनस्पतियोंके दूधसे बनाया जाता है । ' पर्ण-मणि ' यह शब्द भी स्वयं अपना अर्थ व्यक्त कर रहा है कि यह (पर्ण) पत्तोंका मणि है अर्थात् वनस्पतिके पत्तोंके रससे बना है । इसके धारणसे वनस्पति-रसके बौर्यके कारण शरीरपर बड़ा प्रभाव होता है, इस विषयमें देखिये—

१ अयं पर्णमणिः वली । (सू. ५, मं. १)

२ पर्णः तनूपानः । (सू. ५, मं. ८)

३ चलन् सपत्नान् प्रमृणन् । (सू. ५, मं. १)

४ देवानां भोजः ... मा चर्चसा जिन्धतु ।
(सू. ५, मं. १)

५ मयि ह्यत्र मयि रयि धारयतात् । (सू. ५, मं. २)

६ आयुषे भर्तवे च तं अस्मभ्यं ददतु ।
(सू. ५, मं. ३)

७ पर्णः उर्मं सहः ... दीर्घायुस्वाय द्यतशास्वाय ।
(सू. ५, मं. ४)

८ पर्णमणिः अरिष्टतातये मा मारुहत् ।
(सू. ५, मं. ५)

(१) ' यह पर्णमणि बल बढानेवाला है, (२) यह (तनू-पानः) शरीरका रक्षक है, (३) यह अपने बलसे शरीररूपी मनुष्योंको नाश करता है, (४) यह (देवानां) इन्द्रियोंका बल बढानेवाला है यह मेरा तेज बढावे, (५) यह मुझमें क्षाम्रतेज और शरीरकी कान्ति बढावे, (६) दीर्घ आयुष्य और शरीरकी पुष्टि इसके बडे, (७) यह मणि ब्रह्मा बल बढानेवाला है, इसके सौ वर्षकी दीर्घायु मुझे प्राप्त हो, (८) यह मणि शरीरपर धारण करनेपर मेरी शक्ति बढावे । '

इस प्रकारके वर्णन बता रहे हैं कि इन ' पर्णमणि ' के अर्द्धर बड़ा प्रभाव है और इसके शरीरपर धारण करनेसे शरीरमें नित्य उत्साह रहता है, बलके कार्य करनेके योग्य शरीरकी शक्ति होती है, शरीरका तेज बढता है और मनुष्य बड़ा तेजस्वी होनेके कारण प्रभावशाली दिखाई देता है । यह वनस्पतिके रसोंका प्रभाव है । वैच जोग इस मणिकी खोज करें ।

राष्ट्रका निज चनना ।

' राष्ट्रका निज ' बनकर रहनेका उपदेश इस सूक्तमें विश्व मनन करने योग्य है । जो लोग राष्ट्रमें रहें वे निज बनकर

रहेगे तो ही राष्ट्रका भला हो सकता है; इस विषयमें द्वितीय मंत्र मानन करने योग्य है—

अहं राष्ट्रस्य सर्वाधर्मो निजो भूयासमुत्तमः ।

(सू. ५, मं. २)

' मैं इस राष्ट्रके हितचिंतक वर्गमें उत्तम निज बनकर रहूँगा ।' यहाँ राजा, राजरुष, अधिकांती वर्ग आदि सब राष्ट्रके निज बनकर रहें यह उपदेश स्पष्ट है । राष्ट्रमें रहता हुआ कोई मनुष्य राष्ट्रके लिये पराया बनकर न रहे । यहाँ निज बनकर रहनेका भाव क्या है और पराया बनकर रहनेका भाव क्या है यह अवश्य देखना चाहिये । अपने यहाँका ही उदाहरण लीजिये । इस भारतवर्षमें जातानो, चीनो, अमेरिकन और बोरियोपियन जाते हैं और रहते भी हैं, परंतु इनमेंसे कोई भी ' भारतवर्षका निज ' बनकर नहीं रहता । जो वे आते हैं वे ' उपरी ' बनकर आते हैं, उपरी बनकर यहाँ रहते हैं, उपरी बनकर यहाँका कारोबार करते हैं और पचास चले आते हैं । इस कारण इनके उपरी भावसे भारतवर्षका अहित ही होता है । इसलिये उपरी भावसे रहना राष्ट्रके लिये घातक है । जो ' निजभाव ' से रहेंगे, राष्ट्रका जो हित और अहित है वह अपना हित और अहित है, इस दृष्टिसे व्यवहार करेंगे उनसे राष्ट्रका अहित नहीं होगा । यह तो साधारण मनुष्योंकी बात होगई है, परन्तु जो राष्ट्रके कर्मचारी हैं, यदि वे उपरी या पराये भावसे राष्ट्रमें रहने लगे, तो राष्ट्रका नुकसान कितना होगा इसका हिसाब लगाना कठिन है । इस दृष्टिसे पाठक देखें कि ' राष्ट्रका निज ' बनकर रहनेका भाव कितना उच्च है और राष्ट्रहितकी दृष्टिसे कितना आवश्यक है । ' निजभाव ' से रहनेके कारण विदेशी लोग भी खदेड़ीके समान राष्ट्रहित करनेवाले बनेंगे और ' निज भाव ' न रखनेवाले खदेड़ी लोग भी परदेशी लोगोंके समान राष्ट्रहितका घात करनेवाले बनेंगे । यहाँ पाठक ' राष्ट्रका निज ' बनकर रहनेका कितना महत्त्व है यह देखें और अपने राष्ट्रके निज बनकर रहें ।

राजाको निर्माण करनेवाले ।

इस सूक्तके सप्तम मंत्रमें ' राज-कृताः ' शब्द है इच्छा अर्थ ' राजाको निर्माण करनेवाले (King makers) ' है । राजाको किस रीतिसे निर्माण करते हैं यह प्रश्न यहाँ उत्पन्न हो सकता है । इच्छा उत्तर इसके पूर्वके वस्तुसूत्रने ही दिया है, राजाका चुनाव प्रजा द्वारा होता है और राजमहोत्तर जाता है, इसीकी प्रजा द्वारा राजाका निर्वाचन, राजाका स्वीकार, राजाका नियोजन अथवा राजाका चुनाव कहते हैं । जिसका चुनाव प्रजा करती है, उसका नामो ' निर्माण ' ही प्रजा करता है । इस प्रकार राजाके विपु या मानुषत्वानमें प्रजा होती है, इसीलिये राजसमाके सदस्य राजाके ' विपु ' हैं ऐसा वेदमें ही अभ्युक्त कहा है (देखी अर्ध. कां. ७, सू. १२, मं. १-२) । प्रजाके जो महाजन नेता अथवा शिष्ट लोग होते हैं वे राजाका चुनाव करते हैं और उसकी निर्माण करते हैं, इसीलिये प्रजाकी रक्षा करना राजाका परम धर्म कर्तव्य है । मानुषसके समान ही प्रजासमाका यह राजधर्म है ।

मंत्र ६ और ७ में कहा है कि रथकार, सुदार, टहार, ज्ञानी पुरुष, मंत्री, सूत, प्रामनेशा, सरदार तथा राजाका चुनाव करनेवाले ये सब लोग राजाके पास रहें, राजाके अनुयायी बनें, राजाके साथ रहकर राजाको योग्य सहाय दें । इस प्रकार राजसमाका प्रजाके द्वारा निष्पन्न किये राजपुरुषों द्वारा प्रजाके हितके लिये प्रजाकी अनुमतिसे चलाया जाये । इसीसे राष्ट्रका सच्चा हित हो सकता है ।

यद्यपि यह सूक्त वस्तुतः वर्णनमिका वर्णन करता है, तथापि प्रसंगसे राष्ट्रका निज बनकर रहना, राजाका चुनाव प्रजाद्वारा करना इत्यादि महत्त्वपूर्ण बातोंका उपदेश होनेके लिये वैदिक राजनीति शास्त्रकी दृष्टिसे यह सूक्त बड़े महत्त्वपूर्ण आदेश दे रहा है । इसलिये पाठक भी इसी दृष्टिसे इस सूक्तका मनन करें ।

यह संपूर्ण अनुवाक राजमहाराजका ही उपदेश देता है ।

■ यहाँ प्रथम अनुवाक समाप्त ■

वीर पुरुष ।

(६)

(शायिः - जगद्बीजं पुरुषः । धेवता - धानस्पतिः, अश्वत्थः)

धुमान्पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादर्षि ।	
स हन्तु शत्रून्माम्कान्याहं द्वेषि ये च माम्	॥ १ ॥
सान्श्वत्थ निः शृणीहि शत्रून्वैवाघदोषतः ।	
इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च	॥ २ ॥
यथाश्वत्थ निरर्मतोऽन्तर्महृत्पुणिवि ।	
एषा तान्सर्वाभिर्महृत्पु यानहं द्वेषि ये च माम्	॥ ३ ॥
यः सहमानश्चरसि सासहान इव क्रयमः ।	
तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्साहिपीमहि	॥ ४ ॥

अर्थ— वेवा (खदिरान् अथि अश्वत्थः) खेरके वृक्षके ऊपर अश्वत्थ वृक्ष होता है इसी प्रकार (पुंसः धुमान् परिजातः) वीर पुरुषके वीर पुरुष उत्पन्न होता है । (सः माम्कान् शत्रून् हन्तु) वह मेरे शत्रुओंका वध करे (यान् सहं द्वेषि, ये च माम्) भिनका मैं द्वेष करता हूँ और जो मेरा द्वेष करते हैं ॥ १ ॥

हे (अश्व-त्थ) अश्वके समान बलिष्ठ वीर ! (तान् वैवाघदोषतः शत्रून्) उन विविध बाधा करनेवाले शत्रुओंको (निः शृणीहि) भाव डाल और (इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी) वृत्रघ्ना इन्द्रेण मित्रेण वरुणेन च मेदी) वृत्रघ्ना नाथ करनेवाले इन्द्र, मित्र और वरुणके मित्रता कर ॥ २ ॥

हे अश्वत्थ ! (यथा महति अर्णवे निरर्मनः) जैसे बट समुद्रम तू भयन करता है, (एव) उसी प्रकार (तान् सर्वाभिमर्शितान्) उन सबको छिन्न भिन्न कर (यान् सहं द्वेषि ये च माम्) भिनका मैं द्वेष करता हूँ और जो मेरा द्वेष करते हैं ॥ ३ ॥

हे अश्वत्थ ! (यः सहमानः सासहानः) जो तू शत्रुको दबानेवाला बलवान् (क्रयमः इव) बैलके समान होकर (चरसि) विकरता है, (तेन त्वया वयं सपत्नान् साहिपीमहि) उस सेरे साथ हम शत्रुओंको पराजित करेंगे ॥ ४ ॥

भावार्थ— खेरके वृक्षपर अश्वत्थ वृक्ष लगता है और उसीपर बढता है, इसी प्रकार वीर पुरुषके वीर संतान उत्पन्न होती है और भीरोके साथ ॥ बढती है । ऐसे वीर हमारे वीरियोंको इटा देंगे ॥ १ ॥

हे वीर ! तू शत्रुनाश करनेवाले वीरोंके साथ मिलकर विविध बाधा करनेवाले शत्रुओंको मार डाल ॥ २ ॥

हे शूर ! जिस प्रकार नौकाके बड़े समुद्रके पार होते हैं उसी प्रकार तू उन सब शत्रुओंका भेदन करके पार हो ॥ ३ ॥

हे बलवान् ! जो तू बलिष्ठ होकर शत्रुको दबाते हुए सर्वत्र संचार करता है, उस तेरी सहायतासे हम अपने सब शत्रुओंको पराजित कर सकते हैं ॥ ४ ॥

सिनात्वेनात्रिंशतिर्मुक्त्योः पार्श्वैरमोक्ष्यैः ।

अश्वत्थं शत्रून्मामकान्यानहं द्वेषिषि ये च माम्

॥ ५ ॥

यथाश्वत्थं वानस्पत्यानारोहन्कृणुपेऽध्वरान् ।

एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग्भिन्दद्द सहस्रं च

॥ ६ ॥

तेऽध्वराश्चः प्र प्रवतां छिन्ना नौरिव् बन्धनात् ।

न वैवाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम्

॥ ७ ॥

प्रेणांशुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा ।

प्रेणांशुस्य शास्त्रयाश्वत्थस्यं नुदामहे

॥ ८ ॥

अर्थ— हे अश्वत्थ ! (निर्मातिः सृष्ट्योः अमोक्ष्यैः पार्श्वैः एतान् आमकान् शत्रून् सिनात्तु) आपत्ति मृत्युके न दूटनेवालि पार्श्वे इन मेरे शत्रुओंको बाध देने जिनका मैं द्वेष करता हूँ और जो मेरा द्वेष करते हैं ॥ ५ ॥

हे अश्वत्थ ! (यथा आरोहन् वानस्पत्यान् अध्वरान् कृणुपे) जैसा तु ऊपर रहता हुआ अन्य हथोंको नीचे करता है, (एवा) इसी प्रकार (मे शत्रोः मूर्धानं विष्वक् भिन्दद्द) मेरे शत्रुओंके सिरको सब ओरसे तोड़ दे और (सहस्रं च) उसको जीत दे। ॥ ६ ॥

(एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग्भिन्दद्द सहस्रं च) बन्धनात् छिन्ना नौरिव् बन्धनात् (ये अध्वराश्चः प्र प्रवतां) वे अध्वरगणिके मार्गके बहते बले जाये (वैवाधप्रणुत्तानां पुनः निवर्तनं न अस्ति) विशेष बाधा करनेवालोंका पुनः लौटना नहीं होता है ॥ ७ ॥

(एतान् मनसा प्र नुदे) इन शत्रुओंको मनसे मैं हटाता हूँ । (चित्तेन उत ब्रह्मणा म) मैं चित्तसे और ज्ञानसे हटाता हूँ । (अश्वत्थस्य वृक्षस्य शास्त्रया) अश्वत्थ वृक्षकी शाखासे (एतान् प्र नुदामहे) इनको इन हटा देते हैं ॥ ८ ॥

भाषार्थ— हे शक्तिमान् ! मेरे वैरी आपत्तिवीके पार्श्वसे बाधे जायें अर्थात् वे आपत्तिवीके पक्ष ॥ ५ ॥

जिस प्रकार पीपलका वृक्ष अन्य वृक्षोंपर उगता है और उनको नीचे दबाता है उसी प्रकार वीर मेरे शत्रुओंको नीचे दबा देवे और उनके सिर तोड़ देवे ॥ ६ ॥

विशेष बाधा करनेवाले शत्रु अध्वरगणिके नीचेकी ओर गिरते जायेंगे । ऐसे एक वीर गिरे हुए फिर कभी उठते नहीं ॥ ७ ॥

मनसे, चित्तसे और अपने ज्ञानसे मैं शत्रुओंको हट करता हूँ ॥ ८ ॥

अश्वत्थकी अन्वोक्ति ।

यह सूक्त अश्वत्थकी अन्वोक्ति है । अन्वोक्ति अलंकार पाठक जानते ही है । एकका प्रत्यक्ष उल्लेख करके दूसरेके ही विषयमें कहनेका नाम अन्वोक्ति है । इसी प्रकार यहाँ अश्वत्थ वृक्षका वर्णन करते हुए वीर प्रशंसा वर्णन किया है । इसलिये यह अन्वोक्त्यान्वोक्ति है ।

बलवत् शब्दके बहुत अर्थ हैं— (१) पीपल वृक्ष; (२) [अश्व-स] अश्वके समान बलवान् बनकर रहनेवाला वीर; (३) [अ-श्व-स्य] जो कल रहेगा ऐसा निश्चय नहीं

कहा जाता, बलवत् (अ) सूर्य; (५) अश्विनी नक्षत्र; इसलिये अनेक अर्थ इस शब्दके हैं । यहाँ परन्तु दो अर्थोक्ति हैं ।

अश्वत्थ अर्थात् पीपल वृक्ष दूसरे वृक्षोंपर उगा हुआ दिखाई देता है—

यथा अश्वत्थं वानस्पत्यान् आरोहन् अध्वरान् कृणुपे । (सू. ६, मं. ६)

इस दरपर कान्य दृष्टिसे यह अलंकार हो सकता है कि यह अश्वत्थ वृक्ष बड़ा भारी वीर है जो अन्य वृक्षोंको अपने पार्श्वे नीचे दबाता है और अन्य वृक्षके सिरपर अपना पांव रखकर

धवा हो जाता है । जिस प्रकार वीर पुस्तकशत्रुके शिरको अपने पांवके नीचे दबाता है उसी प्रकार मानो पीपलका यह कलस है । इसलिये अश्वरथ बृहको अन्यायिके इस सूक्तमें शूर पुस्तकका वर्णन किया है । पाठक इस दृष्टिसे यह सूक्त पढ़े ।

आनुवंशिक संस्कार ।

इस सूक्तके प्रथम ही मंत्रमें कहा है कि 'पुंसः पुमान् परिजातः' धीरसे वीर संतान उत्पन्न होती है, वीरके कुलमें वीर उत्पन्न होते हैं । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अन्य कुलमें वीर उत्पन्न नहीं हो सकते; परंतु यहाँ वीर संतान उत्पन्न होनेके योग्य वायुमंडल कहा रहता है यहाँ दिखाया है । बचपनसे वीरताकी बातें श्रवण करनेके कारण वीरके संतान वीरत्वसे युक्त होना अर्थात् सामाजिक है, यहाँ यहाँ कहनेका तात्पर्य है । यह वीर सब प्रकारके शत्रुओंको हटा देवे, यही सब मंत्रोंमें कहा है और मंत्रोंका यह आशय सरल होनेसे इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

शत्रुका लक्षण ।

इस सूक्तमें 'वै-बाध' (विशेष बाधा करना) यही एक वैरी होनेका लक्षण कहा है (मं. १; ७) । वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक, राजकीय आदि अनेक प्रकारके शत्रु हो सकते हैं और इन केन्द्रोंमें ये शत्रु विशेष प्रकारकी बाधा भी करते हैं । यह अनुभव पाठकोंको ही है । ये सब शत्रु दूर करने चाहिये और जनताका सुख बढाना चाहिये । यह इस सूक्तके उपदेशका सार है । शत्रुको दूर करनेका उपाय इस प्रकार करना चाहिये—

मनस्ता, चित्तेन उत ब्रह्मणा मनान् प्र जुदे ।

(सू. १, मं. ८)

'मन, चित्त और ज्ञानसे शत्रुओंको दूर करनेके उपाय सोचने चाहिये' और उन उपायोंका मनन करना चाहिये । मनसे शत्रुनाश करनेका मनन करना चाहिये, चित्तसे इसी बातका चित्तन करना चाहिये, और अपना ज्ञान बढाकर उस ज्ञानसे ऐसी योजनाएं करना चाहिये कि जिससे शत्रु शीघ्र ही नष्ट हो जावे । तात्पर्य हरएक प्रकारकी युक्ति करके शत्रुको हटाना चाहिये ।

गिरावटका मार्ग ।

जो विशेष बाधा करते हैं, जो जनताको सताते हैं, जो लोगोको उपद्रव देते हैं वे स्वकर्मसे ही गिरते हैं । उनके बुरे कर्मके कारण वे स्वयं अयोगतिके मार्गसे गिरते रहते हैं, इस विषयमें सप्तम मंत्रका कथन हरएक मनुष्यके लिये मनन करने योग्य है—

बन्धनात् उचिन्ना नौः इव, ते अधराक्षः प्र
शुक्लक्षः । वैबाधप्रणुत्तानां पुनः निवर्तनं नास्ति ॥
(सू. ६, मं. ७)

'बंधनसे नौका बैती छूटती है और जलप्रवाहसे बहती जाती है उस प्रकार वे जनताको विशेष कष्ट देनेवाले दुष्ट लोग अयोगतिके नीचिको ओर गिरते जाते हैं । उनके उठनेकी कोई आशा नहीं है । जो दुष्ट जनताको विशेष बाधा करते हैं और उस कारण पतित होते जाते हैं, उनके ऊपर उठनेकी कोई आशा नहीं है ।'

इस मंत्रने पाठकोंको सावधान किया है कि वे अपने चरित्रका अवलोकन करें और सोचें कि अपनी धीरसे तो किसीको कष्ट नहीं होते हैं ? क्योंकि जो दूसरोंको कष्ट देते हैं उनकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है । एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको कष्ट देगा, एक जाती दूसरी जातीको कष्ट देगी, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको सतायेगा, तो वह सतानेवाले अन्य रीतिसे गिरते जाते हैं और उनके उठनेकी कोई आशा नहीं होती है । जो राष्ट्र दूसरे देशोंको परतंत्रतामें रखते हैं वे इसी प्रकार गिरते जाते हैं । साम्राज्यपदके कारण भी इस प्रकार गिरावट होती जाती है । यदि किसीको दबाकर एक स्थानपर रखना हो तो जैसा दबे हुएको वहाँ दबकर रहना पड़ता है, उसी प्रकार दबाने-वालेको भी वहाँ ही रहना पड़ता है । इसी प्रकार अन्य बातें पाठक जान सकते हैं । तात्पर्य यह है कि कोई भी जाती जो दूसरोंपर अत्याचार करती है, स्वयं अयोगतिके मार्गसे गिरती जाती है और जबतक वह अपना अत्याचार बंद नहीं करती, तबतक उसके उठनेका कोई माने नहीं होता है । यह जानकर कोई किसी दूसरेपर कभी अत्याचार न करे । दूसरेपर अत्याचार न करनेसे ही उन्नतिकी मार्ग खुला रह सकता है ।

विजयकी तैयारी ।

इस सूक्तमें 'सहमान, सासहान' (मं. ४) ये दो शब्द हैं, अन्य स्थानोंमें 'सहमान, असह्य' ये शब्द हैं, जो विजयकी तैयारीके सूचक हैं—

१ सहमान— शत्रुके हमले होनेपर जो अपना स्थान नहीं छोड़ता ।

२ असह्य, सासहान— इसके हमले शत्रुपर होनेपर शत्रु इसके संयुक्त ठहर नहीं सकता ।

विजय प्राप्त करना हो तो अपनी तैयारी ऐसी करनी चाहिये । तभी विजय होगा ।

पाठक इस सूक्तका इस दृष्टिसे विचार करें । और शत्रुको दूर भगानेके विषयमें योग्य बोध प्राप्त करें ।

आनुवंशिक रोगोंका दूर करना ।

(७)

(ज्ञप्तिः— भृग्वहिराः । देवता— हरिणः, तारके, आपः, यक्ष्मताशनम्)

हरिणस्य रघुप्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम् ।

स क्षेत्रियं विपाणया विपूचीनमनीनशत् ॥ १ ॥

अनु त्वा हरिणो वृषा पद्भिश्चतुर्भिरक्रीत् ।

विपाणि वि प्यं गुण्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि ॥ २ ॥

अदो यद्वरोचते चतुष्पक्षमिव ऋदिः ।

तेना ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गैभ्यो नाशयामसि ॥ ३ ॥

अम् ये द्विवि सुभगे विचृतौ नाम तारके ।

वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधर्मं पाशमुत्तमम् ॥ ४ ॥

आप इद्वा उं भेषजीरापो अमीव्चातनीः ।

आपो विश्वस्य भेषजीतास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥ ५ ॥

अर्थ— (रघुप्यदः हरिणस्य शीर्षणि अधि) देवान् हरिणके हिरके अंदर (भेषजं) औषध है । (स विपाणया) यह सींगके (क्षेत्रियं विपूचीनं अनीनशत्) क्षेत्रिय रोगके सब प्रकारसे नष्ट कर देता है ॥ १ ॥

(वृषा हरिणः चतुर्भिः पद्भिः) बलवान् हरिण चारों पांवोंसे (त्वा अनु अक्रीत्) तेरे अनुकूल आक्रमण करता है । (विपाणे) सींग । (यत् अस्य हृदि गुण्पितं क्षेत्रियं) जो इसके हृदयमें गुप्त क्षेत्रिय रोग है उसको (वि प्यं) नाश कर दे ॥ २ ॥

(अदः यत्) यह जो (चतुष्पक्षं ऋदिः इव) चार पक्षवाले छतके समान (अद्वरोचते) बनकता है (तेन ते अङ्गैभ्यः) उससे तेरे अंगोंसे (सर्वं क्षेत्रियं नाशयामसि) सब क्षेत्रिय रोगको हम नाश करते हैं ॥ ३ ॥

(अम् ये द्विवि) वे जो आशयमें (सुभगे विचृतौ नाम तारके) उत्तम प्रशयमान दो सतारों हैं— वनस्पतिदा-
हैं । (क्षेत्रियस्य अधर्मं उत्तमं पाशं वि मुञ्चतां) क्षेत्रिय रोगके नीचे और ऊंचे पाशको छुड़ा देवें ॥ ४ ॥

(आपः इत् वै उं भेषजाः) अल नि.सन्देश औषध है, (आपः अमीव्चातनीः) अल रोगनाशक है (आपः विश्वस्य भेषजीः) अल सब रोगोंकी दवा है । (ताः त्वा क्षेत्रियात् मुञ्चन्तु) वह अल तुझे क्षेत्रिय रोगके छुड़ा देवे ॥ ५ ॥

भाषार्थ— वेगसे दौड़नेवाले हरिणके सींगमें उत्तम औषध है उस सींगसे क्षेत्रिय रोग दूर होते हैं ॥ १ ॥
बलवान् हरिणके सींगसे हृदयमें गुप्त अशयामें रहा हुआ क्षेत्रिय रोग दूर हो जाता है ॥ २ ॥

यह चार पक्षवाले छतके समान हरिणका सींग चमकता है उससे सब अंगोंमें रहनेवाले क्षेत्रिय रोगका नाश होता है ॥ ३ ॥
वे जो प्रशयमान सतारोंके समान तारका नामक दो औषधियां हैं उनसे बंधके रोग दूर होते हैं ॥ ४ ॥

अल उत्तम औषध है, उससे सब रोग दूर होते हैं, सब रोगोंके लिये यह एक ही औषध है उससे क्षेत्रिय रोग दूर होता है ॥ ५ ॥

यदासुतेः क्रियमाणायाः क्षेत्रियं त्वा व्यानश्रे ।

वेदाद् तस्य भेषजं क्षेत्रियं नाशयामि त्वत्

॥ ६ ॥

अपचासे नक्षत्राणामपचासे उपसामुत् ।

अपासस्तस्य दुर्भूतमर्ष क्षेत्रियमुच्छतु

॥ ७ ॥

। अर्थ— (यत् क्रियमाणायाः मासुतेः) यदि विगठनेवाले रससे (क्षेत्रियं त्वा व्यानश्रे) क्षेत्रिय रोग तेरे अन्दर व्याप्त है । तो (तस्य भेषजं अहं वेद) उसका औषध मैं जानता हूँ और उससे मैं (त्वत् क्षेत्रियं नाशयामि) तुझसे क्षेत्रिय रोगको नाश करता हूँ ॥ ६ ॥

। (नक्षत्राणां अपचासे) नक्षत्रोंके छिपनेपर (उत उपसां अपचासे) उसके चले जानेपर (सर्वं दुर्भूतं मसत् अप) सब अनिष्ट हम सबसे दूर होवे तथा (क्षेत्रियं अप उच्छतु) क्षेत्रिय रोग भी दूर जावे ॥ ७ ॥

भावार्थ— यदि विगठे जलके निमित्तसे तेरे अन्दर क्षेत्रिय रोग प्रकट हुआ है तो उसके लिये औषध मैं जानता हूँ और उससे रोग भी दूर करता हूँ ॥ ६ ॥

नक्षत्र छिपनेपर और उपा चली जाते ही सब रोगबीज हम सबसे दूर होवे और हमारा क्षेत्रिय रोग भी दूर होवे ॥ ७ ॥

मातापितासे संतानमें आये क्षेत्रिय रोग ।

जो रोग मातापितासे संतानमें आते हैं उनको क्षेत्रिय रोग कहते हैं । ये क्षेत्रिय रोग दूर होना कठिन होता है । इनकी चिकित्सा इस सूक्तमें कही है ।

हरिणके सींगसे चिकित्सा ।

जो कृष्ण मृग होता है, उसके सींग बड़े भारी होते हैं, उन सींगोंमें क्षेत्रियरोग दूर करनेका गुण होता है । 'हरिणके सिरमें औषध है जो सींगमें आता है उसके कारण क्षेत्रिय रोग दूर होते हैं । (मं. १)' हरिणके सींगके विषयमें वैद्यकग्रंथका—

मृगशृङ्गं भस्महृद्रोगं त्रिकशलादी शस्तम् ।

—वेद्यक शब्द सिधु ।

'मृगका सींग, भस्मरोग, हृदयरोग और त्रिक शलादि रोगोंके लिये प्रशस्त है । यह वंशमें इस सूक्तके कथनके साथ संगत होता है ।

हृदय रोग ।

इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें 'हृदि गुण्पित क्षेत्रियं' (मं. २) हृदयमें रहनेवाला गुप्त क्षेत्रिय रोग, यह प्रथमः हृदयरोग ही होगा । तृतीय मंत्रमें 'अंगम्यः क्षेत्रियं' (मं. ३) सब अंगोंमें क्षेत्रिय रोग दूर करनेकी बात कही है । प्रथम मंत्रमें सामान्य क्षेत्रिय रोगोंका वर्णन है । ये सब रोग हरिणके सींगसे

५ (अथर्व. भाष्य, काण्ड ३)

दूर होते हैं । हरिणका सींग बंदनके समान पथरपर जलमें घिसकर सिरपर लगाया जाता है अथवा घोड़ा घोड़ा अल्प-प्रमाणमें पेटमें भी डालते हैं । इस प्रातमें छोटे बालकोंको उक्त प्रकार किंचित् जलमें घोलकर पिलाते भी हैं और माताएँ कहती हैं कि इससे संतानोंको आरोग्य होता है । सिरमें गर्मी पडनेपर सिरपर लगानेसे गर्मी दूर होती है । मस्तिष्क पागल होनेकी अवस्थामें यह उत्तम औषध है ।

औषधि चिकित्सा ।

चतुर्थ मंत्रमें 'सुभगा और तारका' ये दो शब्द हैं । इसी प्रकारका मंत्र काण्ड २, सू. ८ में आया है, देखिये—

भगवती और तारका ।

भग-घती विचृतौ नाम तारके ॥

(कां. २, सू. ८, मं. १)

इसके साथ इस सूक्तका मंत्र भी देखिये—

सु-भगे विचृतौ नाम तारके ॥

(कां. २, सू. ७, मं. ४)

इसमें विधानकी समता है । इसीलिये द्वितीय काण्डके अष्टम सूक्तके प्रथममें 'भगवती और तारका' वनस्पतियोंके विषयमें जो लिखा है, वही यहाँ पाठक समझे । सुभगा और भगवती ये दो शब्द एक ही वनस्पतिके वाचक होंगे । और तारका शब्द दूसरी वनस्पतिके वाचक होगा । ये दो वनस्पतियाँ

क्षेत्रियरोगको दूर करने के हैं। इनका किसका बोध लेना है इस विषयमें का. २, सू. ८, मं. १ का विवरण देखिये।

दुलोक और भूलोकमें समान औषधियाँ।

वनस्पतियोंके साथ दुलोकका संबंध बताया है। घोग दुलोकमें है और पृथ्वीपर भी वनस्पतिरूप है। इसी प्रकार 'कुमगा (मगवतो) और तारका' ये दो औषधियाँ नी वनस्पतिरूपसे पृथ्वीपर हैं और तेजस्वरूपसे दुलोकमें हैं। यह वर्णन वनस्पतिका प्रशंसापरक प्रतीत होता है।

जलाचिकित्सा।

क्षेत्रिय रोग दूर करनेके लिये जलाचिकित्सा करनेका उपदेश इस सूक्तके पंचम मंत्रमें है। इस मंत्रमें कहा है कि 'जल सब रोगोंकी एक दवा है इसलिये क्षेत्रिय रोग भी इससे दूर हो

सकते हैं।' जलके आरोग्यवर्धक गुणके विषयमें का. १, सू. ४-६ ये तीन सूक्त देखिये।

षष्ठ मंत्रका आशय यह है कि यदि रोग भयवा क्षेत्रिय रोग बिगड़े खान या पानसे हुए हों, तो पूर्वोक्त प्रकार दूर हो सकते हैं। अर्थात् पूर्वोक्त पांच मंत्रोंमें कहे उपाय ही सब रोग दूर करनेके लिये पर्याप्त हैं।

उक्त उपायोंसे अति जोड़े समयमें रोग दूर हो सकते हैं। यदि रोगका प्रारंभ आज हुआ है तो रात्रीके तारागण छिय जानेके समय तथा उपःकाल दूर होकर दिनका प्रकाश शुरू होते ही ये सब रोग दूर होते हैं। यदि यह वर्णन काव्यपरक माना जाय तो उसका अर्थ इतना ही होगा कि 'अतिक्षीप्र रोग दूर होंगे।'

राष्ट्रीय एकता ।

(८)

(ऋषिः— अथर्वी । देवता— मित्रः, विश्वेदेवाः, नानादेवता)

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेद्यन्पृथिवीपुंस्रियाभिः ।

अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्वृहद्राष्ट्रं संवेद्यं दधातु

॥ १ ॥

धाता रातिः संवितेदं जुपन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्षन्तु मे वचः ।

दुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्टा यथासानि

॥ २ ॥

अर्थ— (उक्तिर्याभिः पृथिवी संवेद्यन्) किरणोंसे पृथ्वीको संयुक्त करता हुआ (ऋतुभिः कल्पमानः मित्रः) ऋतुओंके साथ समर्थ होता हुआ (मित्रः) मित्र (आयातु) आवे (अथ) और (वरुणः वायुः अग्निः) वरुण, वायु और अग्नि (अस्मभ्यं संवेद्यं वृहत् राष्ट्रं) हम सबके लिये उत्तम प्रकार रहने योग्य बड़े राष्ट्रको (दधातु) धारण करे ॥ १ ॥

(धाता रातिः संवितः) धारण कर्ता, दाता संवितः (मे हृदं वचः) मेरा यह वचन (जुपन्तां) प्रीतिसे सुने और (इन्द्रः त्वष्टा) इन्द्र और त्वष्टा कारीगर (मे हृदं वचः प्रति हर्षन्तु) मेरा यह वचन स्वीकार करें। (शूरपुत्रां देवीं अदितिं दुवे) शूरपुत्रीकली अक्षत देवी माताको मैं बुलाता हूँ (यथा सजातानां मध्यमे-स्थाः असानि) जिससे मैं स्वजातियोंमें मध्य-प्रमुख स्थानपर रहनेवाला हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ— अपने किरणोंसे पृथ्वीको प्रकाशित करनेवाला और ऋतुओंके साथ सामर्थ्य बढ़ानेवाला सूर्य, वरुण, वायु और अग्नि ये सब देव इमें ऐसा बड़ा विशाल राष्ट्र देवें कि जो हमारे रहने योग्य हो ॥ १ ॥

सबका धारणकर्ता, दाता संवितः और इन्द्र तथा त्वष्टा ये मेरा वचन सुनें और मानें, तथा मैं शूर पुत्रोंकी माता देवी अदितिकी भी कहता हूँ कि इन सबका ऐसा सहाय्य मुझे प्राप्त हो कि जिससे मैं स्वजातियोंमें विशेष प्रमुख स्थानपर विराजमान होनेकी योग्यता प्राप्त कर सकूँ ॥ २ ॥

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विधानादित्याँ अहमुत्तरत्वे ।

अयमग्निर्दीदायर्दीर्घमेव संजातैरद्वोऽप्रतिब्रुवद्भिः ॥ ३ ॥

इहेदंसाय न परो गमायेयो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत ।

अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥ ४ ॥

सं वो मनांसि सं ब्रवा समाकृतीर्नमामसि ।

अमी ये विव्रता स्थन तान्वाः सं नमयामसि ॥ ५ ॥

अहं गृष्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।

मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्तमान एतं ॥ ६ ॥

अर्थ— (अहं सोमं सवितारं विश्वान् आदित्यान्) मैं सोम, सविता और सब आदित्योंको (उत्तरत्वे) अधिक भेद्यताकी प्राप्तिके लिये (नमोभिः हुवे) अनेक सत्कारोंके साथ बुलाता हूँ । (अ-प्रति-ब्रुवद्भिः सजातैः इहः) विरुद्ध भाषण न करनेवाले स्वभाषियोंके द्वारा प्रदीप्त किया हुआ (अयं अग्निः) यह अग्नि (दीर्घ एव दीदयत्) बहुत कालतक प्रकाशित रहे ॥ ३ ॥

(इहे इत् असाय) यहा ही रहो, (परो न गमाय) दूर मत जाओ । (इयं गोपाः) अन्नयुक्त गौध पालन करनेवाला (पुष्टपतिः वः आजत्) पोषण करता हुआ तुमको यहां लावे । (विश्वे देवाः) सब देव (अस्मै कामाय) इस कामनाकी पूर्तिकी (कामिनीः वः) इच्छा करनेवाली तुम प्रजाओंको (उप उप संयन्तु) एकताके विचारसे संयुक्त करें ॥ ४ ॥

(वः मनांसि सं) तुम्हारे मनोंको एक भाषणें युक्त करो, (ब्रवा सं) तुम्हारे कर्मोंको एक भाषणें युक्त करो (आकृतिः सं नमामसि) संकल्पोंको एक भाषणें श्रुताते हैं । (अमी ये विव्रताः स्थन) यह जो तुम परस्पर विरुद्ध कर्म करनेवाले हो (तान् वः सं नमयामसि) उन सब तुमको एक विचारसे हम श्रुताते हैं ॥ ५ ॥

(अहं मनसा मनांसि गृष्णामि) मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको लेता हूँ । (मम चित्तं चित्तेभिः अनु आ-इत्) मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाकर आओ । (मम वशेषु वः हृदयानि कृणोमि) मेरे वशमें तुम्हारे हृदयोंके में करता हूँ । (मम यातं अनुवर्तमानः आ-इत्) मेरे बालबालके अनुकूल चलनेवाले होकर यहां आओ ॥ ६ ॥

भावार्थ— मैं नमन पूर्वक सोम, सविता तथा सब आदित्योंको बुलाता हूँ कि वे मुझे ऐसी सहायता दें कि मैं अधिक भेद्य योग्यता पाके योग्य होऊँ । परस्पर विरोध न करनेवाले स्वभाषी लोगोंके द्वारा जो यह एक राष्ट्रीयताका अग्नि प्रदीप्त किया गया है वह बहुत देरतक हमारे लोगोंमें जलता रहे ॥ ३ ॥

तुम सब यहां एक विचारसे रहो, परस्पर विरोध करके एक दूसरेसे दूर न हो जाओ । अन्न अपने पाश रखनेवाला कृषक और गौओंका पालन करनेवाला, तुम्हारी पुष्टि करनेवाला बैराग्य तुमको इकट्ठा करके यहां लावे । एक इच्छाकी पूर्तिके लिये प्रयत्न करनेवाली सब प्रजाओंको सब देव एकताके विचारसे संयुक्त करें ॥ ४ ॥

तुम्हारे मन एक करो, तुम्हारे कर्म एकताके लिये हों, तुम्हारे सकल्य एक हों जिससे तुम सबद्वारासे युक्त हो जाओगे । जो ये आपसमें विरोध करनेवाले हैं उन सबको हम एक विचारसे एकत्र श्रुता देते हैं ॥ ५ ॥

सबसे प्रथम मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको आकर्षित करता हूँ । मेरे चित्तके अनुकूल तुम अपने चित्तोंका बनाकर यहां आओ । मैं अपने वशमें तुम्हारे हृदयोंको करता हूँ । मैं जिस मार्गसे जाता हूँ वध मार्गपर चलते हुए तुम मेरे पीछे पीछे चले आओ ॥ ६ ॥

अधिक उच्यता ।

मनुष्यके अंदर अधिक उच्यताकी प्राप्ति करनेकी इच्छा स्वभावतः रहती है । कोई भी मनुष्य मनसे यह नहीं चाहता कि अपनी उच्चति न हो । हरएक मनुष्य जन्मतः उच्चति ही चाहता है । इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन विचारणीय है—

दुधे सोमं सयितारं नमोभि-

दिश्वानादित्याँ अदमुत्तरत्वे ॥ (सू. ८, मं. ३)

'सोम, सयिता और सब आदित्योंको उच्च होनेकी स्वर्णमिं सहायताके लिये बुलाता हूँ ।' अर्थात् मैं देवताओंसे ऐसी सहायता चाहता हूँ कि जिसमें मैं दिव्य मार्गसे उच्चतितो प्राप्त कर सकूँ ।

'उत्, उत्तर' ये शब्द एक-दूसरे एक बटकर अवस्थाके दोषक हैं । साधारण अवस्थासे 'उत्' अवस्था बटकर और उच्यसे 'उत्तर' अवस्था अधिक भेद होता है । मनुष्य सदा 'उत्तरत्वं' की प्राप्तिका प्रयत्न करे यह तृतीय मंत्रकी सूचना है । अर्थात् मनुष्य अपनेसे उच्च अवस्थामें चढनेका यत्न तो अवश्य ही करे परंतु उच्यसे भी एक सीढ़ी ऊपर होनेका ध्येय अपने सम्मुख रखे । 'उत्-उत्तर-त्वं' शब्दमें यह सब अर्थ ही जो पाठकोंको अवश्य देखना चाहिये ।

यह अधिक उच्च अवस्था देवमार्गसे ही प्राप्त करना चाहिये । 'श्रेय और प्रेय' अथवा 'दैव और अमृतर' ऐंम मार्ग मनुष्यके सम्मुख आते हैं, उनमेंसे श्रेय अर्थात् दैव मार्गका अवलंबन करनेसे मनुष्यका कल्याण होता है और दूसरे मार्गपरसे चलनेसे मनुष्यकी हानि हो जाती है । अमृतर मार्गकी दूर करनेके लिये और श्रेय मार्गपर जानेकी प्रेरणा करनेके लिये हीं इस मंत्रमें 'देवताओंकी नम्रतापूर्वक प्रार्थना' करनेकी सूचना दी है । देवताओंकी नम्रतापूर्वक प्रार्थना करनेवाला मनुष्य सदासा निरुद्ध मार्गपर अपना गाँव नहीं रख सकता । देवताओंकी सहायताकी प्रार्थना इस प्रकार मनुष्यवर्गके विकासका हेतु है । एक बार इस देवी मार्गपर अपना गाँव रखनेके बाद भी कई मनुष्य अमृतरौ शल्लसाओंमें पँच आते हैं । इस प्रकारकी गिरावटसे बचानेके हेतु चतुर्थ मंत्र कइता है कि—

इद इत् असाथ, न परो ममाथ । (सू. ८, मं. ४)

'इसी देवी मार्गपर रहने, इसको छोड़कर अन्य मार्गसे न जाओ ।' यह सावधानीकी सूचना विशेष ध्यान देने योग्य है । कई बार ऐसा देखा गया है कि मनुष्य आत्मोन्नतिके पथसे उच्चत होता चला जाता है और फिर एकदम गिरता है । ऐसा न होने दस लिये इस चतुर्थ मंत्रने यह सूचना दी है । यदि

पाठक इस सूचनाको ध्यानमें धारण करेंगे तो निःसंदेह इसके उनका बचव हो सकता है ।

उन्नतिका मार्ग ।

मनुष्यकी उन्नतिके लिये, मनुष्य सामाजिक प्राणी होनेके कारण, उसको सांघिक जीवनमें रहना आवश्यक है । यह अलग अलग रहकर उन्नत हो नहीं सकता । वैयक्तिक जीवनके लिये इतने स्वार्थत्यागकी आवश्यकता नहीं है जितनी कि सामुदायिक जीवनके लिये आवश्यकता है । इस कारण सामुदायिक जीवन स्थित करनेवाले मनुष्योंके लिये उचित है कि वे अपना व्यवहार ऐसा करें कि जिससे समाजमें परस्पर विरोध पैदा न हो, इस विषयमें पंचम मंत्रका उपदेश देछिये—

यः मनांसि सं, यः व्रतामि सं, यः आकृतीः सम् ।

(सू. ८, मं. ५)

'सुन्दारे मन, सुन्दारे बर्न और सुन्दारे संकल्प सम्पत्तीलिये एकताकी बढानेवाले हों ।' इस मंत्रमें जो 'सं' उपसर्ग है वह 'उत्तमता और एकता' का चोत्तक है । मनुष्योंके संकल्प, उनके मानसिक विचार और सब प्रकारके कर्म ऐसे हों कि जो एकताकी तथा उत्तमताकी वृद्धि करनेवाले हों । कई लोग बाहरसे कोई सुरा कार्य करेंगे नहीं, परन्तु मनसे ऐसे सुरे विचार और सुरे संकल्प करेंगे, कि जिनका परिणाम आपसमें किंसाव मवानेका हेतु बने । ऐसा नहीं होना चाहिये । संकल्प, विचार और कर्म सभी सदा शुभ होने चाहिये और कभी वैरका भाव उच्यमें नहीं आना चाहिये । यदि अपने समाजमें कोई इसके विरुद्ध बर्तान करनेवाला ही तो; उसको भी समझाकर समाजपर लाना चाहिये, इस विषयमें पंचम मंत्रका उच्यार्थ देखने योग्य है—

अभी ये धियता स्थन ताभः स नमयामसि ॥

(सू. ८, मं. ५)

'ये जो विरुद्ध व्याकरण करनेवाले हैं उनको भी एकताके मार्गपर हम झुका देते हैं ।' इस प्रकार विरोधी लोगोंकी भी समझाकर एकताके मार्गपर लाना चाहिये । समाजके शासनका ऐसा प्रबंध होना चाहिये कि जिसमें रहनेवाले लोग विरुद्ध मार्गपर चल ही न सकें । सज्जन तो सदा शुभ मार्गपरि चलेंगे ही, परन्तु दुर्जन भी विरोधके मार्गपर आना छोड़ दें और शुभ मार्गपर चलनेमें हों अपना लाभ है इस बातको अच्छी प्रकार समझ जाय । इस प्रकार सब जनताको एकताके मार्गपर लानेसे और समाजसे दुर्बल करनेवाले मनुष्योंको दूर कर देनेसे अथवा उनको सुधारनेसे जनताकी उन्नतिका मार्ग सीधा हो सकता है ।

सुधारका प्रारंभ ।

इमेंशा यह बात ध्यानमें धारण करना चाहिये कि सुधारका प्रारंभ अपने अन्तःकरणके सुधारसे होता है । जो लोग अपने अन्तःकरणके सुधार करनेके विना ही दूसरोंके सुधार करनेके कार्यमें लगते हैं, वे न तो उस कार्यको निभा सकते हैं और न स्वयं उन्नत हो सकते हैं । इसलिये वेदने इस सूक्तके छठे मंत्रमें अपने सुधारसे जगत्का सुधार करनेका उपदेश किया है, वह अवश्य देखिये—

अहं मनसा मनांसि सृष्णामि ।

मम वशेषु वः हृदयानि सृणोमि ॥

(सू. ८, मं. ६)

‘ मैं अपने मनसे अन्य लोगोंके मन आकर्षित करता हूँ । इस प्रकार मैं अपने वशमें अन्योंने हृदयोंको करता हूँ । ’

इस मंत्रमें ‘ अपने शुभाचरणसे अन्योंने दिलोंको आकर्षित करनेका उपदेश ’ हरएकको ध्यानमें रखने योग्य है । पाठक ही विचार करें और अपने चारों ओर देखें कि कौन दूसरोंके मनोंको आकर्षित कर सकता है ? क्या कभी कोई दुःखचारी अशुभ संकल्पवाला मनुष्य जनताके मनोंको आकर्षित कर सकता है ? ऐसी बात कभी नहीं होती । सत्युक्त और शुभ संकल्पवाले पुण्यात्मा ही जनताके मनोंको आकर्षित कर सकते हैं । अहित अवस्थामें ही नहीं प्रयत्न करनेके पश्चात् भी उनके सद्भावधरित शब्द जनताके मनोंका आकर्षण करते रहते हैं । यह उनमें सामर्थ्य उनके शुभ और सब संकल्पोंके कारण ही उत्पन्न होता है । ऐसे पुरुष जो शोचते हैं वेसा जनता करती है, यह उनकी तपस्याका फल है । हरएक मनुष्यको यह सामर्थ्य प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये । अपने संकल्पोंकी पवित्रता करनेसे ही यह बात सिद्ध हो जाती है । जो अपनी पवित्रता जितनी करेगा उतनी सिद्धि उसको प्राप्त होगी । इसके पश्चात् यह पुण्यात्मा कह सकेगा कि—

मम चित्तं चित्तेभिः अनु पत ।

मम यातं अनु चतर्मान पत ॥ (सू. ८, मं. ६)

‘ मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाओ, मेरे अनुकूल चलते हुए मेरे मार्गसे चलो । ’

वस्तुतः जो पुरुषात्मा सब मार्गपर चलके अपने शुभ संकल्प संकल्पोंसे जनताके मनोंको आकर्षित करते हैं उनके लिये यह सिद्धि अनायास ही प्राप्त होती है । अर्थात् उनके कहनेके विना ही अन्य लोग उनके अनुकूल अपने चित्तोंको टरते हैं और उनके मार्गसे ही चलनेका यत्न करते हैं । यह स्वयं होता रहता है । परन्तु जनताको ‘ अपने मार्गसे चलो ’ ऐसा कहनेका यदि

किसीको अधिकार होगा तो ऐसे पुण्यात्माओंको ही होता है, यह बात बड़ा कड़ी है । इन प्रकार अपना सुधार करनेवाले पुण्यात्मा जनताके मार्गदर्शक होते हैं । जगत्का सुधार करनेका सचा मार्ग इस प्रकार आत्मसुधारमें ही है । इसलिये जो प्रयत्न अयोग्य पुरुष जनताके सुधारके लिये करते हैं, उतना प्रयत्न यदि वे आत्मसुधारके लिये करेंगे तो अधिक भला ही सकता है । जो चाके आती है वह आत्मसुधार करनेके कारण ही आती है । आत्मसुधार करनेके मार्गके विना सच्चे सुधारका कोई मार्ग नहीं है । अब इस मार्गसे शक्ति की वृद्धि होती है और जब वह अपने मनसे दूसरोंके मनोंको आकर्षित कर सकता है, तभी उसकी जनताको ‘ अपने पीछे चलो ’ ऐसा कहनेका अधिकार आता है । वह कहता है कि—

‘ मेरे मार्गसे मेरे साथ साथ चलो । मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाकर चलो । (मं. ६) । ’ अर्थात् जिस मार्गसे मैं जाता हूँ उसी मार्गसे तुम आओ । इसी मार्गसे चलनेपर सुन्दारा भला होगा । इस प्रकार इस अवस्थामें यह मनुष्य जनताका मार्गदर्शक होता है । उसका आचरण और उसका जीवन अन्य जनोंके लिये मार्गदर्शक अर्थात् आदर्श होता है ।

संवेद्य राष्ट्र ।

उक्त प्रकारके मार्गदर्शक आदर्श जीवनवाले परमात्मा और पुण्यात्मा जिस राष्ट्रमें अधिक होते हैं और जहाके लोग उनके अनुकूल अपने आचरण बनाकर चलते हैं, उस राष्ट्रको ‘ संवेद्य राष्ट्र ’ कहते हैं, क्योंकि उसमें (संवेदान) प्रवेश करके वहां रहने योग्य वह राष्ट्र होता है । मनुष्य वसा आय और रई और आनंद प्राप्त करें । इस प्रकारका राष्ट्र हमें देवताओंकी कृपासे प्राप्त हो यह प्रथम मंत्रमें प्रार्थना है, देखिये—

अस्मभ्यं वृहद्वाण्टं संवेद्यं दधातु ।

(सू. ८, मं. १)

‘ हम सबके लिये देव प्रवेश करने योग्य बड़ा राष्ट्र दें । ’ अर्थात् देवोंकी कृपासे हमें ऐसा उत्तम आदर्श राष्ट्र प्राप्त होने अथवा हमारा राष्ट्र वैसा ही बने । इस प्रकारके राष्ट्रमें ‘ मैं प्रमुख बनूँगा ’ यह महत्वाकांक्षा जनताके अन्तःकरणमें रहेगी, क्योंकि इसमें किसी कारण भी किसीके साथ पक्षपात नहीं होगा, इसका सूचक वाक्य द्वितीय मंत्रमें है—

यथा सजातानां मध्यमेष्ठा अलानि ।

(सू. ८, मं. २)

‘ स्वजातियोंकी समाने मुख्य स्थानमें बैठनेके योग्य मैं होऊँगा । ’ यह इच्छा ऐसे राष्ट्रके लोगोंके अन्तःकरणमें रहेगी,

इस विषयमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है । जो पूर्वांश आरामसुधारके मार्गमें अपनी शक्तिका विकास करेंगे वे उक्त स्थानमें जाकर विराजेंगे, अन्य लोग अपनी अपनी योग्यताके अनुसार अपने योग्य स्थानमें अपना कर्तव्य करेंगे । परन्तु किसीको भी उच्चतिका मार्गमें प्रतिबंध नहीं होगा । सब लोग अपने पुद्गलार्थसे अपनी उन्नतिका साधन करेंगे और सब मिलकर अपने राष्ट्रको उन्नतिके शिखरपर ले जायेंगे । इस विषयमें एक प्रकारकी सार्विक स्पर्धा ही होती है जिसको तृतीय मंत्रमें ' वसवस्वकी स्पर्धा ' कहा है । इस स्पर्धामें परस्परका घात नहीं होता प्रत्युत परस्परकी उन्नति होती है । सब जनताके मनुष्य एक भावसे इस राष्ट्रीयताके अग्नि प्रदीप्त करते हैं और उसमें अपने अपने कर्मकी आहुतिवा डालते हैं, इस विषयमें तृतीय मंत्रका उत्तरार्ध देखिये—

राष्ट्रीय अग्नि ।

अपमग्निर्द्वादायद्दीर्घमेव सजातैर्निम्नोऽप्रतिबुवद्भिः
(सू. ८, मं. ३)

(अ-प्रति-बुवद्भिः) आपसमें विरोधका भाषण न करनेवाले (स-जातैः) स्वजातियोंके द्वारा प्रदीप्त किया हुआ यह एक राष्ट्रीयताका अग्नि बहुत दीर्घ कालतक प्रदीप्त स्थितिमें रहे । अर्थात् यह बीचमें अथवा अल्पकालमें ही न बुझ जावे । क्योंकि इसी अग्निकी गर्भमें सब राष्ट्रीय अनोरस सफल और सुफल होते रहते हैं । इसलिये यह राष्ट्रीय अग्नि सदा प्रदीप्त रहना चाहिये । यह अग्नि वे ही मनुष्य प्रकल्पित रख सकते हैं कि जो (अ-प्रति-बुवत्) आपसमें विरोधके शब्द नहीं बोलते, आपसमें झगडा नहीं करते, आपसमें द्वेष नहीं बढाते; प्रत्युत आपसमें मेल मिलाप करनेकी ही भाषा बोलते हैं । ऐसे सज्जन ही राष्ट्रीयताके महान् अमिका चयन करते हैं ।

इस सूत्रमें ' सजात ' शब्द आया है और यह शब्द वैद-मंत्रोंमें अनेक बार आया है । ' सजातीय, समान जातीय, एवजातीय ' इत्यादि अर्थमें यह शब्द प्रयुक्त होता है । जिनमें जातिभेदकी भिन्नता नहीं है ऐसे एक जातिवाले, एक राष्ट्रीयतावाले लोग, वह अर्थ इस शब्दका है । जातिभेदके कारण एक दूसरेसे लड़नेवाले लोग ' सजात ' नहीं कहलायेंगे । एक राष्ट्रके लोग परस्पर ' सजात ' ही होते हैं, परन्तु उनमें राष्ट्रीयताकी भावना प्रबल रहनी चाहिये और छोटी जातपातकी भावना गौण होनी चाहिये । ऐसे लोग जब आपसमें एकताके प्रेमसे कोई कार्य करते हैं तब उनमें एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न होती है, वही अग्नि शब्द द्वारा तृतीय मंत्रमें कही है । यही

राष्ट्रभक्तिका अग्नि है जो कि संपूर्ण राष्ट्रकी उन्नतिमें सहायक होता है ।

राष्ट्रका पोषक ।

इस प्रकारके राष्ट्रके सबे पोषक दोही लोग होते हैं, उनका वर्णन षड्युय मंत्र द्वारा हुआ है—

इयौ गोपा पुष्टपतिर्ष आजत् । (सू. ८, मं. ४)

('इयः') अन्नका उत्पन्न करनेवाला और (गो-पा) गौओंकी रक्षा करनेवाला ये दो आप लोगोंकी पुष्टि करनेवाले हैं । यह मंत्रभाग बहुत मनन करने योग्य है । अन्नकी उत्पत्ति करनेवाला किसान और गौओंकी रक्षा करनेवाला गवालिया ये दो वर्ग राष्ट्रकी पुष्टिके लिये आवश्यक हैं । राष्ट्रकी बुनियाद ठीक करनेका कार्य ये लोग करते हैं, इसलिये राज्यशासनमें इनकी स्थिति अच्छी करनेका विशेष प्रबंध होना अत्यंत आवश्यक है । यदि अन्न उत्पन्न करनेवाले किसान और गोरेखक ये दो वर्ग राष्ट्रमें अवनत हुए तो राष्ट्रकी कृदापि पुष्टि नहीं हो सकती । पाठक इस दृष्टिसे इनका महत्त्व जानें और वह उपदेश इस प्रसंगमें देनेमें बेदने कितनी महत्त्वपूर्ण बात कही है यह भी स्मरण रखें ।

शूरपुत्रोंवाली माता ।

राष्ट्रकी बुनियाद ' धंतान ' है । पुत्र और पुत्रियां ही राष्ट्रका मावी उत्कर्ष या अपकर्ष करनेवाली होती हैं । इनकी सच्ची शिक्षा माताके द्वारा होती है । माता अपने बालबच्चोंकी किस प्रकार शिक्षा देवे इसकी सूचना द्वितीय मंत्रमें दी है । इस विषयके सूचक शब्द ये हैं—

शूरपुत्रां अदितिं देवां हुये । (सू. ८, मं. २)

' शूर पुत्रोंकी अदीना देवी माताको मैं बुलाता हूँ । ' अथवा उनको मैं प्रशंसा करता हूँ । यहाँका ' अदिति ' शब्द ' अदीन, प्रतिबंधमें न रहनेवाली, राष्ट्रके स्थापनताके विचार रखनेवाली ' इत्यादि भाव रखता है । ' शूरपुत्रा ' शब्दका भाव स्पष्ट है । राष्ट्रमें देवियां ऐसी हों जिनकी अदीन और वीरपुत्रा कथा जावे । ' वीरसूत्र ' अर्थात् वीर पुत्र उत्पन्न कर यह वैदिक आधीर्षद सुप्रसिद्ध है । वही बात अन्य रीतिये यहाँ बताई है ।

राष्ट्रीय शिक्षा ।

इस प्रकारकी वीरमाताएं जहाँ होंगी वहाँ ही राष्ट्रीयताके भाव परम उत्कर्षतक पहुँच सकते हैं । देवियोंकी, बहनोंकी और पुत्रियोंकी किस बंगसे शिक्षा देना चाहिये इसका विचार भी यहाँ निश्चित हो जाता है । जिस शिक्षासे माताएं वीरपुत्र उत्पन्न करनेवाली हों ऐसी शिक्षा उनको देनी चाहिये ।

देवी सहायता ।

उक्त राष्ट्रीयताके विचारोंकी पूर्णता होकर संपूर्ण जनता इस रीतिसे समर्थ राष्ट्रशक्तिसे युक्त होवे, इस विषयमें चतुर्थ अंग देखिये—

असौ कामायोप कामिनोर्विश्वे वो देवा उप-
संयन्तु ॥ (सू. ८, मं. ४)

‘सब देव इस कामनाकी पूर्तिकी इच्छा करनेवाली तुम सब प्रजाओंको एकताके विचारसे युक्त करें।’ अर्थात् तुम सब लोगोंमें एकताका विचार बढ जावे। यह एक प्रकारसे पूर्ण और सब आशीर्वाद है। जो पाठक परमेश्वर भक्तिपूर्वक राष्ट्रोन्नतिके

लिये प्रयत्नशील होंगे वे ही इस आशीर्वादको प्राप्त करनेके अधिकारी हो सकते हैं।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ।

इस सूक्तके अन्य अंगभागमें ‘मित्र, वरुणादि देवोंकी सहायता हमें राष्ट्रशक्ति बढानेके कार्यमें प्राप्त हो’ यह आशय है। यह आशय आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक कार्यक्षेत्रमें देखकर अर्थबोध लेनेकी रीति इससे पूर्व कई प्रसंगोंमें वर्णन की है। (विशेषकर काण्ड १, सू. ३०, ३१ के विवरण देखिये) इसलिये समझ यहाँ पुनः विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। उक्त छंदमें पाठक इस सूक्तका अधिक विचार करें और बोध प्राप्त करें।

ह्रेश-प्रतिबन्धक उपाय ।

(९)

(क्रापिः - वामदेवः । देवता - धावापृथिवी, देवाः)

कर्शफस्य विश्वस्य द्यौः पिता पृथिवी माता ।

यथाभिचक्र देवास्तथाप कृणुता पुनः

॥ १ ॥

अश्रेष्माणो अधारयन्तथा तन्मनुना कृतम् ।

कृणोमि वधि विष्कन्व मुष्कावर्हो गवांमिव

॥ २ ॥

अर्थ— (कर्श+फस्य = कृशस्य) कृश अथवा निर्बलकी अथवा लची प्रकार (विश्व+फस्य) प्रबलकी भी (माता पृथिवी) माता पृथ्वी है और तबका (पिता द्यौः) पिता सुलोक है। हे (देवाः) देवो ! (यथा अभिचक्र) वैसा पराक्रम किया था (तथा पुनः अपकृणुता) लची प्रकार फिर शत्रुओंका प्रतिहार करो ॥ १ ॥

अस (अ-श्रेष्माणः अधारयन्) न करनेवाले ही कियीका धारण करते रहते हैं (तथा तव मनुना कृतम्) लची प्रकार वह कार्य मननशीलने भी किया होता है। (मुष्कावर्हः गवां इव) वैसा अण्डकोश तोड़नेवाला मनुष्य बैलोंको निर्बल कर देता है लची प्रकार मैं (वि-ष्कन्व वधि कृणोमि) रोमादि विघ्नको निर्बल करता हूँ ॥ २ ॥

भाषार्थ— बलवान और निर्बल इन दोनोंके माता-पिता भूमि और सुलोक हैं। अर्थात् ये दोनों प्रकारके लोग आपसमें भाई हैं। देवता लोग पराक्रम करके शत्रुका पराभव करते हैं, शत्रुका हटा देते हैं और निर्बलोंका संरक्षण करते हैं ॥ १ ॥

न यकते हुए परिश्रम करनेवाले ही विशेष कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। मननशील मनुष्य भी वैसा ही पुरुषार्थ करते हैं। मैं भी लची प्रकार शत्रुको तथा विघ्नोंको निर्बल करता हूँ; निघ्न प्रकार अण्डकोश तोड़नेवाले बैलका अण्डकोश तोड़कर लचीको निर्बल कर देते हैं ॥ २ ॥

पिशङ्गे द्वे खगलं तदा वंघ्नन्ति वेधसः ।

श्रवस्युं शुष्मं कावचं चधिं कृण्वन्तु वन्धुरः

येनां श्रवस्यवृथरंय देवा इवासुरमायया ।

शुनां कपिरिव दूषणो वन्धुरा कावचस्य च

दुष्ट्यै हि त्वां भत्स्यामि दूषयिष्यामि कावचम् ।

उदाशशो रथा इव शपथेभिः सरिप्यथ

एकशतं विष्कन्वानि विष्टिता पृथिवीमनु ।

तेषां त्वानग्र उज्जहर्मुनिं विष्कन्तुदूषणम्

॥ ३ ॥

॥ ४ ॥

॥ ५ ॥

॥ ६ ॥

अर्थ— (वेधसः) सनी लोग (पिशङ्गे सूत्रे) भूरे रंगवाले सूत्रमें (तत् खगलं आवधन्ति) उद मणिप्रे बाधते हैं । (वंधुरः) घघन करनेवाले, श्रवस्युं शुष्मं कावचं) प्रसिद्ध प्रबल शीघ्र रोगको (चधिं कृण्वन्तु) निर्बल करें ॥ ३ ॥

हे (श्रवस्यस्यः) यशस्वी पुत्रों ! (येन) त्रिष्वे (असुरमायया देवाः इव स्वस्थ) जीवन दानाधी दुष्टलक्ष्मी युक्त देवोंके समान आचरण करने हों तथा (कपिः शुनां दूषणः इव) बंदर जैसा दुष्टोंको तुच्छ मानना है वैसे (वन्धुरा कावचस्य च) बंधन करनेवाले रोगका अथवा दुःखका प्रतिबंध करने है ॥ ४ ॥

(दुष्ट्यै हि त्वां भत्स्यामि) दुष्टगणों हटानेके लिये मैं तुझे बाधूंगा । और (कावचं दूषयिष्यामि) भिक्षुको निर्बल बना दूंगा । (उदाशशः रथाः इव) शीघ्र चलनेवाले रथोंके समान तुम (शपथेभिः उत् सरिप्यथ) शपथोंके बंधनसे दूर हो जाओगे ॥ ५ ॥

(एकशतं विष्कन्वानि) एक ठो एक विष्ट (पृथिवीं अनु विष्टिता) पृथ्वीपर रहे हैं । (तेषां यद्रे) उनके सामने (विष्कन्तुदूषणं त्वां मणि) कृणवातक तुम मणिको (उत् उज्जहः) ऊंचा उठाया है । सबने बडकर माना है ॥ ६ ॥

भावार्थ— भूरे रंगके सूत्रसे ज्ञानी लोग मणिको बाधते हैं जिससे प्रसिद्ध शीघ्र रोगको निर्बल बना देते हैं ॥ ३ ॥

मराठी पुस्तक जीवनके देवी मार्गले जाते हैं और मनुष्यको दूर करते हैं, बंदर वृक्षपर रहता हुआ शत्रुओंको तुच्छ मानता है, इसी प्रकार रोग प्रतिबंधकी विद्या जाननेवाले रोगको दूर करते हैं ३ ४ ॥

दुष्ट शिष्टिको दूर करनेके लिये शीघ्र प्रतिबंध करना चाहिये, उसी प्रकार रोगोंकी विघ्नको निर्बल करना चाहिये । जैसे वेगवाले रथसे मनुष्य पहुंचनेके स्थानपर शीघ्र पहुंच जाता है, उसी प्रकार उक्त मार्गसे मनुष्य दुष्ट अणुप्राणोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ५ ॥

पृथ्वीपर एकशत विष्ट और दुःख हैं । उनके प्रतिबंधक तपायोंमें दुःखप्रतिबंधक मणि विशेष प्रभावशाली है जिसकी धारण किया जाता है ॥ ६ ॥

यह सूक्त ममस्मनेके लिये बडा कठिन और अत्यंत दुर्बोध है । इस सूक्तके 'कण्ड, विशङ्क, मृगल, कावच' ये शब्द अत्यंत दुर्बोध हैं और बहुत प्रयत्न करनेपर भी इन शब्दोंका यनाधानकारक अर्थ इस समयतक पता नहीं लगा । जो पाठक वेदके वर्णकी सीख कर रहे हैं वे इस विषयको खोज अवश्य करें ।

सबके माता पिता-।

अथ मंत्रके प्रथमाधेमें एक महत्त्वपूर्ण बात कही है वह सबके बंधुभावकी बात है ।

कशफस्य विशफस्य धीः पिता पृथिवी माता ।

(सू. १, मं. १)

जगत्में दो प्रकारके मनुष्य हैं, एक (कर्म+क = कृत्वा) अन्धक बलहीन अथवा जगत्की स्पष्टता, (कर्म+शक) बुरे खुरवाले अर्थात् जो अपना बचाव कर नहीं सकते; और दूसरे (विम+क) अपने आपका प्रवेश दूर दूर तक कर सकते हैं और दूसरोंका प्रारम्भ करके अपना अधिकार दूसरोंपर जमा देते हैं । इसी सम्बन्ध दूसरा अर्थ यह है कि (विम+शक) विशेष खुरवाले अर्थात् जो पशु दूसरोंको लार्थे मारनेमें समर्थ होते हैं । ' विशक ' के दोनों अर्थोंमें समान भाव यह है कि ' पाशवी शक्तिसे युक्त । '

विश्वचन्द्रयुत्व ।

जगत्में ये दो प्रकारके लोग हैं, एक (विम+शक) पाशवी शक्तिसे युक्त और दूसरे (कर्म+क) पाशवी शक्तिसे हीन । सदा ही ऐसा देखा जाता है कि पाशवी शक्तिसे बली बने हुए लोक निर्बल लोगोंके दृष्टते रहते हैं । इस कारण सामाजिक, राजकीय और धार्मिक विषयना बच जाती है और उसी प्रमाणसे जनताके ऋग बचते जाते हैं । इन ऋगोंके निवारणका एक मात्र उपाय यह है कि ' सब लोग परस्पर भाई हैं और एक परम पिता और एक परम माताकी संतानें हैं, ' इस सब भावसे जागृत करना । यदि निर्बल और सबल दोनों मानेंगे कि ' हम सबका परम पिता और परम माता एक ही है, इसलिये हम सब मनुष्य आपसमें भाई भाई हैं ' तो पश्चात् एक दूसरेमें सगुण करनेका कारण ही नहीं रहेगा । क्योंकि जो सगुण होता है वह परकी-युक्तके भावसे होता है, वह परकीय भाव इस प्रकार हट गया तो सगुण ही नहीं रहेगा । सामाजिक, राजकीय और धार्मिक सगुण, हटानेका पहला उपाय वेदने यह बताया है ।

मातृभूमिकी अपनी माता मानना और सूर्य, धुलिके शपवा (प्रकृतमय देवकी अपनी पिता समझना, वेद सगुण मिटानेके लिये कल्प उपाय है । मातृभूमिकी भक्ति यदि जनताके मनमें जाग्रत हो गई तो उन्हें सबकी एकता होनेमें विवेक नहीं लगेगा । मातृभूमिकी भक्ति ही ऐसी एक वस्तु है कि जो राष्ट्रीय एकताको विकसित कर देती है और सबमें अद्भुत सामर्थ्य उत्पन्न कर देती है । मातृभूमिकी भक्तिमें विशेषतः स्वदेशप्रेम ही आता है परन्तु भूमिमाताका विस्तृत अर्थ लेनेपर ' विश्वचन्द्रयुक्ती कल्पना भी आती है ।

पराक्रम ।

मातृभूमिका हित करनेका उद्देश्य अपने समुच्च रक्षक, उस संघर्षमें उत्पन्न होनेवाले अपने कर्तव्य करनेके लिये और उस उच्च कार्यके लिये आवश्यक साधन करनेके लिये मनुष्योंको

प्रेम रहना चाहिये । जिस प्रकार, देवागुर मुद्गमें देव असुरोंको हटानेके कार्यमें बड़ा पराक्रम करते हैं, असुरोंपर आक्रमण करते हुए उनको हटा देते हैं, उसी प्रकार छत्रभोंको हटानेके कार्यमें बड़ा पुत्रवर्ण करना चाहिये । शत्रुका पराभव करना और उनको दूर करना ये दो बातें इस पुराणार्थमें मुख्य हैं—

यथाऽभिव्यक्त देवास्तथाऽप कृणुता पुनः ॥

(सू. १, मं. १)

' जैसा (अभिव्यक्त) शत्रुपर हमला करना चाहिये वैसा ही (अपकृणुता) उनको दूर करना चाहिये । ' हमला करके शत्रुका पराभव करना चाहिये और उनका अपने स्थानसे परे भी हटाना चाहिये । इतना सब करके अशक्तोंका रक्षण करना चाहिये ।

यह सब होनेके लिये, सब लोगोंका शत्रुत्व व परमात्माको सशक्यता पिता मानना, इन दो बातोंकी आवश्यकता है । पाठक इस अतिश्रेष्ठ उपदेशका अच्छी प्रकार मनन करें ।

परिधमसे सिद्धि ।

परिधम करनेके बिना कुछ भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती है । जो सिद्धि होती है वह प्रयत्नसे साध्य होती है । जो भी विषयी लोग हुए हैं वे यत्नरहित प्रयत्न नहीं होते थे । वे परिधम करनेके लिये करते नहीं थे, इसीलिये उनमें धारक शक्ति उत्पन्न हुई और वे बातियों, समाजों और राष्ट्रोंका धारण कर सके । इसीलिये भैरवमें कहा है—

अभेधमाणो सधारयन् तथा तन्मनुनां कृतम् ॥ (सू. १, मं. १)

' जो परिधम करनेसे नहीं सकते वेही धारण करते हैं । मननशीलने भी वैसा ही कर लिया था । परिधम करनेके बिना धारक शक्ति नहीं आ सकती । और जो मननशील लोग हैं वे भी अपनी मनन शक्तिसे इसी परिणामतक पहुँचें हैं । प्रयत्न शीलता ही मनुष्य मात्रका शिद्धार करनेवाली है । इस लिये हरएक मनुष्यको प्रयत्न शीलताका महेश्वर जानकर पुत्रवर्ण प्रयत्नसे अपना उद्धार करना चाहिये और अपने राष्ट्रका भी अम्युदव साधन करना चाहिये ।

परिधमी पुत्र्य अपने प्रयत्नसे सब विघ्न दूर कर सकता है, उसके लिये सब ही अवस्थाएँ प्रयत्न साध्य होती हैं, उसके लिये अशक्य और अप्राम्य्य ऐसा कोई स्थान नहीं होता है, वह नियमपूर्वक करता है कि—

कृणांमि धाम्नि दिष्कन्धे मुष्कावर्षो गंधामिव । (सू. १, मं. २)

‘ मैं निधमसे विप्रकी निर्बल करता हूँ जिस प्रकार अन्ध-
कोशकी तोड़नेवाले लोग बैलोंको निधमसे विवर्धित करते हैं ।’
पुरोषर्ष प्रयत्नसे सब विष्णु, सब प्रतिबंध, सब आधिभ्याधिर्देहि
कष्ट दूर हो सकते हैं । पुरोषर्ष प्रयत्नके अनुसृत ये विष्णु उदर
ही नहीं सकते ।

यहाँ बैलोंके अन्धकोश तोड़कर उनको प्रयत्नके कार्यके लिये
असमर्थ बनानेकी विद्याकी सूचना है । अतःके लिये इसी
प्रकारके बैलोंका उपदेश होता है ।

असुर-माया ।

‘ असुरमाया ’ का विषय चतुर्थ मंत्रमें आया है । ‘ माया ’
शब्दका अर्थ ‘ कौशल्य, हुनर, कला, प्रयोजनताका कर्म ’ है ।
‘ असुर ’ शब्दका अर्थ ‘ (अ-सुर) दैत्य अथवा (असुर-)
बीचनकी विद्या जाननेवाले और उस विद्याका प्रकाश करनेवाले’
है । इसलिये ‘ असुर-माया ’ का अर्थ ‘ असुरोंके पापका कला-
कौशल्य, हुनर अथवा बीचनके साधन प्राप्त करनेकी विद्या ’ है ।
यह असुर माया अपनी अपनी अंगकी देहोंके पास भी रहती है
और दैत्योंके पास भी होती है । देव सम्पूर्ण प्रकारकी यह
विद्या प्राप्त करते हैं और अपनी उन्नति मिद्ध करते हैं और
अज्ञान प्राप्त करते हैं, इस विषयमें कहा है—

असुरमायाया देवा इव भ्रमस्वयः चरथ ।

(सू. ९, मं. ४)

‘ इस जीवनकी विद्यासे जैसे देव चलते हैं, वैसे तुम भी
मद्यली और प्रसंगित होकर चलते । ’ देव जैसे इस जीवन
विद्यासे मद्यली होते हैं वैसे ही तुम भी होओ । यह चतुर्थ
मंत्रका कथन मनुष्योंको पुरोषर्षके मार्गपर चलानेके लिये ही
है । जो मनुष्य इस मार्गसे चलेगी, वे देवोंके समान पृथ्वीय
होंगे और यशके भी भागी बनेंगे ।

सैकडों विप्र ।

इस पृथ्वीपर विप्र तो सैकडों हैं, क्योंकि, समात्र, आती
और पाठ्यो उचठिमें सैकडों किल्लके विष्णु होते हैं । जो भी
पुरोषर्ष करनेका कार्य चला हो, उसमें विष्णु तो अवश्य ही
होंगे, परंतु उनसे डरना नहीं चाहिये । इन विष्णुओंके विषयमें
कहा है—

एकशतं विष्कन्धानि विष्टिता पृथिवीमनु ।

(सू. ९, मं. ६)

‘ सैकडों विष्णु पृथ्वीपर हैं । ’ जब ये विष्णु हैं और हरएक
कार्यमें ये रहेंगे ही तब उनसे डरनेकी कोई आवश्यकता नहीं

है । उनको प्रतिबंध करते हुए काम करना चाहिये । काम
बढ़नेके लिये अपना वेग बढ़ाना चाहिये—

आशवो रया इव शपथेभिः उत सरिष्यथ ।

(सू. ९, मं. ५)

‘ शीघ्रगामी रथ जैसे शीघ्र गति करते हैं उसी प्रकार
पुरोषर्ष प्रयत्न करनेसे तुम भी विष्णुकी पीछे जाकर काम
जाओगे । ’ अपना वेग बढ़ानेसे विष्णु पीछे हटते हैं, परंतु जो
अपना वेग कम करते हैं, वे विष्णुसे दूर होते हैं । इसलिये
अपनी पुरोषर्ष शक्ति बढ़ानेसे मनुष्य विष्णुकी पराल करके
विष्णुका मार्ग सुधर सकते हैं । इस विषयके उदाहरण देखिये—

तुमां दूषणः कपिः इव । (सू. ९, मं. ४)

‘ कुपोंका टिटरकार करनेवाला बंदर जैसा होता है । ’ बंदर
इधर रहते हैं इसलिये वे कुपोंकी पराई नहीं करते । वे
कुपोंको प्रुच्छ समझते हैं क्योंकि वे कुपोंकी अनेका बहुत ऊंचे
स्थानपर रहते हैं, अतः कुपे उन बंदरोंकी कोई विष्णु बन नहीं
सकते । इसी प्रकार विष्णु स्थानोंमें विष्णु होते हैं उन स्थानोंकी
छोड़कर उनसे ऊंचे स्थानोंमें रहनेसे कोई विष्णु, दूर नहीं दे
सकते । जैसे बंदर इधर रहनेके कारण कुपोंके कहींसे बचे
रहते हैं, इसी प्रकार हरएक विप्रसे मनुष्य अपने आपको
बचावे । विप्रका जो स्थान होगा उधसे अपना स्थान ऊंच
करनेसे मनुष्य उनसे दूर रह सकता है । इसी विषयके
सूचक निम्न मिलित मंत्र हैं—

मवस्युं शुष्मं फाषवं वाग्निं कृण्वन्तु वन्धुराः ॥

(सू. ९, मं. ३)

काववस्य च वन्धुराः ॥

(सू. ९, मं. ४)

फाषवं दूषयिष्यामि ॥

(सू. ९, मं. ५)

‘ विप्रोंका प्रतिबंध करनेवाले लोग प्रसिद्ध शीघ्र विप्रोंका
निर्बल करें । विप्रका प्रतिष्णु करें । मैं विप्रको पराल
करूँगा । ’

ये सब विद्याय विप्रोंका प्रतिबंध करनेके सूचक हैं । विप्रोंकी
परास्त करना जबवा विप्रोंको दूर करना यह मनुष्यका ध्येय है
और इसके उपाय इसके पूर्व दिये ही हैं । शारीरिक आधिर्देहि
अपने आपका बचाव करनेके लिये मणि धारणका उपाय इसके
पूर्व कई सूत्रोंमें कहा गया है । (देखो काण्ड २, सूत्र ४) इस
प्रकारके मणि धारणसे रोगोंका प्रतिबंध हो जाता है इसलिये
मणि धारणकी सूचना देनेके लिये इस सूत्रमें निम्नलिखित मंत्र-
भाग हैं—

पिशांगे सूत्रे खगलं तदा बध्नन्ति वेधसः ।

(सू. ९, मं. ३)

दुष्टयै द्वित्वा भन्त्यामि ।

(सू. ९, मं. ५)

तेषां त्वानप्र उज्रहरमपि विष्कन्ध-दूषयाम् ॥

(सू. ९, मं. ६)

‘मूरे रंगवाने सूत्रने ज्ञानी लोग इन मणिको बांधते हैं ।

दुरवस्था इष्टानेके लिये दुष्टे बांधूया । मणिको बिज्रोंका निबन्ध करनेवाला सबसे मुख्य उपाय मानकर ऊपर उठते और धारय करते हैं ।’

इन मंत्र भाषणे स्पष्ट होजाता है कि व्याक्तिके शारीरिक रोगरूपी आधिभ्याविशोंकी इष्टानेके लिये यह मणिधारण एक उत्तम उपाय है । प्राणादिक और शारीर विज्ञोंको दूर करनेके लिये विश्वबन्धुत्वकी कल्पनाका फलदायक करनेका उपाय प्रमुञ्ज स्थान रक्षता है । तथा अन्त्यान्व संपूर्ण विघ्नोको इष्टानेके लिये परिश्रम करने धर्षान् पुनर्धार्य करनेकी शक्ति मनुष्यमें पर्याप्त है । इस सूक्तका अन्धा मनन पाठक करेगे तो उनके अपनी उन्नतिको मार्ग विनश्रदित करनेका उपाय निःसंदेह प्राप्त हो सकता है ।

कालका यज्ञ ।

(१०)

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — एकाष्टका, नानादेवता)

प्रथमा इ व्युत्थास सा येनुरमवधमे ।

सा नः पर्यस्वती दुहासुर्चरामुचरां समां ॥ १ ॥

यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं येनुर्मुपायतीम् ।

संवत्सरस्य वा पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥ २ ॥

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वां राष्ट्र्यपालहे ।

सा न आयुष्मती प्रजां रायसोपेण सं संज ॥ ३ ॥

अर्थ— (प्रथमा इ व्युत्थास) पत्नी उषकी वेला उदयको प्राप्त हुई । (सा यमे घेतुः अमवधत्) वह निवर्तने घेतु वैधी हुई । (सा पर्यस्वती) वह दूध देनेवाली घेतु (नः उत्तरा उत्तरां समां दुहा) हमारे लिये उत्तरोत्तर अर्वात् आनेवाले घरमें दूध देती रहे ॥ १ ॥

(देवाः) देव (यां उपायतीं रात्रिं घेतुं) विश्व आनेवाली रात्री रूपी येनुको देवदर (प्रतिनन्दन्ति) आनन्दित होते हैं । (वा संवत्सरस्य पत्नी) को संवत्सरकी पत्नीरूप है (सा नः सुमङ्गली अस्तु) वह हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली होवे ॥ २ ॥

हे (रात्रि) रात्री ! (यां त्वा) त्रिन दुष्टको (संवत्सरस्य प्रतिमां) संवत्सरकी प्रतिमा मानकर (उपासहे) इन सब मन्त्रों से, (सा नः आयुष्मती प्रजां) वह हमारी रात्री आयुष्मती प्रजाको (रायः सोपेण संसृज) धनको पुष्टिसे संयुक्त कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— पत्नी तथा उदयको प्राप्त हुई है । जो सुनियनोंका पावन करता है उसके लिये यह वेला कामघेतु वैधी अमृत रस देनेवाली बनती है । इसलिये यह वेला हमारा भविष्यको आयुमें हमें सौ अमृत रस देनेवाली बने ॥ १ ॥

प्रातः होनेवाली इस रात्री रूपी कामघेतुको देखकर देव आनन्दित होते हैं । यह संवत्सरकी पत्नी रूपी वेला हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली बने ॥ २ ॥

संवत्सरकी प्रतिमा रूप यह रात्री है, इसकी उपासना इन करते हैं, इसलिये यह हमारे सन्तानोंको दार्ढ्य आयु, धन और पुष्टि देने ॥ ३ ॥

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छद्वास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।
 महान्तो अस्यां महिमानो अन्वर्वध्विगाय नवमजानित्री ॥ ४ ॥
 वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविःकृण्वन्तः परिवन्सरीणम् ।
 एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा ध्रुवं स्वाम् पतयो रयीणाम् ॥ ५ ॥
 इडायास्पदं घृतवत् सरीसृपं जातवेदुः प्रति ह्वया शृमाय ।
 ये ग्रान्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु ॥ ६ ॥
 आ मां पुष्टे च पोषे च रात्रिं देवानां सुमतीं स्वाम् ।
 पूर्णा देवं परां पत् सुपूर्णा पुनरा पत ।
 सर्वान्यज्ञान्तसंभ्रजतीपमूर्जे न आ भर ॥ ७ ॥

अर्थ— (इयं एव सा) यही वह है कि (या प्रथमा व्यौच्छत्) जो पहले प्रकट हुई और जो (वासु इतरासु प्रविष्टा चरति) इन इतरोंमें प्रविष्ट होकर चलती है । (अस्यां अन्तः महान्तः महिमानः) इसके अन्दर बनी महिमाएं हैं । (नव-गत् बधुः जनित्री जिगाय) यह नूतन कुलबधु जननी होती हुई विजय करती है ॥ ४ ॥

(परिवन्सरीणं हविः कृण्वन्तः) सावत्वारिक दहनका अन्न बनानेवाले (वानस्पत्याः ग्रावाणः घोषं अक्रत) वनस्पतिके साथ संबंध रखनेवाले पत्थर छन्द कर रहे हैं । हे (एकाष्टके) एक अष्टका । (ध्रुवं सुप्रजसः सुवीराः) हम सब उद्यम संतानवाले और उद्यम करीबके तथा (रयीणां पतयः स्वाम्) धनके स्वामी होने ॥ ५ ॥

हे (जातवेदुः) उत्पन्न पदासोंकी जाननेवाले भूमि ! (इडायाः घृतवत् सरीसृपं पदं प्रति) गौरी कीधरे युक्त अन्नवाले स्थानके प्रति (ह्वया शृमाय) ह्वयकी प्रहण कर । (ये ग्रान्याः विश्वरूपाः पतयः) जो प्रानीय अनेक रूपवाले पशु हैं (तेषां सप्तानां रन्तिः मयि अस्तु) उन सत्तोंकी प्रति मुझमें होवे ॥ ६ ॥

हे (रात्रिं) रात्री ! (पुष्टे च पोषे च मा आ भर) पुष्टि और पोषणके संबंधमें मुझकी भर दे । इन (देवानां सुमतीं स्वाम्) देवोंकी मुझमें रहे । हे (देवं) जनक ! तू (पूर्णा परा पतः) पूर्ण मरी हुई-दूर जा और (सुपूर्णा पुनः मापत) उत्तम पूर्ण होकर पुनः पास आ । (सर्वान् संभ्रजती) सब यज्ञोंका उद्यम प्रकार भेवत करती हुई (नः इयं ऊर्जे आ भर) हमारे लिये अन्न और बल लाकर भर दे ॥ ७ ॥

भावार्थ— यही वेला, वह है कि जो पहले प्रकट हुई थी और जो अन्य वेलाओंके साथ संयुक्त होकर चलती है । इस वेलामें अनेक महत्त्वपूर्ण शक्तियां हैं । यह वेला विजय करती है जिस प्रकार नवीन कुलबधु प्रथम संतान उत्पन्न करती हुई कुलका यज्ञ करता है ॥ ४ ॥

१. आन संवत्वारिक दहनकी सामग्री बनानेवाले— सोमरस निकालनेवाले— पत्थर और आट्टयंत्र आनाम कर रहे हैं । हे एकाष्टके ! हम सब उद्यम संतान युक्त और उद्यम करीबके युक्त होकर बहुत धनके स्वामी बनें ॥ ५ ॥

२. दे-जातवेद । तू गौरी कीधरे युक्त तथा जिझमेंसे गौडा पी चूर रहा है ऐसा पोषे पूर्ण भिगा हुआ ह्वय प्रहण कर । जो अनेक रूपरूपवाले प्रान्य सात पशु हैं वे मेरे लिये प्रेम करते हुए मेरे साथ रहें ॥ ६ ॥

३. हे रात्री ! हमें बहुत पुष्टि और शक्ति दे । देवोंकी संयत्नकी मति हमें सहाय देती रहे । हे जनक ! तू पोषे पूर्ण होकर भूमिमें आहुति देनेके लिये आग बढ, और कहाँही देवीवापिके पूर्ण होकर हमारे पास फिर लौट आ और हमारे लिये अन्न और बल विपुल प्रमाणमें दे ॥ ७ ॥

आयमंगन्तसंवत्सरः परिविकाष्टके तत्र ।

सा न् आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज

ऋतुर्न्यज ऋतुपतीनात्त्वानुत हायनान् ।

समाः संवत्सरान्मासान्भूतस्य पतये यजे

ऋतुर्भ्यर्थावर्धेभ्यो मास्यः संवत्सरोभ्यः ।

घ्रात्रे विघ्रात्रे सप्तमूर्धे भूतस्य पतये यजे

इदंया जुह्वतो वयं देवान्भूतवता यजे ।

गृहानलुभ्यतो वयं सं विद्मामोषु गोमंतः

एकाष्टका सर्पसा तुप्यमाना जजान गर्भं महिमान्मिन्द्रम् ।

तेन देवा व्यसिहन्तु शत्रुंहन्ता दस्यूनामभवच्छरिपतिः

॥ ८ ॥

॥ ९ ॥

॥ १० ॥

॥ ११ ॥

॥ १२ ॥

अर्थ— हे (एकाष्टके) एकाष्टके : (अयं संवत्सरः) यह संवत्सर (ते पतिः) तेरा पति होकर (आयमन्) काम है। (सा) वह त (नः आयुष्मतीं प्रजां) हमारी दीर्घायुवाली प्रजाको (रायः पोषेण सं सृज) पनकः पुष्टिके पुष्ट करे ॥ ८ ॥

(मासान् ऋतुर्न्यज आर्तवान् ऋतुपतीन्) मास, ऋतु, ऋतुबंधों ऋतुपतियोंको तथा (उत हायनान् समाः संवत्सरान् यजे) अमनवर्ष, अनवर्ष और संवत्सरको अर्पण करता हूं और (भूतस्य पतये यजे) भूतके स्वामीके लिये यज्ञ करता हूं ॥ ९ ॥

(मास्यः ऋतुभ्यः आर्तवेभ्यः संवत्सरोभ्यः) मरिचे, ऋतु, ऋतुबंध संबंध रखनेवाले तथा वर्ष इन सबके लिये और (घ्रात्रे, विघ्रात्रे, सप्तमूर्धे) घातः विघात तथा सप्तमूर्धेके लिये (भूतस्य पतये यजे) भूतके पतिके लिये मैं अर्पण करता हूं ॥ १० ॥

(इदंया जुह्वतो वयं देवान्भूतवता यजे) गौ इत्या प्रातः यज्ञे पुष्ट अर्पण द्वारा हवन करनेवाले (वयं देवान् यजे) हम सब देवोंका अन्न करते हैं। (अलुभ्यतोः गोमंतः गृहान्) विदमं न्यूनता नहीं है, जो यज्ञोंके पुष्ट हैं, देवों परम (वयं उपसं विद्मामः) हम अर्पण करते हैं ॥ ११ ॥

(एकाष्टका सर्पसा तुप्यमाना) यह एक अष्टक तकले अपनी हुई (महिमानं इन्द्रं गर्भं जजान) बड़े महिमावाले इन्द्र की गर्भको प्रसूत करती रही। (तेन देवाः शत्रुन् वि-असहन्तु) हमसे-देवोंने-शत्रुओंको भीत-छिया। (दस्यूनां हन्ता शरिपतिः अभवत्) क्योंकि शत्रुओंका नाश करनेवाला शक्तिशाली प्रसूत हुआ है ॥ १२ ॥

भाष्यार्थ— हे एकाष्टके। यह संवत्सर तेरा पतिरूप है, तबकी पत्नीरूप तू हमारे नाकबन्धके लिये दीर्घ आयुष्म, धन और पुष्टि दे ॥ ८ ॥

मैं अपने दिन, पशु, मत्स्य, ऋतु, फल, अयन और संवत्सर आदि कालावधियोंको भूतपति परमेश्वरके यज्ञके लिये समर्पण करता हूं अपना अपनी आयुको बढ़के लिये अर्पण करता हूं ॥ ९ ॥

मास, ऋतु, [श्री, वर्ष, ऋतुबंधों तीन] काल, अयन, संवत्सर आदि मेरी आयुके कालविभागोंकी घाटा, विघाता, सप्तमूर्धिका भूतपति परमात्मके लिये अर्पण यज्ञके लिये समर्पण करता हूं ॥ १० ॥

मैंके पति मैं देवोंका अन्न करता हूं और देवें नष्ट करता हुआ मैं अपने पशुमें अर्पण करता हूं। हमारे पशुमें बहुतसो शत्रु होनेवाली गौएँ सदा रहें और इनारे पशुमें कमी किसी पदार्थकी न्यूनता न हो ॥ ११ ॥

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितार्षिं प्रजापतेः ।

कामान्साकं पूर्य प्रति गृह्णाहि नो हविः

॥ १३ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

अर्थ— हे (इन्द्रपुत्रे) इन्द्र जैसे पुत्रवाली ! हे (सोमपुत्रे) चन्द्रमा जैसे पुत्रवाली ! तू (प्रजापत्रेः दुहिता अस्ति) तू प्रजापतिकी दुहिता है, (नः हविः प्रति गृह्णाहि) हमारा हवि तू स्वीकार कर (अस्माकं कामान् पूर्य) और हमारा कामनाओंको पूर्ण कर ॥ १३ ॥

भाषार्थ— यह एकाष्टका तप करती हुई अठे श्रावणशाली इन्द्र नामक गर्भको धारण करती है और पश्चात् प्रकट करती है । इस इन्द्रके प्रभावसे शत्रु दूर भाग जाते हैं अथवा पूर्ण पराजित होते हैं । यह षष्ठीशाली इन्द्र शत्रुओंका नाशक है ॥ १३ ॥

हे इन्द्रको अन्न देनेवाली ! और हे सोमको जन्म देनेवाली अष्टके ! तू प्रजापतिकी दुहिता है । इस यज्ञमें जो हवि हम अर्पण कर रहे हैं उसका स्वीकार कर और हमारो अर्पण इच्छाएं पूर्ण कर ॥ १३ ॥

कामधेनु ।

काल अर्थात् समय अथवा वेला, वह एक बड़ी षष्ठीशाली कामधेनु है । यह किस मनुष्यके लिये कामधेनु होती है और किसके लिये नहीं होती, इस विषयमें प्रथम मंत्रका कथन मनन करने योग्य है—

प्रथमा ह व्युवास, सा धेनुस्त्वथमे ॥

(सू. १०, मं. १)

'पहली उषा प्रकाशित हुई है, वही नियमोंका पालन करनेवालेके लिये दूध देनेवाली गौ जैसी होती है ।' उषा ही वेलाकी सबसे प्रथम अवस्था है, इस उषासे कालके मत्पनका प्रारंभ होता है । यह वेला 'यम' के लिये ही दूध देनेवाली गौमाता बनती है । यह यम कौन है ? यम यह है—

यम ।

वर्हिंसासत्यास्तेयमहाभर्यापरिग्रहा यमाः ।

(योगदर्शन)

'आहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम हैं ।' ये मनुष्यके चालचलनके नियम हैं, इन्हींके साथ 'शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति ये पांच नियम लगे हैं ।' इनका पालन करनेवाला अर्थात् इन नियमोपनियमोंके अनुसार अपना आचरण करनेवाला 'यम' कहलाता है । नियमसे चलनेवाला मनुष्य बड़ा प्रभावशाली महात्म्य होता है, इसी मनुष्यके लिये यह 'समय' कामधेनु बनता है । परन्तु अनियमसे व्यवहार करनेवालेके लिये यह काल

मयानक कालरूप बनता है । इसलिये उद्यति चाहनेवाला मनुष्य उषा नियमोंके अनुकूल चले, समयका उपयोग उषा रीतिसे करे और अभ्युदय तथा निशेक प्राप्त करके यशका भागी बने । हरएक मनुष्य चाहता है कि—

सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥

(सू. १०, मं. १)

'वह काल हमारे लिये उत्तरोत्तरी आगुनें अथत् उस देनेवाला होवे ।' यह हरएकको इच्छा रहना स्वाभाविक है, क्योंकि सुख तो हरएकको चाहिये । परन्तु बहुत बड़े लोग कालका उपयोग उषा रीतिसे करना जानते हैं और यमनियमोंका उषा रीतिसे पालन करनेवाले तो उनसे भी बड़े होते हैं । इसलिये हरएककी इच्छा होते हुए भी बहुतेरे मनुष्योंके लिये काल प्रतिकूल होता है और जो पूर्वोक्त प्रकार यमनियमोंसे अपने आपका आचरण मुदोग्य बनाते हैं, उनके लिये ही यह अनुकूल होता है । पाठक यह नियम सबसे प्रथम ध्यानमें धारण करें, क्योंकि उद्यतिके लिये यह सबसे प्रथम आवश्यक है ।

उषासे यह काल प्रारंभ होता है, कालका प्रारंभ उषासे है । सब यह जानते हैं कि उषासे दिनका प्रारंभ होता है, इसलिये कई स्थानोंमें उषाको दिनकी माता कहा है । रात्री प्रायः निद्रामें जाती है इसलिये 'नियमोंको आचरणमें लाना, कालका योग्य उपयोग करना' इत्यादि बातें प्रायः दिनके शाय संमेष रहती हैं । रात्रीका सात आठ घण्टोंका समय निद्रामें जाता है, इसको छोड़कर जो कार्यका समय अवशिष्ट रहता है, उद्योग

सुनुपयोग अथवा दुःसुपयोग मनुष्य करता है और उन्नत या भ्रान्त होता है ।

एक पूर्ण दिनमें ' दिन और रात्री ' ये दो विभाग हैं । इतने समयके आठ प्रहर होते हैं । आठ प्रहरोंका नाम ' अष्टक अथवा अष्टका ' है, एक पूरे दिनकी यह ' एकाष्टका ' है अर्थात् प्रहरोंका समय है । दिनमें चार प्रहर और रात्रीमें चार प्रहर होते हैं, इन सबका मिलकर नाम ' एकाष्टका ' है, यही इस सूक्तकी देवता है । दिनके आठ प्रहरोंका उत्तम उपयोग कैसा करना यह बताना इस सूक्तका उद्देश्य स्पष्ट है । प्रत्येक दिनका योग्य उपयोग होता रहा तो सब आयुष्य उत्तम उपयोग होगा । सब आयुष्यका यज्ञ करनेका यही तात्पर्य है ।

अंधकारमयी रात्री ।

दिनमें प्रकाश रहता है इसलिये मनुष्य प्रायः निर्मम रहते हैं । रात्रीमें अन्धकार होनेके कारण मनुष्य मयमीत होते हैं इसलिये प्रकाशमय दिनके संबंधमें कुछ कथन करनेकी अपेक्षा अन्धकार पूर्ण रात्रीके विषयमें ही कुछ कहना आवश्यक होता है, यह कार्य द्वितीयसे चतुर्विंशतक तीन मंत्रों द्वारा हुआ है, इन मंत्रोंका आद्यय यह है—

' देव मयदासिनी अन्धकारमयी रात्रीका आनन्दसे स्वागत करते हैं, क्योंकि यह रात्री संवत्सरकी पत्नी है, वह इन सबके लिये उत्तम मंगल करनेवाली बने (मं. २) । इस रात्रीको संवत्सरकी छोटी प्रतिमा मानकर उषका स्वागत करना चाहिये, वह हमें दीर्घायु प्रसा, धन और पुष्टि देवे (मं. ३) । यही यह है कि अिच्छे पहली उषा उदित हो गई थी, यही इतर वेत्ता दिमागोंमें प्रविष्ट होकर चकती है । इस रात्रीमें सभी महिमाएँ हैं, वह वीर पुत्रको अम्न देनेवाली कुलवपुके समान यमस्त्रिनी रात्री है (मं. ४) ।'

यह भावांश इन तीन मंत्रोंका है । इन मंत्रोंमें रात्रीकी मयानकता दूर करके उषकी मंगलमयता बतायी है । जिस रात्रीको साधारण लोग हरबनी मानते हैं, उसीको वेद देखी मंगलमयी, अनंत महिमाओंसे युक्त और कुलवपुके समान भारी यशकी सूचक बताता है । सुष्टिकी घटनाओंकी ओर देखनेका यह वेदका पवित्र दृष्टिकोण है । पाठक इसी दृष्टिकोणसे जगतकी ओर देखें और उसमें परमात्माकी महिमा अनुभव करें । जैसा दिनमें प्रकाशमय स्वरूप परमात्माका दिखाई देता है उसी प्रकार रात्रीमें उसीका शीत स्वरूप प्रकट होता है, दिनमें विविधताका अनुभव होता है और रात्रीमें वह विविधता मिट जाती है । इस प्रकार दिनमें और रात्रीमें

परमात्माका मंगल स्वरूप देखना चाहिये यही वेदको बर्नाए है ।

संवत्सरकी प्रतिमा ।

तृतीय मंत्रमें रात्रीको संवत्सरकी प्रतिमा कहा है । संवत्सर वर्षका नाम है । वर्ष बड़े आकारवाला है उसकी प्रतिमा यह रात्री है । प्रतिमाका अर्थ ' प्रति+मान ' है अर्थात् मापनेका साधन । दिन रात्री या दोनों मिलकर अहोरात्र संवत्सरका माप करनेका साधन है, दिनसे ही वर्ष मापा जाता है । यही रात्री संवत्सरकी पत्नी है । संवत्सर पति है और रात्री उसकी पत्नी है । बार्हिक कालका विशाल रूप संवत्सर है और छोटा रूप दिन या रात्री है । यह रात्री—

सा नो अस्तु सुमंगली । (सू. १०, मं. २)

सा न आयुध्मती प्रजा रायस्योपेण सं सृज ।

(सू. १०, मं. ३)

महान्तो अस्या महिमानी अन्तः ।

(सू. १०, मं ४)

' यह रात्री हमें मंगलमयी होवे । यह रात्री हमें धन और पुष्टिके साथ दीर्घायु प्रजा देवे । इस रात्रीमें बड़े महिमा है ।' यह रात्रीका वर्णन निःसंशय सला है । रात्री सचमुच सुमंगली है । इसी रात्रीमें विश्वसे विश्राम लेते हुए मनुष्य इतना आराम प्राप्त करते हैं कि त्रिषका वर्णन नहीं हो सकता और त्रिषका अनुभव हरएकको है । ' जो रात्रीमें रतिक्रिया करते हैं वे ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं । (ब्रह्म उप- १।१३)' यह उपनिषद्बचन कहता है कि गृहस्थी लोग गृहस्थधर्मके नियम पालनपूर्वक रात्रीकालमें रति करते हुए और उष आश्रमके योग्य आचरण करते हुए भी ब्रह्मचर्य ही पालन करते हैं । इससे उत्तम भुवन्तान उत्पन्न होती है जो दीर्घायु और तेजस्वी भी होती है । इस प्रकार इस रात्रीमें अनेक महिमाएँ हैं और इस कारण रात्री भी उपकारक है । पाठक इस रीतिसे रात्रीका उपकार देखें और इस रात्रीका स्वागत करें । कई कहेंगे कि रात्रीमें चौरादिकोंका तथा हिंसक प्राणियोंका उपद्रव होता है इसलिये रात्री मयदायक है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसी कारण आत्मरक्षाकी शक्ति मनुष्योंमें उत्पन्न होती है और उससे धैर्य, शौर्य, वीर्य, पराक्रम आदि गुण बढ़ते हैं । इस दृष्टिसे भी रात्रीके बड़े उपकार ही हैं ।

हवन ।

आगे पंचम मंत्रमें परहरोंके द्वारा सोम औषधिका रस निकालना और यज्ञमें हवन करनेके लिये हवि तैयार करनेका वर्णन

है । षष्ठ मंत्रमें हरएक प्रकारको इति घोषे पूर्णतया निगो कर, घो चूता है ऐसी अवस्थामें हवन सामग्रीको आहुतियां डालनी चाहिये इत्यादि वर्णन है । यह सब सजसजको लिये लक्ष्यपूर्वक देखने योग्य है । घोंके अन्दर हवाका दोष दूर करनेका सामर्थ्य है, इस कारण हवा शुद्धिके लिये हवन इष्ट हो है । ननुष्य अपने व्यवहारके अनेक प्रकारके विष हवामें फेरता है, इसलिये उन रोगोत्पादक विषोंका उपशम करनेके लिये इस प्रकारका हवन करना अत्यंत आवश्यक है । इस प्रकार हवनादि द्वारा बसुधो शुद्धता करनेसे गृहस्थो लोक शुद्धी, बलवान्, नारोग और सुप्रज्ञासे युक्त होंगे, यह सूचना संवत्स मंत्रके उत्तारार्थमें मिलती है, वह सूचना हरएक गृहस्थको मनमें धारण करना चाहिये । षष्ठ मंत्रके ' उत्तारार्थमें प्राणीग सप्त पशु मनुष्योपर प्रेम करते हुए परमें रहें ' ऐसा वक्ष है । यह गृहस्थाश्रमका स्वरूप है । गृहस्थके घरमें गाय बैल, घोडे घोडीयां, भेड़ बकरी आदि पशु और उनके बछ्ने रहें, यह घरकी शोभा है, इनका उपयोग भी है ।

सप्तम मंत्रके द्वितीय भागसे आहुति लालनेवाके चमसका वर्णन करते हुए एक बडे महत्त्वपूर्ण बातका उपदेश किया है । ' आहुति देनेनाला चमस पूर्ण भरकर आग्नेके पास चला जावे और बड़ासे आग्नेयि तैत्रश्रितता लेकर वापस आवे और वह हवन करनेवालीको तैत्रश्रितता बढाने ।

पूर्णं दधे परापत, सुपूर्णा पुनरा पत ।

(सू. १०, मं. ७)

' चमस पूर्ण भरकर दान देनेके लिये आगे बडे और रापस आग्नेके समय भी बडादे तैत्र भरकर वापस आवे । ' इसमें चमसका भरकर जाना और भरकर आना लिखा है । दान देनेके समय चमस भरकर आग्नेके पास जाय और अपनी आहुती दे देवे, दान देनेके समय बंजूषी न की जावे, यह शोध यहाँ मिलता है । शिशु देवताको दान दिशा है उस देवताके प्रशंसित गुण उस चमसमें आते हैं; चमस खाली होते ही मानो वह देव अपने गुण उस चमसमें भर देता है । उन गुणोंको प्रहण करके वह चमस वापस आवे और दानदाताको गुणों बढाने । यह आशय यहाँ है । इस मंत्रके मननसे पाठक बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं । ' यज्ञ ' का ' दान और आदान ' इस मंत्रके मननसे अच्छी प्रकार ज्ञात हो सकता है । ' जो अपने पास है वह दूसरोंके हितार्थ दान देना और दूसरोंमें जो पैध गुण हों उनको अपनाना ' यह यज्ञका तत्त्व इस मंत्रके स्पष्ट हो रहा है । पाठक इसका मनन करें ।

आग्ने अष्टम मंत्रका आशय द्वितीय और तृतीय मंत्रोंके

आशयके समान ही है इसलिये इन मंत्रपर अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है ।

कालका यज्ञ ।

नवम और दशम मंत्रोंमें कालके अवधौका माननिर्देश करते उन कालवर्षोंका यज्ञ करनेके संबंधमें बडा महत्त्वपूर्ण उपदेश है—

(१) मास= महिना । (२) ऋतु= दो मासका समव । (३) यार्तिव काल= दो ऋतुओंसे बननेवाला काल, ऋतु काल, उष्ण काल, वर्षा काल । (४) अयन= तीन ऋतुओंका समव, वर्षके दो अयन होते हैं, दो अयनोंके मासके भिन्न हुए वर्षका नाम ' हायन ' होता है । (५) समाः= तीस दिनोंका एक मास, ऐसे बारह मासोंका अर्थात् ३६० दिनोंका एक वर्ष ' समाः ' नामसे प्रसिद्ध है क्योंकि इस प्रकारके वर्षके महिनोंके दिन समसंख्यावाले होते हैं । (६) संवत्सर= चौर वर्ष, इस वर्षके ३६५ दिन होते हैं, और मासिक दिनोंमें न्यूनाधिकता होती है । [इसके अतिरिक्त चांद्रवर्ष होता है इसका जलेश यहाँ नहीं किया है उसके दिन ३५४ होते हैं, इसके महिनोंके दिनोंकी संख्या भी न्यूनाधिक होती है ।]

इस प्रकारका ' जो मेरी आयुका काल है वह सब मैं सब भूतोंका पालन करनेवाला जो परमात्मा है उसके लिये समर्पित करता हूँ, अर्थात् मेरी आयुका यज्ञ मैं करता हूँ । अपनी आयुका विनियोग जनताकी भलाई करनेके कार्यमें करनेका मान ही आयुष्यका यज्ञ है । परमात्माका कार्य ' सजसजका पालन और दुर्बलोंका दम्भन करना ' है । यही जनताके हितका कार्य है, इस कार्यके लिये अपना सर्वस्व तन, मन, धन अर्पण करना ' आत्म दक्ष ' करना ही है । इस प्रकारका अपनी आयुका यज्ञ करनेका उपदेश नवम और दशम मंत्रोंमें है, इसलिये ये मंत्र अत्यंत मनन करने योग्य हैं ।

यज्ञका कार्य ।

इने मंत्रोंमें जो यज्ञ करना है वह ' (वात्रे, विवात्रे, समुपे, भूतस्य पत्ये । ऋ. १-१-१) ' मारक, निर्माता, समृद्धिकर्ता, और भूतोंके पालनकर्ताके लिये करना है, अपनी आयु इन कार्योके कर्ताके लिये समर्पित करना है । (१) जो प्रजाओंका धारण करता है, (२) जो जनताके लिये सजसजधन निर्माण करता है (३) जो जनताकी समृद्धिकी शक्ति करता है और (४) जो उन सबका पालन करता है उसके कार्यके लिये अपनी आयुका अर्पण करना आयुष्यका तात्पर्य है । अर्थात् प्रजाहितके इतने कार्योके लिये अपनी आयुका विनियोग करनेका

नाम यज्ञ है । इस प्रकारका आत्मयज्ञ जो करते हैं वे लोकोत्तर दिव्य पुत्र सर्वत्र पूजनीय होते हैं ।

ग्यारहवें मंत्रमें यज्ञका हो वर्णन करते हुए कहा है, कि—

अलुभ्यतः घयं गृह्णान् उप संविशेम ।

(सू. १०, मं. ११)

‘ लोभ न करते हुए अपने घरमें प्रवेश करेंगे । ’ अर्थात् हम लोभ न करते हुए घरोंमें व्यवहार करेंगे, अथवा हमारे घरोंका वायुमंडल ही ऐसा होगा कि वहाँ किसीका लोभ या स्वार्थ करनेकी आवश्यकता नहीं होगा । जो लोग अपनी आयुका पूर्वोक्त प्रकार यज्ञ करते हैं उनके घरोंका वायुमंडल ऐसा ही होगा इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

शात्रुनाशक इन्द्र ।

बारहवें और तेरहवें मंत्रमें एकाष्टकके गर्भधारण करनेका और इन्द्र नाम पुत्रको जन्म देनेका वर्णन है । एकाष्टका अहोरात्री है और इसीके गर्भमें सूर्य रहता है और रात्रीके प्रसूत होनेपर सूर्य बाहर आता है, जो प्रकाशके धनुओंका पूर्ण नाश करता है । जो लोग कालका यज्ञ पूर्वोक्त प्रकार करते हैं उनके प्रयत्नसे भी इन्द्र संज्ञक ऐसा विद्यालक्षेत्र उत्पन्न होता है कि उससे

उनके सब धनु पराजित होते हैं । यह वेला बड़ी महिमाएं अपने अन्दर रखती है, इसीका पुत्र (इन्द्र) प्रकाशका उप देव है और इसीका पुत्र (सोम) शान्तिका देव भी है । (मं. १२)

रात्रीका अथवा राधाका पुत्र सूर्य है, इसीको दिवस्पुत्र भी वेदने कहा है । रात्रीका दूसरा पुत्र चन्द्र है इसीको सोम भी कहते हैं । ये दोनों प्रकाशका फैलाव और अन्धकारका नाश करते हैं और जनताको प्रकाश देते हुए मार्ग बता देते हैं । वेदमें इनका विविध प्रकारसे वर्णन हुआ है और ऋग्वेदका बोधप्रद है ।

इससे यह बोध लेना होता है कि मनुष्य स्वयं ज्ञान प्राप्त करे और दूसरोंको अपने ज्ञानका प्रकाश देवे । कलानिधि चन्द्रमाके संमान मनुष्य भी स्वयं विविध कलाओंमें पूर्ण प्रवीणता संपादन करके स्वयं कलानिधि बन दूसरोंको कलाओंका अर्थात् हुनरोंका ज्ञान देकर जनताकी उत्थिति करे । माताएं अपने संतानोंको इस प्रकारकी शिक्षा देकर बालकोंकी पूर्ण उत्थिति करें ।

यह इसकी महिमा जानकर प्रत्येक मनुष्य इस सुक्तके उप-देशके अनुसार अपनी आयुका उत्तम यज्ञ करे और यशका भागी बने ।

॥ यहाँ द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

हवन से दीर्घ आयुष्य !

(११)

(ऋषिः— ब्रह्मा, सृग्वह्निराः । देवता— इन्द्राग्नी, आयुष्यं, यक्षमनाशनम्)

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कर्मज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।

ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुञ्चकमेनम् ॥ १ ॥

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।

तमा हरामि निश्चितरुपस्यादस्पर्शमेनं शतशारदाय ॥ २ ॥

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहर्षिमेनम् ।

इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥ ३ ॥

शतं जीव शरदो वर्षमानः शतं हेमन्तान्छतस्रं वसन्तान् ।

शतं च इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहर्षिमेनम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (कं जीवनाय) प्रबर्षक दीर्घ जीवनके लिये मैं (त्वा) तुझको (अज्ञात-यक्ष्मात् उत राज-यक्ष्मात्) अज्ञात रोगसे और राजयक्ष्मा नामक अरोगसे (हविषा मुञ्चामि) हवनसे छुटाता हूँ । (यदि ग्राहिः पतत् एनं जग्राह) यदि अकठनेवाले रोगने इसको इस प्रकार पकड़ रखा हो तो (तस्या इन्द्राग्नी एनं प्रमुञ्चकं) उस पीडासे इन्द्र और अग्नि इसको छुटावें ॥ १ ॥

(यदि क्षितायुः) यदि समाप्त आयुवाला अथवा (यदि वा परेतः) यदि मरनेके करीब पहुंचा हो किंवा (यदि मृत्योः अन्तिकं नीतः एव) यदि मृत्युके समीप भी पहुंचा हुआ क्यों न हो, (तं निश्चितेः उपस्थात् आहरामि) उसको मैं विनाशके पाससे बापस लाता हूँ और (एनं शतशारदाय अस्पर्शम्) इसको सौ वर्षके दीर्घायुके लिये सुरक्षित करता हूँ ॥ २ ॥

(सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषा एनं आहार्यं) सौ शकियोगे युक्त, सौ वीर्योगे युक्त, शतायु देनेवाले हवनसे इसको मैंने लाया है । (यथा विश्वस्य दुरितस्य पारं) जिससे संपूर्ण दुःखोंके पार होके (एनं इन्द्रः शरदः अति नयति) इसको इन्द्र सौ वर्षकी पूर्णायुके भी परे पहुंचाने ॥ ३ ॥

(चर्षमानः शतं शरदः जीव) बरता हुआ सौ शरदः ऋतुओं तक जीता रह (शतं हेमन्तान्, शतं च वसन्तान्) सौ हेमन्त ऋतुओं तक तथा सौ वसन्त ऋतुओं तक जीवित रह । (इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः तैः शतं) इन्द्र, अग्नि, बृहस्पति और सविता, तेरे लिये सौ वर्षकी आयु देवें । (एनं शतायुषा हविषा आहार्यं) मैंने इसको सौ वर्षकी आयु देनेवाले हविषे यदा लाया है ॥ ४ ॥

भावार्थ— तुझे सुखमय दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो इसलिये तुझे ज्ञात और अज्ञात रोगोंसे हवनके द्वारा छुटाता हूँ । अकठनेवाले रोगोंने यद्यपि तुझे पकड़ रखा हो, तथापि इन्द्र और अग्निकी सहायतासे तू उन कष्टोंसे मुक्त हो सकता है ॥ १ ॥

आयु समाप्त हुई हो, करीब मरनेकी अवस्था प्राप्त हुई हो, करीब करीब मृत्युके समीप भी पहुंचा हुआ हो, तो भी उसको उस विनाशकी अवस्थासे मैं बापस लाता हूँ और सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त करता हूँ ॥ २ ॥

हवनमें हमारा शकिया है और ईशकों नीचे हैं, ऐसे हवनसे इसको मैंने बापस लाया है । यह-मनुष्य अब संपूर्ण कष्टोंसे पार हुआ है, अब ईशको इन्द्र सौ वर्षके भी परे ले जायेगा ॥ ३ ॥

प्र विशते प्राणापानावनद्वाहाविव व्रजम् ।
 व्युन्त्ये यन्तु मृत्यवो यानाद्दुरितरान्छ्रुतम् ॥ ५ ॥
 इहैव स्तौ प्राणापानौ मापं गातमितो युवम् ।
 शरीरमस्याङ्गानि जरासे वहतं पुनः ॥ ६ ॥
 जरार्यै त्वां परि ददामि जरार्यै नि धुवामि त्वा ।
 जरा त्वां भद्रा नेष्ट व्युन्त्ये यन्तु मृत्यवो यानाद्दुरितरान्छ्रुतम् ॥ ७ ॥
 अमि त्वां जरिमाहितं गामुक्षणमिव रज्ज्वां ।
 यस्त्वां मृत्युरभ्यघत्तुं जायमानं सुपाश्रयां ।
 तं तं सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद्वृहस्पतिः ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! (प्र विशतं) प्रवेश करो (अनद्वाहौ वर्ज इव) जैसे बेल गोशालामें प्रवेश करते हैं । (अन्ये मृत्यवः वि यन्तु) इधरे अनेक अपमृत्यु दूर हो जावें, (यान् इतरान् छतं आहुः) जिनकी इतर सौ प्रकारके कहा जाता है ॥ ५ ॥

हे (प्राणापानौ !) प्राण और अपान ! (युयं इह एव स्तौं) तुम दोनों यहाँ ही रहो, (इतः मा अप गातं) यहाँसे मत दूर जाओ । (अस्य शरीरं) इसका शरीर और (अंगानि) सब अवयव (जरसे पुनः वहतं) इदा-वस्थाके लिये फिर के लगे ॥ ६ ॥

(तथा जरार्यै परि ददामि) तुझे वृद्धावस्थाके लिये अर्पण करता हूँ । (त्वा जरार्यै निधुवामि) तुझको वृद्धावस्थाके लिये पहुँचाता हूँ । (त्वा जरा भद्रा नेष्ट) तुझे वृद्धावस्था कुछ देवे, (अन्ये मृत्यवः वि यन्तु) अन्य अपमृत्यु दूर हो जावें, (यान् इतरान् छतं आहुः) जिनकी इतर सौ प्रकारके कहा जाता है ॥ ७ ॥

(उक्षणं गां इव रज्ज्वा) जैसे बेलको अवयव गौको रस्सीसे बांध देते हैं उस प्रकार (जरिमा तथा अमि आहते) तुझपेने तुझको बांधा दे । (यः मृत्युः जायमानं त्वा सुपाशया अभ्यघत्तुं) जिस मृत्युने जपन होते हुए ही तुझको जपन पाशसे बांध रखा है (ते तं) तेरे वचन श्रुतकी (सत्यस्य हस्ताभ्यां वृहस्पतिः उदमुञ्चत्) उसके दोनों हाथोंसे वृहस्पति छुड़ा देता है ॥ ८ ॥

भाषार्थ— मैंने तुझे सौ वर्षकी आयु प्रदान करनेवाले हवनसे मृत्युसे बाधक लाया है । इन्द्र, अग्नि, सविता और वृहस्पति तुझे सौ वर्षकी आयु देंगे । अब तू सब प्रकारसे बढता हुआ सौ वर्षतक जीवित रह ॥ ४ ॥

हे प्राण और अपान ! तुम दोनों इस मनुष्यमें ऐसे प्रवेश करो जैसे बेल गोशालामें प्रवेश करते हैं । अन्य सैकड़ों अपमृत्यु इससे दूर भाग जावें ॥ ५ ॥

हे प्राण और अपान ! तुम दोनों इसके शरीरमें निवास करो, यहाँसे दूर मत जाओ । इसके शरीरको और संपूर्ण अवयवोंको पूर्ण वृद्ध अवस्थातक अच्छी प्रकार चलाओ ॥ ६ ॥

हे मनुष्य ! मैं अब तुझको वृद्धावस्थाके लिये समर्पित करता हूँ । वृद्धावस्थातक मैं तुझको आयु देता हूँ । तुझे आरोग्यपूर्ण पुत्रप्राप्त प्राप्त हो और सब अन्य अपमृत्यु तुझसे अब दूर हों ॥ ७ ॥

जैसे गाय या बैलको एक स्थानपर रस्सीसे बांध देते हैं वैसे अब तेरे साथ वृद्धावस्थाकी पूर्ण आयु बांधा गई है । जो अपमृत्यु जन्मते हैं तेरे साथ लगा हुआ या तब अपमृत्युसे तुझको उसके हाथोंसे वृहस्पति छुड़ा देता है ॥ ८ ॥

हवनसे दीर्घायुष्यकी प्राप्ति ।

हवनकी बरी भारी शक्ति है, इससे आरोग्य, बल, दीर्घ आयुष्य आदि प्राप्त हो सकता है। यज्ञयागोंमें हवन होता है, ये यज्ञयाग ऋतुओंकी संधियोंमें किये जाते हैं और इनसे ऋतु-परिवर्तनके कारण होनेवाले रोगादि दूर हो जाते हैं इस विषयमें कदा है—

औषधियोंके यज्ञ ।

मैयज्ययज्ञा वा पते। तस्मात्तुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते ।

ऋतुसन्धिषु म्याधिर्जायते ॥

(गी. भा. उ. प्र. १।१९)

ये औषधियोंके महामुख हैं, इसलिये ऋतुसंधियोंमें ये यज्ञ किये जाते हैं इसका कारण यह है कि ऋतुसंधियोंमें म्याधियाँ होती हैं ।

ऋतुपरिवर्तनके कारण हवा विगड़ती है, इससे रोग होते हैं। इन रोगोंका प्रतिबंध करनेके लिये ये औषधियाग किये जाते हैं। रोगनाशक, आरोग्यवर्धक और पुष्टिकारक तथा बलवर्धक औषधियोंका इनमें हवन किया जाता है। जो यज्ञ रोगनाशक, आरोग्यवर्धक, पुष्टिकारक और बलवर्धक होंगे वे दीर्घ आयु देनेवाले निःसंदेह होंगे इसमें किछाँकी भी संदेह नहीं हो सकता। इसलिये इस सूत्रमें जो हवनसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेका संदेश दिया है वह अश्वय विचार करने योग्य है।

हवनसे रोग दूर करना ।

हवनसे रोग दूर करनेके विषयमें इस सूत्रका अर्थ मनन करने योग्य है—

अज्ञातपहमात् उत राजयद्मात् त्वा मुञ्चामि ।

(सू. ११, मं. १)

तस्याः (प्राज्ञाः) इन्द्राग्नी च प्रमुमुकम् ।

(सू. ११, मं. १)

'अज्ञात रोग और ज्ञात रोग, या राजयद्मा रोग इन रोगोंके रोगमुक्त कर देते हैं। पकड़नेवाले रोगसे इन्द्र और अग्नि इस रोगीकी मुक्त कर देते हैं ।'

इस मंत्रमें हवनसे ज्ञात और अज्ञात रोगोंकी दूर होजानेकी संभावना दर्शायी है। ज्ञात रोग वे होते हैं कि जिनकी पहचान संपूर्ण लक्षणोंसे आसानीसे होती है। तथा अज्ञात रोग उनको कहते हैं कि जो ठीक प्रकार पहचाने नहीं जाते अथवा जिनके विषयमें वैद्यकी परीक्षामें मतभेद हुआ करता है। कोई वैद्य

एक रोग बताता है तो दूसरा वैद्य दूसरा ही रोग बताता है। इस प्रकार रोग ज्ञात हो अथवा अज्ञात हो, उसको हवन द्वारा दूर किया जा सकता है, अर्थात् अग्निमें योग्य औषधियोंका हवन करनेसे रोगी रोगमुक्त हो जाता है। विविध रोगोंकी निवृत्तिके लिये अन्नान्य औषधियोंका हवन करनेकी आवश्यकता है और कुछ पदार्थ ऐसे भी हवनमें होते होंगे कि जिनसे सामान्यतया आरोग्य प्राप्त होता है। ऐसे योग्य औषधियोंके संमिश्रित हवनसे मनुष्य पूर्ण नीरोग और दीर्घायुष्य मुक्त हो जाता है ।

हवनका परिणाम ।

हवनका परिणाम यहाँतक होता है कि आसन्न मरण रोगी भी रोगमुक्त होकर आरोग्य प्राप्त करता है। इस विषयमें द्वितीय मंत्र स्पष्ट शब्दों द्वारा कहता है कि, 'यदि यह रोगी कटीब मरनेकी अवस्थातक पहुँच चुका हो, मृत्युके पास भी गया हो, इसकी आयु भी समाप्त हो चुकी हो, तो भी हवनसे इसकी सब आपत्ति दूर हो सकती है और इसकी सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त हो सकती है।' (मं. २)

शतायु करनेवाला हवन ।

इस वर्णनसे हवनका अपूर्व आरोग्यवर्धक परिणाम ज्ञात हो सकता है। शतायु मंत्रमें हवनका नाम हो 'शतायु इति' कहा है अर्थात् इस हवनसे सौ वर्षकी आयु प्राप्त हो सकती है। इस 'शतायु इति' के अंदर शतवर्षीय अर्थात् सौ प्रकारके रोग होते हैं और (सहस्र-अश्व) हजार प्रकारकी शक्तियाँ होती हैं। इससे—

नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ।

(सू. ११, मं. १)

'सब दुरितको दूर किया जाता है।' दुरित नाम पापका है। यह 'दुरित' (दुः-इत) वह है कि जो दुःख उत्पन्न करनेवाला शरीरमें घुसा होता है; यह शरीरमें घुसकर नाना प्रकारकी पीड़ाएँ उत्पन्न करता है। हवनसे यह दुरित अर्थात् रोगोंत्यादके इन्ध शरीरसे दूर किया जाता है।

चतुर्थ मंत्रमें विद्यासपूर्वक कहा है कि अब तो 'हवन किया गया है, इन्द्र, अग्नि, सविता, बृहस्पति आदि देवताओंके शक्तियाँ प्राप्त की गई हैं, अब तू विद्यासपूर्वक अपनी सब शक्तियाँ बढाता हुआ सौ वर्षतक जीता रह। अब इन्द्रें मृत्युका भय नहीं है। (मं. ४)' हवनका ऐसा परिणाम होता है और इतना विश्वास उत्पन्न हो जाता है। यह हवनका परिणाम मननपूर्वक देखने योग्य है।

पञ्चम आरं वष्ट्र मंत्रोंमें प्राण और अपानको आदेशपूर्वक कहा है कि— ' हे प्राण और अगन ! तुम अब इसी पुरुषके देहमें सुखो, यहाँ ही अपने कार्य करो और इसके शरीरको तथा संपूर्ण इन्द्रियोंको पूर्ण आयुकी समाप्ति तक अपने अपने कार्य करनेके योग्य रहो । तथा इसके शरीरसे पृथक् न होओ । तुम्हारे कार्यसे इसके संपूर्ण अवश्याय दूर हो जावे (मं. ५-६) । ' जब पूर्ण आरोग्य प्राप्त होता है और हवनसे शरीरमें नवजीवन संचारित होता है; तब शरीरमें स्थिर रूपसे प्राणपान रहेंगे ही । यह हवनका परिणाम है ।

सप्तम मंत्रमें कहा है कि— ' हे मनुष्य ! अब मैं तुझको वृद्ध अवस्थाके लिये समर्पण करता हूँ, तुझे सुखमयी वृद्ध अवस्था प्राप्त होवे और सब अपशयु तुझसे दूर हो जावे ' (मं. ७) । वृद्ध अवस्थाकी मोदने समर्पण करनेका तात्पर्य यही है कि पूर्ण वृद्धावस्था होनेतक अर्थात् सौ वर्षकी पूर्ण आयुतक जीवित रहना ।

मरणका पाश ।

अष्टम मंत्रमें एक बड़ा भारी सिद्धांत कहा है कि हरएक मनुष्य जन्मते ॥ मृत्युके पाशसे बांधा जाता है—

यस्त्वा मृत्युरभ्याघसत जायमानं सुपाशया ।

(सं. ११, मं. १)

' मृत्यु तुझको अर्थात् हरएक प्राणिमात्रको जन्मते ही उत्तम पादासे बांधकर रखता है । ' कोई मनुष्य अपना कोई प्राणी मृत्युके इस पाशसे छूटा नहीं होता ; जो जन्मको प्राप्त हुआ है वह अवश्य किसी न किसी समय मरना ही । सब व्ययम हुए प्राणिमात्रोंको मृत्युने अपने पाशोंसे ऐसा जकड़ कर बांधा है कि वे इधर उधर जा नहीं सकते और सब मृत्युके वशमें होते हैं ।

' सब जन्म लेनेवाले प्राणियोंको एक बार अवश्य मरना है ' यह इस मंत्रका कथन हरएकको अवश्य विचार करने योग्य है । हरएकको स्मरण रखना चाहिये कि अपने शिरधर मृत्युने पाँव रखा हुआ है । इस विचारसे मनुष्यको सदा धर्मका पालन करना चाहिये । सदा ही इस मृत्युसे बचानेवाला है ।

सत्यसे सुरक्षितता ।

मृत्युके पाशसे बचानेवाला एकमात्र उपाय ' सत्य ' है यह अष्टम मंत्रने बताया है—

ते ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ।

(सं. ११, मं. ८)

' बृहस्पति तुझे सत्यके संरक्षक हाथोंसे तब मृत्युसे बचाता है । ' अर्थात् जो मनुष्य सत्यका पालन करता है उसका बचाव परमेश्वर करता है । वस्तुतः सत्यसे ही उसका बचाव होता है । सत्यका रक्षण ऐसा है कि जिससे धरते किसी रक्षणकी तुलना नहीं हो सकती, अर्थात् एक मनुष्य अपना बचाव सत्यके हाथोंसे करता है और दूसरा मनुष्य अपना बचाव राजाओंसे करता है तो सत्यसे अपना बचाव करनेवाला मनुष्य अधिक सुरक्षित है, अपेक्षा उतके कि जो अपने आपको राजोंसे रक्षित समझता है । सत्याग्रहसे अपनी रक्षा करना ब्राह्मण है और राजाओंसे अपनी रक्षा करना क्षात्रिय है । क्षात्रियके ब्राह्मण अधिक श्रेष्ठ है इसमें किसीको संदेह ही नहीं है ।

सत्यपालनसे दीर्घायुकी प्राप्ति ।

यहां हमें सूचना मिलती है कि दीर्घायुकी प्राप्ति करनेकी इच्छा करनेवालेको सत्यका पालन करना अत्यंत आवश्यक है । सत्यके संरक्षक हाथोंसे सुरक्षित हुआ मनुष्य ही दीर्घजीवी हो सकता है ।

इस मंत्रमें जो हवनका महत्त्व वर्णन किया है वह यहशास्त्रमें प्रसिद्ध है । यज्ञसे जनताकी मलाई, आरोग्यप्राप्ति आदि होनेका वर्णन सब यज्ञ शास्त्र कर रहे हैं । इस दृष्टिसे यह सूक्त एक आरोग्यप्राप्तिका नवीन साधन बता रहा है ।

किस रोगके दूर करनेके लिये किस हवन सामग्रीका हवन होना चाहिये इस विषयमें यहाँ कुछ भी नहीं कहा है, परन्तु हवनका सर्वशामान्य परिणाम ही यहाँ बताया है । हरएक रोगके दूर करनेके लिये विशेष प्रकारके हवनोंका ज्ञान अन्यान्य सूक्तोंसे प्राप्त करना चाहिये । वैदिक विद्याओंकी खोज करनेवालोंके लिये यह एक बड़ा महत्त्वपूर्ण खोजका विषय है । खोज करनेवाले इसकी खोज अवश्य करें । इससे जैसा भवित्का मला हो सकता है, वैसा ॥ राष्ट्रका भी मला हो सकता है ।

गृह निर्माण ।

(१९)

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — शाला, चास्तोष्पतिः)

इहैव ध्रुवां नि मिनामि शालां क्षेमं तिष्ठाति घृतमुद्यमाणा ।	
तां त्वां शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम	॥ १ ॥
इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनुतावती ।	
ऊर्जस्वती घृतवती पर्यस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौमगाय	॥ २ ॥
घृण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पतिधान्या ।	
आ त्वां वृत्तो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः	॥ ३ ॥
इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनातु प्रजानन् ।	
उक्षन्तूद्रा मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृपि र्वनोतु	॥ ४ ॥

अर्थ— (इह एव ध्रुवां शालां निमिनामि) इसी स्थानपर सुदृढ शालाको बनाता हूँ । वह शाला (घृत उद्यमाणा क्षेमं तिष्ठाति) थी सींचती हुई हमारे कल्याणके लिये ठहरी रहेगी । हे (शाले) पर । (तां त्वा सर्ववीराः अरिष्टवीराः सुवीराः उप संचरेम) तेरे चारों ओर इन सब वीर निनष्ट न होते हुए उत्तम पराक्रमी बनकर खिरे रहेगे ॥ १ ॥

हे शाले ! (अश्वावती गोमती सूनुतावती) घोड़ोंवाली, गौओंवाली और मयूर भाषणोंवाली होकर (इह एव ध्रुवा प्रति तिष्ठ) यहाँ ही स्थिर रह । तथा (ऊर्जस्वती घृतवती पर्यस्वती) अश्ववाली, घोषवाली और पूजवाली होकर (महते सौमगाय उच्छ्रयस्व) बड़े सौभाग्यके लिये वंची बनकर खड़ी रह ॥ २ ॥

हे शाले ! (बृहत्-छन्दाः पतिधान्या) बड़े छतवाली और पवित्र धान्यवाली तथा (घृण्यसि) धान्यादिका भण्डार धारण करनेवाली तू है । (त्वां वृत्तः कुमारः आ धेनवः) तेरे भंदर बछड़ा और बालक आ जावे । (आस्पन्दमाना धेनवः सायं वा) दूदती हुई गौवे सायंकालके समय आ जावे ॥ ३ ॥

(इमां शालां) इस शालाको सविता, वायु, इन्द्र और बृहस्पति (प्रजानन् नि मिनाति) जानता हुआ निर्माण करे । (मरुतः उद्रा घृतेन उक्षन्तु) मरुत् गण बलसे और घोषे धींचे, तथा (भगः राजा नः कृपि नि वनोतु) भाग्यवान् राजा हमारे लिये श्रुतिके बढावे ॥ ४ ॥

भाषार्थ— इस उत्तम स्थानपर मैं उत्तम और सुदृढ घर बनाता हूँ, जिसमें धी आदि खाने पीनेके पदार्थ बहुवत् हैं और जो सब प्रकारके स्वास्थ्य लाभोंसे परिपूर्ण हो । हम सब प्रकारके शीर्षवीर्यादि गुणोंसे युक्त होकर और किसी प्रकार कष्टोंको प्राप्त न होते हुए इस घरके चारों ओर घूमा करेंगे ॥ १ ॥

इस घरमें पोड़े, गौंवे, बैल आदि पशु बहुत हों, यह घर उत्तम मछिे भाषणसे युक्त हो, अन्न, धी, दूध आदि खाद्य पदार्थ इसमें बहुत हों और इसमें रहनेवालोंको बड़े सौभाग्यकी प्राप्ति हो ॥ २ ॥

इस घरमें धान्यादिका बड़ा भण्डार हो, उस भंडारमें शुद्ध और पवित्र धान्य भरा रहे । ऐसे घरमें बालक और बछड़े घूमते रहें और सायंकालमें आनंदसे नाचती हुई गौवे आ जायें ॥ ३ ॥

इस शालाके निर्माणमें सविता, वायु, इन्द्र और बृहस्पति ये देव सहायता दें । मरुत् गण इस घरमें विपुल धी देनेमें सहायक हों तथा राजाः भग कृपि बढानेमें सहायता दें ॥ ४ ॥

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निर्मितास्वप्ने ।

तृणं वसना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥

श्रुतेन स्यूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नपं वृद्धस्तु शत्रून् ।

मा ते रिपन्नुपसृत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥ ६ ॥

एमां कुमारस्तरुणा आ वत्सो जगता सह ।

एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दुष्णः कलशैरगुः ॥ ७ ॥

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारांमृतेन संमृताम् ।

इमां पातूनमृतेना समङ्गधीष्टापूर्तममि रंक्षात्पेनाम् ॥ ८ ॥

इमा आपः प्र मराम्ययद्मा यक्ष्मनाञ्जनीः ।

गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहामिना ॥ ९ ॥

अर्थ— हे (मानस्य पत्नि) संमानकी रखक, (शरणा स्योना देवी) अंदर आश्रय करने योग्य, सुखदायक, दिव्य प्रकाशमान देवी (देवोभिः अग्ने निमिता अस्ति) देवीं द्वारा पहले बनायी हुई है । (तृणं वसना एवं सुमनाः असः) पादको पहने हुए व वस्त्र मनवाली हो (अथ अस्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः) और हम सबके लिये धीरोंके युक्तयन दे ॥ ५ ॥

हे (वंश) बाण । तू (श्रुतेन स्यूणां अधिरोह) अपने सोपेपनसे अपने आश्रयपर चढ़ और (वज्रः विराजन् शत्रून् अपवृद्धव) वज्र बनकर प्रकाशता हुआ शत्रुओंको हटा दे । (ते गृहाणां उपसृत्तारः मा रिपन्) तेरे बरोंके आश्रयसे रहनेवाले विहित न होंगे । हे शाले ! हम (सर्ववीराः शतं शरदः जीवेम) सब धीरोंके युक्त होकर सौ वर्ष जीते रहेंगे ॥ ६ ॥

(इमां कुमारः आ) इस शालाके पास बालक आवे, (तरुणः आ) तरुण पुरुष आवे, (जगता सह वरसः आ) चलनेवालोंके साथ बलवा नी आवे । (इमां परिस्रुतः कुम्भः) इसके पास मयूररससे मरा हुआ घना (दुष्णः कलशैः आ अगुः) दहीके कलशोंके साथ आ जावे ॥ ७ ॥

हे (नारि) स्त्री ! (एतं पूर्णं कुम्भं) इस पूर्ण मरे घड़ेको तथा (अमृतेन संमृतां घृतस्य धारां) अमृतके मीठे हुई चीची बाराको (प्र भर) अच्छी प्रकार भरकर ला । (पातूनं अमृतेन सं अङ्गिषु) पीनेवालोंको अमृतसे अच्छी प्रकार भर दे । (इष्टापूर्तं पनां अमिरंक्षति) वज्र और अन्नदान इस शालाकी रक्षा करते हैं ॥ ८ ॥

(इमाः यक्ष्मनाञ्जनीः अयद्माः आपः) ये रोगनाशक और स्वयं रोगहित जल (प्र आमरामि) मैं भर लाऊँ । (अमृतेन अमिना सह) अमृत अमिके साथ (गृहान् उप ॥ सीदामि) घरमें आकर बैठता हूँ ॥ ९ ॥

भावार्थ— घर अंदर निवास करने योग्य, सुखदायक है, यह एक संमालका साधन भी है । पहले यह देवी द्वारा बनाया गया था । पादके लपटसे मो नष्ट बनता है । ऐसे घरसे हमारा मन शुभ संकल्पवाला होवे और हमें धीरोंके युक्त यन प्राप्त हो ॥ ५ ॥

सोपे रहत पर सोपे बांध रखे जायें और वज्र रंतिसे विरोधीयोंको दूर किया जावे । धीरोंके आश्रयसे रहनेवाले दुःखी, कष्टी या विनष्ट न हों । इसमें रहनेवाले सब धीर-होकर सौ वर्षतक जीवित रहें ॥ ६ ॥

इस घरके पास बालक, तरुण आदि सब आ जायें । बलशे और अन्न घरके पशु, पक्षी भी घूमते रहें । इस घरमें शहरके मीठे रसके मरे हुए घड़े तथा दहीके मरे हुए घड़े बहुत हों ॥ ७ ॥

अपनी इन घड़ोंको भरकर लावे और धीरेके घड़े मो बहुत लायें और पीनेवालोंको यह दूध, दही, पौ आदि सब दूध, मरपूर पिलावें । क्योंकि इनका दान ही घरकी रक्षा करता है ॥ ८ ॥

घरमें पीनेके लिये देना बल लाया जाये कि जो रोगनाशक और आरोग्यवर्धक हो । घरमें अगती भी हो । जिसके पास आकर रोग शीतका निवारण करके आनंद प्राप्त करें ॥ ९ ॥

घरकी बनावट ।

बो गृहस्थी हैं सड़को पर बनाकर रहना आवश्यक है, फिर वह पर फासके बनी हुई (टुण्डे) चसाना । मं. ५) क्षोपकीके घनान हो अथवा बड़ा साँप हो । पर विश्वी भी प्रकारका हो, परंतु गृहस्थीके लिये वह अवश्य चाहिये, नहीं तो गृहस्थका 'गृह-स्थ-पन' ही नहीं सिद्ध होगा ।

घर घनानि योग्य स्थान ।

घरके लिये स्थान भी योग्य होना चाहिये, रमणीय होना चाहिये और आरोग्यकारक होना चाहिये, इस विषयमें इस सूक्तमें निम्नलिखित निर्देश देखने योग्य हैं—

१ क्षेमे (मं. १) = सरसित, प्राति देनेवाला, सुखकारक, आरोग्यदायक, निर्मल, ऐसा स्थान घरके लिये हो ।

२ भुवा (मं. १, २) = स्थिर, सुदृढ, जहाँ बुनिदाद स्थिर और दृढ हो सकती है ।

इस प्रकारकी भूमिपर घर बनाना चाहिये और वह घर अपनी सामर्थ्यके अनुसार सुदृढ, (धृष्टा) स्थिर और मजबूत बनाना चाहिये, ताकि बारंबार लचकी मरम्मत करनेका भय चढाना न पड़े ।

घर कैसा बनाया जावे ?

बर्के करने जहाँतक हो सके बहाँतक विद्यार्थि बनाये जावे । 'गृहत्-संश्रुतः' (मं. २) अर्थात् बड़े बड़े छतवाले कमरोंके युक्त घर हो । घरमें संश्रुतिक स्थान न हो क्योंकि छोटे छोटे कमरोंमें रहनेवालोंके विचार भी संश्रुतिक बनते जाते हैं । इसलिये अपनी चारोंके अनुसार जहाँतक विद्यार्थि बनाना संभव हो बहाँतक प्रचल घर बनाया जावे, जहाँ बहुत इष्टमित अतिथि आदि (धारणा) मं. ५) जा जाय और (स्थोना) मं. ५) विधाम ले सके ।

संमानका स्थान ।

घर गृहस्थीके लिये बड़ा संमानका (शाला मानस्य पत्नी) मं. ५) स्थान है, अपना निब्रका घर होनेसे वह एक प्रतिष्ठाका स्थान हो जाता है । इष्टमितोके सुख पहुँचानेका वह एक बड़ा स्थान होता है । इसलिये पूर्वीक प्रकार घर बनाना चाहिये । पर बनते ही घरमें अन्याय घाघन इच्छे करने चाहिये, इस विषयमें निम्न लिखित संकेत विचार करने योग्य हैं—

१ अश्वत्थी (मं. २) = घरमें घोंदें हों, अर्थात् गृहस्थीके पास घोंदें, पीठियाँ हों । यह पीठिका साधन है ।

२ गोमती (मं. २) = घरमें गौएँ हो । यह पुष्टिच साधन है, गौसे दूध मिलता है जिसको पीकर मनुष्य पुष्ट होते हैं । बैलेंसे खेतां होती है ।

घनघः आस्पन्दमानाः सार्यं वा (मं. ३) = सारं-काळेके समय गौयें आनंदसे नाचती हुईं जा जायें ।

३ पयस्वती (मं. २) = घरमें बहुत दूध हो ।

४ घृतवती (मं. २) = घरमें विपुल घी हो ।

५ घृतं उक्षमापा (मं. १) = घी देनेवाला, अर्थात् अतिथि आदिके लिये विपुल घी देनेवाला घर हो । घरके लोग अन्नदानमें संजूती न करें ।

६ ऊर्जस्वती (मं. २) = घरमें बहुत लक्ष हो, खालवानके पदार्थ विपुल हों ।

७ धरुणी (मं. ३) = जिसमें चान्दादिका बड़ा मंडार हो, जिसमें संप्रस्थान हो, और वहाँ सब प्रकारके पदार्थ उत्तम अवस्थामें मिलें ।

८ पूतिघान्या (मं. ६) = घरमें पवित्र घान्य हो, जो रोगादि उतराव करनेवाला न हो, उत्तम अवस्थामें हरएक प्रकारके पदार्थ हों, जो खानेसे शरीरकी पुष्टि और मनका समाधान हो । घरमें घान्य खानेके समय वह केवल छस्ता मिलता है इसलिये लया न जाय, परंतु खानेके समय देखा जाय, कि यह पवित्र, शुद्ध, नीरोग्य और पोषक है वा नहीं ।

९ परिश्रुतः कुम्भः (मं. ७) = मधुर पहलके मण्ड हुआ पटा जयवा खनेक बड़े घरमें सदा रहें ।

१० दग्धः क्लृप्तः (मं. ७) = दहाँसे परिपूर्ण भरे हुए क्लृप्त घरमें हो ।

११ घृतस्य कुम्भम् (मं. ८) = उत्तम शक्ति भरे हुए घृत घरमें हो ।

१२ अयक्ष्मा यक्ष्मनाशिनीः आपः (मं. ९) = नीरोग्य और योग्य दूध करनेवाले शुद्ध अन्न घरेमें भर कर घरमें रखा जावे ।

इत्यादि शब्दों द्वारा इस सूक्तमें घरका वर्णन किया है । इन शब्दोंके मननसे पाठक स्वयं जान सकते हैं कि घरमें कैसी व्यवस्था रखना चाहिये और घर कैसा धनधान्यसंपन्न बनाना चाहिये । तथा—

१ वत्सः आगमेत् (मं. ३, ७) = घरमें बच्चे बेलते रहें, घरके पास बछ्छे नाचते रहें ।

१ कुमारः आ रामेत् (मं. ३, ७) = घरमें और बाहर बालबच्चे, कुमार और कुमारिकाएं आनंदसे खेलकुद करते रहें ।

३ तरुणः आं रामेत् (मं. ७) = युवा, तरुण पुरुष और तरुणियां घरमें और बाहर अग्रण करें ।

प्रसन्नताका स्थान ।

अर्थात् पर ऐसा हो कि जिसमें बालबच्चे खेलते रहें और तरुण तथा अन्योन्य आयुवाले स्त्री-पुरुष अपने अपने कर्षमें आनंदसे स्थापित हों । सबके सुखपर आनंद देखें और घरका प्रत्येक मनुष्य प्रसन्नताकी मूर्ति दिखाई देवे । हरएक मनुष्य ऐसा कहे कि—

गृहान् उप प्र स्त्रीदामि । (सू. १२, मं. १)

' मैं अपनी पराकाष्ठा करके अपने घरके प्रसन्नताका रमणीय स्थान बनाऊंगा । ' यदि घरका प्रत्येक मनुष्य अपने घरको ' प्रसन्नताका स्थान ' बनानेका प्रयत्न करेगा तो सबसुख नहीं घर प्रसन्नताका केन्द्र अक्षयमेव बन जायगा ।

पाठक इस उपदेशका अधिक मनन करें क्योंकि इससे हरएक पाठकपर एक विशेष उत्तरदायित्व आता है । अपने प्रयत्नसे अपने घरको ' प्रसन्नताका स्थान ' बनाना है, इस कार्य दूसरेपर छोपा नहीं जा सकता, यह तो हरएकको ही करना चाहिये । यह उपदेश देनेके पश्चात् हरएक पाठकसे वेद पूछेगा कि ' क्या इस उपदेशानुसार अपना कर्तव्य हमने किया ? ' पाठक इसका योग्य उत्तर देनेकी तैयारी करें । घरकी प्रसन्नताका स्थान बनानेके लिये ऊपर लिखे हुए साधन इकट्ठे तो करने ही चाहिये परंतु केवल इतनेसे ही वह प्रसन्नता नहीं आवेगी कि जो वेदको अभीष्ट है, इसलिये वेदने और भी निर्देश दिये हैं, देखियें—

१ सन्तुताघटी (मं. २)— घरमें सन्ध्याका सवा माघण हो, प्रेमपूर्वक वार्तालाप होता हो, सर्वां वषटिका घटा माघण हो, छल, कपट, घोखा आदिके माघण न हों ।

२ सुमनाः (मं. ५)— उत्तम मनसे उत्तम व्यवहार करनेवाले मनुष्य घरमें कार्य करें ।

घरकी मंगलमय बनानेके लिये जैसे खानपानके अच्छेपदार्थ घरमें बहुत चाहिये उसी प्रकार घरके स्त्रीपुरुषके अंतःकरण भी जेठ विचारोंसे युक्त चाहिये । सभी तो घर प्रसन्नताका स्थान बन सकता है । घरमें धनदील्लत तो बहुत रहनी, और धरताल्लिके

८ (अथर्व. माथ, काण्ड ३)

मन छली घोर कपटी हुए तो उस घरकी घर कोई नहीं रहेगा वह तो एक दुःखका स्थान होगा । इसलिये पाठक— जो अपने घरको प्रसन्नताका स्थान बनाना चाहते हैं वे— इन शब्दोंसे उचित बोध प्राप्त करें । शीत कालमें तथा शृष्टिके दिनोंमें सर्दी बहुत होती है, इसलिये शीतके निवारणके लिये घरमें अगदी रक्षना चाहिये जिससे शीतसे त्रस्त मनुष्य सेक लेकर आनंद प्राप्त कर सकता है । दूसरी बात यह है कि ' अमृत जग्नि ' (मं. ९) जो परमेश्वर है उसको उपासनाका एक स्थान घरमें बनना चाहिये, जहां अग्निहोत्र द्वारा अग्न्युपासनासे लेकर ध्यानधारणा द्वारा परमात्मोपासनातक सब प्रकारकी उपासना करके मनुष्य परम आनंदको प्राप्त करे । जिस घरमें ऐसी उपासना होती है वहां घर सबसुख ' प्रसन्नताका केन्द्र ' हो सकता है । इसी प्रकारका घर—

महते सौभाग्य उच्छ्रयस्व । (सू. १२, मं. २)

' बड़े शुभमंगलकी प्राप्तिके लिये यह घर उठकर खड़ा होके । ' अर्थात् यह घर इस प्रकारसे सदा सौभाग्य प्राप्त करे । जिस घरमें पूर्वोक्त प्रकार अमृतवासा व्यवस्था रहेगी वहां सदा शुभमंगल निवास करेगा इसमें कोई संदेह ही नहीं है ।

वीरतासे युक्त धन ।

सौभाग्य प्राप्तिके अन्दर ' भग ' अर्थात् धन कमाना भी संमिलित है । परंतु धन कमानेके पश्चात् उसकी रक्षा करनेकी शक्ति चाहिये और उसके शत्रुओंकी दूर करनेके लिये शौर्य, वैर्य, वीर्य आदि गुण भी चाहिये । अथवा कमाया हुआ धन दूसरे लोग लूट लेंगे । इसलिये इस सूत्रने सावधानीकी सूचना दी है—

अस्मर्यं सहवीरं रयिं दाः । (सू. १२, मं. ५)

' हमारे लिये वीरतासे युक्त धन दे । ' धन प्राप्त हो और साथ साथ उसके संभालनेके लिये आवश्यक वीरता भी प्राप्त हो । हमारा घर बोरवाके बाधुमंथलसे युक्त हो—

१ सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम ।

(सू. १२, मं. १)

२ शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ।

(सू. १२, मं. ६)

' हम सब प्रकारसे वीर, उत्तम वीर, नाशको न प्राप्त होनेवाले वीर, शौ वर्य जीवित रहकर धर्मकी रक्षा करनेके लिये तैयार रहनेवाले वीर होकर अपने अपने घरोंमें संचार करेंगे । '

ये मंत्र स्पष्ट शब्दों द्वारा कह रहे हैं कि परोंका वायुमंडल 'वीरताका वायुमंडल' चाहिये। मीठताका विचारतक वहाँ आना नहीं चाहिये। परोंके पुरुष धर्मवीर हों और स्त्रियाँ वीरारंगनाएं हों, ऐसे स्त्री-पुरुषोंके जो संतान होंगे वे 'कुमार-वीर' ही होंगे इसमें क्या संदेह है? इसीलिये वेदमें पुत्रका नाम 'वीर' आता है। पाठक इसका विचार करें और अपने घरका वायुमंडल ऐसा बनावें।

अतिथि सत्कार ।

ऐसे मंगलमय वीरताके युक्त परोंमें रदनेकाके धर्मवीर पुरुष अतिथि सत्कार करेंगे ही। इस विषयमें कदा है—

पूर्ण नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराम-
भूतेन संभृताम् । इमां पालूनभूतेना स्वमङ्घ्री-
ष्टापूर्तमभि रक्षाल्येनाम् ॥ (सू. १२, मं. ८)

'गृहपत्नी अतिथियोंके परोसनेके लिये पीका घसा लावे, मजुरससे भरा घसा लावे और पीनेवालोंके जितना चाहिये सतना पिलावे, कंजूधी न करें। इस प्रकारका अन्नदान करना ही घरकी रक्षा करता है।'

अतिथि सत्कारमें अन्नपान अथवा अन्य पदार्थोंका दान छुले हाथसे देना चाहिये, उसमें कंजूधी करना योग्य नहीं है। क्योंकि दान ही घरका संरक्षण करता है। जिस घरमें अतिथियोंका सत्कार होता है उस घरका यश बढ़ता जाता है।

यहां अतिथियोंके लिये अन्न परोसनेका कार्य करना स्त्रियोंका कार्य लिखा है। यहाँ पदार्थ नहीं है। पढ़ेवाले घरोंमें अतिथिको भोजन देनेका कार्य या तो नौकर करता है अथवा घरका मालिक करता है। यह अतिथि सत्कारकी अवैदिक प्रथा है। अतिथिके लिये भोजन, खानपान आदि गृहपत्नीको देना चाहिये यह वेदका आदेश यहाँ है, जिसकी ओर परमें पढ़ेकी प्रथा रखनेवाले पाठकोंका मन आकर्षित होना आवश्यक है।

देवों द्वारा निर्मित घर ।

घर देवोंने प्रारंभ बनाया इस विषयमें यह निम्न लिखित मंत्र देखना चाहिये—

शरणा स्योना देवो (शाला) देवेभिर्निमितास्यग्रे ।
वृणं वसना सुमनाः ... ॥ (सू. १२, मं. ५)

'अन्दर आश्रय करने योग्य, सुखदायक, घासके छप्परवाला, परंतु उत्तम विचारोंके युक्त दिव्य घर प्रारंभमें देवोंने बनाया।' दिव्य वीर पुरुषोंके द्वारा जो पहला घर निर्माण हुआ वह ऐसा था। यद्यपि इसपर घांसका छप्पर था तथापि उसके अन्दर उत्तम विचार होते थे, अन्दर जानेसे आराम मिलता था और सुख भी होता था। इसका तात्पर्य यही है कि घर छप्परका ही क्यों न हो परंतु वह दिव्य विचारोंका दिव्य घर होना चाहिये, वह कूर विचारोंका 'राक्षसभवन' नहीं होना चाहिये। 'देवोंका घर' धनके नहीं होता है प्रत्युत अन्दरकी शांति और प्रसन्नतासे होता है। पाठक प्रयत्न करके अपना घर ऐसा 'देव भवन' ही बनावें और वैदिक धर्मको अपने घरमें प्रकाशित रूपमें प्रकट करें।

देवोंकी सहायता ।

घर ऐसे स्थानमें बनाया जावे कि वहाँ सूर्य, चंद्र, वायु, इन्द्र, आदि देवोंके सहायक शक्ति विपुल प्रमाणमें प्राप्त होती रहे—

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो गृहस्पतिर्नि-
मिनोतु प्रजानन् । उल्लन्दुमा मरुतो घृतेन
भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥ (सू. १२, मं. ४)

'सूर्य, वायु, इन्द्र, गृहस्पति आनेके हुए इस घरकी सहायता करें। भद्रद नामक बर्षाती वायु जनके सहायता करें और भग राजा कृषि फलनेमें सहायक हो।'

घरके लिये सर्वप्रकाश विपुल मिले, शुद्ध वायु मिले, इन्द्र वृष्टि द्वारा सहायता करे, वृष्टि करनेवाले वायु योग्य वृष्टिसे सहायता करें और कृषिका देव भूमिके कृषिकी योग्य उत्पत्ति करने द्वारा सहायक हो। घर ऐसे स्थानमें अथवा देशमें बनाना चाहिये कि वहाँ सूर्यादि देवताओं द्वारा योग्य शक्तियोंकी सहायता अच्छी प्रकार मिल जाय, भूमि उपजाऊ हो, वायु निर्दोष हो, बल आरोग्यदायक और पाचक हो, प्रकाशके उत्तम देशमें गृहका निर्माण करना चाहिये।

जल ।

(१३)

(ऋषिः — शृगुः । देवता — वरुणः, सिन्धुः, आपः, इन्द्रः)

यदुदः संप्रयतीरहावर्नदता हते ।

तस्मादा नद्योऽहं नाम स्थ वा वो नामानि सिन्धवः ॥ १ ॥

यत्प्रेषिता वरुणेनाच्छीर्षं समवर्तगत ।

तदामोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अजुं घ्न ॥ २ ॥

अपकामं सन्दमाना अवीचरत वो हि कम् ।

इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद्गानामि चो हितम् ॥ ३ ॥

एको वो देवोऽप्पतिष्ठत् सन्दमाना यथाबुधम् ।

उदानिपुर्महीरिति तस्मादुदुकम्बुचपते ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (सिन्धवः) नदियो ! (सं-प्र-यतीः) तम प्रयागे तथा चलनेवाली तुम (अही हते) मेघके हवन होनेके पश्चात् (अद्ः यत् अजुं हत) यह जो बडा नाद कर रही हो, (तस्माद् आ नद्यः नाम स्थ) उस कारण तुम्हारा नाम ' नदी ' हुआ है (ताः वः नामानि) वह तुम्हारे ही योग्य नाम हैं ॥ १ ॥

(यत् आत् वरुणेन प्रेषिताः) जब यज्ञे बरुण द्वारा प्रेरित हुए तुम (यतीं समवर्तगत) यौग्य ही मिलकर चलने लगी, (तत् इन्द्रः यतीः वः आमोत्) तब इन्द्रने यमवलीक ऐसे तुमको ' आप्य ' किया, (तस्मात् अजुं घ्नः स्यत्) उसके पश्चात् तुम्हारा नाम ' आपः ' हुआ ॥ २ ॥

(सन्दमानाः वः) बहनेवाले तुम्हापी गतिवा (इन्द्रः हि अप-कामं कं अवीचरत) इन्द्रने विशेष कार्यके लिये बुधपूर्वक नि ' वारण ' किया (तस्मात् देवीः वः वार् नाम हितं) तबसे देवी जैसे तुम्हारा नाम ' वारि ' रख है ॥ ३ ॥

(एकः देवः यथावत् सन्दमानाः वः) अकेले एक देवने जैसे वाहे जैसे बहनेवाले तुमको (अपि अतिष्ठत्) अधिकारसे देवा और कहा कि (महीः उदानिपुः) वही शक्तियां ऊपरको श्वास केटी हैं, (तस्मात् उदकं उच्यते) तबसे तुमको ' उदक ' [उत्-अक] नामसे बोला जाता है ॥ ४ ॥

भाषार्थ— मेघकी कृष्टिसे अथवा बर्फ पिघल जानेसे जब नदियोंको महापूर आ जाता है तब जलका बडा नाद होता है, यह ' नाद ' होता है इसीलिये जलप्रवाहोंको ' नदी ' (नाद करनेवाली) कहा जाता है ॥ १ ॥

दर बरुणकाइसे प्रेरित हुआ जब यौग्य यतिसे चलने लगता है, तब इन्द्र उसे प्राप्त करता है, ' प्राप्त ' होनेके कारण ही अजुं नाम ' आपः ' (प्राप्त होने योग्य) होता है ॥ २ ॥

जब वेपसे बहनेवाले जलप्रवाहोंके मार्गको इन्द्रने विशेष कारणके लिये बुधपूर्वक बहनेके हेतु विशिष्ट मार्गसे चलनेके लिये निवारित किया, तब उस कारण अजुं नाम ' वार् ' (वारि = निवारित किया गया) हुआ ॥ ३ ॥

खेच्छासे बहते जानेवाले जल प्रवाहोंको जब एक देवने अधिकारमें लाया और उनको ऊर्ध्व यतिसे ऊपरकी ओर चलाया, तब इस अजुं नाम ' उदक ' (उत् अक = ऊपरकी ओर प्राण गति करता) हो गया ॥ ४ ॥

आपो भद्रा घृतमिदार्य आसन्नप्रीपोमौ विभ्रत्याप इचाः ।

तीव्रो रसो मधुघृत्चामरंगम आ मां प्राणेन सह वर्चसा गमेत् ॥ ५ ॥

आदित्यंश्याभ्युत वां शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाह मांताम् ।

मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अर्तुं यदा वः ॥ ६ ॥

इदं व आपो हृदयमयं वृत्स श्रुतावरीः ।

इहेत्यमेतं शकरीर्यत्रेदं वेश्यामि वः ॥ ७ ॥

अर्थ— (आपः भद्राः) जल कल्याण करनेवाला और (आपः इत् घृतं आसन्) जल निःसंदेह तेज बढ़ानेवाला है । (ताः इत् आपः अन्नप्रीपोमौ विभ्रतः) वह जल अग्नि और शोम धारण करते हैं । (मधुघृत्चामरंगमः तीव्रः रसः) मधुरतासे परिपूर्ण तृप्ति करनेवाला तीव्र रस (प्राणेन वर्चसा सह) जीवन और तेजके साथ (मा आगमेत्) मुझे प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

(आत् इत् पश्यामि) निश्चयसे मैं देखता हूँ (उत या शृणोमि) और सुनता हूँ (आसां घोषः वाह मा आगच्छति) इनका घोष और शब्द मेरे पास आता है । हे (हिरण्यवर्णाः) चमकनेवाले वर्णवाले ! (यदा वः अर्तुं) जब मैंने तुम्हारे शेषसे तृप्ति प्राप्त की (तर्हि अमृतस्य भेजानः मन्ये) तब अमृतके भोजन करनेके समान मुझे प्रतीत हुआ ॥ ६ ॥

हे (आपः) जलो ! (इदं वः हृदयं) यह तुम्हारा हृदय है । हे (श्रुतावरीः) जलधाराओ ! (अयं वृत्सः) यह मैं तुम्हारा वृत्त हूँ । हे (शकरीः) शक्ति देनेवालो ! (इदं वः इत् आ इत्) इस प्रकार यहाँ आओ । (यत्र या इदं पश्यामि) जहाँ तुम्हारे अन्दर यह मैं प्रवेश करता हूँ ॥ ७ ॥

भाषार्थ— यह जल निःसंदेह फलदायक है, यह नियमपूर्वक तेज और पुष्टिको बढ़ानेवाला है । अग्नि और शोम इसका धारण करते हैं । यह जल नामक रस ऐसा मधुर रस है कि यह पान करनेसे तृप्ति करता है और जीवनके तेजसे युक्त करता है ॥ ५ ॥

मनुष्य जलको भाँससे देखता है, और जलका शब्द दूरसे सुन भी सकता है । शुद्ध निर्मल जल दृष्टिके समान चमकता है । जब मनुष्य इसको पीता है तब उसको अमृतपान करनेके समान आनन्द होता है ॥ ६ ॥

जलका यह आन्तरिक तथै है, मनुष्य जलका ही पुत्र है, जल मनुष्यपर आता है और मनुष्य भी जलमें गोता लगाता है ॥ ७ ॥

जलके प्रवाह ।

इस सूक्तमें जलके प्रवाहोंका वर्णन है । जलके अनेक नाम हैं, उनमेंसे बानसा नाम किस प्रकारके जलका होता है यह बात इस सूक्तके मंत्रों द्वारा बताया गई है ।

मेषोषे वृष्टिं हवीं है और नदियोंको महापूर आता है । नदियाँ मरनेका यह एक कारण है । नदियोंके महापूरका दुष्प्रा भी एक कारण है, वह है बर्फका पिघलना । पत्थर नाचक प्रायः आदि जो शब्द मेषवाचक करके माने जाते हैं वे वस्तुतः मेष-वाचक नहीं हैं, परन्तु पहाड़पर या भूमिपर गिरनेवाले बर्फके

तथा ओलोंके वाचक होते हैं । उसी प्रकारका अहिगन्ध है । अतः इसका अर्थ पहाड़ी बर्फ मानना योग्य है और इसके पिघलनेसे नदियोंका भर जाना भी संभव है । इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों कारणोंसे महापूर आनेसे जलप्रवाहोंका बहा नाद होता है, इसलिये नाद करनेके हेतु जलप्रवाहका नाम 'नदी' होता है, अर्थात् जिस जलप्रवाहका बहा शब्द न होता हो उसको नदी नहीं कहना चाहिये ।

नदीका प्रवाह अत्यंत बेगसे चलता है और उस बेगमेंसे जल किसी युक्तिसे ऊपर या अन्य स्थानमें खींचकर प्राप्त किया हो तो उस जलको 'आप' कह सकते हैं ।

अपनी इच्छासे जैसे चाहे जैसे प्रवादित होनेवाले अलक्ष्ये नहर आदि कृत्रिम माणिके द्वारा अपनी सैती आदिके विशेष कार्योंको सिद्ध करनेके लिये जो अपनी इच्छानुसार चलाया जाता है उसको ' वारि ' (वार, वारं) कहा जाता है ।

जो जल-सूर्यकिरणों द्वारा बनी मांससे हो या अग्नि द्वारा बनी हुई मांससे हो- पहले मांस बनकर फिर उस मांसको क्षीतनता लगाने द्वारा जो फिर उसका जल बनता है उसको ' उदक ' कहते हैं । (उद) मांस द्वारा ऊपर आकर जो (आनिपुः) जो ऊपरसे प्राणके साथ मिलकर वापस आता है उसका नाम उदक है । मेघोंकी दृष्टिसे प्राप्त होनेवाले उदकका यह नाम सुख्यतया है । कृत्रिम रीतिसे शुंदायंत्र द्वारा बनाने जलको भी यह गौण दृष्टिसे दिया जा सकता है ।

विशेष प्रकारके जलोंके ये नाम हैं यह स्वयं इस सूक्तने ही कहा है, इसलिये इन शब्दोंके ये अर्थ लेना ही योग्य है । यद्यपि संस्कृत भाषामें ये सब उदक वाचक शब्द पर्याय शब्द माने जाते हैं और पर्याय समसंस्कार उपयोगमें भी लिये जाते हैं, तथापि संस्कृत भाषामें एक वस्तुके वाचक अनेक शब्द वस्तुतः

उस वस्तुके अन्तर्गत भेदोंके वाचक होते हैं, यह बात इस सूक्तके इस निवरणसे ज्ञात हो सकती है ।

यह जल (भद्राः । मं. ५) कस्याप करनेवाला है, बल, पुष्टि और तेज देनेवाला है, तथा जीवनका तेज बढ़ानेवाला है । (मं. ५)

शुद्ध स्पष्टिक जैसा निर्मल जल पीनेसे ऐसी तृप्ति होती है कि जो तृप्ति अमृत मोजनसे मिल सकती है ।

प्राणिमात्र जलके कारण अविद्य रहते हैं इसलिये जलसे ही इनको उत्पत्ति मानना योग्य है, अतः ये जलके पुत्र ही गये । अस इन सबकी माता है इसलिये जलको ' माता ' वेदमें अमृत्य कहा है । इस माताका आश्रय करनेसे मनुष्य नीरोग पुष्ट और बलवान हो सकते हैं ।

मनुष्य जलमें प्रविष्ट होकर नित्य ज्ञान करें अथवा वैसी तरंगे आदिकी संभावना न हो तो अन्य प्रकारसे जल प्राप्त करके ज्ञान अवश्य करें । यह जलज्ञान बड़ा आरोग्यप्रद होता है । इसादि उपदेश पंचम और षष्ठ मंत्रोंके शब्दोंके मननसे प्राप्त हो सकते हैं ।

गोशाला ।

(१४)

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता— नानादेवता, गोष्ठदेवता)

सं वो गोष्ठेन सुपदा सं रय्या सं सुभृत्या ।
अहर्जातस्य यन्नाम तेनां वः सं संजामसि

॥ १ ॥

अर्थ— हे गौत्रो ! (वः सुपदा गोष्ठेन सं) तुमको उत्तम बैठने योग्य गोशालासे युक्त करते हैं, (रय्या सं) उत्तम अलक्ष्य युक्त करते हैं और (सु-भृत्या सं) उत्तम रहने सहनेसे अथवा उत्तम प्रजननसे युक्त करते हैं । (यत् अहर्जा-तस्य नाम) जो दिनमें श्रेष्ठ वस्तु मिल जाय (तेन वः सं संजामसि) उससे तुमको युक्त करते हैं ॥ १ ॥

भाषार्थ— गौत्रोंके लिये उत्तम, प्रशस्त और स्वच्छ गोशाला बनानी जान । गौत्रोंके लिये उत्तम जल पीनेको दिया जाय, तथा गौत्रोंके उत्तम शुभयुक्त संतान उत्पन्न करानेकी दृष्टता सदा रखी जाय । गौत्रोंके दृष्टता प्रेम किया जाय कि दिनके समय गौत्रोंके योग्य उत्तमसे उत्तम पर्यार्ष प्राप्त कराकर वह उनको अर्पण किया जाय ॥ १ ॥

सं वः मृजत्वयमा सं पूषा सं बृहस्पतिः ।	
समिन्द्रो यो घनञ्जयो मयि पुष्यत् यदसुं	॥ २ ॥
संजग्माना अविभ्युपीरस्मिन् गोष्ठे कीरिषिणीः ।	
विभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन	॥ ३ ॥
इहैव गाव् एतनेहो शकैव पुष्यत् ।	
इहैवोत् प्र जायष्वं मयि संज्ञानमस्तु चः	॥ ४ ॥
शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशकैव पुष्यत् ।	
इहैवोत् प्र जायष्वं मया वः सं सृजामसि	॥ ५ ॥
मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्युः ।	
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम	॥ ६ ॥

अर्थ— (अयंमा वः सं सृजतु) अयंमा तुमको मिलाने, (पूषा सं, बृहस्पतिः सं) पूषा और बृहस्पति भी तुम्हें मिलाने । (यः घनञ्जयः इन्द्रः सं सृजतु) जो घन प्राप्त करनेवाला इन्द्र है वह तुमको घनसे संशुक्त करे । (यत् यस्तु) जो घन आपके पास है वह (मयि पुष्यत्) तुममें तुम पुष्ट करो ॥ २ ॥

(अस्मिन् गोष्ठे संजग्मानाः अ-विभ्रतीः) इस गोशालामें मिलकर रहती हुई और निर्भय होकर (कीरि-षिणीः) गोबरका उत्तम खाद उत्पन्न करनेवाली तथा (सोम्यं मधु विभ्रतीः) गांठ मधुररस-दूध का धारण करती हुई (अन्-अमीवाः उपेतन) नीरोग अवस्थामें हमारे पास आओ ॥ ३ ॥

हे (गावः) गौओ । (इह एव पतन) यहाँ ही आओ । और (इहो) शका इव पुष्यत्) यहाँ चाकके समान पुष्ट होओ । (उत् इह एव प्र जायष्वं) और यहाँ ही बच्चे उत्पन्न करके बढो । (वः संज्ञानं मयि अस्तु) आपका समन-प्रेम-सुखमें होवे ॥ ४ ॥

(वः गोष्ठः शिव भवतु) तुम्हारी गोशाला तुम्हारे लिये हितकारी होवे । (शारि-शका इव पुष्यत्) शाखी चाकके समान पुष्ट होओ । (इह एव प्र जायष्वं) यहाँ ही प्रजा उत्पन्न करो और बढो । (मया वः सं सृजामसि) मेरे साथ तुमको भ्रमणके लिये ले जाता हूँ ॥ ५ ॥

हे (गावः) गौओ । (मया गोपतिना सचध्वं) सुख गोपतिके साथ मिली रहो । (वः पोषयिष्युः अयं गोष्ठाः इह) तुमको पुष्ट करनेवाली यह गोशाला यहाँ है । (रायः पोषेण बहुलाः भवन्तीः) गोमाकी इच्छिके साथ बहुत बढती हुई और (जीवन्तीः वः जीवाः उप सदेम) अनिष्ट रहनेवाली तुमको हम सब प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

भाषार्थ— अयंमा, पूषा, बृहस्पति तथा घन प्राप्त करनेवाला इन्द्र आदि-सर्व देवतायण गौओंकी पुष्टि करें । तथा पुष्ट गौओंसे जो पोषक रस मिल सकता है वह दूध मेरी पुष्टिके लिये मुझे मिले ॥ २ ॥

उत्तम खाद कृी गोबर उत्पन्न करनेवाली, दूध बैसा मधुररस देनेवाली, नीरोग और निर्भय स्थानपर विचरनेवाली गौएँ इस उत्तम गोशालामें आकर निवास करें ॥ ३ ॥

गौएँ इस गोशालामें आवें, यहाँ बहुत पुष्ट हो, और यहाँ बहुत उत्तम संतान उत्पन्न करें और गौओंके स्वामिके ऊपर प्रेम करती हुई आनन्दसे रहे ॥ ४ ॥

गोशाला गौओंके लिये कल्याणकारिणी होवे । यहाँ गौएँ पुष्ट होंगी और संतान उत्पन्न करके बढें । गौओंका स्वामी सब गौओंकी व्यवस्था देखे ॥ ५ ॥

गौएँ स्वामीके साथ आनन्दसे मिलजुल कर रहें । यह गोशाला अत्यन्त उत्तम है इसमें रहकर गौएँ पुष्ट हों । अपनी गोमा और पुष्टि बढाती हुई यहाँ गौएँ बहुत बढें । हम सब ऐसे उत्तम गौओंको प्राप्त करेंगे और पालेंगे ॥ ६ ॥

गो संवर्धन ।

यह सूक्त अत्यंत सुगम है, इसलिये इसके अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसमें जो बातें कही हैं उनका सारांश यह है कि 'गौओंके लिये उत्तम गोशाला बनाई जावे और वहाँ उनके रहने सहने, घास, दानापानी आदिका सब उत्तम प्रबंध किया जावे। स्वामी गौत्रोंसे प्रेम करे और गौवें स्वामीसे प्रेम करे। गौवें निर्भयतासे रहें उनको अधिक भयभीत न किया जावे, क्योंकि भयभीत गौवोंके दूधपर बुरा परिणाम होता है। संतान उत्पन्न करानेके समय अधिक दूध-वाली और अधिक नीरोग संतान उत्पन्न करानेके विषयमें

दक्षता रखी जाय। गौवोंकी पुष्टि और नीरोगताके विषयमें विशेष दक्षता रखी जाय अर्थात् गौओंको पुष्ट किया जाय और उनसे नीरोग संतान उत्पन्न होऐसा सुप्रबंध किया जाय। गोपालनका उत्तममे उत्तम प्रबंध ही, किसी प्रकारकी उनमें बीमारी उत्पन्न न हो। उनके गोबर आदिसे उत्तम खाद करके उस खादका उपयोग शाली अर्थात् चावल आदि धान्योंके लिये किया जावे।'

इत्यादि प्रकारका बोध इस सूक्तके पठनेसे मिल सकता है। यह सूक्त अति सुगम है इसलिये पाठक इसका मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें।

वाणिज्य से धनकी प्राप्ति ।

(१५)

(ऋषिः — अथर्षा (पण्यकामः) । देवता — विश्वेदेवाः, इन्द्राग्नी)

इन्द्रं मुहं वाणिजं चोदयामि स न ऐतं पुरण्णता नो अस्तु ।
 नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मर्ह्यम् ॥ १ ॥
 ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा घावापृथिवी सुंचरन्ति ।
 ते मां जुपन्तां पर्यसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ २ ॥

अर्थ— (अहं वाणिजं इन्द्रं चोदयामि) मैं वाणिज् इन्द्रको प्रेरित करता हूँ (सः नः ऐतु) वह हमारे प्रति आवे और (नः पुर-ण्णता अस्तु) हमारा अग्रवा होवे। (परिपन्थिने मृगं अरातिं नुदन्) मार्गपर छद् करनेवाले पाशवी मार्गसे सुक शत्रुको अलग करता हुआ (सः ईशानः मर्ह्यं धनदाः अस्तु) वह समये मुझे धन देनेवाला होवे ॥ १ ॥

(ये देवयानाः बहवः पन्थानः) जो देवोंके जाने योग्य बहुदूरीके मार्ग (घावापृथिवी अन्तरा सुंचरन्ति), घावापृथिवीके बीचमें चलते रहते हैं, (ते पर्यसा घृतेन मां जुपन्तां) वे दूध और घीसे मुझे तृप्त करें (यथा क्रीत्वा धनं मां हारामि) जिससे क्रयविक्रय करके मैं धन प्राप्त कर लूँ ॥ २ ॥

भाषार्थ— मैं वाणिज्य करनेवाले इन्द्रकी प्रार्थना करता हूँ कि वह हमारे अन्दर आवे और हमारा अग्रगामी बने। वह प्रभु हमें धन देनेवाला होवे, और ॥१॥ हमारे शत्रुओंको अर्थात् बटमार, छुटेरे और पाशवी शक्तिसे हमें सतानेवालोंको हमारे मार्गसे दूर करे ॥ १ ॥

शुलोक और पृथ्वीके मध्यमें जाने-आनेके जो दिव्य मार्ग हैं वे हमारे लिये दूध और घीसे भरपूर हों, जिन मार्गोंसे आकर और व्यापार करके हम बहुत धाम प्राप्त कर सकें ॥ २ ॥

इध्मेनांश्च इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे चलाय ।
 यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं अतसेयाय देवीम् ॥ ३ ॥
 इमामेपे शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम् ।
 शुनं नो अस्तु प्रपूणो विक्रयथ प्रतिपणः फलिर्न मा कृणोतु ।
 इदं हव्यं संविदानौ जुपेयां शुनं नो अस्तु चरितमृत्थितं च ॥ ४ ॥
 येन घनेन प्रपूणं चरामि घनेन देवा घनमिच्छमानः ।
 तन्मे भूयो भवतु मा कर्नायोऽप्ये सातध्नो देवान्द्विष्या मि वैघ ॥ ५ ॥
 येन घनेन प्रपूणं चरामि घनेन देवा घनमिच्छमानः ।
 तस्मिन् इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥ ६ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (इच्छमानः इध्मेन घृतेन तरसे चलाय हव्यं जुहोमि) मैं लामकी इच्छा करनेवाला इध्मन और षोडशे संकटके इध्मनेके लिये और बल प्राप्तिके लिये इध्न करता हूँ । (यावत् इमां देवीं धियं ब्रह्मणा वन्दमानः अतसेयाय ईशे) जिससे इस बुद्धिका ज्ञान द्वारा सम्मान करता हुआ मैं संकटों सिद्धियोंको प्राप्त करनेके योग्य होऊँ ॥ ३ ॥

हे (अग्ने) अग्ने ! (नः इमां शरणिं मीमृषः) इस हमारी अशुद्धिकी क्षमा कर । (यं दूरं अध्वानं अगाम) जिस दूरके मार्गतक इम आ गये हैं । (नः प्रपूणः विक्रयः च शुनं अस्तु) वहाँका हमारा कप और विक्रय लामकारक हो । (प्रतिपणः फलिर्न नः कृणोतु) प्रलेक व्यवहार उसको लामकारक होवे । (इदं हव्यं संविदानौ जुपेयां) इस इध्मिको जानकर खेवन करो । (नः चरितं उत्थितं च शुनं अस्तु) हमारा व्यवहार और हमारा उत्थान लामकारक होवे ॥ ४ ॥

हे देवाः ! (घनेन घनं इच्छमानः) मूल घनसे लामकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला मैं (येन घनेन प्रपूणं चरामि) जिस घनसे व्यापार करता हूँ (तत् मे भूयः भवतु) वह मेरे लिये अधिक होवे और (मा कर्नायः) मोक्ष न होवे । हे अग्ने ! (द्विष्या सातध्नो देवान्द्विष्या मि वैघ) इध्नसे पुण्य होकर लामका नाश करनेवाले खिलाड़ियों का निषेध कर ॥ ५ ॥

हे देवो ! (घनेन घनं इच्छमानः) घनसे घन कमनेकी इच्छा करनेवाला मैं (येन घनेन प्रपूणं चरामि) जिस घनसे व्यापार करता हूँ (तस्मिन् मे रुचि) उधमें मेरी रुचिको (इन्द्रः प्रजापतिः सविता सोमः अग्निः) इन्द्र, प्रजापति, सविता, सोम, अग्नि देव (आ दधातु) स्थिर कर देवे ॥ ६ ॥

भाष्यार्थ— मैं लाम तथा बल प्राप्त करना और संकटकी दूर करना चाहता हूँ, इसलिये मैं षो और षडिध्मसे इध्न करता हूँ । इध्मसे मैं ज्ञान प्राप्तिपूर्वक तथा बुद्धिसे प्रयत्न कर्मको करता हुआ अनेक व्यापारोंमें सिद्धियां प्राप्त करके लाम प्राप्त करूँगा ॥ ३ ॥

इम अपने घरसे बहुत दूर विदेशमें आ गये हैं । हे प्रभो ! यहाँ कोई भुट्टि हमसे हो गई तो क्षमा कर । यहाँ जो व्यापार हम कर रहे हैं उसमें हमें बहुत लाम प्राप्त हो, हमें क्रयमें भी लाम हो और विक्रयमें भी हमें घन बहुत मिले, प्रलेक व्यवहारे हमें लाम होवा पाय । हमारा जाना जाना और हमारा अस्त्युत्थान अर्थात् स्पर्शकी चलाई करना भी हमें लामकारी होवे । इसके लिये हम यह इध्न करते हैं, संकटका खेवन कर ॥ ४ ॥

मैं मूल घनसे व्यापार करके बहुत लाम प्राप्त करना चाहता हूँ, इसलिये जितने घनसे मैं यह व्यवहार कर रहा हूँ, वह घन मेरे कार्यके लिये पर्याप्त होवे और कम न होवे ! मैं जो यह इध्न कर रहा हूँ इससे संतुष्ट होकर, हे प्रभो ! तु मेरे व्यवहारमें लामका नाश करनेवाले जो कोई होंगे उनको दूर कर ॥ ५ ॥

उपं त्या नर्मसा वयं होतर्वैश्वानर स्तुमः ।

स नः प्रजास्त्रात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि

॥ ७ ॥

विश्वाहा ते सद्मिद्धरेमाश्वयिव तिष्ठते जातवेदः ।

रायस्पोषेण समिषा मर्दन्तो मा ते अग्रे प्रतिवेशा रिषाम

॥ ८ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (होतः वैश्वानर) राजक वैश्वानर । (वयं नमसा त्या उप स्तुमः) हम नमस्कारसे तेरा स्तवन करते हैं । (सः नः आत्मसु प्राणेषु प्रजासु गोषु जागृहि) वह तू हमारे आत्मा, प्राण, प्रजा और गौओंमें रखणके लिये जागता रह ॥ ७ ॥

हे (जातवेदः) जातवेद ! (विश्वाहा ते इत् सवं भरेम) प्रतिदिन तेरे हाँ स्थानको हम भोंगे (तिष्ठते अश्वयव इव) जैसा स्थानपर बंधे हुए घोडोंको अन्न देते हैं । (रायः पोषेण इवा सं मर्दन्तः) धन, पुष्टि और अन्नसे आनंदित होते हुए (ते प्रतिवेशा मा रिषाम) तेरे उपासक हम कभी नष्ट न होंगे ॥ ८ ॥

भाषार्थ— अपने मूल धनसे व्यापार करके मैं बहुत धन कमाना चाहता हूँ, इसके लिये धन लगाकर उससे जो व्यवहार मैं करना चाहता हूँ, उसमें प्रभुकी कृपासे मेरी कबि लाभ होनेतक स्थिर होंगे ॥ ६ ॥

हे प्रभो ! मैं तुझे नमस्कार करता हूँ और तेरी रक्षित करता हूँ, तू संतुष्ट होकर हमारे आत्मा, प्राण, प्रजा और गौ आदि पशुओंको रखा कर ॥ ७ ॥

हे प्रभो ! जिस प्रकार अश्वत्थालमें एक स्थानपर रखे हुए घोडोंको खिलानेका प्रबंध प्रतिदिन किया करते हैं उसी प्रकार हम तेरे उद्देशसे प्रतिदिन ध्यान करते हैं । तेरी कृपासे हम बहुत धन, पुष्टि और अन्न प्राप्त करेंगे, बहुत आनंदित होंगे और कभी दुःखसे प्रसन्न न होंगे ॥ ८ ॥

वाणिज्य व्यवहार ।

बनिया जो क्रय विक्रयका व्यवहार करता है उसका नाम वाणिज्य व्यवहार है । व्यापारके पर्याय किसी स्थानसे खरीदना और किसी स्थानपर उसको बेचना और इस क्रयविक्रयमें योग्य लाभ प्राप्त करना इस व्यापार व्यवहारसे होता है । कुशल बनिये इसमें अच्छा लाभ प्राप्त करते हैं ।

पुराना बनिया !

इस सूक्तके पहले मंत्रमें सब जगत्के प्रभु (इन्द्र भगवान्) को ' वाणिजं इन्द्रं ' (वाणिक् इन्द्र) कहा है, यह बहुत ही काव्यमय वर्णन है और इसमें अद्भुत उपदेश मरा है । परमेश्वर सर्वत्र स्थित है और प्रयत्न करनेपर भी दिखाई नहीं देता, इसलिये उसकी एक मंत्रमें (तायु । ऋ. १।६५।१) खैर भी कहा है । जिस प्रकार यह अद्भुत अलंकार है उसी प्रकार प्रभुको बनिया कहना भी अलंकार है ।

जिस प्रकार बनिया एक रु. लेकर उतने मूल्यका ही धान्य आदि देता है, न अधिक और न कम, इसी प्रकार यह पुराना सबसे बड़ा बनिया ' मनुष्योंको सुखदुःख उसी प्रमाणसे देता है कि जितना अन्न पुरा करे मनुष्य करते हैं अथवा जितना अर्पण ने परोपकारार्थ करते हैं उतना ही उनकी पुण्य मिलता है । इस प्रकार इस इन्द्र बनियाने जगत्के प्रारंभसे यह अपना व्यापार चलाया है, न यह कर्मा पक्षपाल करता है और न कभी उधारका व्यवहार करता है । इस प्रकार जब सबसे पुराण पुरुष बनियाका व्यवहार करता है, उसको जितना दिया जाय उतना ही उससे वापस मिलेगा । इसलिये मनुष्यको यज्ञ आदि कर्म करने चाहिये जिनको देखकर उससे पुण्य खरोदा जाय, वह उपदेश यहाँ मिलता है ।

व्यापारका व्यवहार बताते हुए भी वेदने उसमें परमात्माके सब व्यवहारका उपदेश देकर बताया है कि व्यापार भी धर्म-

स्वरूप परमेश्वरकी निद्रासे ही होना चाहिये और छल, कपट तथा धोखा उद्यम कभी करना नहीं चाहिये ।

इबनका निर्देश मं. ३ और ५ इन दो मंत्रोंमें है । इबनका अर्थ है ' अपना समर्पण ' । अपने पासके पदार्थ परमार्थके लिये अर्पण करना और स्वार्थका भाव कम करना यही यज्ञ है । ऐसे यज्ञोंसे ही जगत्का उपकार होता है, इसलिये ऐसे धर्मपरमात्मके पास पहुँचते हैं और उनका यत्न कर्त्तव्य मिलता है । इसलिये व्यापार-व्यवहारसे धन प्राप्त करनेपर उसका योग्य माग प्ररोपकारके लिये समर्पण करना चाहिये अर्थात् उसको यज्ञमें लगाना चाहिये । धन कमानेवाले इस आदेशका योग्य विचार करें । जो कदाया हुआ धन स्वयं उपभोग करता है वह पापी होता है । इसलिये कमाये धनमेंसे योग्य माग प्ररोपकारमें लगाना योग्य है ।

व्यापारका स्वरूप ।

इस सूक्तमें व्यापार विषयक जो शब्द ला गये हैं वे अब देखिये—

- १ धनं = मूल धन, सरमाया, जिस मूल धनसे व्यापार किया जाता है । (मं. ५, ६)
- २ धनं = लाभ, लाभसे प्राप्त होनेवाली रकम । (मं. ५, ६)
- ३ क्षणिकं = व्यापारी, कर्मिक्रय करनेवाला । (मं. १)
- ४ धनदा = व्यापारके लिये धन देनेवाला धनपति, जिससे धन लेकर अन्य छोटे व्यापारी अपना काम चला करते हैं । साहुकार । (मं. १)
- ५ प्रपणः = सौदा, खरीद फरोक । (मं. ५)
- ६ विक्रयः = खरीदा हुआ माल बेचना । (मं. ४)
- ७ प्रतिपणः = प्रत्येक सौदा । (मं. ४)
- ८ फली (फालिन्) = लाभ युक्त होना । (मं. ४)
- ९ गुनं = कल्याणकारी, लाभकारी, हितकर । (मं. ४)
- १० चरितं = व्यवहार करनेके लिये हलचल करना । (मं. ४)
- ११ उचितं = उठाव, चढ़ाई । प्रतिस्पर्धिके साथ स्पर्धिके लिये चढ़ाई करना । (मं. ४)
- १२ भूयः (धनं) = व्यापारके लिये पर्याप्त सरमाया होना । (मं. ५)

ये मारह शब्द व्यापार विषयक नीतिही सूचना देते हैं । इनके मननसे पाठकोंको पता लग सकता है कि बनियाके धर्ममें कौन कौनसे विभाग होते हैं और उन विभागोंमें क्या क्या कार्य करना चाहिये ।

पथन मूल धन व्यापार-व्यवहारमें लगाना चाहिये । यदि अपने पास न हो तो किसी साहुकार (धन-दा) के पाससे लेकर उस धनपरसे अपना व्यवहार चलाना चाहिये । जिस पदार्थका व्यापार करना हो उस पदार्थका ' कब ' कहा करना योग्य है और उठका ' विक्रम ' कहा करनेसे अधिकसे अधिक लाभ हो सकता है इसका विचार करना चाहिये । दिन दिनोंमें, किस देशमें खरेदी और किस स्थानपर बिक्री (प्रतिपण) करनेसे अधिक लाभ होना संभव है, इसका योग्य अनुसन्धान करनेसे निःशन्देह लाभ हो सकता है । इसीका नाम ऊपर लिखे शब्दोंमें ' चरितं ' कहा है ।

इन सब शब्दोंमें ' सतिपत् ' शब्द बड़ा महत्व रखता है । उठाव, उठाना, चढ़ाई करना इत्यादि अर्थ इसके प्रसिद्ध हैं । मालका उठाव करनेका तात्पर्य अब जानते ही हैं । इस उठानके दो भेद होते हैं, एक ' वैयक्तिक उत्थान ' और दूसरा ' समुदायिक संभूय समुत्थान ' है । एक व्यक्ति चढ़ाईकी नीतिसे व्यापार करता है उसको वैयक्तिक उत्थान कहते हैं और जहाँ जनेक व्यापारी अपना धंधा बनाकर उठाई करते हैं उसको ' संभूय समुत्थान ' कहते हैं । व्यापारमें देवता ऊपर लिखा ' चरित ' ही कार्य नहीं करता, परंतु यह दोनों प्रकारका उत्थान भी बड़ा कार्यकारी होता है । पठक इसका उत्तम विचार करें ।

व्यापारके विरोधी ।

- १ सातमः = (सात) लाभका (प्र) नाश करनेवाले । बिनके कारण व्यवहारमें हानि होती है । (मं. ५)
- २ सातमः देवः = लाभका नाश करनेवाला जूतेबाज, खिलाडी, (दिव्- ' जुवा खेलना ') इस धानुसे यह देव शब्द बना है । व्यवहारमें हानि होनेवाली आदतों-वाला मनुष्य । (मं. ५)
- ३ परिपन्थिन् = बटमार, चोर, छुटेरे, मार्गपर ठहरकर आनेजानेवालोंको जो छुटेते हैं । (मं. १)
- ४ मृगः = पशु, पशुप्रायवाला मनुष्य । (मं. १)
- ५ अ-रातिः = कंजूस, दान न देनेवाला । (मं. १)
- ६ कर्त्वीयः (धनं) = व्यापारके लिये जितना धन चाहिये उतना न होना, धनकी कमी । (मं. ५)

इनके कारण व्यापार-व्यवहारमें हानि होती है, इसलिये इनसे बचनेका उपाय करना चाहिये ।

व्यापार-व्यवहार करनेमें जो निग्रह होते हैं उनका विचार इन शब्दोंद्वारा इस सूक्तमें किया है । पहले विप्रकारी ' सातम देव '

है। पठक देवोंकी यहा विप्रकारी देवकर आथर्वशाक्त हो जाये। परंतु वैशा मन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

‘देव’ शब्दके अर्थ ‘जुवावे, खेलमें समन विद्यनिवाला’ ऐसा भी होता है। वह अर्थ ‘दिग्’ शब्दका ‘जवा खेला’ अर्थ है उस प्रादये सिद्ध होता है। जो व्यापारी अपना समय ऐसे कुम्भमें खर्च करेये वे अपना मुक्तान करेंगे और अपने साधियोंको भी दुबा देंगे। यह उपलक्ष्य मानकर जो जो व्यवहार व्यापारमें हानि करनेवाले होये उन व्यवहारोंको करनेवाले ‘साध्र देव’ समझना यहा उचित है। (साध्र) सामका (प्र) भाग करनेवाले (देव) व्यवहार करनेवाले जोय वह इच्छा वाच्य है। ‘देव’ शब्द ‘व्यवहार करनेवाले’ इस अर्थमें प्रयुक्त है।

‘परिपन्थी’ शब्दका प्रसिद्ध अर्थ ऊपर दिना ही है। इसका दूसरा अर्थ यह होता है कि ‘जो जोय कुम्भापि जानेवाले हैं।’ यही उपमाके न जाते हुए अन्य कुम्भापि जाना बहुत समय हानिकारक होता है। विशेष कर यह अर्थ यहा अभिमत है ऐसा हमारा विचार है।

व्यापारका मूल बन अपना घरमाया भा कम नहीं रहने चाहिये अन्यथा अन्य सब बातें ठीक होते हुए भी व्यापारमें काम नहीं हो सकता। इसलिये पंचम मंत्रकी सूचना कि (आ कनीया। मं. ५) अज्ञेयं प्यान देवे योग्य है। बहुत व्यवहार जानकारी होये हुए भी आवश्यक बनकी कमी होनेके कारण वे मुक्तान करनेवाले होते हैं। जो मुक्तान इस प्रकार होया वह किसी अन्य मुक्तिने वा बुद्धिकी कुशलतासे पूर्व नहीं होता, क्योंकि यह कमी हरएक प्रसंगमें दृष्टांत स्वरूप करनेवाली होती है। व्यापार करनेवाले शठक इससे योग्य शेष शरें।

दो मार्ग ।

व्यापार करनेके लिये देशदेशान्तरमें जाना आवश्यक होता है। अन्यथा वना व्यापार होना असम्भव है। देशदेशान्तर और शीघ्रदेशान्तरमें जानेके लिये संचन और सुशिक्षित मार्ग चाहिये। देशान्तरमें जानेके कई मार्ग सुशिक्षित होते हैं और कई अवदानक होते हैं। जो सुशिक्षित मार्ग होते हैं उनको ‘देवयानानाः पन्थानः’ (मं. २) कहा है। देशान्त मार्ग वे होते हैं कि विनगर देवता सरय तीर्थ जाते आते हैं, इस कारण वे मार्ग उचित भी होते हैं ऐसे मार्गपर सट्टमार नहीं होती, व्यापारी जोय अपना माल सुशिक्षित रीतिसे ले जाते हैं और ले आते

हैं। वहा आनेजानेके ऐसे सुरक्षित मार्ग हों वहा ही व्यापार करना लाभदायक होता है।

दूसरे मार्ग उपलब्ध, अनुभूत और निशानोंके होते हैं विनगर इन निशानचूकोंका जाना जाना होता है। ये ही ‘परिपन्थी’ अर्थात् बजार, चौर लुटेरे बनकर सार्पनाहोंको दृष्ट देते हैं। इन मार्गोंपरसे जानेसे व्यापार व्यवहार अच्छा लाभदायक नहीं हो सकता। इसलिये जहाँके मार्ग सुरक्षित न हों वहाँके मार्ग सुरक्षित करनेके लिये प्रयत्न होना आवश्यक है। बालिष्णकी बुद्धि करनेके लिये यह अज्ञत आवश्यक कर्तव्य है।

व्यापार अच्छी प्रकार होनेके लिये दूसरी आवश्यकता इस बातकी है कि मार्गमें जहाँ जहाँ मुक्तान करना आवश्यक हो वहाँ खानपानके पदार्थ मनके अनुकूल सुगमतासे मिलने चाहिये। रहने सहने और खानपान आदिका सब प्रबंध बनायाना रहना चाहिये। उचित धन देकर सहेका प्रबंध दिना आयाच होना चाहिये, इस विषयमें द्वितीय मंत्र देखिये—

ते (पन्थानः) मा जुपन्तां पयसा घृतेन ।
तथा कीरवा घनमाह्वरामि ॥ (सू. १५, मं. २)

‘वे देशदेशान्तरमें जाने जानेके मार्ग मुझे सुखपूर्वक दूध, घी आदि उपयोगके पदार्थ देनेवाले हों, जिससे मैं कम आदि करके बन कमनेका व्यवहार कर सकूँ।’ शत तो साक है कि यदि देशदेशान्तरमें प्रणय करनेवालेकी मोक्षनादिका सब प्रबंध अपना खदे ही करना पड़े तो उसका समय यहाँमें चला जाना, अनेक कष्ट होये, विदेशमें स्थानका परिषय न होनेके कारण सब आवश्यक सामान इकट्ठे करनेमें ही व्यर्थ समय बला जायगा। इसलिये मंत्रके कथनानुसार, ‘मार्ग ही उपयोगके पदार्थोंके तैयार रहने’ तो अच्छा है। यह उपदेश बडा महत्वपूर्ण है और व्यापार बुद्धिके लिये सर्वत्र इस प्रवच्यके होनेकी अज्ञत आवश्यकता है।

ज्ञानयुक्त कर्म ।

हरएक कार्य ज्ञानपूर्वक करना चाहिये। इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन अज्ञत विचारणीय है—

देवां धियं ब्रह्मणा वन्दमानः शतसेयाय ईंसे ।
(सू. १५, मं. ३)

‘दिग् बुद्धि और कर्मशास्त्रिका ज्ञानसे श्रद्धा करता हुआ मैं देवकों सिद्धियोंकी प्राप्ति करनेका अधिकारी बनवा हूँ।’

यहाँका 'धी' शब्द 'प्रज्ञा, बुद्धि और कर्मशक्ति' का वाचक है। ज्ञानपूर्वक हर एक कर्म करना चाहिये। जो काम करना हो, उस विषयमें जितना ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है उतना पहले करना और पश्चात् उस कार्यका आरंभ करना चाहिये। तभी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यह सिद्धिका सरल मार्ग है। दूसरी बात जो सिद्धिके लिये आवश्यक है वह यह है कि आरंभ किये कार्यमें रुको स्थिर होना चाहिये—

तास्मिन् कश्चि आ दधानु । (सू. १५, मं. ६)

'उस कार्यमें जहाँ स्थिर होवे' यह बात अत्यंत आवश्यक है। नहीं तो कोई लोगोकी ऐसी चंचल वृत्ति होती है कि वे मात्र एक कार्य करते हैं, कल तीसरा हाथमें लेते हैं और परसं

पांचवेंका विचार करते हैं। ऐसे चंचल लोग कभी सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकते।

परमेश्वर मक्ति ।

सब कारोकी सिद्धिके लिये परमेश्वरकी मक्ति करनी चाहिये। इस विषयमें सप्तम और अष्टम मंत्रोंका कथन बड़ा मननीय है। 'ईश्वरकी नम्रतापूर्वक स्तुति, प्रार्थना, उपासना करना चाहिये।' क्योंकि वही शरण जाने योग्य है और सबीकी शक्तिद्वारा सबकी रक्षा होती है। प्रतिदिन नियत समयपर उसकी उपासना करनी चाहिये। विशेषे यह सब कामधन्देमें यश देगा, और धन, पुष्टि, सख आदि प्राप्त होंगे और कभी गिरावट नहीं होगी। ईश्वर उपासना तो सबकी उच्चतिके लिये अत्यंत आवश्यक है। संपूर्ण सिद्धिके लिये इसकी बहुत आवश्यकता है।

॥ यहाँ दूसरीय अनुवाक समाप्त ॥



प्रातःकालमें भगवान्की प्रार्थना ।

(१६)

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — बृहस्पतिः, बहुदेवत्यम्)

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विनानां ।	
प्रातर्मरुगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे	॥ १ ॥
प्रातर्जितं मरुमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितियों विघ्नतां ।	
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्विद्राजां चिद्यं मरुं मधीत्याहं	॥ २ ॥
मगु प्रणेतुर्मगु सत्यराघो मगुमां धियमुदेवा ददन्तः ।	
मगु प्र णो जनय गोमिरश्वैर्मगु प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम	॥ ३ ॥

अर्थ— (प्रातः अग्नि) प्रातःकाल अग्निकी, (प्रातः इन्द्र) प्रातःकालमें इन्द्रकी, (प्रातः मित्रावरुणौ) प्रातःकालके समय मित्र और वरुणकी, तथा (प्रातः अश्विनौ) प्रातःकाल अश्विनी देवोंकी (हवामहे) हम स्तुति करते हैं । (प्रातः पूषणं ब्रह्मणस्पतिं मरुं) प्रातःकाल पूषा और ब्रह्मणस्पति नामक भगवान्की (प्रातः सोमं उत रुद्रं हवामहे) प्रातःकाल सोम और रुद्रकी हम प्रार्थना करते हैं ॥ १ ॥

(अथं प्रातर्जितं अदितेः उग्रं पुत्रं मरुं हवामहे) हम प्रातःकालके समय अदितिके विजयी हुए पुत्र मरुकी प्रार्थना करते हैं, (यः विघ्नतां) जो विधेय प्रकार धारण करनेवाला है । (आध्रः चिद्यं) अचक भी और (तुरः चिद्यं) बलवान् भी जिसकी तथा (राजा चिन्) राजा भी (यं मन्यमानः) जिसका सम्मान करता हुआ (' मरुं मक्षि ' इति श्लाघ) ' धनका माग मुझे दे ' ऐसा कहता है ॥ २ ॥

हे (मगु) भगवन् ! हे (प्र-नेतः) बड़े नेता ! हे (सत्यराघः मगु) सत्य सिद्धि देनेवाले प्रभो ! (इमां धियं ददन्तः नः उत अथ) इस बुद्धिको देता हुआ तू हमारी रक्षा कर । हे (मरुं) भगवन् ! (गोमिः अश्वैः नः प्रजनय) गौओं और घोड़ोंके साथ संतानवृद्धि कर । हे (मगु) भगवन् ! हम (नृभिः नृवन्तः स्याम) अच्छे मनुष्योंके साथ रहकर मनुष्योंसे युक्त होंगे ॥ ३ ॥

भावार्थ— प्रातःकालमें हम अग्नि, इन्द्र, मित्रावरुणौ, अश्विनौ, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम और रुद्र नामक भगवान्की प्रार्थना करते हैं ॥ १ ॥

हम इस प्रातःकालके समय अदीनताके वीर भगवान्की प्रार्थना करते हैं, जो भगवान् सबका विशेष प्रकारसे धारण करनेवाला है और जिसकी अशक्त और अचक, रंक और राजा, सभी एक प्रकारसे परम पूज्य मानते हुए, ' अपनेको भाग्यवान् ' करनेकी इच्छासे प्रार्थना करते हैं ॥ २ ॥

हे हम सबके बड़े नेता ! हे सत्य सिद्धि देनेवाले प्रभो ! हे भगवन् ! हमारी इस शुद्ध बुद्धिकी शक्ति करता हुआ तू हमारी रक्षा कर । गौओं और घोड़ोंकी श्रद्धिके साथ साथ हमारी संतान वृद्धि होने दें । तथा हमारे साथ सदा श्रेष्ठ मनुष्य रहें, ऐसा कर ॥ ३ ॥

उतेदानीं भगवन्तः स्वामोत् प्रपित्व उत मध्ये अह्वाम् ।
 उतोर्दितौ मधवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥
 भग एव भगवाँ अस्तु देवलेनां वयं भगवन्तः स्याम ।
 तं त्वां भग सर्व इज्जौहवीमि स नो भग पुरएता भवैह ॥ ५ ॥
 समञ्चरायोपसो नमन्त दधिक्रावैव शुचये पदार्य ।
 अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रयमिवाश्वा वाजिन आ वंहन्तु ॥ ६ ॥
 अश्वावतीर्गोमतीर्न उपासो वीरवतीः सदर्मुच्छन्तु मद्राः ।
 घृतं दुहाना विश्वतुः प्रपीता ययं पात्रं स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

अर्थ— (उत इदानीं भगवन्तः स्याम) हम इस समय माष्यवान होवें (उत प्रपित्व उत मध्ये अह्वाम्)
 और धार्यकालमें भी और दोपहरमें भी । हे (मधवन्) भगवन् ! (उत सूर्यस्य उदितौ) और सूर्यके उदयके समय (वयं
 देवानां सुमतौ स्याम) हम देवोंकी सुमतिमें रहें ॥ ४ ॥

(भगवान् भगः देवः अस्तु) भगवान् भगदेव मेरे साथ होने (तेन वयं भगवन्तः स्याम) उबकी सहायतासे
 हम माष्यवान् होवें । (हे भग) भगवन् ! (तं त्वा सर्वः इत् ओहवीमि) उस ब्रह्मको मैं सब रीतिसे मन्त्राहं (भग)
 भगवन् । (सः नः पुरएता इह भव) वह तू हमारा जग्यवा यहाँ हो ॥ ५ ॥

(उपसः अम्भराय सं नमन्त) उपासो यज्ञके लिये उत्तम प्रकार मुकती रहें । (शुचये पदार्य दधिक्रावा इव)
 त्रिव प्रकार छुद्र स्थानपर पद रखनेके लिये धोना चाहता है । (वाजिनः अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे भा वहन्तु) जैसे
 इस और धनवाले भगवान्को मेरे पास ले आवें (अश्वा रयं इव) जैसे घोड़े रपको खाते हैं ॥ ६ ॥

(अश्वावतीः गोमतीः वीरवतीः मद्राः उपासः) घोड़े, गीएँ और वीरसे युक्त क्षत्रियमयी उपासो (नः सदा
 उच्छन्तु) हमारे घरोंकी प्रशिक्षित करें । (घृतं दुहानां) पीकी श्राव करते हुए (विश्वतः प्रपीताः) सब प्रकार इष्टपुष्ट
 होकर (ययं स्वस्तिभिः सदा नः पात्रं) हम सब अनेक कल्याणोंके साथ यदा हमारी रक्षा कर ॥ ७ ॥

भाषार्थ— हम प्रातःकाल, दोपहरके समय और सार्यकालके समय ऐसे शुभकर्म करें कि त्रिवसे हम माष्यघाटी बनते
 जाय । हम सूर्यके उदयके समय देवोंकी उत्तम गतिके साथ युक्त हों ॥ ४ ॥

भगवान् परमेश्वर हैं माष्य देनेवाला होवे, उसकी कृपासे हम माष्यशाली बनें । हे भगवन् ! हम सब ठेरा मन्त्रन करते
 हैं, इष्टसे तू प्रसन्न हो और हम सबको योग्य मार्गपर चलानेवाला हमारा मुखिया बन ॥ ५ ॥

उपःकालका समय अहिंशामय, अङ्कुरित, सत्कर्मकी दिशाकी ओर झुक जाय और सब कर्मोंसे धनवान्, भगवान् हमारे
 अधिक सन्निध होते जाय ॥ ६ ॥

त्रिन उपासोंके समय घोड़े, गीएँ और वीरपुरुष उत्साहसे कार्योंमें लगे होते हैं ऐसी उपासो हमारे घरोंकी प्रशिक्षित
 करें । और ऐसी ही उपासो घृतकी श्राव करती हुई और सबकी दुग्धपान कराती हुई अनेक कल्याणोंके साथ हम सबकी रक्षा
 करें ॥ ७ ॥

प्रातःकालमें भगवान्की प्रार्थना ।

प्रातःकाल उठकर प्रभुकी प्रार्थना करना चाहिये । अपना मन शुद्ध और पवित्र बनाकर एकाग्रताके साथ यह प्रार्थना होनी चाहिये । इस समय मनमें कोई विरोधका विचार न रहे और परमेश्वरकी भक्तिका विचार ही मनमें जागता रहे । ऐसे शुद्ध मातृप्रेत उपासके पवित्र समयमें कोई हुई प्रार्थना परमेश्वर देव सुनते हैं । इसीलिये—

सबका उपास्य देव ।

आध्यात्मिक मन्वमानस्वरुद्रादिशाखा चिन्तं भगं
मङ्गीत्याह ॥ (सू. १६, मं. २)

इस समय 'निर्वल और बलवान्, प्रमानन और राजा समान मातृप्रेत प्रभुका आदर करते हुए उभरकी प्रार्थना करते हैं और उभरके पास अपने मातृप्रेतका भाग मांगते हैं ।' क्योंकि निर्वल और बलवान्, शासित और शासक ये उभरके सम्मुख समान मातृप्रेत ही रहते हैं । इस मंत्रके शब्द अधिक विचारकी दृष्टिसे देखने योग्य हैं इसलिये उन शब्दोंके अर्थ अब देखिये—
१ आध्रः = आभार देने योग्य, जिसको दूसरोंके सहारेकी आवश्यकता होती है, निर्वल, अशक्त, निर्धन ।

२ गुरः = त्वात्पुत्र, शांतिप्राप्त कार्य करनेवाला, देववान्, आये बढनेवाला, बलवान्, सामर्थ्यवान्, धनवान्, अपनी शक्तिसे आये बढनेवाला ।

३ राजा = शासन करनेवाला, हुकुमत करनेवाला, दूसरोंपर आधिकार करनेवाला ।

यस राजा शब्दके अनुसंधानसे यही शासित होनेवाली प्रजाका भी बोध होता है । निर्वल, अशक्त, निर्धन, शासित, आदि लोग तथा बलशाली, समर्थ, धनी और शासन करनेवाले लोग ये सब यद्यपि अलगतमें आधाराय दृष्टिसे नीच और उच्च समझे जाते हैं; तथापि अगहिन्यता प्रभुके सम्मुख ये समान मातृप्रेत ही रहते हैं, उभरके सामने न कोई उच्च है और न कोई नीच है, इसलिये उस प्रभुकी प्रार्थना ब्रह्मा दीन मनुष्य करता है उसी प्रकार राजा भी करता है, और दोनों सबकी कृपासे अपने मातृप्रेत दृष्टि होमाँ देसा ही समझते हैं । इस प्रकार यह मन्त्रप्रेत परमपिता सबका एक जैसा पालक है । यह—

यः विद्यतां । (सू. १६, मं. २)

'सबका विशेष रीतिसे धारण करनेवाला है' अन्य आधाराय धारणकर्ता बहुत है, परन्तु यह प्रभु तो धारकोंका भी आभार है, इसीलिये इसको विशेष धारक कहते हैं । यह—

प्रातर्विंतं अदितेः पुत्रं भगं । (सू. १६, मं. २)

' (प्रातः विंतं) प्रातःकालमें ही विजयी है, अर्थात् अन्य वीर तो दुष्ट करिये और पश्चात् विजयी होंगे, इस कार्यके लिये उनको विजय कमानेके लिये कुछ समय अवश्य लगेगा, वैसा इसके लिये नहीं है । यह तो सदा विजयी ही है, काल शुरू होनेका प्रारंभ उपासकलते होता है, उस उपासकलते प्रारंभमें ही यह विजयी होता है अर्थात् पश्चात् तो इसका विजय होगा ही, परंतु इसका प्रारंभ ही विजय हुआ है, यह बात यहाँ बतायी है ।

अदीनताका रक्षक ।

'दिति' नाम पराधीनता या दीनताका है और 'अ-दिति' का अर्थ है स्वतंत्रता, स्वाधीनता या अदीनता । इस स्वाधीनताका यह (पु-त्र = पुनरिति च प्रायते च इति पुत्रः) पवित्रता युक्त कारण करनेवाला है । इसीलिये यह मातृप्रेत होनेसे 'भग' कहलाता है । जो कोई इस पवित्रताके साथ स्वाधीनताका रक्षा करेगा वह भी मातृप्रेत होगा और ऐश्वर्यवान् भी होगा । 'अ-दिति' पुत्र' होना बड़े पुरुषार्थका कार्य है, यह आधाराय बात नहीं है । परमात्मा तो स्वयंभूद स्वाधीनताका रक्षक है, इसलिये उसको यह सिद्धि स्वभावसे ही सिद्ध है अर्थात् बिना प्रयत्न प्राप्त है । पुरुषार्थी मनुष्य अपने पुरुषार्थसे स्वाधीनताका रक्षक होता है, इसको यह सिद्धि परमात्मोपासनासे ही प्राप्त हो सकती है । इसकी उपासना कौन किस रूपमें करते हैं इसका वर्णन प्रथम मंत्रमें दिया है—

उपासनाकी रीति ।

'भूमि, इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम, रुद्ररूप भयकी इस उपासना करते हैं । (मं. १)' यह इस मंत्रका अर्थ है । एक ही परमात्म देवके ये गुणबोध विवेचन हैं । इस सूक्तमें 'भग' अर्थात् ऐश्वर्यकी प्राधानता होनेसे इस सूक्तमें 'भग' शब्द मुख्य और अन्य शब्द उभरके विवेचन हैं । परंतु यदि किसीको अन्य गुणोंकी उपासना करनी हो तो उस गुणका वाचक शब्द मुख्य मानकर अन्य शब्दोंको उभरके विवेचन माना जा सकता है । जैसा—

- (१) मातृप्रेतकी इच्छा करनेवाला 'भग' नामको मुख्य मानकर उपासना करे । (२) ज्ञानप्रेतकी इच्छा करनेवाला 'ब्रह्मणस्पति' नामको मुख्य मानकर उपासना करे । (३) प्रभुत्वका सामर्थ्य चाहनेवाला 'इन्द्र' नामको मुख्य मानकर उसीकी उपासना करे । (४) पुष्टि चाहनेवाला 'पूषा' नामको मुख्य मानकर उभरकी उपासना करे । (५) शक्ति चाहनेवाला 'सोम' नामको मुख्य मानकर अन्य नामोंके उभरके

विशेषण माने और उपासना करे । (६) सप्रतापी इच्छा करने-
वाला 'छ' नामको मुख्य मानकर उपासना करे, इर्षा प्रकार
अन्वय्य नामोंको मुख्य या गौण अपनी कामनाके अनुसार माने
और उर्षा प्रभुकी उपासना कर अपनेमें उस गुणकी वृद्धि करे ।
उर्षा एक प्रभुके ये नाम हैं, क्योंकि 'एक ही प्रभुके अग्नि आदि
अनेक नाम होते हैं, एक ही सदस्तुका कवि लोग भिन्न भिन्न
नामोंसे वर्णन करते हैं ' इस वैदिक शैलिके अनुसार इस प्रथम
मंत्रमें अग्नि सप्त शब्द एक ही परमात्माके वाचक हैं । इस
कारण किसी गुणको प्रधान मानकर प्रभुकी उपासना ही जाय
तो उर्षाकी उपासना होती है और जिस गुणका चिन्तन किया
जाय उर्षाकी वृद्धि होती जाती है । मन जिसका ध्यान लेता है
वह गुण मनमें बढ़ता है, इस नियमके अनुसार यह उपासना
होती है । इन गुणोंका चिन्तन करनेको सुविधा होनेके लिये यहाँ
इन शब्दोंके विशेष अर्थ देते हैं—

- १ अग्निः = तेज, प्रकाश उष्णता, और गति करनेवाला ।
- २ इन्द्रः = शत्रुओंको दूर करनेवाला, ऐश्वर्यवान्, नियामक,
शासन करनेवाला, राजा ।
- ३ मित्रः = मित्र दृष्टिसे सबोंपर प्रेम करनेवाला, सबका हित
करनेवाला ।
- ४ घृणः = श्रेष्ठ, निष्कृपावृताके सत्तासत्यका निरीक्षण
करनेवाला, वरिष्ठ ।
- ५ अश्विनौ = धन और ऋण शक्तिसे युक्त, बेगवान् । सर्व-
भ्यापक, सर्वत्र उपस्थित ।
- ६ भगः = भाग्यवान्, ऐश्वर्य युक्त, धनवान् ।
- ७ पूषा = पोषक, पुष्टि करनेवाला ।
- ८ ब्रह्मण्यस्पतिः = ज्ञानका स्वामी, शर्मा ।
- ९ सोमः = शांत, आत्माहृदयामक, कलागिधि, कलावान्,
दयुक्त, प्रसन्नता करनेवाला ।
- १० रुद्रः = क्रम, प्रचण्ड, अमानक, गर्जना करनेवाला, वीर,
धृष्ट, वीरभद्र, शत्रुविष्वक्क वीर, शत्रुको उलानेवाला ।

प्रथम मंत्रोंक दस शब्दोंके ये अर्थ हैं । पाठक इन शब्दोंके
मनमें प्रभुकी उपासना कर सकते हैं । जिस गुणकी अपनेमें
बढ़ानेको इच्छा हो उस गुणवाचक शब्दसे प्रभुका ध्यान करना
और अन्य शब्द उर्षाके गुणबोधक विशेषण मानना यह उपा-
सनाही रीति है । इस प्रकार जनन और निदिध्यासन करनेसे
मनका वायुमंडल ही उस प्रकारका बनता है और आदरक गुण
मनमें विकसित होने लगता है । यहाँ पाठक समझ लें कि,
अपनी उन्नतिके लिये अपने मनके अंदरका वायु मंडल वैसा
बनानेको आवश्यकता है, इसीलिये तृतीय मंत्रमें क्या है—

धारणा ।

इमां धियं ददन्ः उद्व । (सू. १६, मं. ३)

' इस बुद्धिके बढ़ाते हुए हमारी उन्नत अवस्था करके हमारी
रक्षा कर ' यहाँ प्रार्थनामें धन नहीं मागा है, परन्तु 'बुद्धि'
मांगी है, यह ' धारणावर्ती बुद्धि ' जो कर्म शक्तिके युक्त रहती
है वह है, यह बात विशेष रीतिसे ध्यानमें धरना आवश्यक है ।
भाग्य प्राप्त करना हो, धन ऐश्वर्य बढ़ाना हो अपना प्रमुख
उपादन करना हो, तो इस सबके लिये पुष्टकार्य करनेमें समय
धारणावर्ती बुद्धिकी आवश्यकता है, इसके बिना उन्नति असंभव
है । धी शब्दमें वैसा बुद्धिमत्ताका भाव है उर्षा प्रकार पुष्टकार्य-
मयी कर्मशक्ति का भाव है यह भूतना नहीं चाहिये । वह
धी चित्तनी बढेगी उन्नती मनुष्यकी योग्यता बढ़ जाती है ।
जिस बुद्धिमें ज्ञानशक्ति पुष्टकार्य शक्तिके साथ संमिश्रित रहती
है वह बुद्धि हमें चाहिये यह इच्छा ' इमां धियं ' शब्दोंमें है ।
प्रथम और द्वितीय मंत्रोंमें जो बुद्धि और कर्मशक्ति विकसित
करनेका उपदेश किया गया है वह बुद्धि यहाँ तृतीय मंत्रमें
(इमां धियं ददन्) ' इस बुद्धिके दो ' इन शब्दोंमें मांगी
है । यहाँ प्रश्न होता है कि कौनसी बुद्धि प्रथम द्वितीय मंत्रोंमें
कही है ? इसका उत्तर उक्त मंत्रोंके मनमें मिल सकता है ।
मनन करनेके लिये इसमें पूर्वे शब्दार्थ दिये ही हैं, परन्तु विशेष
स्पष्टताके लिये यहाँ बोधका स्पष्टीकरण करते हैं—

उपासना —(और उससे सिद्ध होनेवाली)— धारणा ।

मंत्रका शब्दार्थ —(और उससे उद्दीपित होनेवाला)— बुद्धिका भाव ।

प्रथम मंत्र ।

(अग्नि) तेजस्वी, परन्तु (सोम) शांत योनि स्वभाववाले
(मित्रा-वसुनी) मित्र दृष्टिसे सबको देखनेवाले और निष्कृ-
पाती होकर सत्तासत्य देखनेवाले (पूषण) पोषणकर्ता
(ब्रह्मण्यस्पति) ब्रह्मज्ञानी देवकी प्रार्थना में प्रातःकालमें
करवा है ।

(१)

(१) मैं तेजस्वी बनूँगा, परन्तु (२) शांत और मंठा
स्वभाव धारण करके, (३) मित्रदृष्टिसे सब भूतमात्रको देखूँगा,
(४) निष्कृपावृताके सत्तासत्यको परीक्षा करूँगा, (५)
अन्वेषीके यथाशक्ति सहायता देकर उनका पोषण करूँगा और
(६) अपने अन्दर ज्ञान बढ़ाऊँगा ।

(अधिनो) नेगवान् धनञ्जय शक्तिवाले और (रुद्रं) शत्रुओंके दूर करनेवाले शासनकर्ता प्रभुओं में प्रातःकालके समय प्रार्थना करता है ।

द्वितीय मंत्र ।

(प्रातःकाल) निल विजयो (उमं) उग्र शरवीर प्रभुओं में प्रातःकाल प्रार्थना करता है । इसी प्रभुकी भक्ति अथवा और सद्यः, रंक और राजा धर्म करते हैं और अपने साम्यका भाग लक्ष्मणे मांगते हैं, क्योंकि वह (विधर्ता) सबका धारक और (अद्विष्टः) बंधन रहित अन्त्याका (पु-शः) पावन-कर्ता और धारणकर्ता है ।

उपासनाके मंत्रोच्चि धारणा किस प्रकार होती है यह पीछे यहाँ दी है । पुत्र पिताके समान बनता है, पिता करता है वह पुत्र करने लगता है, यहाँ बात परम पिताके गुणवानके संबंधमें होती है । क्योंकि इस श्रीवामरूप 'अमृत पुत्र' ने परमात्माके समान सच्चिदानन्द स्वरूपको प्राप्त करना है, उसी मार्गपर यह चल रहा है और इसीलिये यह उपासना करता है ।

(१) 'परमेश्वर शान्ति है' इतना वाक्य कहते ही मनमें भावना उठती है कि 'मैं भी शान्ति बनूँगा और अधिक ज्ञान प्राप्त करूँगा ।' (२) 'परमेश्वर शत्रुनिवारक है' इतना कहते ही मनमें भावना उठती है कि 'मैं भी शत्रुओंका निवारण करके शत्रुहिन हो जाऊँ ।' (३) इसी प्रकार 'परमेश्वर ऐश्वर्यमय है' इतना कहते ही मनमें भावना उठती है कि 'मैं भी ऐश्वर्य कमानेका प्रार्थना करूँ ।' (४) इसी रीतिसे 'परमेश्वर इस सब विश्वका कर्ता है' इतना कहते ही मनमें यह भावना खड़ी होती है कि 'मैं भी कुछ हुनर बनाऊँ ।' इसी प्रकार अन्यान्य उपसनाका धारणासे संबन्ध है । यह जो बुद्धिमें स्थिर रूपमें विविष्ट विचारकी भावना कम जाती है उसका नाम 'भी' है । पाठक जब इनमें गये होंगे कि प्रथम और द्वितीय मंत्रकी उपासनासे जो भारवाच्यता बुद्धि बनती है वह कर्ममयी ज्ञानवाचक कैसी है और वह मनुष्य मात्रका उद्धार करनेके लिये किस प्रकार सहायक हो सकती है ।

इमां धियं ददन् नः उग्र अथ । (सू. १६, मं. ३)
'इस धारणावती बुद्धिके देकर हमारी सज्जती करते हुए हमारी रक्षा कर ।'

इस तृतीय मंत्रके उपदेशमें किन्तना महत्वपूर्ण भाग है, इसका विचार पाठक करें और इस संक्षेप मंत्रोंकी उपासनामय वाणीसे अपने उद्धारका मार्ग जानकर पाठक अपने अन्मुख और निःश्रेयसका साधन करें ।

१० (अथर्व. भाष्य, काण्ड ३)

(१) मैं अपना वेग बढ़ाकर (२) शत्रुओंके क्लाने योग्य पराक्रम युद्धमयिपर करूँगा और (३) साम्यवान् बनकर अपने सब शत्रुओंको दूर करके उत्तम व्यवस्थासे शासन करूँगा ।

(२)

मैं प्रातःकालमें अपने विजय साधनका विचार करता हूँ, उसके लिये आदर्शक उग्रता धारण करूँगा और परमेश्वर अधिक-पूर्वक अपनी अशान्तिता और स्वाधीनताका रक्षाके लिये अशर्मित यत्न करूँगा तथा अपने अन्दर सब प्रकारकी पवित्रता बढ़ाना हुआ अपने अन्दर रक्षककी भी बढाऊँगा ।

सत्यका मार्ग ।

तृतीय मन्त्रमें 'प्रज्ञेत' और 'सत्यराधः' ये दो शब्द विशेष महत्वके हैं । 'प्र-नेता' का अर्थ 'उत्कर्षकी और ले जानेवाला नेता' तथा 'सत्य-राधः' का अर्थ 'मल्लके मार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाला' है । ये दोनों शब्द परमात्माके गुण बता रहे हैं । परमात्मा सबको सज्जतिकी मार्गकी ओर ले जा रहा है और सत्यमार्गसे ही सबकी सिद्धि देता है, इसीलिये ये दो शब्द परमात्माके सार्थ होते हैं । ये दो शब्द मनुष्योंके वाचक भी होते हैं, उस समय इनका अर्थ बड़ा बाँवण है । मनुष्य तथा मनुष्योंके नेता इन शब्दोंको अपने आचरणमें अपनेमें धरितार्थ करें । मनुष्योंके नेता अपने अनुशासकोंको उत्कर्षके मार्गसे ले जावें और सिद्धिके लिये सत्यके ताँबे मार्गसे ही अपना कार्य करें और यश प्राप्त करें । ऐसे मल्ल मार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाले मनुष्योंका ही 'तु अथवा वर' कहते हैं और ऐसे श्रेष्ठ सत्य नेताओंके साथ रहनेसे ही मनुष्योंकी साथ रहनेका ब्रह्म प्राप्त हो सकता है, दर्शनमें कहा है—

तुभिः नृवन्तः स्याम । (सू. १६, मं. ३)

'श्रेष्ठ मनुष्योंके साथ होनेसे हम मनुष्य युक्त बनेंगे । यहाँका 'तुवान्' शब्द 'मातृमान्, पितृमान्' शब्दके समान अर्थवाला है, जेसा — (मातृमान् । प्रसंगनाथ गुणवाली मालासे युक्त, (पितृमान्) प्रसंगनाथ बुनवाले पिताने युक्त, इसी प्रकार (तुमान्, तुवान्) प्रसंगनाथ श्रेष्ठ मनुष्योंसे युक्त । नहीं ही हरएक मनुष्यके साथ ऊँचे भी मनुष्य रहते हैं । चारोंके साथ भी उनके साथी रहते ही हैं, तथापि उग्रचारको 'तुमान्' नहीं कहा जा सकता । अच्छे मनुष्योंके साथ रहनेसे ही मनुष्यका अत्युदय होना संभव है, इसलिये 'अपने साथ अच्छे मनुष्य रहें' ऐसी इच्छा यहाँ पठक की गई है । इस प्रकार

अच्छे मनुष्योंकी खाद मिलनेसे निःसंदेह मनुष्योंका कल्याण हो सकता है ।

द्वौकी सुमति ।

' इम प्रातःकाल, दोपहरके समय और शामकाळ ऐसे कर्म करें, कि त्रिदशे इम (मघदन्तः) मास्यवान बनते प्राय । तथा इम देवोंकी जलन मतिमें रहें । (मं. ४) ' यह चतुर्थ मंत्रका कथन है । यहाँ दिन भर पुरुषार्थ प्रयत्न करनेकी सूचना है । प्रातःकाल क्या, दोपहरके समय क्या और शामकाळके समय क्या अपना ऐश्वर्य बढ़ानेका पुरुषार्थ करना चाहिये । कल्याणार्थे चलते हुए ऐसे कर्म करना चाहिये कि त्रिदशे मास्य प्राप्त हो ।

यहाँ मास्य प्राप्त होना है, यहाँ मनुष्यमें सत्य उत्पन्न हो सकता है और छल तथा अछल मार्गका विचार मास्यकी धुरंधरे रह नहीं सकता, इसलिये मास्यप्राप्तिका उपाय करनेका उपदेश करनेवाले इस मंत्रमें कहा है कि—

चर्यं देवानां सुमतेः स्याम । (सू. १६, मं. ४)

' हम देवोंकी सुमतिमें रहें । ' अर्थात् मास्य प्राप्त करनेके समय हमसे ऐसा आचरण हो कि त्रिदशे देव असंतुष्ट न हों। हमारे ऊपर अग्रसत्त्व न हों, प्रसुप्त हमारे विषयमें उत्तम मात्र ही धनके मनमें सदा रहें । हमसे ऐसे कर्म हो कि जिनसे वे सदा संतुष्ट रहें । इस मंत्रमें यह धारणाकी सूचना अर्जित मद्रत्त्व रखती है, क्योंकि मान्य और ऐश्वर्य ऐसे पदार्थ हैं कि जो प्राप्त होनेसे अथवा जिनकी प्राप्तिकी इच्छासे मनुष्य सुमार्गपर रहना कठिन है । मनुष्य देवकी सुमार्गपरसे मनुष्योंकी चलाते हुए ही उनको मास्य देना अभीष्ट है, इसलिये यहाँ मिलनेकी संभावना होती है यहाँ ही इस प्रकारकी धारणाकी सूचना दी होती है । ताकि मनुष्य न भ्रिं और मास्य भी प्राप्त करें । पंचम मंत्रमें—

स नो भगः पुरपता मघेह । (सू. १६, मं. ५)

' यह मगवान् ही हमारा जगुवा बने ' यह उपदेश कहा है यह भी इसी उद्देश्यसे है, कि मनुष्य परमात्माकी ही अपना आश्रमाकी समझ और अपने आपको उसके जगुयायी समझें और उर्ध्वके प्रकाशमें धार्य करते हुए अपनी सञ्चितिके कार्य करते हुए अपनी सञ्चितिके कार्य करें । गिरावटसे बचानेके हेतुसे यह उपदेश है । सर्वत्र परमेश्वर अपना निरीक्षक है यह विश्वास मनुष्योंकी गिरावटसे बहुत प्रकारसे बचा सकता है ।

अहिंसाका मार्ग ।

षष्ठ मंत्रमें अश्वरके मार्गसे जानेका उपदेश है, यह अश्वरका

मार्ग देखनेके लिये अश्वर शब्दका अर्थ ही देखना चाहिये—

अश्वर— (अ-श्वरा) अशुदिलता, अहाँ ठेकान नही है, यहाँ सीमा भाव है, यहाँ हिंसा नहीं है, यहाँ दुःखोद्योग भातपात करनेका भाव नहीं है, यहाँ दृष्टियोंके दृष्ट देकर अपना स्वार्थ साधन करनेका विचार नहीं है ।

ये ' अ-श्वर ' शब्दके अर्थ इस मार्गका स्वरूप बता रहे हैं । इस अहिंसाने मार्गसे जाना और पंचम मंत्रका ' परमेश्वरको अपना जगुवा बनाना ' चतुर्थ मंत्रको ' देवोंकी सुमतिमें रहना ' ; और तृतीय मंत्रको ' छल मार्गसे विद्वि प्राप्त करना ' एक ही बात है । इस दृष्टिसे ये चारों मंत्र मिश्र मिश्र उपदेशसे एक ही आशय बता रहे हैं । पाठक यहाँ देखें कि इस सूत्रने यह दृष्ट हो बात कितने विविध प्रकारसे कही है, इसके स्पष्ट पता लग सकता है कि वैदिक कृपाश्रुति अहिंसामय कल्याणार्थे लोचनीय चलायके विषयमें कितना अधिक है ।

गौर्व और घोडे ।

इस सूत्रके तृतीय मंत्रमें ' गौर्वी और घोडेके साथ हमें युक्त कर ' ऐसा कहा है । वृत्तम मंत्रमें भी यहाँ बात फिर दुहराई है । इसके पर्ये गौर्वी और घोडे रहना वैदिक दृष्टिसे परम मूल्य है, यह बात सिद्ध होती है ।

वृत्तम मंत्रमें (पृष्ठे दुहावाः) ' घोडा दोहन करनेवाली ' और (विश्वतः प्रपीताः) ' सब प्रकार दुग्धपान करानेवाली ' यह उपाका वर्णन संवरेके समय सूचका दोहन करना, दोहन होते ही दादा दूध पीना, मक्खनसे चाँ तैयार करना इत्यादि बातोंका सूचक है । पर्ये गौर्वीके इच्छास्थि रखना होता है कि उनका ताजा दूध पीनेके लिये मिले और कलके दूधके दहीसे आब निकाला हुआ मक्खन केकर उषका आब ही पी बनाकर खेवन किया जाय। ऐसे घोडे ' हैदगवीन वृत् ' करते हैं । यह वृत् जाने का पीनेसे शरीरकी पुष्टि होती है और इसके हवनसे हवा नीलीग भी होती है ।

भ्रमण !

इस प्रकार दुग्धपान करनेके पश्चात् घोडोंपर सवार होकर भ्रमणके लिये बाहर जाना चाहिये और घण्टा दो चप्पे छोड़ेकी सुवादी करके पश्चात् पर आकर अपने कार्यको समाप्त चाहिये । बहुत घोडे पाठक ऐसे होंगे जिनको संवरे परकी घोडा दादा दूध पीनेके लिये मिष्टता हो और अपने उत्तम घोडेपर सवार होकर संवरेके माणप्रद बालुमें भ्रमण करनेका सौभाग्य प्राप्त होता हो । आश्रय समय विपरीत है । ऐसे समयमें ऐसी वैदिक रीतिना केवल स्मरणमें ही रखना चाहिये ।

कृषिसे सुख-प्राप्ति ।

(१७)

(ऋषिः— विष्वाभित्रः । देवता— सीता)

सीरां युञ्जन्ति कृषयो युगा वि तन्वते पृथक् ।
 बीरां देवेषु सुम्नयौ ॥ १ ॥
 युनक्तु सीरा वि युगा तनीत कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
 विराजः श्रुष्टिः समरा असन्नो नदीय इत्सुष्युः पुरुमा यवन् ॥ २ ॥
 लाङ्गलं पवीरवत्सुशीर्म सोमसत्सरु ।
 उदिद्वपतु गामर्वि प्रस्थावदरुवाहनं पीवरी च प्रफुर्ष्यम् ॥ ३ ॥
 इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूयामि रक्षतु ।
 सा नः पर्यस्वती दुहासुचरासुचरां समां ॥ ४ ॥

अर्थ— (देवेषु बीराः कृषयः) देवोंमें बुद्धि रखनेवाले कृषि लोग (सुम्नयौ सीरा युञ्जन्ति) सुख प्राप्त करनेके लिये हलोंको जोतते हैं और (युगा पृथक् वितन्वते) जुओंको अलग अलग करते हैं ॥ १ ॥

(सीराः युनक्तु) हलोंको जोतो, (युगा वितनोत) जुओंको फैलाओ, (कृते योनौ इह बीजं वपत) यन्ने हुए बीजमें यहाँपर बीज बोओ । (विराजः श्रुष्टिः नः समराः असत्) अच्छी उपज हमारे लिये नएकर होवे । (सुष्युः इत् पङ्कं नदीयः आयवन्) ईश्वर भी परिपक्व धान्यको हमारे निकट लावे ॥ २ ॥

(पवीरवत् सुशीर्म सोमसत्सरु लाङ्गलं) बज्रके समान कठिन, बलानेके लिये सुखकारक, ककड़ीके मूत्रमाला हल (गां गार्वि) गी और बकरी, (प्रस्थावत् रथवाहनं) शीघ्रगामी रखके बोटे या बैल, (पीवरी च प्रफुर्ष्यम्) पुष्ट बी (इत् उद्वपतु) निबयते देवे ॥ ३ ॥

(इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु) इन्द्र हलकी रेखाको पकड़े, (पूया तां अमिरक्षतु) पूया उधकी रक्षा करे । (सा पर्यस्वती नः वचरां वचरां समां दुहा) यह हलकी रेखा रख चुक होकर हमें आपसे आनेवाले वर्षोंमें खोंका प्रदान करे ॥ ४ ॥

भावार्थ— पृथिव्यादि देवताओंकी शक्तिसेपर विश्वास रखनेवाले कृषि लोग विशेष सुख प्राप्त करनेके लिये हलोंको जोतते हैं अर्थात् कृषि करते हैं और जुओंको यथा स्थानपर बाँध देते हैं ॥ १ ॥

हे लोगो ! तुम हल जोतो, जुओंको फैलाओ, अच्छी प्रकार भूमि तैयार करनेके बाद उसमें बीज बोओ । इससे अच्छी उपज उपन्न होगी, बहुत धान्य उपजैगा और परिपक्व होनेके बाद बहुत धान्य प्राप्त होगा ॥ २ ॥

हलकी जोड़का कठिन कार लगाया जावे और लकड़ीकी मूठ पकड़नेके लिये की जावे, यह हल बलानेके समय सुख देवे । यह हल ही गी-बैल, भेड़-बकरी, घोड़ा-बोगी, खी-पुरुष आदिकी उत्तम वास और धान्यादि देकर पुष्ट करता है ॥ ३ ॥

इन्द्र अपनी इष्टिद्वारा इच्छे सुखी हुई रेखाको पकड़े और धान्य पोषक मूर्व उधकी उत्तम रक्षा करे । यह भूमि हमें प्रति-वर्ष उत्तम रस चुक धान्य देती रहे ॥ ४ ॥

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं क्रीनाशा अनु यन्तु वाहान् ।

शुनासीरा हविषा तोयमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमसै ॥ ५ ॥

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृपतु लाङ्गलम् ।

शुनं वरत्रा वष्यन्तां शुनमष्टासुर्दिङ्गय ॥ ६ ॥

शुनासीरिह स मे जुषेयाम् ।

यद्विवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुषं सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

सीते वन्दांमहे स्वार्वाचीं सुभगे भव ।

यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥ ८ ॥

घृतेन सीता मधुना समक्ता विषैर्दुवैःसुमता मरुद्भिः ।

सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना ॥ ९ ॥

अर्थ— (सु-फालाः भूमिं शुनं वि तुदन्तु) सुन्दर हलके फल भूमिकी सुखपूर्वक खोदें । (क्रीनाशाः शुनं वाहान् अनु यन्तु) किसान सुखपूर्वक बैलोंके पीछे चलें । (शुनासीरी) हे वायु और हे सूर्य ! तुम दोनों (हविषा तोयमाना) हमारे हवनसे तृप्त होकर (असौ सुपिप्पलाः ओषधीः कर्तम्) इस किसानके लिये उत्तम फल युक्त घान्य उत्पन्न करो ॥ ५ ॥

(वाहाः शुनं) बैल सुधी हों, (नरः शुनं) मनुष्य सुधी हों (लाङ्गलं शुनं कृपतु) हल सुखसे कृषि करें । (वरत्रा शुनं वष्यन्तां) रक्षियां सुखसे बांधी जाय, (अष्टां शुनं उर्दिङ्गय) चारूक सुखसे ऊपर चला ॥ ६ ॥

हे (शुनासीरी) वायु और सूर्य ! (इह स मे जुषेयां) यहां मेरे हवनका स्वीकार करें । (यत् पयः विवि चक्रथुः) जो जल आकाशमें तुमने बनाया है (तेन इमां भूमिं उप सिञ्चते) उससे इस भूमिकी सींचते रहो ॥ ७ ॥

हे (सीते) जुती हुई भूमि ! (स्वा वन्दानहे) तेरा वन्दन करते हैं । हे (सुभगे) ऐश्वर्यशाली भूमि ! (अर्वाची भव) हमारे सम्मुख हो । (यथा नः सुमनाः असः) जिससे तू हमारे लिये उत्तम मनवाली होवे और (यथा नः सुफला भुवः) जिससे हमें उत्तम फल देनेवाली होवे ॥ ८ ॥

(घृतेन मधुना समक्ता सीता) घी और शहदसे उत्तम प्रकार सिंचित की हुई जुती भूमि (विषैः दुवैः मरुद्भिः अनुमता) सब दवाओं और मरुतों द्वारा अतुमोदित हुई, हे (सीते) जुती भूमि ! (सा घृतवत् पिन्वमाना) वह पीछे सिंचित हुई तू (नः पयसाभ्याववृत्स्व) हमें दूधसे चारों ओरसे युक्त कर ॥ ९ ॥

भाषार्थ— हलके सुन्दर फल भूमिकी खुदाई करें, किसान बैलोंके पीछे चलें । हमारे हवनसे प्रसन्न हुए वायु और सूर्य इस कृषिसे उत्तम फलवालां इस युक्त औषधियां दें ॥ ५ ॥

बैल सुधी रहें, सब मनुष्य आनंदित हों, उत्तम हल चलाकर आनंदसे कृषि की जाय । रक्षियां जहां बैधी बांधना चाहिये वैधी बांधी जाय और आवश्यकता होनेपर चारूक ऊपर उठाया जाय ॥ ६ ॥

वायु और सूर्य मेरे हवनका स्वीकार करें और जो जल आकाशमें बरतमें है उसकी वृष्टिसे इस भूमिकी सिंचित करें ॥ ७ ॥ भूमि भाग्य देनेवाली है, इसलिये हम इसका आदर करते हैं । यह भूमि हमें उत्तम घान्य देती रहे ॥ ८ ॥

जब भूमि घी और शहदसे योग्य रीतिसे सिंचित होती है और जलवायु आदि दवाओंके अनुकूलता उसकी मिलती है, तब वह हमें उत्तम मधुर रस युक्त घान्य और फल देती रहे ॥ ९ ॥

कृषिसे भाग्यकी वृद्धि ।

कृषिसे भाग्यकी वृद्धि होती है । भूमिकी अवस्था, वायु और वृष्टिकी परिस्थिति, ऋतुमानकी अनुकूलता जो जानते हैं, वे कृषि करके लाभ उठा सकते हैं और सुखी हो सकते हैं ।

सबसे पहले किसान हल जोतें, इसके भूमि अच्छी प्रकार खसादी जाय, हलकी लकड़ी ठीक की जाय और उन लकड़ोंके अंदर भीज बोया जाय, ऐसा करनेसे उत्तम धान्य पैदा हो सकता है ।

जब हलसे उत्तम कृषि की जाती है तब धान्य भी उत्तम उत्पन्न होता है, घास भी विपुल मिलता है और सब पशु तथा मनुष्य बहुत पुष्ट हो जाते हैं ।

हलसे खुदी हुई भूमिकी (इन्द्रः सौतां निपुङ्गातु) वृष्टि करनेवाला इन्द्र देव अपने अलसे पकड़े, पश्चात् उसका उत्तम रसा (पूषा) सूर्य अपनी किरणोंसे करे । इस प्रकार वृष्टि और सूर्यप्रकाश योग्य प्रमाणमें मिलते रहे तो उत्तम कृषि होगी और धान्यादि बहुत प्रमाणमें प्राप्त होगा ।

धान्य बोनेके पूर्व हवन ।

पहम मंत्रमें उत्तम वृषि होनेके लिये प्रारंभमें खेतमें हवन करनेका उल्लेख है । जो धान्य बोना है उसका हवन करना चाहिये और हवनके लिये श्रुतादि अन्य पदार्थ तो अवश्य चाहिये ही । इस प्रकारके हवनसे जलवायु शुद्ध होता है और शुद्ध कृषिसे शुद्ध धान्य उत्पन्न होता है । इस हवनसे दुष्टरी एक बात स्वयं ही जाती है, वह यह है कि जिसका हवन करना होता है वही बोना होता है, इस नियमसे हवनमें निषिद्ध तमाकू आदि पातक पदार्थ बोनेकी संभावना ही कम हो जाती है । इसके स्पष्ट है, कि यदि बोनेके पूर्व हवनकी वैदिक प्रथा कारी की जाय तो तमाकू जैसे हानिकारक पदार्थ जगत्में जनताका इतना घात करनेके लिये उत्पन्न ही नहीं होंगे और उत्तम धान्यादिकी विपुल उत्पत्ति होकर लोगोंका अधिक कल्याण होगा ।

खादके लिये घी और शहद !!

नवम मंत्रमें (शूतेन मधुना पयसा समका सौता) घी,

शहद और दूधका खाद बनस्पतियोंकी बालनेका उपदेश है । आजकल तो ये पदार्थ मनुष्योंकी खानेके लिये भी नहीं मिलते तो खादके लिये, अल्प प्रमाणमें ही क्यों न सही, कदा मिलेंगे ? परंतु शुद्ध पौष्टिक फल उत्पन्न करनेके लिये दूध, घी और शहदका खाद अत्यंत आवश्यक है, यह बात ध्यान है ।

ऐतिहासिक उदाहरण ।

पूनाके पेशवाओंके समयमें कई आम इस पंचामृतका खाद देकर तैयार किये थे, उनमेंसे एक आमका वृक्ष इस समयतक अस्तित्व है और ऐसे मधुर आम खातु फल दे रहा है कि उसका वर्णन सच्योंसे ही नहीं सकता !! पंचामृत (दूध, दही, घी, शहद और मिथी) के खादसे जो आम पुष्ट होता हो उसके फल भी वैसे ही अद्भुत अमृत रूप अवश्य होंगे इसमें संदेह ही क्या है. यह प्रत्यक्ष उदाहरण है, तथा बाईके एक पण्डितने आर्य कृषि जालके अनुसार दूधका खाद देकर एक वर्ष खारीकी कृषि की थी, उससे इतना परिपुष्ट और खातु धान्य उत्पन्न हुआ कि उसकी साधारण धान्यसे तुलना ही नहीं हो सकती ।

यह वैदिक कृषि शास्त्रका अत्यंत महत्वका विषय है, जो धनी पाठक इसके प्रयोग कर सकते हैं अवश्य करके देखें । साधारण जनोके लिये ये प्रयोग करना अशक्य ही है क्योंकि जिन सौगांकी पीनेके लिये दूध नहीं मिल सकता वे खादके लिये दूध, दही, घी, शहद और मिथी कदापि ले लायेंगे ।

पाठक ये वर्धन पठें और वैदिक कालकी कृषिकी मनसे ही कल्पना करें और मन ही मनसे उसका आस्वाद लेनेका यत्न करें !!

गौरक्षाका समय ।

वैदिककाल यौकी रक्षाका काल था, इसलिये यौमें विपुल यौ और उस कारण खादके लिये भी दूध मिलता था । परंतु आज अन्यायोंके अशुभके लिये लक्ष्मीकी संख्यामें गौमें कटती हैं, इसलिये पीनेके लिये भी दूध नहीं मिलता । यह कालका परिवर्तन है । यहा अब देखना है कि वैदिक धर्मियोंके प्रयत्नसे मविष्यकाल कैसा आता है ।

वनस्पति ।

(१८)

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — वनस्पतिः)

इमां खनाम्नोर्षधिं वीरुषां बलवत्तमाम् ।	
ययां सपत्नीं वार्षते ययां संविन्दते पतिम्	॥ १ ॥
उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।	
सपत्नीं मे परां शुद्र पतिं मे केवलं कृषि	॥ २ ॥
नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन्नमसे पतौ ।	
परमिव परावर्तं सपत्नीं गमयामसि	॥ ३ ॥
उत्तराहर्षत्तर उत्तरेदुत्तराम्यः ।	
अथः सपत्नीं या ममाधरा साधराम्यः	॥ ४ ॥
अहमस्मि सहमानायो त्वमसि सासहिः ।	
उमे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै	॥ ५ ॥
अभि तैऽद्यां सहमानामुषं तैऽद्यां सहीयसीम् ।	
मामनु प्र ते मनीं वत्सं गौरिव धावतु पया वारिव धावतु	॥ ६ ॥

अर्थ— (इमां बलवत्तमां वीरुषां औषधिं खनामि) इस बलवाली औषधि वनस्पतिको मैं खोदवा हूँ । (ययां सपत्नीं वार्षते) जिससे सपत्नीको हटाया जाता है और (ययां पतिं विन्दते) जिससे पतिको प्राप्त किया जाता है ॥ १ ॥

हे (उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति) विस्तृत पानवाली माग्यवती देवी द्वारा उचित बलवती औषधि । (मे सपत्नीं परा शुद्र) मेरी सपत्नीको दूर कर और (मे केवलं पतिं कृषि) मुझे केवल पति कर दे ॥ २ ॥

हे धातल स्त्री । (ते नाम नहि जग्राह) तेरा नाम भी मैंने लिया नहीं है अब तू (अस्मिन् पतौ नो रमसे) ॥ पतिमें रममाण नहीं होगी । अब मैं (परां सपत्नीं परावर्तं गमयामसि) अन्य सपत्नीको दूर करती हूँ ॥ ३ ॥

हे (उत्तरे) अथ गुणवाली औषधि । (अहं उत्तरा) मैं अधिक अथ हूँ (उत्तराम्यः इत् उत्तरा) अहोमि भी अथ हूँ । (मम या अधरा सपत्नी) मेरी जो नीच सपत्नी है (सा अधराम्यः अधरा) वह नीचसे नीच है ॥ ४ ॥

(अहं सहमाना अस्मि) मैं विक्रमी हूँ और हे औषधि । (अयो त्वं सासहिः असि) तू भी विक्रमी है । (उमे सहस्वती भूत्वा) हम दोनों जयवाली बनकर (मे सपत्नीं सहावहै) मेरी सपत्नीको खीट केवे ॥ ५ ॥

(ते अभि सहमानां अद्यां) तेरे चारों ओर मैंने इस विजयिनी वनस्पतिको रखा है (ते उप सहीयसीं अद्यां) तेरे नीचे इस जयशालिनी वनस्पतिको रखा है । अब (ते मना मां अनु प्र धावतु) तेरा मन मेरे पंछे दीरे । (गौः वत्सं ह्य धावतु) जैसी गौ बछड़ेकी ओर दौती है और (याः इव पया) बैसा बछड़ अपने मार्गसे दौटा है ॥ ६ ॥

सापत्नमावका मयंकर परिणाम ।

मावका बीज न बोवे ।

इसका मावयं सुशोध है इसलिये देनेका आवश्यकता नहीं है ।

त्रिय धरका पुरुष एकसे अधिक विवाह करता है वहां द्वेषामि भवकने लगता है और उसको कोई सुझा नहीं सकता । वहां त्रियोंने कलह, संतानोंमें कलह और अंतमें पुरुषोंमें भी कलह होते हैं और अन्तमें उस कुटुंबका नाश होता है ।

अनेक त्रियां करनेसे धरमें कलह होते हैं, सामन्यमान उत्पन्न होनेसे त्रियोंमें परस्पर द्वेष बढ़ते हैं, संतानोंमें भी वही कलहामि बढ़ता है, इसलिये ऐसे परिवारमें सुख नहीं मिलना है । वह बात इस मूलमें कही है । इस मूलका मुख्य सारयं यही है कि कोई पुरुष एकसे अधिक विवाह करके अपने धरमें सापत्न-

सपत्नीका नाश करनेका यत्न किया करता है और उससे महर्ति पैलता है । इस सब आपत्तको मिटानेके लिये एक-पत्नीयतका आचरण करना ही एकमात्र उपाय है ।

ज्ञान और शौर्यकी तेजस्विता ।

(१९)

(श्लोचः — वसिष्ठः । देवता — विश्वेदेवाः, चन्द्रमाः, इन्द्रः)

संश्रितं म इदं ब्रह्म संश्रितं वीर्यं बलम् ।

संश्रितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामसि पुरोहितः

॥ १ ॥

समहमेपां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम् ।

वृथामि शत्रूणां बाहुननेन हविषाहम्

॥ २ ॥

अर्थ— (मे इदं ब्रह्म संश्रितं) मेरा यह ज्ञान तेजस्वी हुआ है, और मेरा यह (वीर्यं बलं संश्रितं) वीर्य और बल तेजस्वी बना है । (संश्रितं क्षत्रं अजरं अस्तु) इनका तेजस्वी बना हुआ क्षात्रबल कभी क्षीण न होनेवाला होवे, (येषां जिष्णुः पुरोहितः असि) जिनका मैं विजयां पुरोहित हूँ ॥ १ ॥

(महं एपां राष्ट्रं संस्यामि) मैं इनका राष्ट्र तेजस्वी करता हूँ, इनका (ओजः वीर्यं बलं संस्यामि) बल, वाय और केन्द्र तेजस्वी बनाता हूँ । और (अनेन हविषा) इस हवनसे (शत्रूणां बाहुन वृथामि) शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूँ ॥ २ ॥

साधारण— मैं जिसे राष्ट्रको पुरोहित हूँ उस राष्ट्रका ज्ञान मैंने तेजस्वी किया है और शौर्य, वीर्य भी अधिक तीक्ष्ण किया है, जिससे इस राष्ट्रका क्षात्रतेज कभी क्षीण नहीं होगा ॥ १ ॥

मैं इस राष्ट्रका तेज बढ़ाता हूँ और इसका शारीरिक बल, बराकन और उत्साह भी बढ़ाकर करता हूँ । इससे मैं शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूँ ॥ २ ॥

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सुरिं मध्वानं पृतन्यान् ।

क्षिणामि ब्रह्मणाभिन्नानुभ्रयामि स्वानहम्

॥ ३ ॥

तीक्ष्णीयांसः परधोरप्रेस्तीक्ष्णतरा उत ।

इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो पेषामसि पुरोहितः

॥ ४ ॥

एषामहमायुधा सं स्वाम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।

एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुवेषां चित्तं विशेऽवन्तु देवाः

॥ ५ ॥

उद्धर्षन्तां मध्वन् चार्जिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः ।

पृथग् घोषां उल्लयः केतुमन्तु उदीरताम् ।

देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतां यन्तु सेनया

॥ ६ ॥

अर्थ— वे राष्ट्र (नीचैः पद्यन्ताम्) नीचे गिरे, (अधरे भवन्तु) भवत हों, (ये नः मध्वानं सुरिं पृत-
न्यान्) जो हमारे धनवान् धोर विद्वान् पर सेनासे बटाई करें । (अहं ब्रह्मणा अभिन्नान् क्षिणामि) मैं ज्ञानसे शत्रुओंका
क्षय करता हूँ, और (स्वान् उन्नयामि) अपने लोगोंको उठाता हूँ ॥ ३ ॥

(परधोः तीक्ष्णीयांसः) परगुणे अधिक तीक्ष्ण, (उत अग्नेः तीक्ष्णतराः) और अग्निसे भी अधिक तीक्ष्ण,
(इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसः) इन्द्रके वज्रसे भी अधिक तीक्ष्ण इनके अन्तर हों । (येषां पुरोहितः अस्मि) जिनका
पुरोहित मैं हूँ ॥ ४ ॥

(अहं एषां आयुधा संस्यामि) मैं इनके आयुधोंको उत्तम तीक्ष्ण बनाता हूँ, (एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि)
इनका राष्ट्र उत्तम वीरतासे युक्त करके बढ़ाता हूँ, (एषां क्षत्रं अजरं जिष्णु अस्तु) इनका क्षात्रक्षेत्र अजर तथा ब्रह्मत्वाकी
होवे, (विश्वे देवाः एषां चित्तं अवन्तु) सब देव इनके चित्तको उत्साहयुक्त करें ॥ ५ ॥

हे (मध्वन्) धनवान् ! उनके (चार्जिनानि उद्धर्षन्तां) बल उपोन्नत हों, (जयतां वीराणां घोषः उद्-
पन्तु) विजय करनेवाले वीरोंका घोष ऊपर उठे । (केतुमन्तः उल्लयः घोषाः) कृते लेकर हमला करनेवाले वीरोंके
घंघ शब्दका घोष (पृथग् उत् उदीरताम्) अलग अलग ऊपर उठे । (इन्द्रज्येष्ठा मरुताः देवाः) इन्द्रकी प्रमुखतामें
मरुत देव (सेनया यन्तु) अपनी सेनाके साथ चले ॥ ६ ॥

भावार्थ— जो राष्ट्र हमारे धानघोंपर तथा हमारे ज्ञानियोंपर सेन्यके साथ हमला करते हैं वे अघोगोंकी जान हॉये ।
क्योंकि मैं अपने ज्ञानसे शत्रुओंका नाश करता हूँ और उधोंसे अपने लोगोंको उन्नत करता हूँ ॥ ३ ॥

जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूँ उस राष्ट्रके शत्रुओं परगुणे अधिक तीक्ष्ण, अग्निसे भी अधिक दाहक, और इन्द्रके वज्रसे भी
अधिक संहारक मैंने किये हैं ॥ ४ ॥

मैं इनके शत्रुओंकी अधिक तीक्ष्ण बनाता हूँ, इनके राष्ट्रको उत्तम वीर उत्पन्न करके बढ़ाता हूँ, इनके शीर्षको
कमी हाँग न होनेवाला और यथा विजयी बनाता हूँ । सब देवता इनके चित्तोंको उत्साह युक्त करें ॥ ५ ॥

हे प्रभो ! इनके बल उत्साहसे पूर्ण हों, इनके विजयी वीरोंका जयशब्दकारका शब्द आकाशमें भर जावे । छोट उठाकर
विजय पानेवाले इनके वीरोंके शब्द अलग अलग सुनाई दें । जिस प्रकार इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुतोंकी सेना विजय प्राप्त करती
है, उधों प्रकार इनकी सेना भी विजय कमावे ॥ ६ ॥

प्रेता जयंता नर उग्रा वंः सन्तु ब्राह्मणः ।

तीक्ष्णपंचोऽबलध्वजो हतोप्रायुधा अबलानुप्रवाहवः

॥ ७ ॥

अवसृष्टा परा पतु शरन्धे ब्रह्मसंश्रिते ।

जयामिन्नान्प्र पंचस्व ज्ञेयोधिं वरवं मामीषां मोचि कश्चन

॥ ८ ॥

अर्थ— हे (नरः) लोगो ! (प्र हत) बलौ, (जयत) जीतो, (पः पाहवः उग्राः सन्तु) दुम्हारे बाहु शौर्यके युक्त हैं । हे (तीक्ष्णपंचः) तीक्ष्ण बाणवाले वीरो ! हे (उप्रायुधाः उप्राधाहवः) उग्र आमुषवालो और बलयुक्त पुत्रवालो ! (अ-बल-ध्वजः अवलानु हत) निर्बल धनुष्यबाण निर्बल शत्रुओंको मारो ॥ ७ ॥

हे (ब्रह्म-संश्रिते शरन्धे) ज्ञानद्वारा तेजस्वी बने शस्त्र । तु (अवसृष्टा परा पतु) छोडा हुआ पत ना और (जयामिन्नान् जय) शत्रुओंको जीत लो, (प्र पंचस्व) भागे बव, (परां वरं वरं अहि) इन शत्रुओंके मुस्य मुस्य शीरोंको मार डाल, (अमीषां कश्चन मा मोचि) इनमेंसे कोई भी न बच जाय ॥ ८ ॥

भाषार्थ— हे वीरो ! भागे बढो, विजय प्राप्त करो, अपने बाहु प्रतापके युक्त करो, तीक्ष्ण बाणों, प्रतापी राजाओं और लक्ष्य बाहुओंकी धारण करके अपने शत्रुओंको निर्बल बनकर उनको काट डालो ॥ ७ ॥

ज्ञानसे तेजस्वी बना हुआ धनुष जन वीरोंकी प्रेरणाके छोडा जाता है तब वह दूर जाकर शत्रुपर गिरता है और शत्रुका नाश करता है । हे वीरो ! शत्रुपर चढ़ाई करो और कलुके मुस्य मुस्य वीरोंको लुन लुनकर मार डालो, वनकी ऐसी कतल करो ॥ उनमेंसे कोई न बचे ॥ ८ ॥

राष्ट्रीय उन्नतिमें पुरोहितका कर्तव्य ।

राष्ट्रमें शासन, शौर्य, वैश्य, शस्त्र और निषाद ये पांच वर्ग होते हैं । उनमें ब्राह्मणोंका कर्तव्य पुरोहितका कार्य करना होता है । पूर्णहित करनेका नाम पुरोहितका कार्य करना है । यज्ञ-मानका पूर्णहित करनेवाला पुरोहित होना चाहिये । जब संपूर्ण राष्ट्रका विचार करना होता है उस समय सब राष्ट्र ही यज्ञमान है और सब ब्राह्मण जाती उस राष्ट्रके पुरोहितके स्थानपर हैंती है । इसके संपूर्ण राष्ट्रका पूर्णहित करनेके भार सब पुरोहित वर्गपर आ जाता है । ज्ञानकी ज्योति सब राष्ट्रमें प्रज्वलित करके उस ज्ञानके द्वारा राष्ट्रका अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध करना पुरोहितका कर्तव्य है ; यह इस सूक्तमें स्पष्ट ज्ञानमें वर्णन किया है । राष्ट्रके शासन इस सूक्तका मन्त्र करे और अपना कर्तव्य पालकर उसको निभाये ।

इस सूक्तका श्रुति वसिष्ठ है, और वसिष्ठ नाम ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणका सुप्रसिद्ध है । इस दृष्टिके ओ इस सूक्तका मन्त्र ब्राह्मणोंको करना चाहिये । अब सूक्तका आशय देखिये—

ब्राह्मतेजकी ज्योति ।

राष्ट्रमें ब्राह्मतेजकी ज्योति बढ़ाना और उस ज्योतिके द्वारा

११ (अधर्व. माष्य, काण्ड १)

राष्ट्रकी उन्नति करनेका कार्य सबसे महत्त्वका और मूल्यत आशङ्क्य है । इस विषयमें इस सूक्तमें यह कथन है—

मे इवं ब्रह्म संश्रितम् । (सू. १९, मं. १)

ब्रह्मणा अमित्रान् क्षिणामि । (सू. १९, मं. १)

उन्नयामि स्वान् अहम् । (सू. १९, मं. १)

अवसृष्टा परा पतु शरन्धे ब्रह्मसंश्रिते ।

(सू. १९, मं. ८)

जय अमित्रान् ॥ (सू. १९, मं. ८)

‘मेरे प्रयत्नसे इस राष्ट्रका वह ज्ञानतेज बचकता है ।

ज्ञानके प्रतापसे शत्रुओंका नाश करता हूँ । और उसी ज्ञानसे मैं अपने राष्ट्रके लोगोंकी उन्नति करता हूँ । ज्ञानके द्वारा उन्मत्त हुआ राज बुरतक परिणाम करता है, उद्योग शत्रुको जीत ले ।’

ये मंत्रमान राष्ट्रमें ब्राह्मतेजके कार्यका स्वरूप बताते हैं । ज्ञान राष्ट्रीय उन्नतिमें बड़ा भारी कार्य करता है । जगत्में अनेक राष्ट्र हैं उनमें से ही राष्ट्र अग्रभागमें हैं कि जो ज्ञानके विशेष संपन्न हैं । ज्ञान न होत हुए अभ्युदय होना अशक्य है । यदि उन्नतिके विरोधक कोई कारण होगा तो वह एकमात्र अज्ञान ही है । अज्ञानसे बंधन होता है और ज्ञानसे उस बंधनका नाश होता है । इसलिये राष्ट्रमें जो ब्राह्मण होंगे उनका

कर्तव्य है कि वे स्वयं ज्ञानी बनें और अपने राष्ट्रके सब लोगोंको ज्ञानसंपन्न करें। क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रोंको भी ज्ञान आवश्यक ही है। उनके व्यवसायोंको उत्तमतासे निभानेके लिये ज्ञानकी परम आवश्यकता है।

ज्ञानसे राष्ट्र कौन है और अपना हितकारी मित्र कौन है इसका निश्चय होता है। अपने ज्ञानसे राष्ट्रके राष्ट्रको जानना और उसको दूर करनेके लिये ज्ञानसे ही उपायकी योजना करना चाहिये। यह उपाय योजनाका कार्य करना ब्राह्मणोंका परम कर्तव्य है। शत्रुपर हमला किस समय करना, शत्रुके राज्यान्न कैसे हैं, उनसे अपने राज्यान्न अधिक प्रभावशाली किस रीतिसे करना, शत्रुके राज्यान्न जितनी दूरीपर प्रभाव कर सकते हैं उससे अधिक दूरीपर प्रभाव करनेवाले राज्यान्न कैसे निर्माण करना, इत्यादि बातें ज्ञानसे ही सिद्ध हो सकती हैं, अपने राष्ट्रमें इनकी सिद्धता करना ब्राह्मणोंका कर्तव्य है। अर्थात् ब्राह्मण अपने ज्ञानसे इसका विचार करें और अपने राष्ट्रमें ऐसी प्रेरणा करें कि जिससे राष्ट्रके अन्दर एक परिवर्तन आ जाये। यही भाव निम्नलिखित मंत्रमें कहा है—

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।

(सू. १९, मं. ८)

‘ज्ञानसे तीक्ष्ण बने राज्यान्न शत्रुपर गिरें।’ इसमें ज्ञानसे उत्तेजित, प्रेरित और तीक्ष्ण बने राज्यान्न अधिक प्रभावशाली होनेका वर्णन है। अन्य देशोंके राज्यान्न देखकर, उनका वेग जानकर, और उनका परिणाम अनुभव करके जब उनसे अधिक वेगवान् और अधिक प्रभावशाली राज्यान्न अपने देशके शीरोंके पास दिये जायेंगे, तब अन्य परिस्थिति समान होनेपर अपना अथ निश्चयसे होगा इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

पुरोहितकी प्रतिज्ञा ।

‘जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूँ उस राष्ट्रका ज्ञान, वीर्य, बल, पराक्रम, शौर्य, धैर्य, विजयी उत्साह सभी चीजें न हों।’ (मं. १)

‘जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूँ उस राष्ट्रका पराक्रम, उत्साह, वीर्य और बल मैं बढ़ाता हूँ और शत्रुओंका बल घटाता हूँ।’ (मं. २)

‘जो शत्रु हमारे पना वैश्यों और ज्ञानी ब्राह्मणोंके ऊपर, अर्थात् हमारे देशके मुद्द न करनेवाले लोगोंपर, धैर्यके साथ हमला करेगा उसका नाश मैं अपने ज्ञानसे करता हूँ और

अपने राष्ट्रके लोगोंको मैं अपने ज्ञानके बलसे उठाता हूँ।’ (मं. ३)

‘जिनका मैं पुरोहित हूँ उनके राज्यान्न मैं अधिक तेज बनाता हूँ।’ (मं. ४)

‘इनके राज्यान्न मैं अधिक तीक्ष्ण करता हूँ। उत्तम शीरोंको संख्या इस राष्ट्रमें बढ़ाकर इस राष्ट्रकी उत्पत्ति करता हूँ। और इनका शौर्य बढ़ाता हूँ।’ (मं. ५)

ये मंत्रभाग पुरोहितके राष्ट्रीय कर्तव्यका ज्ञान अर्थात् राष्ट्रके शत्रुओंको सात्रविद्या सिखावे, वैश्योंको व्यापार व्यवहार करनेका ज्ञान देवे और शूद्रादिकोंको कारीगरीकी शिक्षा देवे, और ब्राह्मणोंको इस प्रकारके विशेष ज्ञानसे युक्त करे। इस रीतिसे चारों वर्णोंको तेजस्वी बनाकर शत्रु राष्ट्रका उदार अपने ज्ञानकी शक्तिसे करे। जो पुरोहित ये कर्तव्य करेगा वे ही वेदकी दृष्टिसे सच्चे पुरोहित हैं। जो वंशित पुरोहितका कार्य कर रहे हैं वे इस सूक्तका विचार करें और अपने कर्तव्योंका ज्ञान प्राप्त करें।

युद्धकी नीति ।

पह, सतम और अष्टम इन तीन मंत्रोंमें युद्धनीतिका उपदेश इस प्रकार किया है—

‘शीरोंके पथक अपने अपने झंडे उठाकर युद्धपीठ गंते हुए और आनंदसे विजय सूचक शब्दोंका घोष करते हुए शत्रुकेगा-पर हमला करें और विजय प्राप्त करें। जिस प्रकार इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुतोंके गण शत्रुपर हमला करते और विजय प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार अपने राजाके तथा अपने सेनापतिके आधिपत्यमें रहकर हमारे वीर शत्रुपर हमला करें और अपना विजय प्राप्त करें।’ (मं. १)

‘शीरो! आगे बढ़ो, तुम्हारे बाहू प्रभावशाली हों, तुम्हारे राज शत्रुकी अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण हों, तुम्हारी शक्ति शत्रुकी शक्तिसे अधिक पराक्रम प्रकाशित करनेवाली हो। इस प्रकार युद्ध करते हुए तुम अपने निर्बल शत्रुको मार डालो।’ (मं. ७)

‘ज्ञानसे उत्तेजित हुए तुम्हारे राज शत्रुका नाश करें, ऐसे तीक्ष्ण शब्दोंसे शत्रुका तू पराभव कर।’ (मं. ८)

इन तीन मंत्रोंमें इतना उपदेश देकर पश्चात् इस अष्टम मंत्रके अन्तमें अत्यंत महत्त्वकी युद्धनीति कही है वे शब्ददेखने योग्य हैं—

(१) जहोयां धरं वरं,

(२) माऽऽसीनां मोचि कम्बन ॥ (सू. १९, मं. ८)

‘ इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य प्रमुख वीरोंको मार दो और इनमेंसे कोई भी न बचे । ’ ये दो उपदेश युद्धके संबंधमें अत्यंत महत्त्वके हैं । शत्रुवेनाके पयकके जो संचालक और प्रमुख वीर हैं उनका वध करना चाहिये । प्रमुख संचालकोंमेंसे कोई भी न बचे । ऐसी अवस्था होनेके बाद शत्रुची सेना बची वाधा-नधि पराल होगी । यह युद्धनाति अत्यंत मनन करने योग्य है ।

अपनी सेनामें ऐसे वीर रखने चाहिये कि जो शत्रुके वीरोंको चुन चुनकर मारनेमें तत्पर हों । जब इन वीरोंके वेधसे शत्रु-सेनाके मुखिया वीरोंका वध हो जलवे, तब अभ्य सेनापर हमला करनेसे उस शत्रुसेनाका पराभव होनेमें देरी नहीं लगेगी ।

जो पाठक राष्ट्रहितकी दृष्टिसे अपने कर्तव्यका विचार करते हैं वे इस सूक्तका मनन अधिक करें और राष्ट्रविवशक अपने कर्तव्य ज्ञान और उनका अनुष्ठान करके अपने राष्ट्रका अभ्युदय करें ।

तेजस्विताके साथ अभ्युदय ।

(१०)

(ध्यायिः— वसिष्ठः । देवता— अग्निः, मन्त्रोक्तदेवताः)

अयं ते योनिर्ऋत्विजो यतो जातो अरोचयाः ।

तं जानन्नन्न आ रोहासां नो वर्धया रविम् ॥ १ ॥

अग्ने अच्छां वदेह नैः प्रत्यङ् नैः सुमनां भव ।

प्र णो यच्छ विशां पते घनदा असि नस्त्वम् ॥ २ ॥

प्र णो पच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः ।

प्र देवीः प्रोत सूनृतां रविं देवीं दघातु मे ॥ ३ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (अयं ते ऋत्विजः योनिः) यह तेरा ऋतुके संबंधित उत्पत्तिस्थान है (यतो जातः अरोचयाः) जिससे प्रकट होकर तू प्रकाशित हुआ है । (तं जानन्न आरोह) उसको जानकर ऊपर चढ़ (अघ नः रविं वर्धय) और हमारे तिबे धन बढ़ा ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (इह नः अच्छ घद) यहाँ हमसे अच्छे प्रकार बोल और (प्रत्यङ् नैः सुमनाः भव) हमारे धन्य होकर हमारे लिये बलम मनवाला हो । हे (विशांपते) प्रजाओंके स्वामिन् (नः प्रयच्छ) हमें धान दे क्योंकि (रथे नः घनदाः असि) तू हमारा धनदाता है ॥ २ ॥

(अयंमा नः प्र यच्छतु) अयंमा हमें देवे, (भगः बृहस्पतिः प्र यच्छतु) भग और बृहस्पति भी हमें देवे । (देवीः प्र) देवियां हमें धन देवें । (उत सूनृतां देवीमे रविं प्र दघातु) और सरल स्वभाववाली देवी मुझे धन देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे अग्ने ! ऋतुओंके संबंध रखनेवाला यह तेरा उत्पत्तिस्थान है, जिससे जन्मते ही तू प्रकाशित हो रहा है । अपने उत्पत्तिस्थानको जानता हुआ तू उन्नत हो और हमारे धनकी वृद्धि कर ॥ १ ॥

हे अग्ने ! यहाँ स्पष्ट धार्मिके बोल, हमारे समुच्च उपस्थित होकर हमारे लिये उत्तम धनवाला हो । हे प्रजाओंके पादक ! तू हमें धन देनेवाला है, इसलिये तू हमें धन दे ॥ २ ॥

अयंमा, भग, बृहस्पति, देवीयां तथा धाम्देवी ये सब हमें धन देवें ॥ ३ ॥

सोमं राजानमवसेऽपि भीर्भिर्हवामहे ।

आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ४ ॥

त्वं नो अग्ने अभिभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय ।

त्वं नो देव दातवे रयि दानाय चोदय ॥ ५ ॥

इन्द्रवायु उभाविह सुहवेह हवामहे ।

यथा नः सर्वे इज्जनः संगत्यां सुमना असदानकामश्च नो भुवत् ॥ ६ ॥

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ।

घातुं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७ ॥

घाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः ।

उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ८ ॥

अर्थ— राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पतिको (अथर्वसे भीभिः हवामहे) हमारी रक्षाके लिये बुलाते हैं ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! (त्वं अभिभिः) तू अग्नियोंके साथ (नः ब्रह्म यज्ञं च वर्धय) हमारा ज्ञान और यज्ञ बढ़ा । हे देव ! (त्वं नः दातवे दानाय रयिं चोदय) तू हमारे दानी पुरुषको दान देनेके लिये धन भेज ॥ ५ ॥

(उभौ इन्द्रवायु) दोनों इन्द्र और वायु (सु-हवौ) उत्तम बुलाने योग्य हैं इसलिये (इह हवामहे) यहाँ बुलाते हैं । (यथा नः सर्वे इज्जनः) जिससे हमारे संपूर्ण लोग (संगत्यां सुमना असदान्) संगतमें उत्तम मनवाले होवें (च नः) और हमारे लोग (दामकामः भुवत्) दान देनेकी इच्छा करनेवाले होवें ॥ ६ ॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और (वाजिनं सवितारं) वेगवान् सविताको (दानाय चोदय) हमें दान देनेके लिये प्रेरित कर ॥ ७ ॥

(घाजस्य प्रसवे सं बभूविम) बलकी उत्पत्तिमें ही हम संगठित हुए हैं । (च विश्वा भुवनानि अन्तः) और ये सब भुवन सबके बीचमें हैं । (प्रजानन्) जाननेवाला (आदित्सन्तं उत दापयतु) दान न देनेवालेकी निधमपूर्वक दान देनेके लिये प्रेरणा करे । (च नः सर्ववीरं रयिं नि यच्छ) और हमें सब प्रकारके वीरभावसे युक्त धन देवे ॥ ८ ॥

भावार्थ— राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पतिकी हम प्रार्थना करते हैं कि वे हमारी योग्य रीतिसे रक्षा करें ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! तू अनेक अग्नियोंके साथ हमारा ज्ञान और हमारी कर्मशक्ति बढ़ाओ । हे देव ! नः देनेवाले मनुष्योंको दान देनेके लिये पर्याप्त धन दे ॥ ५ ॥

हम इन्द्र-वायु इन दोनोंकी प्रार्थना करते हैं जिससे हमारे सब लोग संगठनसे संगठित होते हुए उत्तम मनवाले बनें और दान-द देनेकी इच्छावाले होवें ॥ ६ ॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और बलवान् सविता ये सब हमें दान करनेके लिये ऐश्वर्य देवें ॥ ७ ॥

बल उत्पन्न करनेके लिये हम संघ बनाते हैं, जैसे ये सब भुवन अंदरसे संगठित हुए हैं । यह जाननेवाला कंजूसको दान करनेकी प्रेरणा करे और हमें संपूर्ण वीरभावसे युक्त धन देवे ॥ ८ ॥

दुहां मे पञ्च प्रदिशां दुहामूर्वीर्षथाचलम् ।

प्रापेयं सर्वां आकृतीर्मर्नसा हृदयेन च

॥ ९ ॥

गोसन्नि वाचमुदेयं वर्षसा माम्पुदिहि ।

आ रुन्वां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे

॥ १० ॥

इति चतुर्षोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

अर्थ—(उर्वाः पञ्च प्रदिशाः) ये षष्ठी पाँचों दिशाएँ (यथाचलं मे दुहां) यथाशक्ति मुझे रख दें । (मनसा हृदयेन च) मनसे और हृदयसे (सर्वाः आकृतीः प्रापयेयम्) सब संकल्पोंकी पूर्ण कर सकूँ ॥ ९ ॥

(गोसन्नि वाचं उदेयं) इन्द्रियोंको प्रसन्नता करनेवाली वाणी मैं बोल्दूँ । (वर्षसा मां अभ्युदिहि) तेजके साथ मुझे प्रकाशित कर । (वायुः सवतः आ रुन्वाम्) प्राण मुझे सब ओरसे घेरे रहे । (स्वष्टा मे पोषं दधातु) तूझा मेरी इष्टिकी देता रहे ॥ १० ॥

मावार्थ—ये षष्ठी विस्तीर्ण पाँच ही दिशाएँ इन्हें यथाशक्ति पोषक रख दें, जिससे हम मनसे और हृदयसे बलवान् बनते हुए अपने संकल्पोंकी पूर्ण करेंगे ॥ ९ ॥

प्रसन्नताको बढ़ानेवाली वाणी मैं बोल्दूँगा । तेजके साथ मुझे अभ्युदयको प्राप्त कर । चारों ओरसे मुझे प्राण उत्साहित करें और जगदचयिता मुझे सब प्रकार पुष्ट करें ॥ १० ॥

अग्निका आदर्श ।

इस सूक्तमें अग्निके आदर्शसे मनुष्यके अभ्युदय साधन करनेके मार्गका उपाय उपदेश दिया है । इस सूक्तका अर्थ शान्त यह है—

वर्षसा मा अभ्युदिहि । (सू. २०, मं. १०)

'तेजके साथ मेरा सब प्रकारसे उदय कर' यह हरएक मनुष्यकी इच्छा होनी चाहिये । यह काम सिद्ध होनेके लिये साधनके आवश्यक मार्ग ॥ सूक्तमें उपाय प्रकाश कहे हैं । उनका विचार करनेके पूर्व हम अग्निके आदर्शसे जो बात बताई है वह देखें—

'सूक्तमें जो अग्नि लेते हैं, वह लक्ष्मियोंसे उत्पन्न करते हैं, लक्ष्मियों स्वयं प्रकाशित नहीं है परंतु उनसे उत्पन्न होनेवाला अग्नि (जातः सरोचयाः । मं. १) उत्पन्न होते ही प्रकाशित होता है । पश्चात् वह हवन कुण्डमें रखते हैं, वहाँ वह (रोह । मं. १) स्वयं बड़ता है और दूसरोंको भी प्रकाशित करता है । इस समय उसके चारों ओर श्रवित्त्वयोग (गीर्भिः हवामहे । मं. ४) मंत्रपाठ करते हैं और हवन करते हैं । इस समय इस अग्निके साथ (अग्निं अग्निभिः । मं. ५)

अनेक हवन कुण्डोंमें अनेक अग्नि प्रज्वलित होती हैं और इससे (ग्रह यज्ञं च वर्धय । मं. ५) ज्ञान और यज्ञकी वृद्धि होती है । यज्ञमें सब लोग (जनः संगत्यां सुमनाः । मं. ६) मिलकर उपाय विचारसे कार्य करते हैं । तथा (प्रसवे स्वं बभूविम । मं. ८) ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये एक होकर कार्य करते हैं और इस प्रकारके यज्ञसे तेजस्वी होकर अपना अपना अभ्युदय सिद्ध करते हैं ।

सारांशसे यह यज्ञ प्रक्रिया है, इसमें लक्ष्मियोंसे उत्पन्न हुई छोटीसी अग्निकी चिनगारीका चिंतना यद्यत् बड़ता है और यह अग्नि अनेक मनुष्योंको लक्षित करनेमें कैसा समर्थ होता है, यह बात पाठक देखें । यदि अग्निकी छोटीसी चिनगारीके तेजके साथ बड़ जानेसे इतना अभ्युदय हो सकता है, तो मनुष्योंमें रहनेवाली चैतन्यकी चिनगारी इसी प्रकार प्रकाशके मार्गसे चलेगी तो चिंतना अभ्युदय प्राप्त करेगी, इसका विचार पाठक स्वयं जान सकते हैं, इसीका उपदेश पूर्वोक्त अग्निके दृष्टान्तसे इस सूक्तमें बताया है ।

उत्पत्तिस्थानका स्मरण ।

सबसे प्रथम अपने उत्पत्तिस्थानका स्मरण करनेका उपदेश प्रथम मंत्रमें दिया है । 'यद् वेदा उत्पत्तिस्थान है, वहाँ उत्पन्न

होते ही तू प्रकाशता है, यह जानकर स्वयं बढनेका यत्न कर और हमारी भी शोभा बढा ।' (मं. १) यह उपदेश मनन करने योग्य है । उत्पत्तिस्थान कई प्रकारका होता है; अपना कुल, अपनी जाति, अपना देश यह तो स्थूल दृष्टिसे उत्पत्तिस्थान है । ऋष उत्पत्तिस्थानका स्मरण करके अपनी उन्नति करना चाहिये । दूसरा उत्पत्तिस्थान आध्यात्मिक है जो प्रकृतिमाता और परमपितासे संबंध रखता है, यह भी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये मनन करने योग्य है । उत्पत्तिस्थानका विचार करनेसे 'मैं कहासे आया हूँ और मुझे कहाँ पहुँचना है' इसका विचार करना सुगम होजाता है । जहाँ कहाँ भी उत्पत्ति हुई हो वहासे अपनी शक्तिसे प्रकाशना, बढना और दूसरोंको प्रकाशित करना चाहिये ।

(इह अचछा घद्) यहाँ सबके साथ सरल भाषण कर, (प्रत्यङ् सुमनाः मय) प्रत्येकके साथ उत्तम मनोभावनसे वर्ताव कर, अपने पास जो हो, वह दूसरोंकी मलाईके लिये (प्रयच्छ) दान कर, यह द्वितीय मंत्रके तीन उपदेश वाचशुक्ति, मनःशुक्ति और आत्मशुद्धिके लिये अत्यंत उत्तम हैं । इसी मार्गसे इनकी पवित्रता हो सकती है ।

आगेके दो मंत्रोंमें हमें किन किन शक्तियोंसे सहायता मिलती है इसका ज्ञेय है ।

६. वसे प्रथम (देवीः) देवियों अथवा माताओंकी सहायता मिलती है, जिनकी हृषिके विना मनुष्यका उद्वार होना असंभव है, तत्पश्चात् (स्तुता देवी) सरल वाणीसे सहायता प्राप्त होती है । मनुष्यके पास शक्तिसे भावसे बोलनेकी शक्ति न हो तो उसकी उन्नति अशंभव है । इसके नंतर (अर्यमन् = आर्यमन्) श्रेष्ठ माते के भावसे जो सहायता होती है वह अत्यंत ही है । इसके पश्चात् (गृह रूपतिः) ज्ञानी और (ब्रह्मा) ब्रह्मज्ञानी सहायता देते हैं, इनमें ब्रह्मा तो अंतिम अंशिलतक पहुंचा देता है । ये सब उन्नतिके उपाय योग्य (राजा अवसे) राजाकी रक्षामें ही सहायक हो सकते हैं, सुराज्य हो अर्थात् राज्यका सुप्रबंध हो, तो ही सब प्रकारकी उन्नति संभवनीय है अन्यथा असंभव है । इसके साथ साथ (सोमः आदित्यः सूर्यः) वनस्पतियों और सबका आदान करनेवाला सूर्यप्रकाश ये बल और आरोग्यवर्षक होनेसे सहायक हैं और अंतमें विशेष महत्त्वकी सहायता (विष्णुः) सर्वव्यापक देवताकी है, जो सर्वोपरि होनेसे सबका परिपालक और सबका चालक है और इसकी सहायता सभीके लिये अत्यंत आवश्यक है । जन्मसे लेकर मुक्ति तक इस प्रकार सहायताएँ मिलती हैं और इनकी सहायतायें लेता हुआ

मनुष्य अपने परम उत्पत्तिस्थानसे यहाँ आकर फिर वहाँ ही पहुँचता है । इन शक्तियोंसे सुचित होनेवाले अन्त्यात्म अयोधा विचार करके पाठक अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं ।

सम्भूय समुत्थान ।

इस सूक्तमें एकताका पाठ स्पष्ट शब्दों द्वारा दिया है । (वाजस्य नु प्रसवे सं यभूयिम । मं. ८) ' बल्की उत्पत्तिके लिये हम अपनी संघटना करते हैं । ' संभूय-समुत्थानके विना शक्ति नहीं होती इसलिये अपनी सहकारिता करके शक्ति बढानेका उपदेश यहाँ दिया है । (स्वयः जनः संगत्यां सुमनाः असत् । मं. ९) ' सब मनुष्य सहकारिता करने अगंगे सब समय परस्पर उत्तम मनके साथ व्यवहार करें । ' ऐसा न करेंगे तो संघर्षक बढ नहीं सकती । यह उत्तम शौननस्थका व्यवहार सिद्ध होनेके लिये (ब्रह्म यद्यं च यद्यं । मं. ५) ज्ञान और आत्मसमर्पणका माव बढाओ । संघर्षके लिये इनकी अत्यंत आवश्यकता है । मनुष्यकी उन्नति तो व्यक्तिगतः और संघटतः होनी है, इसलिये पहले वैयक्तिक उन्नतिके उपदेश देकर पश्चात् सार्वधिक उन्नतिके निर्देश किये हैं । इस प्रकार दोनों मार्गोंसे उन्नति हुई तो ही पूर्ण उन्नति हो सकती है ।

' वाजस्य प्रसवे सं यभूयिम ' (मं. ८) यह मन्त्र बहुत दृष्टिसे मनन करने योग्य है । यहाँ ' वाजः ' शब्दके अर्थ देखिये— ' युद्धमें जय, अन्न, जल, शक्ति, बल, धन, गाँव, वाणीका बन् ' ये अर्थ ध्यानमें धारण करनेसे इस मन्त्रभागका अर्थ इस प्रकार होता है— ' हम युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिये संघटन करते हैं; अन्न, जल, खाद्य, पेय और वनारी ऐश्वर्य-यौवनीयके पदार्थ प्राप्त करनेके लिये आपसकी एकता करते हैं । अपनी वाणीका बल बढानेके लिये अर्थात् हमारे मतका प्रभाव बढानेके लिये अपनी संघटना करते हैं, हमारे एक मतसे जो शब्द हम बोलेंगे वे निःसन्देह अधिक प्रभावशाली बनेंगे; तथा हमारी प्रगति और उन्नतिका वेग बढानेके लिये भी हम अपनी सहकारिता बढाते हैं । ' पाठक इस मन्त्रका विचार करनेके प्रसङ्गमें इस अर्थका अवश्य मनन करें ।

उन्नतिके लिये कंजुधीका माव पाठक है इसलिये कहा है कि (अ-दिदिसन्तं दापयतु । मं. ८) ' कंजुधकी भी, दान न देनेवालेको भी दान देनेकी ओर धुंकाओ, ' क्योंकि उदारतासे ही संघटना होती है और अनुदारतासे निगटती है । अपने पास धन तो चाहिये परंतु वह (सर्ववीरं रयिं नि यच्छ ।

मं. ८) 'संपूर्ण वीरत्वके गुणोंके साथ धन चाहिये ।' अन्यथा हमारा हुआ धन कोई चठाकर ले जायगा इसलिये वीरताके साथ रहनेवाला धन हमानेका उपदेश यहाँ किया है ।

इस रीतिसे उद्यत हुआ मनुष्य ही कह सकता है कि 'मुझे पाँचों दिशाएँ यथासक्ति बल प्रदान करें और मनसे तथा हृदयसे जो संकल्प मैं करूँ वे पूर्ण हो जाय । (मं. ९)' इसके वे संकल्प निःसंदेह पूर्ण हो जाते हैं ।

हरएकके मनमें अनेक संकल्प उठते हैं, परंतु जिसके संकल्प सफल होते हैं ? संकल्प सब सफल होंगे जब उन संकल्पोंके पीछे प्रबल शक्ति होगी, अन्यथा संकल्पोंकी सिद्धता होना असंभव है । इस सूक्तमें संकल्पोंके पीछे शक्ति उत्पन्न करनेके विषयका बड़ा आन्दोलन किया है इसका विचार पाठक अवश्य करें । सूक्तके प्रारंभसे यहाँ विषय है—

'अग्नी स्यमित्थानका विचार हर अपनी उन्नति करनेके लिये कमर कसके उठना, (मं. १); सीधा सरल भाषण करना, मनके भाव उत्तम करना (मं. २); ज्ञान और त्याग भाव बढ़ाना । (मं. ५); प्राप्त धन परंपकारमें लगाना (मं. ५); सब मनुष्योंको उत्तम विचार धारण करने, एकता बनाने और परंपकार करनेकी और प्रवृत्त करना । (मं. ६); धार्मिक बड़ानेके लिये अपनी आपसकी संघटना करना (मं. ८); अपने अंदर जो संकुचित विचारके होंगे उनको भी उदार बनाना (मं. ८); इस पूर्व तैवाटीके पश्चात् सब मानसिक संकल्पोंकी सफलता होनेका संभव है ।' संकल्पोंके पूर्ण इतनी

सहायक शक्ति उत्पन्न होंनी चाहिये ! तब संकल्प सिद्ध होंगे । इसका विचार करके पाठक इस शक्तिको उत्पन्न करनेके कार्यमें लग जाय । इसके नंतर— 'सब स्थानमें उसको प्राणशक्ति साक्षात् होता है, सब स्थानसे उसकी पुष्टि होती है, वह सदा प्रसन्नता बढ़ानेवाली ही भाषा बोलता है इसलिये वह तेजस्विताके साथ अभ्युदयको प्राप्त होता है । (मं. १०)'

इस दशम मंत्रमें 'गोसर्नि धाचं उदेयं' यह वाक्य है । 'गो' का अर्थ है— 'इंद्रिय, गौ, भूमि, प्रकार, स्वर्गसुख, वाणी ।' इस अर्थको लेकर— 'इंद्रियोंकी प्रसन्नता, वाणीकी प्रसन्नता, प्रकाशका विस्तार, मातृभूमिका मुख आदिकी सिद्धता होने योग्य मैं भाषण बोलता हूँ' यह अर्थ इससे व्यक्त होता है । आगे 'तेजस्विताके साथ अभ्युदय' प्राप्त करनेका विषय कहा है, उसके साथ यह 'प्रसन्नता बढ़ानेवाली वाणीसे बोलना' कितना आवश्यक है, यह पाठक यहाँ अवश्य देखें । इस प्रकार इस सूक्तके वाक्योंका पूर्वापर संबंध देखकर यदि पाठक मनन करेंगे तो उनको विशेष बोध प्राप्त हो सकता है ।

इस सूक्तका संक्षेपसे यह विवरण है । पाठक जितना अधिक विचार करेंगे उतना अधिक बोध वे प्राप्त कर सकते हैं । अधिक विचार करनेके लिये आवश्यक संकेत इस स्थानपर दिये ही हैं, इसलिये यहाँ अधिक लेख बड़ानेकी आवश्यकता नहीं है । अभिज्ञा वर्णन करनेके लिये हुए सामान्य निर्देश मनुष्योंकी उन्नतिके निदर्शक कहे होते हैं, इसका अनुभव पाठक यहाँ करें । वेदकी यह एक अपूर्व शैली है ।

॥ यहाँ अंतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥



कामाग्निका शमन ।

(१६)

(ऋषिः — वसिष्ठः । देवता — अग्निः)

ये अग्रयो अर्पव्यन्तये वृत्रे ये पुरुषे ये अशंसु ।	
य आविवेशोपधीयो वनस्पतीस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वित् ॥ १ ॥	॥ १ ॥
यः सोमं अन्तयो गोष्वन्तर्य आविष्टो वर्यःसु यो मृगेषु ।	
य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वित् ॥ २ ॥	॥ २ ॥
य इन्द्रेण सूर्यं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाप्यः ।	
यं ब्रौहर्षामि पृतनासु सासाहि तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वित् ॥ ३ ॥	॥ ३ ॥
यो देवो विश्वामु काममाहुषं दातारं प्रतिगृह्णन्तं माहुः ।	
यो धीरः शुक्रः परिभूताभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वित् ॥ ४ ॥	॥ ४ ॥

अर्थ— (ये अग्रयाः अर्पु अन्तः) जो अग्निदां बलके अन्दर हैं, (ये वृत्रे) जो देवर्षे, और (ये पुरुषे) जो पुरुषर्षे हैं, तथा (ये अशंसु) शिलाशर्मि हैं, (यः सोपधीः यः च वनस्पतीन् आविवेश) जो वनस्पतिर्षे और वनस्पतिर्षिर्षे प्रविष्ट हैं (तेभ्यः अग्निभ्यः पतत् हुतं अस्तु) उन अग्निर्षिके लिये यह हवन होवे ॥ १ ॥

(यः सोमिः अन्तः, यः गोषु अन्तः) जो सोमके अन्दर, जो गौशर्मि अन्दर, (यः वर्यःसु, यः मृगेषु आविष्टः) जो पशुर्षिके और जो शृगर्षिके प्रविष्ट हैं, (यः द्विपदः यः चतुष्पदः आविवेश) जो द्विपद और चतुष्पादीर्षिके प्रविष्ट हुआ है, (तेभ्यः अग्निभ्यः पतत् हुतं अस्तु) उन अग्निर्षिके लिये यह हवन होवे ॥ २ ॥

(विश्वदाप्यः उत वैश्वानरः) सबको बलिनेवाला परंतु सबका चालक अपना हितकारी (यः देवः इन्द्रेण सूर्यं याति) जो देव इन्द्रेके साथ एक रथपर बैठकर चलता है (यं पृतनासु सासाहि ओहवीमि) जो दुर्धमे विजय देनेवाला है इसलिये विश्वही में प्रार्थना करता हूँ (तेभ्यः) उन अग्निर्षिके लिये यह हवन होवे ॥ ३ ॥

(यो विश्वामु देवः) जो विश्वका मङ्गल देव है, (यं ल कामं माहुः) जिसको 'काम' नामसे पुकारते हैं, (यं दातारं प्रतिगृह्णन्तं माहुः) जिसको देनेवाला और लेनेवाला भी कहा जाता है, (यः धीरः शुक्रः परिभूः अशंसु) जो बुद्धिमान्, शक्तिमान्, प्रथम करनेवाला और न दबनेवाला रहते हैं (तेभ्यः) उन अग्निर्षिके लिये यह हवन होवे ॥ ४ ॥

मावार्थ— जो अग्नि बल, मेष, प्राणिकों अथवा मनुष्यों, शिलाशर्मि और औषधिवनस्पतिर्षिके हैं उनको प्रसन्नताके लिये यह हवन है ॥ १ ॥

जो अग्नि सोम, गौर्षो, पशुर्षो, मृग्यादि पशुओं तथा द्विपद चतुष्पादीर्षिके प्रविष्ट हुआ है उसके लिये यह हवन है ॥ २ ॥ सबको बलाकर बल करनेवाला परंतु सबका संचालक जो यह देव इन्द्रेके साथ रथपर बैठकर प्रथम करता है, जो दुर्धमे विजय प्राप्त करनेवाला है उस अग्निर्षिके लिये यह हवन है ॥ ३ ॥

जो अग्नि विश्वका मङ्गल है और जिसको 'काम' कहते हैं, जो देनेवाला और स्वीकारनेवाला है, और जो बुद्धिमान्, समर्थ, सर्वत्र जानेवाला और न दबनेवाला है, उस अग्निर्षिके लिये यह हवन है ॥ ४ ॥

यं त्वा होतारं मन्त्रसामि संविदुह्योदश मौवनाः पञ्च मानवाः ।

वर्चोषसं श्रुसें सनुतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ५ ॥

उक्षाभाय वृक्षाभाय सोमपृष्ठाय वेचसे ।

वैश्वानरज्येष्टेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ६ ॥

दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति ।

ये दिक्ष्वान्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ७ ॥

हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम् ।

विश्वान्देवानाङ्गिरसो हवामहे इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम् ॥ ८ ॥

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरपणः ।

अयो यो विश्वदान्यैस्त्रं क्रव्यादमग्नीशमम् ॥ ९ ॥

अर्थ— (त्रयोदश मौवनाः पञ्च मानवाः) त्रयोदश भुवन और पांच मनुष्यजातियां (यं त्वा मन्त्रसामि होतारं अग्नि संविदुः) जिस ऋषिको मन्त्रके होता अर्थात् दाता मानते हैं, (वर्चोषसे) वैश्वानर (सनुतावते) मलय भाषी और (वृक्षासे) मरुत्सी ऋषे और (तेभ्यः) उन अग्निबोधके लिये यह हवन होवे ॥ ५ ॥

(उक्षाभाय वृक्षाभाय) जो बैलके लिये और गौके लिये अन्न होता है और (सोमपृष्ठाय) औषधियोंको पीठपर केता है सब (वेचसे) शान्तिके लिये और (वैश्वानरज्येष्टेभ्यः) तेभ्यः) सब मनुष्योंके हितकारी षेष्ठ उन अग्निबोधके लिये यह हवन होवे ॥ ६ ॥

(ये दिवं अन्तरिक्षं अनु, विद्युतं मनु संचरन्ति) जो सुबोक और अंतरिक्षके अन्दर और विद्युतके अंदर भी अनुकूलतासे संचार करते हैं, (ये दिक्षु अन्तः, ये वाते अन्तः) जो दिशाओंके अंदर और वायुके अंदर हैं (तेभ्यः अग्निभ्यः) उन अग्निबोधके लिये यह हवन होवे ॥ ७ ॥

(हिरण्यपाणिं सवितारं) सुवर्ण भूषण हाथमें धारण करनेवाले सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि, त्रैशेदेव और आंगिरसोंकी (हवामहे) प्रार्थना करते हैं कि वे (इमं क्रव्यादं अग्निं शमयन्तु) इस मांसमोजी अग्निको शान्त करें ॥ ८ ॥

(क्रव्यादं अग्निः शान्तः) मांसमसृक अग्नि शान्त हुआ, (पुरुषरपणः शान्तः) मनुष्य हिंसक अग्नि शान्त हुआ (अयं यो विश्वदान्यः) और जो सबको अलानेवाला अग्नि है (तं क्रव्यादं अग्नीशमम्) उस मांसमसृक अग्निको मैंने शान्त किया है ॥ ९ ॥

भाषार्थ— तैरह भुवनोंका प्रदेश और मनुष्यकी ब्राह्मण छत्रिवादि पांच जातियां इसी अग्निबोधके मन्त्रसे दाता मानती हैं, त्रैश्वानर, मलयभाषीके प्रेरक, मरुत्सी उस अग्निबोधके लिये यह अर्पण है ॥ ५ ॥

जो, बैलके और गौके अन्न देता है, जो पीठपर औषधियोंको केता है, जो सबका धारक या उत्पादक है, उस सब मानवोंमें श्रेष्ठरूप अग्निबोधके लिये यह अर्पण है ॥ ६ ॥

सुबोक, अन्तरिक्ष, विद्युत, दिशाएं, वायु आदिमें जो रहता है उस अग्निबोधके लिये यह अर्पण है ॥ ७ ॥

सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि और आंगिरस आदि सब देवोंकी हम प्रार्थना करते हैं कि वे सब देव इस मांसमसृक अग्निबोधके शान्त करें ॥ ८ ॥

यह मांसमोजी पुरुषनाशक और सब अथवा जो अलानेवाला अग्नि शान्त हुआ है, मैंने इसको शान्त किया है ॥ ९ ॥

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उचानशीवरीः ।

वातः पर्जन्य आदुषित्से क्रुव्यादमञ्जीश्रमन्

॥ १० ॥

अर्थ— (ये सोमपृष्ठाः पर्वताः) जो बनस्पतियोंकी पंठपर धारण करनेवाले पर्वत हैं, (उचानशीवरीः आपः) ऊपरकी जलैवाले जो अत हैं, (वातः पर्जन्यः) वायु और पर्जन्य (आदु अग्निः) तथा जो अग्नि है (ते) वे सब (क्रुव्याद् अशीश्रमम्) मांसभोजी अग्निको शान्त करते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ— जहां सोमादि बनस्पतियों हैं वैसे पर्वत, ऊपरकी गाँठसे करनेवाले जलनवाह, वायु और पर्जन्य तथा अग्नि वे सब देव मांसभक्षक अग्निको शान्त करनेमें सहायता देते हैं ॥ १० ॥

कामाग्निका स्वरूप ।

इस सूक्तमें कामाग्निकी शान्त करनेका विधान है । कामकी अग्निकी उपमा देकर अथवा आगिके वर्णनके मिरचे कामको शान्त करनेका वर्णन इस सूक्तमें बड़ा ही मनोरंजक है । यह सूक्त 'बृहच्छान्तिपत्र' में मिला है, अथवा कामका शान्त करवा ही 'बृहच्छान्ति' स्थापित करना है । यह अथवा बड़ा कठिन और कष्टसाध्य कार्य है । इस सूक्तमें जो अग्नि है वह 'क्रुव्याद्' अर्थात् कच्चा मांस खानेवाला है, साधारण लोग समझते हैं कि इस सूक्तमें सुई जलानेवाले अग्निका वर्णन है, परंतु यह मत ठीक नहीं है । कामरूप अग्निका वर्णन इस सूक्तमें है और यही कामरूप अग्नि बड़ा मनुष्यभक्षक है । अतः अग्नि जलता है उससे पहले गुणा यह काम करता है, यह वात पाठक विचारकी दृष्टिसे देखेंगे तो जान सकते हैं । इसलिये इस सूक्तके अग्निका स्वरूप पहले हम निश्चित करते हैं । इसका स्वरूप बतानेवाले जो अनेक शब्द इस सूक्तमें हैं उनका विचार अब करते हैं—

१ यो देवो विश्वाद् यं उ कामं आहुः ।

(सू. २१, मं. ४)

जो अग्निदेव सब अश्वकी बतानेवाला है और अतकी 'काम' कहते हैं ।

इस मंत्रमार्गमें यह कहा है कि इस सूक्तमें जो अग्नि है वह 'काम' ही है । नाम निर्देश करनेके कारण इस विषयमें किसीको संका करना भी अब चिन्तित नहीं है । तथापि निश्चय ही हवताके लिये इस सूक्तके अन्य मंत्रमात्र अब देखिये—

२ क्रुव्याद् अग्निः ।

(सू. २१, मं. १)

मांस भक्षक अग्नि ।

३ पुरुषरेपणः अग्निः ।

(सू. २१, मं. १)

पुरुषका नाशक (काम) अग्नि ।

कामकी प्रकृतियोंसे मनुष्यका शरीर मूक जाता है और इस कामके प्रयोगसे कितने मनुष्य सहपरिवार नष्ट हो गये हैं यह पाठक यहाँ विचारकी दृष्टिसे मनन करें, तो इन मंत्रमार्गीका मंत्रों अर्थ व्यननें आ सकता है । इस दृष्टिसे—

४ विश्वाद् अग्निः ।

(सू. २१, मं. ४, १)

विश्वका भक्षक (काम) अग्नि ।

यह विनयुक्त शब्द है । मंत्रमार्गीयोंमें कामको—

काम एव श्लोघ एव रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशानो महाप्राप्मा विश्वेयनमिह वैरिणम् ॥

(म. गी. ११३०)

यह काम बड़ा (महाशानः) खानेवाला है । 'महाशान (महा-अशानः) और विश्वाद् (विश्व-अद्)' के दोनों शब्दों का बतानेवाले शब्द हैं । अथवा काम बड़ा खानेवाला है, इसकी कमी लूप्ति होती ही नहीं, कितना ही खानेको भिके वह ददा अतृप्त ही रहता है, इसका पेट सब अश्वको का खानेसे भी भरता नहीं, इसी अर्थको बतानेवाला यह शब्द है—

५ विश्व-दृष्यः ।

(सू. २१, मं. २, १)

सबको बतानेवाला (काम अग्नि) ।

यह काम सबकुछ सबको बतानेवाला है, जब यह काम मनमें प्रबल होता है, तब यह अंदरसे चलने लगता है । प्रबलपर धारण करनेवाला मनुष्य अंदरसे बचने लगता है और कामाग्निकी अपने अंदर बतानेवाला मनुष्य अंदरसे चलने लगता है ! जिसका अंतःकरण ही जलता रहता है, उसके लिये मानी सब अश्व ही बचने लगता है । जिसके मनमें कामाग्निकी खानाएं भरक उठती हैं, उसको न अत कांति दे सकता है, न अंतमार्गी अमृतपूर्व चिन्तों कांति दे सकती है, वह तो

यह असाध्य और संतत होता जाता है ऐसी इस कामाग्निकी दाहकता है ।। इसके शमनमें यह अग्नि क्या अला सकता है ? कामाग्निही दाहकता इतनी अधिक है, कि उसके शमनमें यह भौतिक अग्नि मानो शान्त ही है और इक्षीमिते मेंत्र भागमें 'इस अग्निमें कामाग्निही शान्त करनेको कहा है ।' यदि यह अग्नि कामाग्निसे शान्त न हो तो कामाग्निही शान्त कैसे कर सकता है ?

इस प्रकार इच्छा गुणवर्गोंन करवेशले जो विशेषण इस लूकमें आये हैं, वे इसका स्वरूप निश्चित करनेमें बड़े सहायक हैं। इनके मननसे निव्यव होता है, कि इस लूकमें वर्णित हुआ अग्नि साधारण भौतिक अग्नि नहीं है, प्रत्युत यह कामाग्नि है । भौतिक अग्निदा वाचक अग्नि वाच्य स्वतंत्र रीतिसे अथय मन्त्रमें आया है, इसका विचार करनेसे भी इस लूकमें वर्णित अग्निदा स्वरूप निश्चित हो जाता है ।

काम और इच्छा ।

'काम' वाच्य जैसा काम विचारका वाचक है उसी प्रकार इच्छा, कामवाचा भी वाचक है । मन्त्रानुः देखा जाय तो ये काम, कामना और इच्छा मूलतः एक ही शक्तिके वाचक हैं । निम्न निम्न इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध हो। आनेसे एक ही इच्छा-शक्तिका रूप जैसा कामाधिकारमें प्रगट होता है और वैशा ही अन्य इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध होनेसे कामवाचक रूपमें भी प्रगट होता है । परन्तु इनके अन्दर प्रसरण देखा जाय तो 'मुख्य आदिने' ॥३॥ एक इच्छाके विचार दूसरा इच्छा में कुछ भी नहीं है, अतः अन्दर कुछ न्यूनता है, सघनी पूर्तिका लिये बाहरसे किसी पदार्थकी प्राप्ति करना चाहिये, वह वाया पदार्थ प्राप्त होनेमें मैं पूर्ण हो जाऊंगा । इसादि प्रकारकी इच्छा ही 'काम कामना कामना' है । यही इच्छा सबको बना रही है, इस लिये इसके विषयकी बालक शक्ति कहा । देखिये—

वैश्वानरः (विश्व-नेता) । (सू. २१, मं. ६)

'यह (विश्व-नर) विश्वका नेता अर्थात् विश्वका बालक (काम) है । विश्वको चलानेवाला यह इच्छाशक्ति है । यह कामशक्ति न हो तो संसारका चलना अशक्य है । पदार्थ मानमें-क्रमसे कम चेतन और अर्थ चेतन अथयत्में- यह स्पष्ट दिखाई देती है ।' इस विषयमें प्रथम और द्वितीय मेंत्रका कथन स्पष्ट है ।

'इस कामरूप अग्निमें अनेक रूप हैं और वे जल, मेघ, पाप, औषधि वनस्पति, सोम, गौ, पशु, द्विपाद,

चतुष्पाद, मनुष्य आदि सबमें है । (मं. १, २) तथा 'दृषियी, अन्तरिक्ष, विद्युत्, युजोक, दिवा, वायु आदिमें भी हैं ।'

(मं. ७)

इस संज्ञसे स्पष्ट हो जाता है कि यह कामाग्नि पाथर जल औषधियोंसे उत्पन्न मनुष्यातिक सब सृष्टिमें विद्यमान है । औषधियों वदनेकी इच्छा करती है, वृक्ष फलना चाहते हैं, पशु उठना चाहते हैं, मनुष्य अथयत्की अंततः चाहता है इस प्रकार हरएक पदार्थ अपनी शक्तियों और अपने अधिकार क्षेत्रको पैताना चाहता है । यही इच्छा है और यही काम है । यही सब जनमेन्द्रियके साथ अपना संबंध जोड़ता है तब उसकी कामाधिकार कहा जाता है, परंतु मूलतः यह शक्ति वही है, जो पहले दुःखके नामसे प्रसिद्ध थी । यही स्वार्थकी कामना 'पाप और वैशोकिया पातकी है और उनको शिलाही-पिलाही है, औषधियोंको धानना करती है ।' (मं. १)

कामकी दाहकता ।

वस्तुतः भौतिक अग्नि जलाती है, ऐसा अनुभव हरएकको जाता है, और काम या इच्छाकी वैसी दाहकता नहीं है ऐसा भी सब मानते हैं, परंतु साधारण इच्छा क्या, कामना क्या और कामाधिकार क्या इतने अधिक दाहक हैं, कि 'उनकी दाहकताके साथ अग्निही दाहकता कुछ भी नहीं है ।।

राज्य बदलनेकी इच्छा कई राज्यबालकोंमें बढ जानेके कारण दुःखीके अन्तरके कई राज्यको परतंत्र्यकी अग्नि जला रही है, इस स्वार्थकी इच्छाके कारण इतने नरनकर युद्ध हुए हैं और उनमें मनुष्य इतने अधिक मर चुके हैं कि उतने अग्निही दाहकतासे निःसंदेह मरे नहीं हैं । इक्षीमिते इसको सुतीय संज्ञमें (पृथवान्नु स्वास्ति) अर्थात् युद्धमें विजयी कहा है । किसी भी पक्षकी जीत हुई तो इक्षीमी वह जीत होती है ।।।

एक समाज दूसरी समाजको अपने स्वार्थके कारण दबा रहा है, छपर उठने नहीं देता है, दबी आलियोंसे जितना चाहे स्वार्थसाधन किया जा रहा है, यह एक ही स्वार्थकी कामनाका ही प्रताप है । धनी लोग निर्धनोंको दबा रहे हैं, अथयत्की उर्ग प्रजाको दबा रहा है, एक समय पर्यंत दूसरे निर्धन राष्ट्रको दबा देता है, इसी प्रकार एक माई दूसरे माईकी चोख छीनता है, ये सब कामके ही रूप हैं, जो मनुष्योंकी अंतर ही अंतरसे बना रहे हैं ।

अस्य सुंदर रूपकी कामना करता है, काम मनुष्य स्वर्गकी अभिलाषा करता है, जिन्हा मनुष्य रसोंकी इच्छुक है, इसी प्रकार अन्त्यान्व इक्षीमी अन्त्यान्व विषयोंको चाहती है । इनके

कारण जगत्में जो विध्वंस और नाश हो रहे हैं, वे किसाँसे छिपे नहीं हैं। इतनी विनाशक शक्ति इस भौतिक जगत्में कहाँ है ?

काम, क्रोध, मोह, मद और मत्सर ये मनुष्यके छः शत्रु हैं, इन शत्रुओंमें सबसे मुख्य शत्रु 'काम' है, सबसे बड़कर इसके अंदर विनाशकता है। यह प्रेमसे पाश आता है, सुख देनेका प्रलोभन देता है और कुछ सुख पहुँचता भी है। परंतु अंदर अंदरसे देसा काटता है, कि कूट जानेवालेकी अपने कूट जानेका पता तक नहीं लगता !!! इस कामविकाररूपी शत्रुकी विनाशकता सब शास्त्रोंमें प्रतिपादन की है। हरएक धर्मग्रन्थके इससे बचनेका उपदेश कर रहा है।

जिस समय कामविकारकी ज्वाला मनमें झूक उठती है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि खून उबल रहा है। खूनके उबलनेका मान स्पष्ट होता है, शरीर गर्म हो जाता है, मस्तिष्क तनता है, अवयव शिथिल हो जाते हैं, मस्तिष्ककी विचारशक्ति हट जाती है और एक ही काम मनमें राज करने लगता है। खूनकी पीसता है, शक्तीकी नष्ट करता है, मीथका नाश करता है और आधुका झप करता है। ये सब लक्षण इसकी दाहकताके हैं। इसकी यह विचलक शक्ति देखकर पाठक ही विचार कर सकते हैं कि इसकी विनाशकताकी आँकड़े क्या क्या तुलना हो सकती है ? इसलिये मंत्रमें कहा हुआ विशेषण (विश्व-दाह्यः) जगत्की जलनेवाला इसके अंदर बिलकुल सार्थ हो जाता है !!

इस धरका विचार करके पाठक 'कामकी दाहकता' जाने और इसकी दाहकतासे अपने आपकी बचानेका उपाय करें।

न दवनेवाला ।

चतुर्थ मंत्रमें इसके विशेषण ' विश्वाद्, दाता, प्रति-
गृह्णद्, धीरः, शक्रः, परिभूः, अदाभ्यः ' जाये हैं और इसीमें इसका नाम (यं कामं आहुः) ' काम ' करके कहा है। अर्थात् इसी कामाँकड़े के गुणबोधक विशेषण हैं। इसलिये इनके अर्थ देखिये—

' यह काम (विश्वाद्) जगत्की खानेवाला, (दाता) दान देनेवाला, (प्रतिगृह्णद्) आपुन्यादि लेनेवाला, (धीरः) धैर्य देनेवाला, (शक्रः) शक्तिवाली, (परिभूः) सबसे बड़कर होनेवाला, (अदाभ्यः) न दवनेवाला है ।'

(मं. ४)

विचार करनेपर ये विशेषण कामके विषयमें बड़े सार्थ हैं ऐसा ही प्रतीत होगा। जिस समय मनमें काम उत्पन्न होता है

उस समय बुद्धीको मलिन करता है, अपनी इच्छा तन करनेके लिये आवश्यक धैर्य अथवा साहस उत्पन्न करता है, अन्य समय मोह दिखाई देनेवाला मनुष्य भी कामविकारकी लहरोंमें बड़े साहसके कर्म करने लगता है, जब यह मनमें बढ़ता है तब सब अन्य भावनाओंकी दबाकर अपना अधिकार सबपर जमा देता है, दवानेका मूल करनेपर भी यह टटल कर अपना प्रभाव दिखाई देता है ! इस प्रकार पूर्वोक्त विशेषणोंका आशय नहीं विचार करनेसे स्पष्ट हो सकेगा। इसके दाता और प्रतिग्रहीता (अथर्व. ११२.१७ में भी ' कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता ' कहा है) ये दो विशेषण भी विशेष मनन करने योग्य हैं। यह किंचित् सा सुख देता है और बहुत सा धैर्य ह्रास करता है, ये अर्थ पूर्वोक्त संघटिते वहाँ अन्यर्थक दिखाई देते हैं। साधारण कामनाके अर्थमें देने और लेनेवाला कामनासे ही प्रवृत्त होता है, इसलिये यह काम ही देनेवालेको दानमें और लेनेवालेको लेनेमें प्रवृत्त करता है, यह इस मंत्रका आशय भी स्पष्ट ही है।

पंचम मंत्रमें ' त्रयोदश मुवर्गोऽनं रक्षेवाते पंचमन इहको मनसे मानते हैं, दाता करके पूजते हैं ' ऐसा कहा है। संतुर्ण बनता कामकी ही उपासना करती है यह बात इस मंत्रमें कहाँ है। कई विरक्त संत महन्त इस कामको अपने आजीन करके परमार्थोपासक होते हैं, अन्य संशारी जन तो कामकी ही अपने सर्वसंधा दाता मानते हैं। इस प्रकार इस कामने ही सब जगत्पर अपना अधिकार जमाता है। जनता समझती है कि (सन्धः) तेज (पशुः) पश और (सन्तुर्ण) वन आदि सब कामके प्रभावसे ही सफल और सुखल होता है। सब लोग जो संशारमें मग्न हैं, इसीकी प्रेरणासे बन्ते हैं मावो इसीके वेगसे घूम रहे हैं। जो सत्पुरुष इसके वेगसे मुक्त होकर इस कामकी ओत लेता है वही श्रेष्ठ होता हुआ सुखिष्ठ भवि-
शरी होता है, मानी इसके वेगसे छूट जाना ही सुखि है। परंतु कितने बड़े लोग इसके वेगसे अपने आपकी मुक्त करते हैं ! यही इस सूक्तके मननके समय विचार करने योग्य बात है।

इन्द्रका रथ ।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि ' यह काम इन्द्रके रथपर बैठकर (इन्द्रेण सरथं याति) जाता है । ' (मं. १) यह देखना चाहिये कि इन्द्रका रथ कौनसा है ? ' इन्द्र ' नाम श्रीबालाका है और उसका रथ यह शरीर ही है। इस विषयमें उपनिषद्का वचन देखिये—

मंगाके जलसे स्नान करना भी बड़ा उत्तम है । इससे शरीरकी रोगता सम हो जाती है । इसके अतिरिक्त शूद्रिकल पानसे भी शरीरके अंदरके दोष हट जाते हैं । और कामकी शान्ति होनेमें सहायता होती है । (मं० १०)

४ अग्निः—आग, अग्नि यह वस्तुतः शरीरको अधिक रण्य बनानेवाला है । जो कोमल प्रकृतिके मनुष्य होते हैं यदि उनको अग्निसे साध कार्य करनेका अवसर हुआ तो उनके शरीरकी रण्यता बढ़नेसे उनका शरीर अधिक गर्म हो जाता है और उसके कारण उनको वीर्यदोषकी बाधा हो जाती है । इसलिये इस प्रकारकी असाधिक कामरता शरीरसे हटानी चाहिये । अग्नि प्रयोगसे ही यह हट सकती है । होम हवन करते समय शरीरको अग्निसे उत्पन्न लगता है, अन्य प्रकारके भी शरीरको अग्निसे रण्यतासे परिचित रखना चाहिये, जिससे किसी समय आगके साथ काम करना पड़े, तो उस रण्यताको शरीर सह सकेगा । अग्निकी रण्यताका हानिकारक परिपाल्य शरीरपर न होनेके लिये इस प्रकार शरीरको सहनशीलके युक्त बनाना चाहिये । (मं० १०)

५ वातः—वायु भी इस विषयमें लाभदायक है । शुद्ध वायु सेवन, तथा शुद्ध वायुमें प्रमण करनेसे बड़े लाभ हैं । प्राणायाम करना भी वायुसंवनकी एक लाभप्रद रीति है । प्राणायाम करनेसे वीर्यदोष दूर होते हैं । प्राणायामके अभ्याससे मनुष्य स्थिर वीर्य हो जाता है । इस कारण वायुको कामाग्निघ्न मान्य करनेवाला कहा है । जो जगत्में वायु है वही शरीरमें प्राण है । (मं० १०)

६ सविता—सूर्य भी इस विषयमें बड़ा सहायक है । जो वात अग्निसे विषयमें बड़ी है, वही सूर्यके विषयमें भी सत्य है । कोमल प्रकृतिवाले मनुष्य सूर्यप्रकाशमें धूमने फिरनेसे वीर्यदोषी होजाते हैं, यह इस कारण होता है कि सूर्यप्रकाश सहन करनेकी शक्ति उनमें नहीं होती । वस्तुतः सूर्यका प्रकाश शरीर लास्यके लिये बड़ा लाभकारी है । सूर्यप्रकाशमें बड़ा धीवन है । योधा योधा सूर्य प्रकाशसे अपने शरीरको तपाते जानेसे शरीरकी सहनशील बढती है और शरीरमें अद्भुत धीवनरस संचारने लगता है, आरोग्य बढ जाता है और योधीकी रण्यतासे कामकी उत्तेजना शरीरमें होनेकी संभावना कम होती है । इस प्रकारकी सहनशील बढानेका प्रयत्न करना ही तो प्रथम प्रातःकालके कोमल सूर्यप्रकाशमें प्रमण करना चाहिये और पश्चात् कठोर प्रकाशमें करना चाहिये । यह सूर्या-तपस्नान बड़ा ही लाभदायक है । अंत्रमें " हिरण्यपाणि सविता " ये शब्द नन्द ब्रह्मवैवर्ते सूर्यके ही वाचक हैं, सोनेके

रंगके समान रंगवाले हिरणोवाला सूर्य प्रातः और सायं ही होता है । (मं० ८)

७ वृद्धणः—वृद्धण स्थान समुद्र है । इसलिये समुद्र-स्थान इस विषयमें लाभकारी है ऐसा हम यहाँ समझ सकते हैं । इसमें अन्नयोग भी आ सकता है । (मं० ८)

८ मित्रः—सूर्य, इस विषयमें पूर्व स्थलमें कहा ही है । यदि " हिरण्यपाणि सविता " पूर्वाह्ण है तो उसके बादके सूर्येध नाम मित्र है । पूर्वोक्त प्रकार यह भी लाभदायक है । मित्रकी प्रेमदृष्टिका उदय होनेसे भी अर्थात् जगत्की और प्रेमपूर्ण मित्र दृष्टिसे देखनेसे भी बड़ा लाभ होता संभव है । (मं० ८)

९ विश्वे देवाः—अन्यान्य देवताओंके विषयमें भी इहाँ प्रकार विचार करके जानना चाहिये और उनसे अपना लाभ करना चाहिये । इस विषयमें बड़ा विचार करना योग्य है ।

१० वृद्धस्पतिः—यह ज्ञानकी देवता है । ज्ञानसे भी कामाग्निघ्न शान्ति साधन करनेमें सहायता हो सकती है । वृद्धस्पति नाम ' गुरु ' का है । गुरुसे ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञानके बलसे अपनेको बचाना चाहिये अर्थात् कामाग्निघ्न संयम करना चाहिये । यहाँ जो ज्ञान आवश्यक है वह शरीरप्राप्त, मानसशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र इत्यादिका ज्ञान है । साथ ही साथ अहिंसा, ज्ञानमार्ग आदिमा भी ज्ञान होता चाहिये । (मं० ८)

११ अङ्गिरसः—अंगारकी विद्या जाननेवाले ऋषि । शरीरमें सर्वत्र संचार करनेवाला एक प्रकारका धीवनरस है, उसकी विद्या को जानते हैं, उनसे यह विद्या प्राप्त करके उस विद्या द्वारा कामाग्निघ्न संयम करना चाहिये । योगसाधनमें इस विषयके अनेक उपाय कहे हैं, उनका भी यहाँ अनुसंधान करना चाहिये । (मं० ८)

१२ इन्द्रः—इन्द्र नाम जीवात्मा, राजा और परमात्माका है । इन तीनोंका कामाग्निघ्न शान्ति करनेमें बड़ा संबंध है । जीवात्माका आत्मिक बल बढाकर शुभसंस्कारोंके द्वारा अपने अन्दरके कामाग्निघ्न संयम करना चाहिये । राजाको चाहिये कि वह अपने राज्यमें अद्भुत और संयमका वायुमंडल बढाकर कामाग्निघ्न शान्ति करनेकी सबके लिये सुगमता करे । राज्यमें अध्यापकवर्ग और संरक्षक अधिकारी वर्ग अद्भुतार रक्षक राज्य चलायेका उद्देश अथर्ववेदके अद्भुतवर्ग सूक्त [अथर्व. १०।५ (७) १६] में कहा है । वह यहाँ अवश्य देखने योग्य है । इससे राजाके कर्तव्यका पता लग सकता है । यदि राज्यमें

अध्यापक गण पूर्ण ब्रह्मचारी हों और राज्यशासनके अन्य ओहदेदार भी उत्तम ब्रह्मचारी हों तो उस राज्यका वायुमंडल ही ब्रह्मचर्यके लिये अनुकूल होगा और ऐसे राज्यमें रहनेवाले लोगोंका ब्रह्मचर्य रहना, संयम होना अथवा कामाग्निघ्न समन होना निःसन्देह सुसाम्य होगा । धन्य है ऐसे वैदिक राज्यकी कि जहाँ सब अधिकारी वर्ग और अध्यापक वर्ग ब्रह्मचारी होते हों । वैदिकधर्मियोंको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि ऐसे राज्य इस भूमंडलपर स्थापित हों और सर्वत्र ब्रह्मचर्यका वायुमंडल फैले । इसके मंतर इन्द्र शब्दका तीसरा अर्थ परमात्मा है । यह

परमात्मा तो पूर्ण ब्रह्मचर्यका परम आदर्श है, इसकी मूर्ति और उपासनसे कामाग्निघ्न समन होता ही है । सब श्रियमूर्ति और योगी इसी परमात्म मूर्तिकी साधनासे मनःसंयम द्वारा कामाग्निघ्न समन करके अमर हो गये ।

इस प्रकार उपायका वर्णन इस सूक्तमें किया है । यह सूक्त अखण्ड महत्त्वका है । इसका पाठ 'बृहच्छामितगण' में किया है । सबसुख यह सूक्त बृहती शक्ति करनेवाला ही है । जो पाठक इसके अनुष्ठानसे इस शक्तिकी साधना करेगा वैदिक धन्य होगा ।

वर्चःप्राप्ति सूक्त ।

(२१)

(ऋषिः — षसिष्ठा । देवता — वर्चा, वृहस्पतिः, विश्वेदेवाः)

हृस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद्यशो अर्दित्या यत्तन्वुः संवभूर्व ।

त्त्सर्वे समदुर्मर्षमेतद्विश्वे देवा अर्दितिः सुजोषाः ॥ १ ॥

मित्रश्च वर्षणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु ।

देवासीं विश्वर्षायसुस्ते माञ्जन्तु वर्षसा ॥ २ ॥

येन हृस्ती वर्षसा संवभूव येन राजा मनुष्येष्वप्यन्तः ।

येन देवा देवतामग्र आयन्तेन मामथ वर्षसां वर्षसिर्वे कृणु ॥ ३ ॥

अर्थ— (यम् अर्दित्याः तन्यः) जो अर्दितिके शरीरमें (संवभूव) उत्पन्न हुआ है वह (हृस्तिवर्चसं वृहत् पदाः) हाथीके बलके समान बला मग (प्रथतां) फैले । (तन् पठत्) वह यह यद्य (सर्वे सुजोषाः विश्वे देवाः अर्दितिः) सब एक मनवाले देव और अर्दिति (मर्षा सं अद्रुः) मुझे दैते हैं ॥ १ ॥

(मित्रः च वरुणः च इन्द्रः च रुद्रः च) मित्र, वरुण, इन्द्र और रुद्र (चेततु) उत्साह देंगे । (ते विश्व-घायसा देवाः) वे विश्वके धारक देव (वर्षसा मा अञ्जन्तु) तेजसे मुझे सुख करें ॥ २ ॥

(येन वर्षसा हृस्ती संवभूव) त्रिष तेजसे हाथी उत्पन्न हुआ है, और (येन मनुष्येषु अप्यन्तः च अन्तः राजा संवभूव) त्रिष तेजसे मनुष्योंमें और जलोंके अन्दर राजा हुआ है, और (येन देवाः अग्रे देवतां आयन्) त्रिष तेजसे, देवोंने पहले देवत्व प्राप्त किया, (तेन वर्षसा) उस तेजसे, हे अग्रे ! (मां अथ वर्षसिर्वे कृणु) मुझे आज तेजस्वी कर ॥ ३ ॥

प्राचार्य— जो मूल प्रकृतिके अन्दर बल है, जो हाथी आदि पशुओंमें जाता है, वह बल मुझमें आवे, सुख देव एक मनुष्य मुझे बल दें ॥ १ ॥

मित्र, वरुण, इन्द्र और रुद्र ये विश्वके धारक देव मुझे उत्साह देंगे, ज्ञान देव और मुझे तेजसे सुख करें ॥ २ ॥

त्रिष बलसे हाथी सब पशुओंमें बलवान् हुआ है, त्रिष बलसे मनुष्योंके अन्दर राजा बलवान् होता है और भूमि तथा जलपर भी अपना शासन करता है, त्रिष बलसे पहले देवोंने देवत्व प्राप्त किया था, हे तेजसे देव ! वह बल आज मुझे प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

यत्ते वर्चो जातवेदो बृहदर्भवत्याहुंतेः ।

यावत्सूर्यस्य वर्च आसुरसं च हस्तिनः ।

तावन्मे अश्विना वर्च आ घंतां पुष्करस्रजा

॥ ४ ॥

यावच्चतस्रः प्रदिशुश्चक्षुर्पावंत्समश्नुते ।

तावंत्समैर्विन्द्रियं मयि तद्वस्तिवर्चसम्

॥ ५ ॥

हस्ती मृगाणां सुपदांमतिष्ठार्वान्बभूव हि ।

तस्य मर्गेन वर्चसाभि पिञ्चामि मामुहम्

॥ ६ ॥

अर्थ— हे (जातवेदः) जातवेद ! (ते यत् वर्चः आहुतेः बृहत् भवति) तेज जो तेज आहुतिसे बड़ा होता है (यावत् सूर्यस्य, आसुरस्य हस्तिनः च वर्चः) और जितना सूर्यच और आहुतों हाथी [मेघ] का बल और तेज होता है, हे (पुष्करस्रजौ अश्विना) पुष्पमाला धारण करनेवाले अग्नि देवों ! (तावत् वर्चः मे आ घंतां) उसना तेज मेरे लिये धारण कीजिये ॥ ४ ॥

यावत् (चतस्रः प्रदिशाः) जितनी दूर जातों दिशाएँ हैं, (यावत् चक्षुः समश्नुते) जितनी दूर दृष्टि फैली है, (तावत् मयि तत् हस्तिवर्चसं इन्द्रियं) उतना मुझमें वह हाथीके समान श्रद्धोद्योग बल (सं येतु) इष्टता होकर मिले ॥ ५ ॥

(हि सुपदां मृगाणां) बैसा अच्छे दंड़ैवाले पशुओंमें (हस्ती अतिष्ठार्वान् बभूव) हाथी बना प्रतिष्ठारवान् हुआ है, (तस्य मर्गेन वर्चसा) उसके मार्गमें और तेजके साथ (ग्रहं मां अभि पिञ्चामि) मैं अपने आरथों को अतिविष करवा हूँ ॥ ६ ॥

आधार्य— हे बने हुएको जानेवाले देव ! जो तेज अभिमें आहुतिदा देनेसे बड़ा है, जो तेज सूर्यमें है, जो आहुतोंमें तथा हाथीमें या मेघोंमें है, हे अग्निदेवों ! वह तेज मुझे दीजिये ॥ ४ ॥

आर दिशाएँ जितनी दूर फैली हैं, जितनी दूर मेरी दृष्टि जाती है, उतनी दूरतक मेरे धामर्चका प्रभाव फैले ॥ ५ ॥

बैसा हाथी पशुओंमें बना बलवान् है, बैसा बल और मार्गमें मैं प्रसन्न करता हूँ ॥ ६ ॥

शाकभोजनसे बल बढ़ाना ।

शरीरका बल, तेज, आरोग्य, बर्षा आदि बढ़ानेके संबंधका उपदेश करनेवाला यह सूक्त है । प्राणियोंमें हाथीका शरीर (हस्तिवर्चसं । मं० १) बना, मोटा और बलवान् भी होता है । हाथी शाकाहारो प्राणी है, इसीका आदर्शवेदने यहाँ लिया है; सिंह और ग्याग्रक आदर्श लिया नहीं । इससे सूचित होता है कि मनुष्य शाकभोजी रहता हुआ अपना बल बढ़ाने और बलवान् बने । वेदको शाकाहार करनेके विषयकी आज्ञा इस सूक्त द्वारा अप्रत्यक्षरूपेण दी गई है, यह बात पाठक यहाँ स्मरण रखें ।

बलप्राप्तिकी रीति ।

'अदिति' प्रकृतिको नाम है, उस मूल प्रकृतिमें बहुत बल है, इस बलके कारण ही प्रकृतिको 'अदिति' अर्थात् 'अ-दीन' कहते हैं । इस प्रकृतिके ही पुत्र सूर्य-चंद्रादि देव हैं, इसलिये इस प्रकृतिको देवमार्थ, सूर्यादि देवोंकी माता कहा जाता है । मूल प्रकृतिका ही बल विविध देवोंमें विविध रीतियोंसे प्रकट हुआ है, सूर्यमें तेज, वायुमें जीवन, बलमें शीतला आदि गुण इस देवोंकी अदिति मातासे इनमें आ गये हैं । इस लिये प्रथम अंगमें कहा है कि 'इन सब देवोंसे प्रकृतिका समर्पण बल मुझे प्राप्त हो' । (मं० १) सबसुख मनुष्यको जो बल प्राप्त

होता है यह पृथ्वी, आप, तेज, वायु आदि देवोंकी सहायतासे ही प्राप्त होता है, किसी अन्य रीतिसे नहीं होता है । यह बल प्राप्त करनेकी रीति है । इन देवोंके साथ अपना संबंध करनेसे मनने शरीरका बल बढ़ने लगता है । जलमें छैने, वायुमें प्रथम करने अथवा खेलना करने, धूलसे शरीरको तपाने अर्थात् शरीरकी चमकीके साथ इन देवोंका सम्बन्ध करनेसे शरीरका बल बढ़ता है । इसके यह सिद्ध हुआ कि तैज मकानमें अपने आपका बन्द रखनेसे बल घटता है ।

द्वितीय मंत्र कहता है कि ' (मित्र) सूर्य, (वसवः) बभ्रुव, (इन्द्रः) विद्युत्, (रुद्रः) जनि अथवा वायु ये

विश्वभारके देव मेरी शक्ति बढ़ाने । ' (मं० २) यदि इनके जीवन रखसूर्य अमृत प्रवाहोस अपना संबंध ही टूट गया तो ये देव हमारी शक्ति कैसी बढ़ावेगे ? इस लिये बल बढ़ाने-वालोंको जचित है कि वे अपने शरीरकी चमकीका संबंध इन देवोंके अमृत प्रवाहोके साथ योग्य प्रमाणसे होने दें । ऐसा करनेसे इनके अंदरका अमृत रस शरीरमें प्रतिष्ठ होगा और बल बढ़ेगा ।

अन्य मंत्रोंका आशय स्पष्ट ही है । मरियल और बलवान् होनेका मुख्य कारण यहा इस सूक्तने स्पष्ट कर दिया है । जो पाठक इस सूक्तके उपदेशके अनुसार आचारण करेंगे वे निःसंदेह बल, वीर्य, सौभाग्य और आरोग्य प्राप्त करेंगे ।

वीर पुत्रकी उत्पत्ति ।

(२१)

(श्लोकः — ऋषा । देवता — अग्निमा, योनिः, घापापृथिवी)

येन वेहद्वभूर्विष्य नान्ध्यामसि तत्त्वत् ।

इदं तदुन्यञ्च त्वदप्य दूरे नि दम्भसि

॥ १ ॥

आ त्वे योनिं गर्भं एतु पुमान्बाणं हवेपुषिम् ।

आ वीरोऽर्षे जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः

॥ २ ॥

अर्थ— (येन वेहद्व भूर्विष्य) जिस कारणसे तू बन्धा हुई है, (तत् त्वत् वादायामसि) वह कारण तुममें है इस दूरे करते हैं । (तत् इदं) वह यह सम्मानन (अम्यञ्च त्वत् दूरे) इसी जगह तेरेसे दूर (अप नि दम्भसि) इस के करते हैं ॥ १ ॥

(पुमान् गर्भः ते योनिं आ एतु) पुत्र गर्भ तेरे गर्भाशयमें आ जावे, (बाणः इपुषिं इष) जैसा बाण शरीरमें होता है । (अत्र ते) यहां तेरा (दशमास्यः वीरः पुत्रः आ जायतां) दस महिने गर्भमें रहकर वीर पुत्र उत्पन्न हो ॥ २ ॥

भावार्थ— हे स्त्री ! जिस दोषके कारण तुम्हारे गर्भाशयमें गर्भधारणा नहीं होती है और तू बन्धा बनी है, वह दोष मैं तेरे गर्भमें दूर करता हूं और पूर्ण रीतिसे वह दोष तुझसे दूर करता हूं ॥ १ ॥

तेरे गर्भाशयमें पुष्ट्य गर्भ उत्पन्न हो, वह गर्भ वहां दस मासतक अस्थी प्रकार पुष्ट होता हुआ उससे उत्पन्न वीर पुत्र जैसे उत्पन्न होवे ॥ २ ॥

११ (अथर्व. भाष्य, श्लोक ३)

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।

भवासि पुत्राणां माता ज्ञातानां जनयाश्च यान्

॥ ३ ॥

यानि भद्राणि बीजान्यपमा जनयन्ति च ।

तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूषेनुका भव

॥ ४ ॥

कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भं एतु ते ।

विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भवं

॥ ५ ॥

यासां द्यौः पिता पृथिवी माता संमुद्रो मूलं वीरुषां बभूव ।

तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः श्रवन्त्वोपधयः

॥ ६ ॥

अर्थ— (पुमांसं पुत्रं जनय) पुरुष संतान उत्पन्न कर, (तं अनु पुमान् जायतां) उसके पीछे भी पुत्र ही उत्पन्न होते । इस प्रकार (पुत्राणां माता भवासि) पुत्रोंकी माता हो, (ज्ञातानां यान् च जनया) जो पुत्र जनमें हैं और जिनको तू इसके बाद उत्पन्न करेगी ॥ ३ ॥

(यानि च भद्राणि बीजानि) जो कल्याणकारक बीज हैं जिनको (श्रवमाः जनयन्ति) ऋषभक वनस्पतिना उत्पन्न करती हैं, (तैः त्वं पुत्रं विन्दस्व) उनसे तू पुत्रको प्राप्त कर । (सा प्रसू) वैसी प्रसू होनेवाली तू (धेनुका भव) गौके समान उत्तम माता हो ॥ ४ ॥

(ते प्राजापत्यं कृणोमि) तेरे लिये प्रजा होनेका संस्कार मैं करता हूँ । (गर्भं ते योनिं एतु) गर्भ तैसी योनिमें आवे । हे (नारि) जी ! (त्वं पुत्रं विन्दस्व) तू पुत्रको प्राप्त कर । (यः तुभ्यं शं भवसु) जो तेरे लिये कल्याणकारी होने और (च त्वं उ तस्मै शं भव) तू निश्चयसे उसके लिये कल्याणकारिणी हो ॥ ५ ॥

(यासां वीरुषां) जिन औषधियोंकी (द्यौः पिता) पृथ्वी पिता है, (पृथ्वी माता) पृथ्वी माता है, और (संमुद्रः मूलं) समुद्र मूल (यभूष) हुआ है । (ताः दैवीः ओपधयः) वे दिव्य औषधियाँ (त्वा पुत्रविद्याय) इससे पुत्र प्राप्त करनेके लिये (प्र श्रवन्तु) विशेष रक्षण करें ॥ ६ ॥

भाषार्थ— पुरुष संतान उत्पन्न कर । उसके पीछे दूसरा भी पुत्र ही होते । इस प्रकार तू अनेक पुत्रोंकी माता हो ॥ ३ ॥ ऋषभक आदि औषधियोंके जो उत्तम बीज होते हैं, उनका सेवन पुत्र प्राप्तिके लिये तू कर । और उत्तम बीज पुत्रोंकी उत्पन्न कर ॥ ४ ॥

प्रजा उत्पन्न होनेका प्राजापत्य संस्कार मैं तुझपर करता हूँ, उसके तेरे गर्भाशयमें पुरुष गर्भ उत्पन्न होने और तू पुत्र संतानको उत्पन्न कर । वह पुत्र तेरा कल्याण करे और तू उसके कल्याण कर ॥ ५ ॥

जो औषधियाँ पृथ्वीपर उत्पन्न होती हैं, जिनका पावन दिव्य शक्तिसे होता है और जो समुद्रसे उत्पन्न हुई हैं, उन दिव्य औषधियोंका सेवन पुत्र प्राप्तिके लिये तू कर, उससे तुम्हारे गर्भाशयका दोष दूर होगा और तुझे उत्तम संतान उत्पन्न होगा ॥ ६ ॥

वीर पुत्रका प्रसव ।

बन्धा स्त्रीका बन्धाव दूर करके उसके लक्ष्मी लक्ष्मी वीर पुत्र उत्पन्न होने होग्य 'जननी' बनना इस सूक्तका साध्य है । पहले तीन मंत्रोंमें मंगल विचारोंकी सुचना द्वारा आंतरिक परिवर्तन करनेका उपाय कहा है । यदि स्त्रीकी स्त्रीकी यौवनमें मनुष्य पूरा पूरा निश्चय हो जायगा कि अपना बन्धापन दूर हुआ है, तो अंदर नैसा ही अनुकूल परिवर्तन हो जाना संभव

है । यदि मात्र विषयक कोई वैसा बंधा दोष न हो, तो इस मानसिक विचार परिवर्तनसे भी आवश्यक सिद्धि मिलना संभव है ।

इस कार्यके लिये 'प्राजापत्य इष्टि' का प्रयोग पंचम मंत्रमें कहा है । ऋषभक आदि दिव्य औषधियोंका हवन और उनके बीजोंका विधिपूर्वक भक्षण करनेका विधान सन्तुष्ट मंत्रमें है । ऋषभक औषधियोंका एक वण हो है, ये औषधियोंकी

बढानेवाली, शरीरको पुष्ट करनेवाली और गर्भाशयके दोष दूर करके बड़ाका आरोग्य बढानेवाली है । इन औषधियोंका इस्तेमाल करना, इनका सेवन करना और आरोग्यपूर्ण विचार मनमें धारण करना ये तीन उपाय बंध्यात्व दूर करनेके लिये इस सूत्रमें कहे हैं ।

मात्रक परममात्रसे यह प्राजापत्य यज्ञ कहे, यज्ञसेय आहुति-रत्न कर्त्तको पित्तसे और प्रथम तीन मंत्रोक्त आरोग्यके विचार आशीर्वाद रूपसे कहे- ' हे श्री ! तेरे अन्दर जो बंध्यात्वका दोष था, वह इस प्राजापत्य इष्टिसे दूर हो गया है; अब तुम्हारे परमशुभमें पुत्रक परम उत्पन्न होगा, वहाँ वह शीघ्र शालक पक्ष

मासतक पुष्ट होता रहेगा और पश्चात् योग्य समयमें उत्पन्न होगा । अब तू अनेक पुत्रोंकी माता बनेगी । ' (मं० १-२)

इस प्रकारके मनःपूर्वक दिने हुए आशीर्वादसे तथा उस आशीर्वादको अवलम्बित्यसे स्तब्ध करके शरीरके अन्दर आवश्यक परिवर्तन हो जाता है । ' शिव संकल्पसे चिकित्सा ' करनेकी रीति यह है । इस विषयके सूत्र अथर्ववेदमें अनेक हैं ।

इस सूत्रमें ' औषधयः ' शब्द बहुवचनान्त है, इससे अनुमान होता है कि इस सेवन विधिमें अनेक औषधियाँ आती हैं । सुविज्ञ वैद्योंको इस विषयकी खोज करना चाहिये ।

समृद्धिकी प्राप्ति ।

(१४)

(ऋषिः — ऋगुः । देवता — वनस्पतिः, प्रजापतिः)

पर्यस्वतीरोषधयः पर्यस्वन्नामकं चर्वः । अथो पर्यस्वतीनामा मरेऽहं संहस्रशः ॥ १ ॥

वेदाहं पर्यस्वन्तं चकार घान्यं बहु ।

संभृत्वा नाम यो देवस्तं चयं हवामहे यो यो-अपञ्चनो गृहे ॥ २ ॥

इमा याः पञ्च प्रदिशां मानवीः पञ्च कृष्टयः । वृष्टे शार्पं नदीरिवेह स्फूर्तिं समावहान् ॥ ३ ॥

अर्थ— (औषधयः पर्यस्वतीः) औषधियाँ रखवाली हैं, और (नामकं चर्वः पर्यस्वत्) मेरा चर्वन भी धारवाला है । (अथो) इसलिये (पर्यस्वतीनां सहस्रशः) रत्नवाली औषधियोंका हजारहारा प्रकारसे (अहं आ मरे) मैं मरने योग्य करता हूँ ॥ १ ॥

(पर्यस्वन्तं बहुघान्यं चकार) रत्नवाला बहुत घान्य उत्पन्न किया है उसकी रीति (अहं वेद्) मैं जानता हूँ । (या चः अपञ्चनः गृहे) जो कुछ अयात्रकके घरमें है उसको (संभृत्वा नाम यः देवः) संग्रह करके लायेवाला इस नामका जो देव है, (तं चयं हवामहे) उसका इरा यजन करते हैं ॥ २ ॥

(इमाः याः पञ्च प्रदिशाः) ये जो पाँचों दिशाओंमें रहनेवाली (मानवीः पञ्च कृष्टयः) मनुष्योंकी पाँच जातियाँ हैं वे (इह स्फूर्तिं समावहन्) वहाँ वृद्धिकी प्राप्ति करें (इव) जिस प्रकार (वृष्टे नदीः शार्पं) वृष्टि होनेके कारण नदियाँ सब कुछ भर जाती हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— मेरा मापन मीठा होता है वैसी ही औषधियाँ उत्तम रखवाली होती हैं, इसलिये मैं विद्येय प्रकारसे औषधियोंका पीपन करता हूँ ॥ १ ॥

रखवाला उत्तम घान्य उत्पन्न करनेकी विधि मैं जानता हूँ ; इसलिये उस दशाचार्य ईश्वरका मैं यजन करता हूँ, जो अयात्रक कोनेके घरमें मौ समृद्धि करता है ॥ २ ॥

ये पाँचों दिशाओंमें रहनेवाली मानवाँकी पाँच जातियाँ उत्तम समृद्धि प्राप्त करें जैसी नदियाँ वृष्टि होनेपर भर जाती हैं ॥ ३ ॥

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् । एवास्माक्रेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥
 शतहस्त समाह्वरं सहस्रहस्त सं किं । कृतस्य कार्यस्य चेह स्फाति समावह ॥ ५ ॥
 तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्याः । तासां या स्फातिमर्चमा तथा त्वामि मृशामसि ॥ ६ ॥
 उपोहर्थं समुह्यं क्षत्तारौ ते प्रजापते । ताविहा बहतां स्फातिं बृहं भूमानमक्षितम् ॥ ७ ॥

अर्थ— (शतधारं सहस्रधारं मक्षितं उत्सं उत्) षड्को और हजारों धारओंवाले अक्षय करने वा उठाग-
 दिक जैसे शिष्टे भर जाते हैं, (एव अस्माक इदं धान्यं) इसी प्रकार हमारा यह धान्य (सहस्रधारं मक्षितं) हजारों
 धारओंवाला होता हुआ अक्षय होवे ॥ ४ ॥

हे (शत-हस्त) सी हाथोंवाले मनुष्य ! (समाह्वरं) इच्छा करके ले आओ । हे (सहस्र-हस्त) हजारों हाथों-
 वाले मनुष्य ! (सं किं) उसको कैसा दे, दान कर । अर् (कृतस्य कार्यस्य च) किये हुये कार्यकी (इह स्फाति
 समावह) यहाँ शक्ति कर ॥ ५ ॥

(गन्धर्वाणां तिस्रः मात्राः) भूमिका धारण करनेवालोंकी तीन मात्राएं और (गृहपत्याः चतस्रः) गृहपालि-
 मोंकी चार होती हैं । (तासां या स्फाति-मत्-तमा) उनमें जो अक्षत समृद्धिवाली है (तथा तथा अमि मृशामसि)
 उच्यते तुसद्यो ह्यम संयुक्त करते हैं ॥ ६ ॥

ह (प्रजापते) प्रजाके पालक ! (उपोहः च) उठाकर लानेवाला और (समुह्यः च) इच्छा करनेवाला ये दोनों
 (ते क्षत्तारौ) तेरे सहकार्य करनेवाले हैं । (तौ इह स्फातिं) ये दोनों यहाँ शक्ति लाने और (बृहं मक्षितं भूमानं
 आ बहतां) बहुत अक्षय भरपूरताको लानें ॥ ७ ॥

भाषार्थ— इष्टि होनेसे तालाव आदि जलाशय जैसे भरपूर भर जाते हैं उसी प्रकार हमारे घटोंमें अनेक प्रकारके धान्य
 भरपूर और अक्षय हो जावें ॥ ४ ॥

हे मनुष्य ! तू सी हाथोंवाला होकर धन प्राप्त कर और हजार हाथोंवाला बनकर उसका दान कर । इस प्रकार करने कर्म-
 कर्मकी उन्नति कर ॥ ५ ॥

ऐसा करनेसे ही अधिकसे अधिक समृद्धि हम तुमको देते हैं ॥ ६ ॥

लानेवाला और समृद्धता ये दोनों प्रजापालन करनेवालेके सद्व्यवहार हैं । अतः ये दोनों इस स्थानपर समृद्धि ही और अक्षय
 समृद्धि प्राप्त करें ॥ ७ ॥

समृद्धिकी प्रातिके उपाय ।

समृद्धि हरपक्ष चाहता है परंतु उसकी प्रातिका उपाय बहुत
 पौष्टे जानते हैं । समृद्धिकी प्रातिके कुछ उपाय इस सूक्तमें कहे
 हैं । जो लोक समृद्धि प्राप्त करना चाहते हैं वे इस सूक्तका
 अर्थात् प्रचार मनन करें । समृद्धिकी प्रातिके लिये पहिला
 नियम ' मीठी वाणी ' है—

पयस्वान् मामकं वचः । (सू. २४, मं. १)

' इम जैसा मधुर मेरा वचन हो, ' माषणमें मधुरता,
 रसमयता, मीठास, सुननेवालोंकी तृप्ति करनेका गुण रहे । समृद्धि
 प्राप्त करनेके लिये मीठी माषण करनेके गुणकी अत्यंत आवश्यक-

कता है । आगमशास्त्रिका यह पहला और आवश्यक नियम है ।
 इसके पश्चात् समृद्धि करनेका दूसरा नियम है, ' दसतासं
 क्षयिकी वृद्धि करना ।—

पयस्वतीनां आभरेऽहं सहस्रधा ।

(सू. २४, मं. १)

वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं चतु ।

(सू. २४, मं. २)

' रश्मियोंकी आभयियोंका मैं हजारों प्रकारोंसे पोषण करता
 हूँ, बहुत धान्य देना उत्पन्न किया करते हैं, यह विद्या मैं
 जानता हूँ । ' अर्थात् उत्तम रूपसे करनेकी विद्या जानना और
 उसके अनुसार वृषि करके अपना धान्यसंग्रह बढ़ाना समृद्धि

होनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है । रसदार धान्य अपने पास न हुआ तो अन्य समृद्धि होनेसे कोई विशेष लाभ नहीं है । मीठा भाग्य करनेवाला मनुष्य हुआ तो उसके पास बहुत मनुष्य इकट्ठे हो सकते हैं, और उसके पास रसवाला धान्य हुआ तो वे आनन्दसे तृप्त हो सकते हैं । इसके पश्चात् 'सामुदायिक उपासना करना' समृद्धिके लिये आवश्यक होता है—

सम्भृत्या नाम यो देवस्तो वयं हवामहे

यो-यो अयजवन्नो वृष्टे ॥ (सू. २४, मं. २)

'जो यज्ञ न करनेवालोंके भी घरमें (उनके पौषणके सामान रहता है वह दयामय) संभारकर्ता नामक देव है उसकी उपासना हम करते हैं । 'परमेश्वर सबका पालन करता है, उसकी कृपादि सर्वोपर रहती है, ऐसा जो दयामय ईश्वर है, उसकी उपासना करनेसे समृद्धि बढ जाती है । जो देव अयाजकोंको भी पृथिके साधन देता है वह तो याजकोंका पौषण करेगा ही, इसलिये ईश्वरभक्ति करना समृद्धि प्राप्त करनेका मुख्य साधन है । इस मंत्रमें 'हवामहे' यह बहुवचनमें पद है, इसलिये बहुवचन द्वारा मिल कर उपासना करनेका-यज्ञ करनेका-भाव इसके स्पष्ट होता ।

मिलकर उपासना करनेसे और पूर्वोक्त दोनों नियमोंका पालन करनेसे 'पाँचों मनुष्योंकी अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निपादोंकी मिलकर उन्नति हो सकती है ।' (मं. ३) उन्नतिको यह नियम है । जिस प्रकार वृष्टि हुई तो नदी बढती है अन्वयात् नहीं, इसी प्रकार पूर्वोक्त तीनों नियमोंका पालन हुआ तो मनुष्योंकी उन्नति निःसंदेह होगी । पाठक इन नियमोंका अवश्य स्मरण रहें ।

समृद्धि होनेके लिये रसदार धान्यकी विपुलता अपने पास अवश्य होनी चाहिये, यह भाव विशेष दृढ करनेके लिये वस्तुयुक्त मंत्रमें 'हजारों प्रकारकी मधुर रसघातोंसे युक्त अक्षय धान्यका संग्रह' अपने पास रखनेका उपदेश किया है । यह विशेष ही महत्त्वका उपदेश है । इस प्रकार धनधान्यकी विपुलता होनेपर स्वार्थ उत्पन्न होगा और उस स्वार्थके कारण आत्मोन्नति होना सर्वथा असंभव है । इसलिये धर्मयुक्त मंत्रमें दान देनेके समय विशेष उदारता रखनेका भी उपदेश किया है—

शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त सं किर :

(सू. २४, मं. ५)

'घी हाथोंवाला होकर कमाई करो, और हजार हाथोंवाला बनकर उसका दान करो ।' यह उपदेश द्रष्टव्य मनुष्यको

अपने हृदयमें स्थिर करना अत्यन्त आवश्यक है । इस उदार भावके बिना मनुष्यकी उन्नति अशुभव है । इसके पश्चात् वेद कहता है कि—

श्रुतस्य कार्यस्य चेद्द स्फार्ति समावह ।

(सू. २४, मं. ५)

'इस प्रकार अपने कर्तव्यकर्मकी यहाँ उन्नति करो ।' जो पूर्वोक्त स्थानमें उन्नतिके नियम बन्दे हैं, उन नियमोंका पालन करने द्वारा अपने कर्तव्यके क्षेत्रका विस्तार करो, यह उपदेश मनन करने योग्य है । ' (कार्यस्य स्फार्ति समावह) ' ये शब्द द्रष्टव्य मनुष्यके कार्यक्षेत्रके विषयमें कहे हैं, ब्राह्मण अपना ज्ञान विषयक कार्यक्षेत्र बढावे, क्षत्रिय अपना प्रभारक्षण रूप कार्यक्षेत्र बढावे, वैश्य कृषि, गौरक्ष, वाणिज्य आदिमें अपने कार्यक्षेत्रकी श्रद्धा करे, शूद्र अपने कारीगरीके कार्य बढावे और निवाद अपने जो बन्दरखा विषयक कर्तव्य हैं उनको श्रद्धा करे । इस प्रकार सबकी उन्नति हुई, तो संपूर्ण वैश्वकर्ताका अर्थात् सब राष्ट्रका सुख बढ सकता है और सबकी सामुदायिक उन्नति हो सकती है । द्रष्टव्यकी अपनी (स्फार्ति) बढती, उन्नति, श्रद्धा, समृद्धि करनेके लिये अवश्य ही कठिबद्ध होना चाहिये । अपनी संपूर्ण शक्तियोंका विकास अवश्य करना चाहिये ।

मुख्य यो साधन ।

समृद्धि प्राप्त करनेके दो मुख्य साधन हैं । 'उपोहः' और 'समूहः' इनके विशेष अर्थ देखिये—

१ उपोहः— (उप-ऊहः) इकट्ठा करना, संग्रह करना, एक स्थानपर लाकर रखना ।

२ समूहः— समुदायोंमें बाँटकर वर्गीकरण करना ।

पहली बात है संग्रह करना और दूसरी बात है उन संग्रहित वस्तुओंके वर्गीकरण द्वारा समुचित रीतिसे व्यवस्थित रखना । इच्छे वाञ्छ बनता और बढता है । इच्छ-व्यवस्थितियोंका संग्रह करने और उनका वर्गीकरण करनेसे वनस्पतिशास्त्रकी उत्पत्ति हुई है । वस्तुसंग्रहालयमें देखिये, वहाँ पदार्थोंका संग्रह किया जाता है और उनको वर्गोंमें व्यवस्थित रखा जाता है । यदि ऐसा न किया जाय, तो वस्तुसंग्रहालयमें बिलकुल लाभ नहीं होगा । इसी प्रकार अपने घरमें वस्तुओंका संग्रह करना चाहिये और उनको वर्गोंमें अपने अपने सुयोग्य क्रमपूर्वक व्यवस्थासे रखना चाहिये । तभी उन्नति या समृद्धि हो सकती है ।

सप्तम मंत्रमें 'उपोहः (संग्रह) और समूहः (समूहोंमें वर्गीकरण करना)' ये दो बातें समृद्धिकी साधक करके बड़ी

है । यह बहुत ही महत्त्वका विषय है, इसलिये पाठक इसका मनन करें और अपने जीवनभर लाभ देनेवाला यह उपम उपदेश है यह जानकर इससे बहुत लाभ उठावें ।

संग्रह और वर्गीकरण उपातिके साधक हैं, इस विषयमें सभ्य मंत्रका कथन ही स्पष्ट है—

तौ इह स्फार्ति वा यदताम् ।

आशितं बहु भूमानम् ॥ (सू. २४, मं. ७)

‘ वे [अर्थात् संग्रह और वर्गीकरण ये] दोनों इस संशारमें

(स्फार्ति) सम्पत्तिको देते हैं और (भूमानं) विपुल धन धरणा विशेष मशरव देते हैं । ’

जिसको सशुद्धि और धन चाहिये वे इन गुणोंको धरनावे और इनसे अपना लाभ सिद्ध करें । जो लोग अभ्युदय प्राप्त करनेके इच्छुक हैं उनको इस सूक्तका बहुत मनन करना चाहिये । इससे कम इस सूक्तमें कथित जो महत्त्वपूर्ण उपदेश है, उनको कभी भूलना उचित नहीं है । जो पाठक इस सूक्तका मनन करेंगे वे अपने अभ्युदयका मार्ग इस सूक्तके विचारसे निःसंदेह जान सकते हैं ।

काम का बाण ।

(२५)

(ऋषिः — धृगुः । देवता — मित्रावरुणौ, कामेपुः)

उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा घृयाः शयने स्वे । इपुः कामस्य या भीमा तथा विष्यामि त्वा हृदि ॥ १ ॥
आधीर्पणां कामश्चक्ष्यामिर्षु संकल्पकुर्मलाम् । तां सुसंनतां कृत्वा कामो विष्यतु त्वा हृदि ॥ २ ॥
या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसंनता । प्राचीनपश्चा व्योषिषि तथा विष्यामि त्वा हृदि ॥ ३ ॥

अर्थ— (उत्तुदः त्वा उत्तुदतु) हिलानेवाला काम तुझे हिला देवे । (स्वे शयने मा घृयाः) अपने घयनमें मत उठ । (कामस्य या भीमा इपुः) कामका जो भयानक बाण है (तथा त्वा हृदि विष्यामि) उससे तुझको हृदयमें वेधता हूँ ॥ १ ॥

(आधीर्-पणां) जिसपर मानसिक पीडा रुपी पंख लगे हैं, (काम-शक्त्यां) कामेच्छा रुपी बाणका अप्रमाण बर्षा लगाया है, (संकल्प-कुर्मलाम्) संकल्प रुपी दण्डा बर्षा लगा दे, (तां) उस (इपुं) बाणको (सुसंनतां कृत्वा) ठीक प्रकार लक्ष्यपर धरके (कामः हृदि त्वा विष्यतु) काम हृदयमें तुझको वेध करे ॥ २ ॥

(कामस्य सुसंनता) कामका ठीक लक्ष्यपर बरसाया हुआ (प्राचीन-पश्चा वि-ज्योषा) धीरे पशुवाला और विषय जलानेवाला (या इपुः प्लीहानं शोषयति) जो बाण तिथीको सुखा देता है, (तथा त्वा हृदि विष्यामि) उससे तुझको हृदयमें वेधता हूँ ॥ ३ ॥

भाषार्थ— हे स्त्री ! उसको हिलानेवाला काम तेरे अन्तःकरणको भी हिला देवे । कामका बाण तेरे हृदयका वेध करे जिससे निद्रा हूँ वू सुखसे निद्रा लेनेमें भी असमर्थ हो ॥ १ ॥

इस कामके बाणको मानसिक पीडा रुपी पंख लगे हैं, इसके आगे कामविकार रुपी लोहेका तीक्ष्ण शस्त्र लगाया है, उससे पीठे मनका संकल्प रुपी दण्डा जोड़ दिया है, इस प्रकारके बाणको जति तीक्ष्ण बनाकर काम तेरे हृदयका वेध करे ॥ २ ॥

यह कामका बाण लक्ष्य लगाता है, क्योंकि इसपर मानसिक व्यथाके पर लगे हैं, और साथ ही यह विशेष रीतिसे जलाने-वाला भी है और यह तिथीको निश्चकृत सुखा देता है, इससे मैं तुझे वेधता हूँ ॥ ३ ॥

शुचा विद्वा व्योषया शुष्कास्यामि सर्प मा । मृदुनिर्मन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥ ४ ॥

आजमि त्वार्जन्या परिं मातुरथो पितुः । यथा मम क्रतावसो मम चिचमुपायसि ॥ ५ ॥

व्यस्ये मित्रावरुणो हृदश्चित्तान्यस्यतम् । अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृशुतं वशे ॥ ६ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

मर्थ— (व्योषया) विशेष दाह करनेवाले (शुचा) शोक बढानेवाले बाणके द्वारा (विद्वा) विधी हुई तु (शुष्कास्या) सुखको सुखानेवाले (मा अभिसर्प) मेरी ओर चली आ । और (मृदुः) कोमल, (निमन्युः) कोषाहित, (प्रियवादिनी) सीठा भाषण करनेवाली, (अनुव्रता) अनुकूल कर्म करनेवाली, (केवली) केवल मेरी ही इच्छा करनेवाली हो ॥ ४ ॥

(त्वा मा-अजम्या) तुझको बेवशे (परि मातुः अथो पितुः) माता और पिताके पाछे (मा अजामि) लाता हूँ । (यथा मम क्रतौ असः) जिससे मेरे अनुकूल कर्ममें तू रह और (मम चित्तं उपायसि) मेरे चित्तके अनुकूल चल ॥ ५ ॥

हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! (अस्यै) इसके लिये (हृदः चित्तानि व्यस्यतं) हृदयके विचारोंको विशेष प्रकार प्रेरित करो । (अथ एनां अक्रतुं कृत्वा) और इसके कर्महीन बनाकर (मम एव वशे कृशुतं) मेरे ही वशमें करो ॥ ६ ॥

भाषार्थ— यह कामका बाण विशेष जलानेवाला, शोक बढानेवाला और सुखको सुखानेवाला है, हे स्त्री ! इसके विधी हुई तू मेरे पाद आ और कोमल, कोषाहित, मधुरभाषिणी, अनुकूल भाषण करनेवाली और केवल सुझमें ही अनुराग होकर मेरे साथ रह ॥ ४ ॥

हे स्त्री ! माता और पिताके अलग करके मैंने तुझे यहाँ लाया है, इसलिये तू मेरे अनुकूल कर्म करनेवाली और मेरे विचारोंके अनुकूल विचार करनेवाली बनकर यहाँ रह ॥ ५ ॥

हे मित्र और हे वरुण ! इस स्त्रीके हृदयके विचारोंमें विशेष प्रेरणा करो, जिससे यह मेरे अनुकूल कर्मके विषय दूसरे किसी कर्ममें इसके प्रेम न रहे, तथा यह धर्मपत्नी मेरे ही वशमें रहे ॥ ६ ॥

विरह परिणामी अलंकार ।

'विरह परिणामी अलंकार' का उदाहरण यह सूक्त है । 'विरह परिणाम' जिसका होता है, जो बोला जाता है उसके लता परिणाम जिससे निकलता है, बोले जानेवाले शब्दोंका स्पष्टार्थ जो हो उसके विरह आशयका भाव जिसके अन्दर हो, उसको 'विरह परिणामी अलंकार' कहते हैं । इसके एक दो उदाहरण देखिये—

(१) 'हृदयको जलानेवाली, धनका नाश करनेवाली, कुटुंबमें कलह उत्पन्न करनेवाली और शरीरको सुखानेवाली शराय पिबो ।' 'इस वाक्यमें यद्यपि शराय पिबो करके कहा है तथापि शरायस्य दुर्गुण वर्णन इतने स्पष्ट शब्दोंसे किया है कि उससे सुननेवालेकी प्रवृत्ति न पीनेकी ओर ही होती है ।

(२) 'जिससे शरीर पुष्ट होता है और तृप्त्यर्थ पालन होनेके कारण आरोग्य, बल और दीर्घ जीवन निःसंदेह प्राप्त होता है, इस प्रकारका आसन प्राणायामादिका योगसाधन कभी भूलकर भी मत करो ।' 'इसमें यद्यपि योगसाधन करनेका स्पष्ट निवेद्य है, तथापि सुननेवालेके मनपर योगसाधन अवश्य करना चाहिये यह भाव स्थिर हो जाता है ।

ये भाषाके काव्यालंकार हैं, योग्य समयमें ये प्रयुक्त किये जाय तो इनका सुपरिणाम ही होता है । अब इस सूक्तका कथन देखिये—

'हे स्त्री ! कामके बाणसे मैं तेरे हृदयको वेधता हूँ, इस कामके बाणको 'मानसिक व्याधा' के सुन्दर पंख लगे हैं, इसमें जो लोहिका अग्रभाग है वह 'मानसिक विचार' का शान्य ही

है, मनके 'कुसंकलों' को लकड़ोंसे इस बाणको बनाया है, यह बड़ा 'बलानेवाला' है, यह लगनेसे मुझ सुख जाता है, शोहा सुख जाता है, हृदय जल जाता है, इस प्रकारके कामके विष्वक्क बाणसे मैं तेरा वेध करता हूँ, इससे तू विद हो जाओ ।'

इसमें यद्यपि 'कामके बाणसे विद हो जाओ' ऐसा कहा है, तथापि इस कामके बाणका स्वरूप इतना भयंकर वर्णन किया है, कि जिसका परिणाम सुननेवालेके ऊपर 'इस कामके बाणसे अपना बचाव करने' ही और हो होगा । इस सूक्तमें जो 'कामके बाण' का वर्णन किया है, वे शब्द देखिये—

कामके बाण ।

- १ उल्लुद् = म्या देनेवाला, शरीरको काट काट कर पीटा देनेवाला । (मं. १)
- २ भीमा ह्युः = जिसका भयंकर परिणाम होता है ऐसा मदानक बाण । (मं. १)
- ३ धापी-पर्जा = इस बाणको मानसिक ब्यथाके पंख लगे हैं । (मं. २)
- ४ काम-शल्या = क्षायकी प्रबल इच्छा रूपी, अथवा कामविचार रूपी शल्य जिसमें लगा है । बाणका जो अप्रमाणमें लोहका घाव होता है वह वही कामविचार है । (मं. २)
- ५ सङ्कल्प-कुवमला = मनके कामविषयक संकल्प रूपी लकड़ोंसे यह बाण बनाया गया है । (मं. २)
- ६ प्राचीन-पक्षा = इसको जो मानसिक ब्यथाके पंख लगे हैं वे ऐसे लगे हैं कि त्रिनके कारण यह बाण शीघ्री गतिसे और अतिविषय जाता है । (मं. ३)
- ७ शुष्वा (शुक्) = शोक उत्पन्न करनेवाला । (मं. ४)
- ८ भ्योषा (वि-भ्योषा) = विरोध रीतिसे जलानेवाला । (मं. १-४)
- ९ शुष्कास्या (शुष्क-आस्या) = मुझको सुखानेवाला, मुझको म्थान करनेवाला । (मं. ४)
- १० शीघ्रानं शोषयति = शीघ्रको सुखा देता है । शरीरमें शीघ्र रक्तकी वृद्धि करने द्वारा शरीर स्वास्थ्य रखती है, ऐसे मत्पर्यपूर्ण अवयवका नाम कामके बाणसे हो जाता है । इतनी मारकता इस मदनके बाणमें है । (मं. ३)
- ११ हृदि धिष्यति = इसका वेध हृदयमें होता है, इससे हृदय विदोष होता जाता है, हृदयकी उत्पत्ति कामके बढनेसे होती है । (मं. १-३)

कामके बाणका यह भयंकर वर्णन इन शब्दों द्वारा इस सूक्तमें किया है । 'हे श्री ! ऐसे भयंकर बाणसे मैं तेरा वेध करता हूँ ।' ऐसा एक पुरुष अपनी धर्मपत्नीसे कहता है । पति भी जानता है कि जिस घरसे वेध करना है वह कामका घर इतना भयंकर विषाक्त है । इस बाणसे न केवल विद होनेवाला ही कट जाता है अपितु वेध करनेवाला भी कट जाता है, कर्दाद यदि पतिने यह कामका घर अपनी धर्मपत्नीपर बतथा टो वह जैसा धर्मपत्नीको काटता है उन्ही प्रकार पतिको भी काटता है और पृथक्त्त प्रकार दुष्परिणाम करता है । यह बात स्वयं पति जानता है तथापि पति कहता है कि 'हे श्री ! ऐसे बाणसे मैं तेरा वेध करता हूँ ।'

यह पतिका भाषण उचची धर्मपत्नी सुनती है, कर्दाद धर्मपत्नी भी इस कामबाणकी विष्वक्क शक्तिकी अच्छी प्रकार जानती है, और यदि कोई श्री न जानती हो तो इन शब्दोंद्वारा जान जायगी कि यह कामभ्यवहार कितना घातक है । इतना ज्ञान होनेके पश्चात् वह धर्मपत्नी स्वयं अपने पतिसे कहेगी, कि 'हे प्राणदाय ! आज ऐसे घातक कर्ममें प्रवृत्त न हुआये ।' जो कर्म करना है उसकी मदानक घातकताका अनुभव करनेके पश्चात् वह कर्म अधिक नहीं हो सकता, जितना आवश्यक है उतना ही होगा, कमी अधिक नहीं होगा ।

पतिपत्नीका एक मत ।

इस सूक्तमें वही बात पति अपनी धर्मपत्नीसे कहता है । 'यह धर्मपत्नी अपने मातापिताके घरको छोड़कर पतिके घर पतिके साथ रहने आयी है ।' (देवी मं. ५) धर्मपत्नी उत्पत्नी है, इस आनुमें मनका संयम करना बड़ा कठिन कार्य होता है । तरुण भोग भोगनेके इच्छुक होती है, परिमालन रुचि नहीं रख सकती । केवल भोग भोगनेके इच्छुक रहते हैं, परंतु यह काम ऐसा है कि—

समुद्र इव हि कामः । नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्य ॥

कामः पशुः ॥

'समुद्रके समान काम है, क्योंकि जैसा समुद्रका अन्त नहीं होता है वैसे ही कामका भी अन्त नहीं होता है ।' तथा 'काम ही पशु है ।'

यह काम भोग भोगनेसे कम नहीं होता है, प्रसृत बढता जाता है । यह पशु होनेसे इसके उत्पादक पशुसुर होता है, जो इस कामरूपी पशुको अपने अन्दर बढाते हैं, वे मानो पशु-भावको अपने अन्दर बढाते हैं । जिनके अन्दर यह पशुभाव

ठि. भा. २।१।१६

प्राणमि व. ४

बड़ा हो, उनको ' मनुष्य ' कहना कठिन हो जाता है। क्योंकि मनन करनेवालेका नाम मनुष्य होता है और मनकी मनन-शक्ति तो कमसे नष्ट हो जाती है। काम मनमें ही उत्पन्न हो जाता है और वर्षा बढ़ता हुआ मननशक्तिको ही नष्ट कर देता है। इसी कारण ताह्यमें यदि मनके अन्दर काम बढ़ गया तो वह मनुष्य विवेकशून्य हो जाता है।

अब अपने प्रस्तुत विषयों और देखिये। धर्मपत्नी दूसरे बरसे लायी गई है। माताको और पिताको, अपने भाइयों और अम्मेके संबंधियोंको इस धीने छोट दिया है और पतिको अपने ठन और मनका स्वामी माना है। 'इस प्रकार स्त्रीके पतिके पास आकर रहना एक प्रकारसे पतिके अन्दरकी जिम्मेवारी बढ़ानेवाला है। पतिको यह अपना उत्तरदायित्व ध्यानमें रखना चाहिये।

अब देखिये, एक प्रकार अपने माता-पिताओंको छोड़कर स्त्री पतिके घर आ गई, और यदि ताह्यवास्तविके शरीरधर्मके अनुशार उसको योग्य सुख प्राप्त न हुई, तो उसका दिल भङ्ग जानकी भी संभावना है। पति क्षमदम आदि संयम और मन्ना-चर्य वालन करने लगेगा और गृहस्थधर्म प्राप्त अपने स्त्रीविवशक कर्तव्यों को न करेगा, तो स्त्रीके मनकी कितनी अधोगति होना संभव है, इसका विचार पाठक करे और पतिका उत्तरदायित्व जाने।

धमदम, मन्नाचर्य आदि सब उत्तम है, मनु-भरवक, विकास करनेवाला है, यह सब सत्य है, परंतु विवाहित हो जानेपर स्त्रीके मनोपमका भी विचार करना चाहिये। यह कर्तव्य है। इस कर्तव्यसे भीयं हानिद्वारा मोड़ा पतन होता है, तथापि यह कर्तव्य करना ही चाहिये। स्त्रीने मातापिता छोड़नेका बका त्याग किया है। यह स्त्रीका यज्ञ है। पतिको भी अबल मन्नाचर्य की छोड़कर गृहस्थी धर्मका चतुःमन्नाचर्यका स्वीकार करके अपनी औरका त्याग करना चाहिये। यहाँ उसका यह है। ऐसा पतिने न किया तो वह स्त्रीको असन्मार्गमें श्रुत्त करनेका भागी बनेगा।

इस सूक्तमें जो पति अपनी धर्मपत्नीका हृदय कामके अमानक बाणसे विद्ध करना चाहता है, वह इसी हेतुसे चाहता है। इसलिये इस कामके बाणकी भयानक विषयक शक्तिका वर्णन करता हुआ पति स्त्रीसे कहता है कि ऐसे भयानक बाणसे मैं तेरे विवाहको अपने कर्तव्यपालन करनेके हेतुसे ही वेध करता हूँ। इस वर्णनको सुनकर स्त्री भी समझे कि यह जो कामोप-मोषका विचार मनमें उत्पन्न हुआ है, यदि इस उपमोषके

लिये मनको खुला छोट दिया जाय, तो कितनी ममानक अवस्था बन जायगी।

इस विचारसे उस स्त्रीके मनमें भी कामको शमन करनेकी लहर उठ सकती है और यदि पतिने इस सूक्तके बतये मार्गसे अपने स्त्रीके मनमें यह संयमकी लहर बढ़ायी, तो अन्तमें जाकर दोनोंका कल्याण हो जाता है।

परन्तु यदि पतिने उबरदस्तसे स्त्रीको कामप्रवृत्तिसे रोक रखा, तो उस स्त्रीके अन्दरके कामविषयक संकल्प बहुत बढ़ जायगे, और अन्तमें उसके अन्ध-पातके विषयमें कोई संदेह ही नहीं रहेगा। ऐसा अन्ध-पात न हो इच्छित्ति श्रुत्तगामी होने आदि परिमित गृहस्थधर्म वालन करनेके नियमोंकी प्रवृत्ति हुई है। साय ही साय कामकी भयानक विधातकताका ही विचार होता रहेगा, तो उसके बचनेकी ओर हरएक स्त्रीपुरुषकी प्रवृत्ति होगी। इसलिये पति स्वयं संयम करना चाहता है और अपनी धर्मपत्नीको अपने अनुकूल धर्मोचरण करनेवाली भी बनाना चाहता है। यह करनेके लिये पति स्वयं सुविचारोंकी जाग्रति करता है और देवीकी प्रार्थना द्वारा जो देवी शक्तिकी सहायता लेना इच्छुक है। इसलिये यह संयम मित्रावरुण देवताकी प्रार्थना की गई है कि ' हे देवी ! इस धर्मपत्नीको मेरे अनुकूल रहने और मेरे अनुकूल धर्मोचरण करनेकी शक्ति दामिये। इस धर्मपत्नीके मनके विचारोंमें ऐसा परिवर्तन कर्तव्य कि वह दूसरा कोई विचार मनमें न लाकर मेरे अनुकूल ही धर्मोचरण करती रहे, दूसरे किसी कर्ममें अपना मन न दोड़े। ' (मं. ६)

धर्मपतिको अपनी धर्मपत्नीके विषयमें यह एकादा ध्यान करना आवश्यक ही है। पतिको उचित है कि वह अपनी धर्म-पत्नीको सज्जु रहता हुआ उसको संयमके मार्गसे चलावे। धर्मपत्नीके पुत्र इसी सूक्तमें वर्णन किये हैं—

धर्मपत्नीके गुण ।

१ मृदुः = नरम स्वभाववाली, शांत स्वभाववाली। (मं. ४)

२ निमग्न्युः = श्रेष्ठ न करनेवाली, शान्तिसे कार्य करनेवाली। (मं. ४)

३ प्रियवादिनी = मधुर माधुर्य करनेवाली। (मं. ४)

४ अनुव्रता = पतिके अनुकूल कर्म करनेवाली। (मं. ४)

५ (भ्रम) धरो = पतिके वशमें रहनेवाली, पतिकी आशामें रहनेवाली। (मं. ७)

६ केवली = केवल पतिकी ही बनकर रहनेवाली। (मं. ४)

७ (मम) चित्तं उपायासि = पतिके चित्तके समान अपना चित्त बननेवाली । (मं. ५)

८ अक्रतुः = पतिके विरुद्ध कोई कर्म न करनेवाली । (मं. ६)

९ (मम) क्रतौ व्यसः = पतिके उयोगमें सहायता देनेवाली । (मं. ५)

ये शब्द धर्मपत्नीके कर्तव्य बता रहे हैं । पाठक इन शब्दोंका विचार करें और आर्यस्त्रियां इस अमूल्य उपदेशको अपनीनिका यत्न करें ।

गृहस्थधर्म ।

इस प्रकारकी अनुकूल कर्म करनेवाली धर्मपत्नीको पति कहता है, कि ' हे स्त्री ! मैं तेरा हृदयको ऐसे भयंकर कामके बाधसे बंधता हूँ । ' पति आलसा है कि यह कामका बाण बड़ा घातक है, ब्रह्मचर्यमें विघ्न होनेके कारण बड़ा हानिकारक है । धर्मपत्नी पतिके अनुकूल चलनेवाली होनेके कारण वह भी

आनती है कि यह कामका बाण तपस्यामें विघ्न करनेवाला है । तथापि दोनों ' गृहस्थो धर्म ' के संबद्ध हैं इसलिये संतानोत्पत्ति करनेके लिये बाधित हैं । अतः दोनों गृहस्थधर्मके संबद्ध होती हैं । धर्मनियमानुकूल शत्रुगामी होकर परमें संघटा बीजरूप वीर बालक उत्पन्न करती है और पश्चात् अपनी तपस्यामें लग जाती है ।

पाठक इस दृष्टिसे विचार करें और ॥१॥ सूक्तका महत्त्वपूर्ण उपदेश जानें । ॥२॥ पंचम अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । २१ वें सूक्तमें ' कामामिका कामन, ' २२ वें सूक्तमें ' वर्षद्वीकी प्राप्ति, ' २३ वें सूक्तमें ' बंध्यात्व वीथ निवारणपूर्वक वीर बालक उत्पन्न करनेकी विद्या, ' २४ वें सूक्तमें ' समृद्धिकी प्राप्ति करना, ' और इस २५ वें सूक्तमें ' गृहस्थधर्मके नियमानुकूल रहकर गृहस्थ-धर्मका पालन करना ' ये विषय हैं । इनका परस्पर संबंध स्पष्ट है ।

॥ यहाँ पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥



उन्नति की दिशा ।

(१६)

(ऋषिः — अथर्षा । देवता — अग्न्यादयः, नानादेवता)

उ॒त्त॑र्या॒स्य प्रा॒च्यां दि॒शि हे॒तयो॒ नाम दे॒वास्तेषां॑ चो॒ अ॒ग्नि॒रिष॑वः । ते नो॑ मृ॒दत॒ ते नोऽर्षि॑ ब्रू॒त ते॒भ्यो॑ चो॒ नम॑स्ते॒भ्यो॑ च॒ स्वाहा॑	॥ १ ॥
उ॒त्त॑र्या॒स्य दक्षि॑णायां दि॒श्य वि॒ष्पवो॑ नाम दे॒वास्तेषां॑ च॒ काम॑ इ॒षवः॑ । ते नो॑ मृ॒दत॒ ते नोऽर्षि॑ ब्रू॒त ते॒भ्यो॑ चो॒ नम॑स्ते॒भ्यो॑ च॒ स्वाहा॑	॥ २ ॥
उ॒त्त॑र्या॒स्य प्र॒तीच्यां॑ दि॒शि वै॒राजा॑ नाम दे॒वास्तेषां॑ च॒ आप॑ इ॒षवः॑ । ते नो॑ मृ॒दत॒ ते नोऽर्षि॑ ब्रू॒त ते॒भ्यो॑ चो॒ नम॑स्ते॒भ्यो॑ च॒ स्वाहा॑	॥ ३ ॥
उ॒त्त॑र्या॒स्योदी॑च्यां दि॒शि प्र॒विष्प॑न्तो नाम दे॒वास्तेषां॑ चो॒ वात॑ इ॒षवः॑ । ते नो॑ मृ॒दत॒ ते नोऽर्षि॑ ब्रू॒त ते॒भ्यो॑ चो॒ नम॑स्ते॒भ्यो॑ च॒ स्वाहा॑	॥ ४ ॥
उ॒त्त॑र्या॒स्य ध्रु॒वायां॑ दि॒शि नि॒लिम्बा॑ नाम दे॒वास्तेषां॑ च॒ औष॑धीरिष॑वः । ते नो॑ मृ॒दत॒ ते नोऽर्षि॑ ब्रू॒त ते॒भ्यो॑ चो॒ नम॑स्ते॒भ्यो॑ च॒ स्वाहा॑	॥ ५ ॥

अर्थ— (ये अस्यां प्राच्यां दिशि) जो तुम इस पूर्व दिशामें (हेतयः नाम देवाः) ब्रह्म नामवाले देव हो, (तेषां च) उन तुम्हारा (अग्निः इषवः) अग्नि बाण है । (ते नः मृदत) वे तुम हमें सुखी करो, (ते नः अघिब्रूत) वे तुम हमें उपदेश करो । (तेभ्यः च नमः) उन तुम्हारे लिये हमारा नमन होवे, (तेभ्यः स्वाहा) उन तुम्हारे लिये हम अपना समर्पण करते हैं ॥ १ ॥

जो तुम इत्त (दक्षिणायां दिशि) दक्षिण दिशामें (अविष्पन्तो नाम देवाः) रक्षा करनेवाले इस नामके देव हो, (तेषां च) काम इषवः) उन तुम्हारा काम बाण है । वे तुम हमें सुखी करो और हमें उपदेश करो, उन तुम्हारे लिये हमारा नमन होवे और तुम्हारे लिये हम अपना समर्पण करते हैं ॥ २ ॥

जो तुम इत्त (प्रतीच्यां दिशि) पश्चिम दिशामें (वैराजा नाम देवाः) विराज नामक देव हो, उन तुम्हारा (आपः इषवः) जल ही बाण है । वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो । तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ३ ॥

जो तुम इत्त (उदीच्यां दिशि) उत्तर दिशामें (प्रविष्पन्तः नाम देवाः) वेध करनेवाले इस नामके देव हो, उन तुम्हारा (वातः इषवः) वायु बाण है । वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो । तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ४ ॥

जो तुम इत्त (ध्रुवायां दिशि) ध्रुव दिशामें (निलिम्बा नाम देवाः) निलिम्ब नामक देव हो, उन तुम्हारा (औषधीः इषवः) औषधी बाण है । वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो । उन तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ५ ॥

येकुंसां स्योर्ध्वायां दिग्भ्यर्वस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः ।
ते नो मृदव ते नोऽर्षि ब्रूव तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा

॥ ६ ॥

अर्थ— जो तुम इस (ऊर्ध्वायां दिशि) ऊर्ध्व दिशामें (अवस्वन्तः नाम देवाः) रसक नामवले जो देव हो, उन तुम्हारा (बृहस्पतिः इषवः) ज्ञानी - तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो । उन तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ६ ॥

भाषार्थ— पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुव (पृथिवी) और ऊर्ध्व (आकाश) ये छः दिशाएँ हैं, इन छः दिशाओंमें क्रमशः (द्वेति-शस्त्रास्त्र) वज्र; रक्षाको इच्छा करनेवाले स्वर्गदेवक; (वि-राज्) राजराहित अवस्था अर्थात् प्रजापति; वैश्वकता; लेन करनेवाले देव; और उपदेशक इनकी प्रधानता है । ये जनताको उपदेश करते हैं और उनकी रक्षा करते हैं, इस लिये जनता भी उनका स्तुति करते हैं और उनके लिये आत्मनर्शन करते हैं ॥ १-६ ॥

इसी प्रकारका पंहु कुल अथर्व आश्विन्यक करनेवाला आगेका सूक्त है और दोनोंका अत्यंत घनिष्ठ संबंध है, इसलिये उसका अर्थ पहले देखेंगे और पश्चात् दोनोंका इच्छा विचार करेंगे ।

अभ्युदय की दिशा ।

(१७)

(प्रायः — अथर्वा । देवता — अग्न्यादयः, मानादेवता)

प्राची दिग्भिरधिपतिरसितो रसितादित्या इषवः ।

तेभ्यो नमोऽर्षिपतिभ्यो नमो रसितभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो जस्तु ।

योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः

॥ १ ॥

अर्थ— (प्राची दिक्) उदयकी दिशाका (अग्निः अधिपतिः) वेगस्वी स्वामी, (अ-सितः रसिता) रचन-रहित रसक और (आदित्याः इषवः) प्रकाशरूप शस्त्र हैं । (तेभ्यः) उन (अधिपतिभ्यः) वेगस्वी स्वामियोंका ही (नमः) मेरा नमन है । उन (रसितभ्यः नमः) बंधनरहित शरस्रकोंके लिये ही हमारा आदर है । उन (इषुभ्यः नमः) प्रकाशके शस्त्रोंके सामने ही हमारी नम्रता रहे । (यः) जो अकेला (अस्मान्) हम सब आत्सर्वको (द्वेष्टि) द्वेष करता है और (यं) जिस अकेले दुष्टका (वयं) हम सब धार्मिक पुरुष (द्विष्मः) द्वेष करते हैं (तं) उस दुष्टको हम सब (वः) आप सब सज्जनोंके (जम्भे) न्यायके जबदेमें (दध्मः) धर देते हैं ॥ १ ॥

भाषार्थ— प्राची दिशा अभ्युदय, उदय और उन्नतिकी सूचक है । पूर्व, चंद्र, नक्षत्र आदि सब दिग्भ्य पदार्थोंका उदय और उन्नति इसी दिशाके होती है और उदयके पश्चात् उनको पूर्ण प्रकाशकी अवस्था प्राप्त होती है । इसलिये सबनुच यह प्रतीकी दिशा है । जिस प्रकार इस उदयकी दिशासे सबका उदय और वर्धन हो रहा है वही प्रकार हम सब मनुष्योंका अभ्युदय और संवर्धन होना चाहिए । यह पूर्व दिशा हम सब मनुष्योंके उदय प्राप्त करनेकी सूचना दे रही है । इस दिशाके अनुसार हम सबको मिलकर अभ्युदयकी तैयारी करनी चाहिए । इस सूचना और शिक्षाका ग्रहण करके मैं अपने और जनताके अभ्युदयके लिये अवश्य यत्न करूँगा । उदयकी दिशाका (अग्निः) अग्नी, ज्ञानी और वज्र अधिपति है । उदयका मार्ग ज्ञानी उपदेशकोंके द्वारा ही ज्ञत हो सकता है, इसलिये हम सब लोक ज्ञानी उपदेशकोंके पास आकर आणितिके साथ उनका उपदेश ग्रहण करेंगे । अब अग्निका समय नहीं है । उठिए, जाणितिका समय प्रारंभ हुआ है । बलिए, वेगस्वी ज्ञानसे युक्त पुरुके

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाङ्ग रक्षितान्नमिषवः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान्देष्टि यं वयं द्विमस्तं वो जर्मं दम्भः

॥ ३ ॥

उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षितान्निरिषवः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान्देष्टि यं वयं द्विमस्तं वो जर्मं दम्भः

॥ ४ ॥

अर्थ— (प्रतीची दिक्) पश्चिम दिशाका (चरुणः अधिपतिः) वर अर्थात् श्रेष्ठ अधिपति, (पूस्-आ-ङ्गा रक्षिता) स्वर्गमें उत्साह धारण करनेवाला संरक्षक और (अर्धं इषवः) अन्न इष्ट है । उन श्रेष्ठ अधिपतियोंके लिये, उन उत्साही संरक्षकोंके लिये, तथा सब अर्माष्ट अन्नके लिये हमारा आदर है । जो सबके साथ कलह करता है इच्छित्ये सब तद्र पुराण भिन्नको नहीं चाहते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके न्यायके बरहमें वर देते हैं ॥ ३ ॥

(उदीची दिक्) उत्तर दिशाका (सोमः अधिपतिः) शान्त अधिपति, (स्व-जः रक्षिता) स्वयंसेवक रक्षक और (अन्नानिः इषवः) विद्युत्तेजः इष्ट है । उन शान्त अधिपतियों, स्वयंसेवक संरक्षकों और तेजस्वी इष्टुओंके लिये हमारा नमन है । जो सबका द्वेष करता है और भिन्नका सब द्वेष करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके न्यायके बरहमें वर देते हैं ॥ ४ ॥

करनेवाले संरक्षक और उत्तम पितर वही होते हैं वही ही दाक्षिण्यका व्यवहार होता है । इसी प्रकारकी व्यवस्था स्थिर करनेका यत्न मैं अवश्य करूँगा । जो सबको हानि पहुंचाता है और भिन्नको सब समाप्त बुरा कहता है उसको उक्त अधिपति, संरक्षक और पितरोंके न्यायालयमें हम सब पहुंचाते हैं । वे ही उसके दोषका मयायोग्य विचार करें । हरएक मनुष्यको उचित है, कि वह धंधे मार्गसे बने और समाजकी उत्पत्तिके साथ अपनी उत्पत्तिका उत्तम प्रकारसे साधन करे ॥ ३ ॥

आधार्य—पश्चिम दिशा विभाज्यो दिशा है; क्योंकि सूर्य, चंद्र आदि सब दिग्भ्य ज्योतिषो इसी पश्चिम दिशामें जाकर ग्रह होती हैं और जगत्को अपना दैनिक कार्य समाप्त करनेके पश्चात् विधाम लेनेकी सूचना देती हैं । पूर्व दिशाद्वारा प्रकृतिरूप पुरुषार्थकी सूचना होगी थी, अब पश्चिम दिशासे ग्रह स्थानमें-प्रविष्ट होने, वही विधाति और शांति प्राप्त करने, अर्थात् निष्कारिण पुरुषार्थ धाम्य करनेकी सूचना मिली है । श्रेष्ठ उत्साही महात्मा पुरुष इस मार्गके क्रमशः अधिपति और संरक्षक हैं । विधाय और आत्मिका मुख्य साधन वहां अन्न है । श्रेष्ठ और उत्साही अधिपति और संरक्षकोंके लिये सबको कष्टकर करना उचित है । तथा अन्नकी और सम्मानकी दृष्टिसे देवता योग्य है । जो सबके मार्गमें विघ्न करता है इच्छित्ये भिन्नको कोई पाष करना नहीं चाहते उसको अधिपतियों और संरक्षकोंकी न्यायसभाके आधीन करना योग्य है । समाजके हितके लिये सबको उचित है, कि वे न्याया-शुधार हैं अपना सब बर्तव्य करें और किसीको उपद्रव न दें ॥ ३ ॥

उत्तर दिशा उत्तर अक्षर्याकी सूचना देती है । हरएक मनुष्यको अपनी अवस्था उत्तर बनानेका प्रयत्न हर समय करना चाहिये । इस उत्तर मार्गमें शांत स्वभावका अधिपत्य है, आत्मस्य छोड़कर सदा सिद्ध और उद्यत रहनेके धर्मसे इस पथपर चलनेवालोंका संरक्षण होता है । न्यायक उदार तेजस्वी स्वभावके द्वारा इस मार्गपरकी सब आपत्तियां पूर होती हैं । इच्छित्ये मैं इन शुष्णका धारण करूँगा और समाजके साथ अपनी अवस्था उत्तर बनानेका पुरुषार्थ अवश्य करूँगा । शांत स्वभाव धारण करनेवाले अधिपति, सदा उद्यत और सिद्ध संरक्षक ही सदा सम्मान करने योग्य हैं । साथ ही सर्वोपयोगी न्यायक तेजस्विताका आदर करना योग्य है । जो सबकी हानि करता है इच्छित्ये भिन्नका सब अजान निरादर करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके सम्युक्त सदा किया जाने । लोग ही स्वयं उसकी दंड न दें । तथा अधिपति निष्कारिताकी दृष्टिसे उसको योग्य न्याय दें । समाजकी उत्तर अक्षर्या बनानेके लिये उक्त प्रकारके स्वभाव धारण करना अर्थात् आवश्यक है ॥ ४ ॥

ध्रुवा दिग्बिष्णुार्षिपतिः कूलमार्षीवो रक्षिता वीरुध इष्ववः ।

तेभ्यो नमोऽर्धिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽसान्द्रेष्टि यं वयं द्विभस्तं वो जम्मे दध्मः

॥ ५ ॥

ऊर्ष्वा दिग्बृहस्पतिार्षिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षभिवधः ।

तेभ्यो नमोऽर्धिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽसान्द्रेष्टि यं वयं द्विभस्तं वो जम्मे दध्मः

॥ ६ ॥

अर्थ— (ध्रुवा दिग्) विष्वक् दिशाका (विष्णुः अर्धिपतिः) जवेठकर्ता अर्धिपति, (कूलमार्ष-कर्मास-मीधः रक्षिता) कर्म कर्ता संरक्षक और (वीरुधः इषवः) वनस्पतियों का है । इन सब अर्धिपतियों और रक्षकों लिये ही हमारा आर है । ६० ॥ ५ ॥

(ऊर्ष्वा-दिग्) ऊर्ष्व दिशाका (बृहस्पतिः अर्धिपतिः) आत्मज्ञानी स्वामी है, (श्वित्रः रक्षिता) पवित्र संरक्षक है और (वर्ष इषवः) अमृत अन्न इषु है । आत्मज्ञानी स्वामियोंका तथा पवित्र संरक्षकोंका ही सबको सम्मान करना योग्य है । बृह अमृत अन्नका ही सबको आदर करना चाहिये । ६० ॥ ६ ॥

आचार्य— ध्रुव दिशा स्थिरता, दृढता, आधार आदि गुण पूर्णोंकी सूचक है । अचलता दृढ़ करने और स्थिरता करनेके लिये ही सब धर्मके नियम हैं । उपमी और पुत्रधारी पुरुष यहाँ अर्धिपति और संरक्षक हैं । क्योंकि धर्मके ही अगच्छी स्थिति है, इसलिये धर्मके बिना किसीकी स्थिरता और दृढता हो नहीं सकती । यही कारण है कि इस दृढताके मार्गके उपमी और पुत्रधारी संरक्षक हैं । यहाँ औपनिषद् वनस्पतियोंका दोबानिवाहन द्वारा सहाय्य करती हैं । जो जो लोगोंको दृढ़ करनेवाले हैं वे सब इस मार्गके संरक्षक हैं । उपमी और पुत्रधारी अर्धिपति और संरक्षकोंका सम्मान सबको करना चाहिये । ६० ॥ ५ ॥

ऊर्ष्व दिशा आत्मिक उन्नतिका मार्ग सूचित करती है । सच्चा आत्मज्ञानी आत्त पुरुष ही इस मार्गका अर्धिपति और मार्गदर्शक है । जो अंतर्ज्ञान पवित्र होगा वह ही यहाँ संरक्षक हो सकता है । आत्मिक अनुभव और पवित्रताका यही स्वामित्व है । आत्मिक उन्नतिका मार्गका अवलंबन करनेके समय आत्मज्ञानी आत्त पुरुषके आधिपत्यमें तथा पवित्र धर्माचारी सत्पुरुषके संरक्षणमें रहते हुए ही इस मार्गका आक्रमण करनेसे इष्ट सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है । आत्मिक समुत्त अन्नका रक्षात्वाद लेनेका यही दीपनार्थ है । मैं इस मार्गका आक्रमण अवश्य ही करूँगा और तुमहेंका मार्ग भी यथाशक्ति सुगम करूँगा । मैं सच्चा ही उन्नत प्रकारके आत्मज्ञानी और धृढ धर्माचारी सत्पुरुषोंका सम्मान करूँगा । ६० ॥ ६ ॥

दिशाओंके वर्णनसे मानवी उन्नतिका तत्त्वज्ञान ।

उन्नतिके छः केन्द्र ।

‘सूक्तके’ छः मंत्रोंमें मानवी उन्नतिके छः केन्द्र छः दिशाओंके द्वारा सूचित किये हैं । (१) प्राची, (२) दक्षिणा, (३) उत्तरी, (४) उत्तरी, (५) ध्रुवा और (६) ऊर्ष्वा ये छः दिशाएं क्रमशः (१) प्रगति, (२) दक्षता, (३) निग्राम, (४) उन्नता, (५) स्थिरता और (६) आत्मिक

उन्नतिके भाव बता रही हैं, ऐसा जो उन्नत छः मंत्रोंद्वारा सूचित किया है, विशेष विचार करने योग्य है । सचासक इन दिशाओंमें होनेवाली नैसर्गिक घटनाओंका विचारही रहित देखे । इस सृष्टिके विविध घटनाओंकेद्वारा सर्वव्यापक परमात्मा प्रत्यक्ष उपदेश दे रहा है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करके सचासकोंके सृष्टिके और देखना आवश्यक है । जब भावको छोड़कर परमात्माके चिन्तनसे यह सृष्टि अंतर्गत ध्याता है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करनी चाहिये । क्योंकि ‘यह पूर्ण सृष्टि उस पूर्ण परमेश्वरके द्वारा ही उदयको प्राप्त होती है । और उस पूर्ण ईश्वरकी शक्ति ही इस सृष्टि द्वारा दिखाई दे रही है ।’ इस प्रकार

विचार विरार करके यदि उपासक एक प्रकर छः दिवाकों द्वारा अपनी उपासिका छः कृत्तिक संवत्सरे उच्यते तब तो स्नायि और स्नायकी उपासिका विरार और निश्चित माण्येका ज्ञान उनकी हो सकता है ।

इन केन्द्रोंका ज्ञान उत्तम पीठिसे होनेके लिये पूर्वोक्त वैदिक स्तोत्रोंमें कौटिल्य दिवाकोंके ज्ञानके कोष्टक यहाँ देते हैं और उच्यते स्तोत्रोक्तय नी काम्यकी दृष्टिसे उच्यते ही करते हैं—

दिवा कोष्टक ॥ १ ॥ [अथर्व. ३।२७।१-६]

दिवाः	आधिपतिः	रक्षिता	इषवः
प्राची	कृत्तिः	कृत्तिः	आदिष्ठाः
दक्षिणा	इन्द्रः	विराडिच्छा	विरारः
प्रतीची	वरुणः	पृथाङ्गः	अश्वन्
उदीची	सोमः	स्ववः	अशानिः
ध्रुवा	विष्णुः	कल्पाशमीरः	वीरवः
उर्वा	बृहस्पतिः	द्विनः	वर्षन्

इस सूक्तके मंत्रोंको देखनेसे इस कोष्टककी सिद्धि हो सकती है। अथर्ववेदमें अन्य स्थानोंमें कृत्ति हुर दिवा विषयक उक्त-कोका विचार करना है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

येऽस्यां स्य प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवा-
स्तेषां वो अग्निरिषवः । ते नो मृडत ते नोऽधि-
भूत तेष्यो वो नमस्तेभ्यो षः स्वाहा ॥ १ ॥
येऽस्यां स्य दक्षिणायां दिरपविष्यवो नाम
देवास्तेषां षः काम इषवः । ते नो ॥ २ ॥
येऽस्यां स्य प्रतीच्यां दिशि वैराज्जा नाम देवा-
स्तेषां ष आप इषवः । ते नो ॥ ३ ॥ येऽस्यां
स्योदीच्यां दिशि भविष्यन्तो नाम देवा-
स्तेषां वो वात इषवः । ते नो ॥ ४ ॥ येऽस्यां
स्य ध्रुवायां दिशि निळिष्वा नाम देवास्तेषां
ष ओषधीरिषवः । ते नो ॥ ५ ॥ येऽस्यां
स्योर्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो
बृहस्पतिरिषवः । ते नो ॥ ६ ॥

अथर्व. ३।२६।१-६

‘ प्राची आदि दिवाकोंमें हेतु आदि देव हैं और अग्नि आदि इषु हैं। ये ष (षः) हम सबको (मृडत) हड़को हरे, वे हम सबको, (अधिभूत) उच्यते हरे, उन सबको हमारा नमस्कार है, उनके लिये हमारा उपासक है ।’ यह इन मंत्रोंका भावार्थ है। अब इनका निश्चितकोष्टक बनता है—

दिवा कोष्टक ॥ २ ॥ [अथर्व. ३।२६।१-६]

दिवाः	देवाः	इषवः
प्राची	हेतवः	अग्निः
दक्षिणा	कृत्तिष्वाः	कामः
प्रतीची	वैराजः	आतः
उदीची	अधिष्वाः	वतः
ध्रुवा	निळिष्वाः	ओषधीः
उर्वा	कृत्तिष्वाः	बृहस्पतिः

पठिते कोष्टकको इस दिशोंके कोष्टकके एक दुष्टका कविरु । पठिते कोष्टकमें ‘ प्राची और कर्वा’ के ‘ अग्नि और बृहस्पति’ कविपति हैं, वे ही यहाँ ‘ इषु ’ बने हैं । ‘ ध्रुवा ’ दिशाके इषु पठिते कोष्टकमें ‘ अधिष्वाः ’ हैं और यहाँ ‘ ओषधी ’ हैं । इन दोनों उच्यते कर्वा एक ही हैं । ‘ प्रतीची ’ दिशाके इषु दोनों कोष्टकमें ‘ अश्व और आतः ’ हैं। उच्यतेक पारस्पर मिष्ट सम्बन्ध है । ‘ दक्षिण ’ दिशाके इषु दोनों कोष्टकमें ‘ विरार और कामः ’ हैं। कर्वाके उच्यते ही विद्वन् प्रक ही सकता है । ‘ उदीची ’ दिशाके इषु ‘ वात और अशानि ’ हैं। कर्वाके कर्वा विद्वन् है और उच्यते स्थान नमस्त्वान अर्थात् वादुष स्थान माना गया है। इच्छे पठकोंको पठ उच्यते कर्वा, कि केवल ‘ प्राची और कर्वा ’ दिशाओंके इषु बने हैं, इतना ही नहीं परन्तु पठिते कोष्टकमें भी कविपति वे ही उच्यते इषु बने हैं। अन्य दिशाओंके इषु कर्वा अथवा पारस्पर संबन्ध रखनेवाले हैं। अथर्ववेदके टीकाकारोंके २६ और २७ सूक्तोंके अन्तमें इतना भेद है। इस भेदके स्पष्ट होना है कि इषु, कविपति आदि शब्द वास्तविक नहीं हैं परंतु आलंकारिक हैं। अब शिः मंत्र देखिए—

प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रयंतं सान
त्रिवृत्सोमो वसन्त ऋतुर्ब्रह्म श्रविष्मन् ॥ १० ॥
दक्षिणामारोह त्रिवृत्त्वावतु बृहत्साम
पञ्चदश स्तोमो मीष्म ऋतुः क्षत्रं श्रविष्मन् ॥ ११ ॥
प्रतीचीमारोह जंगती त्वावतु वैरुं सान
सप्तदश स्तोमो षर्वा ऋतुर्विह श्रविष्मन् ॥ १२ ॥
उदीचीमारोहानुष्वावतु वैराजं
सामैकविंश स्तोमः अरदतुः फलं श्रविष्मन् ॥ १३ ॥
कर्वामारोह पंळिस्त्वावतु आश्वररैवते सानती
त्रिषवत्रयस्त्रिषो स्तोमी हेमन्तत्रिमारावृत्
षर्वा श्रविष्मन् ॥ १४ ॥

बहु. अ. १०

‘ प्राची आदि दिशाओंमें (ब्रह्म श्रविष्मन्) ज्ञान आदि शब्द हैं। इन मंत्रोंका स्तोत्रोक्तय निश्चितकोष्टक ही सकता है—

दिशा कोष्टक ॥ १ ॥ [वज्र. १-११०-१४]

दिशः	रक्षक छंदः	साम	स्तोमः	ऋतुः	गविणं धर्म
प्राची	गायत्री	रवंतरं	विष्ट	वसन्तः	प्रज्ञ
दक्षिणा	त्रिष्टुप्	बृहत्	पंचदशः	श्रीष्मः	सत्रं
प्रतीची	जपती	वैरुषं	सप्तदशः	वर्षा	विट्
उदीची	अनुष्टुप्	वैपथं	एकविंशः	शरद्	फलं
ध्रुवा ऊर्वा	पंक्तिः	शाकरैवतं	त्रिपञ्चत्रयत्रिंशो	हेमन्तः शिशिरः	वर्षः

इस कोष्टकमें दिशाओंके धर्मोंका पाठक अवश्य अवलोकन करें— (१) प्राची दिशाका धर्म (ज्ञान) ज्ञान है । (२) दक्षिण दिशाका धर्म (सत्र) शौर्य है । (३) प्रतीची दिशाका धर्म (विष्णु) उत्साहके पुरस्कार करनेकी वर्य शक्ति है । (४) उदीची दिशाका धर्म फल परिणाम, साम, आदि है । (५) ध्रुवा और ऊर्वा दिशाका धर्म शक्ति, बल आदि है । ज्ञान, शौर्य, पुण्यार्थ प्रयत्न, साम और बर्धतेज ये उक्त दिशाओंके धर्म हैं । उचकी तुलना प्रथम कोष्टकके साथ करनेसे अर्थात् बहुत गौरव प्रतीत होगा । पाठकोने वही ज्ञान लिया होगा कि उक्त गुण विशेष बर्णके होनेसे उक्त दिशाओंका संबंध उक्त बर्णके साथ भी है । ब्राह्मणोंका ज्ञान, क्षत्रियोंका शौर्य, वैश्योंका पुण्यार्थ, धर्मके हुनरका साम और जनताका बर्धतेज सब राष्ट्रके उत्थारका हेतु है । तथा प्रत्येक व्यक्तिमें ज्ञान, शौर्य, पुण्यार्थ, फलप्राप्तिक प्रयत्न करनेका गुण और बर्धतेज आदि है । इस प्रकार व्यक्तिमें और राष्ट्रमें उक्त गुणोंका संबंध है । इस संबंधको स्मरण रखते हुए पाठक निम्न मंत्र देखें—

प्राच्यां दिशि शिरो भजस्य घोहि
दक्षिणायां दिशि दक्षिणं घोहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥

प्रतीच्यां दिशि भस्वदमस्य घोहि

उत्तरस्यां दिष्टुत्तरं घोहि पार्श्वम् ।

ऊर्वायां दिष्टयजस्यानूर्वायं घोहि दिशि ध्रुवायां
घोहि पाञ्चदशम् ॥ ८ ॥

अथर्व. ४११४

* प्राची दिशामें (अस्तस्य) अन्नमा जीवका सिर रक्षो तथा अन्य दिशाओंमें अन्य अवयव रक्षो । ' इन मंत्रोंमें अवयवोंका दिशाओंके साथ संबंध बताया है । निम्न कोष्टकसे इसका भेद स्पष्ट होगा—

दिशा कोष्टक ॥ ४ ॥ (अथर्व. ४११४०-८)

प्राची	दिशः	भस्वक
दक्षिणा	दक्षिणं पार्श्वं	दहनो बगल
प्रतीची	मउर्व	गुण माय
उदीची	उत्तरं पार्श्वं	बायां बगल
ध्रुवा	पार्श्वं	पेट
ऊर्वा	आनूर्वायं	पीठकी हठी

१५ (अथर्व. साम्य, वाण्ड ३)

इस कोष्टकके साथ पूर्वोक्त तीसरे कोष्टककी तुलना कीजिए । ज्ञान, शौर्य, पुण्यार्थ और फलका संबंध सिर, बाहु, मध्यभाग और निम्न भागके साथ यहाँ लिखा है । ज्ञान, शौर्य, पुण्यार्थका संबंध गुणरूपसे प्रत्येक व्यक्तिमें है और अर्ण रूपसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंमें अर्थात् राष्ट्र-पुरुषके अवयवोंमें है । इस प्रकार वर्णोंका संबंध दिशाओंके साथ स्पष्ट है । यह संबंध ध्यानमें धर कर विचार करते हुए आप निम्न मंत्र देखिए—

प्राचीं प्राचीं प्रदिशमारमेधामेतं लोकं अह-
द्यानाः स्वचरते ॥ यद्वां पक्वं परिबिष्टमग्नी तस्य
शुस्रे दंपती संशयेयाम् ॥ ७ ॥ दक्षिणां दिश-
मग्निं नक्षमाणी पर्यावर्तंयामग्निं पाश्चमेतं ॥
तस्मिन्नां यमः पितृभिः संविद्वानं पकाय
शर्मं बहूलं नियच्छामः ॥ ८ ॥ प्रतीचीं दिशा-
मियमिहूरं यस्यां सोमो अधिपा मृष्टिता ॥
तस्यां ध्येयां सुकृतः सचेधामथा पकान्
मिथुना संमथायः ॥ ९ ॥ उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्त-
रावदिशामुदीचीं कृणवन् नो अग्रम् । पांक्तं
छंदः पुरुषो बभूव विभ्वैर्विध्वानोः सह संमवेम
॥ १० ॥ ध्रुवेयं विराण्णमो असवस्यै शिषा
पुत्रेभ्य उत महामस्तु । सा नो देवपदिते
विभ्ववार इयं इव गोपा अग्निं रक्ष पकम् ॥ ११ ॥

अथर्व. १११३

(१) (प्राचीं) पूर्व दिशा प्रगतिकी दिशा है, इसमें (आरमेयां) उत्साहके साथ पुरस्कार; आरंभ कीजिए, (एतं लोकं) इस सभ्यतेके लोकमें (अहद्यानाः) भद्रा धारण करनेवाले हो पहुंचते हैं । जो (घां) आप दोनोंका अग्निमें प्रविष्ट होकर (पक्वं) पका हुआ अन्न होगा, (तस्य शुस्रे) उसकी रसके लिये (दंपती) माँपुस (संशयेयां) प्रयत्न करें ॥ (२) इस दक्षिण दिशामें अग्नि आप (आग्निं नक्षमाणी) सब प्रकारसे प्रगति करते हुए इस (पार्श्वं) योग्य अथवा कसक कर्मका (अग्निं पर्यावर्तंयं) सब

प्रकारसे बार्बार अनुष्ठान करने, तब आपकी (पक्षाय) परिपक्वताके लिये (पितृभिः) रखकोंके साथ (संविदानः यमः) इानी नियामक (बहुलं शर्म) बहुत कुछ देगा ॥ (१) (प्रतीची) पश्चिम दिशा यह सबमुख (सर्) यैष्ठ दिशा है, त्रिदशे (सोमः) विद्वान् और शीत अधिपति और (मृष्टिता) मुख देनेवाला है । इस दिशाका अग्र्य कीर्ति, वृद्ध करके परिपक्वताको (सत्सेवां) प्राप्त कीर्ति । और (मिथुना) ज्ञानमिलकर (सं भ्रयायः) सुखेताम हलचल कीर्ति ॥ (४) उत्तर दिशा (प्र-जया) विषय-शाली राष्ट्रीय दिशा है, इसलिये हम सबको यह उत्तर दिशा

(जयं) अथ मागमें ले जावे । (पाँक्तं) पाँच वर्षों- राष्ट्र विभागों- का (दुष्पः) छंद ही यह पुत्र होना है । इन सब अंगोंके साथ हम सब (सं भवेम) मिलकर रहेंगे ॥ (५) यह ध्रुव दिशा (विराट्) बची भाई है । इसके लिये मनन है । यह मेरे लिये तथा बालकको लिये (शिवा) कन्या-कारां होवे । हे (अ-दिते वैधि) हे सतंत्रत देवि । (विश्व-घोरे) सब आपत्तिघोरा निवारण करनेवाली देवी । तू (गोपा) हम सबका संरक्षण करती हुई, हमारे परिपक्वताको सुरक्षित रखे ।
 इन मंत्रोंमें दिशाओंकी कई विशेष बातें बताई हैं । इसके सूचक मुख्य शब्दोंका निम्न कोष्टक बनता है ।

दिशा कोष्टक ॥ ५ ॥ (अर्थ १२:३१७-११)

दिशाः	कर्म	साधन	साधक	क्रिया
प्राची	आरंभः	अधानः	दंपती	संभयेयां
दक्षिणा	पर्यावर्तः	मद्यमागः	यमःसंविदानः	निदच्छात्
प्रतीची	आश्रयः	सुहृताः	मिथुनः	संभवायः
उदीची	प्र-जयः	पाँके छंदः	पुरुषः	सह संभवेम
ध्रुवा	वि-राट्	रिवा	विघ्ननाश कदितिः	रक्ष

इस कोष्टकसे साधारणरूपमें पता लग जायगा कि दिशाओंके क्या नाम किस बातके सूचक हैं । और इन सूचक नामोंमें कैसा कथन प्रवृत्तमान भरा है । इन मंत्रोंको देखनेसे निम्न बातोंका पता लगता है—

(१) प्राची दिशा— (प्र+भंश्च = आगे बढ़ना, उपाति करना, अप्रमाणमें ही जाना) यह मूल अर्थ ' प्राश्च ' शब्दका है, त्रिदशे ' प्राची ' शब्द बनता है । ' प्राची दिशा ' का अर्थ बढ़ती अथवा उन्नतिकी दिशा, दक्षिण मार्ग ।

उन्नतिके लिये विविध कर्म आरंभ करनेकी अत्यंत आवश्यकता होती है । पुरुषार्थोंका आरंभ करनेके लिये उन्नतिकी आशा करना अर्थ है । उसाहसे पुरुषार्थ करनेके लिये श्रद्धा चाहिए । श्रद्धाके बिना उल्लाह प्राप्त नहीं हो सकता । अतमें श्रीपुरुष मिलकर ही विविध पुरुषार्थोंका साधन करते हैं । उनके परस्पर मिलकर रहनेसे ही संगठमें सब भोगोंकी परिपक्वता और (सुप्ति) संरक्षण हो सकता है । इस प्रकार प्राची दिशासे बोध मिलता है ।

(२) दक्षिण दिशा— ' दक्षिण ' शब्दका अर्थ दण्ड, डंक, शीम, प्रबुद्ध, सीधा, सच्चा है । ' दक्षिण दिशा ' कर्त्तव्य-का मूल अर्थ सीधा मार्ग, सच्चा मार्ग ऐसा ही है । यवात् दक्षका अर्थ ' हांसे तरफ्ही दिशा ' हो गया है ।

उन्नतिके लिये सीधे और सच्चे मार्गसे चलना चाहिए । और (अनुमान) गति अथवा हलचल किंवा प्रयत्न करना चाहिए । सीधे गति होना अर्थमन है । एक बार प्रयत्न करनेसे यदि न हुई तो बार्बार पुनराय करना आवश्यक है, इसीकी सूचना ' (पर्यावर्तैषां, परि-मा-वर्तैषां) बार्-बार प्रयत्न कीर्ति ' इन शब्दों द्वारा मंत्रमें दी है । ' यम ' शब्द नियमोंका सूचक, ' पितृ ' शब्द जनशक्ति और संरक्षणका सूचक, तथा ' संविदान ' शब्द ज्ञानका सूचक है । नियम, स्वसंरक्षण और शानसे ही धर्म अर्थात् सुख होता है । यह दक्षिण दिशाके मंत्रसे बोध मिलता है ।

(३) प्रतीची दिशा— प्रलंब अन्तर आना, अंतर्मुख होना । प्रतीची दिक्षु शक्ति की दिशा, अन्तर मूल स्थानपर आनेकी दिशा, स्वस्थानपर आनेका मार्ग, अन्तर्मुख होनेका मार्ग, यह इस शब्दका मूल अर्थ है । ' पूर्व दिशा ' को आगे बढ़नेका मार्ग कहा है और पश्चिम दिशाको फिर वापस होकर अपने मूल स्थानपर आकर विश्राम लेनेकी दिशा कहा है—

प्रतीची	प्राची
(प्रति-भंश्च)	(प्र-भंश्च)
प्रति-पाति	प्र-गति
प्रति-यमन	प्र-गन्त
नि-गति	प्र-गति

दिशात्मिक नामोंसे जो माव व्यक्त होते हैं, उनका पता इस षोडशके लग सकता है। वैदिक शब्दोंका इस प्रकार महत्त्व देखना चाहिए।

निवृत्ति, विभ्रति अथवा स्व-स्थताका स्थान ही भ्रेष्ठ (धर्म) होता है। धार्मिके भिन्न और भ्रेष्ठता क्या होगी ? योग ही धार्मिकताकी देवता है। सूर्यके प्रखरतर प्रबन्ध किरणोंके तापसे संतप्त मनुष्य चंद्र (सोम) के शीत प्रकाशसे शीत, संतुष्ट और आनंदित होता है। सुकृत अर्थात् धार्मिक पुण्य कर्मोंका मार्ग ही इस धार्मिकी प्राप्त कर सकता है, इसादि भाष इस मंत्रमें ज्ञात होते हैं।

(४) उत्तर दिशा—(उद्-तर) अधिक उच्चतर, अधिक भ्रेष्ठ अवस्था प्राप्त करनेका मार्ग ऐसा इसका मूल अर्थ है। मनुष्योंको उच्चतर अवस्था प्राप्त होनेके लिये राष्ट्रकी शक्ति कारण होती है, क्योंकि—

मद्रमिच्छन्त क्रययः स्वर्षिदस्तपो वीक्षामुप-
लेपुरमे । ततो राष्ट्रं बलमोज्ज्वलं जातं तदस्मै
देवा उपर्शनमस्तु ॥ (अथर्व. ११।४१११)

सबका कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले ज्ञानी ऋषियुनियोंने तप किया और ब्रह्मतासे मत किया : उससे राष्ट्र, बल और शोक उत्पन्न हुआ, इसलिये सब देव उस राष्ट्रीयताके सम्मुख नम्रता धारण करें। ' राष्ट्रीयताके साथ लोककल्याणका साथ इस प्रकार वेदने वर्णन किया है। लोककल्याण ही लोगोंकी उच्चतर अवस्था है। राष्ट्रीय भावनाके अन्दर (नः अग्रं कृपयच्) ' हम सबको आम भागमें होनेके लिये प्रयत्न ' करना आवश्यक है। राष्ट्र (पाँक) पाँच विभागोंमें विभक्त है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद, अथवा ज्ञानी, धर्म, श्रम, शारीर और साधारण जन मिलकर राष्ट्रके पाँच अवयव होते हैं, इन पाँच प्रकारके वर्गोंका कल्याण करनेकी (छन्द) प्रबल इच्छा जिसमें होती है वही सत्त्वा ' पुण्य ' कहा जा सकता है। पुण्य उसको कहते हैं कि जो (पुरि) नगरीमें (वसति) निवास करता है। नागरिक जन जो ' लोककल्याण ' करता है, वही सत्त्वा पुण्य है। सब अंगोंसे उसकी पूर्णता होती है और उन्नतिके लिये (सं भवेम) सब मिलकर एकजिंत होनेकी आवश्यकता है। यह बोध उत्तर दिशाके मंत्रके शब्दोंसे ज्ञात होता है।

(५) ध्रुवा दिक्—स्थिरताका धर्म यहाँ बताया है। मनुष्यके व्यवहारोंमें स्थिरता ठीक नहीं है। स्थिरता, दृढता, निश्चितता, उन्नतिकी साधक है। सबका (शिक्षा) कल्याण

इस गुणसे होता है। स्थिरताका मार्ग योग मार्ग है, जिसमें स्थिरताको दूर करके स्थिरताकी प्राप्ति की जाती है। इससे सबका हित होता है। यही (अ-द्विष्टि) अविनाशकी देवता अथवा स्वतंत्रताकी देवता है। स्थिरताके विना स्वतंत्रताकी प्राप्ति नहीं हो सकती। (गो-पा) श्रितियोंका संरक्षण अर्थात् धर्म इस मार्गमें अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार ध्रुव दिशाके मंत्रोंसे बोध प्राप्त होता है।

मंत्रोंकी शब्दयोजना कितनी अत्युत्तम है, इसका विचार पाठक यहाँ कर सकते हैं। अस्तु। दिशा विषयक उल्लेख शब्दवेदमें नहीं है। इसलिये अब इस सब विवरणका एकीकरण करना चाहिए। उसके पूर्व निम्न मंत्र देखिए—

श्राच्यैत्वा दिशोऽज्ञयेऽधिपतयेऽसिताय रक्षित्र
आदित्यायेऽपुमते । पतं परिवृशस्तं नो गोपाय-
तामस्माकमेतोः । दिष्टं नो अत्र अरसे नि नेष-
ञ्जरा मृत्यये परि षो द्वात्पय पक्वेन सह
सं भवेम ॥ ५५ ॥ दक्षिणायै त्वा विश्व इन्द्रा-
वाधिपतये तिराश्चिराजये रक्षित्रे यमायेऽपुमते ॥
पतं ० ॥ ५६ ॥ प्रतीच्यै त्वा दिशे चरुणाया-
धिपतये पृवाकये रक्षित्रेऽज्ञायैऽपुमते । पतं ०
॥ ५७ ॥ उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये
स्वजाय रक्षित्रेऽज्ञान्या इपुमस्यै ॥ पतं ० ॥ ५८ ॥
ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये कर्माप-
श्रोवाय रक्षित्र ओपघोम्य इपुमतीभ्यः ॥ पतं ०
॥ ५९ ॥ उर्वायै त्वा दिशे गृहस्पतयेऽधिपतये
भित्राया रक्षित्रे ध्रुवायेऽपुमते ॥ पतं ० ॥ ६० ॥

(अथर्व. १२।१)

' प्राची दिशा, अग्नि अधिपति, असित रक्षिता और इन्द्रान् आदित्यके लिये (पतं) यह दान (परि दृशः) देते हैं। अस्माकं (आ-पतोः) हमारे कुछ भावोंसे हम सबका (नः गोपायतां) संरक्षण करें। (अत्र) यहाँ (नः) हम सबको (दिष्टं) अच्छी धर्मकी प्रेरणा (अरसे) दृढ़ व्यवस्था-तक (नि नेषत्) के जावे। (जरा) दृढ़ अवस्था मृत्युको (नः मृत्यये परि द्वात्तु) हम सबको मृत्युके प्रति देवे। (अथ) और (पक्वेन) परिपक्वताके साथ (सं भवेम) संभूति अर्थात् उन्नतिकी प्राप्त हो जावे। यह प्रथम मंत्रका भाष्य है। शेष मंत्रोंका भाव ऐसा ही सुगम है।

इन मंत्रोंमें (१) दान, (२) संरक्षण, (३) दृढ़ भावका दूर करना, (४) धर्मकी प्रेरणाके साथ पूर्ण दृढ़

अवस्थाका अनुभव लेनेके पश्चात् अर्थात् दीर्घ यात्राकी समाप्तिके पश्चात् मरनेकी कल्पना, और (५) परिष्क (शुद्धिके सज्जनों) के साथ अर्थात् स्वस्थगमें रहनेका उपदेश है ।

प्रारंभसे यद्वातक दिशा विषयक जो कोष्टक और मंत्र दिये हैं उन सबका एकीकरणपूर्वक विचार करनेसे इन मंत्रोंका अधिक बोध होना संभव है ।

प्राची दिग्गणिरधिपतिरक्षितो रक्षिताऽऽ-
दित्या इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो
रक्षितृभ्यो नम इषभ्यो नम एभ्यो अस्तु ॥

योऽस्मान् द्वेषि यं ययं द्विप्मस्तं यो जम्भे दृषमः ॥
(अर्पणं. १२७११)

इष्ट मंत्रका अर्थ विचार करना है । इष्टका विचार होनेसे कल्प सब मंत्रोंका विचार हो सकता है । पूर्व स्थलमें, जहाँ दिग्वाचोंका द्वितीय कोष्टक दिया है, वहा बताया है कि अधिपति, इष्ट, रक्षिता आदि शब्द आलंकारिक हैं, इसलिये इनका अर्थ काम्यकल्पनाके अनुसार लेना चाहिए ।

(१) अधिपति, रक्षिता, इषवः आदि शब्द आलंकारिक हैं क्योंकि वर्षा, वीर्यधः आदिदोनों भी बाण कहा है । वस्तुतः ये बाण नहीं हैं । इस कारण कविकी आलंकारिक रष्टिसे इनका अर्थ लेना उचित है ।

(२) मंत्रके प्रथम पादमें अधिपति, रक्षिता ये शब्द एक वचनमें हैं, परन्तु द्वितीय चरणमें इन ही शब्दोंका बहुवचन लिखा है । एकवचनका शब्द परमेश्वरपर माना जा सकता है परंतु 'अधिपतिभ्यः, रक्षितृभ्यः' शब्द बहुवचन होनेके कारण परमेश्वरपर नहीं माने जा सकते । आदर्शार्थक बहुवचन माननेके पक्षमें पूर्वचरणमें एक वचन आया है उसकी निरर्थकता होती है । वेदमें किसी स्थानपर एक मंत्रमें परमेश्वर वाचक शब्दोंका एकवचन और बहुवचन आया नहीं है । इसलिये यह इन शब्दोंके अर्थ केवल परमेश्वरपर होनेमें शंका है ।

(३) प्रसिद्ध दिशाका अधिपति रक्षिता और इष्ट भिन्न हैं । यदि ये परमेश्वरपर शब्द हैं तो भिन्नताका कोई कारण नहीं निकल सकता ।

(४) तृतीय चरणमें 'ओ ॥' सबका द्वेष करता है और जिसका हम सब द्वेष करते हैं उसको (वः जम्भे) आप सबके एक जवडेमें हम सब घर देते हैं । 'इस आशयके शब्द आगये हैं । यह मंत्रका भाग केवल सामाजिक स्वरूपपर रहा है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है । दुष्टको दण्ड देनेका इसमें विषय है और दण्ड देनेवाला अकेला नहीं है, परन्तु (वः) अनेक

हैं । (वः जम्भे) 'आप अनेकोंके एक जवडेमें हम सब मिलकर उस दुष्टको देते हैं' आप जो चाहे उसको दंड दायिए । दंड देनेका अधिकार हम अपने हाथोंमें नहीं लेते, आप सबको ही दंड देनेका अधिकार है । यह आशय उक्त मंत्रभागमें स्पष्ट है । इसमें न्यायव्यवस्थाकी बातें स्पष्टतासे लिखी हैं—

(व्य) अनेक सज्जनोंको मिलकर न्याय करना चाहिए ।

(आ) किसीको उचित नहीं कि वह स्वयं ही दुष्टको मन-माना दंड देवे । वह अधिकार न्यायसभाका ही है ।

(इ) बहुपक्षसे द्वेष नहीं करना चाहिए । द्वेष करना बुरा है । स्वसंमति प्रकट करना द्वेष नहीं है ।

(हं) बहुपक्षकी भी उचित नहीं कि वे अपनी संमतिसे किसीको दंड देवे । बहुपक्ष और अन्तर पक्षके मतभेद होनेपर न्यायसभा द्वारा योग्यदोषयुक्त निश्चय करना चाहिए । और न्यायसभाका निश्चय सबको मानना चाहिए ।

इत्यादि बातें उक्त मंत्रभागसे स्पष्ट सिद्ध होती हैं । यहाँ परमेश्वरके जवडेमें देनेकी कल्पना नहीं प्रतीत होती । अब यहाँ 'जंभ' शब्दका अर्थ देखना उचित है—

'जंभ' शब्दका अर्थ दांत, हाथीका दांत, मुख, जबड़ा, वज्र, दंड होता है । मंत्रमें 'वः जंभे' अर्थात् 'अनेकोंका एक जवड़ा' कहा है; प्रत्येक प्राणीके लिये एक जवड़ा हुआ करता है । परंतु यहाँ अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जवड़ा कहा है । वास्तविक रीतिसे अनेक मनुष्योंका एक जवड़ा नहीं हो सकता, परंतु यहाँ कहा है, इसलिये यह जवड़ा वास्तविक नहीं है, केवल काल्पनिक है । निम्न कोष्टकसे व्यक्तित्व और सामाजिक जवडेकी कल्पना जा सकती है—

व्यक्तिका जवड़ा	समाजका जवड़ा
जंभ	न्यायालय
मुख	मुख्य
ज्ञानेदिय-पूर्वक	ज्ञानीजन-पूर्व
दांत-द्विज	श्रेष्ठार्थक-द्विज
दंतपंक्ति	द्विज-समा
चवंग, चर्चितचवंग	विषय-चर्चा
अध-चवंग	प्रमाण-विचार

सिद्ध, व्याघ्र आदि हिंस्र पशु अपने शत्रुको अपने जवडेमें रखकर खाते हैं । शत्रुको अपने जवडेमें रखनेकी कल्पना भीच प्राणियोंमें है । फीधी मनुष्य पागल बनकर अपने शत्रुको कटने दौकता है । परंतु निचारी मनुष्य इस पशुहातीको दबाकर अपने आपको समाजका एक अवयव समझकर, अपने शत्रुको मां

समाजका एक अवयव मानता है; इस कारण वह शत्रुको दंड देनेके लिये स्वयं प्रवृत्त न होता हुआ, न्यायसमाजी शरण लेता है, क्योंकि यही 'समाजका जबड़ा' है। इस न्यायालयमें द्विजोंकी समा खगती है और वह अनुकूल प्रतिकूल बातोंका मनन वारंवार करके दुष्टको दंड देती है और सज्जनको स्वातंत्र्य अर्पण करती है। इस समाजके जबड़ेका—अर्थात् न्यायसमाजका—भाव 'अंम' शब्दसे लेना यही उचित है। यही अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जबड़ा हो सकता है।

तै यो जंभे दृष्यः ।

(तै) उस दुष्टको हम सब (यः) आप कनेकठि (जंभे) एक जबड़ेमें—अर्थात् न्यायसमाज—(दृष्यः) चारण करते हैं। अर्थात् आपके आधीन करते हैं। न्यायसमाजकी धीरी-धार्मिता यहाँ बताई गई है।

यहाँका 'सा' शब्द पूर्वोक्त 'अधिपतिभ्यः रक्षितभ्यः' इन शब्दोंकी सूचित करता है। समाजके अथवा राष्ट्रके अधिपति और रक्षक 'साः' शब्दसे जाने जाते हैं। सबका द्वेष कनेबाके दुष्टको इन पंचोंके आधीन करना चाहिए, यह मंत्रका स्पष्ट आशय है। इसीलिये 'अधिपति' आदि शब्दोंका बहु-वचन मंत्रमें आगया है और इसी कारण वह बहुवचन बोध्य और अर्थके अनुकूल है।

शत्रुको पंचोंके आधीन करनेके भावसे शत्रुको स्वयं दंड देनेकी और न्यायकी अपने हाथमें लेनेके धर्मवही शक्ति कम होती है, और पंचोंकी ओरसे न्याय प्राप्त करनेकी सार्विक प्रशंसा बढती है। इस प्रकारकी प्रवृत्ति समाजके हितके लिये आवश्यक है।

इस उपदेशसे अपने आपको समाजका अवयव समझनेका सार्विक भाव बढाया जाता है। मैं जनताका एक अंग हूँ, जनताका और मेरा अटूट संबंध है, यह भावना अत्यंत श्रेष्ठ है, और इस उच्च भावनाका बीज कितनी उत्तमतासे अंतःकरणमें रखा गया है। यह वैदिक धर्मका ही महारस है।

'तेभ्यो नमो०' आदि दो पाद प्रत्येक मंत्रमें हैं। ये दो पाद छः मंत्रोंमें बार बार कहे हैं। बार बार मंत्रोंका जो अनुवाद किया जाता है उसको 'अभ्यास' कहते हैं। विशेष महत्त्वपूर्ण मंत्रोंका ही इस प्रकार वारंवार अनुवाद वेदमें किया गया है। इसके सिद्ध है, कि इन मंत्रोंका भाव मुख्य है, और इनके अनुकूल शेष मंत्रमागका अर्थ करना चाहिए। अर्थात् इस सूक्तका अर्थ सार्वजनिक है।

(१)

(१ प्राचीं दिक्) प्रगतिकी दिशा, (२ अग्निः अधिपतिः) तेजस्वी स्वामी, (३ असितः रक्षिता) स्वतंत्र संरक्षक और (४ आ-दित्याः इषयः) स्वतंत्रतापूने वक्तृत्व, ये चार बातें हैं।

प्रत्येक दिशा विशेष मार्गकी सूचक समझी जाती है और इस विशेष मार्गके साधक तीन गुण हैं। प्रत्येक दिशाके साधक ये गुण निश्चित हैं। इस पूर्वी दिशाके अनुसंधानसे प्रगतिके मार्गका उपदेश किया है। तेजस्विता, स्वतंत्रता और वक्तृत्व ये तीन गुण सज्जतिके साधक हैं। अधिपतिसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि निस्तेज निर्धार्य राजा, पराधीन रक्षक और अस्वतंत्र वक्ता किसी प्रकार भी सज्जतिका साधन नहीं कर सकते। इसी प्रकार अन्य दिशाओंका विचार करके बाँध जानना उचित है।

(१) प्रगतिका निश्चित मार्ग, (२) तेजस्वी स्वामी, (३) स्वाधीनताका चारण करनेवाला रक्षक, और (४) स्वतंत्रतापूर्ण वक्तृत्व, ये चार बातें मानवी उन्नतिके लिये आवश्यक हैं। इसी प्रकारके स्वामी, संरक्षक, और वक्ताओंका सरकार होना उचित है। जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं उसको आप अधिपतियोंकी समाके आधीन हम सब करते हैं। यह मंत्रका सीधा आशय है। मनुष्यकी भलाईके उपदेश यहाँ है। इस प्रकार अथेका मनन करना उचित है। अब मुख्य शब्दोंके मूल अर्थोंका मनन करते हैं—

(१) 'अग्नि' शब्द वैदिक वाक्यमें प्राणण और वक्तृत्वका प्रतिनिधि है। दिशा कोटक सं० ३ देखिए, तसमें प्राचीं दिशाका 'ब्रह्म' अर्थात् ज्ञान ही घन कहा है।

(२) 'अ-सित' शब्दका अर्थ बंधन-रहित, स्वतंत्र, स्वाधीन ऐसा है। 'सि-बंधने' इस धातुसे 'सित' शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'पर-स्वाधीन' है। 'अ-सित' शब्द, स्वतंत्र है।

(३) 'आदित्य' शब्द 'अ-लंघनीय' अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'दो-अ-लंघने' धातुसे 'दिति' शब्द बनता है जिसका अर्थ 'खंडित' है। 'अ-दिति' का अर्थ 'अ-लंघित' है। आदितिका भाव आदित्य है। अलंघनीय, अमर्णाद, बंधन-रहित, स्वतंत्रताके भाव, जहाँ अज्ञानका बंधन नहीं है।

(४) 'इषु'—'इष-गती' धातुसे यह शब्द बनता है। इसलिये 'अति, हलचल' यह भाव ॥॥ शब्दमें मुख्य है। पचात् इसके अर्थ हलचलका यत्न करना, वक्तृत्व करना, बोधना देना, उचित करना; ये दो गये। इस धातुके भाव

‘इषवः’ शब्दमें है। अस्तु। इस प्रकार प्रथम मंत्रका आगम है। मंत्र द्वितीय मंत्र देखिए—

(२)

(१ दक्षिणा दिक्) दक्षिणकी दिशा (१ इन्द्रः अधिपतिः) अग्निपितृका स्वामी (१ तिराश्चिराजी रक्षिता) पश्चिम चलनेवाला संरक्षक और (४ पितरः इषवः) वीर्यवान् इत्यन्त करनेवाले, ये चार बातें उक्तविधी साधक हैं। इसी प्रकारके स्वामी रक्षक और पालकोंका आहार हो। ओं आदिश्लोके द्वेष करता है और विषय आस्तिक द्वेष करते हैं उक्तो हम सब आप अधिपतियोंकी कृपाके आधीन करते हैं।

(५) ‘इन्द्र’—(इन्द्रं वाञ्छन् द्वावपिता) १-१८) अग्नि निवारण करनेवाला विरभी ।

(६) ‘तिराश्चिराजी’—(तिरः) दीर्घमन्त्रे, (अन्-) जाना, (राजी-) लहीर, मर्दावा। अपनी मर्दावाका वहीचन न करनेवाला ।

(७) ‘पिता’ (पतांति पिता)—संरक्षक पिता है। वीर्य धारण करके उत्तम श्रान्तान् उत्पन्न करनेवाला वीर्यवान् उत्तम पिता होता है ।

(३)

यह भाव द्वितीय मंत्रका है। अब तीसरा मंत्र देखिये—
(१ प्रवीची दिग्) अंतर्मुख होनेकी दिशा, (२ वरुणः अधिपतिः) सर्व श्रमन्त स्वामी, (१ पृथाकुः रक्षिता) स्वर्गमें लडाही रक्षक और (४ अर्ज इषवः) अर्जकी वृद्धि से चार बातें अम्बुदयकी साधक हैं ।

(४)

(१ उद्गीची दिग्) उत्तर दिशा, उत्पत्त होनेकी दिशा, (१ सोमः अधिपतिः) द्राव स्वामी, (१ स्व-जः रक्षिता) स्वयं सिद्ध संरक्षक और (४ अशानिः इषवः) तेजस्वी प्रगति से चार बातें उक्तविधी हैं ।

(५)

(१ भ्रुवा दिक्) स्थिरदिशा, (१ विष्णुः अधिपतिः) चांद्रम स्वामी, (३ कल्मापप्रीषः रक्षिता) कर्मकर्ता संरक्षक और (४ वीरुधः इषवः) औषधियोंकी वृद्धि से चार बातें उक्तविधी लिये हैं ।

(६)

(१ ऊर्ध्वा दिक्) उत्तर दिशा, (२ बृहस्पतिः अधिपतिः) ज्ञानी स्वामी, (३ भिव्रः रक्षिता) गृह संरक्षक और (४ सूर्य इषवः) वृष्टिकी गति से चार बातें उक्तविधी करनेवाली हैं ।

अब इन उक्त्याओंका मन्त्रन करिये। शब्दोंके मूल अक्षरों नीचे दिखे हैं—

(१) ‘वरुणः’— वर-वृ-रुणे। पसंद करना। ओं पूर्वदिक् किना जाता है वह चल्य होता है। सर्वश्रमन्त सर्वश्रेष्ठः ।

(२) ‘पृथाकुः’—(पृ-मा-कुः)—पृथा कर्म युद्ध, संग्राम, स्वर्ग, स्वर्गके समय उक्त्याके शब्द बोझने-वाला ‘पृथाकु’ होता है। कु = श्रम ।

(३) ‘सोमः’— शान्तिका धृक् अक्षर अक्षर सोम है। इसका धृक् कर्म ‘स-उ-मा’ अर्थात् शिवाके साथ रहनेवाला अर्थात् ज्ञानी है। ‘सु-प्रसवधैर्ध्वर्योः’ इस वाक्यके ‘सोम’ शब्द बनता है जिसका कर्म ‘उत्पन्नक, प्रेरक और ऐश्वर्यवान्’ देखा जाता है ।

(४) ‘स्वजः’—(स्व-जः)—अपनी शक्तिसे रहनेवाला, जिसे दूसरोंकी शक्ति का श्रद्धा करनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वयंश्रमशील। स्वयं जिसका साथ चारों ओर फैला है ।

(५) ‘अशानिः’— यह विष्णुका नाम है। तेजस्विताका बोध इस शब्दसे होता है। ‘अशु’ वाक्यका कर्म ‘व्यापना’ है। व्यापक शक्तिका नाम अशानि है ।

(६) ‘विष्णुः’— सर्व ‘व्यापक’ कर्ता, उत्पत्ती ।

(७) ‘कल्माप-प्रीषः’—‘कल्मन्’ का कर्म कर्मन् अर्थात् कर्म, कार्य, उद्योग है। ‘कल्माप’ = (कल्म-प) = कर्मके द्वारा अनिष्ट गुराईका नाश करनेवाला । (कर्मनां अनिष्टं स्पति इति कर्मापः । कर्माप एव कल्मापः ।) पुराणमें उक्त्याको दूर करके उक्त्याको पास करनेवाला और इस प्रकारके पुराणके भाव गलेमें उक्त्या धारण करनेवाला ‘कल्माप-प्रीष’ किंवा ‘कर्मा-स-प्रीष’ कहलाता है ।

(८) ‘वृहस्पतिः’—महात् शतका स्वामी, ज्ञानी। ज्ञानि अथवा मतिका अधिपान ।

(९) ‘भिव्रः’—शुद्ध, पवित्र, श्रेष्ठ ।

अस्तु, इस प्रकार मुख्य शब्दोंके अर्थ हैं। पाठक इनका अधिक विचार करते काम उठावें ।

पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, पूर्व और ऊर्ध्व से छः दिशोंमें क्रमशः प्रगति, वायुर्व्य, शान्ति, उदरति, स्वयं और श्रेष्ठता इन छः गुणोंकी सूचक हैं। इन छः गुणोंका साधक ‘गुण-चतु-ष्टय’ पूर्वोक्त मंत्रोंमें वर्णन किया है। (१) दिशा, (२) अधिपति, (३) रक्षक और (४) धृक् से चार शब्द विशेष संकेत हैं, और इन शब्दोंमें दशा अक्षरोंका विशेष गुण कर्म

है, इस बातका प्रकाश पाठकोंके मनमें पूर्ण रीतिसे पडा ही होगा । बारंबार मनन करके इनके गूढ तत्वका ज्ञान प्राप्त करना हम सबका कर्तव्य है ।

इन मंत्रोंमें ' इषु ' शब्द विलक्षण अर्थके साथ प्रयुक्त हुआ है । इसका किसी अन्य भावमें भाषांतर करना अव्यक्त कठिन कार्य है । किसी एक प्रतिपादके इसका भाव प्रकट होता है । नहीं । इसलिये इन मंत्रोंको विशेष विचारसे सोचना चाहिए ।

उत्तम अधिपति और श्रेष्ठ संरक्षकोंका सम्मान होनेसे जनसमाजकी स्थिति ठीक रहती है, और राज्यशासन ठीक चल सकता है । अधिपति मुख्य होते हैं और संरक्षक उनके आधीन रहकर कार्य करनेवाले होते हैं । अधिपति और संरक्षकोंके विषयमें जनतामें निरादर नहीं होना चाहिए । अधिपति और संरक्षकोंके गुण, जो इन मंत्रोंमें वर्णन किये गये हैं, जहाँ हाँगे वहाँ सब जनताका पुण्यभाव अवश्य रहेगा । कुछको दंड देनेका अधिकार इनहीको है । किसी मनुष्यको उचित नहीं कि वह अपने हावमें न्याय करकेका अधिकार स्वयं ही लेकर किसीको दंड देवे । इससे अत्यासि और अराजकता होती है । इसलिये प्रत्येक मंत्रमें कहा है कि ' हम श्रेष्ठ और योग्य अधिपतियोंका आदर करते हैं और कुछका शासन होनेके लिये उसको उनहीके स्वाधीन करते हैं । ' सब लोगोपर इस भावके संस्कार होनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है ।

मनुष्ये सार्वजनिक अवस्थाका निरीक्षण करना और मानवी हितसाधन करनेका विचार करना, इन मंत्रोंका मुख्य उद्देश्य है । इन मंत्रोंमें जनताकी उन्नतिके विचारकी सूचना मिली है । वैदिक धर्ममें न्याय और समाजका मिलकर सुधार लिखा है । केवल न्यायिका सुधार नहीं होगा, और केवल समाजका भी नहीं होगा । दोनोंका मिलकर होगा । न्यायिक समाधिकी मिलकर उन्नति होती है । प्रत्येक मंत्रकी प्रथम पंक्तिमें सामान्य सिद्धांत कहे हैं और शेष मंत्रमें उन सिद्धांतोंको जनतामें पटाकर बताया है । इस दृष्टिसे पाठक इन मंत्रोंका अधिक विचार करें ।

दिशाओंका तत्त्वज्ञान ।

वैदिक दृष्टि ।

वैदिक तरबूजान इतना विस्तृत, व्यापक और सर्वगामी है, कि उसका उपदेश न केवल वेदके प्रत्येक सूक्त द्वारा हो रहा है, परन्तु वेदके सूक्त पाठकोंमें वह दिव्य दृष्टि उत्पन्न कर रहे हैं, कि जिस दृष्टिसे अमृतके पदार्थ मानवी और विशेष मानवासे देखनेका गुण वैदिक धर्मियोंके अन्दर उत्पन्न हो सकता

है । विशेष प्रकारका दृष्टिकोण उत्पन्न करना वेदको अभीष्ट है यदि पाठकोंमें यह दृष्टिकोण न उत्पन्न हुआ, तो वैदिक मंत्रोंका अर्थ समझना ही असंभव है । वेदमंत्रोंकी रचना, तथा उनको समझनेकी रीति, वैदिक उपदेशकी पद्धति तथा वैदिक दृष्टि, इतनी विलक्षण और आश्चर्यजनक अवस्थासे भिन्न है कि, यह दृष्टि अपनेमें उत्पन्न करना ही एक बड़े प्रयासका कार्य, आश्चर्यजनकी सम्भ्रमताके कारण हो गया है । आश्चर्यजनकी यह सम्भ्रमताकी रीति अवलंबन करनेके कारण यह परिशुद्ध मानसिक अवस्था और यह दिव्य दृष्टि हमारेमें नहीं रहती, कि जो प्राचीन आर्योंमें वैदिक धर्मके कारण थी ।

किसी काव्यकी भाषा गीरस और शुष्क हृदयमें कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती । काव्यका रस आननेके लिये पाठकोंका तथा श्रोताओंका हृदय विशेष संस्कारित उपपन्न ही चाहिए । कविकी दृष्टिसे काव्यका रस ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा कविकी दृष्टिके बिना कोई काव्य पाठकोंके हृदयपर प्रेमका भाव उत्पन्न कर ही नहीं सकता । उच्च कविता जंगली मनुष्योंके हृदयोंपर कोई दृष्ट परिणाम नहीं कर सकती, इसका यही हेतु है । बीणाकी एक तार बजानेसे उसके स्वरके साथ मिली हुई दूसरी तार आप ही आप आवाज देती रहती है, परन्तु जो तार उसके स्वरके साथ मिली नहीं होती, वह नहीं बजती । वही नियम काव्यके आस्वाद लेनेके विषयमें भी है । जो हृदय कविके हृदयके समान उत्पन्न होते हैं वे ही उस काव्यसे हिल जाते हैं, परन्तु जो हृदय भिन्न प्रकारकी अवस्थायमें होते हैं, वे नहीं हिल सकते । वेद ' देवका काव्य ' होनेसे उसका समझने और उसका वास्तविक आनंद लेनेके लिये भी विशेष उत्पन्न कौटिके हृदय चाहिये ।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, कि यदि ऐसा है तो सामान्य मनुष्यके लिये वेद निकम्मा सिद्ध होगा । परंतु वास्तविक बात वैसी नहीं है । परमेश्वरकी सृष्टि जैसा सब मनुष्योंके लिये है, उसी प्रकार ईश्वरके वेद भी सब मनुष्योंके लिये ही हैं । परंतु अपनी योग्यता और अवस्थानुसार हरएक मनुष्य बरसे लाभ उठा सकता है ।

विश्व प्रकार साधारण मनुष्य जलसे तुषा प्राप्त करने और जलसे शीत निवारण करनेका काम लेखक इन पदार्थोंका उपयोग करता है, और समझता है, कि मृत्तिका में उपयोग लिया । तद्वत् साधारण मनुष्य वेदका स्थूल अर्थ जैसा है और समझता है कि मैंने वेदका अर्थ जान लिया । जैसा ' अग्नि ईष्टे ' का अर्थ ' मैं आगकी प्रशंसा करता हूँ ' इतना ही समझना है ।

जिस प्रकार उदक कोटीके वैज्ञानिक वेदकलानिपुण महाजन उद्यो बल और आत्मिके यंत्रोमें रखकर उनके योगसे बड़े बड़े यंत्र बना लेते हैं, और समझते हैं कि हमने सृष्टि का उपभोग लिया; तद्वत् ही बड़े योगी और आत्मज्ञानी पुरुष उद्यो वेद-मंत्रका काण्डदृष्टिसे अवलोकन करके परमात्म तत्त्वेके छिदा-न्तोको जानते हैं । जैसा— ' अग्नि ईष्टे ' । का अर्थ ये लोग समझते हैं कि ' मैं उस तेजस्वी आत्माको प्रीति करता हूँ । '

जैसा सृष्टिका उपभोग दोनों रहे हैं, वैसा ही वेदका अर्थ दोनों समझ रहे हैं । परन्तु एकही साधारण दृष्टि अथवा जड़ दृष्टि है और दूसरेकी असाधारण अथवा कान्धदृष्टि है । वेद दिव्य काव्य होनेसे इस प्रकारकी असाधारण काव्यदृष्टिसे ही उसका आराय देखना उचित है । यद्यपि सबको यह दृष्टि साध्य नहीं है, तथापि जिनको साध्य हो गई है उनकी सहाय-तासे जन्मोंको उचित है कि वे अपनी गति इस भूमिधामें करें । आचार्यके बताने मार्गसे चलनेका यही तात्पर्य है ।

वेदका अर्थ समझनेके लिये न केवल वेद मन्त्रोंका विशेष दृष्टिसे और विशेष पद्धतिसे अर्थ जाननेकी आवश्यकता है; परन्तु सृष्टिकी ओर भी विचार आत्मिक भावनासे देखनेकी अत्यंत आवश्यकता है । सर्वसाधारण लोकोंको सृष्टिकी तरफ जड़ दृष्टिसे देखनेका अभ्यास आजकल हो गया है । यही अभ्यास अत्यंत घातक है । जबतक जनतामें जड़ दृष्टि रहेगी, तबतक उनमें वैदिक दृष्टिका अभाव ही रहेगा । ' जिस अव-स्थामें सब भूतमात्र आत्मरूप हो गये, उस अवस्थामें एक-त्व-का सर्वत्र दर्शन होनेके कारण शोक मौह नहीं होता । ' (यजु. ४०-१७) यह दृष्टि है कि जिस दृष्टिसे सृष्टिकी ओर देखना चाहिए । परमात्म शक्तिका जो विकास इस प्रकृतिमें हो गया है, वह ही मूष्टि है । इस दृष्टिकी ' आत्मरूप दृष्टि ' कहते हैं ।

जड़ दृष्टिके लोग अपने शरीरकी ओर भी जड़त्वके भावसे देखते हैं और केवल अस्थि, मज्जा, मांस आदिदोषोंकी ही देखते हैं । उनको इन जड़ पदार्थोंसे भिन्न कोई भेद पदार्थ इस शरीरमें दिखाई नहीं देता; परंतु दूसरे सुविज्ञ लोग ऐसे हैं, कि जो इस शरीरकी ओर चेतन दृष्टिसे देखते हैं, और हरएक शरीरके मागमें आत्माकी शक्तिका विकास और आभास देखते हैं । यह दूसरी दृष्टि वेदकी अर्थात् है । इसी दृष्टिसे सृष्टि का निरीक्षण करनेका तथा वेदका अभ्यास करनेका मूल करना चाहिए । इस विचारका विशेष स्पष्टीकरण करनेके लिये ॥१॥ लेखमें दिशा-भोग विवर किया है, जासा है कि पाठक इस लेखको जड़ भावनाके साथ पढ़ेंगे—

' प्राची दिशा ' पूर्व दिशाकी विमूर्ति ।

पूर्व दिशाके लिये वेदमें विशेष कर ' प्राची दिक् ' उक्त आता है । इसका मूल अर्थ निम्न प्रकार है—

(१) प्राची = (प्र-अच्) = ' प्र ' का अर्थ ' आविष्कन, प्रकष, आगे, सम्मुख ' है । ' अच् ' का अर्थ ' गति, पनन, अर्थात् जाना, बचना, चलना, हलचल करना, सरकार और पूजा करना ' है । तात्पर्य ' प्राची ' शब्दका अर्थ आगे बचना, उद्यति करना, अप्रमाणमें हो जाना, प्रगति का माधन करना, उदयको प्राप्त होना, अभ्युदय संवादन करना, ऊपर बचना, इत्यादि प्रकार होता है ।

(२) दिक् = दिशा = का अर्थ टर्क, शीघ्र, ताक, दिहायत, आशा, निदाना, शीघ्रा रास्ता, सरल मार्ग, इत्यादि होता है ।

उक्त दोनों अर्थोंको एकत्रित करनेसे ' प्राची दिक् ' का अर्थ— (१) आगे बढनेकी दिशा, (२) उदयका मार्ग (३) अभ्युदय प्राप्त करनेका रास्ता, (४) सत्कार और पूजाका पथ, (५) उद्यति का हलचल, (६) उच्च गति का शीघ्रा मार्ग, इत्यादि प्रकार होता है । प्राची दिशाका मूल अर्थ बढती अथवा उद्यतिकी दिशा, अभ्युदयका मार्ग, इत्यादि रास्ता है ।

इस अर्थको मनमें धारण करके पाठक पूर्व दिशाकी ओर धरे देखें । विचारपूर्वक देखनेके पश्चात् पाठकोंकी पटा लग जायगी कि पूर्व दिशाका नाम ' प्राची दिक् ' वेदने क्यों रखा है । विचारकी दृष्टिसे रात्रीके समयमें भी पूर्व दिशाकी ओर पाठक देखते जाय । पूर्व दिशाकी अपूर्वता धरे और रात्रीके समय ही ज्ञात हो सकती है । दिनके समय सूर्यके प्रबल प्रकाशके कारण इस दिशाका महत्त्व ध्यानमें नहीं आ सकता । इसलिये धरे और रात्रीको ही पूर्व दिशाके महत्त्व का चिन्तन करना चाहिये ।

ताईक लोग दिशाओंको जड़ कहते हैं, उनको वैवा ही कहते हैं, क्योंकि उनको दृष्टि भिन्न है । वेद पढ़नेके समय आपकी सर्वत्र पूर्ण चेतन्यकी दृष्टिसे देखना चाहिये । जैसा पूर्व दिशामें उसी प्रकार अन्य सब दिशाओंमें चेतन्यका विकास हो रहा है, ऐसी मुझ कल्पना कीजिए । और प्रत्येक दिशा अचित और आप्त है, तथा विशेष प्रकारकी शक्तिका प्रकाश कर रही है, ऐसी कल्पना कर लीजिए । यदि आप इसकी समझना देखता मान सकते तो भी हमारे प्रस्तुतके कार्यके लिये बहुत जरूरी है ।

आप प्रमात् कालमें पूर्व दिशाकी ओर मुझ कर लीजिए । पूर्व दिशापथोंका उदय हो रहा है और कर्दोंका उदय हो गया है, ।

ऐसा आप देखेंगे । अनंत तारागणोंको जन्म देनेवाली, उनका उदय करनेवाली यह पूर्वदिशा है । तेजोसिताका प्रकाश इस दिशासे हो रहा है । प्रतिक्षण इस दिशाकी प्रतिमा नष्ट रहती है, क्योंकि तेजोस्वयं सूर्यनारायणका अब जन्मका समय है । देखिये । योके ही समयमें सहस्ररश्मी सूर्य भगवान् उदयको प्राप्त होंगे और संपूर्ण जगत्को नवजीवनसे संचारित करेंगे । तमोगुणी अंधकारका नाश होगा और सत्वगुणी प्राणमय प्रकाश चारों ओर चमकने लगेगा । देखिए अब सूर्यका उदय हो गया है, यह सूर्यबिंब कैसा मनोरम, रमणीय, स्फुरण देनेवाला, आनंदको बढानेवाला, तेजका अर्पण करनेवाला, तथा सहस्रों गुण गुणधि युक्त है । आप इसको केवल जन्म न समझिए । यह हमारे प्राणीका प्राण है, यह स्थावर जंगमका जीवनदाता है, इसके होनेसे हम जीवित रह सकते हैं और इसके न होनेसे हमारा मृत्यु है, ऐसा यह सूर्यनारायण हमारे जीवनका आधार, परमेश्वरके अद्वितीय तेजका यह सूर्य निःसंदेह व्यक्त पुंज है । इसकी कल्पनासे आप परमात्माकी अद्वितीय तेजसिताकी कल्पना कर सकते हैं । इस उच्च दृष्टिसे आप इसका निरीक्षण कीजिए । उदय होते ही इसका तेज बढने लगता है । तात्पर्य यह पूर्व दिशा इरएकको उदयके मार्गकी सूचना दे रही है, अभ्युदयका रास्ता बता रही है, अपनी तेजसिता बढानेका उपदेश कर रही है । वेद कहता है कि यह 'उदयकी दिशा' है । सबका उदय यहाँसे हो रहा है । हे मनुष्य ! तुम प्रतिदिन इसका ध्यान और अपने उदयका मार्ग सोचो ।

सूर्योदयका और सब तारागणोंका उदय देखते हुए आप अपने उदयके मार्गकी सूचना निःसंदेह ले सकते हैं । यदि एक समय अस्तको पहुँचा हुआ सूर्य पुरुवार्यसे फिर अपनी परिपूर्ण तेजस्वित्ताके साथ उदयको प्राप्त हो सकता है, यदि क्षयरोगके कारण अस्त क्षीणताकी पहुँचा हुआ अंधमा प्रतिदिन शनैः शनैः प्रयत्न करता हुआ फिर पूर्णिमाके दिन अपने परिपूर्ण वैभवको इसी पूर्व दिशासे प्राप्त हो सकता है, इसी प्रकार यदि सब तारागण एक बार अस्तगत होनेपर भी पुनः पूर्वोदय उदयको प्राप्त कर सकते हैं; तो क्या मनुष्य, किसी कारण अवनातिमें पहुँच गये होंगे, तो भी उन्नत नहीं होंगे ? जिध मनुष्यके हृदयमें प्रत्यक्ष आत्मा बैठा है, जिस मनुष्यके शरीरमें सब सूर्योदयदि देवताओंने प्रत्यक्ष जन्म लिया है, ऐसा मनुष्य कि जो ३३ कोटि देवताओंका सत्वरूप है, वह पुरुवार्य करनेपर भी अवस्थामें क्योंकर रह सकता है ! न केवल अभ्युदयपर इसका परिपूर्ण अधिकार है, परंतु यह अपना जैसा चाहे वैसा अभ्युदय अपने ही स्वावलंबनसे और अपने ही पृथ्वार्यसे निःसंदेह प्राप्त कर

१६ / अपर्य, माध्य, काण्ड ३)

सकता है । व्यक्तिगत और सघन, अर्थात् अपना और आतीका, निजका और राष्ट्रका इसी दृढ भावनासे उदय हो सकता है । पूर्व दिशाके अवलोकनसे मनमें ये विचार उत्पन्न हों सकते हैं ।

पश्चिम दिशाकी विभूति ।

दिशाओंको विभूतियोंका वर्णन करते हुए पूर्व स्थलमें पूर्व दिशाको वैदिक कल्पना बताई है, अब इस लेखमें पश्चिम दिशाकी कल्पना बताना है । वैदिक क्रम देखा जाय तो पूर्व दिशाके पश्चात् दक्षिण दिशाका वर्णन आना योग्य है, और यह वैदिक दृष्टिसे ठीक भी है; क्योंकि उदयके मार्गके साथ साथ दक्षिण्यका मार्ग चलना चाहिए । अभ्युदय और दक्षताका सादृश्य समानता ही है । उदयकी इच्छाके साथ दक्षिण्यका अवलंबन करनेकी आवश्यकता है, इसमें कोई संदेह ही नहीं है । तथापि पूर्व और पश्चिम दिशाओंकी विभूतियों परस्पर सापेक्षताका संबंध रखता है, इसलिये वैदिक कल्पनाकी स्पष्टता होनेकी इच्छासे पूर्व दिशाका वर्णन होनेके पश्चात् पश्चिम दिशाका वर्णन करनेका संकल्प किया है । यह सापेक्षताका संबंध देखिए—

पूर्व	पश्चिम
उदय	अस्त (अस्त हुई)
जन्म	मृत्यु (स्व-रूप प्राप्ति)
प्रकाशका प्रारंभ	अंधकारका प्रारंभ
प्र-वृत्ति	नि-वृत्ति
पुरुवार्य	विभ्रान्ति
प्राची	पृथ्वी
प्र-अंश	प्रति-अंश
हलचल	शांति
आप्रति	अप्रति
दिन	रात्री

इन दो दिशाओंका परस्पर सापेक्ष संबंध देखनेसे वैदिक कल्पनाकी अधिक स्पष्टता हो जायगी । इसलिये क्रमप्राप्त दक्षिण दिशाका विचार न करते हुए पश्चिम दिशाका ही विचार यहाँ प्रथमतः करना है । देखिए—

पश्चिम शांतिकी दिशा है । इस शांतिकी दिशाका जलाधिपति वरुण स्वामी है, क्योंकि जलका ही गुण शांति है और वह वरुणके आधीन है । इसीलिये इसको वर अर्थात् श्रेष्ठ कहते हैं । अथवा ' वर ' शब्द गौणवृत्तिसे उदक वाचक भी है, विश्वके पास ' वर ' अर्थात् उदक है, वह वरुण कहलाता है । जलाधिपतिका संबंध अलके साथ होना स्वाभाविक ही है, अलके विना अलकी उत्पत्ति ही नहीं सकती । जलका भोजन करनेसे

सुखादाति और अन्नका पाल करनेसे सुखादाति होती है, अर्थात् खानपानके कारण प्राणियोंके अन्दर परिपूर्ण शक्ति होनेके कारण उत्साह बढ़ता है । इस प्रकार इस दिशासे बनताही शक्तिका संश्लेष है ।

अब पश्चिम दिशाकी विभूति देखिए— व्यक्तिके देहमें शुद्ध भाग, आहुतमें तारुण्यकी स्वस्था, दिनमें सार्वकालका समय, दिनकी पुरत मानौए और यह दिन अपनी श्रौं रात्रिके साथ मिलने जाता है, यही दिन और रात्रिका मिश्रण है, इसी प्रकार शीतुष्णका मिश्रण होता है, इसलिये तारुण्यावस्था पश्चिम दिशा है, शोषण घटिका अहीराज अपना पूर्ण दिवस होता है, वसमें ११ घंटे व्यतीत होते हैं, यह आहुतमें मन्थन अथवा तारुण्यावस्था है, इस समय सूर्य विद्यमानके लिये पश्चिम दिशामें जाता है । शत्रुभूमिमें वर्षा ऋतु, महिनेमें प्राक्कण, माघवद कालमें परान्य काल, वर्षामें वैश्य वर्ण, आश्रममें वृहस्पति, पुरषार्थमें काम, दुर्गमें द्वारपुत्र, अन्नस्याभोगें सुशुक्तिहत्यादि पश्चिम दिशाकी विभूति है । इसका विचार और आदीत्मन करके इस धननामें न्यूनाधिक करना उचित है । शाश्वततया योगादा रूप यहाँ वर्णन किया है ।

पश्चिम दिशाकी इस प्रकार भाव अमूर्त और व्यापक मानिए । एक विशेष भाव इस शब्दसे ध्यानमें लाना है । साधारण लोक पश्चिम दिशासे सुखाला होनेकी दिशा समझते हैं, परन्तु इससे कई गुणा अधिक और व्यापक अमूर्त भाव देहमें है, जिसका ज्ञान होनेके विना दिशा शोधक वैदिक मंत्रोंके शब्दोंका आशय समझने ही नहीं आयेगा ।

‘प्रति-अंश्व’ शब्दसे ‘प्रतीची’ शब्द बनता है । इसका धारण्य पीछे हटना, निवृत्त होना, अंतर्मुख होना, विभ्रानकी तैयारी करना इत्यादि प्रकार होता है । सूर्य दिनभर प्रवृत्ति रूप कार्य करनेके पश्चात् विभ्रानकी तैयारी करके पश्चिम दिशाका आश्रय करता है । मानो कि सब जगत्की दिनभर प्रकाश देनेके पश्चात् विभ्रान्तिके लिये अग्नि घर जाता है, और रात्रिके साथ संलग्न होता है । इसी हेतुसे रात्रिकी ‘रमदिशो’ अर्थात् रमण करनेवाली यही जाता है । पुरुर भी इसी प्रकार दिनभर अग्नि से अन्वहार करता हुआ जब यज्ञ जाता है तब पर आह्वय अपनी परलोकके साथ रहता हुआ शक्ति पाता है । सूर्य तपता है इसलिये तपस्वी है, यह तप उसका प्रद्वर्ण्य है, इस प्रद्वर्ण्य अंतके पश्चात् यह रात्रिके साथ रजमान होनेसे पृथ्वी बनता है, यही उषका पश्चिम दिशाका धर्म है ।

एषर प्रद्वर्ण्यधर्ममें नियमों और अंतके कारण, तपनेवाला प्रद्वर्ण्य भी पृथ्व्याधर्ममें प्रविष्ट होकर जाता होता है, यही

व्यक्तिका पश्चिम दिशाका धर्म है । वर्षामें प्रद्वर्ण्य धर्म तप-निकर्षके तब करता है, यह प्रद्वर्ण्य धर्म तपस्वके लिये ही है । परन्तु वैश्य धर्म शक्तिसे धर्म रहता, वैशे धमादा और आनंद पाता है । न तो इस वर्षके प्रद्वर्ण्यके समान तपस्वके यह है और न अग्निवदेक समान युद्धके दुःख हैं । शक्तिके साथ पृथ-सौख्य भोगके कारण यह वैश्य धर्म चतुर्धर्ममें शक्ति और विश्रामका अंतर्ग्र पश्चिम दिशाका स्थान है । शत्रुभूमिमें रहंत और अंत्य लक्ष्णसे तपनेवाले हैं, परन्तु शक्तिमें सर्वत्र शीत अन्नकी वृष्टि होनेसे नदी, नद, टाटाव और हृष्ट अन्ते परिपूर्ण होनेके कारण सर्वत्र शक्ति का आनंद होनेसे सब भूमि हरिपावकसे सुन्दर और शीत दिवस ईश्वरी है, इसलिये शत्रु-भूमिमें वर्षा शत्रु पश्चिम दिशाकी विभूति माना है । इसी दृष्टिके अन्तर्ग्र देखिए और सर्वत्र पश्चिम दिशाकी विभूति माननेका यत्न कीजिए । इस प्रकारकी भावना पश्चिम दिशाके वैदिक मंत्रोंमें है, इसलिये इसकी यथावत् धरना होनेसे ही मंत्रोंका आशय हृदयमें विकसित हो सकता है ।

उत्तर दिशाकी विभूति ।

पूर्व दो लेखोंमें ‘पूर्व और पश्चिम’ दिशाकीकी विभूतियोंका वर्णन किया गया है, उन्ही क्रमानुसार इस लेखमें उत्तर दिशाका विचार करना और उस दिशाकी विभूतियोंका स्वल्प अवलोकन करना है । पश्चिम दिशाके पश्चात् अग्रागत ‘उत्तरा’ दिशा है । उत्तर दिशाका भाव निम्न प्रकार देखा जा सकता है—

उत्तर	उत्तरीची
उत्-उत्तर	उत्-अंश्व
उत्थ-उत्तर	उत्थ-गति

(उत्) उत्पन्नाने (उत्) अधिक जो भाव होता है, यह : उत्तरा’ किंवा ‘उत्-उत्तर’ शब्दसे बताया जा सकता है । उत्पन्नानेकी दिशा, अधिक उत्पन्नानेके मातृकी दिशा यह इस शब्दका आशय है । जिस प्रकार पूर्व दो लेखोंमें बताया गया है कि ‘प्राची और प्रतीची’ दिशा क्रमशः ‘प्रपति और विश्राम’ की सूचक दिशा है, उसी प्रकार अन्तर्ग्र कि यह ‘उत्तरीची दिशा तब शक्तिकी सूचक है, व्यक्तिके शरीरमें यह उत्तर दिशा ‘बायी बगल’ के साथ सम्बन्ध रहती है ।

शरीरमें बायाँ बगल उत्तर दिशा है, इसी भी हृदय सुख है इसका आशय अन्तर्ग्र है । अंगुष्ठ मात्र पुरुर हृदयमें रहता है, यह उत्तरदिशाका धर्मन यहाँ देखने योग्य है । इसका ‘स्वजः’ उचित है । ‘स्य-ज’ शब्द स्वयंसे उत्पन्न होनेवाली शक्ति का शोधक है । आत्मतकी स्वयंसे उचित

यहाँका रक्षण होता है । बाहरेकी शक्तिये यहाँका कार्य होना ही नहीं है । आत्माकी निज शक्तिका ही प्रभाव यहाँ होना आवश्यक है । आत्माके प्रेमसे तथा परमात्माकी भक्तिसे हृदयके शुभ-मंगलमय होनेकी संभावना यहाँ स्पष्ट हो रही है ।

उत्तरे राष्ट्र प्रजयोचराधिदिनासुदीर्घां कृणवन्नो
अग्रम् । पांक्तं छंदः पुरुषो यभूय विश्वैर्विभ्वांगोः
सह संभवेम ४ १० ॥ (अथर्व. १२।३)

“ (उत्तरे राष्ट्र प्रजया उत्तराधि) उत्तर दिशा
एता ही विश्वकी राष्ट्रीय दिशा है । इसलिये (ना) हम सब-
को (अग्रं) अग्रभागमें बढनेकी इच्छा धारण करते हुए इसी
उत्तर दिशासे प्रयत्न करना चाहिए । (पांक्तं) पांच वर्णोंमें
विभक्त (पुरुषः) नागरिक जन ही इसका छंद है । इसलिये
सब वर्णोंके साथ हम सब (सह संभवेम) मिलकर रहें,
अर्थात् एकतासे पुनर्पार्थ करें । ”

राष्ट्रमें सब हेतुकी भावना ही उत्तर अर्थात् उत्तर दिशा
है । इस दिशाके प्रगटिका साधन और अभ्युदयके मार्गका
अवलोकन करनेवाले राष्ट्रके प्रत्येक मनुष्यके अंदर यह भावना
चाहिये, कि मैं (अग्रं) अग्रभागमें पुर्णत्व करता हुआ पहुँच
जाऊँगा । मैं कभी पीछे नहीं रहूँगा । राष्ट्रमें पांच वर्ण होते हैं,
ज्ञानके कारण ब्राह्मणोंका श्रेतवर्ग, क्षात्रके कारण राजगुरु प्रधान
वृत्रिर्षीका रक्षवर्ग, वैदिक कार्य करनेवाले, धनसंग्रह करनेवाले
वैश्योंका पीतवर्ग, कारीगरोंका अर्थात् सत्त्वद्रोका नीलवर्ण और
अधमूल्य अंगलियोंका कृष्ण वर्ण होता है । सब जनता इन पांच
वर्णोंमें विभक्त है, इसलिये पंचवर्णोंके राष्ट्रका वैदिक नाम
' पांचजन्य ' है । ' पांच-जन्यका महानाद ' ही जनताका

सामूहिक मत हुआ करता है । जो पुरि अर्थात् नगरमें बसते
हैं उनका नाम पुरुष अर्थात् नागरिक होता है । (पुरि-वस,
पुर-वस, पुर-उप, पुरुष) ये पुरुष अर्थात् नागरिक
पक्षिसे चार वर्ण हैं, और पाँचवा निषाद वर्ण नागरिकोंसे भिन्न
है, इसलिये कि वह अंगलमें रहता है । अंगल निवासी भी राष्ट्रके
अवयव हैं, जैसे नागरिक होते हैं । इसलिये ' पांच-जन्य '
राष्ट्रमें सब लोक आते हैं जिस प्रकार वैदिक राष्ट्रीय पांचजन्यकी
कल्पनामें सब पाँचों प्रकारके जनताका अन्तर्भाव होता है उस
प्रकारका ' पांचजन्य राष्ट्र ' का अर्थ और आशय बतानेवाला
शब्द किसी अन्य भाषामें नहीं है । इससे पता लगता है, कि
वैदिक राष्ट्रीयताकी कल्पना कितनी उच्च और केशी व्यापक है ।
सब अवयवों और अंगोंके साथ जब प्रेमरूप एकताका भाव होता
है तभी राष्ट्रीय एकताकी अद्भुत शक्ति निर्माण होती है, जिससे
राष्ट्रकी उत्तमतर दिशाके अभ्युदयके मार्गसे जाना सुगम
होता है । इस प्रकार उत्तर दिशाकी विभूति है ।

जगतमें जो उत्तर दिशा है वह-सब जानते ही हैं, यही उत्तर
दिशा व्यक्तिके शरीरमें बायीं बगल है, राष्ट्रमें उत्तर दिशा
चनेत्पादक कारीगर वर्ण है, ऋतुओंमें उत्तर दिशा शरदरतु है,
महिनोंमें आश्विन-कार्तिक मास हैं, वर्णोंमें सत्त्वद्रोधा कारीगर
वर्ण है, छंदोंमें अनुष्टुप् छंद, भावनाओंमें उच्च-तर हेतुकी
महत्वाकांक्षा है, इत्यादि प्रकार इस उत्तर दिशाकी विभूति है ।
इस दृष्टिसे सर्वत्र उत्तर दिशाकी विभूति देखकर पाठक बोध ले
सकते हैं ।

पाठक अन्य दिशाओंके विषयमें इस प्रकार विचार करके
जानें और इस दंगसे इन चो सूक्तोंका मनन करके बोध प्राप्त करें ।

पशुओंकी स्वास्थ्यरक्षा ।

(१८)

(श्लोकः — प्रक्षा । वेवता — यमिनी)

एकैकयैषा सुष्टया सं बभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतां विश्रूपाः ।

यत्र विजायते यमिन्यपतुः सा पशून्धिणाति रिफती रुश्वी

॥ १ ॥

अर्थ— (यत्र भूतकृतः विश्वरूपाः गाः असृजन्त) जहाँ भूतोंको बनानेवालोंने अनेक रंग रूपवाली मौँवें बनाईं,
वहाँ (यथा) यह गौ (एक-एकथा सुष्टया सं बभूव) एक एकके क्रमसे बधा उत्पन्न करनेके लिये उत्पन्न हुई है । (यत्र
अप-ऋतुः यमिनी विजायते) जहाँ ऋतुकालसे भिन्न समयमें जुटे बच्चोंको उत्पन्न करनेवाली गौ होती है वहा (सा
रुश्वी रिफती) वह गौ पीडा देती हुई और कष्ट उत्पन्न करती हुई (पशून् धिणाति) पशुओंको नष्ट करती है ॥ १ ॥

एषा पशून्सं क्षिणाति क्रुव्याद्भृत्वा व्यद्वरी ।

उत्तैर्ना दृक्षणे दद्याच्चर्या स्योना शिवा स्यात् ॥ २ ॥

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।

शिवासै सर्वेस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैषि ॥ ३ ॥

इह पुष्टिर्हि रसं इह सहस्रंसातमा भव ।

पशून्यमिनि पोषय ॥ ४ ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मरुन्ति विहाय रोगं तुन्वतुः स्वायाः ।

तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत्पुरुषान्पशून् ॥ ५ ॥

मर्च— (एषा क्रुव्याद् भृत्वा व्यद्वरी) यह गौ मांघ खानेवाले कृमिके समान होकर (पशून् सं क्षिणाति) पशुओंका नाश करती है । (उत्तैर्ना दृक्षणे दद्यात्) इसलिये इस गौको आहारके पास भेजनी चाहिये (तथा स्योना शिवा स्यात्) जिससे यह सुखदायी और कल्याणकारिणी हो जावे ॥ २ ॥

(पुरुषेभ्यः शिवा भव) पुरुषोंके लिये कल्याण करनेवाली हो, (गोभ्यः अश्वेभ्यः शिवा) गौओं और घोड़ोंके लिये कल्याण करनेवाली हो, (असै सर्वेस्मै क्षेत्राय शिवा) इस सब भूमिके लिये कल्याण करनेवाली होकर (नः शिवा येषि) हमारे लिये सुख देनेवाली हो ॥ ३ ॥

(इह पुष्टिः, इह रसः) यहाँ पुष्टि और यहाँ रस है । (इह सहस्रं-सातमा भव) यहाँ हजारों ताम देनेवाली हो और है (यमिनी) जुटे समान उत्पन्न करनेवाली गौ । (इह पशून् पोषय) यहाँ पशुओंको पुष्ट कर ॥ ४ ॥

(यत्र) जिस देशमें (स्वायाः तन्वतुः रोगं विहाय) अपने शरीरका रोग त्यागकर (सुहार्दः सुकृतः मरुन्ति) उत्तम हृदयवाले और उत्तम कर्मवाले होकर आनन्दित होते हैं, हे (यमिनी) गौ । (तं लोकं यमिसंबभूव) उस देशमें सब प्रकार मिलकर हो जाओ, (सा नः पुरुषान् पशून् मा हिंसीत्) वह हमारे पुरुषों और पशुओंको हिंसा न करे ॥ ५ ॥

भाषार्थ— यह उत्पन्न करनेवालेने अनेक रंगरूप और विविध गुणधर्मदली गौवें बनायी हैं । ये सब गौवें एक बार एक ही बच्चा उत्पन्न करनेके लिये बनाई हैं । अब यह गौ क्रतुको छोड़कर अन्य समयमें हकड़े दो बच्चे उत्पन्न करती है उस समय यह घातक और नाशक होती है, जिससे अन्य पशु भी नष्ट होते हैं ॥ १ ॥

जैसे मांघ खानेवाले पशु नाशक होते हैं उस प्रकार यह रोगी गौ नाशक होती है । इसलिये ऐसा होते ही इसको योग्य उपचारके बंध आहारके पास भेजनी चाहिये, वहाँ योग्य उपचारसे यह गौ सुखदायिनी बन जावे ॥ २ ॥

यह गौ मनुष्योंके लिये तथा घोड़े, बैल, गोरू आदि पशुओंके लिये इस भूमिके लिये और हम सबके लिये सुख देनेवाली बने ॥ ३ ॥

इस गौमें पोषणकारक गुण है, इसमें उत्तम रस है, यह गौ हजारों रीतियोंसे मनुष्योंको कामदायक होता है, इस प्रकारकी गौ सब पशुओंको यहाँ पुष्ट करे ॥ ४ ॥

जिस प्रदेशमें जाकर रहनेसे शरीरके रोग दूर होते हैं और शरीर स्वस्थ होता है, तथा जिस प्रदेशमें उत्तम हृदयवाले और उत्तम कर्म करनेवाले लोग आनंदसे रहते हैं, उस देशमें यह गौ जाय, वहाँ रहे; यहाँ रोगी अवस्थामें रहकर हमारे मनुष्यों और पशुओंको बच न पहुंचावे ॥ ५ ॥

यत्रां सुहादां सुकृतांमभिहोत्रहुतां यत्र लोकाः ।

तं लोकं यमिर्न्यमिसंबभूव सा नो मा हिंसीत्पुरुह्वान्पशून्

॥ ६ ॥

अर्थ— (यत्र यत्र सुहादां सुकृतां अमिहोत्रहुतां लोकः) जहाँ जहाँ शुभ हृदयवाले, उत्तम कर्म करनेवाले और अमि होत्रमें हवन करनेवालोंका देश होता है, दे (यमिनी) यौ (तं लोकं अमिसंबभूव) उस लोकमें मिलकर रह और (सा नः पुरुह्वान् पशून् च मा हिंसीत्) वह हमारे पशुओं और पशुओंकी हिंसा न करे ॥ ६ ॥

भावार्थ— जिस प्रदेशमें उत्तम हृदयवाले, शुभकर्म करनेवाले और अमिहोत्र करनेवाले सज्जन रहते हैं, उस देशमें यह गौ आर्य और वीरोग बने । रोगी होती हुई हमारे पशुओं और अन्य पशुओंको अपना रोग फैलाकर कष्ट न पहुंचावे ॥ ६ ॥

पशुओंका स्वास्थ्य ।

पशुओंका उत्तम स्वास्थ्य रहना चाहिये, अन्यथा एक भी पशु रोगी हुआ तो वह अन्य पशुओंका तथा मनुष्योंका भी स्वास्थ्य बिगाड़ सकता है । एक पशुका रोग दूसरे पशुको उभ प्रकृता है और इस कारण सब पशु रोगी हो सकते हैं । तथा गौ आदि पशु रोगी हुए, तो उनका रोगयुक्त दूध पीकर मनुष्य भी रोगी हो सकते हैं । इस अनर्थ परंपराधी वृद्ध करनेके लिये पशुओंका उत्तम स्वास्थ्य रक्षनेका प्रबंध करना चाहिये ।

पशुरोगकी उत्पत्ति ।

पशुओंमें रोग उत्पन्न होनेके तीन कारण इस सूत्रमें दिये हैं, वे आरण देखिये—

१ अप+शत्रुः = शत्रुके विरुद्ध आचरण करनेसे रोग उत्पन्न होते हैं । पशुओंके लिये जिस समयमें जो खानेपीने आदिषा प्रबंध होना चाहिये वह यथा योग्य होना ही चाहिये । उसमें अयोग्य रीतिसे परिवर्तन होनेसे पशु रोगी होते हैं । पूर्ण समयके पूर्व बच्चा उत्पन्न होनेसे भी गौ रोगी होती है ।

२ यमिनी विजायते = जुटे बच्चेको उत्पन्न करना । इससे प्रसूतिकी रीतिमें बिगाड़ होकर निविध रोग होते हैं ।

३ क्रम्याद् उपह्वरी भ्रूत्वा = मांस खानेवाली विशेष मत्स्यक होकर रोगी होती है ।

गौ जिस समय प्रसूत होती है उसके बाद गर्भस्थानसे कुछ मांस गिरते हैं । कदाचित्त वह गौ उक्त मांसको खा जाती है और रोगी होती है । अथवा मोनी आदि स्थानमें जुटे बच्चेके उत्पन्न होनेके कारण कुछ मृगादि होते हैं और वहाँ प्रसूति-स्थानका विष लगनेसे गौ रोगी होती है । इस प्रकार इस संबंधसे गौके रोगी होनेकी संभावना बहुत है । इसलिये गौके स्वामीको उचित है कि वह ऐसे समयमें योग्य सावधानता रखे और किसी प्रकार भी असावधानी होने न दे ।

ये सब रोग बड़े घातक होते हैं और यदि एक पशुको हुए तो उसके संसर्गमें रहनेवाले अन्यान्य पशुओंका भी नाश उक्त रोगोंके कारण हो सकता है । इसलिये जिसके घरमें बहुत पशु हैं उसको उचित है कि वह ऐसी अवस्थाओंमें बड़ा सावधानता रखे और अपने पशुओंके स्वास्थ्यरक्षाका उत्तम प्रबंध करे ।

रोगी पशु ।

पशुके स्वास्थ्यके विषयमें आवश्यक योग्य प्रबंध करनेपर भी गौ आदि पशु पूर्णतः कारणसि अथवा अन्यान्य कारणसि रोगी होते हैं । ऐसे रोगी होनेपर उनकी उत्तम देखरेख भेजना चाहिये, इस विषयमें कहा है—

उत एनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥
(सू. २८, अं. २)

‘ उस रोगी गौको ब्राह्मणके पास देना चाहिये, जिससे वह शुभ और कल्याण करनेवाली बने ’ अर्थात् उस रोगी गौको ऐसे सुयोग्य ज्ञानी वैद्यके पास भेजना चाहिये कि जिसके पास कुछ दिन रहनेसे वह वीरोग, स्वास्थ्य और शुभ बन जावे । यहाँ ‘ ब्रह्मन् ’ शब्द है; यह आर्यवेद साख और आभारवर्णी विकिरवा जलनेवाला ज्ञानी वैद्य है । ब्राह्मण ही वैद्यभिया करते हैं, इस विषयमें अन्यत्र कहा है—

यत्रौषधीः समम्मत राजानः समितामंशे ।
विभ्रः स उच्यते भिषग्द्रोहामीधचात्तनः ।

(अ. १०१५१६, वा. २. १२१८०)

‘ जिस विप्रके पास बहुत औषधियां होती हैं उस विप्रको वैद्य कहा जाता है, वही रोगके कृमियोंका नाश करता है और वही रोग भी दूर करता है । ’

इस प्रकारके जो वैद्य होते हैं उनके सुपुर्द वेडा रोगी गौको तत्काल करना चाहिये । जिनके पास रहती हुई वह गौ योग्य उपचार द्वारा आरोग्यको प्राप्त हो सके । जहाँ इस गौको भेजना चाहिये वह स्थान कैसा हो, इसका वर्णन भी देखिये—

यत्रा सुहादंः सुकृतां मदन्ति विहाय रोगं
तन्वः स्वायाः । (सू. २८, मं. ५)

यत्रा सुहादां सुकृतां मन्निहोद्भुतां यत्र लोकः ।
(सू. २८, मं. ६)

तं लोकं यमिग्याभि संयभूय ॥ (सू. २८, मं. ५-६)

'जहाँ प्रतिदिन अग्निहोत्रमें हवन करनेवाले लोग रहते हैं, और वहाँ उत्तम हृदयवाले और श्रेष्ठ कर्मकर्ता लोग रहते हैं, और जहाँ अपने शरीरका रोग दूर होकर धन आनन्दप्रसन्न हो सकता है, उस स्थानपर उस यौधेय भजनो चाहिये, जहाँ रहनेसे सब प्रकारसे स्वास्थ्य होगा ।'

स्वर्गलोकमें सब लोग अग्निहोत्रमें प्रतिदिन हवन करनेवाले हैं, क्योंकि स्वर्गलोकमें विविध प्रकारके रोगी आते हैं और उनके उत्पत्तिका विविध रोग फैलना संभव है, इस कारण वायु शुद्धिके लिये प्रतिदिन हवन होना योग्य है, इस प्रारभः कार्य किये अग्निहोत्रके हवनसे वायु निर्दोष होगा और रोगबीज नष्ट होगे, और ऐसे वायुसे रोगी भी शीघ्र नीरोग हो सकता है । यह स्वर्गलोकमें वायुशुद्धिके विषयमें कहा है । इसके आतिरिक्त स्वर्गलोकमें कर्मचारी प्रतिदिन निन्दमूर्खके हवन करनेवाले हैं, जिससे उनकी भी आरोग्य शिष्ट होगा और उस स्थानकी भी सुखता होगी ।

साय ही साय स्वर्गलोकके कर्मचारी (सु-कृतः) उत्तम गुण

कर्म करनेवाले पवित्र आत्मा होने चाहिये । इनकी पवित्रतासे ही रोगीका आधा रोग दूर हो सकता है । जो वैप पवित्र हृदयवाला और गुण कर्म करनेवाला होगा, उसका औषध भी अधिक प्रभावशाली होगा, क्योंकि औषधके साथ उतरे दिल्के गुण विचार भी बढे सहायक होगा ।

ऐसे कर्मचारी स्वर्गलोकवाले पारमिक वैद्यके पास भी जो रोगी जाय, वह उस कर्मजनके पवित्र वायुमंडलसे—

स्वायाः तन्वः रोगं विहाय । (सू. २८, मं. ५)

'अपने शरीरसे रोग दूर करके' पूर्ण शरीर होगा, स्वयं कोई संदेह नहीं । इसीलिये कहा है कि ऐसे वैदिक आचार-संघके अग्रज वैद्यके पास उस प्रकारके रोगी भी शीघ्र उत्तर लेजना चाहिये । वहाँ जाकर वह भी नीरोग बने और वहीसे वायु आकर ' परके मनुष्यों, गीतों, घोडों और पक्षी सब मृगिको पवित्र बनावे । (मं. ३)' नीरोग यौधेय मूत्र, यौधेय तथा यौधेय अलंत पवित्र होता है, परंतु रोगी यौधेय सब पदार्थ अलंत अग्निष्ट होते हैं । इसीलिये एक आधुनिक वैद्यक, वहाँ रहकर, पूर्ण नीरोगपदाकी प्राप्त होकर जब वह भी वायु आनेगी, तब वह मंगलकारिणी बनेगी, ऐसा जो उत्तम मंत्रमें कहा है, वह सर्वथा योग्य है । ' यौधेय अलंत पवित्र पदार्थ और अलंत रहते हैं । यह भी अलंत प्रकारसे सामझारी होती है, (मं. ५)' इसीलिये उसके आरोग्यके लिये दक्षतासे योग्य प्रबंध करना उचित है ।

संरक्षक कर ।

(११)

(ज्ञापिः — उदाहरणः । देवता — शिक्तिपाद् मयिः, कायः, भूमिः)

यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी संमासदः ।

अविस्तस्मात्प्र मुञ्चति दुक्तः शिक्तिपात्स्वभा

॥ १ ॥

अर्थ— (यत्) जिस प्रकार (यमस्य अर्था राजानः समासदः) नियमसे करनेवाले राजाके से राज्य करनेवाले समासद (इष्टापूर्तस्य षोडशं विभजन्ते) अथादिष्टा षोडशों आग विभक्त करते हैं । उक्त (दुक्तः) दिवा हुआ माग (अयिः) रख कर (शक्ति-पात्) दिवकोंको गिरानेवाला (स्व-घा) और अपना भाग करनेवाला होता हुआ (तस्मात् प्रमुञ्चति) उस मयसे छुटाता है ॥ १ ॥

भाषार्थ— नियमसे प्रजाका पालन करनेवाले राजाके से राजघमाके समासद वस्तुतः कथि राजा ही हैं । ये प्रजाके कष्ट आदि प्रातिष्ठा सोचकर ही माग कर रखके करते हैं । राजाके दिवा हुआ वह षोडशों आग सब राजका संरक्षण करता है, प्रजाको दुःख देनेवाले को होते हैं उनको दण्ड देकर दण्डता है, प्रजाकी कल्याण करनेवाला है और उनकी मयसे मुक्तता करता है १ ॥

सर्वान्कामान्पूरयत्याभवंप्रभवन्भवन् । आकृतिप्रोऽविर्दृषाः श्रित्तिपाषोपं दस्यति ॥ २ ॥

यो ददाति श्रित्तिपादुमर्विं लोकेन संमितम् ।

स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ॥ ३ ॥

यज्ञापूर्णं श्रित्तिपादुमर्विं लोकेन संमितम् । प्रदातोपं जीवति पितृणां लोकेऽर्क्षितम् ॥ ४ ॥

यज्ञापूर्णं श्रित्तिपादुमर्विं लोकेन संमितम् । प्रदातोपं जीवति सूर्याम्रासयोरर्क्षितम् ॥ ५ ॥

रैव नोपं दस्यति समुद्र इव पर्यो महत । देवौ संवासिनाविष श्रित्तिपाषोपं दस्यति ॥ ६ ॥

अर्थ— यह (दृषः) दिया हुआ भाग (आकृति-प्रः) संकल्पोंका पूर्ण करनेवाला, (श्रित्ति-पात्) हिंसकोंको दवानेवाला, (अविः) संरक्षण करनेवाला, (आ-भवन्) फैलानेवाला, (प्रभवन्) प्रभावशाली, (भवन्) अस्तिरूपका हेतु होता हुआ (सर्वान् कामान् पूरयति) सब कामनाओंको पूर्ण करता है और (न उपदस्यति) विनाश नहीं करता ॥ २ ॥

(यः लोकेन संमितं) जो सब लोगों द्वारा समानित (श्रित्ति-पादं मर्विं ददाति) हिंसकोंके नाश करनेवाले संरक्षक भागको देता है (सः नाकं अभ्येति) यह दुःखराहित स्थानको प्राप्त करता है, (यत्र अबलेन बलीयसे शुल्कः न क्रियते) जहाँ निर्बल मनुष्यको बलवानके लिये धन देना नहीं पड़ता है ॥ ३ ॥

(पद्भ्य-अ-पूर्णं) पाँचोंको न सजानेवाले अतएव (लोकेन संमितं) जनता द्वारा संमत (श्रित्ति-पादं मर्विं) हिंसकोंको दवानेवाले संरक्षक कर भागको (प्रदाता) देनेवाला (पितृणां लोकेऽर्क्षितं उपजीवति) विप्रेदयमें अक्षय-ताके जीवित रहता है ॥ ४ ॥

(पद्भ्य-अ-पूर्णं) पाँचोंको न सजानेवाले (लोकेन संमितं) जनताद्वारा समानित (श्रित्ति-पादं मर्विं) हिंसकोंके गिरानेवाले संरक्षक कर भागको (प्रदाता) देनेवाला (सूर्या-सामयोः अर्क्षितं उपजीवति) सूर्य और चन्द्रके साक्षिण्यमें अक्षयताके साथ जीवित रहता है ॥ ५ ॥

(इरा इव) भूमिके समान तथा (महत् पयः समुद्र इव) बड़े जलनिधि महासागरके समान और (स-वासिनौ देवौ इव) साय साय निवास करनेवाले प्राणरूप दो देवोंके समान (श्रित्तिपात् न उपदस्यति) हिंसकोंको दवानेवाला यह भाग विनाश नहीं करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ— यह दिया हुआ कर प्रजाके सब अभ्युदयके संकल्पोंको पूर्ण करता है, दुष्टोंका दमन करता है, सुष्टोंका पालन करता है, राष्ट्रका विस्तार करता है, वीरोंका प्रभाव बढ़ाता है और जातीका अस्तिरूप स्थिर रखता है, साय साय सब जनताके मनोरथ पूर्ण करता है और किसी भी प्रकार प्रजाका नाश नहीं करता ॥ २ ॥

इसलिये सब लोग राजाको यह कर देना पसंद करते हैं । जो लोग दुष्टोंको दबाकर सजनोंका प्रतिपाल करनेवाला यह कर राजाको देते हैं, वे मानो, कुछ पूर्ण स्थानको प्राप्त करते हैं, फिर उस स्थानमें कोई बलवान मनुष्य निर्बलके अवरदस्तावेध घन लेनेवाला नहीं रहता और न कोई निर्बल मनुष्य अपनी शांति होनेताके कारण बलवानके लिये धन अर्पण करता है ॥ ३ ॥

यह कर पञ्चवनोंको न गिरानेवाला, दुष्टोंको दवानेवाला और सत्युत्सवोंका पालन करनेवाला है, इसलिये सब जनता इसको राजाके पास समर्पण करती है । जो लोग यह कर देते हैं वे संरक्षकोंकी रक्षामें सदा सुरक्षित रहते हैं ॥ ४ ॥

यह कर पञ्चवनोंको न गिरानेवाला, दुष्टोंका दमन करनेवाला, सजनोंका पालन करनेवाला है, इसलिये सब लोग आनन्दके राजाको यह देते हैं । जो कर देते हैं वे सूर्य और चन्द्रमाके प्रकाशमें सुखसे रहते हैं ॥ ५ ॥

दुष्टोंको दवानेके लिये दिया हुआ यह कर भूमिके समान आषाढ़ देनेवाला, समुद्रके बबके समान शान्ति देनेवाला और प्राणोंके समान सबका रक्षक होता है और किसीका विनाश होने नहीं देता ॥ ६ ॥

क इदं कस्माद् अदात्कामः कामायादात् ।

कामो दाता कामः प्रतिप्रहीता कामः समुद्रमा विवेक्ष ॥

कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत्त्वे

॥ ७ ॥

भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णास्त्वन्वरिंधमिदं महत् ।

माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिधि

॥ ८ ॥

अर्थ— (कः इदं कस्मै अदात्) किसने यह कियेको दिया है ? (कामः कामाय अदात्) मनोरथने मनोरथको दिया है । (कामः दाता) काम ही दाता है, (कामः प्रतिप्रहीता) काम ही लेनेवाला है, (कामः समुद्रं आविवेक्ष) काम ही समुद्रमें प्रविष्ट होता है । (कामेन त्वा प्रतिगृह्णामि) इच्छासे ही तेरा स्वीकार करता हूं । हे काम ! (एतत् त्वे) यह सब तेरा ही है ॥ ७ ॥

(भूमिः) पृथ्वी और (इदं महत् अन्तरिक्षं) यह सब अन्तरिक्ष (त्वा प्रतिगृह्णामि) तेरा स्वीकार करे । (माहं प्रतिगृह्य) मैं प्राप्त करके (प्राणेन आत्मना, प्रजया) प्राणसे, आत्मासे और प्रजासे (मा मा मा विद्याधिधि) न अलग हो जाऊं ॥ ८ ॥

भावार्थ— भला, यह कर कौन किसको देता है ? काम ही कामको देता है । इस जगत्में मनकी इच्छा ही देने और लेनेवाली है । यही कामना मनुष्यको समुद्रपर प्रणम कराती है । इस कामसे ही मनुष्य बड़ी आराधना खर्च सिरपर लेता है । यह सब जगत्का व्यवहार कामकी महिमा ही है ॥ ७ ॥

इस पृथ्वीपर और आकाशमें कामनाका ही संचार हो रहा है । इस कामनाका विस्तार करता हुआ मैं प्राण, आत्मा और प्रजासे दूर न होऊं ॥ ८ ॥

राज्यशासन चलानेके लिये कर ।

राजा राज्यका शासन करता है । इस महत्वपूर्ण कार्यके लिये प्रजा उसकी ' कर ' समर्पण करती है । इस करका प्रमाण कितना होना चाहिये, अर्थात् प्रजा अपनी प्राप्तिपर कितनी भाग राजाको समर्पित करे, और राजा उस धनका किन कार्योंमें उपयोग करे, इस विषयका उपदेश इस सूत्रमें किया है । अतः राज्यशासनका विचार करनेवालोंको यह सूत्र बड़ा बोधप्रद है ।

प्राप्तिका सोलहवाँ भाग ।

प्रजाको जो आमदनी होती है, उसका सोलहवाँ भाग राजाको देनेके लिये राजसभाके सभासद अलग करते हैं यह वर्णन पड़ते हैं । मंत्रमें है—

अग्नी समासद् इष्टापूर्त्स्य षोडशं विभजन्ते ॥

(सू. २९, मं. १)

' राजसभाके ये सभासद प्रजाकी प्राप्तिसे सोलहवाँ भाग अलग करते हैं । ' और यह सोलहवाँ भाग राजाको प्रजासे

मिलता है । यह कर है जो राजाको राज्य चलानेके लिये देना चाहिये । खेतसे जो बान्ध उत्पन्न होगा उसका सोलहवाँ भाग राजाकी आमदनाके सभासद लेकर समझें करें । जो उत्पन्न होगा उसका सोलहवाँ भाग लेना है । अर्थात् साधारण बेटी करनेवालोंसे इतना बान्धके रूपमें ही यह कर लिया जायगा । बान्ध उत्पन्न करनेवालोंसे धनके रूपमें नहीं लेना है, प्रत्युत जो परार्थ उत्पन्न होगा उस परार्थका सोलहवाँ भाग लेना है । जिस परार्थका भाग ही नहीं सकता उसके मूल्यका सोलहवाँ भाग लिया जायगा तथा जो वैश्य धन कमाते होंगे, उनके धनकी कमाईका वह भाग धनके रूपमें लिया जायगा । पर देनेके विषयमें यह वेदकी आज्ञा सुस्पष्ट दिखाई देती है और यह कर प्रजाके लिये कभी अक्षय नहीं हो सकता ।

उत्पन्नका सोलहवाँ हिस्सा लेनेके लिये वेदकी आज्ञा है परंतु सृष्टिमयोंमें छठी भाग लेनेतक करदी इति हुई है और मात्र कल तो ऋद्धं गुण्य इति हुई है । इस मंत्रमें ' विभजन्ते ' क्रिया वर्तमानकालकी है । राजसभाके सभासद स्वयं उत्पन्न देकर उसका सोलहवाँ भाग अलग करते हैं, अर्थात् वे

क्षेत्रमें धान्य तैयार होनेपर धान्यकी रागीके पास जाते हैं और उसके सोलह भाग करके एक भाग राजप्रबंधके लिये ले लेते हैं । केवल अंदाजासे नहीं लेते, परंतु प्रत्यक्ष प्राप्ति देखकर उसमेंसे उक्त भाग लेते हैं, यह बीच वर्तमान कालवाचक 'जमी सभासदः विभज्जन्ते' इस वाक्यसे प्राप्त होता है । अकालके दिनोंमें धान्य कम उत्पन्न हुआ तो कर कम लेते हैं, और अकालमें अधिक उत्पत्ति हुई तो अधिक लेते हैं । आजकालके समान तुकाल और अकालमें एक जैसे प्रमाणसे नहीं लेते । पाठक यह बौद्धिक रीति देखें और इसकी विशेषताका अनुभव करें ।

प्रासिके दो साधन ।

आमदनीके दो मार्ग होते हैं, एक 'इष्ट' और दूसरा 'पूर्त' । मनुष्य जो अपनी इच्छासुसार अशोध व्यवहार करते हैं और उससे कमाई करते हैं, उसको 'इष्ट' कहते हैं, इसमें उपयोगधंदे, शिल्प आदिका समावेश होता है, इसमें कर्ताकी इच्छापर व्यवहारकी सत्ता निर्भर है । दूसरा है 'पूर्त' । इसमें जामाकी इच्छा हो या न हो, आमदनी होती रहती है, जैसे बाणधे फलादिकोंका उत्पन्न होना, कृषिके धान्य मिलना, पक्षि-लेवे बड़े हुए वृक्षोंसे फल प्राप्त होना इ० । जली हुई पूर्ण व्यवस्थासे जो प्राप्ति होती है उसका नाम पूर्त है, जमींदारोंको जो उत्पन्न होता है वह 'पूर्त' है क्योंकि जमींदारके प्रयत्न न करनेपर भी वह इतने कीचकी पूर्तता करता रहता है । इष्ट व्यवहारका बैधा नहीं है; वह इच्छापूर्वक कामधेरा करके सफलता होनेपर प्राप्ति हांती है, यह प्रयत्नसाध्य है । इष्ट और पूर्तमें यह भेद है । मनुष्योंके व्यवहारोंके ये मुख्य दो भेद हैं ।

आजकाल 'इष्ट' का अर्थ 'व्यवसाय' और 'पूर्त' का अर्थ सर्वजनोपयोगी कृप, तालाब, धर्मशाला आदि करना समझते हैं, इन शब्दोंमें यह अर्थ है, परंतु यह केवल एक ही भाग है । इन शब्दोंके संपूर्ण अर्थ केवल ये ही नहीं हैं । इस समय विचार करनेके सूत्रमें 'प्रजाकी आमदनीसे सोलहवां भाग कर रूपसे लिया जाता है' ऐसा कदा है । सब प्रसंगमें 'सब और कृपे' का सोलहवां भाग राजा लेता है ऐसा मानना अव्योक्त है, इधर-लिये चारों वर्णोंके व्यवहारकी दृष्टिसे होनेवाला और जिससे राजाको सोलहवां भाग कर रूपसे प्राप्त हो सकता है वैधा अर्थ ऊपर लिया है । यज्ञादि अर्थ लेनेके प्रसंगमें प्रजाके कृतृत्वाका जो पुत्र होगा उसका कुछ भाग राजाके यज्ञ संवर्धनके लिये उसको प्राप्त हो सकता होगा । परंतु इससे संपूर्ण राज्यशासन नहीं चल सकता, अतः आमदनीके विषयका अर्थ ही यहाँ लेना योग्य है ।

उक्त प्रकारकी रीतिके दो प्रकारके व्यवहारोंसे होनेवाली प्रासिका सोलहवां भाग राजाके सभासद राज्यशासन चलानेके

लिये प्रजासे कर रूपमें लेते हैं, यह प्रथम मंत्रार्थका कथन है । यहाँ राजाका भी लक्षण देखना चाहिये—

राजा कैसा ही ।

इस सूत्रमें राजाका नाम 'यम' आ गया है । यमका अर्थ 'स्वाधीन रखनेवाला, नियमसे चलनेवाला, धर्मका पालन करनेवाला' है । 'यम-धर्म' इस शब्दसे भी यमसे धर्मका संबंध स्पष्ट होता है । राज्य चलानेके जो धर्मनियम होते हैं उनके अनुसार राज्यशासन करनेवाला राजा यहाँ इस शब्दसे बोधित होता है । इससे स्पष्ट है कि यहाँका राजा मनमानी बातें करनेवाला नहीं है, प्रस्युन राजधर्मके नियमोंके अनुसार तथा जनताके प्रतिनिधियोंकी संमतिके अनुसार राज्य चलानेवाला है । यह राजा राजसभाके सदस्योंके समूह और धर्म-नियमोंसे बद्ध है, स्वेच्छाचारी नहीं है । वस्तुतः इसके राज्यमें—

अमी सभासदः राजानः । (सू० १९, मं. १)

'राजसभाके ये सभासद ही राज्यशासन करनेवाले राजा हैं ।' राजा तो नाम मात्र अधिकारी रहकर, उन सभासदोंकी संमतिके जो नीति निश्चित होती है, उसके अनुसार राज्यशासन चलाता रहता है । वेदकी यह नियमबद्ध राजसभा यहाँ देखने योग्य है । इस राजाको राजसभाके सदस्य प्रजाकी आमदनीका सोलहवां भाग राज्यशासनके व्ययके लिये प्रजासे करके रूपमें लेते हैं । इसका उपयोग कैसा किया जाता है, यह अब देखिये । यह प्रजासे प्राप्त होनेवाला कर क्या क्या करता है इस विषयमें इस सूत्रका वर्णन बड़ा मनोरंजक है । इसका विचार करनेसे हमें पता लग सकता है कि प्रजाके लिये हुए करका राजा कैसा उपयोग करता है । देखिये—

करका उपयोग ।

राजा जो कर जनतासे लेता है, उसका व्यय किन बातोंके लिये किया जावे, इसका वर्णन निम्नलिखित शब्दोंसे इस सूत्रमें किया है । 'यह कर निम्नलिखित बातें करता है' ऐसा वर्णन इस सूत्रमें आया है, इस सूत्रका कथन है कि प्रजाद्वारा दिया हुआ कर निम्नलिखित बातें करता है—

(१) अग्धिः = (अघति इति अग्धिः) = रखा करता है, जनताकी अथवा राष्ट्रको रखा करता है । प्रजासे लिया हुआ कर ही प्रजाकी रखा है । (मं. १, ३-५)

(२) स्वधा = (स्वस्य धारणा) = अपनी अर्थात् प्रजाकी धारणा करता है । राष्ट्रको धारणा शक्ति करते बढती है । कर लेकर राजा ऐसे प्रबंध करता है कि जिससे प्रजाकी समर्थता बढ जाती है । (मं. १)

- (३) पञ्जापूपः = (पञ्ज+अ+पूपः-पूर्यते विशी-
र्यते इति पूपः । न पूपः अपूपः । पञ्जानां
अपूपः पञ्जापूपः) — जो अलग अलग होता
है अर्थात् जिसके भग विचरे पढते हैं उसका नाम
'पूप' है। तथा जिसके भाग छँटे एक दूसरेके
साथ अच्छी प्रकार मिले जुले होते हैं उसको 'अ-
पूप' कहते हैं। पयजनोंके संपटित-संपटनयुक्त-
करता है अर्थात् परस्पर मिलाकर रखता है, जिससे
पाँचों प्रकारके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषादोंका
अभेद संघ होता है उसका यह नाम है। राजा प्रजापति
कर लेता है और प्रजाकी संपत्तिक बढाता है।
(मं. ४, ५)
- (४) भ्रवन् = होना, आलस्य रखना। प्रजापति कर लेकर
राजा ऐसे कार्योंमें विनियोग करता है कि जिनसे
प्रजाका अलसत्व चिरकाल रहता है। (मं. २)
- (५) आभ्रवन् = धन ऐश्वर्यसंभव होना। राजा करता
ऐसा व्यवहार करता है कि जिनसे प्रजा प्रतिदिन
अधिकारिक संवत्सिमान होती जाय। (मं. २)
- (६) प्रभ्रवन् = प्रभावशाली। प्रजापति कर प्राप्त करके
राजा उसका विनियोग ऐसे कार्योंमें करता है कि प्रजा
प्रतिदिन प्रभावशालिनी बनती जावे। सत्ववान्,
पराक्रमी और प्रभावशाली प्रजा बने। (मं. २)
- (७) आकृतिप्रः = (आकृतिः) संचयणोंको (प्र)
पूर्ण करनेवाला कर है। अर्थात् प्रजापति कर लेकर
राजा ऐसे कार्य करता है कि जिनसे प्रजाके मनकी
श्रेष्ठ कामनाएं परिपूर्ण होती हैं और प्रजाकी अखंडित
वृत्ति होती रहती है। (मं. २)
- (८) सार्थान् कामान् पूरयति = प्रजाकी श्रेष्ठ कामनाओंके
सफल और शुफल होती हैं। किसी
प्रकार भी प्रजाकी श्रेष्ठ आकांक्षाएं निष्फल नहीं
होती। कर लेकर राजा ऐसा प्रबंध करता है कि
प्रजाकी श्रेष्ठ कामनाएं पूर्ण रीतिसे सिद्धिकी
प्राप्त हों। (मं. २)
- (९) यो... ददाति स नाकं अम्येति = जो (कर)
देता है वह (न+अ+कं) सुखपूर्वक स्थानको प्राप्त
करता है अर्थात् राजाको कर देनेवाले लोग अपने
देशमें सुखी रहते हैं। प्रजापति कर लेकर राजा ऐसे
उत्तम प्रबंधसे राज्य चलाता है, कि सब प्रजा सुखी
होती है। (मं. ३)
- (१०) प्रदाता पितृणां लोके अक्षितं उपजी-
यति = कर देनेवाले लोग संरक्षकों द्वारा सुरक्षित
रूप प्रदेशमें चिरकाल आनंदसे रहते हैं। राजा
प्रजासे कर लेवे और उनकी अत्यंत सुरक्षित रखे,
सुराज्य प्रबंधसे लोग सुरक्षित हीकर आनंदसे रहें।
(मं. ४)
- (११) प्रदाता सूर्याभासयोः अक्षितं उपजीयति
= कर देनेवाले लोग जैसे (सूर्य) दिनमें वैसे
(मास = चंद्रमाः) रात्रिके समय भी सुरक्षित होकर
आनंदसे रहते हैं। कर लेकर राजा राज्यशासनका
ऐसा योग्य प्रबंध करे कि जिससे प्रजा दिनके समय
सुरक्षित होवे और रात्रिके समयमें भी सुरक्षित
होवे। (मं. ५)
- (१२) इरा इव न उपद्वस्यति = कर देनेवाली प्रजा
दुष्कांके समान भ्रव रही है अर्थात् उस प्रजाका
नाश कोई नहीं कर सकता। (मं. ६)
- (१३) महत् पयः समुद्र इव न उपद्वस्यति = कर
देनेवाली प्रजा बड़े जलसे भरे गहरे महासागरके
समान सदा गंभीर और प्रगाढ़ रहती है। छोटि
जलयपयके समान दुष्क होकर नाशको नहीं प्राप्त
होती। (मं. ६)
- (१४) सधासिनी देवी इव न उपद्वस्यति = साथ
साथ रहनेवाले दो देव, श्वाश और उरुश्वरके
समान यह कर सब प्रजाकी रक्षा करता है अर्थात्
जिस प्रकार प्राणिके व्यापारसे सब शरीर सुरक्षित
रहता है उसी प्रकार प्रजापति मिलनेवाला कर राष्ट्रको
सुरक्षित रख सकता है। (मं. ६)
- (१५) तस्मात् प्रमुञ्चति = उस महामनसे मुक्त करता
है। यह दिया हुआ कर प्रजाकी महामनसे
बचाता है। (मं. १)
- (१६) शिति-पात् = (शीयते इति शितिः हिंसनं,
शितिः पातयति) 'शिति' का अर्थ है नाश, उस
नाशक पतन जो करता है अर्थात् नाशके जो बचाता
है, उसको 'शिति-पात्' कहते हैं। यह कर प्रजाका
विनाशके बचाव करता है। (मं. १-६)
- (१७) अचलेन वलीयसे शुल्कः न क्रियते = निर्बल
मनुष्य अपनी निर्बलताके कारण प्रबलको धन नहीं
देता। अर्थात् यह कर निर्बल मनुष्योंका बलवानोंके
अत्याचारसे पूर्ण बचाव कर सकता है। (मं. १)

प्रजासे कर लेकर राजाको इतनी बातें करना चाहिये । यहाँ ऊपर दिये हुए ये सतरह वाक्य इस सूक्तमें विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं । इनका विचार इसी दृष्टिसे पाठक अधिक करें और राज्यशासनके संबंधमें योग्य बोध आन लें । साधारण सूचना करनेके लिये पूर्वोक्त वाक्योंसे प्राप्त होनेवाला बोध पुनः संक्षेपसे यहाँ देते हैं—

(१) राजा अपनी प्रजासे कर लेवे और सघका उपयोग प्रजाकी योग्य प्रकारकी रक्षा करनेमें, (२) प्रजाकी सब प्रकारकी धारणासक्ति और समर्पता बढ़ानेमें, (३) ज्ञानी, दूर, बयोपारी, कारीगर और अन्य लोगोंकी संघसक्ति बढ़ानेमें, इन सबको संप्रतिष्ठ करनेमें, (४) इनका राष्ट्रीय और जातीय आश्रित्य सुरक्षित रखनेमें, (५) प्रजाको ऐश्वर्यसंग्रह करनेके कार्योंमें, (६) प्रजाजनोंकी प्रभावशाली बनानेमें (७) संपूर्ण राष्ट्रके सब लोगोंकी सब भेद भावांशाओंका सफलता करनेके साधन निर्माण करनेमें, (८) सब जनोकी भेद कामनाओंकी तृप्ति करनेके साधन उपहित करनेमें, (९) राष्ट्रके दुःख दूर करनेमें, (१०) राष्ट्रकी रक्षा करनेके लिये संरक्षणपण नियुक्त करनेमें, (११) जैसे दिनोंमें जैसे राज्योंमें भी निर्भय होकर लोग सर्वत्र संचार कर सकें ऐसी निर्भयता संपूर्ण राष्ट्रमें सदा स्थिर रखनेके कार्यमें, (१२-१४) जनताको भूमिके समान ध्रुव, जलनिधि समुद्रके समान गंभीर और प्राणिके समान जीवन युक्त करनेके कार्योंमें, (१५-१६) भव और विनाशसे प्रजाको बचानेके प्रयत्नोंमें, तथा (१७) बलवान् मनुष्य निर्बलोंके ऊपर अत्याचार न करें, ऐसा सुप्रबन्ध संपूर्ण राज्यमरमें करनेके कार्यमें करें ।

प्रजासे लिये हुए करका उपयोग इन कार्योंमें करना राजाका कर्तव्य है । पूर्वोक्त वाक्योंसे यही भाव प्रकट हो सकता है । पाठक विचार करके इन वाक्योंसे और इन शब्दोंसे अधिक बोध प्राप्त करें । जो राजा प्रजासे कर लेता हुआ इसका उपयोग इन कर्तव्योंसे भिन्न केवल अपने ही स्वार्थसाधनके कार्योंमें करेगा वह राज्य चलानेके लिये अयोग्य होगा । यह इस सूक्तद्वारा बेदकी घोषणा समझना चाहिये ।

स्वर्ग सहस्र राज्य ।

त्रिष राज्यमें राजा प्रजासे कर लेकर पूर्वोक्त रीतिसे प्रजाकी उत्तम रक्षा करता है, वह स्वर्गके सदस्य ही राज्य है और जहाँ करसे प्राप्त हुए धनका उपयोग प्रजाके न्यून बढ़ानेमें होता है, वह नरकके सदस्य राज्य है । स्वर्गराज्यके संक्षण इसी सूक्तमें कहे हैं, उनको अब यहाँ देखिये—

१ स नाकं मग्नेति

२ यत्र शुद्धको न क्रियते अवलेन धलीयसे ।

(सू. २९, मं. ३)

(१) कर देनेवाले मनुष्य स्वर्गधाममें पहुँचते हैं, (२) जहाँ निर्बल मनुष्योंका बलवान् मनुष्यके लिये धन देना नहीं पड़ता । यह स्वर्ग सदस्य राज्यका लक्षण है । जहाँ जिस राज्यमें निर्बलमनुष्यको केवल निर्बल होनेके कारण ही बलवान् मनुष्यके सामने छिद्र झुझते हुए अपने पाषाण धन उपहारके रूपमें देना नहीं पड़ता, वह स्वर्गधाम है । और जिस राज्यमें बलवान् मनुष्य निर्बलोंपर जो चाहे ही अत्याचार करते हैं और इन अत्याचारोंके कारण कोई उनको पूछता तक नहीं और जहाँ निर्बल मनुष्य केवल बलहीन होनेके कारण ही पीठे जाते हैं, वह नरक है । ' नर-क ' का अर्थ ' हीन मनुष्य, छोटा मनुष्य, गौबली घेराना मनुष्य ' है । जिस राज्यमें हीन मानवावाले मनुष्य होते हैं वह नरकराज्य है और जहाँ भेद भावनावाले मनुष्य होते हैं उसकी स्वर्गराज्य कहते हैं ।

ब्राह्मणोंका ज्ञानका बल, क्षत्रियोंका अधिकारका बल, वैश्योंका धनका बल, शूद्रोंका कारीगरीका बल, और निचरोंका केवल धारारिक बल होता है । ये लोग यदि स्वार्थी हुए तो इन बलोंसे मनोन्मत्त होकर अन्यायपर अत्याचार करते हैं । ऐसा अत्याचार कोई किसीपर न करे और सबको अपनेके आभयसे मनुष्यत्व विषयक समानताका दर्जा ही, ऐसा राज्यव्यवस्थाका प्रबंध रखना राजाका परम कर्तव्य है जहाँ ऐसा उत्तम प्रबंध होता है और जिस राज्यमें शासनव्यवस्थाके आभयसे निर्बल मनुष्य भी बलवान् मनुष्यके अत्याचारके सामने अपनी रक्षाके लिये खड़ा रह सकता है, और केवल निर्बलताके कारण पीसा नहीं जाता, वही राज्यशासन पद्धति बेदकी दृष्टिसे अत्यंत उत्तम है । वही ' वैदिक राज्य ' है ।

कामनाका प्रभाव ।

पूर्वोक्त प्रकार राज्यव्यवस्था करना या अन्याय वैदिक आज़ाबोंके अनुसार मनुष्योंका सुधार करनेके यत्न करना या न करना, यह सब मनुष्योंके कामना इच्छा-संकल्प-आकांक्षा आदिके खेल हैं । मनुष्यमें जो इच्छा होती है वैसा मनुष्य चलता है और वैसा ही मनुष्य व्यवहार करता है । यह बातनेके लिये ७ वें और ८ वें मंत्रका उद्देश है । इसका पहला ही प्रस्ताव देखिये—

प्रश्न— इदं काः कस्मै अदात् ? = यह कौन किसको देता है ?

उत्तर— कामः कामाय भवत् = काम ही कामके लिये देता है ।

कामः दाता, कामः प्रतिग्रहीता = काम ही देने और लेनेवाला है ।

ये मंत्रभाग बड़े महत्त्वपूर्ण उपदेशको देनेवाले हैं । मनुष्यके मनके अंदर ओ इच्छा है, जो महत्वाकांक्षा है, जो कामग है वही मनुष्यको दाता बनाती है और उर्ध्वसे दूसरा मनुष्य दान लेनेवाला बनता है । राजा राज्य करता है, सैनिक युद्ध करते हैं, नाँकर नौकरी करते हैं, कोई किसीको कुछ देता है और दूसरा लेता है, यह सब व्यवहार मनके अंदरकी इच्छाके कारण होते हैं । मानो, यह काम ही सबसे ये व्यवहार करा रहा है यहाँतक की-

कामः समुद्रं आधिवेश । (सू. २९, मं. ७)

' काम ही समुद्रमें घुसा है । ' अर्थात् समुद्रपर भी इसी कामका ही राज्य है । पृथ्वीको छोड़कर जो मनुष्य समुद्रमें जहाजोंमें बैठकर भ्रमण करने आते हैं वे भी कामकी ही प्रेरणासे ही जाते हैं । और कोई किमन द्वारा आकाशमें उड़ते हैं वे भी कामकी प्रेरणासे ही उड़ रहे हैं । इस प्रकार इस जगत्का सब व्यवहार कामनाकी प्रेरणासे ही रहा है । ' भूमि और अंतरिक्षमें भी सर्वत्र काम ही काम अर्थात् कामनाका राज्य है । (मं. ८) सब इसीकी आज्ञाके अनुसार चिंत्न रहे हैं । देखिये—

काम ! पतस्तु नै । (सू. २९, मं. ७)

' हे काम ! यह तेरा ही महाराज्य है ' तेरा ही शासन सब पर है । कौन तेरे शासनसे बाहर है । कामका स्वीकार करनेवाले कामी लोग जैसे अपने मनकी कामनासे प्रेरित होते हैं, उसी प्रकार कामका त्याग करनेवाले विरक्त लोग भी उसी कामनासे ही प्रवृत्त होते हैं, तापर्यं कामका सर्वतोपरी शासन है ।

कामकी नर्यादा ।

कामना बुरी है ऐसा कहते हैं । यदि काम उक्त प्रकार सब पर शासनाधिकार चलाता है और भोगी और त्यागी दोनों उर्ध्वके आधीन रहते हैं तो फिर कामका संयम कैसे ही सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर अग्रम मंत्रके उल्लेखार्थने दिया है । इस मंत्रभागमें कहाँतक कामका स्वीकार करना और कहाँसे आगेके कामको त्यागना इस महत्त्वपूर्ण विषयका विवेचन किया है । वह विषय अब देखिये—

प्रतिगृह्य अहं आत्मना मा विराधिषि,

अहं प्राणेन मा विराधिषि,

अहं प्रजया मा विराधिषि । (सू. २९, मं. ८)

' काम ! तेरा स्वीकार करके, मैं अपनी आत्मशक्तिको न छोड़ूँ, मैं अपनी प्राणशक्तिको न छोड़ूँ, और मैं अपने प्रजननको भी न छोड़ूँ बना दूँ । ' यहाँतक जितना काम स्वीकारा जा सकता है, उतना मनुष्यके लिये लाभदायी हो सकता है । काम विषयका अत्याचार हरएक इन्द्रियके कार्यक्षेत्रमें हो सकता है, परंतु इसका विशेष कार्यक्षेत्र जननेन्द्रियके साथ संबंध रखता है । इस इन्द्रियसे विशेष अत्याचार करनेसे आत्माका बल कम होता है, जीवन्तकी मर्यादा तथा प्राणकी शक्ति क्षीण होती है और सन्तान उत्पन्न करनेकी शक्ति भी न्यून होती है और ऐसे कामी पुरुषको जो भी सन्तान उत्पन्न होती है वे भी क्षीण, बलहीन और दौन होते हैं । इस प्रकारका घातपात न हो इस लिये कामका संयम करना आवश्यक है । संयमकी मर्यादा यह है कि ' उस मर्यादातक कामका उपभोग लिया जावे कि जहाँ तक लेनेसे अपनी आत्माकी शक्ति, प्राणकी शक्ति और प्रजनन शक्ति क्षीण न हो सके, इससे अधिक कामका भोग करनेसे हानि है । '

इस मंत्रमें दुःखी इन्द्रियोंके संयममें कामका उपभोग लेनेकी मर्यादा कही है, तथापि ऊपरके उदाहरणमें हमने एक इन्द्रियको उदाहरणके लिये लिया है, तथापि पाठक उधी मर्यादाको संपूर्ण इन्द्रियोंके कार्यक्षेत्रमें घटाकर योचन बोध प्राप्त करें ।

कामका यह साम्राज्य संपूर्ण जगत्में है । विशेषकर मानवी प्राणियोंमें हमें विचार करना है । इस राज्यव्यवस्थाका उपदेश देनेवाले इस सूक्तमें इस काम विषयके ये मंत्र रखे हैं और कामकी धर्ममर्यादा और अधर्ममर्यादा भी बता दी है ; इसका देख यह है कि राजा अपने राज्यमें ऐसा राज्यप्रबंध करें कि जिससे प्रजाजन काम विषयक धर्ममर्यादाका उल्लंघन न करें और अपने आराम, प्राण और प्रजननकी शक्तिसि पुष्ट हो और सब काम शांतिसे स्वयंतुम्ब राज्यका आनंद प्राप्त करें । प्रजासे लिये हुए करका इस व्यवस्थाके लिये व्यय करना राजाका आवश्यक कर्तव्य है । करसे ये कार्य होते हैं और प्रजा सुखी होती है, इष्टीन्त्ये (स्तोकेन स्मिंतं । मं. ४, ५) ' प्रजाद्वारा स्वीकृत और संमानित कर ' ऐसा इसका विशेषण दिया है ।

जहाँ प्रजासे प्राप्त करका इन कार्योंके लिये उपयोग होता है, वहाँकी प्रजा सुखी और अभ्युदय तथा निश्चयसे प्राप्त करनेवाली होती है । वैदिकधर्मों ऐसा प्रबंध करें कि जिससे अपने देशमें, तथा अन्त्यान्य देशोंमें, इसी प्रकारके वैदिक आदर्शसे चलनेवाले और कलाये जानेवाले राज्य हों और कोई राष्ट्र स्वराज्यके वैदिक आदर्शसे दूर न रहे ।

एकता ।

(३०)

(श्रापिः — अथर्वा । देवता — चन्द्रमाः)

सहृदयं सामनस्यमविद्विषं कृणोमि वः ।

अन्यो अन्यमभि हर्षत वृत्सं ज्ञातमिवाध्न्या

॥ १ ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।

ज्ञाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्

॥ २ ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विसन्मा स्वसारमुत स्वसा । सम्यञ्चः सम्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

येन देवा न विपन्ति नो च विद्विषते मिथः । तत्कृणोमो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

अर्थ— (स-हृदयं) सहृदयता अर्थात् प्रेमपूर्ण हृदय, (सां-मनस्य) सामनस्य अर्थात् मन शुभ विचारोंसे पूर्ण होना और (अ-विद्विषं) परस्पर निर्वैरता (वः कृणोमि) तुम्हारे लिये मैं करता हूँ । तुम्हारेमेंसे (अन्यः अन्यं अभि हर्षत) हरएक परस्परके ऊपर प्रीति करे (अध्न्या ज्ञातं वरसं हव) जैसे गौ वत्स्य हुए बड़बड़ेकी प्यार करता है ॥ १ ॥

(पुत्रः पितुः अनुव्रतः) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करनेवाला और (मात्रा संमनाः भवतु) माताके साथ वचन मनसे रहनेवाला होवे । (ज्ञाया पत्ये) पत्नी पतिसे (मधुमतीं शन्तिवां वाचं वदतु) मधुर और शांतिसे पुत्र माषण करे ॥ २ ॥

(भ्राता भ्रातरं मा द्विसन्) भाई भाईसे द्वेष न करे, (उत स्वसा स्वसारं मा) और बहिन बहिनसे द्वेष न करे । (सम्यञ्चः सम्रताः भूत्वा) एक मतवाले और एक कर्म करनेवाले होकर (भद्रया वाचं वदत) वचन रीतिसे माषण करो ॥ ३ ॥

(येन देवाः न विपन्ति) जिससे भ्यवहार चलानेवालोंमें विरोध नहीं होता है, (च नो मिथः विद्विषते) और न कभी परस्पर द्वेष बढ़ता है, (तत् संज्ञानं ब्रह्म) वह एकता बढ़ानेवाला परम वचन ज्ञान (वः गृहे पुरुषेभ्यः कृणमः) तुम्हारे परके मनुष्योंके लिये हम करते हैं ॥ ४ ॥

माधार्थ्य— प्रेमपूर्ण हृदयके भाव, मनके शुभ विचार और आपसकी निर्वैरता आप अपने घरमें स्थिर कीजिये । तुम्हारेमेंसे हरएक मनुष्य दूसरे मनुष्यके साथ ऐसा प्रेमपूर्ण बर्ताव करे कि जिस प्रकार नये उत्तम हुए बड़बड़े उच्चकी गौ माता प्यार करती है ॥ १ ॥

पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे, और माताके साथ मनके शुभ भावसे भ्यवहार करे । पत्नी पतिके साथ सदा मधुर माषण करती रहे ॥ २ ॥

भाई भाईसे द्वेष न करे, बहिन बहिनके साथ न लड़े । एक मतसे एक कर्म करनेवाले होकर परस्पर निष्कपटतासे माषण करो ॥ ३ ॥

जिससे कार्यभ्यवहार चलानेवालोंमें कभी विरोध नहीं हो सकता और कभी आपसमें लड़ाई क्षमता नहीं हो सकता, वैसा वचन ज्ञान शुभ अपने घरमें बढ़ाओ ॥ ४ ॥

ज्यार्यस्वन्तश्चित्तिनो मा वि गौष्ट संराधयन्तः सधुराधरन्तः ।

अन्यो अन्यसै वल्गु वदन्त एतं सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि

॥ ५ ॥

समानी प्रपा सह वौऽन्नमागः समाने योक्त्रे सह वौ युनज्मि ।

सम्यञ्चोऽग्निं संपर्यतारा नाभिमिवाभितः

॥ ६ ॥

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकंशुष्टीन्त्संवननेन सवौन् ।

देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वौ अस्तु

॥ ७ ॥

अर्थ— (ज्यार्यस्वन्तः) इदोका सम्मान करनेवाले, (चित्तिनः) उत्तम चित्तवाले, (संराधयन्तः) उत्तम विद्वि-
तक प्रयत्न करनेवाले, (स-पुराः सारन्तः) एक धुराके बीच कार्य करनेवाले और आगे बढनेवाले होकर (मा वि योष्ट) तुम
मत अलग होओ, मत विरोध करो । (अन्यः अन्यसै वल्गु सद्मन्तः एत) एक दूसरेके प्रेमपूर्वक मापण करते हुए आगे
बढो । (घः सध्रीचीनान्) तुमको साय पुरधार्य करनेवाले और (संमनसः कृणोमि) उत्तम एक विचारसे युक्त मनवाले
करता हू ॥ ५ ॥

(प्रपा समानी) दुग्धारा जल पीनेका स्थान एक हो, और (घः अग्रमागः सह) दुग्धारा अग्रका माग भी साय
साय हो । (समाने योक्त्रे घः सह युनज्मि) एक ही जेतने तुमको साय साय में जोड़ता हू । (सम्यञ्चः अग्निं सप-
र्यत) मिलजुलकर ईश्वरी पूजा करो, (अभितः नाभि मरः इय) चारों ओरसे नाभीमें जैसे बकके आगे जुड़े होते हैं ॥ ६ ॥

(संवननेन घः सवौन्) परस्पर सेवा करनेके भावसे तुम सबको (सध्रीचीनान् संमनसः एकदशुष्टीन् कृणोमि)
साय मिलकर पुरधार्य करनेवाले, उत्तम मनवाले और समान नेताकी आज्ञामें कार्य करनेवाले बनाता हू । (अमृतं रक्षमाणाः
देवाः इय) अमृतकी रक्षा करनेवाले देवोंके समान (सायं प्रातः घः सौमनसः अस्तु) सायंकाल और प्रातःकाल दुग्धारा
प्रयत्न चित्त रहे ॥ ७ ॥

भाषार्थ— इदोका संमान करो, चित्तमें शुभ उत्कृष्ट चारण करो, उत्तम विद्वितक प्रयत्न करो, आगे बढकर अपने
विरपर कार्यका मार लो और आपसमें विद्वेप न बढाओ । परस्पर प्रेमपूर्वक मापण करो, मिलजुलकर पुरधार्य करनेवाले बगो ।
इशोलिये तुम्हें उत्तम मनसे युक्त बनाया है ॥ ५ ॥

तुम्हारा जल पीनेका स्थान सबके लिये समान हो, अग्रका माग भी सबके लिये एक हो, समान कार्यकी एक धुराके नीचे
रहकर कार्य करनेवाले तुम हो, उपासना भी सब मिलजुलकर एक स्थानमें करो, जैसे बकके आगे नाभिमें जुके होते हैं, वैसे ही तुम
अपने समाजमें एक दूसरेके साय मिलकर रहे ॥ ६ ॥

परस्परकी सहायता करनेके लिये परस्परकी सेवा करो, उत्तम ज्ञान प्राप्त करो, मनके भाव शुद्ध करके एक विचारसे एक
कार्यमें दत्तचित्त हो, सबके लिये समान आज्ञासे माग मिलें । जिस प्रकार देव अमृतकी रक्षा करते हैं, इसी प्रकार सायं प्रातः तुम
अपने मनके शुभउत्कृष्टोंकी रक्षा करो ॥ ७ ॥

संज्ञानसे एकता ।

इस सूक्तमें 'संज्ञान' प्राप्त करके आपसकी एकता करनेका
उपदेश है । मनुष्यप्रार्थी संघ बनाकर रहनेवाला होनेके कारण
उसकी आपसकी एकता रचना अत्यंत आवश्यक है । जातीय
एकता न रही, तो मनुष्यका नाश होगा । जो जातों अपने
अंदर संघर्षात्क बढानी है वही इस जगत्में विजयी हो रहा
है, तथा जिस जातोंमें आपसकी फूट अधिक होती है, वह परा-
जित होती रहती है । अतः आपसमें संघर्षात्क बढाकर अपनी

उन्नति करना हरएक जातीके लिये अत्यंत आवश्यक है । संघ-
र्षात्क बढानेके जो उपाय इस सूक्तमें वर्णन किये हैं, वे अथ
देखिये—

अंदरका सुधार ।

सबसे प्रथम ब्यक्तिके अंदरका सुधार होना चाहिये । वैदिक
धर्ममें यदि कोई विशेष महत्वपूर्ण बात कही होगी तो यही
कही है कि संपूर्ण सुधारका प्रारंभ मनुष्यके हृदयके सुधारसे
होना चाहिये । हृदय सुधार जानेपर अन्य सब सुधार मनुष्यकी

साम पहुंचा सकते हैं, परंतु हृदयमें दोष रहे तो बाह्य सुधारसे कुछ भी साम नहीं हो सकता । इसलिये इस सूत्रमें हृदयके सुधार करनेकी सूचना सबसे प्रथम कही है—

१ सहृदय- (स-हृदय) = हृदयके भावकी सम नता ।
अर्थात् दुःखरहे दुःखी दुःखी और दुःखरहे सुखसे सुखी होना । (मं. १)

अनिके हृदय ऐसे होते हैं वे हां अनतामें एकता करने और एकता बनानेके कार्य करनेके अपिचारी होते हैं । जो दुःखको दुःखी देखकर दुःखी नहीं होता यह अनताको किसी प्रकार भी उठा नहीं सकता । हृदयका सुधार सबसे सुख है । इसके बाद वेद कहता है—

२ सां-मनस्य- (सं-मनः) = मनका उत्तम शुभ संस्कारोंसे पूर्ण होना । मन शुद्ध और पवित्र भाव-नाओं और भेद विचारोंसे युक्त होना । (मं. १)

मनके आधीन संपूर्ण इन्द्रियां होती हैं । इसलिये जैसे मनके विचार होते हैं वैसा ही अन्य सब इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति होती है । इसलिये अन्य इन्द्रियोंसे उत्तम प्रशस्ततम कार्य होनेके लिये मनके शुभ संस्करणमें हेतिका अत्यंत आवश्यकता है । पूर्वोक्त प्रकार सहृदयता और सांमनस्यता सिद्ध होनेके पश्चात् मनुष्यका बाह्य व्यवहार वैसा होना चाहिये यह भी इती मंत्रमें तीसरे शब्द द्वारा कहा है—

बाह्यरका सुधार ।

३ अ-विद्वेष- = द्वेष न करना । एक दुःखके साथ परस्पर द्वेष न करना । आपसमें झगडा न करना । (मं. १)

यह शब्द बाह्य व्यवहारका सुधार करनेकी सूचना देता है । मनुष्यका व्यवहार कैसा हो ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि 'मनुष्यका व्यवहार ऐसा हो कि अिसमें कोई किसीका द्वेष न करे ।' यह मनुष्यके व्यवहारका आदर्श है । द्वेष न हो । झगडा न हो । दो मनुष्य इकट्ठे आ गये तो किसी न किसीके निन्दा करनेकी बात शुरु होती है, नीच मनुष्योंका यह खेलाव ही बना है । परंतु अजनोको ऐसा करना योग्य नहीं है । वे अपना व्यवहार निर्वैरताके मार्गसे परिपूर्ण रखें ।

निर्वैरताका व्यवहार करनेका तात्पर्य क्या है ? दो पत्थर या दो शूरा साथ रहते हैं और निर्वैरताके साथ रहते हैं । क्या इस प्रकारके बंध निर्वैरता-वही अर्थात् है ? नहीं नहीं, यद्योक्त 'अ-विद्वेष' शब्द परस्परके प्रेमपूर्ण व्यवहारका सूचक है । सबसे प्रथम सहृदयता और सांमनस्यता कही है, इनसे क्रमशः

हृदय और मनकी शुद्धि हुई । ये परिशुद्ध हृदय और मन जो अविद्वेषका व्यवहार करेंगे वृद्ध दो परस्परोंके आपसके व्यवहार वैसा जट नही हो सकता । इस अविद्वेषके व्यवहारका उदाहरण ही इस प्रथम मंत्रके उच्चारार्थमें दिया है—

अन्यां अन्यमपि ह्यन, वरंसं जातमिवाच्या ।
(सू. ३०, मं. १)

'एक दुःखके साथ ऐसा प्रेम कर कि वैसा ही अपने नये जन्मे बड़बुके साथ प्रेम करता है ।' निर्वैरताका वह उदाहरण है । अविद्वेषका व्यवहार । दो पत्थर एक ही माताका अपने नवजात बड़बुके व्यवहार । । गाँडा प्रेम अपने बड़बुके वैसा होता है वैसा अन्यासे तुम प्रेम करो । 'अ-विद्वेष' का अर्थ केवल 'वैरक अभाव' नहीं है, केवल निवेष करनेसे किसीका बोध नहीं होना है । वैर न करना, द्वेष न करना यह तो उत्तम है परंतु इसका विभावक स्वरूप । 'प्रेम करना' । अर्थात् अविद्वेषका अर्थ है दूसरे पर प्रेम करना । पहिले मंत्रमें जो तीन शब्दों द्वारा मानवी धर्मका उपदेश किया उसका ही उदाहरण उत्तर मंत्रमात्रमें चौके उदाहरणमें दिया और विश्व-साया कि दुःखरोंके साथ प्रेमका व्यवहार करना चाहिये । इस प्रकार करनेसे अतीव एकता सिद्ध होगी । इस उपदेशका आचरण करनेका ऋन अपने मंत्रोंमें कहा है, सबसे प्रथम धर्मसे इस उपदेशके अनुसार व्यवहार करनेकी रीति अगले तीन मंत्रोंमें कही है, वह प्रवृत्तियोंको स्वयं मनन करना चाहिये ।

(१) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे, और माताके साथ उत्तम भावनाओंसे व्यवहार करे । धर्मपत्नी पतिके साथ माँठा और शान्तिसे युक्त भाषण करे ॥ २ ॥ माई माईसे द्वेष न करे और शदिन शदिनके साथ संवदा न करे, सब मिलकर आपसमें मधुर भाषण करते हुए अपने कल्याणके लिये एक कार्यमें दत्तचित्त हो जाओ ॥ ३ ॥ अिससे विरोध और विद्वेष नहीं होता है ऐसा संज्ञान सुन्दरके वरके लोगोंने लिये मैं देता हूँ ॥ ४ ॥'

आदर्श कुटुंबका वर्णन वर रहे हैं । जो कुटुंब ऐसा होगा वह निःसंदेह आदर्श रूप ही होगा । पाठक इन मंत्रोंके उच्चारणोंके अपने परिवारमें दालनेका यत्न करें ।

इन मंत्रोंका अर्थ करनेके समय ये सामान्य निर्देश हैं यह बात धूलना नहीं चाहिये । अर्थात् 'पुत्र पिताके अनुकूल कार्य करे' इस वाक्यका अर्थ 'कन्या भी मातापिताके अनुकूल कर्म करे' ऐसा है । तथा 'माई माईसे द्वेष न करे' इसका अर्थ 'माई शदिनसे और शदिन माईसे द्वेष न करे' ऐसा है । 'पत्नी पतिसे माँठा भाषण करे' इसमें 'पति भी पत्नीसे माँठा भाषण

करे' यह अर्थ है और (घ: गृहे पुरुषेभ्यः संज्ञानं प्रदा कृणुमः । मं. ४) 'गृहारे परिके पुरुषोको यह संज्ञानं प्रदा देते हैं, इसका अर्थ 'गृहारे परिके खिचोकी मां यह संज्ञानं प्रदा देते हैं' ऐसा है। इसको सामान्य निर्देश कहते हैं। यदि पाठक इन निर्देशोकी यह सामान्यता न देखे, तो अर्थव्य अनर्थ हो जायगा। इसलिये रूपया पाठक इहका अवश्य अनुसंधान करके बोध प्राप्त करें।

संघमें कर्म ।

एकवच मंत्रमें जातके लोगोंके साथ वंसा व्यवहार करना चाहिये, इस विषयका उक्त उपदेश है, इहया सारांश यह है—
१ उयायद्वन्तः = वहाँका सम्मान करनेवाले बने। वृद्धोंका उन्मान करो। (मं. ५)

२ मा वि यीष्ट = विनम्र मत बनों। अपनेमें विभेद न बढाओ। (मं. ५)

३ सधुराः चरन्तः = एक धुरिके नीचे रहकर आगे बढो। यहाँ धुरिका अर्थ युगोण, नेता, समझना योग्य है। अपने नेताके शासनमें रहकर अपनी उत्पन्निके मार्ग-परसे चटिबद्ध होकर चलो। (मं. ५)

अपने नेताका आज्ञामें रहकर उन्नतिके शासन करनेवाले ही अभ्युदय और निश्चय प्राप्त कर सकते हैं।

४ सध्रीखीनाः = एक ही कर्मके लिये मिलकर पुरकार्य करनेवाले बने। अर्थात् जो करना हो वह तुम सब मिलकर करते रहे। (मं. ५)

५ संसाधयन्तः = मिलकर धिदिके लिये यत्न करनेवाले बने। (मं. ५)

६ अन्यो अन्यस्य वस्तु घवन्त एत = परस्पर प्रेमपूर्वक द्रुम भाषण करते हुए आगे बढो। (मं. ६)

जब कभी दूसरेसे भाषण करना हो तो प्रेमपूर्वक तोलकर मीठा भाषण करो, जिससे आपसमें फिसाद न बढे और आप-सकी फूट बढकर अपनी शक्ति क्षीण न हो।

इस मंत्रके 'चित्तिनः और संमनसः' ये शब्द यही भाव बताते हैं कि जो प्रथम मंत्रके 'सामनस्य' शब्दमें बताया है। उक्त चित्तवाले और द्रुम मनवाले बने यही इहका आशय है।

वृद्धोंका सम्मान करना और पुरुषार्थ साधक कर्ममें दण्डित होना ये दो उपदेश यहाँ मुख्यतः हैं। पाठक विचार करके जान सकते हैं कि मनुष्यकी परीक्षा कर्मसे ही होती है। इ-

लिये इस मंत्रमें अनेक शब्दों द्वारा कहा है कि किसी एक कर्ममें अपने आपको समर्पित करो और वहाँ यदि अन्य मनुष्योंका संबंध हो तो उनके साथ अविरोध कर्म करो। इतने कर्मों ही मनुष्य श्रेष्ठ है वा कनिष्ठ है, इसका नियम हो सकता है।

स्नानपानका मंत्र ।

जब संघमें रहना और कर्म करना होता है तब ही स्नान-पानका मंत्र आता है। परमें तो सबका एक ही स्नानपान होता है, क्योंकि माता, पिता, भाई, बालबच्चे प्रायः एक ही भोजन करते और एक ही पानी पीते हैं। जो स्नानपानका मंत्र उत्पन्न होता है वह आतीय संपदनके समय ही उत्पन्न होता है, इस विषयमें पठ मंत्रने उक्त नियम बताया है—

'गृहारा जलपानका स्नान एक ही और अन्नमात्र ही एक हो, तुम सबको मैं एक धुराके नीचे रखता हूँ। तुम मिलकर एक ईश्वरकी उपासना करो।' (मं. ६)

इस मंत्रमें सबका स्नानपान और उपासना एक हो इस विषयका उपदेश स्पष्ट शब्दोंसे कहा है। आतीय और राष्ट्रीय कार्य करनेवाले इस उपदेशका अधिक मनन करें। मंत्र कहता है, कि 'जातो बरुके समान है, जिस प्रकार बरुके आरे बाँधें औरसे नानीमें अच्छी प्रकार जुड़े होते हैं, उसी प्रकार आरों बंधें राष्ट्रीय नानीमें जुड़े हैं। यदि वे अपने स्नानसे थोड़े भी अलग हो जायें तो बरुका नाश होगा। अनतामें सब लोगोंकी एकता ऐसी होनी चाहिये कि जिस प्रकार बरुके आरे एक नाभिके साथ जुड़े होते हैं।

सेवामावसे उन्नति ।

सप्तम मंत्रमें 'सं-वनन' शब्द है। इहका अर्थ 'उत्तम प्रकारकी प्रेमपूर्वक सहायता करना' है। 'वन्' शब्दका अर्थ 'प्रेमपूर्वक दूसरेको सहायता करना' है। 'सं-वनन' का भी यही अर्थ है। इससे संवननका अर्थ स्पष्ट होगा। प्रेम-पूर्वक दूसरेकी सहायता करना हां सेवा-धर्मतीका कार्य होता है। वहाँ भाव इतना मन्में है। अपनेको कुछ पारितोषिक प्राप्त हो ऐसी इच्छा न करते हुए अनताकी सेवा केवल प्रेमसे करना और यहाँ परमेश्वरकी श्रेष्ठ शक्ति है, ऐसा भाव मनमें धारण करना श्रेष्ठ मनुष्यका लक्षण है। इस रूपसे अन्य मनुष्योंपर बड़ा प्रभाव पड़ता है और बहुत लोग अनुकूल होते हैं। इस विषयमें मंत्र कहता है—

संवननेन सर्वाण् एकद्रुघीन् रूपोमि ।

(सं. ३०, मं. ७)

'प्रेमपूर्वक सेवाने सबकी सहायता करता हुआ मैं सबको एक ध्येयके नीचे काम करनेवाले बनाता हूँ।' जनताका सबसे बड़ा नेता वही है कि जो जनताका सबसे बड़ा निःस्वार्थ सेवक है। सचा राष्ट्रकार्य, सची जनसेवा करना ही मनुष्यका बड़ा भारी बड़ा कर्म है। जो ब्रिताना और जैसा करेगा वह सतना श्रेष्ठ नेता बन सकता है। निःस्वार्थ सेवके ही जनताके नेता होते हैं। परनेहार सबसे बड़ा ईसाइयते है क्योंकि वह सबसे अधिक गुण रता हुआ, अज्ञात गतिसे जनताकी अधिकसे अधिक सहायता करता है, वह सचका बड़ा भारी बड़ा है, ईसाइयते उसका अधिकसे अधिक सम्मान सब आदिभक्त लोग करते हैं। वही भारतीय अपने धामने सन्तुष्ट रहते हैं और जनताकी सेवा करते जाते हैं, इन कारण से भी सम्मानके भागी होते हैं।

कर्मसे मनुष्यत्वका विकास ।

वेदका विद्वान्त है कि 'ऋतुमयोऽयं पुरुषः।' अर्थात् 'यह मनुष्य कर्ममय है।' इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसी उसकी स्थिति होती है। मनुष्यकी स्थिति कर्मके बचम है इसीलिये प्रशस्ततम कर्म करना मनुष्यको आवश्यक है। ये कर्म ऐसे ही कि ब्रिजसे एकता बने और परस्पर विद्या न हो यह उद्देश इस सूक्त- 'सत्रताः, संराध्यन्तः, सघुपाधरन्तः, सध्यावीनान्, एकदन्तुः शीन्' आदि शब्दों द्वारा मिलता है। पाठक इस महारवर्ण उद्देशकी और अवश्य ध्यान दें।

इस प्रकार इस सूक्तने अज्ञेन महत्त्वका उद्देश किया है। पाठक इन उद्देशोंका ब्रिताना अधिक मनन करेगे ततना अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं।

पाप की निवृत्ति ।

(११)

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता— पाप्महा)

वि देवा जरसावृत्न्वि त्वमग्ने अरात्या । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यस्मेण समायुषा ॥ १ ॥
 व्यात्या पर्वमानो वि शक्रः पापकृत्यया । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यस्मेण समायुषा ॥ २ ॥
 वि ब्राम्याः पशुर्व आरण्यैर्व्यापिस्तृष्ण्यासरन् । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यस्मेण समायुषा ॥ ३ ॥

अर्थ— (देवाः जरसा वि अश्रुतन्) देव वृद्धावस्थासे दूर रहते हैं। (अग्ने ! त्वं अरात्या वि) हे अग्ने ! तू सर्वोत्तम तया श्रेष्ठसे दूर रह। (अहं सर्वेण पाप्मना वि) मैं सब पापोंसे दूर रहूँ। तथा (यस्मेण वि) तोग्ये भी दूर रहूँ। और (आयुषा सं) दीर्घ आयुसे संयुक्त होऊँ ॥ १ ॥

(पर्वमानः आत्या वि) श्रेष्ठता करनेवाला पुरुष पीछासे दूर रहता है, (शक्रः पापकृत्यया वि) समर्थ मनुष्य पाप-कर्मसे दूर रहता है, उसी प्रकार सब पापोंसे और सब रोगोंसे मैं दूर रहूँ और दीर्घायुसे संयुक्त होऊँ ॥ २ ॥

जैसे (ब्राम्याः पशुर्व आरण्यैः वि) जामके पशु जंगली पशुओंसे दूर रहते हैं, और (आयः तृष्ण्या वि अस-रन्) बल प्राप्तसे दूर रहता है, उसी प्रकार मैं सब पापों और सब रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुसे युक्त होऊँ ॥ ३ ॥

भावार्थ— देव वृद्धावस्थासे दूर करके सदा तरुण जैसे रहते हैं, अग्नि देव अदानी पुरुषोंको दूर करके दानी पुरुषोंको पास करता है। इसी प्रकार मैं सब पापोंको और रोगोंको दूर करके पुरुषार्थसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त करूँ ॥ १ ॥

अपनी श्रेष्ठता रचनेवाला मनुष्य रोगादि पीडाओंसे दूर रहता है और पुरुषार्थी समर्थ मनुष्य पापोंसे दूर रहता है, उसी स्थिति में पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूँ ॥ २ ॥

जैसे गौ आदि गाँवके पशु सिंह, व्याघ्र आदि जंगलके पशुओंसे दूर रहते हैं और जैसे जलके पास तृष्णा नहीं आती; उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूँ ॥ ३ ॥

वीक्ष्मे घावापृथिवी इतो वि पन्धानो दिशंदिशम् ।

व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यस्मेण समार्युषा

॥ ४ ॥

त्वष्टा दुहिते बहंतु पुनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति ।

व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यस्मेण समार्युषा

॥ ५ ॥

अग्निः प्राणान्तं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः । व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यस्मेण समार्युषा ॥ ६ ॥

प्राणेन विश्वतोर्वीर्यं देवाः सूर्ये समैरयन् । व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यस्मेण समार्युषा ॥ ७ ॥

आयुधमतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृधाः । व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यस्मेण समार्युषा ॥ ८ ॥

प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भवं मा मृधाः । व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यस्मेण समार्युषा ॥ ९ ॥

अर्थ— जिस प्रकार (इमे घावापृथिवी वि इतः) वे पुलोक और पृथ्वी अलग हैं और (पन्धानः दिशं दिशं वि) वे सब मार्ग प्रत्येक दिशा में अलग अलग होकर जाते हैं, इसी प्रकार मैं सब पापों से और रोगों से दूर रहता हुआ दीर्घायु से युक्त होंगा ॥ ४ ॥

जैसा (त्वष्टा दुहिते बहंतु पुनक्ति) पिता अपनी कन्याओं दहेज-झी घन- देनेके लिये अलग करता है और जैसा (इदं विश्वं भुवनं वि याति) यह सब भुवन अलग अलग चलता है इसी प्रकार मैं सब पापों से और रोगों से दूर रहता हुआ दीर्घ आयु से युक्त होंगा ॥ ५ ॥

जिस रीतिसे (अग्निः प्राणान् सन्द्धाति) आठ अग्नि प्राणोंका धारण करता है और (चन्द्रः प्राणेन संहितः) चन्द्रमा-मन-प्राणके साथ रहता है, उसी रीतिसे मैं सब पापों और रोगोंसे बचकर दीर्घायु से युक्त होंगा ॥ ६ ॥

जिस ढंगसे (देवाः विश्वतो-र्वीर्यं सूर्ये) देव सब सामर्थ्यसे युक्त सूर्यको (प्राणेन समैरयन्) अपने प्राणके साथ सम्बन्धित करते हैं उसी ढंगसे मैं सब पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घजीवनसे युक्त होंगा ॥ ७ ॥

(आयुधमतां आयुष्कृतां प्राणेन जीव) दीर्घायुवाले और आयुष्य बढ़ानेवाले जो होते हैं उनके प्राणके साथ भीता रह । (मा मृधाः) मत मर जा । उसी प्रकार मैं भी सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूँ ॥ ८ ॥

(प्राणतां प्राणेन प्राण) जावित रहनेवालोंके प्राणसे जीवित रह, (इहैव भवं) यहाँ ही प्रभावशाली हो और (मा मृधाः) मत मरजा । उसी प्रकार मैं सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूँगा ॥ ९ ॥

भावार्थ— जैसे आकाश भूमिसे दूर है और प्रत्येक दिशाको जानेवाला मार्ग जैसा एक दूसरेसे पृथक् होता है, ऐसे ही मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायु प्राप्त करूँ ॥ ४ ॥

पुत्रीका पिता जैसा पुत्रीके बिकाहके समय दामादको देनेके लिये दहेज अपने पाससे अलग करके दूर करता है और जिस प्रकार वे ग्रह-नक्षत्रादि गोल अपनी गतिसे चलकर परस्पर अलग रहते हैं उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायु प्राप्त करूँगा ॥ ५ ॥

जैसा शरीरमें आठ अग्नि अन्नादिका पावन करता हुआ प्राणोंको बलवान् करता है और मन अपनी शक्तिसे प्राणके साथ रहकर शरीर चलता है, इसी प्रकार मैं पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु प्राप्त करूँ ॥ ६ ॥

जैसे सबको बल देनेवाले सूर्यको भी अन्य देव प्राणशक्तिसे युक्त करते हैं, उसी ढंगसे मैं पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूँ ॥ ७ ॥

सम्भावतः दीर्घायु लोगोंकी जैसी प्राणशक्ति होती है और अनेक साथनोंसे अपनी दीर्घ आयु करनेवालोंकी जैसी प्राणशक्ति होती है, वैसे अपनी प्राणशक्ति बलयुक्त करके मनुष्य भी और शीघ्र न मरे । मैं भी इसी रीतिसे पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूँ ॥ ८ ॥

प्राणधारण करनेवालोंके अंदर जो प्राणशक्ति है उसको बलवान् करके वृ नहीं बड, छोटी आयुमें ही मत मर जा । मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूँगा ॥ ९ ॥

उदार्युषा समायुषोदोषधीनां रसेन । व्यं११हं सर्वेण पाप्मना वि यद्भ्रमेण समार्युषा ॥ १० ॥
 आ पुर्जन्यस्य वृष्टयोदस्याभामृता वयम् । व्यं११हं सर्वेण पाप्मना वि यद्भ्रमेण समार्युषा ॥ ११ ॥

॥ इति पद्योऽनुवाकः ॥ ६ ॥

अर्थ— (आयुषा उत्) आयुष्यसे उत्कर्ष प्राप्त कर, (आयुषा स्) दीर्घायुसे युक्त हो, (ओषधीनां रसेन उत्) औषधियोंके रससे उन्नति प्राप्त कर । इसी रीतिसे मैं भी सब पापों और रोगोंसे दूर होकर दीर्घायु बनूँ ॥ १० ॥

(वषं पुर्जन्यस्य वृष्टया) हम पुर्जन्यकी वृष्टिसे (मा उत् अस्याम्) उन्नतिको प्राप्त करें और (अमृताः) अमर हो जाय । इसीभिन्ने मैं सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घ आयुसे युक्त होऊँ ॥ ११ ॥

आधार्य— अपनी शासुसे उत्कर्षका साधन कर और उच्छे भी दीर्घायु बन, औषधियोंका रस पाकर नीरोग, पुष्ट और बलवान् बन । इसी प्रकार मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूँ ॥ १० ॥

पुर्जन्यकी वृष्टिसे जैसे वृष्टादि बरकर उन्नत होते हैं, उसी प्रकार हम उन्नतिको प्राप्त करेंगे और अमरत्व भी प्राप्त करेंगे । मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूँगा ॥ ११ ॥

पापनिवृत्तिसे नीरोगता और दीर्घायु ।

इस लक्ष्यके कदा है कि पापोंको दूर करनेसे आरोग्य और दीर्घ आयु प्राप्त होती है और यह अनुष्ठान किस रीतिसे करना चाहिये इसके उपाय भी यहाँ बताये हैं ।

पाप और पुण्य ।

पाप और पुण्य क्या है, इसका यहाँ विचार करना आवश्यक है । पाप और पुण्य वे धर्मशास्त्रकी संज्ञाएँ हैं । और धर्मशास्त्र अन्वय शास्त्रोंका स्वरूप शास्त्र है । अन्वय शास्त्रोंसे निच धर्मशास्त्र नहीं है । अन्वय शास्त्र एक एक विषयके संबंधमें ज्ञान देते हैं और धर्मशास्त्र अंतर्पूर्ण शास्त्रोंका निचोड

लेकर मानवी उन्नतिके सिद्धांत बनाता है, इसलिये धर्मशास्त्रके विधिविधय सर्वसामान्य होते हैं और अन्वय शास्त्रोंके विधिविधय उक्त शास्त्रके विषयके साथ संबंध होनेके कारण विशेष होते हैं ।

पाप पुण्यका विषय इसी प्रकार है । पुण्य शब्दका अर्थ है 'पवित्र बनना' और पाप शब्दका अर्थ है 'पतनका क्रम' । अन्वय शास्त्रोंमें मिलते जगते इति होती है ऐसा लिखा है वे सब बातें धर्मशास्त्रमें 'पाप' शब्दसे बतायी जाती हैं और जो बातें उन्नतिकारक समझी जाती हैं उनको पुण्यकारण धर्मशास्त्रमें कहा है । यह बात अधिक स्पष्ट करनेके लिये एक दो उदाहरण लेकर इसी विषयको विस्तार करते हैं—

वैद्यशास्त्र ।

- १ मद्य पीनेसे यकृत और पेट विगड़ता है, सूतकी कमजोरी होता है इस कारण अनेक रोग होते हैं । इ.
- २ श्मिन्निवार करनेसे धीर्यनाश होनेके कारण मस्तिष्क कमजोर होता है और अनेक बीमारियाँ होती हैं । इ.

आरोग्यशास्त्र ।

- १ स्नान करके स्वच्छता करना, धारमें तथा बाहर स्वच्छत करनेसे रोग नहीं होते, और आरोग्य बढ़ता है । इ.
- २ जल छाननेसे उसमेंसे रोगजंतु या अन्य रोगवाक दूर होते हैं, और ॥ कारण छाना हुआ जल पीना आरोग्यकारक है ।

समाजशास्त्र ।

- ५ सत्य बोलनेसे मनुष्यके व्यवहार उत्तम चलते हैं । इ.

राजशासनशास्त्र ।

- ६ चोरी, सूत आदि करनेसे राजशासनके नियमके अनुसार चलाना दण्ड होता है ।

धर्मशास्त्र ।

- १ मद्य पीना पाप है ।
- २ श्मिन्निवार पाप है ।
- ३ स्नान करना पुण्यकारण है । स्वच्छता करना पुण्य है ।
- ४ जल छानकर पीना पुण्यकारक है ।
- ५ सत्य पुण्यकारक है ।
- ६ चोरी, सूत आदि करना पाप है ।

इस प्रकार हरएक शास्त्रके विषयमें पाठक देखें । अन्वय्य शास्त्रमें प्रलेक कृत्तिके मुरे या मले परिणाम काण्डके साथ बताया होता है, परन्तु उन सबका समीकरण करके धर्मशास्त्रमें ' पाप और पुण्य ' इन दो शब्दोंद्वारा वही भाव कारण न देते हुए और परिणाम न बताते हुए कहा होता है । इसमें धर्म-शास्त्रके पाप-पुण्य भी इस प्रकार शास्त्रविद हैं इसका पता पाठकोंको लग सकता है ।

ये सब पाप ही रोग और अन्त्याहुताके कारण हैं और पुण्य कर्म करनेसे ही नीरोगता और दीर्घायु मिलती है । यह बात मुख्यतया इस सूक्तमें ध्वनित की गई है । इस सूक्तमें प्रलेक मंत्रका उत्तरार्थ यह है—

एष्यै सर्वेषां पाप्मना, इव यक्ष्मेण, समासुपा ॥

(सू. ३१, मं. १-११)

' मैं सब पापोंको दूर करता हूँ, उससे रोगोंको दूर करता हूँ जिससे दीर्घायुसे युक्त होता हूँ । ' इस मंत्रका अर्थापत्तिसे भाव यह है कि— ' मैं पुण्य कर्म करनेसे नीरोग होता हुआ दीर्घायु बनाता हूँ । ' अर्थात् दीर्घायु प्राप्त करनेका मूल उपाय पापोंको दूर करके पुण्य करना ही है, इससे सर्व रोग दूर होंगे, नीरोगता प्राप्त होगी और दीर्घायु भी मिलेगी । इस सूक्तके यही संदेश पाठकोंको देना है । यह आपा मंत्र ग्याह्य बार बहकर यह संदेश पाठकोंके मनपर स्थिर करनेका यत्न इस सूक्तमें किया है । पाठक भी इसी दृष्टिसे इस मंत्रमागका महत्त्व देखें और इससे प्राप्त होनेवाला उपदेश आत्मसाध करें ।

पापको दूर करना

सबसे पहले सब पाप दूर करनेका उपदेश कहा है—

अहै सर्वेषां पाप्मना वि । (सू. ३१, मं. १-११)

सब पापका अर्थ कायिक, वाचिक मानसिक, सामाजिक और राष्ट्रीय पाप हैं । ये सब दूर करना चाहिये । अपने मनके पाप विचार दूर हटाने चाहिये, वाचाको शुद्ध और पवित्र बनाना चाहिये, शरीरसे कोई पापकर्म करना नहीं चाहिये, इंद्रियोंको पाप प्रवृत्तिसे रोक्ना और उनको ऐसी शिक्षा देना चाहिये कि उनको प्रवृत्ति उस पापकी और कभी न होवे । इसी प्रकार कुटुंब, जाती, समाज, राष्ट्रके व्यवहारमें अनेक पाप होते रहते हैं । उनको भी दूर करना चाहिये । यदि कोई कड़े जिज्जती और राष्ट्रके पापोंको हम दूर नहीं कर सकते तो उनको उचिन है कि ये अपना- नित्रक- तो सुधार करें । अपनी निष्ठापता सिद्ध हुई तो लक्ष्य योग्य परिणाम ज़रतीपर भी होगा और न भी हुआ, तो भी तब व्यक्तिके तो पापसे बचनेके कारण समतता माग अवश्य ही मिलेगा, जितना पुण्यकर्म होगा उतना फल अवश्य मिलेगा । इसमें कोई संदेह नहीं है । हरएक शास्त्रके अनुसार जो पतनर्था देव है उसे दूर करके अभ्युदयके हेतुको

पाप करना चाहिये । ऐसा करनेसे पाप और रोग दूर होकर दीर्घायु प्राप्त होगा । अब पापों और रोगोंको दूर करनेका अनुष्ठान करनेकी रीति देखिये—

देवोंका उदाहरण ।

देवोंका नाम ' निंबराः ' है, इसका अर्थ ' बरा, वृद्धावस्था और बुढ़ापा आदिसे दूर रखनेवाले ' है । देवोंने इस प्रकारके अनुष्ठान करके बुढ़ापेको दूर किया था, और वे यही भाग्य होनेपर भी तदर्थ जैसे दाँसते थे । यह आदर्श मनुष्योंको अपने समुच्च रखना चाहिये । और जिस अनुष्ठानसे देवोंको यह हिंदि प्राप्त हुई थी वह अनुष्ठान करके मनुष्योंको भी यह हिंदि प्राप्त करना चाहिये । यह बतातेके लिये प्रथम मंत्रमें—

देव्याः जरसा वि मृष्टतन् । (सू. ३१, मं. १)

' देवोंने बुढ़ापेको दूर रखा था ' यह बात कही है । अब आगे देखिये—

अग्निका आदर्श ।

अग्नि और (अग्ने ! त्वं अरत्या वि । मं. १) कंजूकीको दूर करता है । उदार मनुष्य ही जो अपने धन आदि द्वारा यत्न करना चाहते हैं वे ही अग्निहोत्रादि करनेके लिये तथा अन्यन्य बड़े यत्न करनेके लिये अग्निके पास इच्छते होते हैं और जो कंजू होते हैं, वे अग्निसे दूर हो जाते हैं, क्योंकि वे अपना धन यक्षमें लपाना नहीं चाहते । इसका अर्थ यही है कि अग्नि कंजू मनुष्योंको दूर करता है और उदार मनुष्योंको इच्छा करके उनका संघ बनाकर उनका अभ्युदय करके उन्नति कराता है । जिस प्रकार यह अग्नि कंजूकीको दूर करता है, उसी प्रकार पापों और रोगोंको दूर करना मनुष्यको उचित है । इसका अर्थ यह है कि मनुष्य पापियों और रोगियोंको दूर अलग रखे और पुण्यात्मा और नीरोग मनुष्योंका संघ बनाकर अपना आरोग्य बचावे ।

जो पापी मनुष्य होता है उसके संघर्षमें जो जो मनुष्य आरोग्य वे भी पापी बनेंगे, इसलिये पापोंको समाप्तसे बाहर निकाल देना चाहिये; इसी प्रकार जो रोगी मनुष्य होते हैं उनके संघर्षमें भी अत्य मनुष्य रोगी होनेकी संभावना होती है, इस कारण रोगियोंके लिये विशेष प्रबंध करके उनको अलग करना चाहिये जिससे उनके रोग अधिक न फैलें । इस प्रकार युक्तिसु पापियों और रोगियोंको अलग रखनेका प्रबंध करनेसे रोग समाप्त निष्पाप और नीरोग रहना संभव है, और पर प्रबंध जितनी पूर्णतासे किया जाय उतना अधिक लाभ होगा ।

पवित्रताका महत्त्व ।

द्वितीय मंत्रमें पवित्रता और शुद्धताका महत्त्व वर्णन किया है । पवित्रतासे पाप और रोग दूर होते हैं—

(१) पवमानः आत्मा वि ।

(२) शकः पापकृत्या वि । (सू. ३१, मं. २)

‘ (१) पवित्रता करनेवाला रोगाधिकोके कष्टोंसे दूर होता है, और (२) मनोबलसे समर्थ मनुष्य पापसे दूर रहता है ।’

ये दोनों अर्थापूर्ण मंत्रमाग हैं । स्वच्छता, पवित्रता और निर्मलता करनेवाले जो होते हैं उनके पास प्रायः रोग आते ही नहीं, अथवा वे अपनी शुद्धतासे रोगोंको दूर रखते हैं । शुद्धताका अर्थ यह है कि जल आदिसे शरीर निर्मल करना, सख्त मनकी पवित्रता करना, विद्या और तपसे अपनी अन्य शुद्धी करना, शूद्र विचारों और भ्रमपूर्ण आचरणोंसे परिवारकी शुद्धता करना, शरीरकी पवित्रता लेपनादिसे करना, आभिमं हवन करके वायुकी शुद्धता करना, फानहर जलको शुद्ध बनाना, मलस्थानोंको शुद्ध करके नगरकी स्वच्छता करना, इसी प्रकार अग्न्याग्न्य क्षेत्रोंकी शुद्धता करनेसे रोगभीष हट जाते हैं । और मनुष्य रोगसे पीड़ित नहीं होता है ।

इसी प्रकार सत्य, परमेश्वरनिष्ठा, तप, धर्माचरण आदि द्वारा मनका बल बढ़ानेसे जो सामर्थ्य मनुष्यके अंदर उत्पन्न होता है वह मनुष्यको पापोंसे बचाता है । ऐसा समर्थ मनुष्य पापाचरण नहीं करता और वह पवित्रताका बनता हुआ जनताके लिये आदर्श बनता है । यह मनुष्य न केवल स्वयं पापों और रोगोंसे दूर रहता है प्रसूत भयोंको भी दूर रखता है ।

ग्राम, नगर और राष्ट्रीयकी पंचायतों द्वारा ग्राम, नगर और राष्ट्रमें एक प्रकार पूर्ण स्वच्छता और पवित्रता पढानेसे भी एक क्षेत्रोंकी जनता पापों और रोगोंसे बची रहती है । यह द्वितीय मंत्रका उपदेश प्रत्यक्ष फल देनेवाला होनेके कारण इसका अनुष्ठान सर्वत्र होना आवश्यक है ।

स्थानत्यागसे बचाव ।

पापी मनुष्योंका और रोगोंका स्थान छोड़ देना इसको स्थान त्यागसे बचाव करना कहते हैं । इसका वर्णन तृतीय और चतुर्थ मंत्रों द्वारा हुआ है, देखिये—

१ प्राग्वाः पशुवाः न्यारण्यैः चि । (सू. ३१, मं. ३)

२ इमे पावापृथिवी वि इतः । (सू. ३१, मं. ४)

‘ (१) प्राग्वाके गाँ आदि पशु व्याघ्रादि आरण्याक पशुओंसे दूर रहकर बचाव करते हैं, (२) तथा शुलोक शृष्योसे जैवा दूर रहता है ।’ ये स्थानत्याग करके बचाव करनेके उदाहरण हैं । व्याघ्र, सिंह, भेड़िया आदि जिस स्थानमें रहते हैं उस स्थानका त्याग करके गाँ आदि प्रामाण्य पशु अपना बचाव करते हैं । भूलोककी अशुद्धिसे बचनेके लिये और अपनी प्रकाशमयता स्थिर रखनेके लिये शुलोक-भूलोकसे बहुत दूरीपर रहता है । इस प्रकार पापी लोगोंसे दूर रहकर पापसे बचना और रोगस्थानसे दूर रहकर रोगोंसे बचना योग्य है ।

स्वभावसे बचाव ।

जिनकी स्वभावसे ही पापसे बचनेकी प्रवृत्ति होती है और जिनमें स्वभावसे ही रोगप्रतिबंधक शक्ति होती है वे पापों और

रोगोंसे बचे रहते हैं, इस विषयमें मूकके कथन देखिये—

१ अपः सृणया वि अस्तरन् । (सू. ३१, मं. ३)

२ पश्यानः दिशं दिशं वि । (सू. ३१, मं. ४)

‘ (१) जल अपने स्वभ बसे ही प्याससे दूर रहता है और (२) विविध दिशाओंसे जानेवाले मार्ग स्वभावसे एक दूसरेसे दूर रहते हैं ।’ जलको स्वभावसे ही प्यास नहीं लगती । इस प्रकार जो लोग स्वभावतः पापमें प्रवृत्त नहीं होते वे पापरहित होते हुए पापके फलभोगसे बचते हैं । इसी प्रकार जिनके शरीरमें रोगप्रतिबंधक शक्ति पर्याप्त रहती है वे रोगस्थानमें रहते हुए भी रोगोंसे बचे रहते हैं । यह स्वभावका नियम देखकर हर एकको उचित है कि वह अपना स्वभाव एक प्रकार बनाये और पापों और रोगोंसे अपना बचाव करके दार्पण्य, नीरोग और बलवान् तथा सन्तुष्टि बने ।

दान ।

जनताको निष्पाप और नीरोग करनेके लिये धनी मनुष्य अपने धनका कुछ भाग अन्न करके दान देवे जिस प्रकार—

स्वष्टा वृद्धिषे वहसूं युनक्ति । (सू. ३१, मं. ५)

‘ पिता पुत्रोंके दहेजके लिये धन योजनपूर्वक देता है ।’ यह धन दामादके घरमें रहना हुआ खर्चनके रूपसे इस कार्य करता है, इसी प्रकार धनी मनुष्य धनका कुछ भाग जनताके रोगमुक्त और पापमुक्त करनेके लिये अर्पण करे और इस इच्छे हुए धनसे ऐसी संस्थाएँ योजनपूर्वक चलायी जावें कि जो जनताकी पापपशुओंसे और रोगोंसे रक्षा करें । इस प्रयत्नसे संपूर्ण राष्ट्र प्रतिदिन अधिकाधिक निष्पाप, नीरोग, दार्पण्यहीन, संपन्न, सख्य और सुखी बने ।

अपनी गतिमें रहना ।

लोग एक दूसरेसे स्वर्धा करते हैं और अपना दुःख बढ़ाते हैं । यदि वे अपनी गतिसे चलते रहेंगे और दूसरेकी गतिके साथ अर्थ स्वर्धा न करेंगे तो मो पापसे और रोगोंसे बच सकते हैं, इस विषयमें एक उदाहरण है—

इदं विश्वं भुवनं वियति । (सू. ३१, मं. ५)

‘ ये सब पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि गोल अर्थात् अपनी विविध गतिसे चलते हैं ।’ सूर्यकी उज्जतासे चंद्र स्वर्धा करके स्वयं लण्य बनना नहीं चाहता और चंद्रकी स्वर्धा करता हुआ सूर्य स्वयं शीत बननेका इच्छुक नहीं है । इसी प्रकार ये सब गोल अर्थात् अपनी गतिसे अपना अपना कार्य करते हैं । विविध भुवनोंकी विविधता उपदेश देती है कि विविधतासे युक्त होते ये सब युवन जिस प्रकार संपूर्ण जगत्के अंश बनकर आविरोधसे रहते हैं । उर्धा प्रकार मनुष्य भी विविध गुणधर्मोंसे युक्त होते हुए संपूर्ण राष्ट्रके अंतर्बन बनकर राष्ट्रहित और संपूर्ण जनताका हित करनेकी शुद्धसे आपसमें आविरोधी भावसे रहें । इस प्रकार रहनेसे पूर्वोंके प्रकार वे उपायोंका अवलंबन करके अपने आपको पापों और रोगोंसे बचा सकते हैं । अनन्या आपसमें लक्षते हुए रोगोंसे

मानेके पूर्व ही सूर्य के उदर के ठिरे तोडकर स्वयं मर जोग्ये। ऐसा नाश न हो, इच्छित्य वेद कहता है कि अपनी गतिसे बल्ये और परस्पर सहायके बनकर अपनी उद्यतिक्षा साधन करे।

पेटकी पाचक शक्ति ।

मनुष्यके शरीरमें रोगबीजाका प्रवेश तब होता है जब उद्यती पाचन शक्ति बिगडी होती है। इसकी सूचना देनेके लिये षष्ठ मंत्रमें कहा है—

अग्निः प्राणान् संदधाति । (सू. ३१, मं. ६)

'जठर अग्नि- अन्नका पाचन करनेवाला उदर स्थानका अग्नि ही- प्राणोंका सम्पत्कया धारण करता है ।' अन्य कोई साधन नहीं है जिससे प्राणोंका धारण अच्छी प्रकार हो जावे। इसलिये जो लोग दीर्घ जीवनके इच्छुक हैं वे म्यादास तथा अन्यन्य योग साधनादि द्वारा अपनी पाचन शक्ति अच्छी प्रदीत करें। ऐसा करनेसे शरीरमें जो छमथैता आयेगी वही रोगोंका दूर रखेगी और पाच अग्नि न देगी।

दूसरी बात यह है कि जठर अग्निके विगाडये यष्ट, हृदय और मस्तिष्कका विगाड होता है। मस्तिष्कके विगाडये विचारोंमें परिवर्तन होता है अर्थात् मनुष्य पाचकर्ममें प्रवृत्त होता है। यदि पाचक शक्ति ठीक रही, तो रोग आदि वैष प्रचल नहीं होते। इसलिये पाचों और रोगोंसे बचनेके लिये तथा दीर्घायुम्पत्ती प्राप्तिके लिये मनुष्य अपनी पाचन शक्ति उत्तम प्रदीत करे। इसी मंत्रमें और कहा है—

चन्द्रः प्राणेन संहितः । (सू. ३१, मं. ६)

'चन्द्र प्राणसे मिठा है।' यही 'चन्द्र' चन्द्रके तीन अर्थ हैं। (१) वनस्पतिसे उत्पन्न हुआ अन्न, (२) वनस्पतियोंके फलादिहोंका रस, (३) और मन। प्राणसे इन तीनोंका घणित संबंध है। यही वनस्पतिसे प्राप्त होनेवाला शाकमोहन प्राण शरीरों करणके लिये आवश्यक बतानेमें मौसादि सैवन दीर्घ जीवनके लिये अग्निष्ट होनेका उपदेश स्वयं ही प्राप्त होता है। पाठक इसका अन्वय विचार करें।

सूर्यका वीर्य ।

सूर्यमें बड़ी भारी जीवन वियुक्त है, उसको अपने अन्दर संगृहित करनेसे नीरोगता और दीर्घ जीवन प्राप्त हो सकता है। इस विषयमें सप्तम मंत्रका कथन यह है—

देवाः चिन्वन्तोवीर्यं प्राणेन समैरयन् । (सू. ३१, मं. ७)

'देव सब प्रकारके वीर्यसे युक्त सूर्यको प्राणके साथ संबंधित करते हैं।' इसी अनुष्ठानमें देव (निजराः) जराग्रहित और (अ-मराः) मरणरहित हुए हैं। इसलिये जो लोग अपने प्राणके अन्दर सूर्यको जीवन वियुक्तका धारण करेंगे, वे भी

उक्त सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। सूर्यकागमें सटे होकर या बैठकर दीर्घश्चसन द्वारा सूर्यको वियुक्त प्राणके अन्दर लेनेसे अपने अन्दर सूर्यका वीर्य आ जाता है; दूसरे प्रकार मंगे शरीरसुदीप्त-स्थान करनेसे भी चमकोंके अन्दर सौरवियुक्तका प्रवेश हो जाय है। इसी प्रकार विविध योजनाओं द्वारा सौर वियुक्त लाम उठाय जा सकता है। पाठक इसका विचार करके लाम उठावें।

दीर्घायु प्राप्त करनेवाले ।

जो (आयुष्मन्) दीर्घ आयुवाले मनुष्य हैं, अर्थात् विना प्रयत्न जो दीर्घ आयुवाले हुए हैं, तथा जो (आयुष्णव) प्रयत्नसे दीर्घ आयु प्राप्त करनेवाले हैं, अर्थात् योगादि अनुष्ठान द्वारा जिन्होंने दीर्घ आयु प्राप्त की है, (प्राणतां प्राणेन) प्राणकी प्रबल शक्तिके युक्त पुरुषोंका प्राण ऐसा चलता है इस सबका विचार करके मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करनेके उपाय जान सकता है। वे ऊपर कहे मनुष्य अपना दैनिक व्यवहार कैसा करते हैं, किस ढंगके व्यवहारसे इन्होंने दीर्घ आयु कमाई, इसका ज्ञान प्राप्त करके, उनके उदाहरण अपने अनुसृत रखकर, तदनुसार अपना व्यवहार करना चाहिये। (इह एव भव) इस प्रकार इस भूलोकमें दीर्घकालतक रहना चाहिये और (मा मृत्या) शंका मरना उचित नहीं। यह उपदेश मं. ८ और ९ में है।

अपने राज्यमें तथा अन्य देशोंमें जहाँ जहाँ दीर्घायु, नीरोग, बलवान्, मिथ्याप और सच्चील लोग हों, उनके जीवन प्राप्त देखकर उनके जीवनसे उत्पित भोग प्राप्त करना चाहिये। और उद्ये लाम उठाना चाहिये।

औपधिरस ।

दशम मंत्रमें औपधियोंके रसका सेवन करके दीर्घायुम्पत्ती प्राप्त करनेका उपदेश है—

औपधानी रसेन आयुष ११, मं. १०)

'औपधियोंके रससे हम दीर्घायु-समुक्त होंगे।' इतमें दीर्घायुम्पत्तिका प्राप्तिका संबंध औपधियोंके रस प्राशन करनेके साथ बताया है। इसी सूक्तमें छठे मंत्रके विधानके साथ इसकी तुलना कीजिये।

अन्तिम मंत्रमें कहा है, कि जिस प्रकार 'शुष्टे होनेसे वृष-वनस्पति आदिक ज्योंते हैं और उद्यतिहो प्राप्त करते हैं उन्हीं प्रकार हम पूर्वोक्त साधनसे (व्ययं अमृताः उद्स्थाम) हम अमर होकर सब प्रकारकी उद्यति प्राप्त करेंगे।' (मं. ११)

यह सब है कि जो इस सूक्तमें लिखा अनुष्ठान करने से इस प्रकारकी सिद्धि प्राप्त करेगे। इतमें कोई संदेह ही नहीं है। वेदमें कन-पूर्वक अनुष्ठान कहा है ऐसे जो अनेक सूक्त हैं उनमेंसे यह एक है। इसके मननसे वेदकी उपदेश करनेवां शैलीका भी ज्ञान हो सकता है। पाठक इसका मनन करें और अनुष्ठान करके लाम उठावें।

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

तृतीय काण्डकी विषयसूची ।

सूक्त	विषय	पृष्ठ	सूक्त	विषय	पृष्ठ
	अपने राष्ट्रका विजय	२	८-	राष्ट्रीय एकता	३४
	तृतीय काण्ड-प्रस्तावना ।	३		अधिक उच्चता, उच्चतिका मार्ग	३९
	ऋषि देवता छंद (कोष्टक)	४		सुधारका प्रार्थन, सर्वत्र राष्ट्र	३७
	सूक्तोंके गण	७		राष्ट्रीय अग्नि, राष्ट्रका पोषक, धृष्ट पुत्रोंताली माता	३८
१-	शत्रुसेनाका संमोहन	९		राष्ट्रीय शिक्षा	३८
२-	शत्रुसेनाका संमोहन	११		दैवी सहायता	३९
	सेनाका संमोहन, इन्द्र	१२		आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक	३९
	मपवन्, वृत्रहन्, मरुतः	१३	९-	ऋश-प्रतिबन्धक उपाय	३९
	वसवः, आग्निः, शत्रुको पहरानेकी रीति	१४		सबके मातापिता	४०
	मंत्रीकी समानता	१५		विश्वबन्धुत्व, पराक्रम, परिश्रमसे क्षिति	४
३-	राजाकी स्वराज्यपर पुनः स्थापना	१६		अन्न माया, सैद्धों विप्र	४२
४-	राजाका चुनाव	१७	१०-	कालका यज्ञ	४३
	पूर्व सम्बन्ध, आरमभक्ष	१९		कामधेनु, यम	४६
	सोत्रामणी याग	२०		बंधका (मयी राज्ञी, संबलरकी प्रतिमा, हवन	४७
	विरोधी मनुष्य, राजाका चुनाव, प्रजाका पालन	२२		कालका यज्ञ, यज्ञका कार्य	४८
	धनीका विभाग	२३		सन्तुनाशक इन्द्र	४९
	शुभसंघस्य, राजाका रहना सहना, दूतका संचार	२४	११-	हवनसे दीर्घ आयुष्य ।	५०
	वरुण	२५		हवनसे दीर्घायुष्यकी प्राप्ति; औषधियोंके यज्ञ	५२
५-	राजा और राजाके यमानेवाले	२५		हवनसे रोग दूर करना, हवनका परिणाम	५२
	पूर्ण मणि, राष्ट्रका निज बनना	२७		शतायु करनेवाला हवन	५२
	राजाको निर्माण करनेवाले	२८		मरणका पाश, सशस्त्र सुरक्षितता	५३
६-	वीर पुरुष	२९		सत्यपालनसे दीर्घायुकी प्राप्ति	५३
	अश्वत्थकी अन्वेषिका	३०	१२-	गृहनिर्माण	५४
	आनुवंशिक संस्कार, शत्रुका लक्षण, गिरावटका मार्ग	३१		घरकी बनवट, घर बनाने योग्य स्थान	५६
	विजयकी तैयारी	३१		घर कैशा बनाया जावे ? संमानका स्थान	५६
७-	आनुवंशिक रोगोंको दूर करना	३२		प्रसन्नताका स्थान, वीरतासे युक्त धन	५७
	मातापितासे संतानमें आये क्षत्रिय रोग	३३		अतिथि सत्कार, देवों द्वारा निर्मित घर	५८
	हरिणके सौंसे बिहत्तिता, हृदय रोग	३३		देवोंकी सहायता	५८
	औषधि चिकित्सा, मन्त्रणी और तारक	३३	१३-	जल	५९
	शुक्ल और भूतोंके समान औषधियों	३४		जलके प्रवाह	६०
	जलचिकित्सा	३४	१४-	गोशाला	६१
				गोसंवर्धन	६३

सूक्त	विषय	पृष्ठ	सूक्त	विषय	पृष्ठ
१५-	वाणिज्यते घनकी प्राप्ति वाणिज्य व्यवहार, पुराना बनिया । भ्यापारका स्वरूप, भ्यापारके विरोधी दो मार्ग, ज्ञानयुक्त कर्म परमेश्वर भाक्ति	६३ ६३ ६६ ६७ ६८	११-	कामका याण बिरुद्ध परिणामी अलंकार कामके बाण, पतिव्रतीका एक मत पर्यपरतीक गुण एइस्थयर्म	१०२ १०३ १०४ १०५ १०६
१६-	प्रातःकालमें भगवान्की प्रार्थना प्रातःकालमें भगवान्की प्रार्थना, सबका उपास्य देव अदोनाका रक्षक, उपासनाकी रीति धारणा, उपासना-धारणा सत्यका मार्ग देवोंकी ह्युति, अहिंसाका मार्ग गौं और घोड़े, अमल	६९ ७१ ७१ ७२ ७३ ७४	१६-	उदातिकी दिशा ।	१०७
१७-	हृषिते सुज-प्राप्ति कृषिसे भायकी वृद्धि, धान्य बंटिके पूर्व हवन लादके लिये धाँ और सहद । । ऐतिहासिक उदाहरण, गौरक्षाका समय	७५ ७७ ७७ ७७	१७-	अभ्युदयकी दिशा दिशाओंके वर्णनसे तत्त्वज्ञान- उदातिके छा वेन्द्र दिशा कोष्टक व्यक्तिका और समाजका व्यवसा दिशाओंका तत्त्वज्ञान- वैदिक ऋषि पूर्व दिशाकी विभूति पश्चिम दिशाकी विभूति उत्तर दिशाकी विभूति	१०८ १११ ११२-११४ ११६ ११९ १२० १२१ १२२
१८-	घनरूपति सापरनमावका भयंकर परिणाम	७८ ७९	१८-	पशुओंकी स्वास्थ्यरक्षा पशुओंका स्वास्थ्य, पशुरोगकी उत्पत्ति, रोगी पशु	१२३ १२५
१९-	ज्ञान और शौर्यकी तेजस्विता राष्ट्रीय उन्नतिमें पुरोहितका कर्तव्य प्राज्ञतेजकी उपयोगिता पुरोहितकी प्रतिष्ठा, युद्धको नीति	७९ ८१ ८१ ८२	२२-	संरक्षक कर राज्यशासन चलानेके लिये कर प्रासिक शैलहवीं माय प्रासिके दो साधन राज केसा हो, करका उपयोग स्वयं सटस राज्य, कामनाका प्रभाव कामकी मर्यादा	१२६ १२८ १२८ १२९ १३१ १३३
२०-	तेजस्विताके साथ अभ्युदय अभिष्टा आदर्श, उत्पत्तिस्थानका स्मरण सम्भूय समुत्थान	८३ ८५ ८६	३०-	एकता संज्ञानसे एकता, अंदरका सुधार बाहरका सुधार संधमें धर्म, खानदानका प्रश्न सेवाभावसे सच्चरि कर्मसे मनुष्यका विकास	१३३ १३४ १३५ १३६ १३७
२१-	कामाशिका क्षामन कामाशिका स्वरूप काम और इच्छा, कामकी दाहकता न दबनेवाला, इन्द्रका रथ कामशान्तिका उपाय	८८ ९० ९१ ९२ ९३	३१-	पापकी निवृत्ति पापनिवृत्तिसे नैरोगता, पाप और पुण्य पापको दूर करना, वेदोंका उदाहरण आशिका आदर्श, पवित्रताका महत्त्व स्थानस्थानसे बचाव, स्वभावसे बचाव दान, अपना गतिमें रहना पेटकी पापनशाक्ति, स्वयंका दीर्घ दीर्घायु प्राप्त करनेवाले, औषधिपरिच	१३७ १३९ १४० १४० १४१ १४१ १४२ १४२
२२-	धर्मप्राप्ति सूक्त शाकभोजनसे बल बढ़ाना, बलप्राप्तिकी रीति	९५ ९६			
२३-	वीर पुत्रकी उत्पत्ति वीर पुत्रका प्रसव	९७ ९८			
२४-	समुद्रिकी प्राप्ति समुद्रिकी प्राप्तिके उपाय मुख्य दो साधन	९९ १०० १०१			